श्रीमद्भगवद्गीता

तृतीय खण्ड

श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल

श्रीमद्भगवद्गीता

(तृतीय खण्ड)

त्रयोदश अध्यायसे अष्टादश अध्याय तकके मूल श्लोक, अन्वय,
श्रीधरस्वामिकृत टीका

उसका हिन्दी अनुवाद

और

योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महाशयकी
आध्यात्मिक-दीपिका

एवम्

श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल

द्वारा

उक्त आध्यात्मिक-दीपिकाकी विशद व्याख्या

तथा

समस्त गीताका सारांश, गीता-रहस्य, सटीक गीता-
माहात्म्य, षट् चक्रोंका विवरण, श्रीलाहिड़ी
महाशयकी संक्षिप्त जीवनी

—:*:—

प्रथम संस्करण

माघ-शुक्ला सप्तमी
सम्वत् २०११

प्रकाशक
हिन्दी प्रकाशन समिति
गुरुधाम, मन्दार
पो०—बौंसी
जि०—भागलपुर

संपादक
ज्वालाप्रसाद तिवारी
बाँकेबिहारी लाल

अनुवादक
पं० गौरीशंकर द्विवेदी शास्त्री
साहित्यरत्न, साहित्याचार्य, गोरखपुर

प्राप्ति-स्थान—

१—बाँकेबिहारीलाल, ६०/१ सिद्धमाताकी गली, बनारस।

मूल्य दस रुपये

मुद्रक
अमलकुमार बसु,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
बनारस-ब्रांच

श्रीगुरवे नमः

प्राक्कथन

विभिन्न भाषाओंमें गीताके अनेक भाष्य प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु यह योगशास्त्र होते हुए भी इसका योग-भाष्य प्रायः दुष्प्राप्य है। हिन्दी भाषा-भाषियोंके लिए यह भाष्य एक बड़े अभावकी पूर्त्ति करेगा। जनसाधारणको इससे आध्यात्मिक उत्कर्षकी प्रेरणा प्राप्त होगी तथा जो गीताके मर्मसे अवगत हैं उनके लिए यह अनुपमेय सिद्ध होगा।

आज भौतिक विज्ञानको देखकर जगत् चकित हो रहा है। परन्तु हिन्दूशास्त्रोंके निगूढ़तम भावोंका अनुशीलन करने पर प्रतीत होगा कि भौतिक विज्ञान आध्यात्मिक विज्ञानका एक अणुमात्र है। भौतिक विज्ञानके द्वारा हम बहुत कुछ सीख और समझ सकते हैं। इससे भी हमें एक प्रकारका आनन्द मिलता है, एक तात्कालिक तृप्ति प्राप्त होती है, परन्तु जीव मूलतः तृप्त नहीं होता, उसके शोक-मोहकी निवृत्ति नहीं होती। सन्ताप-मुक्त होनेके लिए आध्यात्मिक विज्ञानकी आवश्यकता है। इसी आध्यात्मिक विज्ञानके प्रणालीविशेषको योग कहते हैं। योगबलसे असाधारण दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। दिव्य दृष्टिसे विशुद्ध प्रज्ञाका उदय होता है तथा उससे अमृत-लाभ होता है। यही आत्माका परमात्माके साथ मिलन है। यही शाश्वत आनन्दकी अवस्था है। गीतामें यह स्पष्ट है कि श्रीभगवान् अनन्त-भावमय हैं। उनके किसी एक भावका अवलम्बन करके साधना की जा सकती है और जीवनको कृतार्थ किया जा सकता है। परन्तु लक्ष्य-प्राप्तिके लिए चित्तको स्थिर और मनको एकाग्र करनेकी आवश्यकता है। अतएव क्रियायोग या योगाभ्यास किसी भी साधनाका एक प्रधान अङ्ग है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। प्रस्तुत भाष्यमें स्वानुभूतिके आधार पर इसी क्रियायोगका विश्लेषण किया गया है।

पुस्तकमें क्रिया, क्रियाकी परावस्था, परावस्थाकी परावस्था, कूटस्थ आदि कतिपय शब्द विशेष अर्थमें व्यवहृत हुए हैं। स्थान-स्थान पर उनकी व्याख्या कर दी गयी है। प्रथम दो खण्डोंकी तरह इस अन्तिम खण्डमें भी योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महाशयकी "आध्यात्मिक दीपिका" प्रत्येक श्लोककी आध्यात्मिक व्याख्याके प्रारम्भमें छोटे अक्षरोंमें दी गयी है। पश्चात् डैश(—)के बाद उसीकी बृहत् व्याख्या उसी शीर्षकमें तदपेक्षा कुछ मोटे अक्षरोंमें दी गयी है।

पुस्तकके अन्तमें परिशिष्टके अन्तर्गत क्रिया-योगसे सम्बन्धित षट् चक्रोंके विवरण आदि कतिपय विषयोंकी आलोचना की गयी है। पाठकोंकी जानकारीके लिए योगिराज श्रीलाहिड़ी महाशयकी एक संक्षिप्त जीवनी भी सम्मिलित कर दी गयी है।

आर्थिक सहायता कुछ अंशोंमें सेठ श्रीराधाकृष्णजी चमड़ियाकी पौत्री श्रीमती वीणाबाईसे एवं कुछ अंशोंमें श्रीगौरीशङ्करजी महेशकासे प्राप्त हुई है। इसके लिए हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

श्रीजगदीशप्रसाद सिंह जी लगातार कई महीनों तक सम्पादन-कार्यमें सहायता देते रहे। उनका त्याग सराहनीय है।

मूल बँगला पुस्तकका हिन्दी भाषान्तर गोरखपुर-निवासी पं० गौरीशंकर द्विवेदी शास्त्री, साहित्याचार्यने किया है। प्रूफ संशोधनका कार्य पं० गोपालचन्द्र चक्रवर्त्ती वेदान्तशास्त्री द्वारा हुआ है। एतदर्थ हम इनके आभारी हैं।

इण्डियन प्रेसकी काशी-शाखाके व्यवस्थापक श्रीअमलकुमार बसु ने इस पुस्तकके प्रकाशनमें जो सहृदयता और तत्परताका परिचय दिया है, इसके लिए हम उन्हें विशेष रूपसे धन्यवाद देते हैं।

भगवान् गुरुकी दयासे अत्यल्प समयमें इस ग्रन्थके तीनों खण्ड प्रकाशित हो सके। आशा है पाठकवर्ग इन्हें अपनाकर हमें कृतार्थ करेंगे।

माघशुक्ला सप्तमी
सम्वत् २०११ (वि०)

ज्वालाप्रसाद तिवारी
बाँकेबिहारी लाल

विषय-सूची

परिशिष्ट

—

श्रीमद्भगवद्गीता

त्रयोदशोऽध्यायः

(प्रकृति-पुरुष-विवेक-योगः)

अर्जुन उवाच

[प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ।।]

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)—केशव (हे केशव !) प्रकृतिं पुरुषं च एव (प्रकृति और पुरुष) क्षेत्रं क्षेत्रज्ञं च एव (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ) ज्ञानं ज्ञेयं च (ज्ञान और ज्ञेय) एतद् वेदितुम् (यह जाननेकी) इच्छामि (इच्छा करता हूँ) ।

अनुवाद—अर्जुन बोले—हे केशव ! प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा ज्ञान और ज्ञेय—ये सब तत्त्व जाननेकी इच्छा करता हूँ ।

[श्रीधर स्वामीने इस श्लोककी व्याख्या नहीं की है । केवल श्रीधर स्वामी ही क्यों, आचार्य शङ्कर और प्राचीन टीकाकारोंमेंसे बहुतोंने इस श्लोकको गीताके अन्तर्गत नहीं माना है, अतएव व्याख्या भी नहीं की है । पूज्यपाद लाहिड़ी महाशय द्वारा व्याख्यात गीता-ग्रन्थमें भी यह श्लोक नहीं है । इस अध्यायमें जो तत्त्व व्याख्यात होंगे वे ही अर्जुनके मुँहसे इस श्लोकमें प्रश्न-रूपसे कहलाये गये हैं । भगवान्ने जो यहाँ इन तत्त्वोंकी आलोचना आरम्भ की, यह किसी-किसी को आकस्मिक जान पड़ेगा । इसी कारण जान पड़ता है कि सम्भवतः आगे चलकर किसीने इस श्लोककी रचना की है । जब प्रसिद्ध प्राचीन व्याख्याताओंमेंसे किसीने इस श्लोकका भाष्य या टीका नहीं लिखी, तब इस श्लोकको गीताके अन्दर माननेमें सन्देह होता है । वस्तुतः इस प्रकारकी आलोचनाकी अवतारणा आकस्मिक नहीं है । प्रकृतिके सम्बन्धमें भगवान्ने पहले ही सप्तम अध्यायमें संक्षेपसे आलोचना की है, कुछ विस्तृत रूपसे इसकी आलोचना करनेकी आवश्यकता है, अतएव ऐसी आलोचना आकस्मिक नहीं है । यह अप्रासङ्गिक भी नहीं है, क्योंकि भगवान्ने पहले ही कहा है कि वह भक्तोंका शीघ्र ही जन्म-मरण-रूप संसारसे उद्धार कर देते हैं । तत्त्वज्ञानके बिना यह उद्धार सम्भव नहीं है, इसीलिए प्रकृति-पुरुष-विवेकरूप तत्त्वज्ञानका उपदेश इस अध्यायमें आरम्भ किया है ।]

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।१।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)—कौन्तेय (हे कौन्तेय !) इदं शरीरं (यह शरीर) क्षेत्रम् इति (क्षेत्र नामसे) अभिधीयते (अभिहित होता है)। यः (जो) एतद् (इसको) वेत्ति (अनुभव करता है) तं (उसको) तद्विदः (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तत्त्वके ज्ञाता) क्षेत्रज्ञः (क्षेत्रज्ञ) इति प्राहुः (नामसे पुकारते हैं) ।।१।।

श्रीधर— भक्तानामहमुद्धर्त्ता संसारादित्यवादि यत् ।
त्रयोदशेऽथ तत्सिद्ध्यै तत्त्वज्ञानमुदीर्यते ॥

'तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि न चिरात्पार्थ' इति पूर्वं प्रतिज्ञातम् । तत्र च आत्मज्ञानं विना संसारादुद्धरणं सम्भवतीति तत्त्वज्ञानोपदेशार्थं प्रकृति-पुरुष-विवेकाध्याय आरभ्यते । तत्र यत् सप्तमे अध्याये अपरा परा चेति प्रकृतिद्वयमुक्तम् तयोः अविवेकात् जीवभावम् आपन्नस्य चिदंशस्य अयं संसारः । याभ्यां च जीवोपभोगार्थम् ईश्वरः सृष्ट्यादिषु प्रवर्त्तते । तदेव प्रकृतिद्वयं क्षेत्रक्षेत्रज्ञशब्दवाच्यं परस्परं विविक्तं तत्त्वतो निरूपयिष्यन् श्रीभगवानुवाच—इदमिति । इदं भोगायतनं शरीरं क्षेत्रमित्यभिधीयते संसारस्य प्ररोहभूमित्वात् । एतद् यो वेत्ति अहं ममेति मन्यते, तं क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः । कृषीवलवत्तत्फलभोक्तृत्वात् । तद्विदः—क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः विवेकज्ञाः ।।१।।

अनुवाद—"मैं भक्तोंका संसार-समुद्रसे उद्धार करता हूँ"—यह बात उन्होंने द्वादशाध्यायमें कही है, अब उसकी सिद्धिके लिए अर्थात् भक्तोंका जिस प्रकार उद्धार होता है, यह तत्त्वज्ञान त्रयोदश अध्यायमें कहा जाता है ।

['जन्म-मरणरूप संसारसे उनका मैं शीघ्र उद्धार करता हूँ' भगवान्के द्वारा प्रतिज्ञात संसारसे उद्धरण आत्मज्ञानके बिना सम्भव नहीं है, इसीसे तत्त्वज्ञानके उपदेशके लिए यह प्रकृति-पुरुष-विवेकाध्याय प्रारम्भ किया जाता है। सातवें अध्यायमें अपरा और परारूप जो प्रकृतिद्वय कथित है तथा जिस प्रकृतिद्वयके विवेकके अभावसे जीवभाव-प्राप्त चिदंशको इस संसारकी प्राप्ति होती है और जिस प्रकृतिद्वयके द्वारा जीवके उपभोगार्थ ईश्वर सृष्ट्यादिमें प्रवृत्त होते हैं, उस परस्पर विभिन्न क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-पदवाच्य प्रकृतिद्वयका स्वरूप-निर्णय करने के लिए] श्रीभगवान् बोले—हे कौन्तेय ! इस भोगायतन शरीरको क्षेत्र कहते हैं क्योंकि यह संसारकी प्ररोह-भूमि है अर्थात् संसार-रूपी शस्यकी उत्पत्ति-भूमि है। इस शरीरको जो जानता है अर्थात् जिसके द्वारा 'मैं' और 'मेरा' का भान होता है, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेकी पुरुष उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। क्योंकि कृषकके समान यह क्षेत्रज्ञ ही उस क्षेत्रका फलभोक्ता है। तद्विदः शब्दका अर्थ है क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विवेकज्ञ पुरुष ।।१।।

[इस श्लोकका शाङ्करभाष्य—सप्तमे अध्याये सूचिते द्वे प्रकृती ईश्वरस्य। त्रिगुणात्मिका अष्टधा भिन्ना अपरा संसार-हेतुत्वात्, परा चान्या जीवभूता क्षेत्रज्ञलक्ष-

शेश्वरात्मिका च। याभ्यां प्रकृतिभ्यां ईश्वरो जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतुत्वं प्रतिपद्यते। तत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षण-प्रकृतिद्वयनिरूपणाद्वारेण तद्वत ईश्वरस्य तत्त्वनिर्धारणार्थं क्षेत्राध्याय आरभ्यते। अतीतानन्तराध्याये च—'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'—इत्यादिना यावदध्यायपरिसमाप्तिः तावत् तत्त्वज्ञानिनां संन्यासिनां निष्ठा यथा ते वर्त्तन्ते इत्येतदुक्तम्, केन पुनस्ते तत्त्वज्ञानेन युक्ता यथोक्तधर्माचरणात् भगवतः प्रिया भवन्ति, इत्येवमर्थश्चायमध्याय आरभ्यते।—सप्तम अध्यायमें ईश्वरकी दो प्रकारकी प्रकृतिकी बात कही गयी है। संसारकी हेतुभूता त्रिगुणात्मिका अष्टधा-विभक्ता प्रकृति ही 'अपरा' है तथा दूसरी 'परा' प्रकृति है जो जीवरूपा तथा क्षेत्रज्ञलक्षणयुक्ता ईश्वररूपा है। इन दो प्रकृतियोंकी सहायतासे ईश्वर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण होते हैं। इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञलक्षण प्रकृतिद्वयके तत्त्वनिरूपणके द्वारा उस प्रकृतिद्वयसम्पन्न ईश्वरके तत्त्वनिर्णयार्थ इस क्षेत्राध्यायका प्रारम्भ किया जाता है। गत अध्यायमें अर्थात् द्वादशाध्यायमें 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्...' श्लोकसे इस अध्यायकी परिसमाप्ति तक तत्त्वज्ञानी संन्यासियोंकी निष्ठा अर्थात् वे जिस प्रकार रहते या आचरण करते हैं, बतलायी गयी है। पुनरपि किस प्रकार तत्त्वज्ञानयुक्त होकर यथोक्त धर्मोंके आचरणके द्वारा वे भगवान्को प्रिय होते हैं, यह समझानेके लिए भी यह अध्याय आरम्भ किया जाता है। "प्रकृतिश्च त्रिगुणात्मिका—सर्वकार्यकरणविषयाकारेण परिणता पुरुषस्य भोगापवर्गार्थकर्त्तव्यतया देहेन्द्रियाद्याकारेण संहन्यते सोऽयं संघात इदं शरीरम्। तदेतत्"—प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। यह कार्य, करण और विषयाकारमें परिणत होकर पुरुषके भोग और अपवर्गकी सिद्धिके लिए देह और इन्द्रियोंके आकारमें संहत होती है। यह संघात ही शरीर है। इसीको समझानेके लिए भगवान् कह रहे हैं—"इदं शरीरं कौन्तेय"—"इदमिति सर्वनाम्नोक्तं विशिनष्टि शरीरमिति। हे कौन्तेय, क्षतत्राणात् क्षयात् क्षरणात् क्षेत्रवद् वा अस्मिन् कर्मफलनिर्वृतेः क्षेत्रमिति। इति शब्द एवंशब्दपदार्थकः। क्षेत्रमित्येवं अभिधीयते कथ्यते। एतत् शरीरं क्षेत्रं यो वेत्ति विजानाति आपादतलमस्तकं ज्ञानेन विषयीकरोति स्वाभाविकेन औपदेशिकेन वा वेदनेन विषयीकरोति विभागशः तं वेदितारं प्राहुः कथयन्ति क्षेत्रज्ञ इति। क्षेत्रज्ञ इत्येवमाहुः। के? तद्विदः तौ क्षेत्रक्षेत्रज्ञौ ये विदन्ति ते तद्विदः" —'इदं' इस सर्वनाम-पदके द्वारा जो उक्त हुआ है वही यह शरीर है। हे कौन्तेय, इस शरीरको क्षेत्र क्यों कहते हैं? कारण यह है कि क्षतसे यह त्राण करता है, अथवा इसका क्षय होता है, अथवा क्षेत्रवत् (क्षेत्रमें बीज बोने से जैसे फल प्राप्त होता है) देहकृत कर्मोंका भी फलभोग होता है—इसलिए इस देहको क्षेत्र कहा गया है। इति शब्दका अर्थ है 'एवं' अर्थात् इस प्रकार। इस शरीरको इस प्रकार क्षेत्र-रूपसे निर्देश किया जाता है।

इस शरीर-रूपी क्षेत्रको जो जानते हैं, जो पदतलसे मस्तक पर्यन्त इसे ज्ञानका विषय कर लेते हैं, या इसे स्वाभाविक अथवा उपदेशजनित अनुभवका विषय करते हैं, वे देहसे पृथक् उस देह-वेत्ताको 'क्षेत्रज्ञ' कहकर निर्देश करते हैं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको जानने वाले वे ही 'तद्विदः' हैं]॥१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ द्वारा अनुभव हो रहा है—यह शरीर क्षेत्र-स्वरूप है, इसमें जो खेती करता है उसका नाम क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्रिया है।—शरीरको क्षेत्र क्यों कहते हैं? आचार्य शङ्करके मतानुसार इसके तीन प्रकारके कारण हो सकते हैं—(१) यह क्षतसे त्राण करता है, (२) क्योंकि इसका क्षय होता है, (३) क्षेत्रमें बीज बोने पर जैसे फल मिलता है उसी प्रकार देहकृत कर्मोंके फल भी जीवको भोग करने पड़ते हैं।

संसारकी चिन्तामें जीव क्षत-विक्षत हो जाता है, साधनके बिना यह क्षत (घाव) नहीं सूखता अतएव तापकी निवृत्ति नहीं होती। इस शरीरके न रहने पर साधना भी नहीं होती, साधना किये बिना आवागमनकी निवृत्ति नहीं होती। कर्मायतन यह शरीर जैसे जीवको कर्मके द्वारा सुख-दुःखमें आबद्ध करता है, उसी प्रकार बन्धनसे मुक्त करके अपवर्ग प्रदान कर कृतार्थ भी करता है।

क्षेत्रमें बीज बोने पर जैसे फल उत्पन्न होता है और क्षेत्रकर्त्ता उस फलका भोग करता है, उसी प्रकार इस शरीर-रूपी क्षेत्रमें जीवको सुकर्म या कुकर्म करके अपने कर्मका फल भोगना पड़ता है। परन्तु अच्छा कृषक होने पर जीवको कर्मबन्धनमें आबद्ध नहीं होना पड़ता। अच्छा कृषक कैसे बन सकोगे—(१) कृषक को भलीभाँति खेत जोतना पड़ेगा, (२) उत्तम बीज संग्रह करना पड़ेगा तथा (३) फसलकी पैदावारमें उत्पन्न होनेवाले सारे विघ्नोंको दूर करना पड़ेगा। कृषक यदि भलीभाँति खेत न जोते, उसमें मन न लगावे या अवहेलना करे तो अच्छा बीज बोने पर भी सुफल न मिलेगा। इसके अतिरिक्त दैवकी कृपा भी आवश्यक है क्योंकि समयानुसार वृष्टि न होने पर फसल अच्छी नहीं लगती। यदि सुवृष्टि भी हुई पर भलीभाँति पहरा न दिया गया तो फसलका बहुतसा भाग कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी खा जाते हैं। खेत जोतनेके लिए तीन वस्तुओंकी आवश्यकता है—खेत, हल और पशु। आध्यात्मिक खेतीमें हमारा यह शरीर क्षेत्र हुआ, जोतनेवाला हल है प्राण-क्रिया या श्वास-प्रश्वास, इस श्वास-प्रश्वासरूपी हलको चलायेंगे मन प्रभृति इन्द्रिय-पशु। इस प्रकार प्राणायामादि प्राणक्रिया करके राजा जनकने सीता नामकी यज्ञदेवता या साधनके फलस्वरूप साधन-लक्ष्मी ब्रह्मविद्याको प्राप्त किया था।

जो लोग उत्तम साधन-प्रणाली पाकर भी साधनमें अवहेलना करते हैं या मन लगाकर साधना नहीं करते, वे साधनाके मधुर फल शान्तिको प्राप्त नहीं कर सकते। दैवानुकम्पाकी भी आवश्यकता है अर्थात् जिनको पूर्वजन्मसे ही साधन साधित है वे वर्तमान जन्ममें परिश्रम करने पर उपयुक्त फल पा जाते हैं। तब भी साधकको सतर्क रहना पड़ता है, वैराग्यवान् होना पड़ता है, नहीं तो बहुत सी तपस्याके फलको इन्द्रिय-वृत्तिरूपी चोर अपहरण कर लेते हैं। साधककी तीव्र साधना और उसके फलको देखकर बहुतसे लोग उसका सम्मान करते हैं, उसकी ख्याति देश-विदेशमें प्रचारित हो जाती है, फलतः यदि साधकको इन प्रतिष्ठाओंके प्रति लोभ होता है तो खेतमें अच्छे फल लगने पर भी उस फलको अभिमानरूपी पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग नष्ट कर देते हैं, वह अपदेवताको भोग लगता है, देवताको भोग नहीं लगता।

यह क्रिया करता है कौन ?—क्षेत्रज्ञ जीव या क्रियावान् साधक। बद्ध जीव भी क्षेत्रज्ञ है क्योंकि जीव जानता है कि यह देहरूप क्षेत्र उसीका है। इसीलिए देहको वह सजाता-सँवारता है तथा देहको स्वस्थ और पुष्ट रखनेकी उसे स्वतः इच्छा होती है। परन्तु देहका सौष्ठव बढ़ानेकी ओर लक्ष्य न रखकर जो अपनेको देह-पाशसे छुड़ानेका प्रयत्न करता है वह सर्व-तापहर देहातीत (विदेह) अवस्था प्राप्त कर कृतार्थ होता है। यह देहातीत भाव ही देहीका निजभाव है। इस भावमें प्रतिष्ठित होने पर जीवका जीवत्व छूट जाता है। जो इन दोनों भावों (देहबद्ध और विदेह) से अवगत हैं वही 'क्षेत्रज्ञ' हैं ॥१॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

अन्वय—भारत (हे भारत !) सर्वक्षेत्रेषु अपि (सब क्षेत्रोंमें) मां च (मुझको ही) क्षेत्रज्ञं विद्धि (क्षेत्रज्ञ जानो) क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका) यत् ज्ञानं (जो विभेद-ज्ञान है) तत् ज्ञानं (वही ज्ञान) [है] मम मतं (यह मेरा अभिमत है) ॥२॥

श्रीधर—तदेवं संसारिणः स्वरूपमुक्तम्। इदानीं तस्यैव पारमार्थिकमसंसारि-स्वरूपमाह—क्षेत्रज्ञम् इति। तं च क्षेत्रज्ञं संसारिणं जीवं वस्तुतः सर्वक्षेत्रेषु अनुगतं मामेव विद्धि। 'तत्त्वमसि' इति श्रुत्युपलक्षितेन चिदंशेन मद्रूपस्य उक्तत्वात्। आदरार्थमेव तज्-ज्ञानं स्तौति। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः यत् एवं वैलक्षण्येन ज्ञानं तदेव मोक्षहेतुत्वात् मम ज्ञानं मतम्। अन्यत् तु वृथा पाण्डित्यम् बन्धहेतुत्वात् इत्यर्थः। तदुक्तम्—

तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम् ॥ इति ॥ २ ॥

अनुवाद—[इस प्रकार क्षेत्रज्ञका सांसारिक स्वरूप कहा गया। अब उसी क्षेत्रज्ञके असांसारिक स्वरूपको कहते हैं अर्थात् जीवका व्यावहारिक स्वरूप सांसारिक होते हुए भी वह वस्तुतः पारमार्थिक है, इस विषयमें कहते हैं]—वह क्षेत्रज्ञ, सांसारिक जीव वस्तुतः मुझको ही समझो, मैं ही सारे क्षेत्रोंमें अनुगत अर्थात् अनुप्रविष्ट हूँ। क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस श्रुतिवाक्यसे उपलक्षित जो चिदंश है उसके द्वारा मेरे ही स्वरूपकी चर्चा की जाती है। आदरार्थ इस ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो विलक्षण (पृथक्) ज्ञान है, वही मुक्तिका हेतु होनेके कारण मेरे मतसे यथार्थ ज्ञान है। अन्य ज्ञान व्यर्थका पाण्डित्य-मात्र है क्योंकि वह बन्धनकारक है। इसीसे कहा गया है कि "कर्म वही है जो बन्धनका कारण न हो, विद्या वही है जो मुक्ति प्रदान करे। दूसरे कर्म तो केवल परिश्रमका निमित्त बनते हैं, दूसरी विद्या शिल्पनिपुणता मात्र है" ॥२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्षेत्रज्ञ जो नाभिदेशमें है वह मेरा ही रूप है—गुरु-वाक्यके द्वारा लभ्य—वह सब शरीर में है।—जो देहमें 'अहं-मम' अभिमानयुक्त होकर देहके सुख-दुःखको अपना समझकर अभिमान करता है, वह क्षेत्रज्ञ है। परन्तु इतना

जान लेनेसे ही क्षेत्रज्ञके विषयमें सब ज्ञात नहीं हो जाता। सब क्षेत्रोंमें जो क्षेत्रज्ञ हैं वही भगवान् हैं, यह समझना चाहिए। अभी जो जीव दुःख और शोकसे ग्रस्त जान पड़ता है, वह परमात्मासे पृथक् वस्तु नहीं है। परमात्माका जो सच्चिदानन्द स्वरूप है वही जीवका भी स्वरूप है। परन्तु यह जीव अत्यन्त अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्वज्ञ हैं। अतएव जीव और ईश्वरमें जो विराट् भेद है, वह अस्वीकार कैसे किया जा सकता है। भेद तो है ही, परन्तु यह भेद औपाधिक है, नित्य सत्य नहीं। श्रुति कहती है—"नेह नानास्ति किञ्चन"—नानात्व नहीं है, अतएव क्षेत्रज्ञ यदि परमात्मा न होते तो सब क्षेत्रोंमें पृथक्-पृथक् क्षेत्रज्ञ होनेसे क्षेत्रज्ञोंका बहुत्व स्वीकार करना पड़ता, परन्तु यह वेदादि-शास्त्र-सम्मत नहीं है तथा अनुभवके भी विरुद्ध है। इसीसे सनत्सुजातीय अध्यात्म-शास्त्रमें सनत्कुमार कहते हैं—

दोषो महानत्र विभेद-योगे
ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः।
तथास्य नाधिक्यमपैति किञ्चि-
दनादि-योगेन भवन्ति पुंसः ॥१।२०।

विभेद-योगमें अत्यन्त दोष है। मायाके प्रभावसे वह जीवरूपमें नित्य अवस्थान करते हैं। वह एक अद्वितीय परमेश्वर मायाके कारण बहुत्वमें परिणत होने पर भी अपने आधिक्यको कम नहीं करते। तब जीव कैसे और किस प्रकार अल्पज्ञ हुआ तथा किस प्रकार जीव वर्तमान अवस्थासे अपने स्वरूपमें पहुँच सकता है, इस सम्बन्धमें कुछ कहना है। अविद्याकी उपाधिके कारण जीव, देहके साथ तादात्म्य-भावसे मिलित होकर अपने स्वरूपको भूल जाता है। प्राणकी बहिर्मुख गतिके द्वारा ही जीवकी आत्म-विस्मृति होती है। तभी उसकी बाह्य दृष्टि स्फुरित होती है। कठोपनिषद् कहती है—"या प्राणेन सम्भवति अदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत। एतद्वै तत् ॥" सर्वदेवतारूपी जो अदिति अर्थात् विषयभोक्ता क्षेत्रज्ञ प्राणेन अर्थात् प्राणशक्तिके साथ प्रकाशित होते हैं और जो भूतोंके साथ अर्थात् पञ्चभूतोंसे युक्त होकर उत्पन्न होते हैं, वह जीवके हृदयरूपी गुहामें (कुटस्थके भीतर) अवस्थित हैं, उस चित्-शक्तिका जो दर्शन करते हैं वह ब्रह्मका दर्शन करते हैं।

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।" परमेश्वरने इन्द्रियोंको बाह्य-पदार्थदर्शी बनाया है, अतएव जीव शब्दादि बाह्य पदार्थोंको जान पाता है, अन्तरात्माको नहीं जान सकता।

बाह्यज्ञान-स्फुरणके साथ जीव अपनेको देहमात्र (प्रकृति) मानता है और देह जैसे जड़ है वैसे ही उसकी बुद्धि भी जड़भावापन्न होकर अज्ञानसे आच्छन्न होती है। यही बहिर्मुख गति रुद्ध होने पर जीव जो शिव था वह फिर शिव हो जाता है।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ कठ०

वह प्राणकी ऊर्ध्व गति और अपानकी अधोगतिको 'अस्यति' निक्षेप करता है (अर्थात् उसीका अवलम्बन करके प्राणापानकी गति चलती है)। इस

प्राणापानके सन्धि-स्थलमें अर्थात् प्राणायामके द्वारा दोनों वायुके हृदयमें स्थिर होने पर वामन-देवका ज्ञान होता है। तब जान पड़ता है कि विश्वके सारे देवता उनकी उपासना करते हैं। "स उ प्राणस्य प्राणः"—वही प्राणके प्राण हैं अर्थात् उसीसे प्राण शक्ति प्राप्त करते हैं। उस स्थिर प्राणकी उपासना करते-करते साधक ब्रह्ममें लीन हो जाता है। श्रुति कहती है—"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।" इस प्रकार अपने आपको जान लेने पर अज्ञान कट जाता है, सारे भेद खुल जाते हैं। रज्जुको रज्जुरूपमें जान लेने पर उसमें सर्पभ्रम होनेकी आशङ्का नहीं रहती। उसी प्रकार अपनेको आप पहचान लेने पर फिर इस कल्पित अज्ञान (जीवभाव) के लिए विड़म्बित नहीं होना पड़ता।

प्राणकी जिस बहिर्मुख वृत्तिके द्वारा यह महा अनर्थ उत्पन्न हुआ है, अपनी स्वरूपावस्थामें लौटना हो तो जिस मार्गसे बाहर आना पड़ा है, फिर उसी मार्गसे घरमें प्रवेश करना पड़ेगा। गीताकी व्याख्याके अनेक स्थानोंमें आलोचना हुई है कि इड़ा-पिङ्गलामें जबतक श्वास बहता रहता है तबतक यह जगद्दर्शन निवृत्त नहीं होता तथा भगवान्के घोर रूपका दर्शन भी बन्द नहीं होता। इसलिए हमको सदा साधनामें सचेष्ट रहना होगा। तृतीय पाद सुषुम्नामें क्रिया करते-करते ऊर्ध्व (मस्तक) में स्थितिरूप एक अवस्था या पुरुषका उदय होता है। उस स्थिति-पदमें रहते-रहते विश्व-दर्शन लुप्त हो जाता है। स्वभावतः विक्षिप्त मन क्रियाके द्वारा क्रियाकी परावस्थामें जितना ही दीर्घकाल तक स्थित हो सकेगा, उतना ही नानात्व एकत्वमें प्रविष्ट होता जायगा और यह विश्व ब्रह्ममय होता जायगा। जब सब एक हो जाता है तभी पुरुषोत्तम-मात्र होता है। इस पुरुषोत्तमको देखनेका उपाय है—क्रिया। इस पुरुषोत्तम-अवस्थामें जो ब्रह्मानन्दस्वरूप है, वही जीवरूपमें विषयानन्दमें विभोर है।

जो विश्वातीत है, वही विश्व भी है। पुरुष-सूक्तमें लिखा है "एतावानस्य महिमा, ततो ज्यायांश्च पूरुषः, पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।" प्राणरूपी नारायणके इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना तीन पद हैं। ये तीन पद जब सुषुम्नामें एक हो जाते हैं तब स्थिर पद या क्रियाकी परावस्थाका अनुभव होता है। क्रियाकी परावस्थामें रहते-रहते परव्योमके अणुके भीतर प्रवेश हो सकता है और उसमें प्रविष्ट होते ही "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" हो जाता है। वह परव्योम या ब्रह्म ही महद्ब्रह्म होते हैं, तब वह कूटस्थ-ज्योति-रूपमें अपनी आप सृष्टि करते हैं। यह महद्-ब्रह्म ही प्राणरूप स्थावर-जङ्गमात्मक विश्वको प्रकाशित करते हैं। समस्त सृष्ट वस्तुएँ प्राणके द्वारा प्रकाशित होती हैं, अतएव तत्समुदायको प्राणी कहते हैं। यह प्राण सूक्ष्म वायुरूपमें समस्त सृष्ट वस्तुओंके भीतर रहता है। यही सूक्ष्मातिसूक्ष्म वायुरूप स्थूल भूतोंमें परिणत होता है। स्थूल भूतोंका यह स्थूल अणु है जिसके कारण स्थूल भावका दर्शन होता है, वायुके ही द्वारा इसका स्थूलत्व नष्ट भी होता है। इसीलिए वायुकी क्रिया (प्राण-क्रिया) करना आवश्यक है। मन स्थूल चिन्तन करते-करते एकबारगी स्थूल हो जाता है, तब सूक्ष्म चिन्तन नहीं कर पाता। प्राणक्रियाके द्वारा मनकी यह स्थूलता नष्ट हो जाती है। यही प्राण रुद्ररूपमें नाभिमें रहता है, वह तेजःस्थान है।

इस स्थानकी शक्तिसे वाक्य स्फुरित होता है। वाक्यका जितना ही विस्तार होता है, उतना ही प्राणका चाञ्चल्य बढ़ जाता है। प्राणकी चञ्चल अवस्था ही मन है, यह चञ्चल मन ही जीवको मृत्युपाशमें आबद्ध करता है। यजुर्वेदमें लिखा है—"मरुतः शिवः, मरुतः ब्रह्म"। मरुत जब स्थिर होता है तब शिव है और मरुत ही चञ्चल होकर मन रूपमें संसारकी रचना करता है। इसी कारण वेद कहते हैं—"नमस्ते वायो, त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, तन्मामवतु"—हे वायु, तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, तुमको नमस्कार, तुम मेरी रक्षा करो अर्थात् मेरी इस संसार-गतिको अवरुद्ध करो। मन, बुद्धि, अहङ्कार, इन्द्रिय आदि सब आत्माकी महिमा हैं। परन्तु यह सब बाह्य महिमा है। क्रिया करके साधक जितना ही स्थिर होता है, उतना ही आत्माके भीतरकी महिमा या ऐश्वर्यको समझनेमें समर्थ होता है। इस स्थिर पदके अनुभवके साथ आत्माके सर्वव्यापकत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्ताका अनुभव होता है। इस समय जीव अपनेको जो अज्ञ या अल्पज्ञ समझ रहा है, यह सब उस समय उलट जायगा। इस क्रियाके द्वारा ही उनका "ज्यायान्" अर्थात् उत्कृष्ट पद अनुभूत होता है। वही उत्तम पुरुष हैं, उनको हम देख पाते हैं। वही अनुभव-पद अथवा अपनेमें आप है। इस प्रकारकी अवस्था जिस साधकको प्राप्त होती है, उसके सामने फिर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके पृथक्त्व का बोध नहीं रह जाता। इसीका नाम ज्ञान है।

इसी कारण जीव और परमेश्वरको विभिन्न कहनेवाला सिद्धान्त शास्त्रदृष्टिमें दोषयुक्त माना जाता है। जीव अन्य वस्तु नहीं है, मायाके कारण परमात्मा ही जीवरूपमें सदा वर्तमान हैं। जीव और परमेश्वरका या जीवके साथ जीवका जो भेद है वह औपाधिक है, तात्त्विक नहीं। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इन्द्र अर्थात् ब्रह्म मायाके द्वारा नाना रूप धारण करते हैं। अतएव असंख्य जीवभाव परमात्माका ही रूपभेद-मात्र है। यह माया परमेश्वरमें शक्ति-रूपसे निहित है। जैसे पुरुषका आदि नहीं है, अन्त नहीं है, उसी प्रकार प्रकृति भी आद्यन्त-रहित है। भगवान्ने इसी अध्यायमें कहा है—"प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि"—प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। जीवका भोक्तृत्व तथा उसका भोग और भोग्य सब मायाके कारण कल्पित मात्र हैं। वे पारमार्थिक सत्य नहीं हैं। मायाके कारण जो भेद दीख पड़ता है, वह भेद-ज्ञान मायाका संयोग विच्छिन्न होते ही विलुप्त हो जाता है। घटाकाश अखण्ड आकाशका उपाधि मात्र है, घटोपाधिके नाशके साथ घटाकाशकी पृथक् प्रतीति नहीं रहती। इसी प्रकार अखण्ड परमात्माके किसी अंशके मायाच्छन्न होने पर उस अंशकी ही जीव-उपाधि होती है। यह उपाधि सब अवस्थाओंमें नहीं रहती, जब उपाधि तिरोहित हो जाती है तो जीव परमात्माके साथ अखण्ड अभेद रूपमें प्रतीत होता है। नारद-पञ्चरात्रमें लिखा है—"अमुक्तेर्भेद एव स्यात् जीवस्य च परस्य च। मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः"—मुक्ति पर्यन्त भेद-व्यवहार रहता है। मुक्तिके बाद भेदहेतुके अभावके कारण भेदज्ञान नहीं रहता। श्रुति भी कहती है—

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥" मुण्डक

—नदियाँ समुद्रमें प्रवेश करके जैसे अपने नाम और रूपका परित्याग करती हैं, जीव भी ज्ञानके द्वारा परात्पर पुरुषमें मिलकर अपने समस्त नामादि भेदके लक्षणोंसे विमुक्त हो जाता है।

देहदृष्टिके कारण ही जीव और ब्रह्ममें भेदव्यवहार सिद्ध होता है। किन्तु क्रियाकी परावस्थामें देहादि-संघातसे पृथक् होकर जीव जब परम पुरुषमें मिलकर एक हो जाता है, तब भेदकी कोई वास्तविकता नहीं रह सकती। जीव यद्यपि देखनेमें असंख्य हैं तथा प्रत्येक जीव परमात्माके अंश हैं, तथापि इससे परमात्माके पूर्णत्व और एकत्वकी हानि नहीं होती, क्योंकि यह जीवभाव अविद्याकल्पित है, पारमार्थिक सत्य नहीं है। जैसे असंख्य प्रतिबिम्ब होने पर भी उससे प्रकृत सूर्यका क्षय या ह्रास होनेकी संभावना नहीं रहती, उसी प्रकार जीव चाहे जितने असंख्य और अनगिनत हों, उससे परमात्माके ह्रास या वृद्धिकी सम्भावना नहीं है। इसी कारण भगवान् जब स्वेच्छासे या अपनी मायामें अधिष्ठित होकर नाना रूपोंमें अपनेको प्रकाशित करते हैं तब भी उनके पूर्णत्वकी हानि नहीं होती। अतएव सांख्यके असंख्य-पुरुषवादके होते हुए भी परम पुरुषमें नानात्व नहीं होता, वह एक अखण्ड-भावमें ही सदा वर्तमान रहते हैं। षड़ैश्वर्यवान् भगवान् मायाद्वारा जगत्प्रपञ्चके रूपमें परिणत होते हैं और मायाके कारण ही इस प्रपञ्चका बोध होता है, वस्तुतः उनमें कोई विकार नहीं होता। स्वप्नमें देखी वस्तुका जैसे जाग्रत अवस्थामें कोई अस्तित्व नहीं रहता, उसी प्रकार माया निवृत्त होने पर इस दृश्यमान् जगत्का भी कोई अस्तित्व नहीं रहता। नाभि-देशमें समानवायुका स्थान है, वहीं क्षेत्रज्ञका अवस्थान है, वही तेजरूपमें इस क्षेत्रका सञ्चालन करता है। मृत्युके समय इस तेजका जितना अभाव होता है, उतनी ही शरीरकी क्रिया-शक्ति नष्ट हो जाती है। समानवायुके शिथिल होने पर प्राणवायुको शरीरमें धारण नहीं कर सकते। नाभिस्थ शक्ति ही कूटस्थका तेज या शक्ति है, इसलिए दोनों एक दूसरेके सखा हैं। इससे अवगत होना हो तो गुरुवाक्यगम्य साधनामें प्रवृत्त होना आवश्यक है ॥२॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

अन्वय—तत् क्षेत्रं (वह क्षेत्र) यत् च (जो अर्थात् जिस प्रकार जड़ दृश्यादि स्वभावोंसे युक्त है) यादृक् च (जिस प्रकारका अर्थात् जिस प्रकार इच्छादि धर्मोंवाला है) यद्विकारि (जिस प्रकार इन्द्रियादि विकारों से युक्त है) यतः (जिस प्रकार प्रकृति-पुरुष-संयोगसे उत्पन्न है) यत् च (स्थावर-जङ्गमादि भेदोंमें जैसे विभिन्न है) सः च (और वह क्षेत्रज्ञ) यः (यत्स्वरूप अर्थात् स्वरूपतः जो है) यत्प्रभावः (जिस प्रकार अचिन्त्य-प्रभाव-युक्त है) तत् (वह) मे (मुझसे) समासेन (संक्षेपमें) शृणु (सुनो) ॥ ३ ॥

श्रीधर—अत्र यद्यपि चतुर्विंशतिभेदैः भिन्ना प्रकृतिः क्षेत्रं इत्यभिप्रेतं तथापि देहरूपेण परिणतायामेव तस्यां अहंभावेन अविवेकः स्फुट इति। तद्विवेकार्थं इदं शरीरं क्षेत्रमित्यादि उक्तम्। तदेतत् प्रपञ्चयिष्यन् प्रतिजानीते—तदिति। यदुक्तं मया तत् क्षेत्रं यत् स्वरूपतो जड़ं

दृश्यादिस्वभावम्। यादृक्—यादृशं चेच्छादिधर्मकम्। यद्विकारि—यैः इन्द्रियादिविकारैः युक्तम्। यतश्च—प्रकृतिपुरुषसंयोगाद् भवति। यदिति—यैः स्थावर-जङ्गमादिभेदैः भिन्नमित्यर्थः। स च क्षेत्रज्ञः, यः—स्वरूपतः, यत्प्रभावश्च—अचिन्त्यैश्वर्ययोगेन यैः प्रभावैः सम्पन्नः तत्सर्वं संक्षेपतः मत्तः शृणु॥ ३॥

अनुवाद—[यहाँ यद्यपि चतुर्विंशति भेद-विशिष्ट प्रकृति ही क्षेत्ररूपमें भगवान्‌को अभिप्रेत है, तथापि देहरूपमें परिणत इस प्रकृतिमें ही अहंरूपसे अविवेक परिस्फुट होता है। इसी कारण प्रकृतिकी विवेचनाके लिए इस शरीरको क्षेत्र नामसे निर्देश किया है। इसीको विस्तारपूर्वक समझानेके लिए प्रतिज्ञा करते हैं]—मैंने जो कहा है वह क्षेत्र (१) जिस प्रकारके जड़-दृश्यादि स्वभावोंसे युक्त है, (२) जैसा इच्छादि धर्मोंवाला है, (३) जिस प्रकारके इन्द्रियादि-विकारोंसे युक्त है, (४) जिस प्रकारसे प्रकृतिपुरुषके संयोगसे उत्पन्न होता है, (५) जिस प्रकार स्थावर-जङ्गमादि भेदसे विभिन्न है और वह क्षेत्रज्ञ (६) स्वरूपतः जो कुछ है तथा (७) अचिन्त्य ऐश्वर्ययोग द्वारा जैसा प्रभाव-सम्पन्न है—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुनो॥ ३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वह शरीर जो जैसा है तथा उसका विकार होकर जो जिस रूपसे संसारमें—सब लोगोंमें आवृत है—अर्थात् क्रिया—सर्वदा आत्मामें रहना—इसका नाम है कार—विकार है दूसरी ओर आसक्तिपूर्वक दृष्टि करना, उसके द्वारा मनका विकार और प्रकाश—वह सब सुनो।—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके सम्बन्धमें जो वक्तव्य है, भगवान् अब वही बतलायेंगे। अर्जुनको इसे भलीभाँति सुनकर समझनेके लिए कहते हैं। शरीर जिस प्रकार जड़दृश्यस्वभावयुक्त है तथा जिस प्रकार इच्छादि-धर्मविशिष्ट होकर ज्ञानको आच्छादित कर रहा है तथा उससे जिस प्रकार विचित्र कार्यादि उत्पन्न हो रहे हैं, यह विशेष रूपसे ज्ञातव्य है। आत्मा जब अपने-आपमें रहता है तब ये देहादिके कार्य कुछ भी नहीं रहते, उस समय सारे कर्म बन्द हो जाते हैं। कुछ रहता ही नहीं, अतः आसक्ति भी किसी वस्तुमें नहीं रहती, जैसा सुषुप्तिमें होता है। मन जैसे ही जाग उठता है और चारों ओर आसक्तिपूर्वक देखता है, वैसे ही पाँचों इन्द्रियाँ पाँचों विषयोंकी ओर दौड़ने लगती हैं। उस स्थितिमें जो था नहीं, वही संसार चारों ओरसे फूट उठता है। अव्यक्तके भीतर जो प्रविष्ट था, वह फिर जब व्यक्त होने लगता है तो तत्काल ही स्थूलतम भावको प्राप्त नहीं होता। पहले कारण, उसके बाद सूक्ष्म, उसके बाद स्थूलका विकास होता है। इन विकारोंकी बातें भगवान् कहेंगे। ये समस्त विकास जिस अचिन्त्य ऐश्वर्य-योग-सम्पन्न क्षेत्रज्ञकी शक्ति हैं वह 'क्षेत्रज्ञ' विशेष रूपसे आलोचनीय है। देहेन्द्रिय और मनको लेकर ही संसार है और ये सब उस स्वरूपावस्थाके ही विकार हैं। उससे ही सब होता है, आत्मा न होता तो यह जगत्प्रपञ्च ही व्यक्त न हो सकता। गृहादि वस्तुएँ आकाशको वेष्टन करके ही उत्पन्न होती हैं, आकाशके बिना उनका स्वरूप कोई देख नहीं पाता। इसी प्रकार यह जगत्प्रपञ्च प्रकृतिका परिणाम है, और प्रकृति उनकी है, अतएव वही सब कुछ हैं। देहेन्द्रियादिके ऊपर

सवार होकर मन कितनी बाह्य चेष्टाओंमें लगा रहता है, उसकी वासनाओंका अन्त नहीं है। बहिर्मुख जीव अपने घरकी बात एकबारगी भूल जाता है। संसारके तापसे सन्तप्त होकर जीव निरन्तर हाहाकार करता है, परन्तु कैसे शीतल हो सकता है, कहाँ जाने पर वह शान्ति प्राप्त कर सकता है, ये सारी बातें वह भूल गया है। अपना घर छोड़कर दूसरेके घरमें आश्रय पानेके लिए वह रोता हुआ भटक रहा है। यह भ्रान्ति कैसे होती है? प्रकाशशील स्थिर आत्मामें एक दिन सङ्कल्पका एक प्रचण्ड वेग उठा। उस वेगसे मानो स्थिर समुद्र विक्षुब्ध हो उठा। तब मनरूपी तरङ्गराशि ताण्डव नृत्य करते-करते बाहरकी ओर निकल पड़ी। समस्त दिग्दिगन्त तरङ्गाघातसे उत्पन्न असंख्य जलकणोंसे व्याप्त हो गया। जलकण अपनेको भूल गये, अपने मूल कारणको भूल गये, अपनेको और ही कुछ समझकर उनका अहं-अभिमान जाग उठा—

"देहाभिमानयुक्त हय जबे 'आमि' एइ
विश्व हते भिन्न 'आमि' बोध तार हय सेइ।
नानात्वेर खण्डज्ञान तखनइ स्फुरित हय
उहाइ अज्ञानसिन्धु जीव ताहे मग्न रय॥"

"जब यह 'मैं' देहाभिमानसे युक्त होता है तो उसको यह बोध होता है कि 'मैं' विश्वसे भिन्न हूँ। तभी नानात्वका खण्ड-ज्ञान स्फुरित होता है। वही अज्ञानका समुद्र है, उसमें जीव मग्न रहता है।" तब भूखसे व्याकुल पागल कुत्तेके समान समस्त दृश्य वस्तुओंका उपभोग करनेके लिए वह उन्मत्त हो जाता है। कौन भोग करेगा, किसको भोग करेगा और क्यों भोग करेगा—इन सब बातोंकी विवेचना वह बिल्कुल ही नहीं करता। यही विकृतिका लक्षण है। तब वह सर्वत्र ही आसक्तिके साथ दृष्टि करता है। फिर गुरु-कृपासे जब अपने घरकी तथा अपनी स्मृति होती है, तब वह व्याकुल होकर साधनाभ्यास करता है। साधन करते-करते भीतरका कपाट खुल जाता है, तब वह अपने स्थानको और अपनेको पहचानकर अपने आपमें प्रतिष्ठित होता है। तब उसकी और किसी वस्तुमें आसक्ति नहीं होती। आत्माके सिवा अन्य वस्तुओंमें आसक्त होने पर जीवकी जो दुर्गति होती है उसको हम प्रत्यक्ष देखते हैं। यह सब देहासक्तिके कारण होता है। यह देह ही प्रकृति है, प्रकृति ही जीवको संसारमें खींचती है। जो क्रिया करके परावस्थामें रहते हैं, उनको फिर इस विकृत भावमें नहीं पड़ना होता॥३॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥४॥

अन्वय—ऋषिभिः (ऋषियोंके द्वारा) बहुधा गीतं (नाना प्रकारसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका स्वरूप गीत अर्थात् निरूपित हुआ है) विविधैः छन्दोभिः (ऋग् आदि वेदचतुष्टयमें—मन्त्रमें और ब्राह्मणमें) पृथक् (विभिन्न पूजनीय देवताओंके रूपमें) [गीतं—यह तत्त्व निरूपित हुआ है], विनिश्चितैः (संशयरहित) हेतुमद्भिः

(युक्तियुक्त) ब्रह्मसूत्रपदैः च एव (ब्रह्मसूत्रके पदोंके द्वारा भी) [गीतं—व्याख्यात हुआ है] ॥४॥

श्रीधर—कैः विस्तरेणोक्तस्य अयं संक्षेप ? इति अपेक्षायामाह—ऋषिभिरिति। ऋषिभिः—वसिष्ठादिभिः योगशास्त्रेषु ध्यानधारणादिविषयत्वेन वैराजादिरूपेण बहुधा गीतं—निरूपितम्। विविधैः विचित्रैश्च नित्यनैमित्तिककाम्यादिविषयैः। छन्दोभिः वेदैः नाना-यजनीय-देवतारूपेण बहुधा गीतम्। ब्रह्मणः सूत्रैः पदैश्च। ब्रह्म सूच्यते सूच्यते एभिरिति ब्रह्मसूत्राणि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादीनि तटस्थलक्षणपराणि उपनिषद्वाक्यानि। तथा च ब्रह्म पद्यते गम्यते साक्षात् ज्ञायते एभिरिति पदानि स्वरूपलक्षणपराणि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादीनि तैश्च बहुधा गीतम्। किञ्च हेतुमद्भिः "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" "कथमसतः सज्जायेत" इति, "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयति" इत्यादियुक्तिमद्भिः। अन्यात् अपानचेष्टां कः कुर्यात, प्राण्यात् प्राणव्यापारं वा कः कुर्यादिति श्रुतिपदयोः अर्थः। विनिश्चितैः उपक्रमोपसंहारैः एकवाक्यतया असन्दिग्धार्थ-प्रतिपादकैरित्यर्थः। तदेवम् एतैर्विस्तरेणोक्तं दुःसंग्रहं संक्षेपतः तुभ्यं कथयिष्यामि तत् शृणु इत्यर्थः। यद्वा "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादीनि ब्रह्मसूत्राणि गृह्यन्ते। तान्येव ब्रह्म पद्यते निश्चीयत एभिरिति पदानि तैः हेतुमद्भिः विनिश्चितार्थैः। शेषं समानम् ॥४॥

अनुवाद—[किनके द्वारा विस्तारपूर्वक कही गयी बातोंका यह संक्षेप है, इसी अभिप्रायसे कहते हैं]—वसिष्ठादि ऋषियोंके द्वारा योगशास्त्रमें वैराजादि-रूपमें ध्यान-धारणा आदिके विषयोंको कहकर नाना प्रकारसे जिस तत्त्वका निरूपण किया गया है तथा विचित्र नित्यनैमित्तिककाम्य कर्मादि विषय जिनका (छन्दों) वेदोंने नाना प्रकारके यजनीय देवताओंके रूपमें निरूपण किया है, तथा ब्रह्मसूत्रके द्वारा अर्थात् जिसके द्वारा ब्रह्म सूचित होता है जैसे—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" अर्थात् जिनसे भूतगण उत्पन्न होते हैं इत्यादि ब्रह्मके तटस्थ लक्षणपरक उपनिषद्-वाक्योंके द्वारा, तथा ब्रह्मपदोंके द्वारा ब्रह्मको साक्षात् जान सकते हैं जैसे—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—अर्थात् सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप इत्यादि स्वरूप-लक्षणपरक श्रुति द्वारा उन्होंने नाना रूपोंमें जो निर्णय किया है, तथा युक्तियुक्त श्रुतिवाक्य जैसे—"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्"—हे सौम्य, सृष्टिके पूर्व सत् मात्र था, "कथम् असतः सत् जायेत"—असत्से सत्की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है ? यदि इस आकाश (हृदय) में आनन्द-स्वरूप आत्मा न होता तो अपानका कर्म या प्राणकी चेष्टा कौन करता ? यह आत्मा ही प्राणियोंको आनन्दित करता है इत्यादि हेतुयुक्त श्रुतियोंके द्वारा गीत हुआ है। 'अन्यात्' पद द्वारा अपान-चेष्टा कौन करता, 'प्राणयात्' पद द्वारा प्राण-व्यापार कौन करता—यह उपर्युक्त श्रुतिके पदोंका ही अर्थ है। 'विनिश्चित' शब्दका अर्थ है उपक्रमसे उपसंहार पर्यन्त एक वाक्यमें असन्दिग्ध-अर्थ-प्रतिपादक युक्तियुक्त पद-द्वारा जो विस्तारपूर्वक निरूपित हुआ है, उस दुःसंग्रह तत्त्वको मैं संक्षेपमें तुमसे कहता हूँ, उसे सुनो।

अथवा "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"—साधन-चतुष्टयके बाद ब्रह्मजिज्ञासा करे इत्यादि वेदान्तसूत्र "ब्रह्मसूत्र" शब्दसे गृहीत हुए हैं। उन सूत्रोंके द्वारा ब्रह्म 'पद्यते'

अर्थात् निश्चित किये जानेके कारण वे पद हैं, उन सब हेतुमत् और विनिश्चितार्थक पदोंके द्वारा ब्रह्म निरूपित होते हैं। शेष अशंका अर्थ पूर्ववत् है।

[स्वरूप और तटस्थ, इन दो लक्षणोंके द्वारा ब्रह्म निरूपित होते हैं। जो स्वयं ही अपना लक्षण है अर्थात् प्रमाणान्तर-निरपेक्ष है, वह ब्रह्मका स्वरूप लक्षण है जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं'—यह उनका साक्षात् परिचय है। सृष्टि, स्थिति और लयका कारण ब्रह्म है, यह ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि] ।।४।।

आध्यात्मिक व्याख्या—समस्त काली प्रभृति रूप—ये इसी कूटस्थके भीतर दृश्यमान होते हैं—ये ही ऋषि हैं—इसका प्रमाण तन्त्रमें कालिका ऋषि है—नाना प्रकारके छन्द कूटस्थके भीतर देखनेमें आते हैं—पृथक्-पृथक् ब्रह्मके सूत्र मेरुदण्डमें हैं जिनके अन्तर्गत विश्व-संसार है—वह भी क्रियाके द्वारा देखनेमें आता है—जो मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त कूटस्थ स्वरूपमें विराजमान है वही इस शरीरका हेतु है—सुन्दर और निश्चित रूपसे सभी शास्त्रोंमें कथित है।—वसिष्ठ आदि ऋषियोंने अनेक शास्त्रोंमें इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके बारेमें आलोचना की है। वेदके कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें भी इसकी आलोचना है। उपनिषदादिमें और वेदान्तसूत्रमें तथा सिद्धान्तवादियोंके सिद्धान्तोंमें यह अतीव सूक्ष्म ब्रह्मतत्त्व आलोचित हुआ है। आलोचित तो हुआ है परन्तु केवल आलोचनासे ब्रह्मतत्त्व जाना नहीं जाता। इसके लिए तपस्याकी आवश्यकता है। प्राणायामादि तपके द्वारा नाड़ी शुद्ध होने पर सत्य ज्ञान प्रकाशित होता है। यह प्रकाश हम सबके भीतर रहता है। यह प्रकाश ही कूटस्थ-ज्योति है, उसके भीतर उत्तम पुरुष दीख पड़ता है। तब एक शुद्ध निर्मल रश्मिका प्रकाश होता है जिसमें कोई रङ्ग नहीं होता, उसे देखते-देखते साधक ब्रह्ममय हो जाता है। साधन करते-करते साधकके शरीरमें एक वैद्युतिक शक्ति उत्पन्न होती है। यह शक्ति ही अनिर्वचनीया ब्रह्मशक्ति गायत्री है। गायत्रीके पूर्व ॐकार-ध्वनि अपने आप सुन पड़ती है तथा नाना प्रकारके अनाहत शब्द सुन पड़ते हैं। तब अन्नमय कोष भी ब्रह्मरूप हो जाता है, प्राण अन्नब्रह्ममें मिल जाता है। समस्त भूतोंमें प्राणके होनेके कारण ही उन भूतादिकोंकी अभिव्यक्ति होती है। वह प्राण जब ब्रह्ममें मिलता है तो समस्त भूत भी ब्रह्ममें मिल जाते हैं—इस ज्ञानका ही नाम वेद है। इसको जाननेके लिए त्रयी विद्या जाननी पड़ती है अर्थात् प्राण, अपान और व्यानकी क्रिया करनी पड़ती है। प्राण-अपानकी क्रियाके द्वारा श्वासके स्थिर होने पर सत्य ब्रह्मका ज्ञान होता है अर्थात् क्रियाकी परावस्थारूप एक परमानन्दमय अवस्था प्रकाशित होती है। यह स्थिति ही व्यानकी क्रिया है, इसको तुरीय अवस्था कहते हैं तथा इसको जानना ही वेद कहलाता है। 'भूर्भुवः स्वः' यह त्रिपदा गायत्री है; इन तीनों लोकोंके एक होने पर ही ब्रह्मपद प्राप्त होता है अर्थात् तब इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना तीनों एक हो जाते हैं। जब मस्तकमें वायु स्थिर होती है तब प्रथम पद, बाहुमें स्थिर होने पर द्वितीय पद और सर्वत्र ब्रह्मदर्शन होने पर वायु चरम स्थिर अवस्था प्राप्त करती है, यही गायत्रीका तृतीय पद है। प्राणायामके द्वारा वायुके स्थिर होने पर स्थितिपद

प्रकाशमें आता है। यह स्थिति अमृतपद है। यही अमृत पान कर लेने पर साधक आनन्द-स्वरूप हो जाता है।

आध्यात्मिक व्याख्यामें 'कालिका ऋषि' कहा गया है। यहाँ ऋषिका अर्थ है "जो स्वयं उत्पन्न होता है" (प्रकृतिवाद अभिधान)। यही चिदाकाश, आद्या शक्ति या कालिका ऋषि "आधाररूपा जगतस्त्वमेका" है अर्थात् सब वस्तुओंके आधार-रूपमें रहकर भी किसी पदार्थमें लिप्त नहीं होता। अनेक देव, देवी और सिद्धगण कूटस्थके भीतर देखे जाते हैं।

'छन्द'—नाना प्रकारके सादे काले विन्दु कूटस्थके भीतर दीख पड़ते हैं जिनसे वीणाके समान ध्वनि सुनी जाती है। इसी आद्या शक्ति ऋषि या चिदाकाशके बारेमें शास्त्रोंमें नाना प्रकारसे व्याख्या हुई है।

ब्रह्मसूत्रके पदोंके द्वारा ही ब्रह्मका स्वरूप विनिश्चित होता है। ब्रह्मसूत्र मेरुदण्ड-स्थित सूक्ष्म सूत्र है। ब्रह्मसूत्रपद अर्थात् इड़ापिङ्गलारहित होकर प्राणका केवल सुषुम्नामें रहना अर्थात् क्रियाकी परावस्था, जहाँ रहने पर सब कुछ ब्रह्ममय हो जाता है। यह अवस्था प्राप्त होने पर योगीकी ब्रह्मसूत्र-धारणा सुनिश्चित हो जाती है। यही प्राणस्वरूप मुख्य वायु प्राणरूपा प्रकृति बनकर जगत्की सृष्टि करती है और स्थिर प्राण होकर ब्रह्मरूप होती है। अतएव जीव ही शिव है और शिव ही ब्रह्म है। क्रियाकी परावस्थामें जो स्थिति होती है वही फिर,

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥-कठ २।१।१३

—अङ्गुष्ठ-परिमाणमें निर्वात दीपशिखाके समान एक पुरुष है जो भ्रूमध्यमें है, वह देहमें शयन किये है और सारे शरीरका पालन करता है, वह आत्मा-स्वरूप सर्वदा शरीरमें वास करता है। वही जगत्का आदि कारण-स्वरूप ईश्वर ब्रह्म है। (लाहिड़ी महाशयकी वेदान्त-व्याख्या)।

कूटस्थके बिना ब्रह्मसूत्र नहीं रहता और ब्रह्मसूत्रके बिना यह शरीर टिक नहीं सकता। जो लोग साधना करके पर-पारमें उत्तीर्ण हो गये हैं, वे लोग इन रहस्यकी बातोंको भलीभाँति जानते हैं। जो लोग बाहर ही बाहर चक्कर काटते हैं उनका अन्तर नहीं खुलता। जो लोग भीतर ही भीतर आघात करते हैं अर्थात् साधन द्वारा मनको अन्तर्मुख करते हैं वे बाहरके नामरूपमें नहीं भूलते, उनका अन्तरका आवरण हट जाता है। वे तब सत्यस्वरूपके आवरण-हीन मुखको देखकर कृतार्थ होते हैं॥ ४॥

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥

अन्वय—महाभूतानि (पञ्च व्यापक भूत अर्थात् सूक्ष्म भूतसमूह, जो स्थूल पञ्चभूतोंका कारण है), अहङ्कारः (अहङ्कार, जो सूक्ष्म भूतसमूहका कारण—अहं-प्रत्यय-लक्षण अर्थात् 'मैं' इस प्रकारकी वृत्ति ही उसका लक्षण है—शङ्कर), बुद्धिः (अहङ्कारका कारण, तथा अध्यवसायात्मिका वृत्ति ही जिसका लक्षण है), अव्य-

क्तम् एव च (तथा मूल प्रकृति जो बुद्धिका भी कारण है), दश इन्द्रियाणि (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय) एकं च (और भी एक इन्द्रिय अर्थात् मन), पञ्च इन्द्रियगोचराः च (तथा श्रोत्रादि पञ्च इन्द्रियोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध प्रभृति भोग्य विषय) ॥ ५ ॥

श्रीधर—तत्र क्षेत्रस्वरूपमाह—महाभूतानीति द्वाभ्याम्। महाभूतानि भूम्यादीनि पञ्च, अहङ्कारः तत्कारणभूतः। बुद्धिः विज्ञानात्मकं महत्तत्त्वं। अव्यक्तं मूलप्रकृतिः। इन्द्रियाणि बाह्यानि दश—श्रोत्रत्वग्घ्राणदृग्जिह्वावाक्-मेढ्रहस्ताङ्घ्रिपायव इति। एकं च मनः। इन्द्रियगोचराश्च पञ्च तन्मात्ररूपा एव। शब्दादय आकाशादिविशेषगुणतया व्यक्ताः सन्त इन्द्रियविषयाः पञ्च। तदेवं चतुर्विंशति तत्त्वानि उक्तानि ॥ ५ ॥

अनुवाद—[दो श्लोकोंमें उस क्षेत्रका स्वरूप बतलाते हैं]—महाभूत अर्थात् क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और आकाश ये पाँच, इनके कारण-स्वरूप अहङ्कार और बुद्धि अर्थात् ज्ञानात्मक महत्तत्त्व, और अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृति, दस बाह्य इन्द्रियाँ अर्थात् पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक्) और पञ्च कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ) और एक मन। इन्द्रिय-गोचर अर्थात् पञ्च तन्मात्ररूप जो शब्दादि, आकाशादिके विशेष गुणोंके रूपमें व्यक्त होकर इन्द्रियोंके विषय हो रहे हैं—इस प्रकार चौबीस तत्त्व कहे गये ॥ ५ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिससे पञ्च महाभूत अतिसूक्ष्मस्वरूप पञ्चतत्त्वोंका, अणु ब्रह्मका स्वरूप जानकर "सोऽहं ब्रह्म" इत्याकार ज्ञानक्रियाके द्वारा अनुभव होता है, उसमें स्थिर होकर क्रियाके द्वारा अव्यक्त पदका भी अनुभव होता है। उससे पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय इन दशोंके द्वारा समस्त वस्तुएँ लक्षित होती हैं।— पञ्च महाभूत विश्वके कारण हैं सही, परन्तु ब्रह्म-अणुसे ही सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई है। भूतपञ्चककी समष्टि ही द्रव्यरूपमें प्रकाशित होती है। जैसे शालग्राममें स्वर्णरेखा मिली रहती है, उसी प्रकार आत्माके साथ भूतपञ्चक पृथक्-पृथक् भावमें मिले रहते हैं। इनकी उत्पत्तिका कारण अविद्या अर्थात् अन्य दिशामें मन देना है। आत्माके सिवा अन्य दिशामें मन लगाने पर ही जगत्प्रपञ्च व्यक्त होता है। आत्मामें मन संलीन होने पर फिर प्रपञ्च नहीं दीखता। क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें जब मन अन्य दिशामें नहीं जाता तो वही अवस्था विज्ञानपद है, उस समय मनके अन्यत्र न जानेके कारण अन्य वस्तुका अनुभव नहीं होता। वही स्थिरावस्था ब्रह्मका स्वरूप है। क्रिया करने पर क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें उसका अनुभव होता है। इस अवस्थामें सब वस्तुओंमें ब्रह्मदर्शन होता है। वस्तुएँ अनन्त हैं, इसलिए ब्रह्म भी अनन्त हैं। कूटस्थके भीतर नक्षत्र और उसके भीतर गुहा है। उस गुहामें प्रवेश करने पर जो आकाश दीख पड़ता है उस आकाशके अणुमें समस्त वस्तुएँ ब्रह्मस्वरूपमें विराजमान हैं। वहाँ सब कुछ है और कुछ भी नहीं है। यह अनुभव पहले 'हम'को होता है, अन्त में 'हम' भी नहीं रह जाता, अनुभव भी नहीं रहता। सब एकाकार

हो जाता है, यही समस्त कारणोंका कारण अव्यक्त अवस्था है। इस अवस्थामें रहनेका ही नाम ज्ञान है। "य एकोऽवर्णः बहुधा शक्तियोगाद् वर्णान् अनेकान् निहितार्थो दधाति"—यह एक अद्वितीय और अवर्ण अर्थात् जाति-शून्य है तथापि उसमें नाना प्रकारकी शक्तियाँ हैं, वह उन नाना प्रकार की शक्तियों के द्वारा अनेक प्रकारके वर्णोंका विधान करता है—कूटस्थमें अनन्त शक्तियाँ और नाना मूर्त्तियाँ प्रकाशित हो रही हैं (जो इच्छा होती है वही दीख पड़ता है)। वहाँ पञ्च ज्ञानेन्द्रियों और पञ्च कर्मेन्द्रियोंके निरोध-भावापन्न होने पर भी कूटस्थकी शक्तिसे सब कुछ देखा और सुना जाता है तथा बहुत दूर घूम-फिर कर जो वस्तुएँ देखी जाती हैं वे भी वहाँ सङ्कल्प-मात्रसे उपस्थित हो जाती हैं। जो कुछ दृश्यादि हैं या होंगे वे सब कूटस्थ-पट पर प्रतिबिम्बित होते हैं। इनके परे अव्यक्त पदका भी अनुभव होता है। यह अव्यक्त क्रियाकी परावस्था ही सबका मूल है, तथापि वहाँ कुछ भी नहीं है। सब शून्य है। कूटस्थ ही क्रियाकी परावस्थाका व्यक्त रूप है। उससे अनन्त अनन्त वस्तुओंके रूप फूट उठते हैं। जैसे समुद्रसे बुद्बुद् उठता है और वह समुद्रमें ही लय होता है, उसी प्रकार अव्यक्त ब्रह्म-समुद्रसे चराचरकी उत्पत्ति हो रही है और वे फिर उस ब्रह्म-समुद्रमें ही लयको प्राप्त हो रहे हैं। परमात्मा निष्क्रिय हैं, वह क्रियाविशिष्ट होकर सारी प्रजाका उपादान-स्वरूप हो रहे हैं, जिन्हें कूटस्थ कहते हैं। वही वैश्वानर-'स्वरूप' जाग्रत 'स्थान' है। क्रियाकी परावस्थामें यह कूटस्थ भी नहीं दीख पड़ता ॥५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

अन्वय—इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं (इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख) संघातः (देहेन्द्रियादिकी संहति—एक शब्दमें जिसको देह या शरीर कहते हैं) चेतना (चित्तकी ज्ञानात्मिका वृत्ति) धृतिः (धैर्य अर्थात् मनःप्राणकी क्रिया जिस शक्तिके द्वारा स्थिर रहती है) एतत् (यही) सविकारं क्षेत्रं (विकारयुक्त क्षेत्र) समासेन उदाहृतम् (संक्षेपमें कहा गया) [अर्थात् यही क्षेत्रका संक्षिप्त परिचय है] ॥६॥

श्रीधर—इच्छेति। इच्छादयः प्रसिद्धाः, संघातः शरीरं, चेतना ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिः, धृतिः धैर्यम्। एते इच्छादयो दृश्यत्वात् न आत्मधर्मा, अपि तु मनोधर्मा एव, अतः क्षेत्रान्तःपातिन एव। उपलक्षणं च एतत् सङ्कल्पादीनाम्। तथा च श्रुतिः—"कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिः अधृतिः ह्रीः धीः भीः इत्येतत् सर्वं मन एव" इति। अनेन यादृगिति प्रतिज्ञाताः क्षेत्रधर्माः दर्शिताः। एतत् क्षेत्रं सविकारं इन्द्रियादिविकारसहितं संक्षेपेण तुभ्यं मया उक्तम्। इति क्षेत्रोपसंहारः ॥६॥

अनुवाद—इच्छादि अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख। संघात अर्थात् शरीर, चेतना अर्थात् ज्ञानात्मिका मनोवृत्ति, धृति अर्थात् धैर्य—ये दृश्यत्वके कारण मनोधर्म हैं, आत्माके धर्म नहीं हैं। अतएव ये सङ्कल्पादिके उपलक्षण-स्वरूप हैं और

क्षेत्रके अन्तर्गत आते हैं। श्रुति भी कहती है—कामना, सङ्कल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि, भय—ये सब मन ही हैं। इस प्रकार इस अध्यायके तृतीय श्लोकमें प्रतिज्ञात क्षेत्रधर्म यहाँ प्रदर्शित किया गया। इन्द्रियादिके विकारके साथ यह क्षेत्रविषयक बात संक्षेपमें कही गयी। यही क्षेत्रवर्णनका उपसंहार है ॥६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तत्पश्चात् किसी वस्तुमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करनेपर इच्छा होती है, उस इच्छाके पूर्ण न होनेपर द्वेष होता है—द्वेष करनेकी इच्छा केवल सुखाभिलाषाके कारण होती है—उसके न होनेपर ही दुःख होता है—दुःखसे मृत्यु, मृत्युसे जन्म, जन्म होनेपर कुछ दिन रहना—यह शरीरके विकारके साथ समस्त मैंने कह दिया।—शरीर क्यों होता है, शरीर क्या है इत्यादि शरीरके धर्मोंको कहकर क्षेत्रतत्त्वका उपसंहार करते हैं। अनादि ईश्वरेच्छा या सङ्कल्पसे जगत्प्रपञ्च व्यक्त होता है। जगत्-देहका जो कारण है वही इच्छा इस व्यष्टि देहका भी कारण है। जब किसी वस्तुके प्रति आसक्तिपूर्वक दृष्टि की जाती है तब तद्विषयक इच्छा उत्पन्न होती है। तभी स्वक्षेत्र (स्थिरावस्था) से परिभ्रष्ट होकर आत्मका जो बाह्य अवतरण होता है उसीका नाम सङ्कल्प या मन है। तब जो वस्तु-विशेष हमारे मनको अच्छी लगती है उसको पानेके लिए जो मनका झोंक या वेग होता है उसे इच्छा कहते हैं। उस स्वाभिलाषाके पूर्ण न होने पर या उसकी सिद्धिमें विघ्न पड़ने पर क्रोध या विद्वेष आकर उपस्थित होता है।

पूर्व संस्कारोंके अनुसार विषयेन्द्रिय-संयोगके कारण कुछ विषय मनके अनुकूल और कुछ विषय मनके प्रतिकूल रूपसे संवेदित होते हैं। अनुकूल विषय सुखजनक तथा प्रतिकूल विषय दुःखजनक रूपमें मनको प्रतीत होते हैं। जीवका जीवन सुख और दुःखका कतिपय अनुभव-मात्र है। ईप्सित वस्तुको पानेकी आशा और अनभिलषित वस्तुको त्यागनेकी इच्छा—इस द्वन्द्वभावको लेकर ही जीवका जीवन है। इन द्वन्द्वभावोंके द्वारा संसार परिपूर्ण है, ये ही संसार-समुद्रकी विशाल तरङ्ग-मालाएँ हैं। द्वन्द्वभावका अन्त होते न होते जीवन समाप्त हो जाता है। जीवनकी कितनी आशाएँ, कितनी इच्छाएँ अपूर्ण रहते-रहते यवनिका गिर जाती है। परन्तु इस मृत्युसे ही जगत्-लीलाका अन्त नहीं होता, उन अपूर्ण इच्छाओंकी पूर्तिके लिए फिर इस जगत्में जन्म-ग्रहण करना पड़ता है। मृत्युके उस पार भी कुछ दिन भोगमय देह पाकर वहाँ भी स्वर्ग-नरकादिका भोग होता है, भोगके अन्तमें फिर इस जगत्में लौटना पड़ता है। फिर जन्म और मृत्यु होती है। यह आवागमन कदापि मिटना नहीं चाहता। भ्रमात्मक ज्ञानके फलस्वरूप संसारमें मनुष्यके यातायातके खेलका अन्त नहीं होता। यह भ्रम क्यों होता है, कौन बतलायेगा? कौन जानता है, किस प्रकार जीव अपने घरसे परिभ्रष्ट होकर बहिर्मुख हुआ। वह आत्मा है, चिर स्थिर है, जन्म-मृत्युके परे है—ये बातें वह यहाँ आते ही भूल गया। बाहर आकर देहके साथ मिलकर वह अपने आपको भूल गया। देहके धर्मको निज धर्म मानकर, देहके जन्म-मृत्युके साथ अपनेको उत्पन्न और विनष्ट बोध करते हुए हाहाकार करने लगा। देह-प्रकृति जन्ममृत्युरूप विकारके अधीन है, इस देहमें आबद्ध होकर जीव अपने आपको भूल गया। जब

तक देहदृष्टि है तबतक जन्म-मृत्युका भय छूटने वाला नहीं है, भोगलालसाकी आशा मिटनेवाली नहीं है, इसी कारण देहके क्षणिक सुखके लोभसे लुब्ध होकर अपने स्वरूपको भूलकर जीवने अनात्मामें आत्मसमर्पण कर दिया। जीवनभर जीव इस देहको लेकर व्याकुल है. देहके सिवा अपने चिन्मय स्वरूपका उसको कोई सन्धान नहीं। इसीसे देहके सुखको सुख मानकर उस कल्पित सुखके पीछे दौड़-धूप करता हुआ बारंबार देह-ग्रहण और देह-त्यागका अभिनय करता है। देहके भोगमें सुख नहीं है, यह बात उसे कौन समझायेगा? कौन उसको निज निकेतनका मार्ग दिखलायेगा? कौन उसके मिथ्या 'मैं' को भुलाकर सत्य 'मैं' की पहचान करायेगा? अरे मूर्ख! 'मैं-मैं' कर रहा है, क्या कभी 'मैं' को देखा है? तुम्हारा यह 'देह-मैं' वास्तविक 'मैं' नहीं है, वह तो देहातीत है। आओ देखें, देहके ऊपर सवार होकर कौन बैठा है। क्या उसकी ओर एक बार भी दृष्टि नहीं पड़ती? अरे! वही तुम्हारा प्रकृत'मैं' है। वह नित्य, सत्य, अव्यय वस्तु है, उसका जन्म नहीं, मृत्यु नहीं, क्षय नहीं। तन्मय होकर खेलते-खेलते अन्तःपुरसे इतनी दूर निकल आया हूँ कि अब यह याद नहीं होता कि मैं कौन हूँ, कहाँका निवासी हूँ, कहाँसे यहाँ आ पड़ा हूँ! हे जीव, तुमको अपने घरकी ओर फिर लौटना पड़ेगा, जिस रास्तेको पकड़कर आये हो उसी रास्तेको पकड़कर अपने घर लौटना पड़ेगा। दूसरा कोई मार्ग नहीं है। किस रास्तेसे आया हूँ, जानते हो? उस ब्रह्मस्वरूपसे—उस शिवशक्ति-समरस भावसे हटते-हटते क्रीड़ोन्मत्ता बालिकाके समान घरसे बाहर निकलकर मैं रास्ता भूल गया हूँ। घरके भीतर जितना ही आलोकाकीर्ण है, घरके बाहर उतना ही घना अन्धकार है। इसी कारण बाहरसे घरके मार्गका कोई टोह नहीं पा रहा हूँ, केवल अन्धकारमें भटक-भटक कर मर रहा हूँ। घरकी याद आती है और अश्रु-प्रवाह होता रहता है। मैं अकेला हूँ, पथभ्रष्ट हूँ, अन्धकारमें ही दौड़ रहा हूँ, परन्तु घरका कोई सन्धान नहीं पाता हूँ। मैं अकेला, निराश्रय हूँ, यही देखकर बहुतसे दस्यु मित्रके वेषमें मुझको समय-समय पर मिलते रहते हैं। शायद मैं उनकी सीमा पार भी कर जाऊँ तो मार्गकी बात मुझे कौन बतलायेगा? कौन करुण-हृदय मुझको वह मार्ग पकड़ा देगा जिसे पकड़कर अपने घर पहुँच सकूँ। व्यथित चित्तसे क्लान्त-शरीर होकर जब मैं तटिनी-तट पर बैठा-बैठा रोता हूँ तब मेरी व्यथासे व्यथित मेरे दर्दी, मेरे भवसागरके कर्णधार श्रीगुरुदेव आकर मेरा हाथ पकड़ लेते हैं और कहते हैं—"आओ वत्स इस नौका पर, इस पथका अनुसरण कर स्वयं खेते चलो, तुम निज निकेतनमें पहुँच सकोगे—"डर नहिं कुछो डहर ना पूछो, बँसुरि सुनत कबिरा बढ़ि जाई।"—मार्गके बारेमें और किसीसे न पूछना, कोई डर नहीं। वह जो तुम्हारे हृदयमें बैठकर बाँसुरी बजा रहे हैं, उस बाँसुरीको सुनकर नाव खेते चलो। उनके स्निग्ध शान्त मुखमण्डलमें जो करुणाकी दीप्ति फूट रही है, उसे देखकर समझता हूँ कि मैं अपने घर फिर लौट जा सकूँगा। उन्होंने अभय-दान देकर पथका समाचार कह दिया और यह भी बतला दिया कि इस रास्तेसे चलते-चलते वहाँ पहुँचोगे। यह रास्ता वहाँ ही जाकर समाप्त होता है—"चलता चलता

वहाँ चला जहाँ निरंजन राय।" मैं कितनी आशा करके भव-नदीके उस मार्गको पकड़ कर अग्रसर होने लगा। परन्तु जितनी आसानीसे अनायास ही अन्तःपुरसे बाहर आया था, उतनी आसानीसे उतनी जल्दी घरकी ओर नहीं जा पा रहा हूँ। मानो कोई मुझे पग-पग पर बाधा दे रहा है। यह नदी टेढ़ी-मेढ़ी होकर कितने ऊबड़-खाबड़ पथसे चली गयी है। बीच-बीचमें कितने घुमाव, कितने आवर्त्त हैं। जितना ही पास आ रहा हूँ उतना ही रास्ता मानो विकट लग रहा है। क्रमशः अग्रसर होना असम्भव जान पड़ रहा है। नदी मानो अनेक मार्गोंसे घूमती-फिरती जा रही है। अब मैं कौन रास्ता पकड़ूँ? एक ही मार्ग टेढ़ा-मेढ़ा चलकर कितनी दूर घूम-फिर कर फिर उसी स्थान पर आकर मिल जाता है। जितनी बार इस घुमावको पार करनेकी चेष्टा करता हूँ, घूम-फिर कर फिर उसी घुमावके मुँहमें आ पड़ता हूँ। मुझको भयभीत और सन्देहमें पड़ा देखकर गुरु आये और बोले—रास्ता देखकर डरते क्यों हो? सीधे पार जाओ, सीधे पार करनेपर तुम्हारी नौका अपने आप घुमावका अतिक्रमण करके ठीक रास्तेसे चली जायगी। दूरसे जितना टेढ़ा दिखलायी दे रहा है, आगे जाने पर उसकी वह वक्रगति न रहेगी, रास्ता सीधा हो जायगा। इस बार पार करनेका कौशल बतला देता हूँ—यह हृदय-ग्रन्थि-भेदकी साधना है, प्राणके मार्गसे मनकी नौकाको चलाते जाओ, तभी उस त्रिमुहानी (सत्त्व, रजः और तमो गुण—इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना) के घुमावको पार कर सकोगे। इस प्रकार निम्न (मूलाधार) से ऊर्ध्व (आज्ञाचक्र), और वहाँ से दक्षिण, दक्षिणसे उत्तर ठोकर देकर एक बार वेगसे जहाँ से आरम्भ किया था वहाँ पहुँचने पर वही वेग गुरु-कृपासे ज्ञात मार्गसे ऊपरकी ओर अपने आप पहुँचा देगा। तब वहाँ पहुँचकर तुम अपने निकेतनके चन्द्र-ध्वजको देख सकोगे। तब तुम यह देखकर विस्मित हो उठोगे कि किस प्रकार कैसे मार्गसे अपने निकेतनमें तुम पहुँच सके हो! शरीरके विकार, इन्द्रियोंके विकार, मन और प्राणके विकार—सब उस समय नीचे पड़ जायँगे। तब नदीका मार्ग छोड़कर गगन-पथसे चलते-चलते ऐसे स्थानमें अपनेको पहुँचा हुआ पाओगे, जहाँ से दस्युगण कदापि तुमको आकर्षित नहीं कर सकेंगे—"यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते"। उस उच्च स्थानमें पहुँच जाने पर निम्न स्थलकी बात विस्मृत हो जायगी। इस देह, इन्द्रिय, मन आदि सबको सूखी सड़ी लकड़ीके समान नीचे पड़ा देखकर तुम्हें आश्वासन मिलेगा। तब क्षेत्रज्ञ और क्षेत्रके सारे विकार स्वप्नदृष्ट पदार्थके समान असत्य और अलीक हो जायँगे। तब सब मानो स्वप्न-घटित क्रीड़ाके समान जान पड़ेंगे। ये सारे देहेन्द्रियोंके खेल अन्त तक नहीं रहते, इसलिए शास्त्र इनको अनात्म पदार्थ अर्थात् असत्य वस्तु कहकर घोषित करते हैं। यद्यपि ये सब (क्षेत्र नामसे जो कुछ है) अलीक हैं, अन्त तक नहीं रहते तथापि इस मिथ्या प्रपञ्चका अवलम्बन करके ही प्रपञ्चातीत अवस्थामें पहुँचा जाता है। इसीलिए साधकावस्थामें इनकी प्रयोजनशीलता है। अतएव संघात (शरीर), चेतना (चिदाभास) और धृति (प्रयत्न-विशेष-द्वारा जो स्थिरता आती है)—ये सब आत्मतत्त्वके समान नित्य सत्य न होने पर भी आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें सहायक हैं, निज निकेतनमें पहुँचनेके मार्ग हैं ॥ ६ ॥

(ज्ञानका साधन)

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

अन्वय—अमानित्वम् (आत्मश्लाघाका अभाव) अदम्भित्वम् (दम्भका अभाव) अहिंसा (परपीड़ा-वर्जन) क्षान्तिः (क्षमा) आर्जवम् (सरलता) आचार्योपासनं (गुरु-सेवा) शौचं (पवित्रता, सदाचार) स्थैर्यम् (स्थिरता) आत्मविनिग्रहः (देहेन्द्रियादिका संयम—"देहेन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको निरुद्ध कर सन्मार्गमें प्रवृत्तिको स्थिर करना"—शङ्कर) ॥७॥

श्रीधर—इदानीम् उक्तलक्षणात् क्षेत्रात् अतिरिक्ततया ज्ञेयं शुद्धं क्षेत्रज्ञं विस्तरेण वर्णयिष्यन् तज्ज्ञानसाधनानि आह—अमानित्वमिति पञ्चभिः । अमानित्वं स्वगुणश्लाघाराहित्यम् । अदम्भित्वं दम्भराहित्यम् । अहिंसा परपीड़ावर्जनम् । क्षान्तिः सहिष्णुत्वम् । आर्जवम् अवक्रता । आचार्योपासनं सद्‌गुरुसेवा । शौचं बाह्यमाभ्यन्तरञ्च—तत्र बाह्यं मृज्जलादिना, आभ्यन्तरञ्च रागादिमलक्षालनम् । तथा च स्मृतिः—

शौचं च द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥ इति ॥

स्थैर्यं सन्मार्गे प्रवृत्तस्य तदेकनिष्ठता । आत्मविनिग्रहः शरीरसंयमः । एतज् ज्ञानमिति प्रोक्तमिति पञ्चमेनान्वयः ॥७॥

अनुवाद—[अब पूर्वोक्त लक्षणोंसे युक्त क्षेत्रके अतिरिक्त ज्ञेय शुद्ध क्षेत्रज्ञका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिए 'अमानित्व' आदि पञ्च श्लोकोंमें तत्त्वज्ञानके साधनोंको बतलाते हैं]—(१) अमानित्व—अपने गुणोंकी श्लाघा अर्थात् आत्मप्रशंसाका अभाव (२) अदम्भित्व—दम्भका अभाव (३) अहिंसा—परपीड़ावर्जन (४) क्षान्ति—सहिष्णुता (५) आर्जव—अवक्रता अर्थात् सरलता (६) आचार्योपासन—सद्‌गुरुकी सेवा (७) शौच—बाह्य और आभ्यन्तर शौच, मृत्-जल आदिके द्वारा बाह्य शौच होता है और राग-द्वेषादि मलोंके क्षालन (भावशुद्धि) के द्वारा आभ्यन्तर-शुद्धि होती है (८) स्थैर्य—सन्मार्गमें प्रवृत्त पुरुषकी तदेकनिष्ठा (९) आत्मविनिग्रह—शरीरसंयम । "ये ज्ञानके साधन हैं, इनके विपरीत जो कुछ है वह अज्ञान है"—ग्यारहवें श्लोकके साथ इसका अन्वय है ॥७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें रहने पर मानरहित होता है—दम्भ अर्थात् बड़ाई, दर्प छाती तान कर चलना—अभिमान अर्थात् अन्यके द्वारा सुनकर अपने आप मान करना, अथवा मानकी हानि होने पर अपने आप अपमान मान लेना—दम्भरहित—अहिंसा हिंसा नहीं—क्षान्ति—ऋजु अर्थात् सरल होना—आर्जवं सरल अर्थात् जो मनमें रहता है वही बोलता है। गुरुकी उपासना अर्थात् क्रिया करता है स्थिर होकर आत्माको ब्रह्ममें रखना।—शरीरदृष्टिसे (१) आत्मश्लाघा होती है । तब मनमें होता है

कि मैं कितना धनी-मानी, ज्ञानी और विद्वान् हूँ—जान प ता है मैं सबकी अपेक्षा बड़ा हूँ। जो क्रियाकी परावस्थामें शरीरके ऊर्ध्वमें रहते हैं उनको शरीरका बोध न होनेके कारण शरीरजनित अभिमान भी नहीं रहता। (२) दम्भ अर्थात् सर्वदा अपनी बड़ाई करना, मानो उन्हें ही भगवान्ने एकमात्र सर्वगुणयुक्त बनाकर भेजा है। ये अपनी शक्तिकी प्रशंसा तो करते ही हैं, अपने कुटुम्बमें यदि कोई बड़ा आदमी होता है तो उसकी भी प्रशंसा किया करते हैं। अपने कल्याणके लिए जो उपासना करते हैं उसकी भी प्रशंसा करनेसे नहीं बाज आते—"मैं प्रतिदिन छः घंटे साधन-भजन करता हूँ" इत्यादि। इनको इतना अभिमान होता है कि उससे जरा भी छुटकारा नहीं पाते। इनको सर्वदा यह ध्यान रहता है कि तनिक भी मानकी हानि न हो। इस प्रकारके दम्भका अभाव ही अदम्भित्व है। (३) अहिंसा—प्राणीमात्रको पीड़ा न देनेका आग्रह, विपद्ग्रस्त पुरुषको अपना आदमी समझकर सदा उसकी मदद करनेकी चेष्टा। सबके सुखको अपना सुख मानना, यही सर्वश्रेष्ठ "यम" है। जब यह अहिंसा प्रतिष्ठित हो जाय तो समझना चाहिए कि साधकने सर्वात्म-बोधकी योग्यता प्राप्त की है। मनमें हिंसा रहने पर रञ्चमात्र भी भगवत्कृपा प्राप्त करना असम्भव है। यह अहिंसा-भाव जब अपने भीतर दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित होता है, तब दूसरे प्राणी भी उसके साथ हिंसा-भाव नहीं रखते। कोई अपने साथ आप हिंसा नहीं करता। इसी प्रकार जिनको सर्वत्र आत्मदर्शन होता है, वे किसीकी भी हिंसा नहीं कर सकते। जहाँ आत्म-प्रेमका विस्तार है वहाँ हिंसा कहाँ। (४) क्षान्ति—किसीके अपकार करने पर भी क्षमा कर सकना अर्थात् दूसरेसे क्लेश पाकर भी विकार-रहित होकर सब सहन कर सकना। अपने शिशु पुत्रके प्रहार करने पर जैसे पिता उसके आचरणको देखकर हँसता है, उसी प्रकार अन्यकृत अपकारको जो शरीरमें पोत नहीं लेते, सामर्थ्य रहते उसका अनिष्ट नहीं करते तो उसीको यथार्थतः क्षमा कहेंगे। तत्पश्चात् साधक जब साधनाके सारे क्लेशोंको सहिष्णुताके साथ सहन करता है, 'इतने दिनोंमें भी कुछ फल न मिला'—इससे जिनका धैर्य नहीं टूटता, जो अपने पूर्वार्जित कर्मोंके फलको भोगनेके लिए सर्वदा प्रस्तुत रहते हैं, उनकी सहिष्णुता ही वास्तविक क्षान्ति है। इस प्रकारकी सहिष्णुताके साथ जो लोग साधन करते हैं उनका चित्त एक दिन समाधिसिन्धुमें निमज्जित होगा ही। (५) आर्जव—ऋजुभाव, कुटिलताका अभाव। जो खूब सरल होते हैं उनका बाहर-भीतर खुला रहता है। जो अन्तरमें आता है वही बोलते हैं। दिलमें कपट रखकर बोलना नहीं जानते। अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना कोई वस्तुतः सरल नहीं हो सकता। ऐसे लोग किसीका मन रखनेके लिए बात नहीं करते, किसीको सन्तुष्ट करनेके लिए कुटिल नहीं बनते। लोग उसकी बात सुनकर क्या सोचेंगे, यह विचार उनके मनमें उदय ही नहीं होता। वे निर्भीक होते हैं, इसी कारण इतना सरल या निष्कपट हो जाते हैं। साधनामें मत्त पुरुष बाहरकी किसी वस्तुकी ओर दृष्टि ही नहीं देते, उनका लक्ष्य एकमात्र भगवान्के पादपद्ममें रहता है। वह किसीसे कुछ प्राप्त करनेकी आशा नहीं करते, इसीसे उनको किसीका मन रखनेकी चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं होती। जो जितना ही निष्कपट और सरल होता

है, वह उतना ही भगवत्प्रिय होता है। जो सरल नहीं है उसके लिए परम पदकी प्राप्तिकी संभावना त्रिकालमें भी संभव नहीं है। (६) आचार्योपासना—सद्गुरु और साधु उपदेष्टाकी शुश्रूषा करना। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'—मुण्डक, १।२। मुमुक्षु पुरुष परमात्माके साक्षात्कारके लिए समित्पाणि होकर (यथासाध्य भेंट लेकर) श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जावे।

जो लोग सदाचारहीन और अहङ्कारी हैं वे भगवत्प्राप्तिके लिए व्याकुल नहीं होते, अतएव उनको सद्गुरुके पास जानेकी आवश्यकताका अनुभव नहीं होता। यदि जाते भी हैं तो गुरुको आत्मसमर्पण नहीं कर सकते। जो शास्त्राभ्यासी हैं, वे भी यदि गुरुके शरणागत नहीं होते तो परमार्थकी प्राप्तिसे वञ्चित हो जायँगे, क्योंकि शास्त्रके विषयोंको ठीक-ठीक अवधारण करना साधनके बिना सम्भव नहीं है। गुरु यदि ब्रह्मनिष्ठ नहीं हैं तो उनके उपदेशसे भी शिष्यकी अन्तर्ग्लानि दूर न होगी। इसीलिए साधनशील तत्त्वज्ञ और शास्त्रज्ञ पुरुषके निकट शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ता है। शास्त्रका यह उपदेश है कि शिष्यको श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास समित्पाणि होकर अर्थात् यथा-साध्य भेंट लेकर जाना चाहिए। गुरुको निजी प्रयोजन नहीं भी रह सकता है, परन्तु शिष्य यदि श्रद्धालु चित्तसे अपना सर्वस्व गुरुके चरणोंमें समर्पण करनेकी शिक्षा नहीं ग्रहण करता और किसी प्रकारके त्यागमें अभ्यस्त नहीं है, तो वह सद्गुरुके द्वारा प्रदर्शित मार्गमें चलनेके अयोग्य समझा जायगा। शिष्य श्रद्धाके साथ गुरुके निकट अपना सर्वस्व जब समर्पण करता है तो इस प्रकारके त्यागके द्वारा उसकी आत्म-विषयिणी निर्मल बुद्धिका विकास होता है। यह त्याग जिसका जितना ही अधिक होता है उसकी परमार्थ-दृष्टि उतनी ही अधिक परिस्फुट होती है। वस्तुतः गुरुकी उपासना है क्रिया करना। जो साधना नहीं करता उसकी गुरु-उपासना नहीं होती। गुरु बाह्य वस्तुको ग्राह्य नहीं करते, उनको वही शिष्य प्रिय होता है जो साधन-निरत है। गुरु ही आत्मा हैं। आत्माके पास वही टिक सकता है जो सर्वदा क्रिया करता है। सर्वदा क्रिया करनेपर चित्त स्थिर होता है। मनके सारे सङ्कल्प-विकल्प उस स्थिरतामें लय हो जाते हैं। यही यथार्थ गुरुपदमें आत्मसमर्पण है। इस प्रकारके आत्मसमर्पणमें जो अभ्यस्त हैं वे यदि अपने गुरुको सर्वस्व अर्पण करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

(७) शौच—शरीर तथा मनकी पवित्रता ही शौच है। बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे शौच दो प्रकारका होता है। मृत्तिका, जल और शुद्ध आहार द्वारा शरीरका बाह्य मल, और रागद्वेषादि दमनके द्वारा आभ्यन्तर मल प्रक्षालित होता है। जो लोग बाह्य शौचादिको मनकी दुर्बलता मानते हैं, उनकी बात और है। वे इसकी आवश्यकता नहीं भी समझ सकते। परन्तु जो आत्मकल्याण करना चाहते हैं उनके लिए इस प्रकारके शौचादिको अनावश्यक समझना उचित नहीं है।

पूर्व जन्मके पुण्यके प्रभावसे विशिष्ट पुरुषोंके अंतःकरण अत्यन्त विशुद्ध होते हैं। उनको शौचाचारकी आवश्यकता नहीं भी हो सकती है। परन्तु साधारण आदमी उस दृष्टान्तको ग्रहण करे तो अपनेको विपन्न और वञ्चित करेगा। शुद्ध वास, शुद्ध आहार, शुद्ध बात और शुद्ध सङ्ग सबके लिए आवश्यक है। इनके न रहने पर आधि-

व्याधिके द्वारा जीवनमें अनेक क्लेश सहने पड़ते हैं। परन्तु जो पूर्व पुण्योंके फलस्वरूप साधन-भजनमें सदा अभ्यस्त हैं, वे भी यदि इस शुद्धाचारकी ओर लक्ष्य न रखेंगे तो ये मैल उनके साधनमें अनेक विघ्न उपस्थित करेंगी, यह याद रखना होगा। परन्तु बाह्य शौचाचार अधिक मात्रामें करते रहनेपर बहुत लोग शौचाचारके उद्देश्यसे ही गिर जाते हैं। इस विषयमें सावधान रहना आवश्यक है।

(८) स्थैर्य—सन्मार्ग और साधन-पथ जिन्होंने ग्रहण किया है, उससे उनका कभी विच्युत न होना ही स्थैर्य है। साधन-मार्गमें समय-समय पर अनेक विघ्न आकर साधनके गमन-पथको अवरुद्ध कर देते हैं। विघ्नोंसे मोक्षमार्गके प्रयत्नमें शिथिलता आती है। जिनका चित्त साधनविषयमें एकनिष्ठ है उनका चित्त इन विघ्नोंके द्वारा साधनपथसे स्खलित नहीं होता। जिस मनोभावसे साधन-विषयक प्रयत्नोंमें शिथिलता नहीं आती उस प्रकारके मनोभावको स्थैर्य कहते हैं। बाह्य चेष्टासे इस प्रकारका स्थैर्य कुछ-कुछ प्राप्त होने पर भी सम्पूर्ण स्थैर्य प्राप्त करना सम्भव नहीं है। प्राणायामादि योगाङ्गोंके साधनके द्वारा ही वास्तविक मनःप्राणका स्थैर्य प्राप्त होता है। जो लोग इस प्रकारके प्रयत्नमें सदा अभ्यस्त होते हैं, उनकी क्रियाकी परावस्थामें बुद्धि अपने आप स्थिर हो जाती है। जो क्रिया नहीं करते अर्थात् योग-युक्त नहीं हैं, उनकी इस प्रकारसे बुद्धि स्थिर होनेकी संभावना नहीं है। क्रिया करते-करते जिसकी बुद्धि स्थिर होती है, वही उपरति प्राप्त करता है। तब काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि उसको विचलित करके उसके व्रतको भङ्ग नहीं कर सकते, यही यथार्थ स्थैर्य है। बहुधा क्रिया करके भी क्रियाकी परावस्थामें स्थिति नहीं होती। इसे अपने पूर्व कर्मोंका फल समझकर और भी तीव्रतर वेगसे क्रियामें प्रयत्न करना उचित है। इस प्रयत्नके फलस्वरूप क्रियाकी परावस्थामें सुदीर्घ स्थिति होती है। परन्तु जबतक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती, तबतक साधनासे अलग रहना जीवनका परम दुर्भाग्य है। इस दुर्भाग्यसे छुटकारा पाना अपने हाथकी बात है। गुरु-वाक्यमें श्रद्धा करके भलीभाँति मन लगा कर क्रिया करने पर मन ब्रह्ममें अटक जाता है। भागवतमें रासलीलाके समय भगवान्के सम्बन्धमें कहा गया है—"आत्मन्यवरुद्ध-सौरत"—सुरत का अर्थ है रतिक्रिया अर्थात् विषयवासना और विषयासक्ति। इस सुरतके कारण जो आनन्द होता है उसका नाम सौरत है। यह विषयानन्द आत्मामें सदा अवरुद्ध रहता है अर्थात् आत्मामें इसका प्रकाश नहीं होता। सब प्रकारके आनन्द आत्मामें ही हैं, किन्तु विषयानन्द आनन्द होने पर भी आत्मामें चिर अवरुद्ध रहता है।। जिसका मन आत्मामें अटका रहता है, उसके मनमें विषयवासनाका उदय ही नहीं होता। इस प्रकारका अवरोध या स्थैर्य ही साधनाका ऐकान्तिक लक्ष्य है।

(९) आत्मविनिग्रह—देहेन्द्रियादिकी प्रवृत्तिको निरुद्ध कर सन्मार्गमें प्रवृत्ति जबतक स्थिर नहीं होती, तबतक साधन-मार्गमें बहुतसे विघ्न आकर उपस्थित होते रहते हैं। इसीलिए एक ओर अभ्यास-पटुता और दूसरी ओर बाह्य विषयोंके प्रति अनावश्यक आसक्तिको रोकना साधकके जीवनका अत्यन्त ही प्रयोजनीय व्यापार है।

आत्मविनिग्रहका अर्थ है आत्माको ब्रह्ममें रखना अर्थात् मनको अन्य विषयमें न

देकर केवल आत्मस्थ करके रखना। श्रीमत् स्वामी रामानुजकी व्याख्यामें भी यही बात प्रतिध्वनित होती है—"आत्मस्वरूप-व्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निवर्तनम्"—आत्म-स्वरूपके अतिरिक्त अन्य विषयोंसे मनको निवर्तित करना ही 'आत्मविनिग्रह' है। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—'आत्मनो देहेन्द्रियसंघातस्य स्वभावप्राप्तां मोक्षप्रतिकूले प्रवृत्तिं निरुद्ध्य मोक्षसाधन एव व्यवस्थापनम्'—देहेन्द्रियसंघातसे स्वभावतः प्राप्त मोक्षके प्रतिकूल मनकी प्रवृत्तिको निरुद्ध करके मोक्षसाधनमें व्यवस्थापन करना ही 'आत्मविनिग्रह' है। अब यह देखना है कि मनको आत्मामें किस प्रकार प्रतिष्ठित करते हैं। अपने आपमें स्थिति होने पर ही आत्मविनिग्रह होता है। बलपूर्वक मनका निग्रह नहीं हो सकता। आत्मविनिग्रह शब्दसे किसी-किसीने शरीर-संयम और किसी किसीने मनःसंयम अर्थ किया है। ये दोनों अर्थ एकांशमें ही सत्य हैं। देह और इन्द्रियाँ दोनोंको संयत करना होगा, अन्यथा चित्तको आत्माभिमुख करना कठिन है। पहले विषयके प्रति चित्तके वेगको कम करनेके लिए भोग्य विषय (शरीर और भोग्य वस्तु) की अनित्यताका चिन्तन करना आवश्यक है। पश्चात् देहेन्द्रियादिके संयमके लिए 'आसन और प्राणायाम'—इन दोनोंकी प्रयोजनीयता सर्वापेक्षा बढ़कर है। इसी कारण योगियोंने साधनमें आसन और प्राण-संयमको उच्च स्थान दिया है। हठयोगादि ग्रन्थोंमें स्वस्तिक, पद्मासन आदि अनेक प्रकारके आसनोंका उल्लेख है, परन्तु उनका प्रयोजन केवल प्रथम शिक्षार्थीके लिए ही है। उनकी प्रयोजन-शीलताको अस्वीकार नहीं कर सकते, परन्तु वास्तविक 'आसन' क्या है इसको भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें बतलाया है—'स्थिरसुखमासनम्'—इस प्रकारका आसन लगाना चाहिए जिससे शरीरको कष्ट न हो, देहको कष्ट होनेसे मन चञ्चल हो जायगा। श्रीमद् आचार्य शङ्कर अपरोक्षानुभूतिमें कहते हैं—

सुखेनैव भवेद्यस्मिन् अजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयात् नेतरत् सुखनाशनम्॥

जिस अवस्थामें सुखपूर्वक अजस्र ब्रह्मचिन्तन होता रहे, उसको ही यथार्थ आसन समझना चाहिए। दूसरे सुखनाशक आसनको आसन नहीं कहा जा सकता। एक ओर तो मनका चाञ्चल्य है, उसके ऊपर शरीरका बाँकापन—इस अवस्थामें अजस्र ब्रह्मचिन्तन कैसे हो। इसी कारण देहको ठीक करनेके लिए हठयोगी नाना प्रकारके आसनोंका उपदेश देते हैं। उनसे देह तथा दैहिक-विकारोंकी शान्ति होती है। परन्तु देहको ठीक करनेमें ही यदि सारी आयु चली जाय, तो फिर अजस्र ब्रह्मचिन्तन कब होगा? अतएव केवल आसनकी ओर लक्ष्य न रखकर, जो एक दो आसन अभ्यस्त हों उन्हींके ऊपर निर्भर करके मनको स्थिर करनेके लिए ही सर्वापेक्षा अधिक प्रयत्न करना ठीक है। 'स्थिरसुखमासनम्'—स्थिरताजनित सुखमें जिसका चित्त उपविष्ट रहता है उसको ही आसन-सिद्धि प्राप्त है। प्राणायामादि योगाभ्यासके प्रभावसे चित्त जब प्राणके साथ हृदय-देशमें अवस्थान करता है, तब उस चित्तमें फिर कोई तरङ्ग नहीं उठती। यह स्थिर प्रशान्त चित्त ही भगवान्के बैठनेका स्थान है। निरालम्बोपनिषद्में लिखा है—"ब्रह्मैव स्वप्रकृतिशक्त्यभिलेशमा-

श्रित्य लोकान् द्रष्टान्तर्यामित्वेन प्रविश्य ब्रह्मादीनां बुद्ध्यादीन्द्रियनियन्तृत्वादीश्वरः"—ब्रह्म स्वयं अपनी प्रकृति-शक्तिके अंशका आश्रय करके अन्तर्यामी-रूपसे सबके हृदयमें प्रवेश करके ब्रह्मादिकी बुद्ध्यादि इन्द्रियोंका नियन्ता होनेके कारण ईश्वर हैं। इसलिए जिसका चित्त जितना ही अधिक अन्तःप्रविष्ट है वह उतना ही अधिक ईश्वरके समीप है। हृदय-देशमें चित्तको स्थापित कर सकने पर यह चञ्चल चित्त स्थिरत्वका आनन्द और प्रशान्त भावका आस्वादन प्राप्त करता है। गीतामें भी "शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः" कहा गया है। यह शुचिदेश है हृदयाकाश। इस हृदयाकाशमें ही योगीको आसन लगाना चाहिए। यह आसन जिसका जितना ही दृढ़ भावसे प्रतिष्ठित है, वह उतना ही ईश्वरके साथ योगयुक्त हो सका है। इस आसनका फल योगदर्शनमें इस प्रकार उल्लिखित है—'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्'—(योगदर्शन, साधनपाद)। जब प्रयत्न-शैथिल्य और अनन्त-समापत्ति, ये दो लक्षण परिस्फुट हों, तब समझना चाहिए कि आसन-सिद्धि हो गयी है। शरीर और इन्द्रियादिमें जो स्वाभाविक कर्मोन्मुखता दीख पड़ती है, उसकी शिथिलताका नाम ही 'प्रयत्न-शैथिल्य' है अर्थात् जिस समय चित्तकी ऐसी स्थिरता होती है कि जब देहादि अवयव अथवा चक्षु-श्रोत्रादि इन्द्रियाँ किसी व्यापारमें नहीं दौड़ना चाहतीं, मानो सब प्रकारकी कर्म-चेष्टाओंसे वे निरस्त हैं, तब उसको 'प्रयत्न-शैथिल्य' अवस्था समझनी चाहिए। 'अनन्त-समापत्ति' तभी होती है जब चित्त असीम भावसे भावित होता है। तब चित्त फिर ससीम भाव लेकर नहीं रह सकता। अनन्तकी भासा भासा (ऊपरी) उपलब्धि (जो कवियोंको होती है) सम्यक् प्राप्ति या समापत्ति नहीं है। हम सन्ध्यादि पूजाकालमें जो आसन-शुद्धि करते हैं, उसका उद्देश्य भी चित्तको असीम भावमें प्रविष्ट कराना है। इसी कारण आसन-मन्त्रका सुतलं छन्द, कूर्म देवता और मेरुपृष्ठ ऋषि हैं। मेरुदण्ड उस देवताका पीठस्थान है। तन्मध्यस्थ शक्ति उसका ऋषि है। इसका छन्द सुतल है अर्थात् तब पदतलसे मूलाधार और नाभिपर्यन्त वायु स्थिर रहती है। तब जिस भाव या देवशक्तिका प्रकाश होता है, वही कूर्म देवता है। कूर्म जैसे अपने सारे अङ्गोंको अपने भीतर समेट कर रखता है, उसी प्रकार जिसका मन प्राणमें, तथा प्राण महाप्राणकी स्थिरतामें प्रविष्ट होता है, उसको ही यथार्थ आसन-सिद्ध समझिए। आसन-सिद्ध होने पर 'ततो द्वन्द्वानभिघातः'—अर्थात् शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे उत्पन्न क्लेश नहीं रहते। इस अवस्थामें अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी भावके द्वारा चित्त उन्मथित नहीं होता। जिस सुखस्वरूप ब्रह्ममें स्थित होने पर दूसरी कोई चिन्ता लेशमात्र भी नहीं रह जाती, वह त्रिकाल-स्थायी ब्रह्म ही आसन है, यही साधकोंके बैठनेका स्थान है।

दूसरी बात है प्राणसंयम। यह प्राणायामादि साधनके द्वारा होता है। जब तक प्राणकी स्थिरता नहीं प्राप्त होती, तबतक प्राणके स्वरूपका अनुभव नहीं होता। प्राणकी साधनासे ही हृदयग्रन्थिका भेद होता है। प्राण पतली-पतली प्रवाहिकाओंसे जाकर नाना स्थानोंमें ग्रन्थि उत्पन्न करता है। जैसे नदीके भीतर आवर्त्त

होते हैं, उसी प्रकार प्राणधारा एक-एक ग्रन्थिमें अटक-अटक कर प्राण-प्रवाहको आवर्त्तमय कर देती है। यह ग्रन्थि जबतक भेद नहीं की जाती है, तबतक जीवकी मुक्ति नहीं होती। क्योंकि जो मुक्तिका पथ है वही आवर्त्तमय होकर स्वाभाविक गतिका अवरोध कर देता है। इस पथको आवर्त्तहीन और सरल बनाना होगा, तभी प्राणशक्ति या कुण्डलिनी-शक्ति सहज पथ पाकर अविलम्ब स्वस्थानमें पहुँच सकती है। कुण्डलिनीके पथको मुक्त करना ही मुद्रादि साधनका उद्देश्य है। प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वासका गति-विच्छेद होने पर प्राणका निरोध भाव उपस्थित होता है। तब समझमें आता है कि मेरा 'अहं'-भाव प्राण-सत्तासे अभिन्न है।

प्राणायामका फल योगदर्शनमें है—'धारणासु योग्यता मनसः'—योगसम्बन्धी धारणामें मनकी योग्यता प्राप्त होती है। हम लोगोंको समय-समय पर आध्यात्मिक भावकी बातें अच्छी लगती हैं। कभी-कभी अचानक अनेक आध्यात्मिक विषयोंकी उपलब्धि भी होती है। परन्तु मनकी अक्षमताके कारण उन भावोंकी धारणा नहीं होती। अतएव सारी अत्युत्तम भावोंकी स्मृतिधारा थोड़े ही समयमें उसी प्रकार लुप्त हो जाती है जिस प्रकार जलका बुद्बुद् क्षणभरमें जलमें ही मिल जाता है। इसी कारण उच्च भावसे भावित होनेपर भी मनमें उस भावको स्थायी बनाये रखना कठिन है। इसीसे स्थायी कल्याण नहीं होता। स्मृतिके ध्रुवा न होने पर चित्त-शुद्धिमें विघ्न पड़ते हैं। अतएव जो धारणामें व्याघात उत्पन्न करे और आत्मप्रकाशका आवरणस्वरूप हो, उसका क्षय होना आवश्यक है। जबतक यह आवरण क्षय नहीं होता, साधनाकी उच्चतम अवस्थाको प्राप्त करना संभव नहीं है। परन्तु इतनेसे ही प्राणायामकी कल्याणकारिणी शक्तिका पूर्ण परिचय नहीं हुआ। अपरोक्षानुभूतिमें प्राणायामका यह लक्षण बतलाया गया है—

चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते॥

चित्तके सारे भावोंको ब्रह्ममय करने तथा उनकी अन्याकारमें उपलब्धि न होने पर ही सब वृत्तियोंका निरोध होता है, इसीका नाम प्राणायाम है। यह प्राणायाम जब तक सहज रूपसे बोध नहीं हो जाता, तबतक दृष्टिको ब्रह्ममयी करके जगत्को ब्रह्ममय बोध नहीं कर सकते। परन्तु प्राणायाम अर्थात् प्राणकी विस्तृति होने पर यह सहज-बोध्य हो जाता है। प्राण इस देहरूप आधारमें पड़कर सङ्कुचित हो गया है। इस देहमें प्रवेश करके देहको प्राणमय तो कर दिया है सही, परन्तु उसकी अनन्त विस्तृति खर्व हो गयी है। प्राणायामके द्वारा प्राणवृत्तिके रोध होने पर स्थिर प्राणका जो अनुभव होता है वह अनन्तव्यापी जान पड़ता है। व्याप्तिका यह असीमत्व ही ब्रह्मभाव है। प्राण तब सर्वव्यापी आकाशके समान हो जाता है। यही प्राणायाम या प्राणका विस्तार है। परन्तु केवल मननके द्वारा यह विस्तार सहज-सम्पाद्य नहीं है, इसलिए देहके भीतर जो प्राणका स्पन्दन रहता है उस प्राणमें लक्ष्य रखकर उसको निरुद्ध करना पड़ेगा। प्राणके निरन्तर स्पन्दनसे ही असंख्य मनोवृत्तियाँ स्पन्दित हो रही हैं। प्राणके स्पन्दनका रोध कर लेनेपर मनको निरुद्ध करना सहज हो जायगा। बृहदारण्यक उपनिषद्में अन्तर्य्यामि-

ब्राह्मणके सूत्रात्म-प्रस्तावमें वर्णित है कि "प्राण और मन एक साथ ही स्पन्दित होते हैं, अतएव प्राणके संयमसे मनका भी संयम हो जाता है।" मनमें ब्रह्मवृत्तिको अखण्डाकारमें प्रवाहित करना कठिन है, क्योंकि मनकी वृत्ति रोध करना सहज नहीं है। इसी कारण विद्यारण्य मुनिने अपने 'जीवन्मुक्ति-विवेक' नामक ग्रन्थमें कहा है—"अत्यन्त प्रबल होनेके कारण यदि वासनाओंका परित्याग न किया जा सके तो प्राण-स्पन्दनका निरोध ही एक मात्र उपाय है।" हठयोगप्रदीपिकामें लिखा है—

कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढ़ानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥

—कन्दके ऊपरी भागमें कुण्डलिनी शक्ति शयन किये हुए है। जो उस कुण्डलिनीको उठाते हैं, वे ही मोक्षको प्राप्त होते हैं। जो मूढ़ लोग ऐसा नहीं करते वे बन्धनको प्राप्त होते हैं। उस कुण्डलिनीको जाग्रत करनेका उपाय जिनको ज्ञात है वे ही यथार्थ योगवित् हैं। सुषुम्ना-नाड़ीका द्वार सर्पाकार कुण्डलिनी-शक्तिके द्वारा अवरुद्ध रहता है, इससे प्राणवायु सुषुम्ना-मार्गमें प्रवेश नहीं कर पाती। प्राणायामादिके द्वारा कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होने पर सुषुम्नाका अवरोध दूर हो जाता है। तब प्राणवायु सहज ही सुषुम्नाके भीतर प्रवेश करती है। मध्यपथ सुषुम्नामें प्राणवायुके सञ्चरण करने पर साधकको उन्मनी अवस्था प्राप्त होती है। स्थायी भावसे जब उन्मनी अवस्था प्राप्त होती है तब साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। सुषुम्नामें प्राणवायुके प्रवाहित होने पर जो मनका नाश होता है वह सुषुप्ति-अवस्थाके मनोलयके समान नहीं है। सुषुप्तिमें मन सुप्त रहता है, विलुप्त नहीं होता। परन्तु उन्मनी अवस्थामें योगीका मन अमनमें परिणत हो जाता है अर्थात् मन नामकी कोई वस्तु उस समय नहीं रहती।

निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्मकारतया पुनः।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञानसंज्ञकः॥—अपरोक्षानुभूति।

अन्तःकरणमें जब किसी वृत्तिका स्फुरण नहीं होता, तब उसको निर्विकार अवस्था कहते हैं—यही ब्रह्माकारा वृत्ति है। इस अवस्थामें वृत्तिका सम्यग् विस्मरण होता है, यही समाधि कहलाती है, यह अज्ञानरूपा नहीं है।

प्राणके स्पन्दनसे ही मनोवृत्तियाँ स्पन्दित हो उठती हैं। योगाभ्यासके द्वारा उस प्राणके निरुद्ध होने पर मनोवृत्तियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। इसको समाधि कहते हैं। बुद्धिमें बाह्य वस्तुके प्रतिबिम्बित होने पर बुद्धिकी एकाग्रता नष्ट होती है। परन्तु जो बुद्धि सदा साम्यावस्थामें रहती है उसमें अन्य वस्तुका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, तब वह बुद्धि आत्माकाराकारित होती है। यह आत्माकाराकारित बुद्धि ही ब्रह्माकारा वृत्ति है। यही मुक्तिका हेतु है। योगकल्पद्रुममें लिखा है—

ध्येयस्वरूपोपगतं यदा मनो, विस्मृत्य चात्मानमथावतिष्ठते।
सङ्कल्पपूगापगतं तमन्तिमं योगस्य सन्तोऽवयवं प्रचक्षते॥

—ध्येयस्वरूपको प्राप्त होकर जब मन अपनेको भूलकर आत्मामें अवस्थान करता है तब सब प्रकारके सङ्कल्प दूर हो जाते हैं, उस अवस्थाको ही साधुलोग योगका चरम अवयव अर्थात् समाधि कहते हैं॥७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

अन्वय—इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् (इन्द्रियादिके भोग्य विषयोंमें वैराग्य) अनहङ्कारः एव च (तथा निरहङ्कारिता) जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् (जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिमें दुःखरूपी दोषोंकी पुनः पुनः आलोचना) ॥८॥

श्रीधर—किञ्च—इन्द्रियार्थेष्विति । जन्मादिदुःखदोषयोः अनुदर्शनम्—पुनः पुनः आलोचनम् । दुःखरूपस्य दोषस्य अनुदर्शनमिति वा । स्पष्टमन्यत् ॥८॥

अनुवाद—इन्द्रियादिके भोग्य विषयोंमें वैराग्य, निरहङ्कारिता तथा जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधिमें दुःख और दोषका अनुदर्शन अर्थात् पुनः पुनः आलोचना । अथवा जन्मादिमें जो दुःखरूप दोष रहता है उसकी पुनः पुनः आलोचना ॥८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इन्द्रियोंके निमित्त किसी विषयकी इच्छा न करना, मनमें अहङ्कार न करना, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख और दोषका अनुसन्धान ।—(१०) इन्द्रियोंके विषय-भोगमें अस्पृहा । इन्द्रियोंके भोग्य विषय दो प्रकारके होते हैं—दृष्ट और अदृष्ट । मन इन्द्रियोंके साथ मिलकर सारे दृष्टादृष्ट विषयोंका भोग करता है और आसक्तिवश आबद्ध होता है । अतएव विचार-द्वारा विषयके हेयत्वको उपलब्ध कर लेने पर उसमें स्पृहा नहीं रह जायगी । (११) अनहङ्कार अर्थात् अहङ्कार-शून्यता । (१२) जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शनम्—जन्म-मृत्यु आदिमें जो दुःख रहता है उसकी आलोचना करना । जन्मके लिए गर्भवास, गर्भसे योनिद्वार द्वारा निकलना, मृत्युके समय नाना प्रकारके क्लेश, मर्मस्थान छिन्न करके प्राणका उत्क्रमण तथा निराश्रय होनेके कारण मनमें भय । अत्यन्त बुढ़ापेको जरा कहते हैं, उसमें हस्त-पद आदि इन्द्रियोंकी शक्तिका भी ह्रास हो जाता है और मनकी शक्ति कम हो जाती है, बुद्धिकी प्रखरतामें भी व्यतिक्रम हो जाता है । यह अवस्था अत्यन्त ही कष्टकर होती है, इस अवस्थामें जीवित रहना केवल कष्टभोग-मात्र है । इसके ऊपर व्याधि, नाना प्रकारकी यन्त्रणा देने वाली दैहिक पीड़ा—इन सारे दुःखप्रद विषयोंकी बार बार आलोचना करने पर देह-धारणकी वासना तथा देह-जनित विविध भोगवासना क्षीण हो जाती है । अतएव इसमें सन्देह नहीं कि इनकी आलोचना ज्ञान-प्राप्तिके अनुकूल है ।

[श्रीमद् आचार्य शङ्कर इस श्लोकके भाष्यमें कहते हैं—"जन्म च मृत्युश्च जरा च व्याधयश्च दुःखानि च, तेषु जन्मादिदुःखान्तेषु प्रत्येकं दोषानुदर्शनम्"—जन्म-मरण, बुढ़ापा और व्याधियाँ तथा अन्यान्य दुःख समूह—इन विषयोंमें दोष-दर्शन अर्थात् इनकी आलोचना करना । अथवा—"दुःखान्येव दोषः दुःखदोषस्तस्य जन्मादिषु पूर्ववदनुदर्शनम् । दुःखं जन्म, दुःखं मृत्युः, दुःखं जरा, दुःखं व्याधयः, दुःखनिमित्तत्वात् जन्मादयो दुःखम्, न पुनः स्वरूपेणैव दुःखमिति । एवं जन्मादिषु दुःखदोषानुदर्शनात् देहेन्द्रियविषयभोगादिषु वैराग्यमुपजायते । ततः

प्रत्यगात्मनि प्रवृत्तिः करणानामात्मदर्शनाय। एवं ज्ञानहेतुत्वात् ज्ञानमुच्यते जन्मादि-दुःखदोषानुदर्शनम्"—अथवा दुःख समूह ही दोष है, इस अर्थमें दुःखदोष शब्दका प्रयोग किया गया है। 'दुःखदोष' शब्दका जन्मादि शब्दोंके साथ अन्वय करना चाहिए। जैसे जन्म-दुःख, मृत्यु-दुःख, जरा-दुःख, व्याधिसमूह-दुःख। जन्मादि स्वरूपतः दुःख नहीं हैं परन्तु वे दुःखके कारण हैं, इसी कारण इनको दुःख कहा गया है। इस प्रकार जन्म आदिमें दुःख-दोषानुदर्शनके द्वारा देहेन्द्रिय और विषयभोगोंमें वैराग्य उत्पन्न होता है। उसके बाद परमार्थ-दर्शनकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार जन्मादिमें दुःख-दर्शन भी ज्ञानका हेतु होनेके कारण ज्ञान शब्द द्वारा अभिहित होता है। इन सारे विषयोंको क्लेशप्रद चिन्तन करते-करते भोग-वासनाका ह्रास हो जाता है और देहधारणके लिए बलवती स्पृहा नहीं रहती। इसलिए जन्म-मृत्यु आदिमें दोषानुसन्धान करना आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें परम सहायक है ॥८॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

अन्वय—पुत्रदारगृहादिषु (पुत्र-स्त्री-गृहादिमें) असक्तिः (प्रीति-रहित होना) अनभिष्वङ्गः (उनके सुख-दुःखमें अपनेको सुखी-दुःखी न समझना) इष्टानिष्टोपपत्तिषु च (और इष्टलाभ तथा अनिष्टप्राप्तिमें) नित्यं समचित्तत्वं (सर्वदा चित्तका समभाव) ॥९॥

श्रीधर—किञ्च—असक्तिरिति। पुत्रदारादिषु असक्तिः—प्रीतित्यागः। अनभिष्वङ्गः—पुत्रादीनां सुखे दुःखे वा अहमेव सुखी दुःखी च इति अध्यासातिरेकाभावः। इष्टानिष्टयोः उपपत्तिषु—प्राप्तिषु, नित्यं सर्वदा समचित्तत्वम् ॥९॥

अनुवाद—[और कह रहे हैं]—पुत्रादिमें असक्ति अर्थात् प्रीतित्याग। अनभिष्वङ्ग अर्थात् पुत्र आदिके सुख-दुःखमें 'मैं सुखी-दुखी हूँ' इस प्रकारके अध्यासका अभाव। इष्ट तथा अनिष्टकी प्राप्तिमें सर्वदा समचित्तता ॥९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इच्छारहित पुत्रदारगृहादिके साथ सङ्ग—समान प्रकारका चिन्तन, शुभ-अशुभ दोनोंमें।—(१३) असक्ति—स्त्री-पुत्र-गृहादिमें जीवकी स्वभावतः अधिक ममता होती है और इसी कारण तत्तत् विषयोंमें नाना प्रकारके सङ्कल्प-विकल्पकी तरङ्गें उठकर मनको विक्षिप्त करती हैं। उनके सुख-दुःखमें अपनेको सुखी-दुःखी, उनके जीवन-मरणमें अपना जीवन-मरण—इस प्रकारके भाव ही अभिष्वङ्ग है। इन सारे विषयोंमें मनोयोग न देना ही अनभिष्वङ्ग कहलाता है। (१४) जिनको प्रकृत ज्ञान होता है, उनको स्त्री-पुत्र-गृहादिके प्रति कोई आसक्ति नहीं रहती। इन वस्तुओंका सङ्ग प्राप्त होने पर भी इनमें प्रीति उत्पन्न नहीं होती, इनके सङ्गके अभावमें भी कोई दुःख या अभाव-बोध नहीं होता। (१५) समचित्तत्व—सुख-दुःखादिमें भी उनके चित्तकी समता नष्ट नहीं होती। क्रियाकी परा अवस्थाके नशेमें जो उन्मत्त हैं उनके मनमें ये सांसारिक विषय उदित नहीं होते ॥९॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

अन्वय—मयि च (और मुझमें) अनन्ययोगेन (अनन्य योग द्वारा) अव्यभिचारिणी भक्तिः (ऐकान्तिक भक्ति) विविक्तदेशसेवित्वं (निर्जन स्थानमें वास) जनसंसदि (जनसमूहमें) अरतिः (विराग) ॥१०॥

श्रीधर—किञ्च—मयि चेति। मयि परमेश्वरे। अनन्ययोगेन—सर्वात्मदृष्ट्या। अव्यभिचारिणी—एकान्ता भक्तिः। विविक्तः शुद्धः चित्तप्रसादकरः, तं देशं सेवितुं शीलं यस्य तस्य भावः तत्त्वम्। प्राकृतानां जनानां संसदि सभायाम् अरतिः रत्यभावः ॥१०॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—परमेश्वर-स्वरूप मुझमें अनन्ययोग अर्थात् सर्वात्मदृष्टिद्वारा एकान्त भक्ति, शुद्ध और चित्तप्रसन्न करनेवाले देशमें अवस्थान करना जिनका स्वभाव है उनका ही भाव है 'विविक्तदेशसेवित्व'। जन समूहसे विराग अर्थात् प्राकृत जनकी सभामें रहनेकी अनिच्छा ॥ १० ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियकी परावस्थामें रहने पर ही अपने आप सब होगा—क्रियामें मन रख कर दूसरी ओर आसक्तिपूर्वक दृष्टि न करना ही उचित है—आसक्तिपूर्वक अर्थात् आत्मातिरिक्त अन्य ओर दृष्टि करने से ही अतएव व्यभिचारी दोषग्रस्त सभी जो आत्मामें नहीं हैं—सदा आत्मक्रिया, आत्मचिन्तन, आत्ममनन, और इस कारण आत्मज्ञान भी होता है। नङ्गों के बीच एक कपड़ा पहना हुआ—वह अग्राह्य, निर्जन अर्थात् किसी दिशामें आसक्तिपूर्वक मन न देना और किसी आदमीको आसक्तिपूर्वक न देखना।—परमेश्वरस्वरूप 'मुझमें' या आत्मामें अनन्ययोगके साथ (१६) अव्यभिचारिणी भक्ति होनी चाहिए। अनन्ययोग किसे कहते हैं? एकान्त चित्तसे भगवान्में आत्मसमर्पण। श्रीमद् आचार्य शङ्कर कहते हैं—"न अन्यो भगवतो वासुदेवात् परोऽस्ति, अतः स एव नो गतिरित्येवं निश्चित्य अव्यभिचारिणी बुद्धिः अनन्ययोगः, तेन भजनं भक्तिः। न व्यभिचरणशीला अव्यभिचारिणी सा च ज्ञानम्"—भगवान् वासुदेवसे अन्य कोई श्रेष्ठ नहीं है, अतएव वही हमारे एकमात्र गति हैं, इस प्रकारकी निश्चित बुद्धिको ही अनन्ययोग कहते हैं। अनन्ययोगके साथ जो भजन या भक्ति है वही अव्यभिचारिणी भक्ति है। यह भक्ति भी ज्ञान है अर्थात् ज्ञान-प्राप्तिका उपाय है। क्रियाकी परावस्था ही प्रकृत 'ज्ञान' है। इस ज्ञानकी प्राप्ति तब होती है जब फल-कामना-रहित होकर अविचलित भावसे क्रिया की जाती है। इस प्रकारसे क्रिया करते रहने पर फिर अन्य वस्तुके प्रति आसक्तिके साथ दृष्टि नहीं रहती, सदा आत्मामें ही लक्ष्य रहता है। आत्मामें लक्ष्य न रहने पर मन व्यभिचार-दोषसे दुष्ट हो जाता है। परन्तु साधक जब अनुभव करता है कि "भगवान् वासुदेवसे श्रेष्ठ कोई नहीं है", वही हमारे सर्वस्व हैं, तब वह उनका भजन छोड़कर अन्य वस्तुके प्रति आसक्ति नहीं दिखलाता। साधककी अव्यभिचारिणी भक्ति यहाँ ज्ञानके अन्यतम लक्षण-रूपसे निर्दिष्ट हुई है। क्रियाकी परावस्थामें अन्य कोई बोध न रहनेके कारण उस अवस्थामें जो भजन होता है वही अनन्य भक्ति है अर्थात् उसमें स्थिति ही प्रकृत भक्ति है।

भजन करते-करते यह बोध तो होता है, परन्तु यह तब होता है जब सर्वव्यापी आत्मा जो सर्वत्र और सबके भीतर अनुप्रविष्ट होकर रहता है, उसका साधक साक्षात्कार करता है। इस प्रकारका आत्मदर्शन सबको क्यों नहीं होता?—क्योंकि हमारा मन बहिर्मुख होकर अपनी कल्पनाके बलसे अवस्तुमें (जो वस्तुतः कोई वस्तु नहीं) वस्तु-दर्शन करता है और उसे ही सत्य समझ कर सारी कल्पित वस्तुओंको भोगार्थ संग्रह करनेमें प्रवृत्त होता है। यदि संग्रह करनेमें समर्थ होता है तो उसके आनन्दकी सीमा नहीं रहती, और यदि संग्रहमें असमर्थ होता है तो शोकदु:खसे जर्जरित होता है। परन्तु वह वस्तु आकाश-कुसुमके समान असत्य है यह विचार करके देखनेकी सामर्थ्य उस समय उसमें नहीं रहती। इसी कारण उसका मन क्षण-क्षण आनन्द और निरानन्दमें झूलता रहता है। इस मिथ्या कल्पनाके चंगुलसे मुक्ति पाये बिना जीवको शान्ति प्राप्तिकी संभावना कहाँ! जीवकी गति-मुक्ति तो चिरस्थिर चिदानन्दमय आत्मा है। वह परम शून्य है क्योंकि वहाँ मन नहीं, कल्पना नहीं और भोक्ताभोग्यका सम्बन्ध भी नहीं। अतएव वस्तुकी प्राप्ति या अप्राप्तिसे उस सुखमयी शान्ति-निद्रामें कोई विघ्न घटित होनेकी संभावना नहीं है। यह सुखमय शान्तिमय अवस्था कैसे प्राप्त होती है? सर्वदा आत्मक्रिया, आत्मचिन्तन और आत्ममननके द्वारा मनकी निविड़ कल्पनाका मेघ छिन्न-भिन्न हो जाता है, कल्पनाके तिरोहित होने पर आत्मज्ञानकी ऊषा-स्निग्ध किरणें मन, प्राण और देहमें भर जाती हैं। तब किसी ओर आसक्ति नहीं होती, किसी वस्तु या व्यक्तिके प्रति आसक्ति नहीं होती, तब मन जनशून्य अरण्यके समान निस्तब्ध कोलाहलशून्य हो जाता है। वह कैसी सुन्दर अवस्था है! यही अवस्था ही क्रियाकी परावस्था है। अन्य दिशामें दृष्टि न देकर मन लगाकर क्रिया करनेसे यह अपूर्व अवस्था प्राप्त हो सकती है। आत्माके सिवा अन्य विषयमें आसक्ति होनेसे ही चित्तकी पवित्रता नष्ट होती है। तब चित्त व्यभिचार-दोषग्रस्त हो जाता है। मनमें विषयरति रहते हुए ऐकान्तिक भावसे आत्मामें योगस्थापन नहीं होता। इसलिए सर्वदा आत्मक्रिया और आत्ममननमें सचेष्ट रहना होगा। जो साधक तीव्र चेष्टाशील हैं और जिनका चित्त तीव्र वैराग्ययुक्त है उनको यह अवस्था प्राप्त करनेमें देर नहीं होती। यह अवस्था प्राप्त होने पर जगत् विस्मृत हो जाता है, तब "अपनार नाम मोर नाहि पड़े मने"—ऐसी स्थिति हो जाती है। यही मनकी अव्यभिचारिणी स्थिति है। इस अवस्थामें आत्माके साथ अनन्ययोग होनेसे भगवान्में निष्कपट प्रेम संस्थापित होता है। इसीको अविचलित स्थिर भाव या भक्ति कहते हैं। इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिए (१७) विविक्तदेशसेवित्व और (१८) जनसंसदमें अरति आवश्यक है। विविक्त देश किसे कहते हैं? "विविक्तः स्वभावतः संस्कारेण वा अशुच्यादिभिः सर्पव्याघ्रादिभिः च रहितः, अरण्य-नदी-पुलिन-देवगृहादिः विविक्तो देशः"—जो स्थान स्वभावतः पवित्र है अथवा जो स्थान संस्कार-द्वारा शुद्ध है तथा जिस स्थानमें व्याघ्रादि हिंस्र जन्तु विचरण नहीं करते, उस स्थानको विविक्त देश कहते हैं जैसे—अरण्य, नदीतट, देवमन्दिर आदि। निर्जन स्थान या विविक्त देशमें वास करनेसे चित्तप्रसाद प्राप्त होता है। इसीलिए आत्म-

कल्याणकी कामनावाले साधकको बीच-बीचमें निर्जन स्थानमें वास करके दृढ़ता-पूर्वक साधनामें मन लगाना चाहिए। जिस स्थानमें लोगोंका समागम होता है, वहाँ नाना प्रकारकी बातचीतमें केवल विषयका ही सम्बन्ध रहता है, विषय-सम्पर्कसे चित्त विक्षिप्त होता है, अविच्छिन्न भावसे भगवच्चिन्तन नहीं हो सकता। अविच्छिन्न भगवच्चिन्तन नहीं होनेसे मन विक्षेपशून्य और शुद्ध नहीं हो सकता। परन्तु प्रकृत निर्जन स्थान पृथ्वीपर खोजकर पाना कठिन है, वहाँ कोई न हो तो भी मन तो रहेगा ही। मन तो अकेले ही सौ के बराबर है, वह अकेले ही सारी गड़बड़ी पैदा कर देगा। अतएव मनके रहते निर्जन होनेकी कोई आशा नहीं है। विषयके प्रति मनकी आसक्ति ही सारे कोलाहलका कारण है। मन यदि आसक्तिपूर्वक किसी वस्तुका स्मरण न करे तभी वह असङ्ग हो सकता है। मनके असङ्ग होने पर ही जनशून्य स्थानमें वास ठीक होता है। जिसका चित्त क्रियाकी परावस्थामें रहते रहते असङ्ग हो गया है, उसका मन फिर कल्पित लोक-व्यवहारमें कैसे जायगा। वह किसी आदमीके साथ आसक्तिपूर्वक व्यवहार करनेमें असमर्थ रहता है। क्रियाकी परावस्थामें उसका मन श्मशानके समान शून्य हो गया है, अतएव वह लोक-व्यवहार नहीं कर सकता, लोग भी उसके पास फिर नहीं फटकते। विक्षिप्त मन लेकर निर्जन हिमाद्रिके शृङ्गपर वास करनेसे भी विषय-संस्कार दूर नहीं होते। विषय-संस्पर्श रहने पर कभी न कभी बुद्धिकी विकलता घटित होगी ही और बुद्धिभ्रंश होने पर कल्याण-मार्गसे निश्चय ही विभ्रष्ट होना पड़ेगा। अवश्य ही साधनाका स्थान उपद्रव-रहित न हो तो साधनाके अनुकूल न होगा। ये बाहरी उपद्रव सहज ही दूर किये जा सकते हैं परन्तु सबसे अधिक उपद्रव करते हैं हमारे देहेन्द्रिय और मन। इनका सङ्ग-त्याग सहज ही होनेवाला नहीं है और इनका सङ्ग रहते निरुपद्रव होना असम्भव है। इनके रहते चित्तकी प्रसन्नता एक प्रकारसे असम्भव है। बाहरके विविक्त स्थानमें तात्कालिक चित्तकी प्रसन्नताका होना सम्भव है, इसीलिए साधनाका स्थान साधनाके अनुकूल और उपद्रव-रहित हो इसका ध्यान रखना ही होगा, परन्तु केवल उपद्रवशून्य स्थान होनेसे ही काम न चलेगा। विघ्न-बाधाके उत्पादक देहेन्द्रिय तथा मनको निरस्त करना पड़ेगा। यह कैसे होगा?—प्राणायामके द्वारा। प्राणायाम-रूप परम तपस्याके द्वारा शरीर और इन्द्रियोंकी कर्मशून्यता-दशा प्राप्त होती है। कर्म ही अज्ञानका प्राण है, अतएव कर्म-प्रवृत्ति क्षीण होने पर अज्ञान भी क्षयको प्राप्त होता है। अज्ञान के क्षीण होने पर मनकी चञ्चलता नहीं रह सकती, मनके अचञ्चल होने पर देहेन्द्रियादि-कृत कर्ममें जीवात्माको अभिमान नहीं होता। अतएव मन लगाकर क्रिया करना आवश्यक है। मन लगाकर क्रिया करते-करते एक प्रकारका नशा-सा चढ़ जाता है। तब बाह्य उपद्रव मनको विषयोंकी ओर नहीं खींच सकते। साधक तब नशेमें मत्त होकर अपनेको और बाह्य विषयोंको भूल जाता है। अतएव आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें सदा उद्योग करना चाहिए। कूटस्थ-दर्शन भी अध्यात्मज्ञान है, परन्तु वह चरम ज्ञान नहीं है। चरम ज्ञान क्रियाकी परावस्थामें उदित होता है। तब

दृश्यदर्शनका लोप हो जाता है। भगवान्‌ने भी कहा है—"यद्दृष्टं विश्वरूपं मे मायामात्रं तदेव हि। तेन भ्रान्तोऽसि कौन्तेय स्वस्वरूपं विचिन्तय"। क्रियाकी परावस्थामें इस स्वस्वरूपका ज्ञान होता है, उस समय जन-समागमकी अनिच्छा होती है और किसी आदमी या वस्तुके प्रति आसक्ति नहीं होती। बाहरका सङ्ग-त्याग तो कठिन नहीं है, परन्तु मनके द्वारा विषय-चिन्तनका त्याग ही प्रकृत त्याग है। बाहरके दुःसङ्गका त्याग भी उतना कठिन नहीं है, परन्तु पुत्र, कलत्र, वित्त, गृहादिके प्रति जो अत्यधिक आसक्ति रहती है उसका बन्धन सर्वापेक्षा दुश्छेद्य है। अतएव बाहरी और भीतरी, सब प्रकारके सङ्गोंका त्याग करना होगा। जनसङ्ग अप्रयोजनीय होने पर भी साधुसङ्ग विशेष रूपसे साधन-कालमें प्रयोजनीय होता है। साधुसङ्गके बिना सद्भाव परिपुष्ट नहीं होते, मनमें साधुभावका अभाव होने पर असत्कर्ममें अप्रवृत्ति नहीं आ सकती ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अन्वय—अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं (आत्मज्ञानमें सदा निष्ठा) तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शनम् (तत्त्वज्ञानके उद्देश्य या फलके सम्बन्धमें आलोचना) एतत् ज्ञानं इति प्रोक्तम् (इन सबको ज्ञान या ज्ञानका साधन कहा गया है) अतः (इनसे) यत् अन्यथा (जो विपरीत है) अज्ञानम् (वह अज्ञान है) ॥११॥

श्रीधर—किञ्च—अध्यात्मेति। आत्मानं अधिकृत्य वर्तमानं ज्ञानं अध्यात्मज्ञानम् तस्मिन् नित्यत्वं नित्यभावः, तत्त्वं-पदार्थशुद्धिनिष्ठत्वं इत्यर्थः। तत्त्वज्ञानस्य अर्थः—प्रयोजनं मोक्षः तस्य दर्शनम् मोक्षस्य सर्वोत्कृष्टतालोचनमित्यर्थः। एतद् अमानित्वम् अदम्भित्वम् इत्यादि विंशति-संख्याकं यदुक्तं एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं ज्ञानसाधनत्वात्। अतोऽन्यथा अस्माद्विपरीतं मानित्वादि यत् एतद् अज्ञानमिति प्रोक्तं वशिष्ठादिभिः ज्ञानविरोधित्वात्। अतः सर्वथा त्याज्यमित्यर्थः ॥११॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—आत्माको अधिकृत कर रहने वाला ज्ञान अध्यात्मज्ञान है, उसमें नित्यभाव अर्थात् 'तत्' और 'त्वं' पदार्थकी शुद्धिके लिए निष्ठा अर्थात् उसमें विश्वास। तत्त्वज्ञानका अर्थ या प्रयोजन जो मोक्ष है उसके सर्वोत्कृष्टताकी आलोचना। अमानित्व-अदम्भित्वादि ज्ञानके बीस साधनोंको ज्ञानके नामसे वसिष्ठादिने अभिहित किया है। इनके विपरीत मानित्व आदि अज्ञान हैं क्योंकि ये ज्ञानके विरोधी हैं, अतएव सर्वथा त्याज्य हैं ॥११॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आत्मामें ही सर्वदा क्रिया करना जो गुरुवाक्यके द्वारा लभ्य है—तत्त्वज्ञानका अर्थ है रूप कूटस्थकी क्रियाके द्वारा जानना देखना—इसीका नाम ज्ञान है—इसके सिवा अन्य और आसक्तिपूर्वक देखनेका नाम अज्ञान है।

—(१९) अध्यात्मज्ञाननित्यत्व (२०) तत्त्वज्ञानार्थदर्शन—आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें सदा उद्योग। आत्माको अधिकृत करके जो ज्ञान होता है वही अध्यात्मज्ञान सत्य है, और जो कुछ है वह सब मिथ्या है, इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके आत्मज्ञानके लिए ऐकान्तिक निष्ठा या चेष्टा ही 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्व' है। ज्ञान दो प्रकारका होता है—एक जो

आत्माको अधिकृत करके होता है और दूसरा जो देहको अधिकृत करके होता है। देहको अधिकृत करके जो ज्ञान होता है वह नित्य सत्य नहीं है। क्योंकि देहादि प्राकृत वस्तु हैं, अतएव उनका धर्म नित्य नहीं हो सकता। आत्मविषयक ज्ञान ही परम सत्य है, वह अपरिवर्त्तनीय है, उसके अनुभवकी चेष्टाका नाम ही आत्मज्ञाननिष्ठा है। गुरुके उपदेशके अनुसार सर्वदा साधनाभ्यास करते-करते साधनाके फलस्वरूप स्थिरता प्राप्त होती है। स्थिरत्वका अनुभव होने पर आनन्द प्राप्त होता है, तब समझमें आता है कि उसकी अपेक्षा और सारे लाभ नगण्य हैं। तब अन्य वस्तुके लिए चित्त लालायित न होकर आत्मक्रिया करनेमें ही आग्रहशील होता है, इसीका नाम है आत्मनिष्ठा। इस प्रकारकी आत्मनिष्ठा होने पर तत्त्वज्ञानका यथार्थ स्वरूप कूटस्थ दीख पड़ता है। कूटस्थको देखने पर समझमें आ जाता है कि वही अपना प्रकृत 'मैं' है। यह कूटस्थ जब 'अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरं' रूपमें सबके भीतर तुम्हें दीख पड़ेगा तब तुम दूसरोंसे पृथक हो, यह पार्थक्य-ज्ञान न रहेगा। तभी जानना चाहिए कि तुमको ज्ञान प्राप्त हो गया है। तभी 'तत्' अर्थात कूटस्थ ही 'तुम' हो, यह ज्ञान प्रकाशित होगा। इस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए सर्वदा उद्योग करना होगा। इससे ही जान पड़ेगा कि आत्मज्ञानमें तुम्हारी निष्ठा हो गयी है। ज्ञानका स्वभाव है वस्तुको प्रकाशित करना, और अज्ञानका स्वभाव है वस्तुके स्वरूपको आच्छादित करना। प्रत्येक देहके भीतर यह ज्ञान रहता है परन्तु देहावरण उसको जानने नहीं देता। इसलिए यह देह ही ज्ञानका अवरोधक है। जो इस देहके सिवा और कुछ अनुभव नहीं कर सकता, उसका ज्ञान प्रकृत अज्ञान है। देहके भीतर जो अपने प्रकृत 'मैं'—कूटस्थ-ज्योतिका दर्शन करता है, उसका देहात्मबोधरूप अज्ञान विनष्ट हो जाता है। अज्ञानका स्वभाव वस्तुको आवरण करना तथा उसको अन्य रूपमें बोध कराना है। चञ्चल प्राणमें ही अविद्याका बीज निहित है। प्राण जब चञ्चल होकर स्पन्दित होता है तो कल्पनाका प्रवाह या मनका अभ्युदय होता है तथा यह चञ्चल मन विराट संसाररूपी इन्द्रजालकी रचना करता है। क्रियाकी परावस्थामें प्राणकी स्थिरताके साथ जब मन स्थिर होता है तब फिर यह विश्वकौतुक परिदृष्ट नहीं होता। अतएव अज्ञानमें जो है वह ज्ञानके प्रकाशमें नहीं रहता। इसलिए इसको माया या अघटन-घटना-पटीयसी शक्ति कहते हैं। माया तथा मायाके अतीत जो वस्तु है उसको जाननेका नाम ही वेद या ज्ञान है। क्रियाकी परावस्थामें इस ज्ञानका अन्त हो जाता है। परावस्थाका साक्षात् हुए बिना वेदान्तका ज्ञान परिस्फुटित नहीं होता। आत्माके सिवा अन्य वस्तुमें जबतक आसक्ति रहेगी, तबतक अज्ञान दूर न होगा। अनात्मज्ञानको तिरोहित करनेका उपाय क्रिया ही है। जिसको इस क्रियामें निष्ठा नहीं है उसको अनुभवपद प्राप्त होने वाला नहीं है॥ ११॥

(ज्ञेय वस्तु ब्रह्म है)

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥

अन्वय—यत् ज्ञेयं (जो ज्ञेय है) तत् प्रवक्ष्यामि (उसको कहूँगा) यत् ज्ञात्वा (जिसे जानकर) अमृतं अश्नुते (अमृत या मोक्ष प्राप्त होता है), तत् अनादिमत्परं ब्रह्म (वह आदिहीन परम ब्रह्म है) तत् (वह) न सत् न असत् (सत् भी नहीं, असत् भी नहीं) उच्यते (ऐसा कहा जाता है) ॥ १२ ॥

श्रीधर—एभिः साधनैः यज्ज्ञेयं तदाह—ज्ञेयमिति षड्भिः। यत् ज्ञेयं तत् प्रवक्ष्यामि। श्रोतुः आदरसिद्धये ज्ञानफलं दर्शयति। यद्वक्ष्यमाणं ज्ञात्वा अमृतं मोक्षं प्राप्नोति किं तत्? अनादिमत्—आदिमत् न भवति इति अनादिमत्। परं निरतिशयं ब्रह्म। अनादि इति एतावतैव बहुव्रीहिणा अनादिमत्त्वे सिद्धेऽपि, पुनर्मतुपः प्रयोगः छान्दसः। यद्वा अनादि इति मत्परञ्चेति पदद्वयम्। मम विष्णोः परं निर्विशेषं रूपं ब्रह्मेत्यर्थः। तदेवाह न सत् न चासत् उच्यते। विधिमुखेन प्रमाणस्य विषयः सत्-शब्देन उच्यते, निषेधस्य विषयः तु असत्-शब्देन उच्यते। इदं तु तदुभयविलक्षणं अविषयत्वादित्यर्थः ॥१२॥

अनुवाद—इन साधनाओंके द्वारा जो ज्ञेय है उसे बतलाता हूँ। श्रोताके आदरसिद्ध्यर्थ अर्थात् श्रोता जिससे ज्ञेय पदार्थको जाननेके लिए अधिक उत्साहित हो इसलिए ज्ञानका जो फल है उसे दिखलाते हैं। जिसको जान लेने पर अमृत अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है वह क्या है? वह अनादिमत् है। वह परं अर्थात् निरतिशय ब्रह्मस्वरूप है। अनादि-शब्दसे, नहीं है आदि जिसका इस प्रकार बहुव्रीहि समास करने पर अनादिमत् पदका अर्थ सिद्ध होता है। अथवा अनादि और मत्परं ये दो पद हैं। मत्पर शब्दका अर्थ है मुझ विष्णुका पर अर्थात् निर्विशेष रूप ब्रह्म। वह ब्रह्म क्या है, यह बतलाते हैं—'न सत् न असत्'—वह ब्रह्म न सत् है, न असत्। विधिमुखसे जो प्रमाणका विषय है वह 'सत्'-शब्द-वाच्य है और जो निषेधका विषय है वह 'असत्'-शब्द-वाच्य है। परन्तु ब्रह्म दोनोंसे विलक्षण है क्योंकि ब्रह्म अविषय है। [इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तु है 'सत्' अर्थात् जो अस्ति-बुद्धिको आश्रय करता है। अन्यथा, 'असत्' नास्ति-बुद्धि आश्रय करके रहता है। परन्तु ब्रह्म अवाङ्मनसगोचर है, अतएव अस्ति या नास्ति किसी बुद्धिको आश्रय नहीं करता] ॥१२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ज्ञेय अर्थात् जाननेकी वस्तु—कूटस्थ ब्रह्म है—उसको भली-भाँति कहता हूँ—जिसको जान लेने पर मेरे पदकी प्राप्ति होती है—जिसका आदि नहीं है अर्थात् किस समय नशा—क्रियाकी परावस्थाका शुरू हुआ, यह अनुभव नहीं होता; तब मुझमें मैं नहीं रहता, वह परमब्रह्म होता है, सबके परे ध्रुव निश्चित—तब सत् असत् दोनों वर्जित होते हैं अर्थात् दृश्य और द्रष्टा कोई नहीं रहता।—कूटस्थ ब्रह्म ही ज्ञेय वस्तु है। इस कूटस्थको जान लेने पर ही मृत्युका अतिक्रमण किया जाता है। यह शरीर मर जाता है परन्तु कूटस्थकी मृत्यु नहीं होती। कूटस्थको जान लेने पर जन्म-मृत्युका खेल समाप्त हो जाता है और अमरत्वकी प्राप्ति होती है। ज्ञेय कहनेसे जान पड़ता है कि वह ज्ञाताके ज्ञानका विषय है, इस प्रकार यह ज्ञेय पदार्थ साधारण वस्तुके समान हो गया। परन्तु जैसे चक्षुके लिए ज्ञेय दृश्य पदार्थ होते हैं, उस प्रकारका यह ज्ञेय नहीं

है। तैत्तिरीय श्रुति इस ज्ञेयके सम्बन्धमें कहती है—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" अर्थात् वह वाक्य और मनके अतीत है। अतएव इन्द्रियादिके ज्ञानके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। उस समय अपनेमें मैं नहीं रहता, उस अवस्थामें द्रष्टा और दृश्य कुछ भी नहीं रहता। बुद्धिके अतीत उस परमात्माको समझनेका सामर्थ्य बुद्धिमें भी नहीं होता। इसी कारण कहा गया है कि वह सत् असत् कुछ भी नहीं है। ब्रह्म इन्द्रियग्राह्य सत् पदार्थ नहीं है, इसलिए वह नहीं है ऐसी बात नहीं। उसकी झलक बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होती है। पश्चात् जब बुद्धि भी नहीं रहती तो बोद्धा भी नहीं रहता, परन्तु वह रहते हैं। उस स्थिति अर्थात् अस्तित्व-मात्र सत्ताको ज्ञेय कहते हैं। वेद कहते हैं—"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमपरो यदिति" (ऋग्वेद १०म मण्डल)—सृष्टि-विकाशके पहले असत् या शून्य, सत् या व्यक्त वस्तु प्रभृति कुछ भी न था। जिसके द्वारा जाना जाता है वह करण-समूह ब्रह्म-चैतन्यको प्रकाशित नहीं कर सकता। मन-इन्द्रियादिके साथ बुद्धिके निरुद्ध हुए बिना वह नहीं जाना जा सकता। अथाह सिन्धुके तलमें जो असीम आकाश विद्यमान है, वह जैसे सलिल-राशिके भीतरसे दीख नहीं पड़ता परन्तु कल्पनामें आता है, उसी प्रकार मनोबुद्धि-इन्द्रियादिरूप तरङ्गोंकी हलचलमें चिर-स्थिर नित्य सत्य परमात्माका अनुभव नहीं होता, परन्तु अनुमान हो सकता है। वह तभी ठीक तरह पकड़में आता है जब बुद्धि भी नहीं रहती अर्थात् जब ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एक हो जाते हैं। इस अवस्थामें कुछ भी नहीं रहता, अतएव उस अवस्थाको लक्ष्य कौन करेगा? इस अवस्थासे अवतरण होने पर जब बुद्धि जाग्रत होती है तब उस बुद्धिमें आत्माका कुछ प्रकाश अनुभूत होता है, इसी कारण उसको 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' कहा गया है। यदि बुद्धि स्थिर और निर्मल न हो तो ब्रह्मका यह बुद्धि-ग्राह्य भाव भी परिलक्षित नहीं हो सकता। इसलिए जो आत्माका परिचय प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें इन्द्रिय-मनोबुद्धिको असीम स्थिरतामें ले जाना पड़ेगा। प्राणका चाञ्चल्य दूर किये बिना इनका चाञ्चल्य न रुकेगा। इसलिए सबसे पहले प्राणका निरोध करना होगा। प्राणके निरुद्ध होने पर उसके साथ मनोबुद्धि भी निरुद्ध हो जायँगे। उसी कल्पनाशून्य स्थिर बुद्धिके भीतर ज्ञेय आत्मा जाना जाता है, वही कूटस्थ ब्रह्म है अर्थात् बुद्धिके भीतर स्थित आत्मप्रतिबिम्ब है, यहाँ तक ही ज्ञानगम्य है। पश्चात् बुद्धि भी विलीन हो जाती है, साथ-साथ ज्ञाता और ज्ञेय नामकी भी कोई वस्तु नहीं रहती। यही क्रियाकी परावस्था-शब्द-द्वारा लक्षित होता है। क्रियाकी परावस्थामें मैं नहीं, मेरा नहीं, तथापि एक परम ध्रुव है जिसके बिना कोई भी वस्तु रह नहीं सकती। वह नित्य वर्तमान है, कभी उसका अभाव नहीं होता। इसका अनुभव करने पर ही अमरपद प्राप्त होता है, सदाके लिए जन्म-मरणके हाथसे अव्याहति मिल जाती है। जैसे विशेष्य या संज्ञाको आश्रय करके ही सारे विशेषण रहते हैं उसी प्रकार उस सदसद्रहित तथा परम ध्रुव आत्माको आश्रय करके ही यह व्यक्ताव्यक्त जगत् प्रकटित होता है। यह व्यक्ताव्यक्त या सदसद् भाव जबतक वर्तमान है, तब तक द्रष्टा-दृश्य भी हैं। परन्तु क्रियाकी परावस्थामें कोई विशेष भाव नहीं रहता, तब

परमात्मा केवल स्वमहिमामें विराजमान रहते हैं, तब दृश्य नहीं रहता और कोई उसका द्रष्टा भी नहीं रहता। दृश्य पदार्थके रहने पर द्रष्टाकी कल्पना की जाती है, और द्रष्टाके रहने पर कुछ दृश्य भी होगा, ऐसा सोचा जा सकता है। परन्तु वह एक ऐसी विचित्र अवस्था है जिसमें द्रष्टा और दृश्य सब विलुप्त होते हैं, तथापि उस महान् अस्तित्वका कोई अभाव नहीं होता। इसका जिन्होंने अनुभव किया है वे ही इसे जानते हैं। इसीसे श्रुति कहती है—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥

इन्द्रिय-ग्राह्य सोपाधिक भावमें तथा इन्द्रियातीत निरुपाधिक भावमें अर्थात् विषयेन्द्रियादिके अतीत चिन्मात्ररूपमें आत्मा सचमुच ही रहता है, इस निश्चयको उपलब्ध करना चाहिए। आत्मसत्ताको उपलब्ध करनेवालेकी बुद्धिमें आत्माका नित्य चैतन्य-भाव प्रकाशित होता है ॥१२॥

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

अन्वय—तत् (वह) सर्वतः पाणिपादं (सर्वत्र हस्तपादविशिष्ट) सर्वतः अक्षिशिरोमुखम् (सर्वत्र चक्षु, मस्तक और मुखविशिष्ट) सर्वतः श्रुतिमत् (सर्वत्र श्रवणेन्द्रियविशिष्ट) [होकर] लोके (लोकमें) सर्वम् आवृत्य (सब पदार्थोंको व्याप्त कर) तिष्ठति (अवस्थित है) ॥१३॥

श्रीधर—नन्वेवं ब्रह्मणः सदसद्विलक्षणत्वे सति—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि-श्रुतिभिः विरुद्ध्येत इत्याशंक्य—"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"—इत्यादि-श्रुतिप्रसिद्धया अचिन्त्यशक्त्या सर्वात्मतां तस्य दर्शयन् आह—सर्वतः इति पञ्चभिः। सर्वतः सर्वत्र पाणयः पादाश्च यस्य तत्। सर्वतः अक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य तत्। सर्वतः श्रुतिमत् श्रवणेन्द्रियैर्युक्तं सत् लोके सर्वं आवृत्य व्याप्य तिष्ठति। सर्वप्राणिवृत्तिभिः पाण्यादिभिः उपाधिभिः सर्वव्यवहारास्पदत्वेन तिष्ठतीत्यर्थः ॥१३॥

अनुवाद—[यदि ब्रह्म सत् और असत्से विलक्षण है तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' समस्त जगत् ब्रह्म है, "ब्रह्मैवेदं सर्वम्"—ब्रह्म ही यह सब जगत् है—इत्यादि श्रुतिके साथ विरोध होता है, इस आशङ्कासे कहते हैं—"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"—इस ब्रह्मकी शक्ति विविध प्रकारकी है तथा इसके स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रियाकी बात भी श्रुति-प्रसिद्ध है, अतएव अचिन्त्य शक्ति द्वारा वह सर्वात्मक है, इसे पाँच श्लोकों द्वारा दिखलाते हैं]—सर्वत्र ही जिसके हाथ-पैर हैं तथा सर्वत्र ही जिसके चक्षु, मस्तक और मुख हैं, वह सर्वत्र श्रवणेन्द्रिययुक्त होकर सब लोकोंको व्याप्त करके अवस्थित है, अर्थात् सब प्राणियोंके हस्तपाद आदि उपाधियोंके द्वारा सब व्यवहारोंका आस्पद होकर वही वर्तमान हो रहा है ॥१३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—उस अवस्थामें जहाँ इच्छा होती है जा सकता है—सूक्ष्म शरीरमें आठों पहर नशा रहते जो इच्छा होती है उसे मनके द्वारा देखकर ग्रहण कर सकता है अर्थात् आँखोंके सामने देख पाता है—अगम्य स्थानमें जाकर देख सकता है—सब अनुभव कर सकता है—सबका स्वाद ले सकता है—किस द्रव्यमें कितना अंश मिला है वह समझ सकता है—क्योंकि उस समय वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है—ब्रह्म सब वस्तुओंमें आवृत है तथापि वह एक स्थानमें बैठा है।—ब्रह्मकी स्वरूप-शक्ति बोधका विषय नहीं है। इसीलिए उसकी तटस्थ शक्तिके द्वारा उसको समझानेकी चेष्टा की जाती है। उसे समझ लेने पर ज्ञात हो जाता है कि ब्रह्मकी क्रिया-शक्ति असीम है। उस क्रिया-शक्ति या शक्तिका कार्य जड़ होने पर भी उसके मूलमें चैतन्य रहता है। यदि चैतन्य न होता तो तत्तत् वस्तुका प्रकाश असम्भव होता। इसीसे प्रत्येक कार्य-शक्ति और कार्य-शक्तिका क्षेत्र पाणि-पाद आदिके मूलमें वही कारण रूपमें अवस्थान कर रहा है। सब प्राणियोंमें चक्षु, कर्ण, पाणि, पाद आदिके व्यवहार जो सिद्ध हो रहे हैं, वह ब्रह्मके अधिष्ठानके कारण ही संभव है। क्योंकि उसकी सत्तासे सत्तावान् होकर ही मन-इन्द्रिय आदि विषयोंका अनुभव करते हैं। प्राणियोंकी सारी इन्द्रियाँ उसका अधिष्ठान हैं, वे उसकी शक्तिसे ही काम करती हैं। इसलिए सबके चक्षु-कर्णके द्वारा मानो उसका ही देखने-सुननेका कार्य चल रहा है। मनसे युक्त अहङ्कार ही कर्त्ता है, इन्द्रियाँ उसके करण हैं। इन करणोंके रहने पर क्रियाका बोध होगा और बोध होने पर अहङ्कारके वश तत्तत् विषयमें जीवको अभिमान होगा। इसलिए करणोंको अकरण बना डालनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। क्रियाके अभ्यासके द्वारा ही करणोंको अकरण बनाया जा सकता है। तब दृश्य प्रपञ्चके रहने पर भी उसका बोध न होगा। तभी यह बोध हो जाता है कि आत्मा इन सबसे पृथक् है। फिर इस अवस्थासे उतरने पर एक प्रकारके अस्तित्वका बोध होता है। वह अस्तित्वभाव ही उसको सर्वत्र पाणि-पाद-शिरोमुख-द्वारा व्याप्तरूपमें बोध कराता है। ज्ञेय वस्तु ज्ञानसे पृथक् नहीं है। जब कुछ नहीं था तब भी एक प्रकारका बोध था। उस बोधके भीतर सब वस्तुएँ मिलकर एक हो गयी थीं। परन्तु जब सब वस्तुओंका बोध लौट आया, तब वह बोध सब वस्तुओंके रूपमें प्रकट हो उठा। जब ब्रह्म केवल ज्ञानमात्र है तब क्रिया-शक्तिके प्रकाश और सङ्कोचके द्वारा अनुभवका पार्थक्य होने पर भी वह वस्तुतः पृथक् वस्तु नहीं है। जब नानात्वका बोध होता है तब भी वह मन और इन्द्रियोंका विलास-मात्र होता है, कोई नयी वस्तु नहीं होती।

यह 'तत्' वस्तु जो सर्वत्र पाणि-पाद युक्त है, सर्वत्र चक्षुकर्णविशिष्ट है, वह योगाभ्यास-द्वारा प्राप्त शक्तिसे और भी सूक्ष्मरूपमें समझा जा सकता है। ब्रह्म सबके भीतर रहता है। स्थान और काल द्वारा वह बाधित नहीं होता। इसी कारण योगी जब स्थिर पद प्राप्त कर ब्रह्मभावसे भावित होता है, तब केवल मन या सङ्कल्पके द्वारा सब वस्तुओंका आदान-प्रदान होता रहता है। जो वह सोचता है वही उसके चक्षुके सामने दीखने लगता है, मनमें उदय होते ही वह अतिदूरवर्ती स्थानमें उपस्थित हो सकता है और वहाँके सब विषयोंको प्रत्यक्ष कर सकता है। सहस्रों

कोसोंका अन्तर होने पर भी उन स्थानोंमें कौन क्या कह रहा है, इच्छा करते ही वह उसे सुन सकता है। किन वस्तुओंमें कौनसे गुण हैं, इच्छा-मात्रसे ही उनको वह जान सकता है। ब्रह्म द्वारा सब वस्तुएँ आवृत हैं, इसीसे वह ब्रह्मभावापन्न होकर एक स्थानमें बैठा हुआ ब्रह्माण्डके सारे समाचारोंको ग्रहण कर सकता है। उसके सामने यह स्थान या अन्य स्थान नहीं है, सब एक ही स्थान है। जब नानात्वका ज्ञान होता है तब भी ऐसा समझना चाहिए कि वह परमात्माका ही अधिष्ठान है। भलीभाँति क्रिया करनेसे क्रियाके द्वारा जो धारणा होती है तथा क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त योगी जिस प्रकार सांसारिक व्यवहार करता है या जिस प्रकार वह संसारको देखता है उसकी धारणा करने पर भगवान्की सर्वत्र विद्यमानताको समझना कठिन न होगा। क्रियाकी परावस्थामें रहना ही उपवासरूप व्रत है। उप अर्थात् समीपमें रहना। परमात्माके सान्निध्यकी प्राप्तिके लिए जो विद्या साधित होती है वही क्रिया है, क्योंकि क्रिया करने पर ही क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है। तब ब्रह्मके समीपमें या उसके साथ एक होकर अवस्थान किया जाता है। तब श्वास-प्रश्वासकी क्रियाका बाहर अनुभव नहीं होता, तब वह इतनी सूक्ष्मतापूर्वक भीतर ही भीतर चलता है कि उसका चलना मालूम नहीं होता। परन्तु श्वासमें मन लगाने पर जान पड़ता है कि चल रहा है, यदि न चलता होता तो जीवन कैसे रहता। क्रियाके द्वारा जो इस प्रकारकी स्थिति होती है उसीका नाम योगधारणा है। लोहा जैसे चुम्बकके पास आते ही उससे सट जाता है उसी प्रकार क्रियाके द्वारा क्रियाकी परावस्थामें आत्मा परमात्मामें संलीन हो जाता है और उसमें ही अटक जाता है। पहले इस अवस्थामें दूसरा कोई कर्म नहीं किया जा सकता। परन्तु पीछे अटके रहते हुए भी योगी सब कर्म कर सकता है। इसीलिए प्रतिदिन और निरन्तर क्रिया करते रहना आवश्यक है, अन्यथा क्रियाकी परावस्था प्राप्त नहीं हो सकती, और न यही समझमें आ सकता है कि आत्मा अर्थात् मनः-प्राण कैसे परमात्मामें लग जाते हैं और अवरुद्ध हो जाते हैं। क्रिया करनेके समय मन चञ्चल रहता है, परन्तु परा-वस्थामें कोई सङ्कल्प नहीं रहता, अतएव मन भी नहीं रहता। उस समय एक प्रकारके नशे जैसी अवस्था होती है। उस नशेमें रहनेका ही नाम भक्ति, श्रद्धा, ध्यान या योग है। इसीका नाम 'उपवास' है, क्योंकि तभी परमात्माका सान्निध्य प्राप्त होता है। उस समय उसके साथ श्वास-प्रश्वासके भी अटके रहनेके कारण किसी बाह्य वस्तुका ग्रहण नहीं होता। इस अवस्थामें साधकको असाधारण ज्ञान उत्पन्न होता है। जिससे सब उत्पन्न हुआ है उसमें ही मन लीन रहता है। तब ब्रह्म जो एक और अद्वितीय है इसका अनुभव होता है। वह सदा एकरस है क्योंकि उसमें नानात्व नहीं है। वह आनन्दघन स्वप्रकाश है, वही सर्वतोमुख महादेव महेश्वर है। रस शब्दका अर्थ है स्वाद। जब एकरस है तो अन्य कोई स्वाद नहीं है, केवल एकका ही अनुभव है। वही अव्यक्त रस है, क्योंकि उस रसका परिवर्तन नहीं है, वह नित्य नवीनके समान उपभोग्य है। क्रियाकी परावस्थाके गाढ़े नशेमें जो अगाध गम्भीर आनन्द होता है, उसके कारण उस अवस्थासे अवस्थान्तरमें मनको जानेकी इच्छा नहीं

होती। वही स्वप्रकाश रूप है, अपने ही आप प्रकाशक है, और कुछ उसकी तुलनामें नहीं है। तब सब ब्रह्ममें संलीन रहता है, इसलिए पृथक् अभिमान रूप जो 'मैं' है, वह 'मैं' भी वहाँ नहीं रहता। इस अवस्थामें अपनी पृथक् सत्ताका बोध न रहनेके कारण 'मैं' सर्वव्यापक हो जाता है। इसीसे सर्वत्र मुख-चक्षु हो जाते हैं अर्थात् एक स्थानमें बैठकर ही सब शब्दोंको सुनता है, सब दृश्योंको देखता है, उनका घ्राण, स्वाद और स्पर्श बोध करता है। चेष्टा करनेसे यह अवस्था नहीं लायी जाती, यह अपने आप होती है। तब योगीके सामने कोई जाय तो उसको देखते ही वह उसके चरित्रको जान जाता है। कोई विपद्में पड़कर भक्तिपूर्वक उसे पुकारता हो तो उसे भी सुन लेता है। कोई ध्यानमें मग्न होकर कहीं बैठा हो तो उसको भी देख लेता है। कोई सुगन्ध या पुष्पके द्वारा भक्तिपूर्वक पूजा करता हो तो उसकी गन्ध उसकी नासिकामें पहुँच जाती है। यदि कोई भक्तिपूर्वक कोई नैवेद्य निवेदन करता हो तो योगीकी जिह्वामें उसका स्वाद अनुभूत होता है।

वायुके स्थिर होने का नाम ही है प्राणस्थिर होना। वायु स्थिर होने पर सर्वगत होती है। तब जिसकी इच्छा हो उसको साधक स्पर्श कर सकता है, परन्तु उसको यह बोध नहीं होता कि उसको किसीने स्पर्श किया है। ब्रह्म भी सब वस्तुओंको स्पर्श करके सर्वत्र विराजमान है, परन्तु ब्रह्मस्पर्शकी धारणा किसीको नहीं होती। ब्रह्मज्ञान जिसको होता है वह भी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। तब ब्रह्मके सूक्ष्म अणु सब वस्तुओंमें प्रविष्ट होनेके कारण सर्वव्यापक महादेव बन जाते हैं। महत् आकाशमें ब्रह्मके अणुके प्रविष्ट होनेपर वह महेश अर्थात् सबका कर्त्ता बन जाता है। वह तब जो चाहता है वही हो सकता है, परन्तु उसको कोई इच्छा नहीं रहती। तब ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं रहता, अपने भी नहीं रहता, अतः इच्छा ही कौन करेगा और किस वस्तुकी इच्छा करेगा?

यह 'एकमेवाद्वितीयम्' भाव कैसे होता है? "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्"—उस विष्णुके परमपद अर्थात् कूटस्थको, जो सुर हैं अर्थात् सर्वदा क्रिया करते हैं वे ही सर्वदा देख पाते हैं। आकाशके समान एक चक्षु जो योनि-मुद्रामें प्रकाशित होता है उसे सुर लोग सदा देख पाते हैं। उस चक्षुके अणुमें त्रिलोक है। उन तीनों लोकोंके भीतर ही मर्त्यलोक है, और उस मर्त्यलोकके भीतर मैं, और मेरे भीतर सब कुछ है। समुदयके भीतर मैं और मेरे भीतर समुदय है, अतएव समुदय ही एक ब्रह्म हो गया।

इस प्रकार ब्रह्म सर्वत्र पाणिपाद और शिरोमुख युक्त होकर तथा सबको आवृत करके भी एक हो रहा है। इस एकत्वको जो जानता है वह भी ब्रह्म हो जाता है। 'सोऽहं'—मैं वही हूँ, जो सब 'मैं' के भीतर एक अखण्ड भावसे, घटाकाश समूहके भीतर एक महाकाशके रूपमें, विराजमान है। देहाभिमानी जीवको जो देहयुक्त अहं-ज्ञान होता है उससे यह भिन्न है।

देहतट तो नइको आमि देहेर ओपार परव्योम।
सेइ तो आमार आसल 'आमि' सेइ तो आमिर निकेतन॥

वह 'मैं' प्रपञ्चातीत है। वहाँ मायाका जाल सदाके लिए निरस्त हो जाता है। सोऽहं होना पड़ता है, समझा नहीं जाता। समझने जाओ तो ज्ञान और ज्ञेय पृथक्-पृथक् भावमें प्रतीत होते हैं। वह वस्तुतः "अवाङ्मनसगोचर" है। इस परम अहंके एकांशमें लीलावश जब सहस्र-सहस्र अहंभाव फूट उठते हैं तभी उसका नाम होता है 'माया'। सबसे पहले इस अहं-बोध या मायासे ही अनन्त ब्रह्माण्ड-का विकास होता है। इसका ही दूसरा नाम 'प्राणशक्ति' है। कठोपनिषद् कहती है—"यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्"—यह दृश्यमान् जो कुछ जागतिक वस्तुएँ हैं वे ब्रह्मसत्ताकी प्राणशक्तिसे स्पन्दित होकर उत्पन्न हो रही हैं। यह प्राणशक्ति या महामाया जब ब्रह्मके भीतर सुप्त रहती है तब उसकी क्रियाशक्ति नहीं होती, उस अटल स्थिरावस्थाको ही ब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। ब्रह्मके भीतर उसी शक्तिके ईषत् चञ्चल होनेसे 'अहं अस्मि' यह बोध स्फुटित होता है। परन्तु तब भी उसके भीतर विश्वप्रपञ्चके विकासका कोई चिह्न परिलक्षित नहीं होता। उसके बाद आँखसे नींदके उचट जानेके बाद जैसे जगत्का बोध होने लगता है उसी प्रकार स्थिरताके भीतर ईषत् चाञ्चल्यका उदय होते ही विश्वप्रकाशिका महाशक्तिके गर्भतलसे मानो अहं-बोध फूट उठता है। यह अहं-बोध ही हिरण्यगर्भ है और यही विश्वका जनिता और विधाता है—"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे विश्वस्य बीजं पतिरेक आसीत्।" इस अहं-बोधके साथ-साथ ही अनन्त कोटि जीव और ब्रह्माण्ड फूट उठते हैं। यही अहंका ब्रह्माण्ड-रूपमें स्फुरण या सृष्टि है। फिर सृष्टिके लयोन्मुख होनेपर अनन्त ब्रह्माण्ड इस अहं-मात्ररूपमें पर्यवसित होकर, जो अनेक था वह एक हो जाता है। इसीलिए वस्तुतः अनेक नहीं है, एक आत्मसत्ता ही है। यह 'अहं' ही नामरूपमय अनन्त स्फुरणका मध्यविन्दु है। इसीसे वह "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च" है। इस 'अहं' को जान लेनेपर जाननेका अन्त हो जाता है। तब वह एक होकर भी कैसे 'सर्वतः पाणिपादन्तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं' हो रहा है, समझमें आ जाता है॥१३॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥१४॥

अन्वय—[वह] सर्वेन्द्रियगुणाभासं (सारी इन्द्रियोंके धर्मोंके आभाससे युक्त) सर्वेन्द्रियविवर्जितं (तथा सारी इन्द्रियोंसे वर्जित) असक्तं (निरवयवत्वके कारण सबके साथ संयोग-सम्बन्धसे शून्य अतएव असङ्ग) सर्वभृत् (तथापि सबके आधारभूत) निर्गुणं गुणभोक्तृ च (तथा स्वयं गुणहीन होकर भी सत्त्वादि गुणोंका पालक हैं)॥१४॥

श्रीधर—किञ्च—सर्वेन्द्रियेति। सर्वेषां चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां गुणेषु रूपाद्याकारासु वृत्तिषु तत्तदाकारेण भासत इति तथा। सर्वेन्द्रियाणि गुणांश्च तत्तद्विषयान् आभासयतीति वा सर्वैः इन्द्रियैः विवर्जितं च। तथा च श्रुतिः—अपाणिपादो जवनोग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणो-

त्यकर्णः इत्यादि। असक्तं संगशून्यम्। तथापि सर्वं बिभर्त्तीति सर्वभृत्। सर्वस्य आधारभूतम्। तदेव निर्गुणं—सत्त्वादिगुणरहितम्। गुणभोक्तृ च—गुणानां सत्त्वादीनां भोक्तृ पालकम्॥१४॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—चक्षु आदि इन्द्रियोंके गुणोंमें अर्थात् उनकी दर्शन-श्रवणादि वृत्तियोंमें तत्तत् रूपाकारमें वही आभासमान होता है। सर्वेन्द्रियाँ और उनके गुणसमूह यानी विषयोंको वह प्रकाशित करता है तथापि वह सारी इन्द्रियोंसे वर्जित है। श्रुतिमें लिखा है—'वह ब्रह्म पादशून्य होने पर भी गमनशील है, पाणिशून्य होनेपर भी ग्रहण करता है, चक्षु न रहने पर भी देखता है और कर्णहीन होने पर भी श्रवण करता है इत्यादि। ब्रह्म सङ्गशून्य होने पर भी सर्वभृत् है अर्थात् सबका भरण करता है क्योंकि वह सबका आधार है। वह सत्त्वादि-गुणोंसे रहित होकर भी गुणभोक्ता है अर्थात् सत्त्वादिगुणोंका पालक है॥१४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब इन्द्रियोंके गुणोंका प्रकाश-स्वरूप—जैसे चक्षुकी दृष्टि, कर्णका शब्द, नासिकाका घ्राण, जिह्वाका स्वाद, त्वचाका स्पर्श, इन सब गुणोंमें वह है यही उनका रूप है—इसका अनुभव योगियोंको एक एक करके अभ्यास द्वारा गुरुवाक्यसे प्राप्त होता है। जिसके द्वारा देखा, सुना, सूँघा, खाया, स्पर्श किया उससे वर्जित—विशेष रूपसे अर्थात् किसी वस्तुसे आसक्तिपूर्वक दृष्टि न करे—वह सबका ही भरण-पोषण करता है अर्थात् अपना खाना आप खाता है, खिलाता भी वही है और खाता भी वही है—आसक्तिपूर्वक गुणोंसे वर्जित है अर्थात् जो त्रिगुणातीत अवस्था जो वायु स्थिर होने पर होती है; तथा वह सब गुणोंका भोक्ता है। —इन्द्रियाँ ज्ञानके द्वारस्वरूप हैं। अपने आप किसी वस्तुके समझनेकी शक्ति उनमें नहीं है। शरीरमें आत्माके रहने पर ही इन्द्रियोंको विषयोंका ज्ञान होता है। उसके अवस्थानके कारण इन्द्रिय-संयुक्त देह मानो उसका स्वरूप ही जान पड़ती है। ये स्वयं चेतन पदार्थ नहीं हैं, परन्तु चैतन्य वस्तुके आधार-स्वरूप हैं। एक सर्वव्यापी ज्ञान ही पृथक्-पृथक् इन्द्रियद्वारसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि रूपमें अनुभूत होता है। इन्द्रियाँ इन ज्ञानोंको आत्माके बिना प्रकट नहीं कर सकतीं, इसीसे आत्मा गुणविवर्जित होकर भी गुणमय है। यह शङ्का हो सकती है कि परमात्मा जब इन्द्रिय-विवर्जित है तो हमारी बात, हमारी प्रार्थना वह कैसे सुनेगा। यह शङ्का करनेकी आवश्य-कता नहीं है। इन्द्रियविवर्जित होनेपर भी श्रवण-दर्शन आदिमें उसे कोई बाधा नहीं पड़ती। उसकी अपूर्व शक्तिको बाहरसे समझनेका कोई उपाय नहीं है। परन्तु साधनद्वारा वायु कुछ स्थिर होनेपर योगी लोग उसकी इस अपरूप अति अद्भुत् शक्तिका आभास पाते हैं और तभी समझमें आ सकता है कि वह गुणातीत होकर भी कैसे गुण-भोक्ता होता है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राणके द्वारा जो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धका अनुभव होता है वह आत्मशक्तिसे पृथक् कोई शक्ति नहीं है। कुछ नहीं है तथापि सब कुछ है। इस सर्वके ऊपर आधिपत्य करनेके कारण उनका नाम 'इन्द्र' अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है। वही देवराज हैं अर्थात् सब देवता उनके भीतर रहते हैं। एक मात्र वही हैं, फिर भी वह देव आदि नाना रूपोंमें प्रकाशित हो रहे हैं। जो कूटस्थमें सदा लक्ष्य रखता है वह बहुत देर तक कूटस्थमें रहते-रहते सब कुछ देखने लगता

है। 'तमसः परस्तात्'—पहले मयूर-पुच्छके समान चारों ओर ज्योति होती है। उसके बाद तमः अर्थात् शून्यमें कृष्णवर्ण गोलाकार दीख पड़ता है। उसके आगे उत्तम पुरुष है जिनको सारे ऋषि, मुनि, योगी और देवता एकटकसे देखते हैं। जब कुछ नहीं रहता तब वह महाशून्य है और जब यह जगत् व्यक्त होता है तब वह जगन्नाथ हैं। उनके भीतर ही सारे लोक हैं। वही भर्त्ता, भोक्ता, महेश्वर और सर्वव्यापक हैं। इस कूटस्थरूपी चक्षुको जो नहीं देख पाता वह अन्धा है। वह अज्ञानसे आवृत होकर केवल 'मेरा-मेरा' कहकर मुग्ध हो रहा है। इस मोहसे उद्धार पानेका एक मात्र उपाय क्रिया ही है। क्रियाके द्वारा ही जगन्नाथका दर्शन मिलता है। पश्चात् उसमें लीन होकर उसका स्पर्श करता है। फिर क्रियाकी परावस्थामें मग्न होकर अमृत-पान करके अमर पद या ब्रह्मपद प्राप्त करता है और "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" हो जाता है। इस शरीरमें जो कूटस्थ है उसके परे उत्तम पुरुष है जो आकाश परव्योम-स्वरूप है। वह सर्वव्यापक है अतएव 'मैं' भी उसके ही भीतर है। जब 'मैं' नहीं रहता तो 'मैं' कहने वाला भी कोई नहीं रह जाता। सब एक ब्रह्म है। तब कोई इच्छा नहीं होती। तब भोज्य, भोजन और भोक्ता सब एक होते हैं। यही इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाकी अतीतावस्था है। प्राणायामके द्वारा वायु स्थिर होने पर यह अवस्था अपने आप उदित होती है ॥१४॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

अन्वय—तत् (वह) भूतानां (सब भूतोंके) बहिरन्तश्च (बाहर और भीतर है) अचरं चरं एव च (स्थावर और जङ्गम भी वही है) सूक्ष्मत्वात् (सूक्ष्म होनेके कारण) अविज्ञेयं (जाना नहीं जाता) तत् (वह) दूरस्थं अन्तिके च (वह दूरस्थ और निकटस्थ है) ॥१५॥

श्रीधर—किञ्च—बहिरिति। भूतानां चराचराणां स्वकार्याणां बहिश्च अन्तश्च तदेव सुवर्णमिव कटककुण्डलादीनाम्। जलतरङ्गाणाम् अन्तर्बहिः जलमिव। अचरं स्थावरं चरं च जङ्गमं च भूतजातं तदेव, कारणात्मकत्वात् कार्यस्य। एवमपि सूक्ष्मत्वात् रूपादिहीनत्वात् तत् अविज्ञेयं—इदं तदिति स्पष्टज्ञानार्हं न भवति। अतएव अविदुषां योजनलक्षान्तरितं इव दूरस्थञ्च। सविकारायाः प्रकृतेः परत्वात्। विदुषां पुनः प्रत्यगात्मत्वात् अन्तिके च तत् नित्य-सन्निहितम्। तथा च मन्त्रः—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

इति। एजति—चलति, नैजति न चलति; तत् उ अन्तिके इति छेदः ॥१५॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—कटक-कुण्डलादि अलङ्कारके भीतर और बाहर जिस प्रकार सुवर्ण होता है, जलतरङ्गके भीतर और बाहर जैसे जल होता है, उसी प्रकार वह भी अपने सृष्ट चराचर भूतोंके भीतर और बाहर अवस्थान करता है।

सारे कार्य कारणात्मक हैं। इस प्रकारका होते हुए भी वह सूक्ष्मत्वके कारण अर्थात् रूपादि-विहीन होनेके कारण अविज्ञेय है अर्थात् स्पष्ट ज्ञानके अयोग्य है। वह अविद्वान्के लिए लाख योजनके अन्तरके समान दूरस्थ है क्योंकि वह सविकारा प्रकृतिके परे अर्थात् अतीत है। विद्वानोंके सामने वह प्रत्यगात्मा है, अतः उनके लिए वह नित्य सन्निहित है। इस सम्बन्धमें ईश-श्रुति कहती है—वह गमन करता है और गमन नहीं करता, वह दूर है, वह निकट है, वह परिदृश्यमान् समस्त जगत्के भीतर अवस्थित है और उसके बाहर भी विद्यमान है॥१५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—समस्त भूतोंके बाहर और भीतर जिसको क्रियाशील पुरुष देखते हैं—अचर और चरमें—जो ब्रह्मज्ञानसे निरावरण हो जाता है अतएव सब देख पाते हैं—घरके भीतर और बाहर। अत्यन्त सूक्ष्म, ब्रह्मका अणु सूक्ष्म है। अतएव विशेषरूपसे नहीं जाना जाता—तुम दूर भी हो और भीतर भी हो।—वह सब वस्तुओंके बाहर है और भीतर भी है। यह बाह्य और अन्तर भाव शरीरको लेकर होता है, अन्यथा बाह्य और अन्तर नामकी कोई वस्तु नहीं है। परन्तु जबतक देहेन्द्रियका ज्ञान रहता है तबतक ये दोनों भाव रहेंगे ही। एक तो व्यक्त अर्थात् इन्द्रियगम्य है और दूसरा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियोंके अगोचर है। जबतक प्रकृत ज्ञान नहीं होता तबतक व्यक्त और अव्यक्त दोनों अवस्थाएँ रहती हैं। अव्यक्त अवस्था इन्द्रिय-गोचर नहीं है, इसी कारण प्रत्यक्ष-गोचर नहीं होती। जब क्रियाकी परावस्थामें भीतर-बाहर एक हो जाता है, तब बाहर और भीतर कुछ भी नहीं रहता। यह भीतर-बाहर जिसका एक हो जाता है वही ज्ञानी या मुक्त पुरुष है। ज्ञानियोंकी भी इन्द्रियाँ होती हैं और उनके कार्य भी होते हैं, परन्तु विषय कभी उनको विमुग्ध नहीं कर पाते। वे अनन्त अनैक्यके भीतर एक ऐक्यको देख पाते हैं अतएव उनका जगत् या नानात्वका बोध लुप्त हो जाता है। इसलिए उनके सामने स्थावर-जङ्गम नामकी किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं रहता, एकमात्र ब्रह्म ही विद्यमान रहता है। उस ब्रह्म-वस्तुमें हमारा अविवेकी मन संसारकी कल्पना उसी प्रकार करता है जैसे बालक अन्धकारमें भूत की कल्पना करता है। मनके चञ्चल होने पर ही बहिर्दृष्टि होती है। बहिर्दृष्टि होने पर जैसे रज्जुमें सर्प-भ्रम होता है उसी प्रकार ब्रह्ममें संसार-बोध होने लगता है। रज्जुमें सर्पबोधके समय भी रज्जु रज्जु ही रहती है। इसी प्रकार ब्रह्ममें संसार-बोध होने पर भी ब्रह्म ब्रह्म ही रहता है, कभी संसार नहीं बनता। तथापि यह जगत्प्रपञ्च हमारे नित्य बोधका विषय बना रहता है, इस बोधका निरोध जब तक नहीं होता तबतक जगद्-दृष्टि रुद्ध न होगी। इसलिए हमको साधनाभ्यासके लिए प्रयत्न करना चाहिए। स्थूल जागतिक पदार्थोंका हम इन्द्रियोंके द्वारा अनुभव करते हैं, परन्तु ब्रह्म पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म है अतएव वह इन्द्रियज्ञानके अतीत है। वह सत्ता मात्र है, अतएव भीतर-बाहरके नाम पर जो कुछ प्रतिभात होता है वह ब्रह्मातिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। भीतर जो प्रकाश है, बाहर भी उसीका प्रकाश है। अज्ञानवश जो नाम-रूपमय बाह्य वस्तु-सा बोध होता है, उसका भी द्रष्टा वह ब्रह्म ही है। उसने बाह्य वस्तुका अनुभव करनेके लिए मानो बाह्य इन्द्रियोंकी कल्पना की है। बाह्य इन्द्रियोंकी समष्टि ही यह जीव-शरीर है। इन्द्रियग्राह्य वस्तुओंका ज्ञाता स्वयं जीव है।

जीव-चैतन्य ब्रह्म ही है, अतएव ब्रह्म सर्वत्र है, इसी कारण भीतर-बाहरका प्रश्न ही नहीं उठ सकता। ब्रह्मज्ञान होने पर यह भीतर-बाहरका झमेला मिट जाता है। जो एक सूक्ष्म काल्पनिक आवरण है वह भी तब नहीं रहता। अतएव योगी तब दूर-निकटका सब कुछ देख पाता है। निकटकी बात तो सुनता ही है, बहुत दूरकी बात भी उसके श्रवण-गोचर हो जाती है। सामने, पीछे, दूर, निकट, ऊपर, नीचे समस्त वस्तुओंको समभावमें ही देख पाता है। ब्रह्माणु बड़ा ही सूक्ष्म होता है, मन अत्यन्त सूक्ष्म न हुआ तो वह ब्रह्माणुके भीतर प्रवेश नहीं कर सकता। जो ब्रह्माणुके भीतर प्रविष्ट होता है उसके लिए दूर और निकट कुछ भी नहीं है, क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापक है। इस अवस्थाको ही विष्णुभाव कहते हैं। विष्णु जैसे सबके भीतर प्रविष्ट रहते हैं, इस अवस्थाको प्राप्त योगी भी उसी प्रकार सबके भीतर रहता है।

क्रियाकी परावस्थामें जो स्थिति है वही विष्णुस्वरूप है, वही शून्यस्वरूप कारण-वारि है। यह मायाके वशीभूत होकर चञ्चल होता है। इस चञ्चल भावके स्थिर होने पर ही साधक शुचि अर्थात् पवित्र होता है। सद्भाव ही ब्रह्मभाव है, वह नित्य विद्यमान है, उस समय 'मैं' नहीं रहता और मेरा भी नहीं रहता, अतएव जगदादिका प्रकाश भी नहीं होता। जभी चाञ्चल्य होता है तभी जगद्रूप या बहु रूप प्रकाशित होते हैं, यह बहुत्व ही मायिक भाव या असत् है।

क्रिया करते-करते जबतक क्रियाकी परावस्था परिपक्व नहीं होती तबतक बहुत्वका विलोप नहीं होता। अतएव क्रियाकी परावस्थामें जो स्थिति होती है उससे ब्रह्मके एक और अद्वितीय होनेका ध्रुव विश्वास उत्पन्न होता है। तब चन्द्रके समान ज्योत्स्ना सदा दीख पड़ती है, सर्वदा स्थितिपद अनुभूत होता है, वही विष्णुका परम पद है। सुषुम्नामें सूक्ष्म वायु सदा बहती रहती है, प्रत्यूषके समान एक प्रकाशका अनुभव होता है, उस प्रकाशकी सहायतासे सब कुछ दीख पड़ता है। जो लोग क्रिया करके क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त होते हैं, वे लोग पहले तृतीय नेत्र कूटस्थमें रहकर शिवरूप हो जाते हैं। वह कूटस्थ स्थिर होने पर विष्णुरूप हो जाता है। जो लोग साधनमें प्रयत्न और चेष्टा करते हैं, वे सभी इस अवस्थाको प्राप्त हो सकते हैं। बाहरके सामान्य क्लेशको सहकर क्रिया करने पर मूलाधारमें कुलकुण्डलिनी जाग्रत होती है। तब हृदयस्थ कामादि समूल उत्पाटित होते हैं। तब योगी सब प्रकारकी इच्छाओंसे मुक्त हो जाता है।

एकमात्र ब्रह्मवस्तु ही मनके मननके द्वारा स्थावर-जङ्गम आदि रूपमें प्रकाशित होती है, मनके न रहने पर कोई वस्तु नहीं रहती। इसलिए सबसे पहले मनोनाशकी चेष्टा करनी चाहिए। क्रियाके द्वारा मन जब तनुताको प्राप्त होता है तो कल्पना क्षीण हो जाती है, कल्पनाके क्षीण होने पर मनके साथ सारी वस्तुएँ विलयको प्राप्त होती हैं। तब सारी वस्तुएँ आत्माके साथ मिलकर एक हो जाती हैं और तब इन्द्रिय और इन्द्रिय-ज्ञान न रहनेके कारण आत्मा अविज्ञेय-रूपमें अनुमित होता है॥ १५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज् ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

अन्वय—भूतेषु (सब भूतोंमें) अविभक्तं च (अविभक्त होकर भी) विभक्तं इव (मानो विभक्त होकर) स्थितम् (प्रतीत होता है) [उसको] भूतभर्तृ (भूतोंका पालनकर्त्ता) च ग्रसिष्णु (ग्रासकर्त्ता या संहर्त्ता) प्रभविष्णु च (उत्पादन-कर्त्ता) तत् ज्ञेयम् (उसको जानो) ॥ १६ ॥

श्रीधर—किञ्च—अविभक्तमिति । भूतेषु स्थावरजङ्गमात्मकेषु अविभक्तं कारणात्मना अभिन्नं कार्यात्मना विभक्तं भिन्नमिव अवस्थितं च । समुद्रात् जातं फेनादि समुद्रात् अन्यत् न भवति । तत् पूर्वोक्तं स्वरूपं च ज्ञेयम् । भूतानां भर्तृ च—पोषकं स्थितिकाले, प्रलयकाले ग्रसिष्णु—ग्रसनशीलं, सृष्टिकाले च प्रभविष्णु -नानाकार्यात्मना प्रभवनशीलम् ॥ १६ ॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—सब भूतोंमें अर्थात् स्थावर-जङ्गमात्मक भूतोंमें अविभक्त अर्थात् कारणरूपमें अभिन्न है, परन्तु कार्यरूपमें विभक्त अर्थात् भिन्नभावमें अवस्थित है, जैसे समुद्रसे उत्पन्न फेनादि समुद्रसे भिन्न नहीं है । [फेन समूहका कारण समुद्र है, उस कारणमें कोई भेद नहीं है, परन्तु फेनरूप कार्यमें जैसे वह भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रतीयमान होता है उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ और परब्रह्ममें भेदकी सम्भावना नहीं है] पूर्वोक्त स्वरूप ब्रह्म ही ज्ञेय है, वही स्थितिकालमें भूतोंका पोषक, प्रलयकालमें ग्रसनशील अर्थात् ग्रासकारी तथा सृष्टिकालमें प्रभविष्णु अर्थात् नाना कार्यरूपमें उत्पन्न होता है ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब भूतोंमें तथा वस्तुओंमें एक ही वस्तु ब्रह्म रहता है—और पृथक् पृथक् भी रहता है—हो रहे हैं वही—भरणकर्ता भी वही हैं—नाशकर्त्ता भी वही हैं, सृष्टिकर्त्ता भी वही हैं ।—ब्रह्मवस्तु एक है । उसका कोई द्वितीय न होनेके कारण वह विभक्त कैसे हो सकता है ? भिन्न-भिन्न काष्ठखण्डमें जैसे अग्नि रहती है, एक होते हुए भी जैसे वह विभिन्न काष्ठोंमें भिन्नवत् जान पड़ती है, उसी प्रकार परमात्मा वस्तुत: एक होने पर भी भिन्न-भिन्न देहोंमें विभिन्नवत् प्रतीयमान होता है । यद्यपि परमात्मा सर्वत्र ही समभावमें विद्यमान है, परन्तु पृथक्-पृथक् घटमें भिन्न-भिन्न आकाशवत्, विभिन्न देहरूप घटमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें अभिव्यक्त होने पर भी परमात्मा वस्तुत: भिन्न नहीं है । पृथक्-पृथक् घट आकाशकी उपाधि-मात्र है । अतएव जबतक देहघट-रूप उपाधि है तबतक आत्माकी उत्पत्ति और विनाश न रहने पर भी घटकी उत्पत्ति और लयके साथ उसकी उत्पत्ति और लय कल्पित होता है । वस्तुत: उत्पत्ति, स्थिति और लयादिके न रहने पर भी इस प्रकार कल्पित उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारणरूपमें वह कल्पित होता है ।

वह परमा-स्थिति-रूप ब्रह्म ही क्षेत्रज्ञ-रूपमें चञ्चल होता है, तब उसकी उपाधि होती है प्राण । क्षेत्रज्ञ जब चञ्चल प्राणका आकार धारण करता है तभी जन्म, मरण और स्थिति, ये तीन भाव उत्पन्न होते हैं । परन्तु चाञ्चल्य और स्थिरता एक ही

वस्तुकी दो दिशाएँ मात्र हैं। स्थिरत्वको छोड़कर चाञ्चल्य रह नहीं सकता और स्थिरत्वके रहे बिना चाञ्चल्य आयेगा कहाँसे? क्रियाकी परावस्थामें जिस स्थितिका अनुभव होता है वह अव्यक्त है क्योंकि वह इन्द्रियोंके अगोचर है। वही स्थिति इन्द्रिय-गोचर होकर चञ्चल या व्यक्त होती है। अव्यक्त अवस्थाके साथ योग छिन्न करके व्यक्तावस्था प्रकाशित नहीं हो सकती। इससे समझा जा सकता है कि चञ्चल भाव भी उस अचञ्चल भावके साथ योग-युक्त होकर रहता है। इसीसे दुर्गासप्तशतीमें कहा गया है कि ज्ञानमयी त्रियामूर्त्ति जिसकी है, मोहमय अविद्या-भाव भी उसीका है। क्रियाकी परावस्थामें जो आकर्षण होता है, क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें भी वही आकर्षण होता है। विक्षेपयुक्त संसार-भावमें भी वही आकर्षण होता है, वही जीते रहनेकी इच्छा, सब वस्तुओंको अपना लेनेके लिए ऐकान्तिक लालसा—ये सब इसको प्रमाणित करते हैं कि वह एकमात्र स्थितिपद ही परम सत्य है। इस सत्ताकी ओर आकर्षण ही जीवका जीवन है।

आत्माके अस्तित्वमें ही जगत् और जीवका अस्तित्व है। जबतक हमारा 'मैं' रहेगा, तबतक इस विश्वको तथा इसके कर्त्ता भगवान्को जाननेकी तथा उस ओर जानेकी इच्छा विद्यमान रहेगी। परन्तु यह 'मैं' और 'विश्वज्ञान' लुप्त हुए बिना नानात्व न जायगा, अतः अज्ञान भी नष्ट न होगा। सुषुप्ति-अवस्थामें सारे विषयादि जिस प्रकार स्वकारण अज्ञानमें विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार क्रियाकी परावस्थामें 'मैं' नहीं रहता, 'विश्व' नहीं रहता तथा विश्वका रचयिता भी नहीं रहता। अहं, विश्व और कर्त्ता भगवान् सब एक होकर चिन्मात्र-रूपमें अवस्थित होते हैं अर्थात् सब कुछ ब्रह्म-सागरमें निमज्जित होकर अपने-अपने पृथक्त्वको लुप्त करके एक हो जाते हैं। तब यह प्रमाणित होता है कि वह विशुद्ध सद्भाव ही शुद्ध चैतन्य है जो एक, अखण्ड, द्वैत-विवर्जित, देश-कालातीत वस्तु है। जबतक द्वैतभाव रहेगा तबतक अज्ञान रहेगा ही तथा इस अज्ञानके रहते दृश्य प्रपञ्च विलीन न होगा। आत्मा एक अखण्ड सत्तामात्र है, अविद्याके वश उसमें नानात्व कल्पित होता है, अतएव वह नानात्व असत् पदार्थके सिवा और कुछ नहीं हो सकता। यदि नानात्व मनकी कल्पना-मात्र है तो दृश्य भाव भी कल्पनाके सिवा और कुछ नहीं है और दृश्यके अभावमें आत्माका द्रष्टा-रूपमें जो सम्बन्ध है वह भी सत्य नहीं है। समस्त असत्यका निरसन होने पर जो रहता है वही शुद्ध चैतन्य या ब्रह्मभाव है जो क्रियाकी परावस्थामें अनुभूत होता है। यह ज्ञान त्रिकालमें विद्यमान रहता है। कालके अस्तित्वसे ही ज्ञेय वस्तुका नानात्व परिदृष्ट होता है। तभी सृजन, पालन और संहारकी लीला चलती रहती है। किन्तु यह सत्य नहीं है। ब्रह्ममें समस्त खण्ड कालके कलित अर्थात् वशीभूत होनेके कारण ब्रह्मको महाकाल या महाकाली कहते हैं। वस्तुतः उस ब्रह्म-स्वरूपमें कालकी कल्पना नहीं होती, क्योंकि वहाँ घटना नहीं होती और घटनाओंकी परम्परा न होनेके कारण काल नामका कुछ नहीं रहता।

ब्रह्म एक और अद्वितीय होते हुए भी जब चञ्चल होकर दृश्य प्रपञ्चको व्यक्त करता है तो उसमें सात प्रकारकी भङ्गिमा होती है—(१) स्थिर, (२) चञ्चल, (३) स्थिरमें

स्थिति, (४) चञ्चलमें स्थिति, (५) है, (६) और नहीं भी है, (७) जो है वह अव्यक्त है। ब्रह्मकी ये सात अवस्थाएँ हैं। क्रियाकी परावस्थामें सारी वस्तुएँ एक होकर ब्रह्म हो जाती हैं—वही स्थिर भाव है, वही परव्योम है। कूटस्थके भीतर तथा बाहर जगत्में जो नानात्व और बहु रूप देखे जाते हैं, वह सब परव्योमके ही रूप हैं—यही चञ्चल भाव या सृष्टि है। स्थिरत्वमें भी स्थिति रहती है और चञ्चत्वमें भी स्थिति रहती है, अन्यथा चञ्चल अवस्था प्रकाशित न हो सकती। है और नहीं है अर्थात् जो व्यक्त या चञ्चल भाव है उसका पृथक् भावमें अस्तित्व नहीं है। स्थिरत्वके कारण ही उसको अस्तित्ववान् रूपमें स्वीकार करते हैं। जो वास्तविक 'अस्ति'का विषय है वह चिन्मात्र है। वह व्यक्त मन-बुद्धि-इन्द्रियादिके गोचर नहीं है।

इस प्रकार नाना भावोंमें ब्रह्म कभी सृष्टि कर रहा है, कभी पालन कर रहा है और कभी ग्रास कर रहा है—यह केवल कहनेकी भङ्गिमा-मात्र है। योगवासिष्ठमें लिखा है—'जबतक अपने आपमें नहीं रहता, तबतक मृत्यु रूपमें वह हनन करता है, पालकरूपमें रक्षा करता है, स्तावक रूपमें स्तवन करता है, विपन्नको विपदसे उद्धार करता है, और फल लाभकी इच्छा करनेवालेको वाञ्छित फल प्रदान करता है।।१६।।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।१७।।

अन्वय—तत् (वह) ज्योतिषां अपि ज्योतिः (सूर्यादि ज्योतिष्कोंकी भी ज्योति) तमसः परं (तमःशक्ति या अविद्या-अन्धकारके अतीत या असंस्पृष्ट) उच्यते (कहा जाता है) [वह] ज्ञानं, ज्ञेयं (ज्ञान और ज्ञेय) ज्ञानगम्यं (अमानित्वादि साधनोंसे प्राप्य) सर्वस्य (सबके) हृदि विष्ठितम् (हृदयमें अवस्थित है)।।१७।।

श्रीधर—किञ्च—ज्योतिषामपि इति। ज्योतिषां सूर्यादीनामपि तत् ज्योतिः प्रकाशकं, "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः", "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"—इत्यादि श्रुतेः। अतएव तमसोऽज्ञानात् परं तेन असंस्पृष्टम् उच्यते, "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्"—इत्यादि श्रुतेः। ज्ञानञ्च तदेव बुद्धिवृत्तौ अभिव्यक्तम्। तदेव रूपाद्याकारेण ज्ञेयं च ज्ञानगम्यं च। अमानित्वादि-लक्षणेन पूर्वोक्त-ज्ञान-साधनेन प्राप्यमित्यर्थः। ज्ञानगम्यं विशिनष्टि—सर्वस्य प्राणिमात्रस्य हृदि विष्ठितम्—विशेषेण अप्रच्युतस्वरूपेण नियन्तृतया स्थितम्। धिष्ठितमिति पाठे अधिष्ठाय स्थितमित्यर्थः।।१७।।

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—सूर्यादि ज्योतिष्कोंकी भी वह ज्योति अर्थात् प्रकाशक है। श्रुति कहती है—"वह तेज-युक्त होकर सूर्यको तपाता है"। [परमात्मा स्वयं प्रकाशस्वरूप है यह बतलाते हैं]—"उस ब्रह्म-सत्तामें सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्र और नक्षत्र-समूह वहाँ भासमान नहीं हैं तथा विद्युत्-समूह भी वहाँ प्रकाशित नहीं होते, फिर यह अग्नि वहाँ कहाँ? प्रकाशमान आत्माको अवलम्बन करके ही अर्थात् उसीके प्रकाशसे सूर्यादि समस्त स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् दीप्ति पा रहे हैं।" अतएव वह तमः-अज्ञानसे

परे है अर्थात् अज्ञान द्वारा ब्रह्म असंस्पृष्ट है। श्रुतिमें लिखा है कि वह आदित्यवर्णा है और तमके अतीत है। वही ज्ञान है, बुद्धिवृत्तिमें अभिव्यक्त रूपादि आकारमें ज्ञेय वही है और वही ज्ञानगम्य है अर्थात् अमानित्वादि पूर्वोक्त ज्ञान-साधनोंके द्वारा प्राप्य है। ज्ञानगम्य कैसे है, यही विशेषरूपसे बतला रहे हैं—सब प्राणियोंके हृदयमें विष्ठित है—विशेषरूपसे स्थित है अर्थात् अप्रच्युत नियन्ता भावमें स्थित है। 'धिष्ठित' इस प्रकारका पाठ होनेपर 'अधिष्ठानपूर्वक है', ऐसा अर्थ होगा ॥१७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब ज्योतियोंकी ज्योति है अर्थात् उसके समान दूसरी ज्योति नहीं है—उसके परे अन्धकार है, ब्रह्म कूटस्थ-स्वरूप है; इसीका नाम ज्ञान है, यही ज्ञेय वस्तु है—यही जाननेपर जाना जाता है—सबके हृदयमें स्थिर होकर है।—ज्ञेय वस्तु ब्रह्म है, वह स्थिररूप है, वहाँ कोई चाञ्चल्य नहीं है, हृदयके भीतर वह स्थिर भाव अनुभूत होता है, इस स्थिरताका अनुभव कर सकनेपर और सब कुछ अनुभूत होता है। पहले बृहत् ज्योति, उसके भीतर अन्धकार अर्थात् कृष्णवर्ण कूटस्थ है। कूटस्थमें नक्षत्र तथा उसके भीतर गुहा है, उस गुहाके भीतर बुद्धि स्थिर होती है। हृदयकी वायुको स्थिर कर सकनेपर जीव वहाँ स्थिर हो जाता है। गुरुवाक्यगम्य साधनाको जानकर साधन कर सकनेपर परमात्माका प्रत्यक्ष दर्शन होता है। उस शुभ्र ज्योतिकी ज्योतिको ही आत्मज्ञानी आत्मा कहते हैं। वही ज्ञेय है। उत्तमरूपसे प्राणायाम करने पर प्राण सुषुम्नामें जाता है, वहाँ जानेपर अग्निकी अपेक्षा भी प्रज्वलित ज्योति-स्वरूप कूटस्थ दीख पड़ता है। इसलिए वह ज्ञानगम्य है। वह गायत्री छन्दरूपा चतुर्थ पाद ब्रह्म है। यहाँ पहुँचने पर सब बन्धनोंसे मुक्ति मिल जाती है और श्वेतद्वीप-निवासी उत्तम पुरुषमें जीव लीन हो जाता है। पश्चात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म सर्वव्यापी परमात्म-पुरुष दीख पड़ता है और उसको देखते-देखते साधक तद्रूप हो जाता है। क्रियाके अभ्यासके द्वारा इच्छा-रहित होनेपर ब्रह्मपद प्रकाशित होता है। ईशोपनिषद्में लिखा है—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य
व्यूह रश्मीन् समूह तेजो।
यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥

पूषन् (हे जगत्पोषक सूर्य—क्योंकि प्राणरूप सूर्यके बिना जगत् नहीं रहता) एकर्षे (एकाकी गमनशील—मन जब आत्ममुखी होता है तो उसकी बहुमुखी चिन्ता नहीं रहती, एक आत्माकारा वृत्ति हो जाती है) यम (संयमकारिन्—उस समय बहिर्वृत्ति संयत होती है) सूर्य [रथीनां प्राणानां रसानाञ्च स्वीकरणात् सूर्य (शङ्कर)—प्राणशक्ति जब देह और इन्द्रियोंमें रहती है तो बाह्य वस्तुओंके रसका ग्रहण अर्थात् बोध होता है। साधनके प्रभावसे जब सर्वत्र विखरित प्राणशक्ति मस्तकमें लायी जाती है तब सूर्य-स्वरूप प्रकाश साधकको दृष्टिगोचर होता है]। प्राजापत्य (प्रजापतिका अपत्य—प्रजापति कौन है ? जो सर्वेश्वर शासनकर्त्ता है, 'एष सर्वेश्वर एष

सर्वज्ञः (मराडुक्य)—उस सर्वेश्वर आदि पुरुषसे जो उत्पन्न है वही प्रकाश-स्वरूप तैजसरूप द्वितीय पाद है, वही अन्तःप्रज्ञ 'तैजसः द्वितीयः पादः' है, वह मनोग्राह्य विषयोंका ज्ञाता है, वह तेजोमय है। उसीको उद्देश्य करके कहा जाता है—'व्यूह'—स्वान् रश्मीन् विगमय (शङ्कर) अर्थात् अपनी रश्मियोंको अपसारित करो, अन्यथा उसके किरणोद्भासित वाह्य वस्तुमें आत्मबुद्धि नष्ट न होगी। तेजः समूह—तेजको सङ्कुचित करो। कूटस्थके बाहर जो तेज पहले देखा जाता है उसको भी भेद करके जाना होगा। उसके बाद 'यत् ते रूपं कल्याणतमं' जो रूप अतिशय सुन्दर है, सूर्यके समान प्रकाशशील है तथापि कोटि चन्द्रसा सुशीतल है, ते तत् पश्यामि—तुम्हारे प्रसादसे मैं उसे देख सकूँ। क्योंकि प्राणायामके द्वारा प्राणके स्थिर होनेपर उसकी प्रसन्नता समझी जाती है। यही आत्माका आनन्दमय या स्निग्ध ज्योतिर्मय स्वरूप है। यः असौ पुरुषः—जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंका साक्षी-स्वरूप जो आदित्य-मण्डलस्थ पुरुष है—पुरुषाकारत्वात्— पुरुषके समान जिसकी आकृति है अर्थात् कूटस्थमण्डलके भीतर पुरुषोत्तम नरनारायण-शरीर है, सोऽहमस्मि—मैं उसका स्वरूप हूँ अर्थात् मैं ही वह हूँ।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः ॥ मुण्डक।

स्वर्णके समान एक ज्योति है, उसके परे ब्रह्मका रूप है, वह निष्कल ब्रह्म है अर्थात् रजोगुण-रहित है, वह स्थिर रहता है, गुरूपदेशके अनुसार चलने पर वह दीख पड़ता है। "एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयपुरुषो दृश्यते इत्यधिदैवतम्"—इस अन्तरादित्य कूटस्थमें हिरण्मय पुरुष है। चतुर्दिक सोनेके समान प्रकाश है, उसके भीतर पुरुष है, उसको भलीभाँति क्रिया करनेवाले साधक देखते हैं। उसको ही 'अधिदैवत' पुरुष कहते हैं। वह पुरुष ही सर्वव्यापक ब्रह्म हो जाता है। निष्कल—जिसमें बाहरकी वायु बाहर ही रहती है, चक्षु भ्रूके बीच रहती है, प्राण और अपानको समान वायुमें अर्थात् नाभिदेशमें स्थिर रखना पड़ता है। तब वायु नासिकासे बाहर नहीं आती है, नासिकाके भीतर ही रहती है। सारी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि संयत होकर प्रशान्त हो जाती हैं, बात करनेकी इच्छा नहीं होती, इस अवस्थाको ही 'निष्कल' कहते हैं। यह अवस्था जिनको होती है, वे ही मोक्षपरायण मुनिके नामसे ख्यात होते हैं। तब मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सुषुम्नामें एक प्रकारके आकर्षणका अनुभव होता है, वही विष्णु-दैवत या द्वितीय मात्रा है। योनिमुद्रामें अधिक क्षण रहनेपर कृष्णावर्ण कूटस्थके भीतर सब देवताओंके साथ साक्षात्कार होता है, पुरुषोत्तम-रूपका दर्शन होता है, वही नित्य और पुराण पुरुष है अर्थात् वही वैष्णव पद है। तब लिङ्गमूलसे मस्तक पर्यन्त वायु स्थिर रहती है। ॐकार-क्रियाके द्वारा जब सब जाना जाता है तो वह ईशान या तृतीय पाद है। जो ईश्वर और अधिपति है, वह ब्रह्म सब भूतोंमें वर्तमान दीख पड़ता है। जब भस्मके समान रंग दीख पड़ता है तो उसीका नित्य ध्यान करते करते नाभिसे मस्तक पर्यन्त वायुका आकर्षण होता है। इस प्रकारकी ध्यानावस्थामें ईशान-पदकी प्राप्ति होती है। कूटस्थके भीतर जो बिन्दु है अथवा बाह्य बिन्दुमें

(जो चक्षुके सामने मानो दीख पड़ता है) जो रहता है वह अनिच्छाकी इच्छा है, यह बोधगम्य है, उसीकी महिमा है और उसीके द्वारा सब कुछ जाना जाता है। अर्द्धमात्रा—इसको चतुर्थ मात्रा कहते हैं। उस समय हृदयमें ब्रह्मकी स्थिति अनुभूत होती है, जहाँ समस्त देवताओंका तेजोमय रूप देखा जाता है, आकाशमें शुद्ध स्फटिकके समान वर्ण दीख पड़ता है, उसीका ध्यान करना पड़ता है। गगनमण्डलमें वही ध्यान नित्य करते-करते सहस्रदल-पद्म नामक निधि प्राप्त होती है। उसके द्वारा सर्वव्यापी आत्माके स्वरूपका बोध होता है, उसके परे और कुछ नहीं है। इस श्लोकमें ब्रह्मज्ञानके बादकी अवस्थाओंका क्रमशः वर्णन हुआ है ॥१७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयञ्चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

अन्वय—इति (इस प्रकारसे) क्षेत्रं (क्षेत्रको) तथा ज्ञानं ज्ञेयं च (ज्ञान और ज्ञेयको) समासतः (संक्षेपमें) उक्तं (कहा है)। मद्भक्तः (मेरा भजन करने-वाला) एतत् विज्ञाय (इसको जानकर) मद्भावाय उपपद्यते (मेरे भाव-प्राप्तिके योग्य होता है) ॥१८॥

श्रीधर—उक्तं क्षेत्रादिकं अधिकारिफलसहितं उपसंहरति—इतीति। इत्येवं क्षेत्रं महाभूतादि धृत्यन्तम्। तथा ज्ञानञ्च अमानित्वादि तत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तम्। ज्ञेयं च अनादिमत् परं ब्रह्मेत्यादि विष्ठितं इत्यन्तम्। वसिष्ठादिभिः विस्तरेणोक्तं सर्वमपि मया संक्षेपेण उक्तम्। एतच्च पूर्वाध्यायोक्तलक्षणो मद्भक्तो विज्ञाय मद्भावाय ब्रह्मत्वाय उपपद्यते—योग्यो भवति ॥ १८ ॥

अनुवाद—[उक्त क्षेत्रादिका अधिकारी और फलके साथ उपसंहार करते हैं]—इस प्रकार महाभूतादिसे धृतिपर्यन्त क्षेत्र, अमानित्वादिसे तत्त्वज्ञानार्थदर्शनपर्यन्त ज्ञान, और 'अनादिमत् परं ब्रह्म'से 'विष्ठितं'पर्यन्त ज्ञेय संक्षेपमें कहा गया। यह वसिष्ठादिके द्वारा भी विस्तारपूर्वक कहा गया है। पूर्वाध्यायमें कथित लक्षणोंसे युक्त भक्त इन सबको जानकर मेरे भाव अर्थात् ब्रह्मत्वकी प्राप्तिके योग्य हो जाते हैं ॥ १८ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यह शरीर तथा जाननेकी सारी वस्तुएँ मैंने कहीं—मेरा जो भक्त है अर्थात् जिसको गुरुवाक्यमें विश्वास है इसको जानकर क्रियाकी परावस्थामें रहकर अटका रहता है।—परब्रह्म अविज्ञात वस्तु है, वह ज्ञानेन्द्रियोंका विषय न होते हुए भी ज्ञातव्य है। उसको जाननेके लिए साधन करना पड़ता है, शास्त्रालोचना भी करनी पड़ती है, परन्तु यह आलोचना गुरुवाक्यके अनुसार होना आवश्यक है। गुरुवाक्यमें विश्वास करके साधन करने पर संसारकी उपादान-स्वरूपा त्रिगुणात्मिका प्रकृति या इस देहके सम्बन्धमें और क्षेत्रज्ञरूपा परा प्रकृति या इस जीवके सम्बन्धमें यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञानप्राप्ति जबतक नहीं होती तबतक कुछ जानना कठिन है। इसीसे साधकको पहले क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका परिचय प्राप्त करना पड़ता है। यह शरीर तथा शरीरस्थ नाड़ियाँ तथा नाड़ियोंके भीतर प्राणका प्रवाह, जिसके द्वारा बाह्य वस्तुएँ इन्द्रियोंके ज्ञानका विषय बनती हैं—क्षेत्र कहलाता है। इस क्षेत्रके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त

करना होगा। सूर्यकी किरणें आकर जैसे जगदादि वस्तुओंको प्रकाशित कर रही हैं, उसी प्रकार शरीरके भीतर रहने वाले कूटस्थकी ज्योतिके द्वारा ही ये सारी वस्तुएँ अस्तित्ववान् जान पड़ती हैं। वही विश्वका प्राण है, वही क्षेत्रज्ञ है, उसका भी परिचय प्राप्त करना होगा। साधनके विना इस प्रकृतिद्वयको जान नहीं सकते। साधक कूटस्थके भीतर रहनेवाले उत्तम पुरुषका अनुभव कर सकते हैं और वही मेरा 'मैं' या मेरा यथार्थ स्वरूप है, इसका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। वही पुरुष है, वही ब्रह्म है और वही जगन्मय होकर परिव्याप्त है। इसको जानकर साधकको सर्वात्मक ब्रह्मभावकी उपलब्धि होती है। परन्तु क्रिया किये विना कुछ भी जाना नहीं जा सकता। क्रियाके करनेका आधार है यह शरीर। शरीरके भीतर ७२००० नाड़ियाँ हैं, उन नाड़ियोंके भीतर प्राण प्रवाहित होकर इस जगद्भावकी सृष्टि कर रहा है तथा इस जगत्-लीलाका अनुभव करा रहा है। यह अनुभव जबतक होता रहेगा तबतक ब्रह्मके घोर रूप या संसारदर्शनका विराम न होगा। इसलिए इस प्राण-क्रियाका अवरोध करना होगा, उसकी गतिको विपरीतगामी बनाना होगा। इसकी साधना है प्राणायामादि योगाभ्यास। इस साधनामें कृतकार्य होने पर ही साधकका चक्रव्यूहभेद हो जायगा। चक्रव्यूह भेद होनेपर पुरुषोत्तमका दर्शन प्राप्त कर साधककी अज्ञानमयी तिमिर-रजनीका अवसान होता है। वह पुरुषोत्तम ही ज्ञेय वस्तु है। जब साधक उस ज्ञेय वस्तुका दर्शन पाता है तब वह निरन्तर घण्टानाद श्रवण करता है, पश्चात् क्रियाकी परावस्था या ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। उसमें जो अटका रहता है उसीको अमृत-पदकी प्राप्ति होती है। तब हृदयमें जो सौ नाड़ियाँ हैं उनके ऊपर रहनेवाली एक नाड़ीमें प्राण प्रवेश करता है। उसमें प्राणके प्रवेश होते ही सारा संसार ब्रह्ममय अनुभूत होने लगता है। तब मनमें कोई संकल्प नहीं रहता, जो कुछ होता है अनिच्छाकी इच्छासे होता है, इच्छापूर्वक कुछ नहीं करता। सर्वदा चन्द्र-सूर्यको भीतर देख पाता है। सर्वदा आनन्दमें रहता है। दूर दृष्टि होती है। तब यदि कोई उस साधकका अनिष्ट करता है तो भगवान् उसे दण्ड देते हैं। शरीर खूब स्निग्ध रहता है। आत्मामें भक्ति होनेसे केश और लोम खड़े हो जाते हैं। सदा नशेके समान जान पड़ता है। विषयका कोई आकर्षण नहीं रहता। वह योगी सदा ही तृप्त रहते हैं, उनकी दृष्टि सर्वदा ही शून्यमें तथा स्थिर रहती है। इसको उन्मनी भाव कहते हैं। इच्छा बिना भी दूरकी वस्तु उनकी दृष्टिके सामने भासमान होती है। जो बात मुँहसे कहते हैं वह सिद्ध होती है। पृथ्वीके सारे द्रव्योंके गुणोंको वे समझ पाते हैं।

क्रियाके विना क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ज्ञान नहीं होता, इसलिए गुरुवाक्यमें विश्वास करके भक्तिके साथ क्रिया करना आवश्यक है। यदि कहो कि साधनाके द्वारा ही जब ज्ञेय वस्तु समझमें आ जाती है तब फिर भक्तिकी क्या आवश्यकता है? भक्तिकी आवश्यकता है। गुरुवाक्यमें श्रद्धा और विश्वासके साथ जो भगवत्-साधनकी प्रबल चेष्टा होती है उसीका नाम भक्ति है। भक्ति न रहनेपर क्या साधना की जा सकती है? सारी साधनाएँ ही प्रवर्त्तकके लिए नीरस लगती हैं। जब वह भक्तिरससे आप्लुत होती है तभी साधना सहज हो जाती है। इस प्रकार भक्तिके साथ जो साधनाभ्यास करते

हैं उनके मनमें शीघ्र ही एक नशेके समान भाव होता है और उस नशेसे ही क्रियाकी परावस्थाका उदय होता है। यह नशेके समान होनेवाला भाव ही परावस्थारूप ज्ञानका अनुज्ञापक है। इस भावसे ही समस्त वस्तुओंके प्रति वैराग्य होता है—"जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम्।" ज्ञान, वैराग्य और भक्ति लाकर जो क्रिया साधकको कृतार्थ करती है उसपर विचार करके देखनेपर यह हृदयङ्गम हो जाता है कि क्रिया करना कितना अधिक आवश्यक है ॥१८॥

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥

अन्वय—प्रकृतिं पुरुषं एव च (प्रकृति और पुरुष) उभौ अपि (दोनोंको ही) अनादी विद्धि (अनादि जानो) विकारान् च (विकारोंको) गुणान् च (तथा गुणोंको) प्रकृति-सम्भवान् (प्रकृतिसे समुद्भूत) विद्धि (जानो) ॥१९॥

श्रीधर—तदेवं 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च' इति एतावत् प्रपञ्चितम्। इदानीं तु "यद्विकारि यतश्च यत् स च यो यत्प्रभावश्च" इत्येतत्पूर्वं प्रतिज्ञातमेव प्रकृतिपुरुषयोः संसारहेतुत्वकथनेन प्रपञ्चयति प्रकृतिमिति पञ्चभिः। तत्र तयोरपि प्रकृतिपुरुषयोः—आदिमत्त्वे तयोरपि प्रकृत्यन्तरेण भाव्यम् इति अनवस्थापत्तिः स्यात्। अतः तौ उभौ अनादी विद्धि। अनादेः ईश्वरस्य शक्तित्वात् प्रकृतेः अनादित्वम्। पुरुषोऽपि त्वदंशत्वात् अनादिरेव। अत्र च परमेश्वरस्य तच्छक्तीनाञ्च अनादित्वं श्रीमच्छङ्करभगवद्भाष्यकृद्भिः अतिप्रबन्धेन उपपादितमिति ग्रन्थबाहुल्यात् अस्माभिः न प्रतन्यते। विकारांश्च देहेन्द्रियादीन् गुणांश्च गुणपरिणामान् सुखदुःखमोहादीन् प्रकृतेः सम्भूतान् विद्धि ॥१९॥

अनुवाद—[अब 'तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च' यहाँ तक विस्तारपूर्वक कहकर, 'यद्विकारि यतश्च यत् स च यो यत्प्रभावश्च' इस पूर्व प्रतिज्ञात विषयको प्रकृति-पुरुषके संसार-हेतुत्व-कथन द्वारा पाँच श्लोकोंमें विशदरूपसे दिखला रहे हैं]—प्रकृति-पुरुष आदिमत् हों तो इन दोनोंकी उत्पत्तिके लिए एक अन्य प्रकृति माननी पड़ती है। इस प्रकार अनवस्था दोष लगता है, अतएव दोनोंको ही अनादि जानो। अनादि ईश्वरकी शक्तिके रूपमें प्रकृति अनादि है तथा पुरुष भी उसी ईश्वरका अंश होनेके कारण अनादि ही है। इस विषयमें परमेश्वरका और उनकी शक्तियोंका अनादित्व भगवान् शङ्कराचार्यके भाष्यमें विस्तृत प्रबन्ध द्वारा प्रतिपादित हुआ है। अतएव ग्रन्थ-बाहुल्यके भयसे मैंने इसे विस्तारपूर्वक नहीं कहा है। 'विकार' अर्थात् देहेन्द्रियादि और 'गुण' अर्थात् गुण-परिणाम सुख-दुःख-मोहादि प्रकृतिसे ही सम्भूत जानो ॥१९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीर तथा क्षेत्रज्ञ पुरुष अर्थात् कूटस्थ इन दोनोंका आदि नहीं है—इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना—इस क्रिया द्वारा—आसक्तिपूर्वक अन्य दिशामें दृष्टि करके होता है—जो पञ्चतत्त्व शरीरमें रहने पर होता है।—प्रकृति और उसका अधीश्वर पुरुष, ये दो वस्तुएँ हैं। प्रकृति शरीर है और कूटस्थ पुरुष है। कूटस्थ न हो तो

शरीर नहीं रह सकता। जैसे नदीमें फेन बहता है उसी प्रकार ब्रह्मरूपी नदीमें यह शरीररूपी फेन बहता है। दोनों ही अनादि हैं। क्षेत्र-रूपा अपरा प्रकृति ही ईश्वरकी मायाशक्ति है। यह मायाशक्ति सत्त्व, रजः, तमः—त्रिगुणरूपा है। इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना इस त्रिगुणके खेलनेके स्थान हैं। स्थिर प्राण शुद्ध सत्त्वरूप है। वह स्पन्दित होकर जब इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाके भीतर खेलने लगता है तब वह मन और इन्द्रिय-रूपमें जगद्-व्यापारको सम्पादित करता है। स्थिर भाव ईश्वरभाव है, वह आद्यन्तहीन है, अतएव क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूपा ईश्वरकी दोनों प्रकृति भी अनादि है। यह प्रकृति विकृत होकर पञ्चभूत और उसके साथ एकादश इन्द्रिय—इन षोड़श विकारोंको उत्पन्न करती है। सबके मूलमें एक आत्मा हुआ। प्रश्न हो सकता है कि सर्वदोष-विवर्जित आत्मा किस प्रकार सर्वदोषयुक्त शरीर होता है? यह वैसे ही होता है जैसे स्वच्छ निर्मल आकाश वायु होकर धूम होता है, उससे अभ्र अर्थात् मेघ, तथा मेघ से वर्षा, वर्षासे शस्यादि तथा शस्यादिसे रेतः तथा रेतःसे सर्वभूतनिचय होता है। आत्मा ब्रह्मविज्ञानमय मन है जो क्रियाकी परावस्था है। आकाश जैसे वायुरूपमें परिणत होता है उसी प्रकार आत्मा चञ्चल होकर मन बनता है। ब्रह्मरूप आकाशमें मन विक्षिप्त होकर अभ्रके समान स्वस्थानसे विच्युत होता है। चञ्चल मन वासनामय होकर स्थूल भूतादिके रूपमें परिणत होता है। इस प्रकार शुद्ध या स्थिर भावसे उतर कर धीरे-धीरे मन इस विश्वरूप परिणामको प्राप्त करता है। इस प्रकार शुद्ध मनसे क्रमशः इस विश्वकी उत्पत्ति होती है। मन ही आसक्तिवश कामना करके सारी काम्य वस्तुओंकी सृष्टि करता है और मन ही कामनारहित होकर व्यापक बनकर ब्रह्मको प्राप्त होता है। पूर्वजन्मकृत फलानुसन्धान कर्मका हेतु है और उसी कर्मके फलभोगके लिए ही पुनः पुनः जन्म-मृत्यु होती है। जो साधनाभ्यास द्वारा इच्छारहित हो जाते हैं उन्हें हृदयमें स्थिति प्राप्त होती है। तब वह जन्म-मृत्युके परे होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। जीवको जबतक मोक्षप्राप्ति नहीं होती, तबतक उसका आवागमन नहीं छूटता। धर्माधर्मरूप कर्मोंसे उसका अदृष्ट या सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है और वह सूक्ष्म शरीर ही स्थूल शरीरके रूपमें प्रकटित होता है। आत्मा नित्य और सदा एकरूप है, उसकी किसी प्रकारकी विकृति नहीं हो सकती, इसीसे इस देह और जगदादि विकारको ज्ञानी लोग स्वप्न-दृष्ट वस्तुके समान शून्यमात्र मानते हैं। जाग्रतावस्थामें जैसे स्वप्नदृष्ट वस्तुओंका पता नहीं पाया जाता, उसी प्रकार प्रबुद्ध साधकके सामने इस जड़ देह तथा दृश्य जगदादिका कोई अस्तित्व नहीं रहता। अध्यात्म-रामायणमें व्यास जी कहते हैं—"मायया कल्पितं विश्वं परमात्मनि केवले। रज्जौ भुजङ्गवत् भ्रान्त्या विचारे नास्ति किञ्चन।" सुवर्णमें जैसे कुण्डल-रूप कल्पित होता है, रज्जुमें जैसे भुजङ्ग कल्पित होता है, उसी प्रकार निर्विकल्प स्थिर परमात्मामें यह जगद्रूप कल्पित हुआ है। विचारके द्वारा यह भ्रान्ति दूर हो सकती है। विचार अर्थात् विगत चरण। जबतक मन चञ्चल है तबतक उसका विषयानुसन्धान रहेगा ही। जब मनका चरण या गति नष्ट होती है, तब फिर उसमें विषयानुसन्धान नहीं रह

सकता, अतएव वह विषयाकारमें परिणत भी नहीं होता। सृष्टि मनसे होती है, मन जब तक रहेगा तबतक सृष्टि-प्रवाह चलेगा ही। मनके निरुद्ध हो जाने पर उसके साथ सृष्टिका भी निरोध हो जाता है। ईश्वरकी सृष्ट्यानुकूल शक्ति ही उनकी प्रकृति है, वह त्रिगुणमयी है, शास्त्रमें उसको ही माया कहा गया है, गुण इस मायाके कार्य या विकार हैं। प्राण या श्वासकी चञ्चलतासे ही यह जगद्-भाव स्फुटित हो उठता है। क्रियाकी परावस्थामें चञ्चल प्राण और उसके साथ मनके निरुद्ध होने पर त्रिगुणकी क्रिया नहीं होती। त्रिगुण अर्थात् इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नाके अन्तर्गत क्रिया रुद्ध होने पर कोई उत्पत्ति या परिणाम नहीं होता, इसलिए ये सब गुण-विकार आदि प्रकृतिके परिणाम हैं अर्थात् इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नामें प्राण-प्रवाहके हेतु बनते हैं। अतएव जबतक मनकी आसक्ति है तबतक शरीर है और शरीरके रहने पर क्षेत्रज्ञ पुरुष कूटस्थ रहेगा ही। क्रियाकी परावस्थामें जब 'मैं-मेरा' नहीं रहता, तब क्षेत्र या क्षेत्रज्ञ भी नहीं रहते। इस निरोध-अवस्थासे अदृष्टवश जब कल्पनाकी तरङ्गें उठती हैं तब कार्य-साधक क्षेत्र भी उदित हो जाता है। ईश्वरका ईश्वरत्व नित्य सिद्ध होनेके कारण उसकी दोनों प्रकृतियाँ जो जगत्का कारण है वे भी अनादि हैं ॥१९॥

कार्यकारणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

अन्वय—कार्यकारणकर्त्तृत्वे (कार्य = देह, कारण = इन्द्रियादि, मन, बुद्धि—उनके कर्त्तृत्वके विषयमें) प्रकृतिः हेतुः उच्यते (प्रकृति हेतु कहलाती है), पुरुषः (पुरुष) सुखदुःखानां भोक्तृत्वे (सुख-दुःखोंके भोगके विषयमें) हेतुः उच्यते (हेतु कहलाता है) ॥ २० ॥

श्रीधर—विकाराणां प्रकृतिसम्भवत्वं दर्शयन् पुरुषस्य संसारहेतुत्वं दर्शयति—कार्येति। कार्यं—शरीरं; कारणानि—सुखदुःखसाधनानि इन्द्रियाणि। तेषां कर्त्तृत्वे तदाकार-परिणामे प्रकृतिः हेतुरुच्यते कपिलादिभिः। पुरुषः—जीवः तत्कृतसुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते। अयं भावः यद्यपि अचेतनायाः प्रकृतेः स्वतः कर्तृत्वं न सम्भवति, तथा पुरुषस्यापि अविकारिणो भोक्तृत्वं न सम्भवति—तथापि कर्त्तृत्वं नाम क्रियानिर्वर्तकत्वम्। तच्च अचेतनस्यापि चेतनादृष्टवशात् चैतन्याधिष्ठितत्वात् सम्भवति। यथा वह्नेः ऊर्ध्वज्वलनं, वायोः तिर्यग्गमनं, वत्सादृष्टवशात्स्तन्यपयसः क्षरणमित्यादि। अतः पुरुषसन्निधानात् प्रकृतेः कर्त्तृत्वमुच्यते। भोक्तृत्वञ्च सुख-दुःखसंवेदनम्। तच्च चेतनधर्म एवेति प्रकृतिसन्निधानात् पुरुषस्य भोक्तृत्वमुच्यते इति ॥ २० ॥

अनुवाद—[सारे विकार प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं, यह दिखलाकर पुरुषके संसार-हेतुत्वको दिखला रहे हैं]—कार्य = शरीर, कारण = सुख-दुःख-साधक इन्द्रियाँ। उनके कर्त्तृत्वके सम्बन्धमें अर्थात् तदाकार-परिणामके विषयमें कपिल आदिके मतसे प्रकृति ही हेतु कही गयी है। पुरुष अर्थात् जीव देहेन्द्रियकृत सुख-दुःखके भोक्तृत्वका हेतु कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि अचेतन प्रकृतिका स्वतः कर्त्तृत्व सम्भव नहीं है तथा अविकारी पुरुषका भोक्तृत्व भी सम्भव नहीं, तथापि कर्त्तृत्व

शब्दका जो क्रिया-सम्पादन अर्थ है, वह चेतन जीवके अदृष्टवश है। चैतन्यके अधिष्ठानके कारण अचेतन प्रकृतिका कर्त्तृत्व सम्भव है। जैसे वह्निका ऊर्ध्वज्वलन, वायुका तिर्यग् गमन और वत्सके अदृष्टवश स्तन्य दुग्धका क्षरण होता है, उसी प्रकार पुरुषके सान्निध्यके कारण प्रकृतिका कर्त्तृत्व कथित हुआ है। भोक्तृत्व शब्दका अर्थ है सुख-दुःखका अनुभव। सुख-दुःख-संवेदन चेतनका धर्म है। प्रकृतिके सान्निध्यके कारण पुरुषका भोक्तृत्व सम्पादित होता है, इसलिए पुरुषका भोक्तृत्व कहा गया है ॥ २० ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पञ्चतत्त्व, मन, बुद्धि, अहङ्कार—इनमें रहने पर कर्त्तव्य कर्मका कारण लक्षित होता है। उस कारणके उद्देश्यसे कर्म करनेसे कर्त्ता अहं इत्याकार बोध करता है, सब विषयोंमें आसक्त होता है अर्थात् फलाकांक्षाके साथ कर्म करनेमें प्रवृत्त होता है। महेश्वर वह हैं जो स्थिर होकर कूटस्थ-स्वरूपसे इस शरीरमें रहते हैं। जिनको भक्तिपूर्वक क्रिया करने पर कूटस्थके परे स्पष्ट रूपसे देख सकते हैं—वह सुख-दुःख-वर्जित है—उसमें न रहनेसे अर्थात् अपने आपमें न रहनेके कारण अन्य दिशामें आसक्तिपूर्वक दृष्टिसे होने वाली प्राप्तिमें अपनेको सुखी समझता है, अप्राप्तिमें दुःखी—परन्तु इस (सुख-दुःख) के मूलभूत कारण वह उत्तम पुरुष ही हैं। क्योंकि वह न होते तो इन सबका अनुभव कौन करता? अतएव सुखदुःख-भोगके हेतु वही हैं।—पञ्चतत्त्व, मन, बुद्धि और अहंकार—इनको लेकर ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर रचे गये हैं, इनका ही नाम प्रकृति है। प्रकृति ही चैतन्यका लीलापीठ है। प्रकृतिके भीतरसे ही जब चैतन्य अपना प्रकाश करता है, तब हम चैतन्यके अस्तित्वका अनुभव करते हैं। इन देहादिकोंमें जीवका अभिमान और आसक्ति होनेके कारण ही देहकृत शुभाशुभ कर्मोंमें जीव आबद्ध होता है तथा शुभाशुभ कर्मजनित फलोंको भोगता है। इस आसक्तिके कारण ही संसारका आवागमन नहीं रुकता, वह समान रूपसे चलता रहता है। जिस प्रकार जीवके कर्मोंका विराम नहीं है उसी प्रकार उसके फलभोगके निमित्त आवागमनका भी विराम नहीं है। गुणके वैषम्यके कारण देहाभिमानी जीवकी प्रवृत्ति नाना प्रकारके शुभाशुभ कर्मोंमें होती है। प्रवृत्तिके अनुसार कर्म करके जीव पुनः पुनः उसका फल भोगनेके लिए बाध्य होता है। जबतक देहासक्ति है तबतक प्रवृत्ति-निवृत्तिका यह स्रोत अवरुद्ध होनेवाला नहीं है और जन्म-जरा-मरणके चङ्गुलसे त्राण पानेका भी कोई उपाय नहीं है। परन्तु प्रकृतिके परे एक अप्राकृत भाव है, वह चञ्चल नहीं है, जन्म-जरा-मरणशील नहीं है। वह चिरन्तन है, नित्य है, सब कुछ नष्ट होनेपर भी वह नष्ट नहीं होता, वह सुख-दुःख-वर्जित है, वही चिरस्थिर महेश्वर है जो इस प्राकृत देहके भीतर रहते हुए भी देहातीत रूपसे नित्य वर्तमान है, वही कूटस्थ सत्य है। जिस साधकका चित्त कूटस्थमें विलीन हो जाता है वह परमात्माके इस महेश्वर-भावका अनुभव कर सकता है। भक्तिपूर्वक क्रिया करनेपर जो स्थिरता या परावस्था प्रकाशित होती है, वही सर्व सुख-दुःखातीत महेश्वर-भाव है। जो इस भावसे भावित होता है, उसकी दूसरी ओर आसक्ति नहीं होती—यही है अपने आपमें रहना। जो अपने आपमें नहीं रहता वह संसार-दृष्टि द्वारा आबद्ध होता है और इस कारण अनन्त सुख-दुःख-भोगका भागी बनता है। यदि कूटस्थ-चैतन्य न होता तो यह सुख-दुःख-भोग भी सम्भव नहीं था।

इसी कारण इस कूटस्थ-चैतन्य पुरुषको ही सुख-दुःखादिके भोक्तृत्वके विषयमें हेतु कहा गया है। प्रकृतिके भीतर चेतन पुरुषके अधिष्ठानके कारण ही सुख-दुःखादिका अनुभव होता है। प्रकृतिके साथ तादात्म्यके कारण प्रकृतिके भीतर स्फुरित सुख-दुःखादि पुरुषके ज्ञानका विषय बनकर उसका भोग सम्पादन करते हैं, अन्यथा असंलिप्त कूटस्थ निर्विकार पुरुषको भोग ही किस प्रकार सम्भव होता। अध्यासके कारण वह भोक्ता रूपमें दीख पड़ता है। क्योंकि क्षेत्रज्ञ पुरुष क्षेत्रको अपना कहकर अभिमान करता है अतएव सुख-दु:खादि क्षेत्रधर्म क्षेत्रज्ञ पुरुषमें आरोपित-मात्र होते हैं। तप्त लौह-खण्ड जैसे अग्निमय जान पड़ता है, उसी प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके गुण परस्पर अध्यारोपित होते हैं। पुरुषके प्रकाशशील स्वभावके कारण प्रकृति भी प्रकाशशीला जान पड़ती है तथा प्रकृतिके अन्तर्गत जब अहङ्कार स्फुरित होता है तो आत्माके 'मैं कर्त्ता' 'मैं भोक्ता' आदि भाव उदित होते हैं। यही निर्विकार चेतन क्षेत्रज्ञ पुरुषका भोक्तृभाव है। यही असंसारी आत्माका संसारी भाव है। यदि क्रियाकी परावस्थामें क्षेत्रज्ञका स्वरूप अवगत नहीं होता तो क्षेत्रज्ञके असंलिप्त भावकी धारणा कदापि न होती। इसी कारण मन लगाकर क्रिया करनी पड़ती है। मन लगाकर क्रिया करनेसे ही क्रियाकी परावस्थाका साक्षात्कार होता है। तब आत्मा और प्रकृतिका भेद तथा दोनोंका सम्बन्ध कहाँ और क्या है, यह समझमें आ जाता है ॥२०॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

अन्वय—हि (क्योंकि) पुरुषः (पुरुष) प्रकृतिस्थः (प्रकृतिमें अवस्थित होकर) प्रकृतिजान् गुणान् (प्रकृतिजात सुख-दुःखादि गुणोंको) भुङ्क्ते (भोगता है) अस्य (पुरुषका) गुणसङ्गः (गुणोंके साथ संयोग ही) सदसद्योनिजन्मसु (सद् और असद् योनियोंमें जन्मधारणका) कारणम् (कारण होता है) ॥२१॥

श्रीधर—तथापि अविकारिणो जन्मरहितस्य च भोक्तृत्वं कथम्? इति अत आह—पुरुष इति। हि यस्मात् प्रकृतिस्थः तत्कार्ये देहे तादात्म्येन स्थितः पुरुषः। अतः तज्जनितान् सुख-दुःखादीन् भुङ्क्ते। अस्य च पुरुषस्य सतीषु देवादियोनिषु असतीषु तिर्यगादियोनिषु यानि जन्मानि तेषु गुणसङ्गो गुणैः शुभाशुभकर्मकारिभिः इन्द्रियैः सङ्गः कारणमित्यर्थः ॥२१॥

अनुवाद—[तथापि अविकारी और जन्मरहित पुरुषको भोक्तृत्व कैसे संभव है, इसके उत्तरमें कहते हैं]—पुरुष प्रकृतिस्थ होता है अर्थात् प्रकृतिके कार्य देहमें तादात्म्य-भावसे अवस्थान करता है, इसीलिए प्रकृतिजात गुण अर्थात् देह-जनित सुख-दुःखादिका भोग करता है। इस पुरुषका सत् अर्थात् देवादि-योनिमें, और असत् अर्थात् तिर्यगादि-पशु-पक्षी-योनिमें जो जन्म होता है, उसका कारण गुणसङ्ग है अर्थात् शुभाशुभ कर्म करनेवाली इन्द्रियोंका सङ्ग ही इसका कारण है ॥२१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पुरुष उपर्युक्त प्रकृतिस्थ होकर प्रकृतिसे उत्पन्न है जो गुणत्रय अर्थात् इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना, उसका भोग, त्रिगुणयन्त्रमें आरूढ होकर अन्य दिशामें

आसक्तिपूर्वक दृष्टि करके भोग कर रहा है। उस प्रकृतिके गुण सबको जिस प्रकार कर्म करा रहे हैं फलाकांक्षाके साथ उसी प्रकारके सद् असद् योनिमें वे भोग कर रहे हैं।—आत्मामें न रहकर अन्य दिशामें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करनेपर जो भोग होता है, वह गुणत्रयमें मनसंयोगके कारण होता है। यही पुरुषका प्रकृतिस्थ होकर प्रकृतिके गुणोंका भोग है। इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना, इस त्रिगुणयन्त्र पर आरूढ़ होनेपर ही आत्माकी बहिर्मुख दृष्टि होती है। बहिर्मुख दृष्टिसे ही आत्माका विषय-भोग होता है। प्रकृतिके गुणोंसे प्रभावित कर्मोंके कारण ही मनमें फलप्राप्तिकी आशा जाग्रत होती है और इस फल-प्राप्तिकी प्रवृत्तिसे ही सत् असत् योनिमें जन्म होता है। भोगकी विचित्रताके कारण विचित्र योनि, और विचित्र योनियोंके अनुरूप फलभोगोंमें भी विचित्रता होती है। जिसकी दृष्टि केवल कूटस्थमें रहती है उसको फिर योनियोंमें नहीं आना पड़ता। कूटस्थ सर्वदेवमय है, इसलिए जिसका लक्ष्य कूटस्थमें होता है उसको असत् योनिमें जन्म नहीं लेना पड़ता। जो कूटस्थ ब्रह्म इस शरीरके भीतर और बाहर आधिपत्य करता है वह सर्वश्रेष्ठ है, इसीसे उसको देवराज कहते हैं। कूटस्थके भीतर ही सब देवताओंका अधिष्ठान है। जिन्होंने कूटस्थमें रहनेका अभ्यास किया है वे उसके भीतरके सारे देवताओंको देखते हैं। कूटस्थ ही जगन्नाथ हैं। सारे सिद्ध पुरुष उस ज्योतिके अन्तर्गत जो तमः है और उसके परे जो उत्तम पुरुष है उसकी ओर एक दृष्टिसे ताकते रहते हैं। उसके भीतर ही सब कुछ है, इसलिए वही भर्त्ता, भोक्ता और महेश्वर है अर्थात् वही सर्वव्यापक होकर सबके भीतर सब कुछ हो रहा है। यह कूटस्थरूप चक्षु जिसको नहीं है अर्थात् कूटस्थ-में जिसका लक्ष्य नहीं है वह अज्ञानान्ध होकर 'मेरा मेरा' करता हुआ मुग्ध बना रहता है। इस अज्ञान-मोहसे परित्राण पानेका एकमात्र उपाय है क्रिया। कूटस्थ गायत्री है, उसके भीतर जो व्योम-स्वरूप महादेव हैं, वही आत्मा है। इस ब्रह्मपुरी शरीरके भीतर ग्रन्थिस्वरूप गुहा हृदयमें है। प्राणायामके द्वारा वायु स्थिर होनेपर अर्थात् अपने आप कुम्भक होनेपर कूटस्थके भीतर यह आकाशवत् दीख पड़ता है जो पुण्डरीक-नयन-स्वरूप है, इसके भीतर एक महाकाश है। वह आकाश ही आत्मा है, वही ब्रह्मस्वरूप गायत्री है, वही परव्योम है, उसीका नाम शिव है। क्रियाकी परा-वस्थामें जो अटका रहता है वह अटकना इसी आकाशमें है। प्रभात होते समय जो ज्योति दीख पड़ती है उसके समान ही एक ज्योतिका प्रकाश होता है। इस ज्योतिका दर्शन होने पर सब आवरणोंसे मुक्ति हो जाती है। पहले सोनेके समान ज्योति चारों ओर दीख पड़ती है, उसके भीतर चक्षुस्वरूप सविता हैं, उस सविताके अन्तर्गत जो देवता हैं वही पुरुषोत्तम हैं। पुरुषोत्तम दर्शनके समय भी द्वैतहीन भाव नहीं होता। जब पुरु-षोत्तम भी ब्रह्म हो जाता है, जब एक कहनेवाला भी कोई नहीं रहता, तब पुरुषोत्तम पतिके पति परव्योमरूप शिवके भीतर प्रविष्ट होकर एक अद्वितीय हो जाते हैं। प्राणेन्द्रियादिके अवरोधसे कूटस्थका जो रूप दीखता है वह भी ब्रह्मस्वरूप है, उसमें रहनेपर भी मन अन्य दिशामें नहीं जाता, अतएव प्रकृतिस्थ होकर आत्माको पाप-पुण्य, सुख-दुःख आदिका भोग नहीं करना पड़ता। परन्तु क्रियाकी परावस्थामें जो रहते हैं वह द्वन्द्वातीत अवस्थाको प्राप्त करते हैं, उस समय 'मैं' नहीं रहता, अतएव

कोई ज्योति भी नहीं रहती—उस समय सब ब्रह्ममय हो जाता है। वह एक ऐसी अवस्था है कि वहाँ कुछ है या नहीं, कहा नहीं जा सकता। यही त्रिगुणातीत अर्थात् इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नाकी अतीतावस्था है। इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना या गङ्गा-यमुना-सरस्वतीका सङ्गम-स्थान ही पवित्र तीर्थ है। यह मिलनका स्थान ही क्रियाकी परावस्था है। इसी स्थानपर ब्रह्ममें मनःप्राण-बुद्धि समर्पित होते हैं। "मनःस्थं मनोवर्जितम्"—जब मनमें ही मन रहता है अर्थात् अपने आपमें रहता है तब वह मन ही ब्रह्म है। तद्व्यतीत क्रियाकी परावस्थामें और कोई रूप नहीं रहता। क्रियाकी परावस्थामें रहना ही सत्य प्रतिष्ठा है। इसके सिवा जो कुछ है सब मिथ्या है। साधनके द्वारा इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना जबतक एक नहीं हो जातीं, तबतक प्रकृतिके भीतर रहना पड़ता है। गुणमयी प्रकृतिके भीतर रहने पर मन कल्पना-राज्यमें विचरण करता है। इसीसे अन्तर्दृष्टि अवरुद्ध हो जाती है। तब उन सब मनःकल्पित वस्तुओंमें आसक्त होकर जीव सुख-दुःखमय विषयोंका भोग करता है। तब फलाकांक्षाके साथ कर्म करनेके लिए जीव स्वतः प्रवृत्त होता है। जीव जिस प्रकारके कर्मोंको करता है, तदनुरूप ही उसको विविध योनियाँ प्राप्त होती हैं और उन योनियोंमें सदसद् कर्मोंका फलभोग होता है। गुणयुक्त वस्तुमें तादात्म्य-भावसे अभिमान करने पर जीवात्माको सुख-दुःखादि भोगके लिए विविध शरीर धारण करने पड़ते हैं। प्रकृतिके साथ तादात्म्य-भावके कारण पुरुष जब प्रकृतिके सत्त्वभावमें अभिमानी होता है, तब वह देवयोनिको प्राप्त करता है। प्रकृतिके रजोगुणमें अभिमानी होने पर मनुष्ययोनि तथा प्रकृतिके तमोगुणमें अभिमानी होने पर मूढ़योनिमें जन्म प्राप्त करता है। इस प्रकार पुरुष आत्मविस्मृत अवस्थामें प्रकृतिके साथ तादात्म्य-सम्बन्धसे युक्त होने पर अर्थात् प्रकृतिके साथ अभेदभावसे मिलित होकर प्रकृतिजात सुख-दुःख आदिको अपना समझकर भोग करता है। यही नित्यमुक्त आत्माका बद्ध भाव है। इस बद्ध भावका खेल खेलनेके लिए ही प्राण मानो इड़ा-पिङ्गलामें प्रवाहित होकर पृथक् हो जाता है। फिर साधनाके द्वारा जब इड़ा-पिङ्गलाका प्रवाह सुषुम्नामें सञ्चालित होता है तब जीवभाव रुद्ध होकर देवभाव प्रकटित होता है। ये तीनों मुख जब एक हो जाते हैं तब जीव सर्वभावविनिर्मुक्त होकर भावातीत कैवल्य-भावसे युक्त होता है। इसको ही जीवकी मुक्ति कहते हैं। यही पुरुषके साथ प्रकृतिके संयोगका विच्छिन्न भाव है। उस समय पुरुषका फिर कोई भोग नहीं रह जाता। जीवके अदृष्टके वश एक बार जब यह मिथ्या भोग आरम्भ हो जाता है तो गुणसङ्गके कारण वह भोग पुनः पुनः होता रहता है। प्रकृतिका त्रिगुणमय भाव इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नामें प्राणके प्रवाहके कारण होता है। इसीके कारण जीवके विविध शरीरोंकी उत्पत्ति होती है। इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नामें प्राण-प्रवाहके साथ आत्माके निमज्जनका नाम ही गुणसङ्ग है। इस गुणसङ्गके कारण ही जीवका शुभाशुभ फलभोग होता है। यह भोक्तृत्व-भ्रम तबतक जानेवाला नहीं है जबतक इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना इन तीनोंके मुख एक नहीं हो जाते। इन तीनों मुखोंकी गति जबतक पृथक् रहती है तबतक असाधक जीवकी वृत्ति बहिर्मुख स्फुरित होती रहती है। बहिर्वृत्ति-स्फुरणके साथ जीवका भोक्तृत्व-

ज्ञान क्रमशः बढ़ता जाता है, क्रमशः वासना-नदी समुद्रका आकार धारण कर जीवको अपने गर्त्तमें निमज्जित कर देती है ॥२१॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

अन्वय—अस्मिन् देहे (इस देहमें) पुरुषः (आत्मा) परः (स्वतन्त्र अर्थात् देहसे भिन्न है) [इसका कारण यह है कि वह] उपद्रष्टा (साक्षीस्वरूप) अनुमन्ता (सन्निधिमात्रसे अनुग्राहक) भर्त्ता (भरणकर्त्ता—इन्द्रिय-मन-बुद्धिके जड़ होने पर भी चेतन पुरुषका चेतन सत्तामें चैतन्ययुक्त रूपमें ही अनुभव होता है, यही उसका भरण है) भोक्ता (सुख-दुःखादि, बुद्धिवृत्तिकी उपलब्धि उसके ही कारण होती है, इसीलिए उसको भोक्ता कहते हैं) महेश्वरः परमात्मा च (वही महेश्वर और परमात्मा है) इति अपि उक्तः (यह भी कथित होता है) ॥ २२ ॥

श्रीधर—तदनेन प्रकारेण प्रकृत्यविवेकादेव पुरुषस्य संसारः, न तु स्वरूपतः इत्याशयेन तस्य स्वरूपमाह—उपद्रष्टेति। अस्मिन् प्रकृतिकार्ये देहे वर्तमानोऽपि पुरुषः परो भिन्न एव, न तद्गुणैः युज्यत इत्यर्थः। तत्र हेतवः—यस्मात् उपद्रष्टा पृथक्भूत एव समीपे स्थित्वा द्रष्टा साक्षीत्यर्थः। तथा अनुमन्ता—अनुमोदितेव सन्निधिमात्रेण अनुग्राहकः—"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इत्यादि श्रुतेः। तथा ऐश्वरेण रूपेण भर्त्ता विधारक इति चोक्तः, भोक्ता पालक इति च। महांश्चासौ ईश्वरश्चेति स ब्रह्मादीनामपि पतिरिति च, परमात्मा अन्तर्यामीति चोक्तः श्रुत्या। तथा च श्रुतिः, "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष लोकपालः" इत्यादि ॥ २२ ॥

अनुवाद—[इस प्रकार प्रकृतिके अविवेकके कारण ही पुरुषका संसार है, परन्तु वास्तविक रूपमें पुरुषका संसार नहीं है, इस आशयसे पुरुषका स्वरूप बतलाते हैं]—यह जो प्रकृतिका कार्य शरीर है, इसमें रहते हुए भी पुरुष प्रकृतिसे भिन्न है अर्थात् प्रकृतिके गुणोंसे युक्त नहीं है। इसका कारण यह है कि वह उपद्रष्टा है अर्थात् पृथक् होकर निकट रहनेके कारण द्रष्टा या साक्षी है। अनुमन्ताका अर्थ है सन्निधिमात्रसे अनुग्राहक। श्रुतिमें लिखा है—"वह साक्षी, चेतन, उपाधिवर्जित और निर्गुण है। वह ईश्वररूपमें भर्त्ता अर्थात् विधायक है और भोक्ता अर्थात् पालक है। वह महान् ईश्वर अर्थात् ब्रह्मादिका भी अधिपति है और वह श्रुत्युक्त परमात्मा अर्थात् अन्तर्यामी है"। इस विषयमें श्रुतिका भी प्रमाण है—"यह सबका ईश्वर है, यह भूताधिपति है तथा यह लोकपाल है ॥ २२ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वही महेश्वर है, वही गुरु है। जो देश लक्ष्य नहीं होता उसको गुरुवाक्यके द्वारा देख सकता है—उस ब्रह्मके अणुमें स्थिति होने पर ही अनन्त ब्रह्माण्ड जगन्मय ब्रह्मके स्वरूपको देख सकता है। वही सबका भरण-पोषणकर्त्ता अर्थात् अपना भरण-पोषण कर्त्ता आप है—इसको जानकर भी लोग मूर्खके समान हाय भगवान्! हाय भगवान्! कैसे संसारयात्राका निर्वाह करूँगा, इस प्रकार व्यर्थ कालयापन करते हैं। मनुष्य समझता है कि मैं उपार्जन करता जाता हूँ, परन्तु स्पष्ट ही देखा जाता है, जिसे

लोग देखकर भी नहीं देखते कि मरा व्यक्ति नहीं खाता—तुझमें वह रहते हैं इसलिए वही खाते हैं, और जो खाते हैं वह सर्वत्र सब कुछ खाते हैं जीवस्वरूप होकर—दृष्टान्त है दाँतमें भी कीड़े। वह सब भूतोंमें जीवरूपमें हैं एक ब्रह्मस्वरूप होकर महेश्वर, जगन्मय, जगन्नाथ, ब्रह्ममय नामसे सब शास्त्रोंमें कथित है। उसमें रहने पर वही हो जाता है—जो क्रियाकी परावस्थामें बोध होने पर भी किसीको लक्ष्य नहीं होता, इसलिए अव्यक्त है। केवल १७२८ बार प्राणायामके बाद योगियोंके ध्यानगम्य होता है। यही आत्माके परे कूटस्थस्वरूप है। इस देहमें ही कूटस्थके परे एक उत्तम पुरुष है, क्रिया गुरुवाक्यके द्वारा जानकर देख पाता है (इस शरीरमें ही)।—यद्यपि पुरुष (जीवात्मा) प्रकृतिके परिणाम-स्वरूप इस शरीरमें ही अवस्थान करता है तथापि वह स्वतन्त्र है, प्रकृतिके गुणोंसे वह कभी आबद्ध नहीं होता। स्वरूपतः यह आत्मा असंसारी होनेपर भी उपद्रष्टा प्रतीत होता है अर्थात् वह प्रकृतिके समीपस्थ है इसीसे वह प्रकृतिके कार्योंका साक्षी प्रतीत होता है। अध्यात्म-रामायणमें लिखा है—"ज्ञात्वा मां चेतनं शुद्धं जीवरूपेण संस्थितम्।" यह आत्मा प्रकृतिके समीप होनेके कारण प्रकृतिके कार्योंका साक्षी मात्र है परन्तु कर्त्ता वह कभी नहीं है।

वह अनुमन्ता है— आचार्य शङ्कर कहते हैं कि "देह और इन्द्रियोंके व्यापारोंमें स्वयं किसी प्रकारसे व्यापृत न होकर भी आपाततः अनुकूल भावसे व्यापृत-सा प्रतीत होता है। अथवा अपने-अपने व्यापारमें प्रवृत्त देह और इन्द्रियोंको कभी भी निवारण न करनेके कारण ही आत्माको अनुमन्ता कहा जा सकता है।"

वह भर्त्ता है—उसकी सत्ताके बिना देहेन्द्रिय आदिकी सत्ताका स्फुरण नहीं हो सकता। चैतन्यमय आत्माके चैतन्य-आभाससे ही ये जड़ इन्द्रियवर्ग आत्माके व्यावहारिक भोगको सिद्ध करते हैं। देहेन्द्रिय आदिको चैतन्यमय बना डालनेके कारण ही वह इनका भर्त्ता है।

वह भोक्ता है—आत्माके बिना किसी वस्तुका कुछ अनुभव नहीं हो सकता। सब वस्तुएँ बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होकर आत्माके बोधका विषय बनती हैं। वह बुद्धिका प्रतिसंवेदी है, उसका निजी कोई भोग नहीं होता तथापि वह प्रकृतिको 'मेरा' कह कर अभिमान करता है, इसी कारण उसको प्रकृतिजात विषयोंका भोक्ता कहा गया है।

वह महेश्वर है अर्थात् महान् और ईश्वर है। वह सबके आत्माका आत्मा है और सबसे स्वतन्त्र है, अतएव वह 'महेश्वर' है।

वह परमात्मा है—यह आत्मा 'पर' अर्थात् अव्यक्तसे विलक्षण उत्तम पुरुष है, इसीलिए इसको 'परमात्मा' कहते हैं। यही मूलतत्त्व सब जीवोंका आश्रय है। नाना प्रकारके पात्रवाले जलमें जैसे चन्द्रका प्रतिबिम्ब पृथक्-पृथक् पड़ता है परन्तु चन्द्र केवल एक है, वैसे ही नाना प्रकारके शरीरोंमें जो प्रतिबिम्बत चैतन्य है उन समस्त प्रतिबिम्बोंका जो बिम्बस्वरूप है, वही परमात्मा है।

उसको महेश्वर क्यों कहते हैं? "मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त वायुको स्थिर रखनेका नाम है पूजा। यह स्थिरावस्था ही क्रियाकी परावस्था है, इस स्थिति-स्वरूपको ही

विष्णु कहते हैं, वह सर्वव्यापक हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वह न हो, इसीलिए वह महेश्वर हैं। वही गुरु हैं। इस शरीरका रूप है ॐकार। कूटस्थकी इच्छा होनेसे बिन्दुस्वरूपसे प्रकृतिमें प्रवेश करने पर प्राणवायु-स्वरूप महादेवका अपने आप आविर्भाव होता है। इस शरीरके भीतर ॐकारध्वनि-स्वरूप नाद सदा होता रहता है। उस नादके परे बिन्दु है, भ्रूमध्यमें दृष्टि करने पर वह बिन्दु दीख पड़ता है। उस बिन्दुके स्थिर होने पर ब्रह्मपद प्रकाशित होता है। इस शरीरमें क्रिया करते-करते जब मन अन्य दिशामें न जाकर स्थिर हो जाता है, तब अज्ञान-अन्धकारको भेद करके स्वप्रकाशस्वरूप आत्माराम गुरु प्रकट होते हैं। क्रिया करते-करते मेरुदण्डमें मूलाधार-स्थित शक्तिको जब हृदयमें स्थिर करते हैं तो स्थिति-पद प्राप्त होता है। इस मूलाधारस्थ शक्तिने ही शरीरको पकड़कर स्थिर रखा है। हृदयमें स्थिर होने पर भी यह शक्ति मृणालतन्तुके समान हृदयमें गमनागमन करती है, तब इसका नाम हंस होता है। स्थिर वायु जब भ्रूमध्यमें जाती है और बिन्दु दीख पड़ता है तो उसका नाम 'रूप' होता है—यही कूटस्थ-रूप है। परन्तु क्रियाकी परावस्थामें जो रूप है वह ब्रह्मनिरञ्जनका रूप है—वही अरूपका रूप है।"

सोऽहं सर्वमयो भूत्वा परं ब्रह्म विलोकयेत्।
परात्परतरं नान्यत् सर्वमेव निरामयम्॥

क्रियाकी परावस्थामें 'मैं ही सब हूँ'—ऐसा होनेपर परम ब्रह्मका दर्शन होता है, वही अव्यक्त पद है। वही परात्परतर है, उसके सिवा और कुछ नहीं है। इस अवस्थाका उदय होनेपर जीव सर्वत्र निरामय होता है अर्थात् तब मन दूसरी ओर नहीं जाता।

यह ब्रह्म ही सबका भरण-पोषण-कर्त्ता है। वही जीव है और जीवके कर्मरूपमें वही फल उत्पन्न करता है तथा जीवरूपमें उसका भोग करता है। अतएव जीव जो 'मैं करता हूँ—मैं करता हूँ' कहकर कर्त्ता बन बैठा है वह नितान्त ही हास्यजनक है। कर्त्ता एकमात्र वही है। अतएव सोचनेका कुछ नहीं है। जिससे स्वरूपावस्था प्राप्त हो उसीके लिए प्राणपनसे प्रयत्न करना आवश्यक है। स्वरूपावस्था प्राप्त होनेपर ही समझमें आ जायगा कि जगत् क्या है और जगन्नाथ क्या हैं। प्राणके चञ्चल होनेपर ही मन बहिर्मुख होता है, तभी जगत्-दर्शन होता है अर्थात् जान पड़ता है मानो सभी चंचल हैं। जब प्राण स्थिर होता है तब कुछ भी चंचल नहीं जान पड़ता। सभी स्थिर, सभी अचल जान पड़ते हैं। सचल अवस्था जिनके प्रभावसे अचल होती है, वही जगन्नाथ हैं। क्रियाकी अवस्थामें इसका बोध नहीं होता, परावस्थामें इसका अनुभव होता है, इसीलिए इसको अव्यक्त पद कहते हैं। यह ध्यानगम्य पद है।

यस्यावलोकनादेव सर्वसङ्गविवर्जितः।
एकान्तनिस्पृहः शान्तस्तत्क्षणात् भवति प्रिये॥

इस परम ब्रह्मको अवलोकन कर जीव सर्वसङ्गसे विमुक्त होकर सबके भीतर उस एक ब्रह्मको देखता है। इसीका नाम एकान्त है। जब सबके भीतर एकका ही

अनुभव हो गया तो फिर और स्पृहा कैसे रहेगी। इस प्रकार जो इच्छारहित हो जाता है वह शान्तिपदको प्राप्त करता है।

क्रियाकी परावस्थामें जो योगनिद्रामें मग्न रहते हैं, उनको स्वप्नदर्शन नहीं होता, यही प्रकृत सुषुप्ति है। इस सुषुप्ति-स्थानमें रहते-रहते वह स्वयं भी ब्रह्मस्वरूप होकर एक हो जाते हैं। उसके बाद प्रज्ञानघन अवस्था प्रकाशित होती है अर्थात् स्थैर्यभाव बहुत देर तक स्थायी और गाढ़ हो जाता है तथा अधिक काल स्थायी घण्टानाद सुनते-सुनते उस ध्वनिमें लय हो जाता है अर्थात् स्थिति लाभ करके आनन्दमय-स्वरूप होकर केवल आनन्द-भोग करता है। इस प्रकार आनन्द-स्वरूप सुखभोगसे साधक प्राज्ञ होकर तृतीय पादको प्राप्त होता है अर्थात् हृदय-ग्रन्थिको भेदकर 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' हो जाता है। वहाँ मनोवृत्ति और इन्द्रिय-वृत्ति ब्रह्ममें लीन हो जाती हैं। ब्रह्मके साथ मिलन होने पर परमात्मामें स्थिति होती है, इसीका नाम सन्ध्या या ध्यान है जो १७२८ बार प्राणायाम करने पर समझमें आता है। इस प्रकार अवरुद्ध रहनेका अभ्यास गाढ़ा होने पर ध्यान-सन्ध्या होती है, जिसमें कोई कायक्लेश नहीं रहता। ब्रह्ममें मिलने पर सब भूतोंमें मिल सकते हैं। यही एकदण्डीकी सन्ध्या है। जब सर्वदा सुषुम्नामें रहता है तभी एकदण्डी होता है और तभी 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' होता है।

विषयोंमें रहकर भी जो मनको ब्रह्ममें रखते हैं वे ही ऋषि हैं। सूर्यस्वरूप कूटस्थ है, कोटि सूर्यके समान प्रकाश होता है, इसकी अपेक्षा भी महाज्योति (अग्नि और विद्युत् मिश्रित ज्योति) है, वहाँ अनेक देवता रहते हैं, उस कूटस्थके भीतर उत्तम पुरुष रहते हैं। जिसके भीतर समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड है, जो क्रिया करने पर दीख पड़ता है, वह कूटस्थ ही पूजनीय है, वही गुरुब्रह्म है, वही शरीर धारण करके जन्म ग्रहण करता है। वही सर्वत्र रहनेके कारण विष्णु है, षड़् ऐश्वर्यवान् होनेके कारण भगवान् है तथा अत्यन्त निर्मल होनेके कारण शिव है। वह 'परम' है अर्थात् क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें अपने आप रहनेके कारण वह 'परम' है। वह अरस तथा सब रसोंका रस है। वह विज्ञान-स्वरूप है क्योंकि वहाँ जो रहता है वह सर्वज्ञ होता है। वह सर्वव्यापक है अतएव महत् है। वह क्रियाकी परावस्थामें महादेव है, वह हृदयमें रहकर सर्वत्र सब लोगोंमें जाता है और किसीके वश नहीं होता, इसलिए वह ईश्वर है। वह ब्रह्मा है अर्थात् इच्छा-स्वरूप है। वह हुआ है अतएव भूत है, वह क्षेत्र अर्थात् शरीरको जानता है इसलिए क्षेत्रज्ञ है। वह ब्रह्मा, हर, इन्द्र, कूटस्थ और विष्णु-स्वरूपमें जगत् और जीवका पालन कर रहा है। वह सबका आदि है इसलिए आदित्य है, उसका जन्म नहीं है इसलिए अज है। वह प्रजाओंका पालन करता है इसलिए प्रजापति है। जब वह प्रजापति और जगत्-भर्त्ता है तो लोग व्यर्थ ही भोजनकी चिन्तामें मरे जा रहे हैं। क्रियाकी परावस्थामें वह 'केवल' है। इस देह-पुरीमें शयन करनेके कारण वह पुरुष है। उसीका यजन किया जाता है अतः वह यज्ञ है। क्रियाकी परावस्थामें शान्ति-पद प्राप्त किया जाता है, इसलिए वह शान्त है। उसके सिवा और कुछ नहीं है, इसलिए वह अद्वितीय है। प्राण

स्वरूप जो अग्नि है वह हिरण्य-वेष्टित है, इसलिए वह हिरण्यगर्भ है। यह प्राण ही विश्वम्भर है, उसको कोई नहीं देखता, परन्तु वह सब कुछ कर रहा है और खा रहा है। देखना, सुनना, मनन करना—समस्त प्राणके ही कर्म हैं। प्राण ही वाक्य है, प्राण ही परमात्माका गौण नाम है। इस प्राणकी साधनाके द्वारा प्राण और मन स्थिर होने पर इस देहके भीतर तथा देहसे स्वतन्त्र जो उत्तम पुरुष है, वह दीख पड़ता है। वही अन्तर्यामी है, वही भूताधिपति परमात्मा है ॥२२॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

अन्वय—यः (जो) एवं (इस प्रकार) पुरुषं (पुरुषको) गुणैः सह प्रकृतिं च (और गुणोंके साथ प्रकृतिको) वेत्ति (जानता है) सः (वह) सर्वथा (सब अवस्थाओंमें) वर्तमानः अपि (वर्तमान होने पर भी) भूयः (पुनः) न अभिजायते (जन्म ग्रहण नहीं करता) ॥२३॥

श्रीधर—एवं प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानिनं स्तौति—य एवमिति। एवं उपद्रष्टृत्वादिरूपेण पुरुषं यो वेत्ति, प्रकृतिं च गुणैः सह सुख-दुःखादिपरिणामैः सहितां यो वेत्ति, सः पुरुषः सर्वथा विधिमभिलङ्घ्येह वर्त्तमानोऽपि पुनः न अभिजायते मुच्यत एव इत्यर्थः ॥२३॥

अनुवाद—[प्रकृति-पुरुष-विवेकज्ञ ज्ञानीकी प्रशंसा करते हैं]—इस प्रकार उपद्रष्टा आदि भावोंमें जो पुरुषको जानता है तथा जो गुणों अर्थात् सुख-दुःखादिके परिणामोंके साथ प्रकृतिको जानता है, वह मनुष्य सर्वथा विधिका अतिक्रमण करके वर्तमान होने पर भी पुनः जन्म ग्रहण नहीं करता, वह मुक्त हो जाता है ॥२३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार उत्तम पुरुषको जो जानता है अर्थात् देखता है, पञ्चतत्त्व, मन, बुद्धि, अहङ्कार, उत्तम, मध्यम, अधम गुण; सबमें वही ब्रह्मका अणु स्वरूप—वह सब समय उस पुरुषमें न रहने पर भी पुनर्वार जन्म ग्रहण नहीं करता, तथा होकर भी वह नहीं होता क्योंकि वह ब्रह्मस्वरूप हो गया है।—पञ्चतत्त्व, मन, बुद्धि, अहङ्कारसे युक्त जीव-प्रकृति जब उत्तम पुरुषको जानती है तब उसे उन सबमें ब्रह्मका अणु दीख पड़ता है। तब कोई वस्तु ब्रह्मसे पृथक् नहीं जान पड़ती। शरीर, प्राण, मन और बुद्धिके ज्ञातारूपमें जो साक्षी-चैतन्य है, उसीकी सत्ताके ऊपर इस विश्व-प्रकृतिका विकास निर्भर करता है। अतएव साक्षी-चैतन्यके सिवा इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिस साधकके मनः-प्राण साधनाके द्वारा इस साक्षी-चैतन्यके साथ मिल कर एक हो गये हैं, जैसा कि क्रियाकी परावस्थामें होता है और उस अवस्थासे उतरने पर भी यदि उस अवस्थाकी स्मृति जाग्रत रहती है, तो उस साधकका पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि उसको ब्रह्मका स्वरूप अवगत हो गया है।

प्रकृतिके कारण ही असीम काल खण्ड-खण्ड प्रतीत होता है और कालके खण्डत्वके कारण सब वस्तुओंका परिवर्तन देखा जाता है। परन्तु क्रिया करके जिसको क्रियाकी परावस्थाका अनुभव होता है तथा जिसकी वह अवस्था क्रमशः

दीर्घ होती जाती है, उस साधककी बाह्य वस्तुओंसे संसक्ति लुप्त होकर शिशु जैसी अवस्था हो जाती है—कभी हँसना, कभी रोना और क्षण ही में उन सबका नाममात्र भी स्मरण न रहना। जो इस प्रकारके जीवन्मुक्त हैं उनके सामने कालका व्यवधान नहीं रहता, भूत-भविष्यत् नामकी कोई वस्तु भी नहीं रहती। तब उनके सामने सब कुछ वर्तमान-सदृश हो जाता है। जिसके सामने काल सदा ही वर्तमान है अर्थात् अखण्ड है वह फिर भूत-भविष्यत्की कल्पना नहीं करता। कालके द्वारा ही कर्मोंका सुख-दुःखादि फल उत्पन्न होता है। जिसके सामने काल सदा वर्तमान-रूपमें अवस्थित है उसको फिर सुख-दुःखका भोग कहाँ। एक विचारसे अन्य विचारमें आनेके लिए ही काल-ज्ञानकी आवश्यकता होती है। जिसकी चित्तवृत्तिमें कोई स्पन्दन नहीं है उसके कर्म किस प्रकार होंगे? अतएव कर्मके फलस्वरूप सुख-दुःखादि भोगके लिए उसका पुनर्जन्म होना संभव नहीं है। शरीरके भीतर कूटस्थ है, उसके परे उत्तम पुरुष है जो परव्योम-स्वरूप है। तब वह सर्वव्यापक है, अतएव सब 'मैं' उसके भीतर है। 'मैं' के ज्ञानके द्वारा ही विषयका अनुभव होता है। जब 'मैं' नहीं रहता तब कोई विषय भी नहीं रहता, सब एक ब्रह्म हो जाता है। शरीरदृष्टि रहनेपर ही साक्षी-चैतन्यका पृथक्-पृथक् रूपमें अनुभव होता है, परन्तु आत्माका सर्वव्यापकत्व समझ लेनेपर वह एक ही सबके भीतर अनुभूत होता है। प्रवर्तक साधकको जो सर्वरूपमें प्रतीत होता है, क्रियाकी परावस्थामें वही 'सर्व' एकमें मिलकर एक हो जाता है। पहले विश्वका विराटत्व अणुत्वमें परिणत होता है और अणु क्षीण होते-होते शून्यमें परिणत हो जाता है। जो लोग कूटस्थके भीतर ब्रह्म-अणु बिन्दुरूपमें देखते हैं वे ही योगी हैं। समस्त वस्तुएँ संहत होकर बिन्दुरूप बनती हैं। यही बिन्दु अनन्त वस्तुओंके रूपमें प्रकाशित होता है। इसको जो प्रत्यक्ष करते हैं वे ही स्वस्वरूपमें अवस्थान करते हैं। तब उनके जन्म-जन्मान्तरके सञ्चित कर्मसमष्टि अर्थात् प्रारब्ध समूल विध्वंस्त हो जाते हैं। तब साधकके ज्ञानचक्षुके सामने एक ब्रह्मके सिवा और कुछ वर्तमान नहीं रहता। पश्चात् एक कहनेको भी कोई नहीं रह जाता। परमात्मा वस्तुतः एक और अद्वितीय है जो मायाके प्रभावसे अनेक-सा प्रतीत होता है। जब देहबोध निरुद्ध हो जाता है तो माया भी मायीके भीतर संप्रविष्ट हो जाती है। तब एक आत्मा ही वर्तमान रहता है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

"इदन्तु विश्वं भगवानिवेतरो
यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः"

जिस ईश्वरसे इस जगत्की सृष्टि, स्थिति और लय है वह ईश्वर तथा यह विश्व और जो जीवरूपमें प्रतीयमान हो रहा है, सभी भगवान् हैं अर्थात् सभी ब्रह्ममय हैं ॥२३॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

अन्वय—केचित् (कोई कोई) ध्यानेन (ध्यानके द्वारा) आत्मनि (बुद्धिके अभ्यन्तर) आत्मानं (आत्माको) पश्यन्ति (दर्शन करते हैं), अन्ये (दूसरे कोई कोई) सांख्येन योगेन (सांख्ययोगद्वारा) अपरे च (और दूसरे कोई कोई) कर्मयोगेन (कर्मयोगद्वारा) [आत्मदर्शन करते हैं] ॥ २४ ॥

श्रीधर—एवम्भूतविविक्तात्मज्ञानसाधनविकल्पान् आह—ध्यानेनेति द्वाभ्याम्। ध्यानेन आत्माकारप्रत्ययावृत्त्या, आत्मनि देहे एव आत्मना मनसा एनम् आत्मानं केचित् पश्यन्ति। अन्ये तु सांख्येन प्रकृतिपुरुषवैलक्षण्यालोचनेन योगेन अष्टाङ्गेन अपरे च कर्मयोगेन पश्यन्तीति सर्वत्रानुषङ्गः। एतेषां च ध्यानादीनां यथायोग्यं क्रमसमुच्चये सत्यपि तत्तन्निष्ठाभेदाभिप्रायेण विकल्पोक्तिः ॥२४॥

अनुवाद—[इस प्रकार आत्मज्ञानके साधनके विषयमें जो नाना विकल्प हैं उनको दो श्लोकोंमें कह रहे हैं]—(१) ध्यान अर्थात् आत्माकार-प्रत्ययकी आवृत्तिके द्वारा 'आत्मनि' देहमें 'आत्मना' मनके द्वारा कोई कोई आत्माका दर्शन करते हैं। (२) दूसरे कोई सांख्य अर्थात् प्रकृति-पुरुषके वैलक्षण्य (भेद) की आलोचनाके द्वारा तथा अष्टाङ्ग योगके द्वारा आत्माका दर्शन करते हैं। (३) कोई कोई कर्मयोगके द्वारा आत्माका दर्शन करते हैं। (यहाँ 'पश्यन्ति' इस क्रियाका सर्वत्र अनुषङ्ग जानना चाहिए)। इन ध्यानादिकोंका यथायोग्य क्रम-समुच्चय होनेपर भी निष्ठाका विभिन्न अभिप्राय दिखलानेके लिए ये पृथक् भावसे कथित हुए हैं। [यद्यपि आत्मदर्शनके लिए ध्यान, सांख्य, कर्म प्रभृतिका समुच्चय अर्थात् परस्पर मिलित भावमें अनुष्ठान करना ही प्रयोजनीय है, तथापि निष्ठाभेद दिखलानेके लिए भगवान्ने इस प्रकार विकल्पकी उक्ति की है] ॥२४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—१७२८ बार प्राणायाम करनेपर आत्मा निर्मल ब्रह्मस्वरूप अणु दीखनेमें आता है। कोई असंख्य प्राणायाम करते-करते अपने आप आत्माको देखता है, दूसरे लोग सबसे रहित होकर आसक्तिपूर्वक किसी ओर मन न लगाकर केवल आत्मामें रहकर आत्माको अपने आप देखते हैं—जिसको सांख्ययोग कहते हैं—उसका भी तात्पर्य यह क्रिया ही है। दूसरे लोग फलाकांक्षा-रहित होकर धारणा-ध्यान-समाधि-युक्त होकर यह क्रिया करके (जो गुरु-वक्त्रगम्य है) उस आत्माको अपने आप देखते हैं।—बाह्य विषय इन्द्रियद्वारोंके द्वारा मनमें आते हैं और इन्द्रियोंकी सहायतासे ही प्रकाशित होकर वासना-रूपसे हृदयमें प्रविष्ट होते हैं। जबतक यह भाव है तभी तक संसार है। प्राणधारा स्पन्दित होकर मनरूपमें इन सारे सङ्कल्प-विकल्पकी तरङ्गोंको उठाती है। यही जीव-भाव है, इसी प्रकार जीवका संसार-भाव स्फुटित हो उठता है। परन्तु आत्माके भीतर तरङ्गोंका उच्छ्वास नहीं है। जिस प्रकार सूर्यसे किरण-राशि उत्पन्न होकर विश्वमें बिखर जाती है, उसी प्रकार आत्मा चञ्चल होकर प्राणरूपमें इस विश्व-संसारको उत्पन्न करता है और वासनाके सहयोगसे उसके साथ युक्त होकर केवल संसार-तरङ्गोंका ही अवलोकन करता है। जब भाग्यवश सद्गुरुकी कृपासे यह संसार-चाञ्चल्य उसको क्लिष्ट बोध होता है, तब तरङ्गाकार

मनोवृत्तियाँ अपने केन्द्रकी ओर दौड़ पड़ती हैं। जब वासना-समूह आत्मकेन्द्रमें पहुँचकर शान्त हो जाते हैं तब चञ्चल प्राण अव्यक्त शान्त प्राणमें मिलकर एक आत्माकार-भावसे भावित हो जाता है।

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं
यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढ़म्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ईशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति॥ श्वेता० ३।७

जगत् आत्माके साथ सम्बन्धयुक्त है, उसकी अपेक्षा भी जो श्रेष्ठ है वह कारणरूपमें जगत्-प्रपञ्चके भीतर भी वर्तमान है, तथा उस जगदात्मक विराट् पुरुषके अतीत है अर्थात् हिरण्यगर्भरूपी ब्रह्माकी अपेक्षा भी उत्तम है तथा व्यापक होनेके कारण बृहत् है। वह 'यथानिकाय' अर्थात् भिन्न भिन्न शरीरके अनुसार सर्वभूतोंमें गूढ़ है अर्थात् प्रच्छन्न भावसे विद्यमान है तथा समस्त जगत्का परिवेष्टिता है अर्थात् समस्त जगत्को अन्तर्भुक्त करके स्वस्वरूपमें जगत्को व्याप्तकर अवस्थित है। उस परमेश्वरको अवगत होकर जीवगण अमृतको प्राप्त होते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

उस परम पुरुषको कैसे प्राप्त कर सकते हैं? "त्रिणि पादा विचक्रमे विष्णोर्गोपऽदाभ्यां अतो धर्माणि धारयन्"—ऋग्वेद। इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना ये तीन पद हैं—अढ़ाई दण्ड वाम दिशामें, अढ़ाई दण्ड दक्षिण दिशामें और किञ्चित् काल मध्यभागमें श्वास बहता है। इससे ही संसारचक्रका प्रवाह चलता है। इस अनन्त कालचक्रकी गति स्थिर होनेपर ही विष्णुका परम पद प्राप्त किया जाता है। वाम-दक्षिण अर्थात् इड़ा-पिङ्गलाकी गति क्रियाके द्वारा स्थिर होकर जब सुषुम्नामें प्रवेश करती है तब स्थिरत्व-पदका लाभ होता है। क्रियाकी परावस्थामें यह स्थिति धृत होती है, यह स्थिरत्व ही प्रकृत धर्म है। इस स्थिरताके द्वारा ही निवृत्ति-पद प्राप्त किया जाता है। पहले क्रिया करते करते जितना ही मन स्थिर होता है उतना ही पापका क्षय होता है। समस्त पापोंका क्षय होनेपर मनमें मन डूब जाता है और इस शरीरका अधिपति जो ब्रह्म है उसके साथ युक्त हो जाता है। इस योगयुक्त अवस्थासे ही सर्वत्र समभाव होता है, हृदय सुन्दर होता है अर्थात् उस हृदयमें कोई ग्लानि या मल नहीं रहता और आनन्दका अनुभव होने लगता है। तब साधक किसी दूसरे आश्रयकी अपेक्षा नहीं करता। वह 'राम-भरोस' हो जाता है अर्थात् ब्रह्मके प्रति उसे पूर्ण निर्भरता आती है। यह अवस्था ही क्रियाकी परावस्था है, यही विष्णुका परम पद है। श्वास मस्तकमें चढ़कर जब स्थित होता है तब योगी सदा परम पदको देख पाता है। वायुकी स्थिर गतिके साथ मायारहित होकर साधक तत्त्वातीत ब्रह्मभावमें रहता है। यही क्रियाकी परावस्था, परम पद या ब्रह्मपद है। ब्रह्म तब सूक्ष्म अणुस्वरूपमें सर्वव्यापक होता है, उसकी कोई उपलब्धि नहीं होती, तथापि उसमें मनके लीन होनेपर साधक सर्वव्यापी ब्रह्मस्वरूपमें वर्तमान रहता है। १७२८ बार प्राणायाम करनेपर जो ध्यानावस्था आती है उसमें निर्मल ब्रह्माणुकी समय समयपर उपलब्धि होती है, वह ब्रह्माणु ही हमारा निज

स्वरूप है। इसका अनुभव करके साधक कृतकृत्य हो जाता है। तब प्राणका बाह्य स्पन्दन न होनेके कारण मन प्राणमें विलीन होकर परम शान्तिमय भावमें अवस्थान करता है। इस अवस्थामें मनका समस्त विजातीय प्रत्यय-प्रवाह निरुद्ध हो जाता है। वह 'समरस'-भाव अर्थात् ज्ञान-धारा तैलधाराके समान अविच्छिन्न भावसे प्रवाहित होती है—यही है ध्यानके द्वारा आत्मसाक्षात्कार। क्रियाकी परावस्थामें जिस परम स्थिर या ब्रह्मभावकी उपलब्धि होती है, वह ब्रह्म ही सबका आधार है। उसमें रहनेपर परमानन्दका बोध होता है। एक अखण्ड ब्रह्मबोधके द्वारा समस्त बोध आच्छादित हो जाते हैं और अन्य जो कुछ है वह सब ब्रह्ममें लीन हो जाता है।

उपर्युक्त साधना तथा उसके पश्चात् अन्यान्य साधनाओंका जो क्रम है, उन सबको एकसाथ आरम्भ कर सकते हैं। इससे निरोधावस्था अपेक्षाकृत सहज-लभ्य हो जाती है। दीर्घकालतक दीर्घक्षण पर्यन्त क्रियाका अभ्यास करनेके फलस्वरूप क्रियाकी परावस्था, जिसको ध्यानयोग कहते हैं, प्रकटित होती है। इस साधनाका अङ्ग है सांख्ययोग और क्रियायोग। (१) क्रियायोगके अनेक अङ्ग हैं, उनमें जपके साथ प्राणायाम ही सर्वप्रधान है। प्राणायामकी क्रिया करते-करते मनका बहिर्विचरण कम हो जाता है, चित्त एकाग्र होता है—यही धारणा है। पश्चात् चित्त विशेषरूपसे अन्तर्मुखी होकर निरोधकी ओर अग्रसर होता है, तब ध्यानावस्था प्राप्त होती है। उसके बाद ध्यान गम्भीरतर होनेपर चित्तकी एकाग्रता पराकाष्ठाको प्राप्त करती है, तब मन निरुद्ध हो जाता है—इसीका नाम समाधि है। प्राणायामकी साधनासे चित्त जितना ही चिन्ता-शून्य होता है उतनी ही सत्त्वशुद्धि होनेसे मन अन्तर्मुख होकर आत्मस्थ हो जाता है—यही है भगवान्में सर्व-कर्म-समर्पण। चिन्तनके द्वारा भगवान्में सर्व-कर्म-अर्पण करके नियमित कर्त्तव्य कर्मोंका जो अनुष्ठान है वही कर्मयोग है। पूर्वोक्त प्राणायामादि क्रियायोग भी कर्मयोग हैं।

(२) "सांख्य और ध्यानयोग"—विचारयुक्त ज्ञानयोग ही सांख्ययोग है। परन्तु केवल मौखिक विचार लिये रहनेसे प्रकृत ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अष्टाङ्ग योगा-भ्यासमें रत होकर क्रियावान साधक आत्माद्वारा आत्माका दर्शन करते हैं। इसमें भी प्राणायामकी आवश्यकता है, यह योगी लोग जानते हैं। साधक पहले योनिमुद्राद्वारा शरीरस्थ आत्मज्योतिका दर्शन करता है, क्रमशः श्रद्धा और अभ्यास-पटुताके द्वारा ज्योतिके अन्तर्गत कूटस्थके भीतर उत्तम पुरुष नारायणका दर्शन प्राप्त करता है। यही है अपनेको आप देखना। तब मनकी अन्य वस्तुओंमें आसक्ति नहीं रहती, योगी केवल आत्म-क्रियाके द्वारा आत्मस्थिति प्राप्त कर अपनेमें डूबे रहते हैं। यह भी प्राणायामका ही फल है। अधिक प्राणायाम करनेपर साधक आत्मज्योतिका नित्य ही दर्शन कर सकता है ॥२४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

अन्वय—अन्ये तु (दूसरे कोई कोई) एवं अजानन्तः (पूर्वोक्त उपायोंमें किसीके

द्वारा आत्माका स्वरूप जाननेमें समर्थ न होकर) अन्येभ्यः (दूसरोंसे) श्रुत्वा (सुनकर) उपासते (उपासना करते हैं) श्रुतिपरायणाः (आचार्योंके उपदेश-वाक्य ही जिनके मोक्षमार्गपर चलनेके साधन हैं) ते अपि (वे भी) मृत्युं अतितरन्ति एव (मृत्युका अतिक्रमण करते हैं) ॥२५॥

श्रीधर—अतिमन्दाधिकारिणां निस्तारोपायमाह—अन्ये तु इति। अन्ये तु सांख्ययोगादिमार्गेण एवंभूतं उपद्रष्टृत्वादिलक्षणं आत्मानं साक्षात्कर्त्तुं अजानन्तः अन्येभ्यः आचार्येभ्यः उपदेशतः श्रुत्वा उपासते ध्यायन्ति। तेऽपि च श्रद्धया उपदेशश्रवणपरायणाः सन्तो मृत्युं—संसारं शनैः अतितरन्त्येव ॥२५॥

अनुवाद—[अति मन्दाधिकारियोंके निस्तारका उपाय बतला रहे हैं]—दूसरे मन्दाधिकारी लोग सांख्ययोगादि मार्ग द्वारा उपद्रष्टादि लक्षणोंसे युक्त आत्माका साक्षात्कार करना न जानकर अन्य आचार्योंका उपदेश सुनकर ध्यान करते हैं। वे भी श्रद्धाके साथ उपदेश-श्रवण-परायण होकर मृत्यु अर्थात् संसारका क्रमशः धीरे धीरे अतिक्रम करते हैं ॥२५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ये सब सुनकर अर्थात् उपर्युक्त सब कर्मोंको सुनकर किसी एकको मनमें स्थिर कर लेते हैं, वे भी और कुछ न पाकर केवल ॐकार-ध्वनि सुनकर पड़े रहते हैं, वे भी तर जाते हैं अर्थात् क्रिया करने पर जो स्थिति होती है उसका अनुभव होता है।—तीनों गुणोंका साम्य होने पर क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है, यही तीन गुणोंका अतीत भाव है। तब प्राण, अपान और व्यानकी गति समान होती है। उस साम्यमें स्थित होने पर स्थिरत्व-पद प्राप्त होता है। तीनों गुणोंके अतीत होने पर समान-वायु नाभि-देशमें स्थिर होकर जब हृदय पर्यन्त स्थिर होती है तो हृदयस्थ ईश्वरमें लीन होकर साधक सर्वज्ञ हो जाता है। इस अधिकारकी प्राप्ति जिसके लिए कठिन या असम्भव है, उसकी कूटस्थमें प्रतिष्ठा होने पर अनन्त लोकोंकी प्राप्ति होती है। कूटस्थकी गुहामें प्रवेश करना भी जिसके लिए सम्भव नहीं होता, वह यदि केवल गुरूपदेशके अनुसार क्रिया करते चलता है तो वह अपने आप ॐकार-ध्वनि सुनने लगता है। क्रियाकी परावस्था प्राप्त योगीकी जो अवस्था होती है, गुरुकी कृपासे नाद जिसको व्यक्त हुआ है उसको भी वही अवस्था प्राप्त होती है जिसे विष्णुका परम पद कहते हैं। यह शब्द-ब्रह्मका साधन अति सहज है, थोड़ा-सा मन लगा करके क्रिया करने पर प्रणवध्वनि सुनी जाती है। उसमें जो मन लगाते हैं उनको भी नशा होता है अर्थात् जगत् विस्मृत हो जाता है ॥२५॥

यावत् संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ!) यावत् किञ्चित् (जो कुछ) स्थावर-जङ्गमं सत्त्वं (स्थावर-जंगम पदार्थ) सञ्जायते (उत्पन्न होता है) तत् (वह) क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे होता है) विद्धि (जान लो) ॥२६॥

श्रीधर—तत्र कर्मयोगस्य तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु प्रपञ्चितत्वात् ध्यानयोगस्य च षष्ठाष्टमयोः प्रपञ्चितत्वात्, ध्यानादेश्च सांख्यविविक्तात्मविषयत्वात् सांख्यमेव प्रपञ्चयन् आह—यावदित्यादि यावदध्यायसमाप्ति। यावत् किञ्चित् वस्तुमात्रं सत्त्वं उत्पद्यते तत् सर्वं क्षेत्र-क्षेत्रज्ञोः योगात् अविवेककृतात्तादात्म्याध्यासात् भवतीति जानीहि ॥२६॥

अनुवाद—तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम अध्यायोंमें कर्मयोगके सम्बन्धमें विस्तृत रूपसे कहनेसे तथा षष्ठ और अष्टम अध्यायोंमें ध्यान-योगादिका विषय विस्तारपूर्वक कहनेसे, ध्यानादिका हेतु सांख्यविविक्त आत्मविषयक होनेके कारण सांख्यको ही इस अध्यायकी समाप्ति-पर्यन्त विस्तृत-रूपसे कह रहे हैं]—जो कुछ स्थावर-जङ्गमादि वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अविवेककृत तादात्म्याध्यासके कारण उत्पन्न हुआ जानो। [एक पदार्थमें अन्य पदार्थके धर्मका बोध करनेका नाम अध्यास है। अनात्मामें आत्मबोध होने पर अनात्माके धर्मको आत्माका धर्म मानकर जो बोध होता है उसका भी नाम अध्यास है। स्थूलत्व और कृशत्व आत्माके धर्म नहीं हैं, परन्तु मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ कहने पर देहधर्म आत्मामें अध्यासित होते हैं। आत्मा अनात्मासे विलक्षण है, इसका ज्ञान न होनेके कारण यह अध्यास उत्पन्न होता है। अतः इस अध्यासका हेतु अविवेक है, यह कह सकते हैं] ॥२६॥

[जीव और परमेश्वरका अभेद-ज्ञान मोक्षका साधन है, "यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते"—जिसको जानकर मोक्ष प्राप्त किया जाता है। इस सिद्धान्तका क्या हेतु है, यह दिखलानेके लिए इस श्लोकका आरम्भ किया जाता है। जो कुछ वस्तु सञ्जात अर्थात् उत्पन्न होती है वह समस्त स्थावर-जङ्गम वस्तुजात क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। यह जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग निर्दिष्ट हुआ है इसका क्या तात्पर्य है अर्थात् यहाँ कैसा संयोग अभिप्रेत है, यही समझानेके लिए कह रहे हैं—जैसे रज्जुके साथ घटका अवयव-संयोग-मूलक परस्पर संयोग होता है—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग क्या उसी प्रकारका है?—यह नहीं हो सकता क्योंकि आकाशके समान क्षेत्रज्ञका कोई अवयव नहीं है। तन्तु और पटका जैसा समवाय-रूप सम्बन्ध है, क्या वैसा ही समवाय-रूप सम्बन्ध यहाँ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञमें है?—यह भी नहीं है क्योंकि तन्तु और पटमें एक कारण है और दूसरा कार्य। उनमें यह कार्य-कारण-सम्बन्ध होनेके कारण ही तन्तु और पटका परस्पर समवाय-रूप सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भीतर इस प्रकारका कार्य-कारण-भाव-रूप सम्बन्ध नहीं है, अतएव इनमें समवाय-रूप सम्बन्ध नहीं रह सकता। तब यह संयोग कैसा है, इसके उत्तरमें कह सकते हैं कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ वस्तुतः विलक्षण स्वभावके हैं। क्षेत्रज्ञ स्वयं ज्ञान-स्वरूप है, क्षेत्र ज्ञानका विषय है। इनका पारस्परिक जो अध्यास-रूप सम्बन्ध है वही यहाँ संयोग-शब्दका अर्थ है अर्थात् क्षेत्रज्ञका धर्म क्षेत्रमें और क्षेत्रका धर्म क्षेत्रज्ञमें आरोपित होता है। इसके सिवा क्षेत्रका तादात्म्य क्षेत्रज्ञमें और क्षेत्रज्ञका तादात्म्य क्षेत्रमें आरोपित

होता है। इस प्रकार पारस्परिक धर्म और स्वरूपका जो आरोप होता है वह आरोप या अध्यास ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग है। यह संयोग ही संसारका कारण है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपगत विवेकका अभाव ही इस संयोगका कारण है। जैसे शुक्ति और रजतके विवेकका ज्ञान न रहने पर शुक्तिमें रजत और रजतके धर्म आरोपित होते हैं, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका परस्पराध्यास भी इसी प्रकार अविवेकमूलक है]—शाङ्करभाष्यका अनुवाद।

आध्यात्मिक व्याख्या—जो कुछ हुआ है देख रहे हो—स्थावर और जङ्गम—इन सबमें सत् ब्रह्म है; तथा सबका ही आकार क्षेत्रस्वरूप है प्रकृतिरूपमें तथा सबमें क्षेत्रज्ञ-स्वरूप जीव परम पुरुष ब्रह्मस्वरूप सर्वव्यापक वह एक है; अतएव उस एक पुरुषको देखने पर, अनन्य चित्तसे उसी एक पुरुषमें रहने पर एक ही एक अर्थात् ब्रह्म ही ब्रह्म है। तब फिर और कुछ जानने या पानेके लिए बाकी नहीं रहता।—स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त जगत् ब्रह्ममय है—"ईशा वास्यमिदं सर्वम्"। तब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भिन्न वस्तु कैसे हैं तथा उनके संयोगकी ही कल्पना कैसे की जा सकती है? क्षर और अक्षर दोनों उनकी प्रकृतियाँ हैं और उनसे अभिन्न हैं। हम जैसे अपने दक्षिण हस्तके साथ वाम हस्तको संयुक्त करते हैं उसी प्रकार पुरुषोत्तम नारायणकी इच्छासे उनकी इस क्षर-अक्षर प्रकृतिद्वयका मिलन होता है, यह मिलन ही जीव और जगत् है। दोनों हस्त में जैसे 'मैं' वर्तमान है उसी प्रकार अपनी प्रकृतियोंमें वही वर्तमान हैं। समुद्रमें तरङ्ग दीखने पर भी जैसे समुद्रसे तरङ्ग अभिन्न है, उसी प्रकार यह नाम-रूपमय जगत् और जीव ब्रह्मस्वरूपसे अभिन्न हैं। बहिर्दृष्टि रहते हुए यह भिन्नबोध कदापि नष्ट नहीं होता। मौखिक विचारसे बुद्धि इस ऐक्यका अनुभव तो करती है परन्तु बाह्य दृश्यके रहते यह ऐक्यका अनुभव केवल कथनमात्र है। अध्यासको समझ लेने पर भी भ्रम मनसे दूर नहीं होता। अध्यासका कारण अनुसन्धान करने पर देखा जाता है कि प्राणके स्पन्दनके कारण ही मन स्पन्दित या सङ्कल्पमय होकर इस विराट् गन्धर्व-नगरीका निर्माण कर डालता है। जगत् सत्य है या असत्य—केवल विचारद्वारा निर्धारण करते जाना बाल-चापल्यमात्र है। स्वप्नावस्थामें बाह्य जगत् बोधका विषय नहीं होता, जाग्रदावस्थामें हम स्वप्न नहीं देखते। परन्तु दोनों ही अवस्थाओंमें तदनुरूप दृश्य देखना बन्द न होगा। इसको नास्ति समझनेसे ही नास्ति हो नहीं जाता। परन्तु ऐसी एक अवस्था है जिसमें सचमुच इनका अस्तित्व नहीं रहता। स्वप्न-जगत् और बाह्य जगत् मनके दो अवस्थाभेदमें परिदृष्ट होते हैं। एक अवस्थामें दूसरा नहीं रहता। सर्वकालमें न रहनेके कारण इनको असत् कहा जाता है। सद् वस्तु एक-मात्र आत्मा है, तीनों कालोंमें उसका कोई परिवर्तन नहीं होता। उस सद्वस्तुका एक स्वस्थान है। बाह्य दृष्ट स्थानके समान उसका स्थान (Space) नहीं है, उसका वह स्वधाम है, उस स्वधाममें कोई माया नहीं है, अतएव स्थावर-जङ्गमादि नामरूपात्मक जगत्का वहाँ कोई अस्तित्व नहीं है। आत्मा स्वस्थानमें रहकर भी जब स्वस्थानसे दूर हट जाता है जिसे आत्माकी गुणयुक्त अवस्था कहते हैं, तब

जैसे समुद्रमें असंख्य तरङ्गें उठती हैं, उसी प्रकार उस एक आत्मामें मानो असंख्य विम्बपात होते हैं। तभी भेद-ज्ञापक स्थावर-जङ्गमादि नामरूपमय असंख्य प्रतिविम्ब परिलक्षित होते हैं। परन्तु इस गुणमयी अवस्थाके अन्तरालमें जो सत्ता वर्तमान रहती है उसमें नानात्व नहीं होता, वहाँ सदा ही "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" है, अतएव वहाँ सृष्टि या लय किसीकी भी संभावना नहीं होती। क्षेत्रज्ञ-स्वरूप जीव तथा परम पुरुष ब्रह्मका भेद औपाधिक है, इनमें प्रकृत भेद नहीं है। यहाँ सृष्टि या लय सब काल्पनिक हैं, प्रकृत सत्य नहीं हैं। नाना प्रकारके स्वर्णालङ्कारोंके भीतर जैसे एक स्वर्ण ही सत्य रूपमें वर्तमान रहता है, उसी प्रकार अनेक क्षेत्रों और क्षेत्रज्ञोंमें एक आत्मा ही वर्तमान रहता है। परन्तु साधारणतः जो हमारे सामने नाना रूप प्रतीत होते हैं तथा जड़-चैतन्यका भेद अनुभूत होता है वह सब आपेक्षिक बोधमात्र है। समस्त क्षेत्रोंको तन्मध्यस्थ पुरुष ही परिस्फुटित करता है। जब उस पुरुषको लक्ष्य करते हैं तब उसमें एक ही प्रकारका रूप दीख पड़ता है। ये सारे रूप जिसके हैं उस पुरुषको देखते-देखते जब सारा नाम-रूपमय बोध डूब जाता है तब केवल वह अद्वितीय ब्रह्म या आत्मा रह जाता है। तब जाननेके लिए कुछ नहीं रह जाता और न पानेके लिए ही कुछ रह जाता है। तब ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान, तीनों मिलकर एक 'सत्'-स्वरूपमें विराजमान होते हैं। कबीरने कहा है—"हरी भजे आपा मिटै, तब पाये करतार"—हरि-भजन करते करते जब 'मैं' मिट जाता है तब कर्त्ता प्राप्त होता है। इसीसे कहते हैं कि "हरि-भजनसे सर्वनाश होता है" अर्थात् जो हरिका भजन करता है उसके सामने 'सर्व'की प्रतीति नहीं रहती, वह उस समय हरिके साथ एक हो जाता है। भक्त तुलसीदासने रामचरित-मानसमें वाल्मीकिके मुँहसे कहलाया है—"जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।" यह शरीर-घट जिस चैतन्यके आलोक-सम्पातसे चैतन्यमय हो रहा है उस चैतन्यका सन्धान करो, तब इस देहके भीतर ही उसको देख सकोगे और देखते-देखते द्रष्टा और दर्शन कुछ भी न रहेगा। कबीरने कहा है—"घटही माँइ चबूतरा घटहि माँह दीवान"—इस शरीरके भीतर ही राजा और राजसिंहासन (कूटस्थ-ज्योति और तन्मध्यस्थ उत्तम पुरुष दोनों ही विद्यमान) हैं। इन विषयोंका सन्धान न करके केवल घटत्व-पटत्व लेकर विवाद करनेसे कदापि उस अगम्य अपार वस्तुका सन्धान न मिलेगा ॥२६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

अन्वय—सर्वेषु भूतेषु (सब भूतोंमें) समं तिष्ठन्तं (समान भावसे अवस्थित) विनश्यत्सु (सब वस्तुओंके विनष्ट होने पर भी) अविनश्यन्तं (अविनाशी) परमेश्वरं (परमेश्वरको) यः (जो) पश्यति (देखता है) सः पश्यति (वही यथार्थ-भावसे देखता है) ॥२७॥

श्रीधर—अविवेककृतं संसारोद्भवं उक्त्वा तन्निवृत्तये विविक्तात्मविषयं सम्यग्दर्शनमाह—सममिति । स्थावरजङ्गमात्मकेषु भूतेषु निर्विशेषं सद्रूपेण समं यथा भवति एवं तिष्ठन्तं परमात्मानं यः पश्यति, अतएव तेषु विनश्यत्स्वपि अविनश्यन्तं यः पश्यति स एव सम्यक् पश्यति नान्य इत्यर्थः ॥२७॥

अनुवाद—[अविवेक-कृत संसारोत्पत्ति कहकर उसकी निवृत्तिके लिए विविक्त आत्म-विषयक सम्यक्-दर्शन अर्थात् तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें कह रहे हैं]—स्थावर-जङ्गमात्मक भूतसमूहमें निर्विशेष सद्रूपमें समभावसे अवस्थित परमात्माका जो दर्शन करते हैं तथा उनके विनाशमें भी उस परमात्माको जो अविनाशी रूपमें देखते हैं, वे ही सम्यग्-दर्शी हैं, दूसरे नहीं ॥२७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार जब सब भूतोंमें समान हो गया और सब भूतोंमें ही स्थिर रूपसे अटका रहा—वही एक ब्रह्म परमेश्वर हृदयमें अर्थात् कूटस्थमें—विनाशशील वस्तुओंके विशेषरूपसे नाश होनेके अन्तमें जो पर ब्रह्मको देख रहा है उसका फिर विनाश नहीं है—इसे जो देखता है, वही देख रहा है।—सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रहमें लिखा है—

> एष प्रत्यक् स्वप्रकाशो निरंशोऽ
> सङ्गः शुद्धः सर्वदैकस्वभावः।
> नित्याखण्डानन्दरूपो निरीहः
> साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

यह आत्मा प्रकाशस्वरूप, अंशरहित, सङ्गहीन, निर्दोष, सदा ही एकरूप, सर्वदा अखण्ड आनन्द-स्वरूप, क्रियारहित, उदासीन, ज्ञानरूप, केवल और निर्गुण है।

बाह्य दृष्टिसे, इतने व्यक्त रूप जिनका अन्त नहीं है, देखकर उन्हें एक समझना असम्भव है। यह असम्भव भी क्रियाकी परावस्थामें सम्भव हो जाता है। ये जो नाना रूप हैं, उनमें वह एकत्व मानो गुप्त हो गया है। स्वर्णालङ्कारोंमें यद्यपि गठनके नानात्वको लोग देखते हैं, पर यह जानते हैं कि वे नानारूप स्वर्णके ही हैं, उनके भीतर स्वर्णके सिवा और कुछ नहीं है। आत्माका यह एकत्व भाव तभी प्रकाशित होता है जब क्रियाकी परावस्थामें बहुभाव प्रकृष्ट रूपसे लीन हो जाता है। तब मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त आकर्षण रहता है, तब मन तल्लीन हो जाता है, उस अवस्थामें दूसरी ओर मन जा नहीं सकता। यही भगवान्का 'अवरुद्ध' रूप है। इस रूपमें मन अटकाये रहनेपर और कुछ नहीं दीख पड़ता। सुषुप्तिमें मन जिस प्रकार रुद्ध होता है, यह अवरोध उस प्रकारका नहीं है। यह पूर्णतः जाग्रत-भाव है, परन्तु इसमें मनको विषय-दर्शन नहीं होता। मन नहीं रहता इसीलिए विषय-दर्शन नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। अज्ञान ही विषय-प्रपञ्चको व्यक्त करता है। अवरुद्ध अवस्थामें अज्ञान नहीं रहता, अतएव अज्ञान जो प्रपञ्चका उत्पादक है उसके न रहने पर प्रपञ्च भी नहीं रह सकता, जैसे मनकी कल्पनाके अनुसार आकाशमें अनेक रूप दीख पड़ते हैं परन्तु कल्पनाके नष्ट होने पर

कल्पित रूपोंका अस्तित्व नहीं रहता। सब रूप जब अरूप-सागरमें डूबकर एक हो जाते हैं तो वह समत्व है, वही ब्रह्म-परमेश्वरका स्वरूप है। जितने जीव-भूत कल्पित होकर मूर्त्तरूपमें व्यक्त हैं, उन व्यक्त मूर्त्तियोंके अन्तरालमें यही अमूर्त्त विराजित रहता है। अमूर्त्तको आश्रय करके ही अनन्त रूपमय जगत् अस्तित्ववान् होता है। जब समस्त रूप फिर इस अव्यक्त अरूपमें आत्मगोपन करते हैं, तब भी उन समस्त व्यक्त भावोंका अधिष्ठानरूप अव्यक्त-भाव विनष्ट नहीं होता। उस अवस्थामें अन्य किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं रहता। इसीको चूलिकोपनिषदमें वर्णन किया है—

यस्मिन् सर्वमिदं प्रोतं ब्रह्मस्थावरजङ्गमम्।
तस्मिन्नेव लयं यान्ति बुद्बुदा सागरे यथा॥

ब्रह्म सर्वव्यापक है, उस सर्वव्यापक ब्रह्ममें ही ये स्थावर-जङ्गम मानो सागरमें बुद्बुदोंके समान उठते रहते हैं और उसमें ही लीन होते रहते हैं।

जिस प्रकार समुद्रसे बुद्बुद्की उत्पत्ति तथा उसमें ही लय होता है, उसी प्रकार ब्रह्म-समुद्रसे बुद्बुद्-स्वरूप इस विश्व-चराचरकी उत्पत्ति तथा ब्रह्मस्वरूपमें ही उसका लय होता जा रहा है। ब्रह्म ही प्राण-रूपमें प्रवृत्त होकर देह, इन्द्रिय और मन रूपमें परिदृष्ट हो रहा है। क्रियाकी परावस्थामें प्राणस्पन्दन रुद्ध होने पर समस्त व्यक्त जगत् ब्रह्ममें प्रवेश करता है। जगत् तब जगद्-रूपमें नहीं रहता, वह भी ब्रह्ममय हो जाता है। बुद्बुद्की उत्पत्ति-स्थिति जैसे क्षणिक है, विश्वकी उत्पत्ति-स्थिति भी उसी प्रकार क्षणिक है। बुद्बुद्का प्रकाश जैसे क्षणमात्रके लिए होता है, उसी प्रकार विश्वका प्रकाश भी क्षण-स्थायी मात्र है। मनकी चञ्चलावस्थामें मैं, तुम और समस्त विश्वका ज्ञान होता है। क्रियाकी परावस्थामें मन स्थिर होने पर समस्त क्षणोंका खण्ड-ज्ञान परावस्थाके ज्ञानमें लुप्त हो जाता है। ब्रह्मशक्ति प्राण है, उस प्राणके स्पन्दनसे ही यह नाम-रूपमय जगत् स्पन्दित हो उठता है। इसलिए प्राण जिससे स्पन्दित न हो, इसके लिए चेष्टा करनी चाहिए। प्राणका स्पन्दन जबतक रहेगा, संसार-दर्शन नष्ट न होगा। अतएव सर्वदा प्राणकी क्रिया करके प्राणको स्थिर करनेकी चेष्टा करो। तब फिर इस व्यक्त रूपको देखकर मुग्ध नहीं होना पड़ेगा। जो आत्मदर्शी योगी हैं, वे अपनी देहके भीतर कूटस्थका दर्शन करते हैं और उसके भीतर इस परम रूपमय जगत्का भी दर्शन करते हैं। यह नाम-रूपमय दृश्य भाव भी अन्तमें ज्योतिर्मय रूपमें परिणत होता है और वह ज्योति भी परावस्थामें विलीन हो जाती है। उस परावस्थाका विनाश नहीं होता, इसको जो योगप्रभावसे जानते हैं उन्हींका ज्ञान सम्यग् ज्ञान है ॥२७॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

अन्वय—हि (क्योंकि) सर्वत्र समं (सर्वत्र समान) समवस्थितम् ईश्वरम् (समभावसे अवस्थित ईश्वरको) पश्यन् (देखकर) आत्मना (अपनी अविद्यादूषित बुद्धिके द्वारा)

आत्मानं (सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्माकी) न हिनस्ति (हिंसा नहीं करता अर्थात् अपनेसे अन्य किसी वस्तुको नहीं जानता) ततः (इस कारण) परां गतिं (परम गतिको) याति (प्राप्त होता है) ॥२८॥

श्रीधर—कुत इति ? अत आह—सममिति। सर्वत्र भूतमात्रे, समं सम्यक् अप्रच्युत-रूपेण अवस्थितं परमात्मानं पश्यन् हि यस्मात् आत्मना स्वेनैव आत्मानं न हिनस्ति अविद्यया सच्चिदानन्दरूपमात्मानं तिरस्कृत्य न विनाशयति, ततश्च, परां गतिं मोक्षं आप्नोति। यस्तु एवं न पश्यति स हि देहात्मदर्शी देहेन सह आत्मानं हिनस्ति तथा च श्रुतिः—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥—॥२८॥

अनुवाद—[वह कैसे सम्यग्दर्शी है, यह बतला रहे हैं]—जो सर्वत्र अर्थात् भूतमात्रमें परमात्माको अप्रच्युत-रूपमें अवस्थित देखता है वह अपने आप (आत्मा) की हिंसा नहीं करता अर्थात् अविद्याके द्वारा सच्चिदानन्दरूप आत्माको आवृत करके विनाश नहीं करता। इससे परा गति अर्थात् मोक्षको प्राप्त होता है। जो इस प्रकार नहीं देखता वह निश्चय ही देहात्मदर्शी है, वह देहके विनाशके साथ आत्माका भी विनाश करता है। इस प्रकारके अविवेकी पुरुष ही वस्तुतः आत्महा हैं। श्रुति कहती है—"जो लोग आत्महा होते हैं वे मृत्युके बाद आलोकहीन अन्धकारावृत निरयादि लोकोंको गमन करते हैं" ॥२८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार (समान रूपसे) सर्वत्र ब्रह्म सबमें स्थित जो देखता है—वह आत्माको आत्माके द्वारा नष्ट न करके अर्थात् अन्य दिशामें दृष्टि न करके क्रिया करता है, जो गुरुवक्त्रगम्य है, उसके बाद परा गति (अर्थात् क्रियाकी परा स्थिति) लाभ करता है।—परमात्मा सब भूतोंमें एक ही भावसे अवस्थित हैं, जो आज्ञाचक्र-में कूटस्थ-दर्शन करता है वह इसको जानता है। बाहरके रूप या गुणमें जीवसमूहका ऐक्य नहीं हो सकता। परन्तु आत्म-तेजकी जो प्रकाश-शक्ति देहादिरूपमें व्यक्त है, उसके मूलमें यह कूटस्थ-ज्योति है। यद्यपि अनन्त वस्तुओंमें उनका अनन्त प्रकाश विद्यमान है तथापि कूटस्थरूप मूल-उत्सके भीतर कोई वर्णगत या गुणगत भेद नहीं है। कूटस्थ सबके भीतर एक ही रूपमें वर्तमान है। कूटस्थ आत्माका किसी कालमें विनाश नहीं है। जो लोग कूटस्थको नहीं देखते, कूटस्थके तेजसे विकसित विशेष-विशेष देहेन्द्रियादि-युक्त आकृति-मात्रको देखते हैं वे वार-वार अपने जन्म-मरणको देखते हैं अर्थात् देहान्तके द्वारा पृथक्-पृथक् उपाधिका विनाश देखते हैं। जो लोग कूटस्थको देखते हैं, वे किसी पदार्थके विनाश या जन्मको नहीं जान पाते। प्राणके चाञ्चल्यसे ही मन है, मनके स्थिर होने पर ही स्थिर प्राणका सन्धान मिलता है। मन जब सङ्कल्पविहीन होकर स्थिर होता है तो वह फिर मन नहीं रह जाता। वही स्थिर प्राण है, वह स्थिर प्राण ही आत्मा है। प्राणकी ऊर्ध्वगति होने पर आज्ञाचक्रमें जो उसकी स्थिति होती है, उस स्थितिकी अवस्थाको ही आत्मा कहते हैं, वह निज

बोधरूप है। लिखकर या कहकर वह समझाया नहीं जा सकता। आज्ञाचक्रमें प्राणके स्थिर होने पर मनका लय होता है। तब एक आत्मसत्ताके अतिरिक्त और कोई उपाधि वर्तमान नहीं रहती। इस अवस्थामें सब समान हो जाता है, इसीलिए इसको "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" कहा गया है। यह जो समतारूप आत्मा है इसकी हिंसा या नाश कोई नहीं कर सकता। जो विषयरूपी विषधरके मस्तक पर चरण रखकर परमानन्दमें वंशी बजा रहे हैं, उस समतारूप समस्त इन्द्रियोंके प्रभु गोविन्दका जो दर्शन नहीं करता वह आत्माके अविनाशी भावको कैसे समझ सकता है। उसका चिर कालसे अज्ञानावृत ज्ञान केवल देह-सम्बन्धी है। देहमें आरोपित आत्मबोधके कारण प्रत्येक देहके ग्रहण और त्यागके समय वह आत्माको जन्म-मरण-धर्मी-सा मानता है और शोकग्रस्त होता है। ये ही वस्तुतः 'आत्महा' हैं। जो प्राणके चाञ्चल्य और तज्जनित मनके विक्षेपको रोक नहीं सकते, वे ही इस नित्य निर्विकार अद्वितीय विशुद्ध आत्मामें नानात्वकी कल्पना करते हैं तथा देह-दृष्टिसे युक्त होकर जन्म-मृत्युकी विभीषिकाका दर्शन करते हैं। आत्माका स्वरूप अवगत न होनेके कारण जीवको इस प्रकार घोर नरककी यातना भोगनी पड़ती है। इस प्रकारका आत्महननरूप व्यापार अज्ञानान्ध जीवके भीतर सदा ही चलता रहता है। इसी कारण मनुष्यके दुःखोंका और जन्म-मरणके क्लेशोंका भी अन्त नहीं है। हाय रे जीव! कब तुम्हारा भाग्योदय होगा! कब तुम श्रीगुरूपदेशसे आत्मदर्शन करनेमें समर्थ होकर इस जन्म-जरा-मरणके अभिनयकी परिसमाप्ति देखकर निश्चिन्त हो जाओगे! वेद इसी लिए जीवको प्रबुद्ध करते हैं—"उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत"— एक बार उस आत्मदर्शी मुक्तात्माकी चरण-धूलिसे अभिषिक्त होकर हे जीव, जाग उठो। जाग उठो, अपने आपको पहचान लो। अविद्याके वश पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि योनिमें जन्म लेकर अपने आपको जाननेका सुयोग तुम्हें नहीं मिला। इस बार तुमने मनुष्य-जन्म प्राप्त किया है। अरे! इस बार तो आत्मानुसन्धान करके देखो! इस सुयोगको तुम कहीं खो न देना। मनुष्यदेह पाना उतना कठिन नहीं है जितना अतिशय दुर्लभ मनुष्यदेह पाकर आत्मानुसन्धानमें सचेष्ट होना। जो आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, उसे गर्भवास और देहधारणका क्लेश स्वीकार करना ही हाथ लगा है। मनुष्यदेह पाकर यदि केवल पशुओंके समान इन्द्रिय-सुखमें उन्मत्त होकर पड़े रहे तो क्या लाभ हुआ। हे जीव! एक बार जाग उठो, एकबार जागकर अपने स्वरूपका सन्धान करो, तुम स्वयं कौन हो देखो। तुम्हारा सर्वस्व जो आत्मा है, उस आत्माके प्रति मनोयोग देकर संसार-सागरसे उत्तीर्ण होनेके लिए श्रीगुरुके चरणकमलोंका आश्रय लो। देखो श्रीमद्भागवतमें क्या लिखा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥ भाग० ११ स्कन्ध।

यह मनुष्यदेह दुर्लभ है। कर्मजनित इस देहकी प्राप्ति किसी प्रकार सुलभ

होने पर भी जो देह भगवदनुसन्धानमें लगती है, वह देह प्राप्त करना बड़ा कठिन है। मनुष्य-देह पाकर लोग देहेन्द्रियोंके सुखमें ही उन्मत्त होते हैं और कामिनी-काञ्चनके भोगमें अनुरक्त रहते हैं। इसके फलस्वरूप न जाने कितनी अधम योनियोंको प्राप्त होते हैं, इसकी सीमा नहीं है। भक्त प्रह्लादने कहा है—"दुर्लभं मानुषं जन्म, तदप्यध्रुवमर्थदम्।" मनुष्य-जन्म तो दुर्लभ है ही, परन्तु जिससे भगवत्प्राप्ति होती है ऐसा जन्मलाभ करना उसकी अपेक्षा भी दुर्लभ है। इस मनुष्य-देहरूपी नौकाकी सहायता से ही जीव भवसिन्धु उत्तीर्ण होता है। इस देह-नौकाके कर्णधार श्रीगुरुदेव हैं। गुरु-कृपा प्राप्त कर जो आत्माको स्मरण करता है, उसकी नौका अनुकूल वायु प्राप्तकर शीघ्रातिशीघ्र लक्ष्यस्थानमें पहुँचती है। यह अपूर्व देह-नौका प्राप्त कर और इसके वास्तविक कर्णधारको प्राप्त करके भी जो आत्मदर्शनसे वञ्चित रहता है अतएव संसार-समुद्रसे उत्तीर्ण नहीं होता, वह सचमुच आत्मघाती है। इस संसारमें प्रायः सब अपने आपका घात करते हैं, सब अपने आपको नष्ट करनेमें सतत उद्योगयुक्त हैं। केवल वे ही अपनी रक्षा आप करते हैं जो गुरूपदेशके अनुसार साधनाभ्यासमें रत रहते हैं, दूसरी ओर बिल्कुल ही दृष्टि नहीं डालते। ये सब उत्तम सुविज्ञ साधक परा गति मोक्षको प्राप्त करते हैं। मन लगाकर क्रिया करने पर ही क्रियावान् पुरुष क्रियाकी परावस्थारूप स्थितिका अनुभव कर सकते हैं। जिन्होंने इस स्थितिका अनुभव किया है वे सबके भीतर इस स्थिर अविचल रामको देखकर समझते हैं कि सर्वत्र समभावमें अवस्थित यह आत्मा किसीका हनन नहीं करता। 'मैं' ही आत्मारूपमें सबके भीतर रहता है। कोई अपने आपका हनन नहीं करता। आत्माके इस प्रकारके अविनश्वरत्व और एकत्वको समझने पर ही इसका यथार्थ फल मोक्ष प्राप्त होता है। जो आत्मदृष्टि-सम्पन्न नहीं हैं वे देहकी मृत्युको ही मृत्यु मानकर बार बार मरणके पाशमें आबद्ध होते हैं॥ २८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

अन्वय—यः च (और जो) कर्माणि (सारे कर्म) प्रकृत्या एव (प्रकृतिके द्वारा ही) सर्वशः (सब प्रकारसे) क्रियमाणानि (साधित हो रहे हैं) तथा (और) आत्मानं (आत्माको) अकर्त्तारं (अकर्त्ता-रूपमें) पश्यति (देखता है) सः पश्यति (वही यथार्थतः देखता है)॥ २९॥

श्रीधर—ननु शुभाशुभकर्मकर्त्तृत्वेन वैषम्ये दृश्यमाने कथं आत्मनः समत्वं इत्याशङ्क्याह—प्रकृत्यैवेति। प्रकृत्यैव देहेन्द्रियाकारेण परिणतया; सर्वशः सर्वैः प्रकारैः क्रियमाणानि कर्माणि यः पश्यति, तथा आत्मानं च अकर्त्तारं देहाभिमानेनैव आत्मनः कर्त्तृत्वं, न स्वतः; इत्येवं यः पश्यति स एव सम्यक् पश्यति, नान्य इत्यर्थः॥ २९॥

अनुवाद—[यदि कहो कि शुभाशुभ कर्मोंके कर्त्तृत्वके कारण आत्माका वैषम्य देखा जाता है अतएव आत्माका समत्व कैसे हो सकता है, तो इस आशङ्काका

उत्तर देते हैं]—देहेन्द्रियादिके आकारमें परिणत प्रकृतिके द्वारा सब प्रकारके कर्म सम्पादित हो रहे हैं, यह जो देखता है तथा आत्माको भी जो अकर्त्ता-रूपमें देखता है वही सम्यक् देखता है, दूसरा नहीं। (देहाभिमानके कारण आत्माका कर्त्तृत्व है, स्वतः कर्त्तृत्व नहीं है) ॥२६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—प्रकृतिके गुणोंके द्वारा सारे कर्म करता है, परन्तु आत्मामें दृष्टि रखकर—अतएव वह अकर्त्ता है—ब्रह्ममें सर्वदा रहता है।—इस श्लोककी व्याख्यामें श्रीमच्छङ्कराचार्यका भाष्य इस प्रकार है—सर्वभूतस्थमीशं समं पश्यन् न हिनस्ति आत्मना आत्मानमित्युक्तं तदनुपपन्नं स्वगुणकर्मवैलक्षण्यभेदभिन्नेषु आत्मसु इत्येतदाशङ्क्याह—प्रकृत्यैवेति। प्रकृत्या प्रकृतिर्भगवतो माया त्रिगुणात्मिका, "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इति मन्त्रवर्णात्, तया प्रकृत्यैव च नान्येन महदादिकार्यकारणाकारपरिणतया तान्येव कर्माणि वाङ्मनःकायारभ्याणि क्रियमाणानि निर्वर्त्यमानानि सर्वशः सर्वप्रकारैः यः पश्यति उपलभते तथा आत्मानं क्षेत्रज्ञमकर्त्तारं सर्वोपाधिविवर्जितं पश्यति स परमार्थदर्शीत्यभिप्रायः। निर्गुणस्याकर्त्तुः निर्विशेषस्य आकाशस्येव भेदे प्रमाणानुपपत्तिरित्यर्थः"—सब भूतोंमें अधिष्ठित परमेश्वरको सर्वत्र समभावसे जो देखता है वह आत्माका आत्माद्वारा हिंसा नहीं करता, यह कहा गया है। यहाँ शङ्का हो सकती है कि यह बात अप्रामाणिक है, क्योंकि जीवके गुण और कर्मके वैलक्षण्यको देखकर यही प्रमाणित होता है कि देहभेदसे आत्मा भी भिन्न-भिन्न हैं। सब भूतोंमें यह आत्मा समभावसे रह नहीं सकता, ऐसा यदि होता तो कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई ज्ञानी, कोई अज्ञानी—इस प्रकार जीवोंमें व्यवस्था नहीं होती। इस प्रकारकी शङ्काके निवारणके लिए कह रहे हैं कि प्रकृति-शब्दका अर्थ भगवान्‌की माया है। वह माया त्रिगुणात्मिका है। श्रुतिमें भी है कि 'मायाको प्रकृति जानो'। महत्तत्व प्रभृति कार्य और कारण रूपमें परिणत प्रकृति ही कर्म करती है। प्रकृतिके सिवा अन्य कोई कर्त्ता नहीं हो सकता। कर्म भी तीन प्रकारके हैं—वाचिक, मानसिक और कायिक। सब प्रकारसे प्रकृति ही सारे कर्मोंको करती है। आत्मा क्षेत्रज्ञ कर्त्ता नहीं है क्योंकि आत्मा सब प्रकारसे उपाधिवर्जित है। इस प्रकारसे प्रकृति और आत्माके स्वरूपको जो देखता है वह परमार्थदर्शी है, यह अभिप्राय है। जो निर्गुण है अथ च अकर्त्ता है, वह आकाशके समान निर्विशेष और निरुपाधि आत्मा प्रत्येक शरीरमें भिन्न है, इस विषयमें किसी प्रकारका प्रमाण नहीं मिलता। आत्मा प्रति देहमें भिन्न नहीं है तथा आत्मा अकर्त्ता है, यह शास्त्र और आचार्योंके मुँहसे हम सुनते तो हैं, परन्तु क्या हम कह सकते हैं कि यह हमारी समझमें आ गया है? दृश्यमान् जगत्‌में वैषम्य देखनेमें आता है। यदि कहो कि आत्मा कर्त्ता नहीं है, प्रकृतिके द्वारा ये सारे कार्य सम्पादित होते हैं, तो इससे आत्माको अकर्त्ता तो बना दिया, परन्तु प्रकृति आयी कहाँ से? और प्रकृतिके परिणाम अन्तःकरणमें जो आत्माका अध्यास होता है तथा अध्यासवश जो आत्मामें कर्त्तृत्व कल्पित होता है, वह अध्यास कैसे सम्भव होता है? आत्माका अकर्त्तृत्व मान लेने पर प्रकृतिका अस्तित्व अस्वीकार करना सम्भव नहीं है, क्योंकि दोनोंका

संयोग आवश्यक है। तब कहना पड़ेगा कि जगत्‌में दो पृथक् पृथक् मूलतत्त्व हैं और उनका परस्पर अध्यास ही यह जगत्-जीवरूप परिणाम है। आत्माको स्वतन्त्र और सबका अधिष्ठानभूत मान लेने पर भी 'सब' तो रह ही जाता है, अतएव दृश्यमान् प्रकृतिको हटा नहीं सकते। यदि प्रकृतिको उसकी शक्ति कहो, तो भगवान् या आत्माको अकर्त्ता कैसे कहोगे? अपनी शक्तिके भीतर हम ही रहते हैं। उसी प्रकार भगवत्शक्तिके भीतर भगवान् ही विद्यमान रहते हैं। ये सब नाना प्रकारकी शङ्काएँ उठती हैं।

वस्तुतः अचिन्त्य-शक्ति-सम्पन्न भगवान्‌के नाना प्रकारके ऐश्वर्य और शक्तियाँ हैं। उस ऐश्वर्यके कारण कभी उनको निर्गुण, निरुपाधिक और कभी सगुण, सोपाधिक रूपमें देखते हैं। अतएव दोनोंकी सत्यता अस्वीकृत नहीं की जा सकती। इसीसे वह अकर्त्ता होते हुए भी कर्त्ता हैं। अवश्य ही यह बात सत्य है कि वह निर्गुण, निर्विकार और सर्वोपाधि-वर्जित होकर नित्य निर्गुण अवस्थामें रहते हुए भी सगुण रूपमें अर्थात् जीव, ईश्वर और जगत् रूपमें प्रकाशमान हैं, इसे अस्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है। अतएव यह कहना उपयुक्त है कि वह निर्गुण और सगुण दोनों ही हैं। निर्गुण आत्मा प्रकृतियुक्त होकर सगुण बनता है। प्रकृति कोई भिन्न सत्ता नहीं है। यह भगवान्‌की निज शक्ति या महिमा है। इसको ब्रह्मकी अघटन-घटना-पटीयसी माया कहते हैं। जिस प्रकार भगवानका अन्त नहीं है उसी प्रकार मायाका भी अन्त नहीं है। प्रकृतिको कुछ लोग जड़ कहा करते हैं, परन्तु वह काठ और पत्थरके समान जड़ नहीं है। वह आत्माका दृश्य पदार्थ है, अतएव जड़ कहलाती है। प्रकृति और आत्मा अन्योन्याश्रय-भावमें मिले हुए हैं। दोनों ईश्वर या ईश्वरी हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि जिनको श्रुति एक और अद्वितीय कहती है, वह दो या अनेक कैसे होते हैं। यही उनकी अनिच्छाकी इच्छा है। यह कैसे होती है, क्यों होती है, कहा नहीं जा सकता। भगवान्‌को विकल्प नहीं होता, वासना नहीं होती, तथापि जब उनको अपने आपको देखनेकी इच्छा होती है, जैसे दर्पणमें हम अपना मुँह देखते हैं, तब अपनी मायाको प्रकट कर अपनेको नाना रूपोंमें प्रकाशित करते हैं। एक और अद्वितीय होने पर भी अपनेको नाना रूपोंमें प्रकाशित करनेका उनमें सामर्थ्य है, यह सामर्थ्य ही उनकी शक्ति या माया है। मायासे मिलकर ही वह अनेक होते हैं। जैसे शिशु अपने प्रतिबिम्बके साथ खेल करता है उसी प्रकार वह भी अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलते हैं। खेल खेलते समय भी वह स्वस्वरूपसे कभी विच्युत नहीं होते। उनकी माया द्वारा सृष्ट ये खिलौने उनसे पृथक् वस्तु नहीं हैं, ये उनकी ही शक्तिमात्र हैं। जब ये खिलौने माया-चक्रके भीतर पृथक् रूपसे खेलते हैं तब वे नाना जान पड़ते हैं और ब्रह्मसे भिन्नवत् प्रतीत होते हैं। ये खिलौने जब मायाका भेद करके स्वकेन्द्रमें उपनीत होते हैं तो जैसे जल-बिम्ब जलमें मिल जाता है, उसी प्रकार वे भी ब्रह्मदेहमें मिल जाते हैं। जीव-बिम्बकी इस अवस्था-प्राप्तिको उसकी मुक्ति कहते हैं।

यह माया कोई अन्य वस्तु नहीं है, यह उनकी स्वशक्ति है। ऋषियोंने उस

मूलकेन्द्रको पिता तथा उसकी अचिन्त्य शक्तिको, जो जगत्की उत्पत्तिका हेतु है, विश्व-जननी कहकर सम्बोधन किया है। ऋषियोंके एक सम्प्रदायने निर्गुण ब्रह्मभावको छोड़कर इस ब्रह्मशक्तिके सगुण भावकी ही पूजा की है और इसको विश्वकी आदि जननी कहकर इसका परमेश्वरी-रूपमें चिन्तनकर अपनेको कृतकृत्य माना है। यह भी बड़ा सुन्दर भाव है। माँ मानो नाना रूपोंमें सजकर कभी विश्वरूपमें, कभी जीवरूपमें और कभी जीवकी मोक्षदात्रीके रूपमें आत्मप्रकाश कर रही हैं। देवता, जीव आदि सभी उसके खेलसे मुग्ध होकर उसकी ओर अनिमेष दृष्टिसे देख रहे हैं।

कार्यरूपमें विश्व और कारणरूपमें निराकारा, विश्वातीता, अरूपिणी होकर भी वह जीवका सन्तापहरण कर रही हैं तथा उपयुक्त पात्रको मुक्ति-दान करनेके लिए सदा उद्यत रहती हैं। शिव जैसे बुद्धिके लिए अगम्य हैं, माँ भी उसी प्रकार बुद्धिके लिए अगम्य हैं। इसी कारण देवीमाहात्म्यमें ऋषि स्तवन करते हैं—

हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणापि दोषैः
न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा।
सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूतम्
अव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ॥

हे देवि! तुम समस्त जगत्के मूल कारण हो, तुम त्रिगुणमयी हो, इसी कारण रजोगुणसे जगत्की सृष्टि करती हो, सत्त्वगुणसे जगत्का पालन करती हो और तमोगुणसे जगत्का संहार करती हो। सृष्टि, स्थिति और प्रलयका तुम्हीं एक-मात्र कारण हो! जगत्की सारी वस्तुएँ तुम्हारा ही प्रकाश है, तथापि तुम रागद्वेषादि दोषोंसे युक्त जीवोंको ज्ञेय नहीं हो। हरिहरादि भी तुमको जान नहीं सकते। तुम अन्त-रहित हो, तुम सबकी आश्रयरूपा सर्वव्यापिनी हो, अतः यह अखिल ब्रह्माण्ड तुम्हारा एक अंश-मात्र है। प्रकृति पृथक्-पृथक् दृश्य वस्तुरूपमें अविच्छिन्न होने पर भी तुम षड्-विकार-शून्या आद्या प्रकृति हो।

अतएव जगत्में जो कुछ कार्य हो रहा है वह सब प्रकृतिका है। ब्रह्मके भीतर जो कार्यरूपी भाव या शक्ति है वही प्रकृति है। वही आत्माकी क्रियाशक्ति, बाह्य प्रकाश या शरीर-ग्रहण है। यह क्रियाशक्ति आत्मकेन्द्रसे सर्वत्र विस्तृत होकर जगदादिरूपमें परिणत होती है। यही क्रियाशक्ति जब सङ्कुचित होकर केन्द्रमें लीन होती है तब वह अव्याकृत हो जाती है, उस समय जगदादिरूप परिणाम नहीं होता। पहले यह शक्ति आत्मामें अविनाभावसे सम्मिलित रहती है, पश्चात् अपने आपको देखनेकी इच्छा होते ही उनकी स्वशक्ति जो उनमें सुप्त रहती है, उसका स्फुरण आरम्भ होता है। यही "एकोऽहं बहु स्याम्" सङ्कल्प है। स्फुरणकी प्रथमावस्थामें यह शक्ति अव्यक्त रहती है, उस समय अपने आपमें केवल ईषत् व्यञ्जनायुक्त रहती है, उस समय भी शक्ति और शक्तिमान्में अभेद रहता है। पश्चात् शक्ति और शक्तिमान् द्वन्द्वमिथुन तथा युगलरूपमें व्यक्त होते हैं। तब भी वे अङ्गाङ्गी-रूपमें ही अवस्थित होते हैं। फिर ज्यों ही शक्ति सृष्टिकी ओर उन्मुख होती है त्यों ही शक्ति और शक्तिमान् मानो पृथक् रूपमें उपलब्ध होने लगते हैं। इस अवस्थामें

वे कुछ पृथक् भावमें प्रकाशित होने पर भी परस्पर विच्छिन्न नहीं होते। इसी कारण 'चित्' जितना ही शक्ति (प्रकाश) रूपमें पृथक् होता है उतना ही शक्तिके भीतर चिदाभासरूपमें वह अपने आपको प्रकट करता है। बाह्य दृष्टिसे जितना ही शक्तिको देहादि स्थूल रूपमें परिणत देखा जाता है उतना ही उन सारे स्थूल रूपोंमें चैतन्यबिम्ब प्रज्वलित हो उठता है। इस प्रकार पहले प्राणशक्तिरूपमें, पश्चात् मन-इन्द्रियाँ और देहादि-रूपमें वह सूक्ष्मसे सूक्ष्म आत्मशक्ति मानो स्थूलसे स्थूलतर रूप धारण करती है। वाष्प जैसे जल बनता है, जल जैसे जमकर बर्फ हो जाता है, उसी प्रकार मन, इन्द्रियाँ और देहरूपमें सूक्ष्म प्राणशक्ति व्यक्त होती है। आत्मा जब प्राणरूपमें व्यक्त होता है तब उस प्राणको उसकी प्रकृति कहते हैं। उसके भीतर विचित्र जगत्-निर्माण करनेकी शक्ति स्वतः वर्तमान रहती है। उस प्राणरूपा आद्या प्रकृतिके भीतर आत्मचैतन्य सदा ही झलमल करता है। इस प्राणकी उत्पत्तिके साथ ही आत्मा और प्राण मानो पृथक्-पृथक् वस्तु हों, इस प्रकारका खेल प्रारम्भ हो जाता है। इस खेलको मायाका खेल कहते हैं। इससे नाना प्रकारके विचित्र भावोंका स्फुरण होने लगता है। प्राणशक्तिके साथ आत्माका नित्य निर्गुण भाव स्वतः सम्मिलित रहता है। प्राणकी विचित्र निर्माण-शक्तिके स्फुरणके साथ बाह्य जगत्से लिप्त होनेका एक प्रबल आकर्षण उसमें दृष्टिगोचर होता है। यही प्राणका कम्पन या प्राण-तरङ्गका उच्छ्वास है। फलस्वरूप मायोपहित चैतन्य अहंको मनरूपमें बाह्य व्यापारमें लिप्त होते देखा जाता है। निर्गुण पुरुषके इस मायांशकी ही पृथक् जीवरूप उपाधि हो जाती है। यह प्रकृति मानो पुरुषसे स्वतन्त्र है। स्वतः यह पृथक् हो ऐसी बात नहीं है, तथापि जो पार्थक्य दीख पड़ता है वह भी जिससे न रहे इसी लिए प्रकृति-पुरुषके भीतर एक प्रबल आकर्षण लक्षित होता है। उस आकर्षणका वेग ही जीवको परमात्माके साथ मिलनेके लिए त्वरान्वित करता है। जगदादि भोग्य वस्तु और भोक्ता मन प्राणशक्तिके ही परिणाम हैं। इस समय प्राणकी अवस्था चञ्चल और विक्षेपमय होती है। वह जब अपने केन्द्र—मुख्य प्राणके साथ मिलनेके लिए वेगयुक्त होता है, तब प्राणके परिणाम देह, इन्द्रियाँ और मन आदि समस्त केन्द्रमुखी हो जाते हैं। क्रमशः सर्वत्र अवस्थित प्राणशक्ति सिमट कर स्वकेन्द्रमें सम्मिलित हो जाती है। इस सम्मेलनका उपाय है प्राणके द्वारा प्राणका घर्षण। यह भी एक प्रकारकी हवन-क्रिया है। दुग्धके प्रत्येक परमाणुमें अवस्थित घृत जैसे मन्थनके द्वारा एकीभूत होकर भासित हो उठता है, काष्ठद्वयके संवर्षणके द्वारा जैसे उनके भीतरकी अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार प्राणके मन्थन-द्वारा प्रकृति-मध्यगत आत्मज्योति देहेन्द्रिय-प्राणसे पृथक् होकर प्रकाशित होती है। प्रकृतिरूपी सलिलके भीतर मानो स्वर्ण-कमल झलमल कर उठता है। यही कारणार्णवशायी या क्षीरोदशायी भगवत्स्वरूप है। यही प्रकृति-मध्यगत पुरुष या राधावक्षविहारी श्रीकृष्ण हैं। जड़-चेतनरूप प्रकृति-पुरुषका यही युगल भावमें सम्बद्ध भाव है। पश्चात् इस युगल भावका युग्मबोध भी लुप्त होकर

एक अखण्डाकार महाभाव या परावस्था-रूप वर्तमान रहता है। चराचर ब्रह्माण्ड तथा अपना व्यक्तित्व सभी एकके साथ मिलकर एक हो जाते हैं। 'सदेव आसीत्'— जो एकमेवाद्वितीय पहले वर्तमान था, पीछे भी नानात्वके सारे विचित्र भाव मिलकर वही एक अद्वितीय हो जाते हैं। बीचमें जो यह नानात्व रहता है, वह मायाका खेल-मात्र है, यथार्थ नानात्व नहीं है। इस पुनर्मिलनका नाम ही समता है, यह समाधि-भाव-गम्य है। जिन्होंने इस प्रकारकी समता प्राप्त की है, देहान्तके बाद उन साधकेन्द्रोंकी फिर स्थूल देह उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि जिस सूक्ष्म शरीरका अवलम्बन करके स्थूल शरीर रचित होता है, ज्ञान-प्राप्तिके बाद उनका वह सूक्ष्म शरीर भी स्थूल देहके पतनके साथ सदाके लिए निर्वापित हो जाता है। जबतक उनका स्थूल शरीर रहता है तबतक प्रकृति उनकी सब प्रकारसे परिचर्या करती है। उनका अभिमान विलीन हो जाने पर फिर प्रकृतिके कार्य सुख-दुःख आदिमें उनको आसक्ति-बोध नहीं होता। अतएव ये सब आत्ममग्न पुरुष सदा ब्राह्मी स्थितिमें वर्तमान रहते हैं और अहङ्कार-शून्यताके कारण प्रकृतिके कार्यमें उनका कर्त्तृत्व-बोध सदाके लिए अन्तर्हित हो जाता है। प्रकृतिके कार्योंको अकर्त्ता-रूपमें द्रष्टारूपसे उदासीनके समान वे केवल देखते रहते हैं ॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३०॥

अन्वय—यदा (जब) भूतपृथग्भावम् (भूतोंके पृथक् पृथक् भाव अर्थात् नानात्व) एकस्थं (एक आत्मामें स्थित) ततः एव च (और उससे ही) विस्तारं (नानात्वकी अभिव्यक्ति या विस्तार) अनुपश्यति (देखता है) तदा (तभी) ब्रह्म सम्पद्यते (ब्रह्मभावको प्राप्त होता है) ॥३०॥

श्रीधर—इदानीं तु भूतानां, प्रकृतितावन्मात्रत्वेन अभेदात् भूतभेदकृतमपि आत्मनः भेदं अपश्यन् ब्रह्मत्वं उपैति इत्याह–यदेति। यदा भूतानां स्थावरजङ्गमानां पृथक्भावं भेदं पृथक्त्वं, एकस्थं—एकस्यामेव ईश्वरशक्तिरूपायां प्रकृतौ प्रलये स्थितम् अनुपश्यति आलोचयति। तत एव तस्याः एव प्रकृतेः सकाशात् भूतानां विस्तारं सृष्टिसमये अनुपश्यति। तदा प्रकृतितावन्मात्रत्वेन भूतानामपि अभेदं पश्यन् परिपूर्णं ब्रह्म सम्पद्यते, ब्रह्मैव भवति इत्यर्थः ॥३०॥

अनुवाद—[भूतगण भी स्वकारण प्रकृतिसे अभिन्न हैं, अतएव भूतभेद-वश आत्माका जो भेद है उसको जो नहीं देखते वह ब्रह्मको प्राप्त होते हैं, इसलिए कहते हैं]—जब स्थावर-जङ्गमादि भूतोंके पृथक् भावोंको एकस्थ-रूपमें अर्थात् प्रलय कालमें एकमात्र ईश्वर-शक्तिरूपा प्रकृतिमें अवस्थित देखते हैं और सृष्टिकालमें भी उसी प्रकृतिसे भूतोंके फिर विस्तार या विकासकी पर्यालोचना करते हैं अर्थात् सब प्रकृतिमें पर्यवसित हो जाते हैं अतएव सब एक हैं— इस प्रकारका अभेद-दर्शन करते हैं, तब वह ब्रह्म ही हो जाते हैं। [प्रकृति ब्रह्मकी शक्ति होनेके कारण ब्रह्मसे अभिन्न है। सब भूत प्रलय कालमें प्रकृति-

रूपताको प्राप्त होकर प्रकृतिके साथ अभिन्न हो जाते हैं, अतएव ब्रह्मके साथ भी वे अभिन्न हैं—इस प्रकारके अभेददर्शी पुरुष ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं]॥३०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पृथक् पृथक् भूतों को जब सब एक ब्रह्मज्ञान होता है, और उस एक ब्रह्मके अणुके भीतर सभी रहते हैं, अतएव यह जो विस्तृत संसार है, सब ब्रह्म ही हो गया। एक अणुसे ही सब और सब एक अणुमें हैं; तब और कुछ भी नहीं है ब्रह्मके सिवा।—क्रियाकी परावस्थामें जब मन और प्राणके साथ सब भूत ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं, तब ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं रहता। ऋग् वेद ७-८-१४ में लिखा है—'अमृतं यज्ञे मधिमर्त्तेषु'—क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें जो कूटस्थ-स्वरूप ब्रह्म है वही मर्त्यलोकमें मधु अर्थात् अमृत-स्वरूप होता है। आत्मा ही समस्त चलायमान वस्तुओंमें है, अन्यथा वस्तुका नाम-रूप भी प्रकाशित नहीं होता। आत्मा प्रकृतिस्थ होकर चञ्चल होता है और चञ्चल होकर मनरूपमें विविध कल्पना करता है। प्राण आत्माकी प्रकृति है, इस प्राणमें मन लगाते-लगाते यह चञ्चल प्राण स्थिर हो जाता है। स्थिर प्राणमें जो कुछ दीखता है सब ब्रह्मरूपमें बोध होता है। आत्माका ही विस्तार प्राण है और प्राणका विस्तार मन या सङ्कल्प है। सङ्कल्प-स्वरूपसे ही इस विश्व ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति होती है। प्राणके स्थिर होने पर जिस अणु-स्वरूप ब्रह्मका प्रकाश होता है, उस अणुके भीतर सारा विश्व-ब्रह्माण्ड डूब जाता है। बुद्बुद् जैसे सागरमें प्रविष्ट हो जाता है उसी प्रकार वह अणु भी ब्रह्मस्वरूपमें विलीन हो जाता है, तब एक कहनेवाला भी कोई नहीं रहता, केवल ब्रह्म ही ब्रह्म रहता है। ब्रह्मके इस एक अणुमें सारा ब्रह्माण्ड ओतप्रोत है। उस एक अणुका ज्ञान होनेसे ही ब्रह्मज्ञान हो जाता है। कूटस्थमें रहते-रहते अणुका दर्शन होता है। जो सदा कूटस्थमें रहता है, उसका 'मैं-मेरा' नहीं रहता, उसके आकाश, पाताल और पृथ्वी सब ब्रह्ममय हो जाते हैं। आत्म-दृष्टि प्रतिष्ठित होने पर समस्त भूत आत्मामें ही अवस्थित दीख पड़ते हैं। तरङ्गमालाएँ असंख्य होने पर भी जैसे सागरसे उत्थित होकर सागरमें ही विलीन होती हैं और उन असंख्य तरङ्गोंको सागरसे अभेद-रूपमें देखते हैं, उसी प्रकार एक ब्रह्म-सत्तासे ही इस अनन्त ब्रह्माण्डका विकास होता है। इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डका ब्रह्मसत्तामें ही निमज्जन और उसमें ही एकीकरण जिसके ज्ञानचक्षुमें भासित होता है, वही ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त करते हैं। अज्ञानवश रज्जुमें जो सर्पबोध होता है, अज्ञान-स्वप्न मिट जाने पर रज्जुमें वह सर्पबोध विलीन हो जाता है। इसी प्रकार अज्ञानवश ब्रह्ममें जो जगत्-भ्रम कल्पित है, ज्ञानके प्रकाशमें वही जगत्-प्रपञ्च ब्रह्मरूपमें परिणत हो जाता है, नामरूप मिटकर एक सत्तामात्रमें पर्यवसित हो जाता है। जैसे मणिगण-मध्य सूत्र प्रोत होता है उसी प्रकार ब्रह्म सूक्ष्मरूपमें सबके भीतर निर्लिप्त भावसे रहता है। हृदय, प्राण और मन ये तीन सूत्र यज्ञोपवीत हैं, जिसके द्वारा सब बाह्य वस्तुएँ ग्रथित हैं। किसी कर्मका सङ्कल्प होने पर वह पहले हृदयमें, पश्चात् प्राणवायुमें, तब मनमें उदित होता है। मनमें जो उदित होता है, वही कार्यमें परिणत होता है। कार्य, कारण और कर्त्तृत्वके हेतु सारे बाह्य कर्मोंमें यह ब्रह्मसूत्र है, अभ्यन्तर भी वही है। गुरुवाक्यमें विश्वास करके हृदयमें क्रिया करके हृदयको स्थिर

करना होगा—वह क्रिया—प्राणके द्वारा प्राणकी वृद्धि करने पर क्रियाकी परावस्था होती है और उस अवस्थामें मनका चाञ्चल्य अपने आप दूर हो जाता है। स्थिरत्व-पदमें रहने पर ब्रह्मपदकी प्राप्ति होती है, तब ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश प्राप्त कर साधक ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है। क्रियाकी परावस्थामें जो रहता है, वही योगी है। क्रिया करते करते योगीको अपने आप धारणा होती है, उस धारणाके द्वारा उपर्युक्त सूत्रका धारणा करना पड़ता है। तब वे योगयुक्त अवस्थामें रहकर २४ तत्त्वोंको मानो देख रहे हों, ऐसा अनुभव करते हैं। (१) मूलप्रकृति—यह शरीर मूलाधार है, उसमें रहते-रहते (२) क्रियाकी परावस्थामें महत् ब्रह्म हो जाता है (३) पश्चात् सोऽहं ब्रह्म इत्याकार बोध होता है (४) मन—जो ब्रह्ममें लीन होता है। (५-२४) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध (पञ्च तन्मात्र); चक्षु, श्रोत्र, रसना, नासिका, त्वक् (पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ); वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ (पञ्च कर्मेन्द्रियाँ); क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम (पञ्च महाभूत) ये चौबीस योगबलसे दिव्यदृष्टिद्वारा दीखते हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य और आज्ञाचक्र। पञ्चमहाभूतोंके सूक्ष्म अणु पृथक् रूपमें दीखते हैं। इन सबके भीतर ब्रह्म है, यह जो देखते हैं वे ही तत्त्वदर्शी हैं। सब तत्त्वोंके भीतर वही एक ब्रह्म रहता है। इसी कारण वे जिस तत्त्वको देखते हैं, सब तत्त्वोंमें ब्रह्मदर्शन करते हैं।

मायाका प्रधान विकास देश और काल है। इनके द्वारा ही एक वस्तु इतने असंख्य रूपोंमें प्रतिभात होती है। जबतक आत्मचैतन्यमें बुद्धि निरुद्ध नहीं होती, यह नानात्व-दर्शन कदापि नहीं जाता। बुद्धि निरुद्ध हुए बिना देश-कालातीत होना सम्भव नहीं है। दृढ़ अभ्यासके साथ जो आत्मस्थ हो सकता है, उसके सामने देशकालजनित पदार्थोंमें कुछ भी पार्थक्य नहीं रहता, सब स्वप्नवत् जान पड़ता है। क्रियाकी परावस्थामें एकमात्र ब्रह्म-चैतन्य ही रहता है, अतएव ये असंख्य जीव या जगत् जो दीख पड़ते हैं, क्रियाकी परावस्थामें इनका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। इसी कारण यह जगदादिरूप सारा ब्रह्मविस्तार क्रियाकी परावस्थामें ब्रह्माणुके भीतर प्रविष्ट होकर ब्रह्म हो जाता है॥ ३०॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥३१॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय !) अनादित्वात् निर्गुणत्वात् (अनादि और निर्गुण होनेके कारण) अयम् अव्ययः परमात्मा (यह अव्यय परमात्मा) शरीरस्थः अपि (शरीरमें रहकर भी) न करोति न लिप्यते (कुछ भी नहीं करता, अतएव लिप्त भी नहीं होता)॥३१॥

श्रीधर—तथापि परमेश्वरस्य संसारावस्थायां देहसम्बन्धनिमित्तैः कर्मभिः तत्फलैश्च सुख-दुःखादिभिर्वैषम्यं दुष्परिहरमिति कुतः समदर्शनं तत्राह—अनादित्वादिति। यदुत्पत्तिमत् तदेव हि व्येति विनाशमेति। यच्च गुणवद्वस्तु तस्य गुणनाशे व्ययो भवति। अयन्तु

परमात्मा अनादिः निर्गुणश्च । अतः अव्ययः—अविकारीत्यर्थः । तस्मात् शरीरे स्थितोऽपि न किञ्चित् करोति न च कर्मफलैः लिप्यते ॥३१॥

अनुवाद—[तथापि परमेश्वरकी संसारावस्थामें देह-सम्बन्धके कारण कर्म और उसके फल सुख-दुखादि द्वारा वैषम्य दुष्परिहरणीय है, अतएव समदर्शन किस प्रकारसे सम्भव हो सकता है, इस आशङ्काका उत्तर देते हैं]—जो उत्पत्तिमत् है वही 'व्येति' अर्थात् विनाशको प्राप्त होता है। और जो गुणवत् है उसका गुण-नाशसे 'व्यय' अर्थात् विनाश होता है। परन्तु यह परमात्मा अनादि और निर्गुण है, अतएव अविकारी है। इसलिए शरीरमें रहकर भी वह कुछ नहीं करता और कर्मफलसे लिप्त नहीं होता ॥३१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अतएव एकमें सब और सबमें एक; तब उसका आदि कहाँ? गुण भी कहाँ रहता है तब? क्योंकि सब गुण ब्रह्म हो गया है—क्रियाकी परावस्थामें ब्रह्ममें लीन हो गया है—आत्माकी परावस्थामें स्थिति प्राप्त हुई है—जिसकी स्थिति होने पर भी अनन्त है, उसका फिर विनाश कहाँ? वह अर्थात् जिनको इस प्रकारका ज्ञान हो गया है—शरीरमें रहते हुए भी कुछ नहीं करते—कुछ भी ब्रह्म है—करना भी ब्रह्म है !! अतएव कुछ करते नहीं हैं—अन्य वस्तु होती तब तो लिप्त होते, सब ब्रह्म है अतएव वह निर्लिप्त हैं।—क्रियाकी परावस्थामें जब सब ब्रह्ममें लीन हो गया, तब फिर उसमें गुण किस प्रकार रहेगा। क्रियाकी परावस्था ब्रह्मदशा है, उसका आदि-अन्त नहीं है, अतएव कुछ करनेके लिए भी नहीं है। इस प्रकार जब सब एक है तब लिप्त करनेवाली अन्य वस्तु कहाँ रही? प्राण जब इड़ा-पिङ्गलामें बहता है तो बहिर्वस्तुका ज्ञान होता है, देहादिका अनुभव होता है, मानो उनमें एक पारस्परिक सम्बन्ध है ऐसी धारणा होती है। प्राण जब सुषुम्नावाही होकर त्रिगुणातीत हो जाता है तब प्रकृति नहीं रहती और न उसके साथ किसीका सम्पर्क। प्रकृतिके साथ सम्पर्क न रहने पर जन्म-मरण आदि विकारोंका होना भी संभव नहीं है। श्रीमत् शङ्कराचार्यने इस श्लोककी जो व्याख्या की है उसका संक्षिप्त भाव यह है—"जिसका आदि नहीं है उसको अनादि कहते हैं, आत्मा निरवयव है अतएव इसका विनाश नहीं है। जो वस्तु सगुण है उसके गुणोंका अपचय होने पर विनाश होता है। आत्मा निर्गुण है अतएव उसका विनाश नहीं हो सकता। शरीरस्थ होकर भी आत्मा किसी प्रकारका कार्य नहीं करता तथा कार्य न करनेके कारण कार्यके फल द्वारा भी लिप्त नहीं होता। आत्माको शरीरस्थ कहा गया है क्योंकि शरीरमें ही आत्माकी उपलब्धि होती है।"

जलमें सूर्यका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह जलके चाञ्चल्यके द्वारा हिल्लोल करता जान पड़ता है। परन्तु सूर्य जैसे वास्तवमें चञ्चल नहीं होता, उसी प्रकार शरीरके सुख-दुःखके साथ आत्मा सुखी या दुःखी जान तो पड़ता है परन्तु आत्माके साथ उस सुख-दुःखादिका कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता। इसी कारण आत्मा शरीरस्थ होकर भी शारीरिक धर्मके साथ लिप्त नहीं होता। यहाँ जिज्ञासा हो सकती है

कि तब देहके भीतर कार्य कौन करता है ? यदि परमात्माके सिवा कोई दूसरा देही हो तो कहा जा सकता है कि वही कार्य करता है और वही लिप्त होता है, परन्तु देही तो वही है। "मुझको ही सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ समझो"—इस प्रकारकी उक्तियोंके द्वारा जीव और ईश्वरमें भेद अप्रमाणित हो जाता है। यदि ईश्वरसे पृथक् कोई देही नहीं है तो कौन करता है अथवा लिप्त ही कौन होता है ? भगवान्ने एक स्थानमें कहा है—'स्वभावस्तु प्रवर्त्तते'। अविद्या ही कर्म करती है तथा कर्मफलमें अविद्या-लिप्त जीवका मन लिप्त होता है—"अविद्या संसृतेर्हेतुः विद्या तस्य निवर्त्तिका"। जब अविद्या सत्य नहीं, मिथ्या है, तब तत्कर्तृक व्यवहारको भी मिथ्या समझना चाहिए। यह जगदादि विषय, जीव तथा कर्म, और जीवका कर्म-फलमें लिप्त होना—ये सब स्वप्नदर्शनके समान हैं। स्वप्नावस्थामें जो प्रतीति होती है, जाग्रतावस्थामें उसका कोई चिह्न नहीं रहता। जो सर्वकालमें सत्य नहीं है, उसको असत्य ही समझना चाहिए। इसलिए जीवका बन्धन और मोचन भ्रमजनित मनःव्यापार-मात्र है। हम सङ्कल्पद्वारा जगत्में लिप्त और आबद्ध होते हैं, यह सङ्कल्प मनका कार्य है। बलपूर्वक संकल्प किये बिना कोई किसीके साथ लिप्त या बद्ध नहीं हो सकता। क्रियाकी परावस्थामें जब देह-बोध नहीं रहता, तब देहादिके कार्यमें किसीके लिप्त होनेकी संभावना नहीं होती ॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

अन्वय—यथा (जैसे) सर्वगतं आकाशं (सर्वत्र अवस्थित आकाश) सौक्ष्म्यात् (सूक्ष्म होनेके कारण) न उपलिप्यते (किसी वस्तुके साथ लिप्त नहीं होता) तथा (वैसे ही) आत्मा (आत्मा) सर्वत्र देहे (सब देहमें) अवस्थितः अपि (विद्यमान होकर भी) न उपलिप्यते (किसीके साथ लिप्त नहीं होता) ॥३२॥

श्रीधर—तत्र दृष्टान्तमाह—यथा इति। यथा सर्वगतं पङ्कादिष्वपि स्थितं आकाशं सौक्ष्म्यात् असङ्गात् पङ्कादिभिः नोपलिप्यते, तथा सर्वत्र, उत्तमे मध्यमे अधमे वा देहे अवस्थितोऽपि आत्मा नोपलिप्यते—दैहिकैर्दोषगुणैः न युज्यत इत्यर्थः ॥३२॥

अनुवाद—[उसका दृष्टान्त दिखला रहे हैं]—जैसे सर्वगत अर्थात् पङ्कादिमें भी अवस्थित आकाश सूक्ष्म और असङ्ग होनेके कारण पङ्कादिके द्वारा उपलिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र—उत्तम, मध्यम और अधम शरीरोंमें अवस्थित होकर भी आत्मा दैहिक दोष-गुणके द्वारा दोष या गुणसे युक्त नहीं होता ॥३२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जैसे बृहत् ब्रह्माण्डमें सब ही में सूक्ष्म-रूपसे आकाशकी गति अर्थात् स्थिति है—तात्पर्य स्थिति गति दोनों ही !! सूक्ष्म गतिसे स्थिति और स्थूल गतिसे गति !!! परन्तु सूक्ष्मत्व-प्रयुक्त निर्लिप्त होता है। वैसे ही क्षुद्र ब्रह्माण्ड अणु-स्वरूपमें सब देहोंमें ब्रह्म व्याप्त तथा स्थिति !! इसी प्रकार आत्मा देहमें सूक्ष्म ब्रह्म-स्वरूपमें सब स्थानोंमें है। गति होती है तथा स्थिति ! स्थिति होने पर ही निर्लिप्त ब्रह्म है—वह स्थिति क्रियाकी परावस्था है—जिसने उसे प्राप्त नहीं किया है वह जगत्में है अर्थात् जन्मसे केवल गतिमें

रहता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्माण्डकी गति अवरुद्ध करनेकी केवल यही क्रिया है—जो गुरु-वक्त्र-गम्य है और सुखसे की जा सकती है। केवल तनिक अनुग्रह पूर्वक इधर दृष्टि रखने मात्रसे। "केवल स्रोतमें बहते जाओगे"—एक खूँटी पकड़ो जो तुम्हारे भीतर है।—आत्मा निर्लिप्त है, इसका दृष्टान्त है आकाश। आकाश सबके भीतर है, परन्तु किसी भी वस्तुके साथ आकाश लिप्त नहीं है, क्योंकि आकाश बहुत सूक्ष्म है। धूल और धूम समय समय पर आकाशको मानो आच्छादित करते हुए दीख पड़ते हैं, परन्तु धूल और धूम हट जाने पर भी आकाशमें कोई दाग नहीं छोड़ जाते, क्योंकि आकाश असङ्ग है। आकाशको सर्वत्रग कहते हैं अर्थात् सब वस्तुओंमें उसकी स्थिति है। यह स्थिति और गति क्या है? स्थिति और गति एक ही बात है। स्थितिशील आत्मा कालके द्वारा ही गतिशील होता है। सीमाबद्ध काल ही मायाका रूप है, देह उसका आश्रय है, इस कालके कारण ही हम आत्माके इह-परत्र गमनागमनकी बात सुनते हैं। इसीके कारण बाल्य, युवा, वार्द्धक्य, जन्म और मृत्युके नाना प्रकारके खेल देखते हैं। इस प्राकृत सम्बन्धसे रहित होने पर आत्माको चिरस्थिर, नित्य निर्विकार, जन्म-जरा-मरण-शून्य-रूपमें उपलब्ध कर सकते हैं। सहस्रदलमें जिसको नित्य-निर्विकार-रूपमें देखते हैं, उसको जब सुषुम्नामें अवस्थित देखते हैं, तो वह गतिशील तथापि स्थिर है। स्थिर इसलिए है कि सुषुम्नामें अवस्थित प्राण मृत्युपाशमें बद्ध नहीं होता अर्थात् परिवर्तित नहीं होता—"यावद्वायुः मेरोर्मध्ये तावन्मृत्युभयं कुतः।" वहाँ बिल्कुल ही गति नहीं होती, ऐसी बात नहीं है। बिल्कुल गतिशून्य होने पर देह नहीं रह सकती। तथापि सुषुम्नामें प्राणकी सूक्ष्म गतिको गतिशून्य ही कहते हैं, क्योंकि उस गतिसे कोई परिवर्तन नहीं होता। जब प्राण इड़ा-पिङ्गलामें आकर जन्म-मरण-धर्मी होता है, तब भी सूक्ष्म भावसे सुषुम्नामें स्थिर प्राणके साथ उसका सम्बन्ध रहता है। यह स्थिर प्राण जो अचल होकर भी सचल है, वह जब सहस्रारमें पहुँचकर गतिशून्य होता है तब देहादिके साथ प्राकृत सम्बन्ध नहीं रहता। जन्मसे मृत्युकाल पर्यन्त जीवकी इस गतिका अवरोध नहीं होता, इसी कारण जीवका अदृष्ट और देहसम्बन्ध भी कभी अवरुद्ध नहीं होता। प्रत्येक गतिशील पदार्थ किसी आपेक्षिक गतिहीन पदार्थको अवलम्बन करके ही वर्तमान रहता है, अन्यथा उसका अस्तित्व नहीं रहता। जब तक अस्तित्व है तबतक एक ओर गति और दूसरी ओर गतिहीन अवस्था रहेगी ही। यही जीवके वारंवार जन्म-मरण या वारंवार आवागमनका कारण है। यह गति ब्रह्माण्डमें सर्वत्र है। गतिके बिना ब्रह्माण्डका अस्तित्व नहीं रह सकता। सब इस गतिमें पड़कर अनन्त ब्रह्माण्डमें वारंवार परिभ्रमण कर रहे हैं। इस गतिका अवरोध करनेके लिए ब्रह्मावस्थामें पहुँचना चाहिए, जहाँ न कुछ है और न होगा। "धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।" इस परम सत्यको समझना होगा, उसके भीतर प्रवेश करना होगा जहाँ मायाका इन्द्रजाल सदाके लिए स्तम्भित रहता है। क्रियाकी परावस्था ही वह स्वकीय धाम है, अतएव इस पथके पथिकोंसे यही अनुरोध है कि वे आत्मविस्मृत न हों। जिससे यह कैवल्यावस्था प्राप्त हो उसके

लिए इस प्राणकी खूँटीको बलपूर्वक पकड़े रहें। यह खूँटी या स्थिर भाव तथा श्वास या गति सबके भीतर रहती है। जो श्वासकी ओर लक्ष्य रख सकता है वही संसार-गतिका अतिक्रमण करता है। निरन्तर श्वास-प्रश्वास चल रहा है और पल-पलमें जीव मृत्युकी ओर अग्रसर हो रहा है। इस साधारण स्रोतमें अपनेको बहने न देना और उस अचल लक्ष्यको पकड़े रहनेकी चेष्टा करना ही परम कर्त्तव्य है। परिश्रम करनेसे ही वह पकड़में आ सकता है। एकबार उस अचल लक्ष्यको पकड़ पाने पर 'अविचल राम' की प्राप्ति होगी जो सबके भीतर रहता है ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

अन्वय—भारत (हे भारत !) यथा (जैसे) एकः रविः (एक सूर्य) इमं कृत्स्नं (इस समस्त) लोकं (जगत्को) प्रकाशयति (प्रकाश करता है) तथा (वैसे ही) क्षेत्री (आत्मा) कृत्स्नं क्षेत्रं (समस्त क्षेत्रको) प्रकाशयति (प्रकाशित करता है) ॥ ३३ ॥

श्रीधर—असङ्गत्वात् लेपो नास्ति इति आकाशदृष्टान्तेन दर्शितम्। प्रकाशकत्वाच्च प्रकाश्यधर्मैर्न युज्यत इति रविदृष्टान्तेनाह—यथा प्रकाशयतीति। स्पष्टोऽर्थः ॥ ३३ ॥

अनुवाद—[असङ्गत्वके कारण आत्मा लिप्त नहीं होता, यह आकाशदृष्टान्त द्वारा दिखलाया है। अब प्रकाशकत्वके कारण आत्मा प्रकाश्यधर्मयुक्त नहीं होता, यह सूर्यके दृष्टान्त द्वारा कहते हैं]—एक रवि जैसे इस समस्त लोकको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्मा समस्त क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जैसे एक सूर्य सारी पृथिवीको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार शरीरी इस शरीरको प्रकाशित करता है—(Note)—जबतक अन्धकार है अर्थात् आत्मासे अन्य दिशामें आसक्तिपूर्वक दृष्टि रहती है और आत्माका स्वरूप आदित्यवत् प्रकाश कूटस्थका नहीं होता।—सर्वलोकचक्षु सूर्य जैसे "न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः" बाह्य पदार्थोंके दोषसे दूषित नहीं होता, उसी प्रकार सर्वभूतान्तरात्मा सर्वदेहका प्रकाशक होते हुए भी देहके सुख-दुःखसे लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार कूटस्थ-सूर्य भीतर रहकर इस देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धिको प्रकाशित कर रहा है, तथापि देहेन्द्रियादिके अशुद्ध और नानात्व-भाव कूटस्थको लिप्त नहीं कर सकते। जबतक दूसरी ओर दृष्टि है तबतक सब अप्रकाश है, अन्धकार है। जब कूटस्थ आदित्यके समान प्रकाशित होता है तो साधक उस कूटस्थमें दृष्टि रखकर अनन्यलक्ष्य हो जाता है। तब बाह्य प्रकृति उसको नानात्वकी ओर कदापि आसक्त नहीं कर सकती। मनमें हो सकता है कि इतने बाह्य रूपोंका स्फुरण होता है तथा इनके प्रति मनका भी असीम आकर्षण है, ऐसी अवस्थामें जब जगत् भी रहेगा और हमारा मन भी रहेगा तब जीवकी मुक्ति कहाँ! इसीलिए भगवान् कहते हैं कि क्षेत्रने ही जीवको मुग्ध कर रखा है। उस क्षेत्रका प्रकाशक है क्षेत्रज्ञ। उस क्षेत्रज्ञको न देखनेके कारण ही इस क्षेत्रके

नानात्वसे मोहित होकर बन्धनमें पड़ते हो। परन्तु क्षेत्रको आलोकित करनेवाले क्षेत्रज्ञ तुम्हीं हो, तुम अपनेको जानो, तब तुमको अपने खेलसे मुग्ध न होना पड़ेगा ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

अन्वय—एवं (इस प्रकार) क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्तरं (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भेद) भूतप्रकृतिमोक्षं च (भूतोंकी प्रकृति तथा उससे मुक्तिकी प्राप्ति) ये (जो) ज्ञानचक्षुषा (ज्ञानचक्षुद्वारा) विदुः (जानते हैं) ते (वे) परं यान्ति (परम पदको प्राप्त होते हैं) ॥ ३४ ॥

श्रीधर—अध्यायार्थं उपसंहरति—क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति। एवम् उक्तप्रकारेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्तरं भेदं विवेकज्ञानलक्षणेन चक्षुषा ये विदुः, तथा या इयं उक्ता भूतानां प्रकृतिः तस्याः सकाशात् मोक्षं—मोक्षोपायं ध्यानादिकञ्च ये विदुः ते परं पदं यान्ति ॥ ३४ ॥

विविक्तौ येन तत्त्वेन मिश्रौ प्रकृतिपूरुषौ।
तं वन्दे परमानन्दं नन्दनन्दनमीश्वरम् ॥

[प्रकृति-पुरुष मिलकर एकभावको प्राप्त हैं, इन दोनोंको तत्त्वविश्लेषणके द्वारा पृथक् रूपमें जिन्होंने प्रतिपन्न किया उन परमानन्द परमेश्वर-स्वरूप नन्दनन्दनको मैं नमस्कार करता हूँ।]

इति श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां प्रकृति-पुरुष-विवेक-योगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

अनुवाद—[इस अध्यायके अर्थका उपसंहार करते हैं]—उक्त प्रकारसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका अन्तर अर्थात् भेद विवेक-ज्ञान-रूप चक्षुके द्वारा जो जानते हैं तथा इन भूतोंकी प्रकृति और उससे मोक्ष-प्राप्तिके उपाय ध्यानादिको जानते हैं, वे परम पदको प्राप्त होते हैं ॥३४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीर और शरीरीको जानना ज्ञान-चक्षु कूटस्थके प्रकाश होनेसे ही होता है अर्थात् योनिमुद्रा अन्य दिशामें मन नहीं जाता, केवल उस दिव्य दृष्टिमें ही रहता है जो गुरुवक्त्रगम्य है। पञ्चभूत,. मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य यही पञ्चभूत आत्मलिङ्ग हैं। लिङ्गके द्वारा लिङ्गमें मैथुन करके—मनको स्थिर करने पर बुद्धि होगी—बुद्धिके पश्चात् परा बुद्धि अर्थात् प्रकृतिके परे जो पुरुष वही मैं ब्रह्म हूँ! तात्पर्य यह है कि काली-स्वरूप प्रकृति बलवती है—महेश्वर-स्वरूप पुरुषके ऊपर चढ़कर सबको अपनी मायासे हनन कर रही है। उसको महादेव अपना ही रूप बना लेते हैं। बना लेने पर दूसरी ओर दृष्टि नहीं रही—अपनेमें आप रहना—वही क्रियाकी परावस्था है तथा सबके परे है—उसमें ही लयका नाम मोक्ष है। यही परम पद है, यही परम

पद है।—जबतक सद्गुरुकी कृपासे दिव्य दृष्टि प्राप्त नहीं होती, तबतक क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको कोई समझ नहीं सकता। इस देहकी ओर देखने पर प्रकृति-पुरुषका मिलित भाव बहुत कुछ समझमें आ जाता है। यह रक्त, मांस, अस्थि और मज्जासे ढँका शरीर तो जड़ है, इसके भीतर चैतन्यका अपूर्व खेल है जो उन समस्त जड़ परमाणुओंको मानो चैतन्यमय कर डालता है। चेतन और जड़ मानो मिलकर एक होकर रहते हैं, एकको दूसरेसे पृथक् नहीं कर सकते। परन्तु प्रकृति-पुरुषका विविक्त भाव भी देखा जा सकता है। इस जड़ पिण्ड देहको भेदकर एक चैतन्य-ज्योति प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गमें झलमल कर रही है। सद्गुरुकी कृपासे जिसने साधन प्राप्त किया है, वह योनिमुद्राके साधनकी सहायतासे यह देख सकता है। यह देहस्थ ज्योति जिसकी ज्योति है उस ज्योतिर्मय पुरुषका वह अनुभव कर सकता है। इस प्रकार अनुभव करते करते वह अनुभव फिर लुप्त नहीं होता। साधक इच्छा करते ही—

रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः।
तेजोमध्ये स्थितं सत्यं सत्यमध्ये स्थितोऽच्युतः॥
एको हि सोममध्यस्थोऽमृतं ज्योतिःस्वरूपकम्।
हृदिस्थं सर्वभूतानां चेतो द्योतयते ह्यसौ॥
आदित्यान्तर्गतं यच्च ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्।
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतः स तिष्ठति॥

यही कूटस्थ-ज्योति है। इस ज्योतिके अन्तर्गत जो पुरुष है वही 'मैं' है। इस 'मैं' को जान लेने पर सब ज्ञात हो जाता है। जब मन किसी दूसरी ओर नहीं जाता, उस दिव्य चक्षुस्वरूप कूटस्थके भीतर ही निहित रहता है, तभी ज्ञानचक्षु खुलता है तथा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागकी धारणा पूर्ण रूपसे होती है। उस परम पुरुषको साक्षात् प्राप्त करनेका उपाय ऐसा है—इस पञ्चभूतमय देहमें मूलाधारादि पञ्च स्थानोंमें पञ्च मूर्त्तियोंमें पञ्च लिङ्ग रहते हैं, ये ही पञ्च प्राण-रूपसे देहमें वर्तमान हैं। जब प्राणके द्वारा प्राणको मन्थन किया जाता है, जिसको मैथुन कहते हैं, तो उस मैथुनके फलस्वरूप मन स्थिर हो जाता है। मनके स्थिर होनेसे बुद्धि स्थिर होती है। उस स्थिर बुद्धि या परा बुद्धिमें प्रकाशित आत्मभाव ही पुरुष है, वही ब्रह्म है और वही 'मैं' है। पहले प्रकृति बलवती होती है, इसीसे कालिका-रूपिणी उसकी प्रचण्ड मूर्त्ति "चण्डरूपाति-भीषणा" प्रकाशित होती है। यही संसार-मूर्त्ति है, आसक्तिरूपा और जन्ममृत्युरूपा घोरा विभीषणा मूर्त्ति है—इसके स्मरण-मात्रसे सबका हृदय काँप उठता है। स्थिर शून्य, व्योम या महेश्वरके हृदयको भेदकर या उसको आवृत कर 'ताथेइ-ताथेइ' भावमें उसका अविच्छिन्न नृत्य चल रहा है। इसी कारण अखण्ड महाकाल महेश्वर इतने विच्छिन्न तथा असंख्य खण्ड-विखण्ड भावमें दीख पड़ते हैं। एकको अनेक भावसे अनेक रूपमें देखकर मनका भ्रम नहीं मिट रहा है—अज्ञान नहीं छूट रहा है। फिर लीलाके अन्तमें स्वयं महादेव जब अपनी इस इन्द्र-जालमयी बहिर्मुखी शक्तिको सङ्कुचित कर लेते हैं तब अनेक एक हो जाता है, घोरा अघोरा

हो जाती है। जन्ममृत्युकी विभीषिकामयी कराल मूर्त्ति नीलेन्दीवरलोचना होकर, मोहमयी माया सन्तानवत्सला जननी होकर अनन्त विभिन्न भावोंको एक महाकाश या चिदाकाशमें परिणत करके "सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी" होकर ,"सर्वश्यामा असिकरा मुण्डमालाविभूषिता" होकर अखण्ड ब्रह्माण्डको अपने भाण्डोदरमें सुला देती हैं। यही है शवरूप अनात्मभावको शिवरूपमें परिणत करना, यही है विश्वको अपना बनाना, यही है 'अपने आपमें' रहना। ऐसा होने पर फिर अन्य दिशामें दृष्टि न रहेगी। पहले जो असिकरा होकर सबको हनन करती थीं, माया-मोहकूपमें डालती थीं, अब वही सबको अपने गलेमें डालकर अपने अङ्ग-शोभन हारके रूपमें परिणत कर डालती हैं। युद्ध बन्द हो गया, अशुभ शुभ-रूपमें रूपान्तरको प्राप्त हुआ। जब देवादिदेव इस प्रकार स्वभक्तको अपना रूप बना लेते हैं, तब भक्त अनन्य-दृष्टि होकर अपनेको उनके भीतर विसर्जित कर देता है। यही त्यागकी पराकाष्ठा है। अन्य दिशामें आसक्ति नहीं है, संसारके रहते भी उसका संसार नहीं है, यही है अपने आपमें रहना, इसीका नाम है "क्रियाकी परावस्था।" यही सर्वशेष अवस्था है, इसमें ही सबका निमज्जन या लय होता है, यही मोक्षपद है, यही परम पद है, यही है भूत-प्रकृतिसे मुक्तिकी प्राप्ति तथा यही है भूत-प्रकृतिकी मुक्ति। समाधि-साधनमें जो दृढ़ अभ्यस्त हैं, वे समाधिभङ्गके बाद भी आत्माको प्रकृतिकार्यमें लिप्त नहीं समझते। ऐसी बात नहीं है कि उनकी इस अवस्थामें क्षेत्रका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। वे जाग्रदवस्थामें भी योगयुक्त होनेके कारण प्रकृत क्षेत्रको अपनी आत्म-सत्तासे पृथक् उपलब्ध नहीं करते—यही भूतप्रकृतिकी भी मोक्ष-प्राप्ति है। भक्त रामप्रसादने कहा है—'भाई। जो थे वही हो जाओगे'। अध्यासवश प्राण चञ्चल होकर बाह्य दृष्टियुक्त होकर इस अनन्त दृश्यको समुत्पन्न करता है। प्राणके स्थिर होने पर जैसे ही बुद्धि स्थिर होती है वैसे ही "नेह नानास्ति किञ्चन" साधकको अनुभव होता है। वस्तुतः उसका बन्धन या मोचन नहीं होता, जो स्वप्नमें दीखता था, स्वप्न टूट जानेके बाद उसका अस्तित्व नहीं रहा—इतना ही मात्र हुआ, इसीका नाम मोक्ष है। इसी कारण श्रीमद्भागवतमें लिखा है—"बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः"—११वाँ स्कन्ध ॥३४॥

इति श्रीश्यामाचरण-आध्यात्मिक-दीपिका नामक गीताके त्रयोदश अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त।

त्रयोदश अध्यायका परिशिष्ट एवं आलोचना

"तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्"—मृत्युसंसारसे मैं सब भक्तोंका उद्धार करता हूँ, यह भगवान्की प्रतिज्ञा है। परन्तु आत्मज्ञानके बिना यह संभव नहीं है, अतएव इस तत्त्वज्ञानके उपदेशके लिए भगवान्ने प्रकृतिपुरुष-विवेकयोग इस त्रयोदश अध्यायमें आरम्भ किया है। भगवान्ने सप्तमाध्यायमें अपरा और परा प्रकृतिके रूपमें इस प्रकृतिपुरुषका वर्णन किया है। इस उभय प्रकृतिके प्रकृत ज्ञानके अभावके कारण ही

चिदंश जीवकी संसार-गति होती है। इसीसे भगवान्ने इस अध्यायमें प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय आदि तत्त्वोंकी आलोचना की है। गम्भीर, ज्ञान-युक्तिपूर्ण, रहस्यमय आत्मतत्त्वको समझे बिना तथा समझकर भी तदनुसार साधन किये बिना ज्ञानका उदय नहीं होता। ज्ञानका उदय हुए बिना संसारसमुद्रसे उत्तीर्ण होना असंभव है। इसी कारण शास्त्र आदेश देते हैं कि श्रद्धालु होकर गुरुके मुखसे तत्त्वज्ञान सुनो। केवल सुननेसे ही काम न चलेगा, सुनकर 'मत्परम' होना होगा। 'मत्परम' अर्थात् परब्रह्मरूप अक्षरात्मा ही जिसकी निरतिशय गति है, इस प्रकारकी ज्ञानाश्रिता भक्तिका अवलम्बन करने पर ही भगवान्का प्रिय या भक्त बना जाता है। "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं"—मैं ज्ञानीका अत्यन्त प्रिय हूँ। अतएव ज्ञानवान् ही उनका प्रकृत भक्त है। भगवान्के (आत्माके) साथ मिलनेमें देहात्मबोध प्रचण्ड विघ्न है। यह देहात्मबोध होता है क्यों ? परम पुरुषकी शक्ति प्राण-रूपमें नाड़ीके भीतरसे देहमें सञ्चारित होती है। इन्द्रियाँ प्राणशक्तिके बलसे जगद्वस्तुका दर्शन करती हैं। प्राण इन्द्रियगत होकर यह दर्शन-क्रिया सम्पादन करता है। यही प्राण आत्माकी शक्ति होनेके कारण अपनी सत्तासे अहंज्ञान उत्पन्न करके जागतिक वस्तुओंका दर्शन करता है। ज्ञान-द्वारा अर्थात् क्रियाकी परावस्था द्वारा देह-बोधरूप अभिमानका नाश होनेपर आत्मप्रतिष्ठा या जीवन्मुक्ति-अवस्था प्राप्त होती है। जीवन्मुक्त वह है जिसको देहादिमें आत्मबुद्धि नहीं है। अविद्याके साथ सम्बन्धशून्य होने पर ही जीव मुक्त होता है, तब वह केवल आत्मरूपमें ही अवस्थान करता है, अतएव ज्ञानी केवल उसका प्रिय ही नहीं, बल्कि उसके आत्मसम हो जाता है। "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"—ज्ञानी आत्माका ही स्वरूप है। दूसरे जो भक्त आत्मज्ञान-विवर्जित हैं, उनका भगवान्के साथ जो मिलन होता है वह बाहरी मिलन है। वे भगवान्के साथ अभिन्न होकर उनके प्रकृत निज-जन नहीं हो सकते। इसी कारण भगवान् शङ्कराचार्यने कहा है—"यस्माद् धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं अनुतिष्ठन् भगवतो विष्णोः परमेश्वरस्य अतीव मे प्रियो भवति, तस्माद् इदं धर्म्यामृतं मुमुक्षुणा यत्नतः अनुष्ठेयम्"—धर्म्यामृतका अनुष्ठान करते-करते भगवान् परमेश्वर विष्णुका अतीव प्रिय बन सकते हैं, इसलिए जो विष्णुके परम पदकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं, ऐसे मुमुक्षु-जनोंको यत्नपूर्वक इस धर्म्यामृतका अनुष्ठान करना चाहिए।

आत्मज्ञानके बिना दुस्तर शोक-सिन्धुसे उत्तीर्ण होना वस्तुतः सम्भव नहीं है। द्वितीय वस्तुके अभिनिवेशके कारण हमको भय और शोक उत्पन्न होता है। अज्ञानके कारण ही इस द्वितीय वस्तुका ज्ञान होता है, यही आत्माका अविद्या-सम्बन्ध है। इस भय और शोकसे एकमात्र आत्मविद् ही उत्तीर्ण हो सकते हैं। छान्दोग्य-श्रुति कहती है—"तरति शोकमात्मवित्"। जबतक नानात्वका निरसन नहीं होता तबतक शोक नहीं जा सकता क्योंकि मृत्यु या अभाव-बोध शोकका प्रधान आश्रय है।

ऐक्य-ज्ञानके बिना अमृतकी प्राप्ति नहीं होती। जबतक नानात्वका दर्शन हो रहा है, तबतक मृत्यु हमारा पीछा नहीं छोड़ सकती। बृहदारण्यक-श्रुति कहती है—

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"। जो इस ब्रह्मसत्तामें ईश्वर-जीव-जगत् आदि नाना भेद दर्शन करते हैं, वे मृत्युके बाद वारंवार जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं। आत्मा अनेक नहीं है, आत्मा एक है—यह समाधिज ज्ञानके द्वारा जान लेने पर जीवका जन्म-मरण-त्रास छूट जाता है।

नानात्व-दर्शन ही मृत्यु है

अच्छा, आत्मा तो अमृत-स्वरूप है तथा आत्माके सिवा अन्य कुछ जब है ही नहीं, तो हम जन्म-मृत्यु आदि द्वन्द्वभावका अनुभव क्यों करते हैं? इस प्रकारके भ्रान्ति-बोधका कारण है देहात्म-बुद्धि। देह नित्य परिवर्तनशील है, देहमें आत्म-बोध होनेके कारण भ्रान्त जीवको ऐसा लगता है कि जन्ममरणके साथ इस आत्माका भी जन्ममरण होता है। यह देह-भ्रम जबतक नहीं छूटता तबतक जीवका संसार-समुद्रसे पार होना असंभव है।

इसलिए ज्ञान-प्राप्तिकी चेष्टा करना परम आवश्यक है। आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिए इस देहका परिचय प्राप्त करना और देहमें जो देहातीत नित्य चैतन्य जन्म-मरण-हीन एक वस्तु है उसके सम्बन्धमें एक निर्भ्रान्त ज्ञान होना आवश्यक है। यही ज्ञेय वस्तु है, इसको जान लेने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है। परन्तु ज्ञेय वस्तुसे अवगत होना कोई साधारण बात नहीं है, इसके लिए बहु साध्य-साधना करके अपनेको प्रस्तुत करना पड़ता है। बहुत सद्गुणोंकी राशि अर्जित करनी पड़ती है, अमानित्व अदम्भित्वसे आरम्भ करके सब प्रकारके संयम और साधनामें अभ्यस्त होना पड़ता है। त्रयोदश अध्यायमें जिनको ज्ञान या ज्ञानका साधन बतलाया है, उन सद्गुणोंको आयत्त किये बिना शास्त्रका अभ्यास या उपदेश सुननेसे भी कोई फल नहीं होता। अतएव आत्माके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त करनेके लिए योगाभ्यासमें सुनिपुण होना आवश्यक है। केवल मौखिक युक्ति-तर्कके द्वारा अचिन्त्य वस्तुकी धारणा नहीं होती।

देहातीत वस्तुका ज्ञान

पहले साधनाके द्वारा सत्त्वशुद्धि करनी होगी, सत्त्वशुद्धि होने पर आत्मविषयक स्मृति प्राप्त होगी। यह स्मृतिधारा जब अविच्छिन्न भावसे चलने लगेगी तो मनोवृत्तियाँ क्षीण हो जायँगी। वृत्तिनिरोधपूर्वक समाधिस्थ हुए बिना निर्गुण पुरुषमें स्थिति-लाभ करना कठिन है। इस स्थितिका नाम ही अपरोक्षानुभूति, ज्ञान या क्रियाकी परावस्था है। मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जो आत्मा कूटस्थ-रूपमें विराजता है, वही इस शरीरका कारण है। यह शरीर और शरीरस्थ धातु (इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि) ब्रह्मके पृथक् पृथक् सूत्र मेरुदण्डके भीतर रहते हैं, उसीसे यह विश्व-संसार विस्तार प्राप्त करता है। पञ्च महाभूतोंसे यह जगत् है, उन पञ्च महाभूतोंके कारण जो सूक्ष्म पञ्चभूत हैं वे मेरुदण्डस्थित चक्रमें रहकर जीवके देह-इन्द्रियको संगठित करते हैं। उन पञ्चतत्त्वोंके भीतर जो अणु-स्वरूप ब्रह्म रहता है वही बहिःस्थ पञ्चतत्त्वोंको प्रकाशित करता है। जबतक वह फिर अन्तर्मुख नहीं होता तबतक जीवका विश्वदर्शन-रूपी भ्रम कदापि नहीं मिट सकता।

सत्त्व-शुद्धि ज्ञान-प्राप्तिका प्रधान उपाय है

योगके मूलतत्त्वको समझ लेने पर मुक्तिके लिए योगाभ्यासकी प्रयोजनशीलता जानी जा सकती है। ब्रह्मके अणु प्राण-धाराके साथ मिलकर नाड़ीमुखमें प्रवाहित होते हैं। इस प्रवाहके कम्पनके साथ इच्छा-द्वेष आदि मनोवृत्तियाँ स्फुटित होने लगती हैं, तब ये और भी बहिर्मुख होकर विषय-अन्वेषण करनेमें प्रवृत्त होते हैं। यह विषय-अन्वेषण मनकी स्वाभाविक क्रिया है। यह क्रिया और किसी प्रकारसे अवरुद्ध नहीं की जा सकती। इसलिए प्राणके जिस स्पन्दनसे ये सङ्कल्प-वासनामय मनोधर्म आदि जाग्रत होते हैं, उस स्पन्दनका अवरोध करते-करते जितनी ही प्राणवृत्ति निःस्पन्दित होगी, उतनी ही ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की क्रियाएँ भी और ही प्रकारकी हो जायँगी अर्थात् तब उनसे व्यावहारिक जगत्की क्रिया न होकर अन्तर्जगत्की क्रिया प्रकाशित होगी। पश्चात् वे सारी क्रियाएँ भी न रहेंगी। क्रमशः आत्म-क्रिया-द्वारा स्थिर होते-होते अव्यक्त पदका अनुभव होने लगेगा अर्थात् "सोऽहं ब्रह्म" जो पहले था वही फिर हो जायगा। सब वस्तुओं तथा भूतोंमें एक महाप्राणको लक्ष्य कर लेने पर वही सब भूतोंके भीतर सब कुछ होकर रहते हैं, यह समझना सरल हो जायगा। पश्चात् क्रियाकी परावस्था जितनी ही वृद्धिको प्राप्त होगी, उतना ही बाह्य क्रियाका अवरोध हो जायगा। जबतक इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना चलती रहेंगी, तबतक अन्य विषयोंसे आसक्ति नहीं जायगी, बाह्य क्रिया रुद्ध न होगी। ब्रह्मके अणुमें स्थिति होने पर इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना एक हो जायँगी। तब जगन्मय ब्रह्मके स्वरूपको जानकर जीवन कृतकृत्य हो जायगा।

योगाभ्यास क्यों आवश्यक है?

वह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जो जीवोंके हृदयाकाशमें अवस्थित रहता है, उसको देहसे पृथक् भावमें अवस्थित अनुभव करना होगा। मुञ्जतृणसे इषिका अर्थात् मध्यस्थ दण्डको जैसे पृथक् कर देते हैं, उसी प्रकार सर्वदेहस्थ होकर भी जो देहातीत है, उसको क्रियाके द्वारा स्थिर-चित्त होकर अपने शरीरसे पृथक् करके देख सकोगे। अतएव देह-सृष्टि किसने की, किस प्रकार की, वह क्या है, तुम क्या हो, पुरुष क्या है, प्रकृति क्या है—ये सब रहस्य तब तुम्हारी समझमें आ जायँगे। इस रहस्यका भेद करनेके लिए प्राणायामादि योगाङ्ग-क्रिया बहुत परिमाणमें करना आवश्यक है। तब देख सकोगे कि यह शरीर किसका है। कौन इस देह-कदम्ब-वृक्ष पर बैठकर दिन-रात वंशी बजा रहे हैं। उनको देखकर, उनकी वंशीध्वनि सुनकर तथा उन परम पुरुषको देखकर उनमें प्रविष्ट हो जाने पर नानात्वका कोई चिह्न नहीं रह जायगा। तब जानने या प्राप्त करनेके लिए भी कुछ न रह जायगा।

आत्माको देहसे पृथक् करके देखना

द्वादश अध्यायमें तत्त्वज्ञानी या भक्तका लक्षण दिखलाया गया है। जिस देह और देहीका ज्ञान तथा इनके ऐक्यको प्राप्त कर भगवान्का प्रिय बन सकते हो उस तत्त्व ज्ञानका विषय इस अध्यायमें सम्यक्रूपसे आलोचित हुआ है। इसलिए यह अध्याय वस्तुतः बड़ा दुरूह है।

आत्मतत्त्वको समझनेके लिए दो प्रधान विषय आलोचनीय हैं—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, अथवा प्रकृति और पुरुष। इनका पारस्परिक संयोग ही संसार है। यह संयोग छिन्न हुए बिना आत्मदर्शन नहीं होता अथवा प्रकृत ज्ञानका उदय नहीं होता। प्रकृतिपुरुषका ज्ञान प्राप्त करने पर ही यह संयोग छिन्न होता है। यह देह और देहके भीतर जो चैतन्य है, जो देहकी सारी क्रियाओंका साक्षी है और जिसके रहे बिना देहकी क्रिया नहीं हो सकती—वही चेतन पुरुष, साक्षी या आत्मा है। देह-प्रकृतिकी क्रिया इस प्रकृतिका निजस्व है, इस बात को न समझ सकनेके कारण वह आत्माका कार्य जान पड़ता है। यद्यपि यह बात सत्य है कि आत्माके देहमें वर्तमान न रहने पर प्रकृतिकी क्रिया (प्राण, मन, बुद्धि आदि) का कोई परिचय प्राप्त नहीं होता, तथापि चैतन्य-सत्ताके अस्तित्वके कारण प्रकृति जो क्रियाशील होती है, उसको आत्माका धर्म समझना भ्रम है। आत्मा कर्त्ता नहीं है, केवल साक्षी-मात्र है, यह क्रियाकी परावस्थामें आत्म-साक्षात्कार होने पर अनुभव किया जाता है और तब उसकी धारणा अकर्त्ताके रूपमें होती है। इस ज्ञान-प्राप्तिका उपाय है योगमार्ग या क्रियायोग। साधारणतः भक्ति या ज्ञानालोचना भी इसी योगमार्गके अन्तर्गत हैं। प्रकृत ज्ञान या भक्ति आत्म-दर्शनके बिना नहीं हो सकती।

प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

अखण्ड अपरिच्छिन्न आत्मा किस प्रकार देहके भीतर आकर प्रवेश करके रहता है, यह अत्यन्त विस्मयजनक बात है। सहस्रार-स्थित परमात्मा जब लीलावश आज्ञाचक्रमें उतरते हैं तो उनका जो आवरण रचित होता है, वही अज्ञानका आवरण है। जो अत्यन्त स्थिर था, वही जब स्पन्दन-युक्त होता है तो माया-शक्ति या प्राणका प्रकाश होता है। उस प्राणके चञ्चल होने पर आत्मा प्राणके साथ मिलकर निम्न अर्थात् स्थूलमें अवतरण करता है—यही सृष्टि-रहस्य है। वही चञ्चल प्राण मनोरूपमें तथा पश्चात् देहादिरूपमें परिणामको प्राप्त होकर इस विशाल व्यक्त जगत्को प्रकाशित करता है। इसी कारण बद्ध जीवको पहले देहमें ही आत्माका भ्रम होता है, क्योंकि वह पञ्चभूतमय देहमें ही पहले आत्माके प्रकाशका अनुभव करता है।

आत्माका अवतरण और प्राणका प्रकाश

इस देहके साथ जड़ित जिस आत्म-भावका विकाश होता है उस आत्माको (१) भूतात्मा कहते हैं। चिन्तनशील पुरुष विचार करके समझ सकते हैं कि यह नश्वर, नित्य परिवर्तन-शील भूतमय देह कभी आत्मा नहीं हो सकती। वे देखते हैं कि देहके भीतर देहके अतीत और भी कोई पदार्थ रहता है जिसकी दीप्तिसे यह देह प्रभायुक्त बनी रहती है, उस दीप्तिका अभाव होने पर यह देह जड़वत् हो जाती है, इसमें चैतन्यका लेश भी नहीं रहता। पश्चात् वे साधन-चक्षुके द्वारा देखते हैं कि देहके भीतर जो एक स्पन्दन है उसीके द्वारा चैतन्यका सञ्चार हो रहा है। यही प्राणका स्पन्दन है। यह प्राणका स्पन्दन तो है परन्तु वास्तविक मुख्य प्राण नहीं है जिसके द्वारा जीव जीवित रहता है। वह (२) सूत्रात्मा है, प्राण-स्पन्दन उसीकी शक्ति है।

भूतात्मा

इस प्राण-स्पन्दनके द्वारा ही जीव भोगोपयोगी देहके परमाणुओंको सम्मिलित कर इस स्थूल देहकी रचना करता है। पश्चात् यही प्राण अनेकानेक भागोंमें विभक्त होकर शरीरके भीतर नाड़ी-मुखमें प्रवाहित होकर देहको प्राणमय तथा कर्मोपयोगी बना देता है। इस प्राण-प्रवाहके भीतर एक अपरूप शक्ति रहती है जो देहको संगठित कर सकती है। प्राणके बिना देह-गठनकी क्रिया सम्पन्न नहीं होती, इस बातको हम सभी समझते हैं। नाड़ीमध्यस्थित शक्ति ही प्राणकी शक्ति है, परन्तु यह भी मुख्य प्राण नहीं है। नाड़ी-मध्य-स्थित शक्ति उसका शरीर या प्राणमय कोष है। जो इस प्राणमय कोषमें रहकर देह और इन्द्रियोंके कार्यको नियन्त्रित कर रहा है वही (३) जीवात्मा या कूटस्थ है।

सूत्रात्मा

देहादिमें वर्तमान होते हुए भी वह कूटस्थ सर्वदा देहके अतीत है। देह प्राणादिमें संश्लिष्ट रहनेके कारण उसकी सावयव, सीमाबद्ध, कर्मफल-भोक्ता और अनेक रूपमें धारणा होती है। बहिर्दृष्टिके कारण प्रकृतिका अनुगामी होकर जीव सुख-दुःख भोगता है, परन्तु वस्तुतः वह सुख-दुःखका भागी अथवा कर्मफलका भोक्ता नहीं है। प्राण, मन और इन्द्रियोंके सान्निध्यके कारण उनके कृत कर्मोंका फल-भोगादि उसमें अध्यस्त होता है। स्वरूप-ज्ञानसे इस प्रकारकी भ्रान्ति दूर हो जाती है। घृत जैसे दुग्धके प्रत्येक अणुमें रहकर दुग्धको अस्तित्व प्रदान करता है तथा दुग्धके जलभागके साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता, मन्थन-दण्डके द्वारा दुग्ध मथित होने पर जैसे तन्मध्यस्थ घृत उसके ऊपर तैरने लगता है, उसके साथ लिप्त होकर भी संलिप्त नहीं होता, उसी प्रकार यह देहादि या प्रकृतिरूप दुग्ध प्राणायामरूप मन्थन-दण्डकी सहायतासे आत्मासे स्वतन्त्ररूपमें भासित होता है। तब यह पूर्णतः समझमें आ जाता है कि आत्मा प्रकृतिसे असंलिप्त है। यही है भूतप्रकृतिसे मुक्तिकी प्राप्ति। इस प्रकार भूतप्रकृतिसे मुक्ति प्राप्त करने पर ये दृश्यमान् असंख्य जीव या खण्डभाव एकमें मिलकर एकाकार हो जाते हैं।

जीवात्मा

देहेन्द्रियके लिए अगोचर, अव्यक्त, परम-एक पुरुषोत्तम या परमात्मा है। यह निर्गुण परमात्मा लीलावश जब सगुण होता है, तब उसको ईश्वर कहते हैं। भिन्न-भिन्न देहोंमें प्रकटित कूटस्थ-चैतन्य ही क्षेत्रज्ञ पुरुष है—"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत"। यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञसे अभिन्न है। "बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि"—वह सब भूतोंका मूल है। परा और अपरा दोनों प्रकृतियाँ उसीकी हैं अतएव एक प्रकारसे सर्वभूत वही हैं। इसी कारण वेद हमको बतलाते हैं—"नेह नानास्ति किञ्चन।" सुषुम्नाके अन्तर्गत ब्रह्मसूत्र-पद ही परा प्रकृति है। उसके भीतर सूक्ष्मरूपमें समस्त भूत वर्तमान हैं। इसका स्थूल भाव ही अपरा प्रकृति या विश्व है। अतएव विश्वकी योनि यह ब्रह्मसूत्र या ब्रह्मयोनि कूटस्थ है। कूटस्थके भीतर सारे देवता रहते हैं। भीतरका सविता ही कूटस्थका रूप है। उससे ही त्रिलोकका विस्तार होता है। इस कूटस्थके भीतर जो पुरुष है—"योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि"—"एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयपुरुषो दृश्यते

परमात्मा

परा प्रकृति

कूटस्थ या ब्रह्मयोनि

इत्यधिदैवतम्"—इस अन्तरादित्य कूटस्थमें हिरण्मय पुरुष रहता है। चारों ओर स्वर्णके समान प्रकाश है और मध्यमें पुरुष है। जो भलीभाँति क्रिया करता है वह उस अधिदैवत पुरुषको देख पाता है। वह पुरुष ही सर्वव्यापक ब्रह्म है—"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि"। क्षेत्रान्तर्गत दिव्य चक्षुके समान प्रकाशित कूटस्थको देखने पर मन दूसरी ओर नहीं जाता। उसमें नित्य स्थिति होने पर जीवन्मुक्ति या भूतप्रकृतिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

भूत-प्रकृतिसे मुक्तिलाभ

विश्वका उपादान चतुर्विंशति तत्त्व ही क्षेत्र या प्रकृति है। विराट् प्रकृति और भोगायतन यह देह—दोनोंका स्वरूप या उपादान एक ही है। इसलिए दोनोंको क्षेत्र या प्रकृति कह सकते हैं।

प्रकृतिका परिचय—सांख्य और गीताका मत

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

महाभूत (क्षिति, अप्, तेजः, मरुत्, व्योम), अहङ्कार बुद्धि (महत्तत्त्व), अव्यक्त (मूलप्रकृति), दश इन्द्रियाँ, मन तथा पञ्च इन्द्रिय-गोचर (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध)—ये चतुर्विंशति तत्त्व ही क्षेत्र हैं। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (शरीर), चेतना (ज्ञानात्मिका मनोवृत्ति) तथा धृति—ये सब मनोधर्म हैं अर्थात् क्षेत्रके अन्तर्गत हैं।

विश्वका मूल कारण अव्यक्त या मूलप्रकृति है। मूलप्रकृति त्रिगुणमयी है अर्थात् सत्त्व, रजः और तमो गुणात्मिका है। गुणत्रय जब सुप्त या साम्यावस्थामें रहते हैं तब उसको अव्यक्त कहते हैं अर्थात् इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाका अतीत भाव। जीवके अदृष्टके वश कालके प्रभावसे इस साम्यावस्थाकी विच्युति होती है, तब प्रकृति क्षुब्ध होकर विकृत होती है। प्रकृतिके इस विकृत भावको ही सृष्टि कहते हैं। सृष्टि-कालमें पहले जब सत्त्वगुण वृद्धिको प्राप्त होता है तो ज्ञानात्मक महत्तत्त्व या बुद्धिकी उत्पत्ति होती है अर्थात् मैं क्या हूँ तथा मेरी शक्ति क्या है—यह स्मृतिपथमें उदित होता है। पश्चात् रजः और तमोगुणके प्रवृद्ध होने पर अभिमानात्मक अहङ्कार उत्पन्न होता है। अहङ्कार अर्थात् 'मैं' को पृथक करके देखनेका भाव तथा इस 'अहं' कार्यके साथ सम्बन्धयुक्त होकर मैं करता हूँ, मैं देखता हूँ, इत्यादि अभिमान। विषयोंको आत्मगोचर करनेकी प्रधान शक्ति है अभिमान। इस अहङ्कारसे पञ्च तन्मात्राएँ तथा पञ्च तन्मात्राओंके पञ्चीकृत होने पर आकाशादि स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं। पञ्च तन्मात्राएँ इन्द्रियगोचर नहीं हैं, ये जब पञ्चीकृत होती हैं तब स्थूल इन्द्रियोंके गोचर होती हैं।

सृष्टिका विकास

सांख्यशास्त्र प्रकृतिको जड़ कहता है। सांख्यमतसे प्रकृति स्वतन्त्र है और यह जगत् प्रकृतिका स्वतः परिणाम-मात्र है। परन्तु गीतामें भगवान् प्रकृतिको स्वतन्त्र नहीं कहते—

सांख्य और गीताका मत

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

मेरे अधिष्ठानके कारण प्रकृति चराचरात्मक जगत्को प्रसव करती है। हे कौन्तेय, यह जगत् वारंवार इसी कारण उत्पन्न होता है।

सांख्यमतसे प्रकृति जड़ होनेके कारण सृष्टिकार्यमें अकेली समर्थ नहीं होती। अतएव पुरुषके संयोगकी आवश्यकता होती है। परन्तु सांख्यका पुरुष निर्गुण है। निर्गुणको इच्छा नहीं हो सकती। तब फिर उनका संयोगसाधन कौन करता है? पुरुषके सान्निध्यके कारण ही प्रकृति सृष्टिकार्यमें समर्थ होती है यह ठीक है, परन्तु यह सामर्थ्य-प्रदान तो पुरुष ही करता है, अतएव मानना पड़ेगा कि पुरुषके भीतर प्रेरणा या इच्छा रहती है। इस स्थितिमें पुरुषको निर्गुण माननेसे नहीं बनता। इच्छा अन्तःकरणका धर्म है। पुरुषकी इच्छा कहनेसे उसे मनोयुक्त मानना पड़ेगा। पुरुषके औदासीन्य और कर्त्तृत्व परस्पर अत्यन्त विरुद्ध प्रतिपन्न होते हैं। इसलिए जान पड़ता है कि प्रकृति और पुरुष स्वतन्त्र वस्तु नहीं हैं। प्रतीत होता है मानो लीला-हेतु द्विधा विभक्त होकर वे स्वयम् प्रकृति-पुरुषके रूपमें खेल करते हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ७ । ६ ॥

भूतगण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-स्वरूप इस द्विविध प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं, इसे जान लो। अपरा प्रकृति देहरूपमें परिणत होकर तथा परा प्रकृति भोक्तारूपसे देहमें प्रविष्ट होकर अवस्थान करती है। ये मेरी दो प्रकृतियाँ मुझसे ही उत्पन्न हैं, अतएव मैं ही निखिल जगत्के उद्भव और लयका कारण हूँ।

देहके भीतर जो देही विराजमान है, उसका वह अनुत्तम भूत-महेश्वर भाव साधारण लोगोंको अवगत नहीं है। इसी लिए मूढ़ लोग विक्षिप्त-चित्त होनेसे अपने परम तत्त्वको समझ न सकनेके कारण उसको सामान्य देहधारी मनुष्य समझकर उसकी अवज्ञा करते हैं।

भगवान्का यह अनुत्तम भाव सृष्टि-लीलाके समय योगमायाके द्वारा समाच्छादित होता है। इसीसे प्रकृति-पुरुषके भीतर वही एक परम पुरुष है, इसे लोग समझ नहीं पाते। श्रीमत् शङ्कराचार्यने योगमायाका अर्थ करते हुए लिखा है—"भगवतो यः सङ्कल्पः स एव योगः, तद्वशवर्तिनी या माया सा योगमाया"। इस प्रकार भगवान्की इच्छा या सङ्कल्प मानना पड़ा। यह सङ्कल्प भगवान्के भीतरकी वस्तु है, यह बाहरका आगन्तुक पदार्थ नहीं है, अतएव यह सङ्कल्प या इच्छा ही उसकी माया है। यह इच्छा रूप-परिग्रह करने पर ही जगद्रूपमें फूट पड़ती है। अतएव जगदादि भी उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

योगमाया

उपनिषद्‌में लिखा है—"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्", "तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्"—सृष्ट पदार्थोंमें अनुप्रविष्ट होकर वह सत्-शब्दवाच्य और त्यत्-शब्द वाच्य हो जाता है। 'तदात्मानं स्वयमकुरुत'—उसने अपने ही आपको सृष्टिके विषयोंमें परिणत कर दिया है। तन्त्र भी कहते हैं—"या शक्तिः सर्वभूतानां द्विधा भवति सा पुनः।"—एकमात्र शक्ति ही सब भूतोंमें पुनः द्विधा हो गयी।

उपनिषद्‌का मत

इस शक्तिके विषयमें उपनिषद्‌में भी वर्णन पाया जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषदमें लिखा है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥

ध्यानयोगकी सहायतासे ऋषियोंने परमात्म-देवके स्वगुणावृत शक्तिको कारण रूपमें समझा। जो एक वस्तु कालसे पुरुष पर्यन्त समस्त कारणोंको परिचालित करती है उसकी शक्तिका दर्शन ऋषियोंने किया था। ब्रह्मा, विष्णु, शिव उसकी शक्तिमात्र हैं—"शक्तयो यस्य देवस्य ब्रह्मविष्णुशिवात्मिका"। 'देवात्मशक्तिं"—देव, आत्मा और शक्ति परब्रह्मके ही अवस्था-भेद हैं। ब्रह्मरूपमें अवस्थित होकर भी वह प्रकृति, पुरुष और ईश्वर-रूपमें अथवा भोक्ता, भोग्य और प्रेरयिताके रूपमें प्रकाशित होता है। "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"—उसकी नाना प्रकारकी परा शक्ति, स्वाभाविक ज्ञान, प्रभाव तथा क्रियाकी बात सुनी जाती है। यह युक्तिद्वारा बोधगम्य नहीं होता। परन्तु साधक उसकी शक्तिके विषयमें अवगत होकर जो वर्णन करते हैं उसे शास्त्रद्वारा हम जानते हैं। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः"—वह एक वस्तु सब भूतोंमें गूढ़भावसे रहती है किन्तु "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं"—सब भूतोंके हृदय-गुहामें प्रच्छन्न भावसे अवस्थित है, अतएव सहज ही वह जाना नहीं जाता।

इस प्रकृतिद्वयसे भगवान् अभिन्न हैं। गीतामें इसको समझाते समय तीन पुरुषोंका उल्लेख किया गया है—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम। (१) जो क्षरित अथवा विनाशको प्राप्त होता है, ब्रह्मादि स्थावरान्त जो शरीर हैं वे ही क्षर पुरुष हैं। (२) क्षरके जो विपरीत है वह अक्षर पुरुष है अर्थात् जो क्षर पुरुषकी उत्पत्तिका कारण है, जो मायाका आश्रय है, जो चेतन भोक्ता है। शरीर नष्ट होने पर भी वह विद्यमान रहता है। (३) जो क्षर-अक्षर उपाधिके द्वारा स्पृष्ट नहीं है, जो सर्वदा शुद्ध, मुक्तस्वभाव है वह उत्तम पुरुष या परमात्मा है। उत्तम पुरुषकी ही क्षर, अक्षर या अपरा और परा दो प्रकृतियाँ हैं। अतएव देखते हैं कि प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, यह पुरुषोत्तम या परमेश्वरकी कार्यकारिणी शक्ति है। वह जड़ नहीं, बल्कि नित्य चैतन्यमयी है। इस चैतन्यमयी परमा शक्तिको ईश्वर कहते हैं। तन्त्रमें इसको ही परमेश्वरी

प्रकृतिद्वय भगवानकी ही शक्ति है—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम

कहा गया है। वही आद्या शक्ति है। योगी लोग इसे ही 'चिदाकाश' कहते हैं। यह चिदाकाश ही समस्त व्यक्त जगत्‌का मूल कारण है। इससे ही ब्राह्मी, वैष्णवी और माहेश्वरी शक्ति उत्पन्न होती है। इसी कारण चिदाकाशको जगदम्बा या ब्रह्मा-विष्णु-शिव-प्रसविनी कहा गया है। चेतनके सान्निध्यके कारण ही यह चेतन-सी जान पड़ती हो, ऐसी बात नहीं है। यह मूल चेतन वस्तुका स्फुरण या शक्ति है।

शक्ति शक्तिमान्‌से पृथक् नहीं है, इनका नित्य अविनाभाव-सम्बन्ध है, अतएव दोनोंको कोई कभी अलग नहीं कर सकता। परन्तु इनकी पृथक् रूपसे आलोचना की जा सकती है। ब्रह्म निर्गुण है, वह कभी बोधका विषय नहीं होता, परन्तु ब्राह्मी शक्ति या माया-प्रतिबिम्बित चैतन्य बोधका विषय होता है। उसको ही ईश्वर कहते हैं। इस ईश्वर या परा प्रकृतिको जान लेने पर ही जीव जीवन्मुक्त अवस्थाको प्राप्त करने योग्य होता है। दुर्गासप्तशतीमें लिखा है—

प्रकृति और पुरुष की अभिन्नता

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमासि माया।
संमोहितं देवि समस्तमेतत् त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः॥

हे देवि, तुम अनन्तवीर्या वैष्णवी शक्ति हो, तुम्हीं जगत्‌का मूल कारण महामाया हो, तुमने समस्त विश्वको संमोहित कर रखा है। तुम प्रसन्न होने पर जगत्‌की मुक्तिका कारण बनती हो।

इस अवस्थाको लक्ष्य करके कठोपनिषद् कहती है—"धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः"—धातुकी प्रसन्नताके कारण आत्ममहिमाका दर्शन करते हैं। यह धातु शरीरधारक केवल मन आदि करणवर्ग ही नहीं हैं, यह धातु प्रकृति या ईश्वरी है। यह प्रकृति प्रसन्न होने पर अपने स्वामीको दिखला कर साधकको सदाके लिए कृतार्थ कर देती है। धातु = धा + तून। 'धा' धातुका अर्थ है धारण करना, "शरीरधारणात् धातव इत्युच्यन्ते," अतएव प्राण-पदार्थ ही प्रकृत धातु है। "प्राणेन धार्यते लोकः"—यह प्राण ही जगदम्बा—जगत्‌की माँ है। "वह देवी नित्या अर्थात् उत्पत्ति-नाश-शून्या है। यह जगत् उसकी ही मूर्त्ति है, वह चिन्मयीरूपमें इस समस्त जगत्‌में व्याप्त है। तथापि उसके आविर्भावकी बात अनेक प्रकारसे कही जाती है। वह नित्या होने पर भी जब देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिए आविर्भूत होती हैं तब वह उत्पन्ना नामसे जगत्‌में अभिहित होती हैं"—दुर्गासप्तशती।

कपिलमुनि कहते हैं—"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह जड़ है। जगत्‌में निरवच्छिन्न जड़ नहीं रह सकता। शास्त्र और ऋषिगण कहते हैं—"सर्वं प्राणमयं जगत्।" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"। तब जड़त्वकी कल्पना क्यों करें? चैतन्यको छोड़ देने पर किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं रहता। एक परम वस्तुकी ही शक्ति परा और अपरा प्रकृतिके रूपमें विद्यमान है। शक्तिसे शक्तिमान् अभिन्न है। स्वर्णालङ्कारसे स्वर्ण विच्छिन्न कर लेने पर जैसे अलङ्कार नामका कोई पदार्थ नहीं रहता, उसी प्रकार चैतन्यके बिना किसी जड़ पदार्थकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अनादि अविद्याके कारण

आत्म-पदार्थमें अनात्माकी केवल कल्पना-मात्र होती है। इसीसे श्वेताश्वतरश्रुति कहती है—"सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे"। जीवात्मा और परमात्माका भेद-दर्शन करनेके फलस्वरूप जीव केवल इस संसारचक्र या स्थूल देहमें भ्राम्यमाण होता है।

यह प्रकृति भी आत्माके समान ही इन्द्रियादिके लिए अगोचर है। इसी लिए प्रकृतिको भी अव्यक्त कहते हैं। इसी कारण आत्माके अतिरिक्त आत्माके उपाधि-मात्रको जड़ कहा गया है। जड़का अर्थ है वे पदार्थ जो अस्वाधीन हैं, प्रकृति वस्तुतः जड़ नहीं है, वह ब्रह्म ही है अथवा ब्रह्मकी व्यक्तावस्था-मात्र है। प्रकृतिको पृथक् मानने पर उसको ब्रह्मके आवरणके रूपमें मानना पड़ता है। इस आवरणकी कल्पना कर लेने पर, इस आवरणकी किसने सृष्टि की, क्यों की—इत्यादि नाना प्रकारके प्रश्न उठ खड़े होंगे। भगवान्ने गीतामें इस प्रश्नकी मीमांसा की है। उन्होंने बतलाया है कि यह जीव-चैतन्य उनकी परा प्रकृति है। और जो बाह्य प्रकृतिरूपमें वर्तमान है वह उनकी अपरा प्रकृति है। दोनों प्रकृतियाँ जब उन्हींकी हैं, तब वह जड़ नहीं हो सकतीं। भागवतमें लिखा है—

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्।
दृश्यादिभिः पृथक्भावैर्भगवानेक ईयते॥

परब्रह्म ज्ञानमात्र है। वह परमात्मा, परमेश्वर आदि अनेक प्रकारके नामोंसे अभिहित होता है। द्रष्टा और दृश्यरूपमें पृथक् पृथक् भावमें वही विद्यमान है। उसकी परा प्रकृति प्राण है जो ब्रह्मसूत्ररूपसे जीवदेहमें सुषुम्नाके भीतर विराजमान रहकर इस विश्वलीलाको सम्पादन करता है।

सच्चिदानन्द-विभव परब्रह्मको जो इस विश्वरूपमें परिणत कराती है, वह परमा शक्ति ब्रह्मसे अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं हो सकती। भगवान् अपनी शक्तिके बल स्वेच्छासे अपनेको विविध नामरूप-द्वारा परिच्छिन्न कर रखते हैं। यह शक्ति उसके भीतर स्वाभाविक और स्वतः सिद्ध-रूपमें वर्त्तमान है। इसी कारण कोई कोई प्रकृतिको ब्रह्मका स्पन्दन या माया कहते हैं। वस्तुतः उसके रहे बिना ब्रह्म है या नहीं कोई जान नहीं सकता। ब्रह्मका कार्य-भाव या सगुण अथवा ईश्वरभाव ही उसकी प्रकृति है। कारण-भाव ही निर्गुण भाव है। साधकको इस निर्गुण भावके साथ भी परिचित होना पड़ता है। निर्गुण भावके साथ परिचित हुए बिना, निर्गुण ब्रह्म आत्ममायाके वश अखिल विश्वके रूपमें परिणत होकर भी किस प्रकार अविकृत और असंस्पृष्ट होकर रहता है, यह कुछ भी समझमें नहीं आता। परमात्माके दोनों विभावों (aspects) को पृथक् पृथक् भावसे आलोचना करने पर एक महाद्वन्द्व उपस्थित होता है। परमात्मा क्षेत्रज्ञ-रूपमें निर्गुण है, प्रकृति-रूपमें गुणमय है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ जिसकी प्रकृति है, वह परमात्मा सगुण और गुणातीत दोनों है। परन्तु क्षेत्र क्षेत्रज्ञके बिना प्रकाशित नहीं होता और क्षेत्रज्ञ भी क्षेत्रके बिना नहीं रहता।

सगुण और निर्गुण

अतएव इसका मतलब यह हुआ कि भगवान्‌की जो विश्वलीला दीख पड़ती है उसको स्वप्न कहकर अस्वीकार करनेका कोई उपाय नहीं है। उसके भीतर शुद्ध ज्ञानात्मक भावको पुरुष या क्षेत्रज्ञ तथा इस लीलाके अधिष्ठान या आश्रयवाली वस्तुओंके समूहको क्षेत्र कहते हैं।

भगवद्-ईक्षण

प्रकृतिसे जो महान् या बुद्धि उत्पन्न होती है, वेदान्त उसको ही भगवद्-ईक्षण कहता है। भगवान्‌से भगवद्-ईक्षण कार्यतः स्वतन्त्र बोध होने पर भी वह उनकी अपनी शक्तिका विलासमात्र है, अन्य कोई आगन्तुक पदार्थ नहीं है। यह ईक्षण ही भगवन्माया है। यह माया जब लीला-विलासके हेतु बहिर्मुख होती है, तभी उससे अहङ्कार उत्पन्न होता है अर्थात् चैतन्यका बाह्य स्फुरण होता है जैसे सुषुप्तावस्थासे स्वप्नावस्थाका स्फुरण होनेपर अपने आपका कुछ भान होने लगता है। इसी आलोचना या मनन-क्रियासे मन होता है। पश्चात् वह बहुधा सम्प्रसारित होकर श्रवण, दर्शन, स्पर्शनादिकी इच्छा उत्पन्न करता है। उस इच्छासे इन्द्रिय-शक्तिका विकास होता है। इन्द्रिय-शक्तिके प्रकटित होने पर उसकी क्षुधाके निवारणके लिए इन्द्रियोंके भोग्य स्थूल जड़ जगदादि उत्पन्न होते हैं। परन्तु सबके मूलमें उसकी वह अनादि इच्छा—"एकोऽहं बहु स्याम्" रहती है।

माया

परमात्माकी अनादि इच्छा या सङ्कल्प ही माया है। भगवान्‌ने गीतामें मायाको त्रिगुणात्मिका, दैवी और दुस्तरा कहा है। आचार्य शङ्करने देवी शब्दका अर्थ किया है—"दैवी देवस्य ममेश्वरस्य विष्णोः स्वभाव-भूता"। देव परमेश्वर विष्णु-स्वरूप मैं हूँ, अतः मेरी स्वभाव-भूता होनेके कारण माया दैवी है। आचार्य रामानुज कहते हैं—"देवेन क्रिया-प्रवृत्तेन मया एव निर्मिता"—लीलामें प्रवृत्त भगवान्‌ने लीलाके लिए माया प्रस्तुत की है। यह माया भी अनिर्वाच्या है। अद्वैत वेदान्तके मतसे यह माया—"सदसद्-भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत् किञ्चित्"। यह सत् नहीं है, असत् नहीं है, यह क्या है ठीक ठीक कह नहीं सकते। त्रिगुणात्मिका, ज्ञान-विरोधी, भावरूप यत्किञ्चित् है। इसको सत् नहीं कह सकते, क्योंकि यह ज्ञान होने पर नहीं रहती। इसको शशश्रृङ्गके समान मिथ्या भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसकी व्यावहारिक सत्ता सब अनुभव करते हैं। परन्तु वह जब ब्रह्म-शक्ति है तब ब्रह्मके समान सद्वस्तु न होने पर भी अत्यन्त असत् भी नहीं है। यह ज्ञानविरोधी है, क्योंकि जबतक माया या गुणका खेल रहता है तबतक ज्ञान नित्य वस्तु होकर भी आवृतवत् प्रतीत होता है। यही आवरण मायाका आवरण है। परन्तु तन्त्रशास्त्र मायाको अवस्तु नहीं कहते।

तन्त्र-मतसे माया क्या है

अप्रतर्क्यमनिर्देश्यमनौपम्यमनामयम्।
तस्य काचित् स्वतः सिद्धा शक्तिर्मायेति विश्रुता॥ देवी-गीता।

श्रुति-प्रतिपाद्य उस आत्माका स्वरूप अनुमानादि प्रमाणका विषय नहीं है।

उस आत्म-पदार्थको जाति, गुण, क्रिया और संज्ञादिके द्वारा निर्देश नहीं कर सकते। इसलिए वह अनिर्देश्य है, उसके समान द्वितीय पदार्थके अभावके कारण वह उपमारहित है तथा जन्म-मरण आदि षट् भाव-विकारोंसे शून्य होनेके कारण वह अनामय है। यह आत्मा स्वतः-सिद्ध एक शक्ति है जो माया नामसे विख्यात है।

स्वशक्तेश्च समायोगाद् अहं बीजात्मतां गता।
स्वाधारावरणात्तस्या दोषत्वञ्च समागतम्॥ देवी-गीता।

मैंने निर्गुण होकर भी स्वशक्तिके समायोगसे जगत्के कारणत्वको प्राप्त किया है। यह माया अविद्या-शक्ति द्वारा आत्माको आवृत करती है, इसी कारण मायामें स्वाश्रय-व्यामोहकता-रूप दोष विद्यमान है।

चैतन्यस्य समायोगान्निमित्तत्वञ्च कथ्यते।
प्रपञ्च-परिणामाच्च समवायित्वमुच्यते॥ देवी-गीता॥

मेरा चैतन्य ही जगत्का निमित्त-कारण है। मेरी माया-शक्ति प्रपञ्च-रूपमें परिणत होकर जगत्का निर्माण करती है, अतएव माया जगत्का समवायी अथवा उपादान कारण है।

तत्र या प्रकृतिः प्रोक्ता सा राजन् द्विविधा स्मृता।
सत्त्वात्मिका तु माया स्यात् अविद्यागुणमिश्रिता॥
स्वाश्रयं या तु संरक्षेत्सा मायेति निगद्यते।
तस्यां तत्प्रतिबिम्बं स्याद्‌बिम्बभूतस्य चेशितुः॥
स ईश्वरः समाख्यातः स्वाश्रयज्ञानवान् परः।
सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च सर्वानुग्रहकारकः॥
अविद्यायान्तु यत्किञ्चित प्रतिबिम्बं नगाधिप।
तदेव जीवसंज्ञं स्यात्सर्वदुःखाश्रयं पुनः॥ देवी गीता।

हे राजन! पहले जो प्रकृति कही गयी है, वह दो प्रकारकी है। सत्त्वप्रधाना प्रकृतिको माया और रजस्तमोमिश्रित प्रकृतिको अविद्या कहते हैं। यह माया स्वाश्रय आत्माको आवृत करती है। इस मायामें प्रतिबिम्बित चैतन्यका नाम ईश्वर है। उनका आत्मज्ञान कभी आवृत नहीं होता। वह सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता तथा सबके प्रति अनुग्रह करनेमें समर्थ हैं। हे नगाधिप! अविद्या-प्रतिबिम्बित चैतन्यको जीव कहते हैं। यह सब दुःखोंका आश्रय है।

करोति विविधं विश्वं नाना भोगाश्रयं पुनः।
मच्छक्ति-प्रेरितो नित्यं मयि राजन् प्रकल्पितः॥ देवी-गीता।

हे राजन्! ईश्वर मेरी ब्रह्मरूपिणी माया-शक्तिके द्वारा प्रेरित होकर अखिल विश्वकी सृष्टि करते हैं, क्योंकि ईश्वर भी रज्जुसर्पवत् ब्रह्मरूपी मुझमें कल्पित होते हैं, अतएव वह मेरी शक्तिसे प्रेरित अर्थात् मेरे अधीन हैं।

माया भगवान्‌की शक्ति है

मन्मयाशक्तिसंक्लृप्तं जगत्सर्वं चराचरम्।
सापि मत्तः पृथङ्माया नास्त्येव परमार्थतः॥ देवी-गीता।

यह समस्त चराचर जगत् मेरी ही मायाशक्तिके द्वारा कल्पित होता है। यह मायाशक्ति परमार्थ-दृष्टिसे मेरे अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नहीं है, क्योंकि यह माया मुझमें ही कल्पित होती है। परब्रह्मकी दो शक्तियोंमें जो चेतन अविकारी है उसको पुरुष कहते हैं तथा जो विकारयुक्त और परिणामी है उसको प्रकृति कहते हैं। श्रुतिमें लिखा है—"द्वे प्रकृती वेदितव्ये परा च अपरा"। गीतामें भी इन दो शक्तियोंको परा-अपरा नाम दिया गया है। यह परा प्रकृति जीवकी जीवन-रूपा है, इसीने जगत्को धारण कर रखा है। चैतन्यकी धारणाका विषय होने पर ही जगत्का अस्तित्व है, यह जगत् उसकी धारणाका विषय न होता तो इसका अस्तित्व न रहता। इसको ही आचार्य शङ्कर कहते हैं—"जीवरूपां क्षेत्रज्ञलक्षणां प्राणधारणनिमित्तभूताम्"। वेदान्तकी भाषामें यही परब्रह्मकी स्पन्दनशक्ति है। योगकी भाषामें यह प्राणशक्ति है। मणिमें जिस प्रकार स्वाभाविक ज्योति झलकती है, शान्त, शुद्ध, चिन्मय ब्रह्ममें भी उसी प्रकार स्वाभाविक स्पन्दन उठता है। यह स्पन्दन ही प्राण या माया है। ब्रह्म चाञ्चल्य-हीन, शान्त, शुद्ध, शिवरूप है और उसमें जो स्पन्दन उठता है वह उसकी प्राणशक्ति, मन या माया है। पञ्चदशी-कार कहते हैं—

मायाविद्ये विहायैवं उपाधी परजीवयोः।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते॥

ईश्वर और जीव दोनों उपाधिकल्पित अवस्तु हैं—ईश्वरत्वं तु जीवत्वं उपाधिद्वय-कल्पितम्। माया और अविद्यारूप उपाधिका परित्याग करने पर अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म लक्षित होता है। अद्वैतवादी ब्रह्मके द्विविध लक्षण बतलाते हैं—(१) स्वरूप लक्षण जो निर्गुण, निर्विकल्प है, जिसमें सृष्टिकी कोई बात ही नहीं उठ सकती। इसीलिए उन्होंने ब्रह्मका एक (२) तटस्थ लक्षण भी स्वीकार किया है। तटस्थ लक्षणमें वह सगुण हैं, अतः सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वकल्प और सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्त्ता हैं।

इसको लेकर सगुण और निर्गुण वादियोंके बीच न जाने कितना वादविवाद हुआ है और हो रहा है। परन्तु योगीके लिए इस तथ्यका निर्णय करना कुछ भी कठिन नहीं है। दक्ष-स्मृतिमें लिखा है—

स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा।
अयोगी नैव जानाति जात्यन्धो हि यथा घटम्॥

जन्मान्धको जिस प्रकार घटादि पदार्थोंका चाक्षुष ज्ञान नहीं होता, कुमारी जैसे स्त्री-सुख नहीं समझ सकती, अयोगी भी उसी प्रकार स्वसंवेद्य ब्रह्मके विषयको कुछ भी नहीं जान सकता।

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।

तन्त्रमें लिखा है—अभ्यासात् कादिवर्णानि यथा शास्त्राणि बोधयेत्।
तथा योगं समासाद्य तत्त्वज्ञानं च लभ्यते॥

ककारादि वर्णोंका अभ्यास जैसे शास्त्रबोध उत्पादन करता है, योग भी उसी प्रकार तत्त्वज्ञानका उदय करा देता है।

तत्त्वज्ञान योगसापेक्ष है अर्थात् योगाभ्याससे ही तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। श्रुतिमें लिखा है—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" और यह भी कहा है कि "शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर अपने भीतर आत्माकी उपलब्धि करे।"

भगवान्‌ने इस तेरहवें अध्यायमें कहा है कि वह क्षेत्रज्ञ हैं। अपरा प्रकृतिका कार्य है देहरूपमें या भोगसाधन द्रव्यादिरूपमें परिणत होना और परा प्रकृति या क्षेत्रज्ञका कार्य है भोक्तृत्व। यह प्रकृतिस्थ होकर "भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्"—

पुरुष क्षेत्रज्ञ या आत्मा है, वही ज्ञेय है

प्रकृतिके गुणोंका भोक्ता होता है। प्रकृततः ये प्रकृति-पुरुष एक ही वस्तुकी दो दिशायें-मात्र हैं। परमात्माकी इन दोनों प्रकृतियोंके एकत्र रहनेके कारण ही असङ्ग पुरुषका संसारभाव परिलक्षित होता है। परा और अपरा प्रकृतिद्वय एकत्र मिलने पर ही जीवकी बद्धावस्था होती है। जबतक ज्ञानोदय नहीं होता, यह बद्धभाव वर्तमान रहता है। ज्ञानद्वारा पुरुष जब अपना परिचय पाता है तो अपरा प्रकृतिकी ममताके बन्धनसे जीव मुक्तिलाभ करता है। इस मोह-बन्धनसे मुक्त होने पर जीव स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है। तब अपरा प्रकृति वृक्षकी जीर्ण त्वचाके समान अपने आप स्खलित हो जाती है। इसीसे वेदान्त कहता है कि प्रबुद्ध होनेके बाद अर्थात् स्वरूपदर्शनके बाद जगदादि स्वप्नदर्शन तिरोहित हो जाते हैं। ज्ञानोदयके साथ ही हमारा सृष्ट विश्व फिर हमारी प्रतीतिका विषय नहीं रह जाता, परन्तु यह बिल्कुल लुप्त भी नहीं हो जाता। मुक्त जीव इसके सम्बन्धमें केवल उदासीन हो जाता है। प्रपञ्चातीत अवस्था प्राप्त करके वह फिर प्रपञ्चदर्शन नहीं करते। वस्तु-मात्रमें प्रतीति तब होती है जब वह किसीके बोधका विषय होता है। स्वरूपमें जीवकी स्थिति होने पर उसकी बुद्धिका अस्तित्व नहीं रहता, अतएव जगदाकारमें बुद्धिका परिणाम न होनेके कारण जगत्‌का कोई अनुभव उसको नहीं होता। इसी कारण मुक्त पुरुषके देहेन्द्रियादि यन्त्रके द्वारा कर्म करने पर भी उनको कर्म-बन्धन नहीं होता। क्षेत्रके साथ क्षेत्रज्ञके तादात्म्यके कारण जगद्दर्शन होता है, वह उसका व्यावहारिक स्वरूप है। क्षेत्रज्ञके इस व्यावहारिक भावको दिखलाकर पश्चात् उसका पारमार्थिक असंसारी स्वरूप दिखाया जाता है। क्षेत्रज्ञका यह असंसारी स्वरूप ही ज्ञेय वस्तु है और यह ज्ञेय वस्तु ही ब्रह्म है। इसको जाने बिना कोई अमृतत्व-लाभका अधिकारी नहीं हो सकता। भगवान् कहते हैं कि वह ज्ञेय ब्रह्म-वस्तु अनादि है, वह सत्-असत् प्रमाणका विषय नहीं है। साधरणतः जो इन्द्रियज्ञानसे जाना जाता है वही सत् है, जो इन्द्रियादिके अगोचर है वह असत् है। परन्तु वह सदसत् या स्थूल-सूक्ष्म कुछ भी नहीं है—वह निर्विशेष स्वप्रकाश-स्वरूप है। वह कुछ नहीं है तो क्या वह शून्यमात्र है? —ऐसा नहीं है। वह कुछ नहीं है इसका अर्थ यह है कि जैसे स्वप्नदृष्ट वस्तु हमारे मनके अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है उसी प्रकार परा या अपरा प्रकृति, स्थूल या

सूक्ष्म उस ब्रह्मसे कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। परन्तु सत्-असत् भाव उसके स्वरूपमें न रहने पर भी जबतक 'सर्व'की प्रतीति है तबतक वह सर्वात्मक-रूपमें "सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्, सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।" परन्तु ब्रह्मके स्वरूप-लक्षणमें "बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च" यह सर्वात्मक भाव भी नहीं रहता। ब्रह्मका तटस्थ लक्षण इस सर्वात्मक भावमें ही समझा जाता है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मानन्दरूपममृतं यद्विभाति"—यही ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण है। जिस प्रकार कनक-कुण्डलके बाहर-भीतर स्वर्ण है, उसी प्रकार दृश्य जगत्के भीतर और बाहर तथा उसके अतीत भावमें भी केवल एक ब्रह्म विद्यमान है।

जगत् क्या है ?

सांख्यके मतसे जगत् प्रकृतिका स्वतः परिणाम-मात्र है। गीताके मतसे जो कुछ हुआ है सब उसकी इच्छासे 'मयाध्यक्षेण' हुआ है। मानो वह स्वयं द्विधा विभक्त होकर प्रकृति और पुरुष-रूपमें खेल कर रहे हैं। प्रकृति ही 'ब्रह्मयोनि' या 'महत्तत्त्व' है तथा ईश्वर बीजप्रद पिता है अर्थात् उसके ईक्षणसे ही प्रकृतिका गर्भाधान होता है। ईश्वर स्वयं कामगन्धहीन, निर्विकार, अपने आपमें प्रतिष्ठित हैं तथापि अचिन्तनीय योगैश्वर्यके बलसे वह इस विश्व-संसारकी सृष्टि, स्थिति और संहार साधन कर रहे हैं। यह सृष्टि बिल्कुल अलौकिक है। सृष्ट वस्तुके साथ उनका कोई योग नहीं। वह सर्वव्यापक हैं तथापि किसीमें लिप्त नहीं। यह विचित्र अवस्था केवल क्रियाकी परावस्थामें ही अनुभव की जाती है। वह लिप्त क्यों नहीं होते? पहले तो सृष्ट वस्तुएँ वस्तुतः कल्पित हैं, जो कल्पित या स्वप्नमात्र है उसमें वस्तुतन्त्रता नहीं होती। अतएव कौन किससे लिप्त होगा? इसके सिवा ब्रह्म "सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति, अणुभ्योऽणु च"—इतन सूक्ष्म है कि अणु उसके सामने स्थूल है। इतना सूक्ष्म और कोई वस्तु नहीं हो सकती, अतएव वह किसी पदार्थमें लिप्त नहीं हो सकते। वायु सूक्ष्म पदार्थ होनेपर भी अत्यन्त सूक्ष्म नहीं है, अतएव उसका स्पर्श हम त्वचाके द्वारा अनुभव कर सकते हैं। शून्य या व्योम वायुकी अपेक्षा भी सूक्ष्म है, अतः शून्यमें कोई वस्तु लिप्त नहीं हो सकती। उस शून्यके अणुके दश भागका एक भाग ब्रह्माणु है, वह किस प्रकार अन्य वस्तुके साथ संयुक्त होगा। अतएव ब्रह्म सब वस्तुओंका आधार होते हुए भी सब वस्तुओंसे पृथक् हैं। आप्तकामकी यह एक अपूर्व लीला है। परन्तु इस अवस्थामें भी वह अनासक्त हैं, इसलिए सब साज ही उनके हैं तथापि वह सबके साथ सम्बन्ध-रहित हैं। रज्जुमें सर्पभ्रम होनेपर रज्जु ही जैसे कल्पित सर्पका आश्रय होती है, उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म सत्त्वादि गुणोंके परे होकर भी सत्त्वादि गुणोंके पालक हैं। ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण समझाया नहीं जा सकता, जैसे क्रियाकी परावस्था किसीको समझायी नहीं जा सकती। वह केवल अनुभवगम्य है। अतः उनके अस्तित्वमें सन्देह नहीं हो सकता। ब्रह्मके तटस्थ लक्षणके द्वारा उनके स्वरूपकी कुछ-कुछ धारणा होती है। भगवान्ने इस त्रयोदश अध्यायके १३ वें श्लोकसे १७ वें श्लोकतक ब्रह्मके तटस्थ लक्षणको समझानेका प्रयास किया है। अर्थात् वह ब्रह्म ही सबके बाहर, भीतर, दूर और निकट हैं। वही स्थावर और जङ्गम हैं तथा सूर्यादि ज्योतिष्क उनके ज्योति-मात्र हैं। वह यद्यपि एक

अखण्ड, अविभक्त हैं तथापि विभक्तके समान दीख पड़ते हैं। वह अत्यन्त सूक्ष्म हैं इसी कारण हमारे ज्ञानके द्वार इन्द्रियोंके लिए अविज्ञेय हैं। वही ज्ञेय और ज्ञानगम्य हैं तथा सबके हृदयमें वही अधिष्ठित हैं। उनको जाने बिना प्रकृति-सम्भूत देहेन्द्रियादिके चंगुलसे परित्राणका अन्य कोई उपाय नहीं है। इसी कारण ज्ञानालोचना तथा ज्ञानकी साधनाओंको जानकर ज्ञेय वस्तु की यथार्थ धारणा करनी पड़ती है।

ज्ञान

इस अध्यायके ७ वें श्लोकसे ११वें श्लोक तक कथित अमानित्व अदम्भित्व आदि सद्गुणोंको आयत्त करनेकी चेष्टा करना आवश्यक है। ये ही ज्ञानके साधन हैं तथा प्रकृत ज्ञान उत्पन्न होने पर ज्ञानीमें ये सारे लक्षण प्रकट होते हैं।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

आत्म-साक्षात्कारके विविध मार्ग

(१) किसी किसी अधिकारीके लिए ध्यानयोग ही आत्मदर्शनका उपाय है, वे बुद्धिमें प्रतिबिम्बित आत्माको प्रत्यक्ष करते हैं, (२) दूसरे अधिकारी लोग प्रकृति-पुरुषके प्रभेदकी आलोचनाके द्वारा आत्मदर्शन करते हैं, (३) तीसरे अधिकारी अष्टाङ्ग योगके साधनमें अभ्यस्त होते हैं और (४) चतुर्थ अधिकारीगण भगवत्प्रीत्यर्थ कर्मानुष्ठान द्वारा आत्मदर्शनकी चेष्टा करते हैं।

ध्यानयोग क्या है? शब्दादि विषयोंसे इन्द्रियोंको प्रत्याहृत करके मनमें अवरुद्ध करना पड़ता है और मनको आत्मामें उपसंहृत करके एकाग्रभावसे जो चिन्तन होता है उसीका नाम ध्यान है। इस ध्यान-कालमें विजातीय ज्ञानधारा नहीं रहती, तैलधाराके समान अविच्छिन्न मनोवृत्ति बहती रहती है। इस ध्यानके द्वारा बुद्धिमें कोई कोई योगी प्रत्यक् चेतन या आत्माका दर्शन करते हैं।

सांख्ययोग कैसा है? सत्त्व, रजः और तमः—ये गुणत्रय मेरे दृश्य हैं, मैं इन गुणत्रयसे विलक्षण हूँ, इन गुणत्रयका जो कुछ व्यापार है उसका मैं द्रष्टा हूँ। मैं अविनाशी अपरिणामी आत्मा हूँ। इस प्रकार प्रकृतिपुरुषका विभागचिन्तन ही सांख्ययोग है—(शङ्कर)। इस प्रकार सांख्ययोग-द्वारा संस्कृत अन्तःकरणमें कोई-कोई आत्मदर्शन करते हैं। अष्टाङ्ग योगाभ्यास उनकी साधना है। कोई-कोई अधिकारी निष्काम कर्मयोगका अवलम्बन कर भजन करते हैं। उसके द्वारा चित्त शुद्ध होने पर निदिध्यासनका अधिकार प्राप्त होने पर वे आत्मदर्शन करके कृतार्थ हो जाते हैं।

परन्तु जो अतिमन्द अधिकारी हैं, वे उपर्युक्त उपायोंका अवलम्बन करनेमें असमर्थ होकर गुरु-वाक्यानुसार उनके उपदिष्ट उपायोंमें श्रद्धालु होकर आत्मोपासना करते हैं। वे भी मृत्युका अतिक्रमण करके भविष्यत्में ज्ञान प्राप्त करते हैं।

पूज्यपाद गुरुदेव लाहिड़ी महाशयने कहा है—भली-भाँति १७२८ बार प्राणायाम करने पर निर्मल ब्रह्मस्वरूप अणु दीख पड़ता है। इसको ही ध्यानयोग कहते हैं, क्योंकि ध्यानमें कुछ ध्येय वस्तु रहनी चाहिए। यही सावलम्ब ध्यान है। सांख्ययोग है निरावलम्ब ध्यान—असंख्य प्राणायाम द्वारा मन जब विषयादिसे अनासक्त होकर स्थिर होता है तब वह निर्विषय अर्थात् अपने आपमें रहना-रूप जो स्थिति है वही प्रकृत सांख्ययोग है। क्रियायोग—जो फलाकांक्षा-रहित होकर प्राणापानको स्थिर करनेका कौशल अष्टाङ्ग योगके अवलम्बनसे प्राप्त करते हैं वे ही कर्मयोगी हैं। इन समस्त उपायोंमें क्रियायोग ही रहता है।

ज्ञानादेव हि कैवल्यमतः स्यात्तत्समुच्चयः।
सहायतां व्रजेत् कर्म ज्ञानस्य हितकारि च ॥

ज्ञान-द्वारा कैवल्य प्राप्त होता है, निष्काम कर्मादि द्वारा उस ज्ञानकी प्राप्तिमें सहायता मिलती है। एकमात्र प्राण-कर्म ही निष्काम कर्म है। प्राणकर्मकी साधनाके द्वारा ही प्राणकी स्थिरता सम्पादित होती है। स्थिरता ही प्राणकी स्वाभाविक अवस्था है तथा चाञ्चल्य विकृत अवस्था है। प्राणके स्थिर होने पर ही सत्य वस्तु प्रत्यक्ष होती है। स्थिर जलमें सूर्यका प्रतिबिम्ब स्वाभाविक होता है, चंचल जलमें प्रतिबिम्ब विकृत दीखता है। जैसे मेघमालाके द्वारा सूर्यकिरणें आच्छादितवत् प्रतीयमान होती हैं और मेघमालाके दूर होने पर सूर्यकी किरणें प्रत्यक्ष की जाती हैं, उसी प्रकार प्राणापान आदि प्राणवृत्ति-द्वारा अनन्त स्थिरता मानो आच्छादित-सी जान पड़ती है, साधन-शक्ति द्वारा फिर प्राणापान-वृत्तिके रुद्ध होते ही चिर स्थिर, चिर अविकृत स्थिर प्राणकी उपलब्धि हो सकती है। यह स्थिर प्राण अखण्ड एकरस आत्माका ही नामभेद-मात्र है। इसलिए साक्षात् ज्ञानस्वरूप आत्माका अवबोध कैवल्य-प्राप्तिका प्रत्यक्ष कारण होने पर भी स्पन्दनात्मिका प्राणवृत्ति इस अवबोधका प्रधान अन्तराय है, इसमें कोई सन्देह नहीं। प्राणवृत्तिके निस्पन्दित होने पर सारी बाधाएँ क्षीण हो जाती हैं, तब आत्मबोध निर्बाध होने पर मेघमुक्त सूर्यके समान झलमल करने लगता है। प्राणायाम-रूप प्रयत्नके द्वारा प्राण-शक्तिको आयत्त कर सकते हैं। चञ्चल प्राण ही मोहपाश है तथा वही मृत्युभयका कारण है। प्राणायामसिद्धिके द्वारा यह भय पूर्णतः दूर हो जाता है। इसके सिवा मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा भूत और रूपादि विषय प्राणके द्वारा ही सर्व देहमें परिचालित होते हैं।

क्रियायोग-द्वारा मुक्ति

मनो बुद्धिरहङ्कारो भूतानि विषयाश्च यः।
एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिचाल्यते ॥ महाभारत, शान्तिपर्व।

अतएव प्राण यदि स्थिर होता है, तो मन, बुद्धि और रूपादि विषय जो मनको चञ्चल करते हैं, फिर उठ ही नहीं सकते।

चक्षु-श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियोंमें भी प्राण वर्त्तमान रहता है तथा विषय-ज्ञानवाहक यन्त्रमें भी अधिष्ठित रहता है, मस्तिष्कके भीतर भी वह वर्तमान है। 'प्राणो हृदयम्, हृदि प्राणः प्रतिष्ठितः'—प्राण हृदयमें रहता है, चक्षु आदिमें स्थित नाड़ियोंमें

जैसे (बोधवाही) प्राण-स्थान है, श्वास-यन्त्रमें भी उसी प्रकार प्राण-वृत्ति रहती है।

प्राण

इसीसे श्रुति कहती है—"उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वञ्चैव पञ्चधा। अध्यात्मञ्चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते॥" प्राणकी उत्पत्ति, आगमन, स्थिति, विभुत्व तथा बाह्य और अध्यात्मभेदसे पाँच प्रकारकी अवस्थिति जानकर साधक अमृत भोग करता है। समस्त सृष्टिके पहले प्राण था—'प्राणो भूतानां ज्येष्ठः'। जागतिक समस्त पदार्थोंको 'रयि' और 'प्राण' कहा गया है। उनमें प्राण ही शक्ति-पदार्थ और रयि द्रव्य-पदार्थ है। "एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्यः, एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः। एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतञ्च यत्"—(प्रश्नोप०)। यह प्राण अग्नि होकर ताप देता है, यह सूर्य है, यह पर्जन्य है, यह मघवान् (इंद्र) है, यह वायु है, यह पृथिवी है तथा यह प्रकाश-स्वभाव रयि (चन्द्र) है। जो कुछ सत् और असत् तथा अमृत है वह भी वही है। उस शक्ति-पदार्थका स्थान सुषुम्ना नाड़ी है, वही स्थिर प्राणका आधार है।

दीर्घास्थिमूर्द्धपर्यन्तं ब्रह्मदण्डेति कथ्यते।
तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं ब्रह्मनाडीति सूरिभिः॥—उत्तरगीता॥

मस्तक पर्यन्त दीर्घास्थि अर्थात् मेरुदण्ड है, उसको ब्रह्मदण्ड कहते हैं। उसके भीतर अत्यन्त कोमल और सूक्ष्म ब्रह्मनाड़ी रहती है। उस नाड़ीके भीतर श्वासको सञ्चालित करना पड़ेगा। यदि कहो कि वह पथ तो हमारा देखा हुआ नहीं है, किस प्रकार हम उसके भीतर प्राणकी परिचालना करें, तो श्रुतिका उपदेश है कि "येनासौ पश्यते मार्गं प्राणस्तेन हि गच्छति"—(अमृतविन्दु)। मनके द्वारा यदि इस मार्गको लक्ष्य किया जाय तो प्राण भी उसी मार्गसे गमन करेगा।

इस सम्बन्धमें पूज्यपाद लाहिड़ी महाशयने वेदान्तकी व्याख्यामें जो कुछ कहा है उसको जान लेने पर उपर्युक्त विषय समझनेमें बहुत सुविधा होगी—"पुरुष चतुष्पाद है, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये चार अवस्थाएँ हैं। इन चार अवस्थाओंके चार स्थान हैं—(१) नाभि, (२) हृदय, (३) कण्ठ, (४) मूर्धा। नाभिमें वायुके रहने पर नाना विषयोंमें मन दौड़ता है, मनके नाना स्थानोंमें दौड़नेसे चक्षुकी पलक गिरती रहती है। जब क्रिया द्वारा वायु नाभिमें स्थिर होती है, तब मन भी स्थिर हो जाता है, पलक भी नहीं गिरती। यह स्थिरता ही अनुभवस्वरूप ब्रह्मका प्रथम पाद है। हृदयसे कण्ठ पर्यन्त वायुके चलायमान होनेपर भीतर और बाहर स्वप्न-दर्शन होता है। बाहरका स्वप्न है बाहरका वस्तुदर्शन, जो वस्तुतः है नहीं उसको देखकर मोहित होना। भीतर जो नहीं है वही स्वप्नमें दीखता है, जैसे स्वप्नका सर्प वस्तुतः नहीं होता फिर भी सर्प देखने पर भयका उद्रेक होता है। हृदयसे कण्ठ तक जो वायु चलायमान रहती है, उसके स्थिर होने पर फिर स्वप्न नहीं दीखता। बाहर भी वह ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं देखता। स्वप्न न देखना ही ब्रह्मज्ञानका चिह्न है—यही ब्रह्मका द्वितीय पाद है। जब वायु हृदयमें स्थिर होती है, तब सुषुप्तावस्था होती है अर्थात् नानात्वका ज्ञान विलुप्त हो जाता है। यही ब्रह्मका तृतीय पाद है। इन तीन पादोंके ऊपर जो वायु

रहती है उसका नाम अमृत है। वह ऊर्ध्वमें उत्थित होकर जब ब्रह्मरन्ध्रमें स्थिर होती है, तब गगन-सदृश अवस्था प्रकाशित होती है, यही चतुर्थ पाद अथवा तुरीयावस्था है।"

जब तुम अस्थिर होते हो उस समय तुम्हारी बुद्धि स्थिर नहीं होती। तब यह-वह करनेकी, यहाँ-वहाँ जानेकी कितनी इच्छाएँ होती हैं। क्रिया करके जब स्थिर हो जाते हो, जब नाना वासनाओंसे चित्त विक्षिप्त नहीं होता, तब समझना चाहिए कि तुम्हारी बुद्धि भी स्थिर हो गयी है। जो बुद्धि ब्रह्ममुखी होती है उसमें फिर कल्पना नहीं होती, तब मन भी निरुद्ध होता है और बुद्धि भी स्थिर और अचञ्चल होती है। यह स्थैर्य जब पराकाष्ठाको प्राप्त होता है तब उसको परा बुद्धि कहते हैं। वही क्रियाकी परावस्था है। हृदयमें प्राणवायुको प्रतिष्ठा होते ही स्थैर्यकी पराकाष्ठा प्राप्त होती है। इस परम स्थिरताकी अवस्थामें ही "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" हो जाता है। तब 'मैं' न रहनेके कारण द्रष्टाका दृश्य-प्रपञ्च नहीं रहता। इस अवस्थामें विश्वकी उत्पत्ति और प्रलय कुछ भी संभव नहीं है। इस अवस्थामें 'जगत् आदि असत्य' कहे जा सकते हैं।

"आसीदिदं तमोभूतं अप्रज्ञातमलक्षणम्।"—पहले कुछ नहीं था, तब एकमात्र ब्रह्म ही था, परन्तु अन्य ज्ञाताके अभावमें ब्रह्म भी न रहनेके समान था। इस अगोचर, अनिर्देश्य वस्तुसे एक नर उत्पन्न हुआ। वही प्रथम पुरुष नारायण कारणार्णवशायी है। यह कूटस्थ-रूप कारण-सलिलमें प्रथम दृष्ट होता है। उसको ॐकार-मध्यस्थ कहते हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर ही ॐकार हैं और इनके परे विदेह पुरुष है। ये तीनों शरीर उस विदेह पुरुषकी प्रकृति हैं। उस समय प्रकृति-पुरुष समरस-भावापन्न होते हैं। पश्चात् वे पृथक् होकर विच्छिन्न हो जाते हैं। परन्तु फिर भी दोनोंमें चेतनात्मक शिव और जगदात्मक प्रकृति वर्तमान रहती है, वे ही विभक्त होकर दो रूप ग्रहण करते हैं—एक होता है नर और दूसरी नारी। तब उनमें सङ्कल्पात्मक मन और मनके कार्योंका निर्वाह करने वाली इन्द्रियाँ आदि रचित होती हैं तथा इन्द्रिय आदिके कार्य-स्थान स्थूल देहादि भी रचित होती हैं। पश्चात् मनके चञ्चल होनेपर अभिमानात्मक वृत्तिके वश नर अपनेको और नारीको पृथक् रूपमें देखने लगता है। फिर नरका मन नारीके प्रति आसक्त होता है। वह मनके चाञ्चल्यके द्वारा अपनी सृष्टि आप करता है अर्थात् नर नारीके गर्भमें आप ही जन्म-ग्रहण करता है। इस प्रकार सब जीवोंकी उत्पत्ति होती है। इन्द्रिय, मन, अहङ्कार और प्राण—ये सब चञ्चल भाव हैं। गतिशील होने पर ये सब आत्माकी उपाधि हो जाते हैं। यह उपाधि या आवरण ही जीवका जीवत्व है। उपर्युक्त (इन्द्रिय, मन, अहङ्कार और प्राण) आवरण-चतुष्टय ही बन्धनके कारण हैं। इस आवरण-चतुष्टयसे मुक्त होने पर जीवत्वका नाश हो जाता है। चाञ्चल्य ही समस्त आवरणोंका मूल कारण है। इसलिए जबतक जीवकी यह अवस्था रहती है, तबतक उसके जन्म और मृत्युका चाञ्चल्य, सुख-दुःखका चाञ्चल्य तथा और भी अनेक प्रकारके चाञ्चल्य लक्षित होते हैं। इस चाञ्च-ल्यसे ही हृदयकी धुकधुकी, भय और व्याकुलताके स्रोत प्रवाहित होते रहते हैं। यह

चाञ्चल्य या वेग नाड़ी-मुखोंसे सर्वत्र सम्प्रसारित होता है। अतएव जबतक नाड़ी-शोधन या भूतशुद्धि नहीं होती, तबतक स्वरूपावस्थामें लौटना नहीं बन सकता। इसलिए प्राणको स्थिर करके इस आवरण-चतुष्टयको छिन्न कर लेने पर ही योगी अपने आपमें प्रतिष्ठित होता है। इसीका नाम तुरीयावस्था है। क्रियाकी परावस्था गम्भीरसे गम्भीरतर होकर इस तुरीयावस्थामें पहुँचाती है। यह अवस्था प्राप्त करने पर फिर योगीको पुनरावर्त्तन नहीं करना पड़ता। यही निर्गुण भाव है, यह आनन्दमय या निरानन्दमय नहीं है। कूटस्थ अविकारी है। सत्त्वगुणके अत्यन्त बढ़ने पर आनन्दका जो अनुभव होता है, वह आत्माकी निर्गुण अवस्थाकी निम्न अवस्था है। परन्तु इस अवस्थाको प्राप्त कर लेने पर ही योगी विशोकावस्थाको प्राप्त करते हैं।

प्रकृति या मायासे मुक्ति-प्राप्तिका उपाय

गीतामें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंको भगवान्‌की प्रकृति बतलाया है। अतएव दोनों भगवान्‌से कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, यह मैं पहले ही कह चुका हूँ। भगवान् जो जगत्-लीला करते हैं, उस लीलाके प्रसङ्गमें ही दोनोंका भेद स्वीकृत होता है। इसलिए मुक्ति-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले साधकोंको दोनों तत्त्व ज्ञातव्य हैं। दोनोंका भेद जहाँ मिट गया है, वही परम तत्त्वका स्थान है। तत्त्ववित् लोग इस परमतत्त्वको ही तत्त्व-वस्तु या ज्ञेय कहते हैं। तत्त्व-वस्तुको ही परम ब्रह्म, परमात्मा या परमेश्वर कहा गया है। वह एक अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्द-स्वरूप है। सांख्य कहता है; "ज्ञानान्मुक्तिः"। इस सच्चिदानन्दस्वरूपका ज्ञान होने पर ही मुक्ति होती है। जबतक यह ज्ञान प्राप्त नहीं होता तबतक जीव त्रिविध दुःखोंकी ज्वालासे दग्ध होता रहता है। जीवके स्थूलादि देहत्रय तथा इनमें जीवकी अत्यन्त आसक्तिके कारण ही यह दुःख अनुभव होता है। अवश्य, देहादिकी उत्पत्तिके कारण कर्म हैं और देहके रहने पर कर्म होना अनिवार्य है। जीवकी स्थूल देहमें पञ्चदश गुण वर्तमान रहते हैं। वही पञ्चीकृत पञ्च भूतोंकी समष्टि है। व्योममें शब्द, अनिलमें शब्द और स्पर्श, अनलमें शब्द, स्पर्श और रूप, सलिलमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस, तथा क्षितिमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, सब मिलकर पञ्चदश होते हैं। इन पञ्चदश गुणोंके द्वारा ही जीव मोहित होकर तत्तत् वस्तुमें आसक्त होता है। यह आसक्ति ही बन्धन है। इस बन्धनसे मुक्त होनेका उपाय है योगाभ्यास। इस बन्धनकी फाँस असलमें स्थूल देहमें नहीं होती, इसकी स्थूलमें अभिव्यक्ति-मात्र होती है। इस बन्धनका मूल सूक्ष्म देहमें है और इस सूक्ष्म देहका शोधन ही भूत-शुद्धि है।

भूत-शुद्धिके बिना सूक्ष्म देहमें लगे हुए संस्कार कदापि नहीं मिटते। सूक्ष्म देहमें पृथ्वीतत्त्वसे भय, जलतत्त्वसे मोह, अग्नितत्त्वसे क्रोध, वायुतत्त्वसे काम तथा आकाशतत्त्वसे लोभ उत्पन्न होता है। सूक्ष्म पञ्च भूतोंके द्वारा ही जीवके चित्तमें नाना प्रकारकी मनोवृत्तियाँ उत्पन्न होकर उसको आबद्ध करती हैं। योगाभ्यास द्वारा शरीर और प्राणके शुद्ध होने पर मन और बुद्धि भी विशुद्ध हो जाती हैं तथा विशुद्ध बुद्धिमें आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष होता है। इसीलिए प्राचीन

आचार्यों तथा ऋषियोंने योगाभ्यासके लिए सबको उपदेश किया है। योगाभ्यासके द्वारा भूत-शुद्धि होने पर काम, क्रोध, लोभ, भय और मोह अपने आप निवृत्त हो जाते हैं और मनमें परम प्रशान्त भाव आकर साधकको परमानन्दका अधिकारी बना देता है। गौतमसूत्र या न्यायदर्शनमें तथा उसके वात्स्यायन-भाष्यमें भी यह स्वीकार किया गया है कि योगाभ्यासके द्वारा ही वह लभ्य है—

"अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः"—गौतमसूत्र-तत्त्वज्ञानविवृद्धि-प्रकरणम्। "योगाभ्यासजनितो धर्मो जन्मान्तरेऽप्यनुवर्तते। प्रचयकाष्ठागते तत्त्वज्ञान-हेतौ धर्मे प्रकृष्टायां समाधिभावनायां तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते इति। दृष्टश्च समाधिना "तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः।"

"तस्यापवर्गस्याधिगमाय यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारः। योगशास्त्राच्चाध्यात्मविधिः प्रतिपत्तव्यः। स पुनः तपः प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणेति। इन्द्रियविषयेषु प्रसंख्यानाभ्यासो रागद्वेषप्रहाणार्थः, उपायस्तु योगाचारविधानमिति।"— वात्स्यायनभाष्य।

'येनावबुध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च'—जिस ज्ञानके द्वारा प्रकृति और पुरुषका तत्त्व अवगत होता है, वही प्रकृतिसे मुक्ति प्राप्त करनेका उपाय है। तत्त्वविचार द्वारा ही ज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु मलयुक्त चित्तमें तत्त्वविचारका उदय ही नहीं होता। इसी कारण भूतशुद्धि करनी पड़ती है। क्रियायोग ही भूतशुद्धिकी सर्वोत्तम साधना है। प्राणप्रवाह जब ऊर्ध्वाम्नायमें (वेदके शिरोभागमें अर्थात् सहस्रारमें) स्थित होता है तब योगी भूतप्रकृतिसे मुक्ति प्राप्त करते हैं। देहात्मबोध ही संसृतिका कारण है। श्रीमद्भागवतमें कपिलजी कहते हैं—

भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत्।
अहं ममेत्यसद्ग्राहः करोति कुमतिर्मतिम्॥
तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम्।
योऽनुयाति ददत् क्लेशमविद्याकर्मबन्धनः॥ भा० ३-३१

जो लोग मूढ़ हैं अर्थात् जो देहातिरिक्त किसी वस्तुका पता नहीं रखते, वे इस पञ्चतत्त्व-विनिर्मित स्थूल देहमें आसक्त होकर मूढ़ताके वश पुनः पुनः असद् आग्रह-युक्त होकर कुकार्य करते हैं। अविद्या कर्म-बन्धनके कारण जो देह इतना दुःख देती है, मूढ़ लोग उसी देहके लिए कर्म करके आसक्तिवश संसार-गतिको प्राप्त होते हैं।

देवहूति कहती हैं—

यावत् पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ-
मायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत्।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत
व्यर्थापि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था॥

हे भगवन्, लोग जबतक इन्द्रियफलदात्री मायाके द्वारा वर्द्धित इस देहको तुमसे स्वतन्त्र नहीं देख पाते, तबतक दुःखदायी क्रियाफल-प्रसवकारी यह संसार उनसे उपरत नहीं होने वाला है।

परन्तु देहसे देहीको पृथक्‌रूपमें देखना भी बड़ा कठिन है। इसीसे देवहूति कहती हैं—

पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मन् न विमुञ्चति कर्हिचित्।
अन्योऽन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वाच्चानयोः प्रभो॥

हे प्रभो! हे ब्रह्मन्! प्रकृति और पुरुषमें पारस्परिक दृढ़ सम्बन्ध है तथा दोनों ही अविनाशी हैं, अतएव प्रकृति कभी पुरुषको परित्याग नहीं कर सकती।

यथा गन्धस्य भूमेश्च न भावो व्यतिरेकतः।
अपां रसस्य च यथा तथा बुद्धेः परस्य च॥

जैसे गन्ध और पृथ्वीका, जल और रसका सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है अर्थात् एकके अभावमें अन्यकी सत्ता नहीं रह सकती उसी प्रकार प्रकृति और पुरुषमें एकके अभावमें दूसरेकी सत्ता उपलब्ध नहीं हो सकती।

क्वचित् तत्त्वावमर्शेन निवृत्तं भयमुल्बणम्।
अनिवृत्तनिमित्तत्वात् पुनः प्रत्यवतिष्ठते॥

कभी-कभी तत्त्वविचारसे किसी पुरुषका संसार-भय निवृत्त होने पर भी उसके कारणद्वय अविनाशी होनेके कारण वे पूर्णतः निवृत्त नहीं हो सकते, अतः पुनः वही भय उत्पन्न होता है।

इसके उत्तरमें कपिलजी कहते हैं—

अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसंभृतया चिरम्॥
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना॥
प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम्।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः॥
भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च॥
यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते॥
एवं विदिततत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम्।
युञ्जतो नापकुरुत आत्मारामस्य कर्हिचित्॥

काष्ठसे उत्पन्न अग्नि जैसे उसी काष्ठको दग्ध करती है उसी प्रकार निष्काम धर्म, निर्मल मन, तीव्र भगवदनुराग, प्रकृति-पुरुषका यथार्थ ज्ञान, प्रबल वैराग्य और तपोयुक्त-योगाभ्यास-जनित तीव्र आत्मसमाधिके द्वारा पुरुषकी प्रकृति (लिङ्ग-शरीर) उपर्युक्त रीतिसे सतत दह्यमान होकर तिरोहित हो जाती है। तब प्रकृतिके भोगका भी अन्त हो जाता है और पुरुष भी प्रकृतिके दोष-गुणोंके प्रति सतत लक्ष्य रखता है। इसलिए प्रकृति मानो परित्यक्ता स्त्रीके समान अपनी महिमामें स्थित पुरुषका कोई अकल्याण या बन्धन उत्पादन करनेमें समर्थ नहीं होती। निद्रित

होने पर जैसे स्वप्नमें पुरुषको नाना प्रकारके अनर्थ दीख पड़ते है, किन्तु जाग्रत होते ही स्वप्नकी बात चित्तमें आने पर भी वह फिर मोह उत्पन्न नहीं करती, उसी प्रकार मुझमें चित्त लगाये रखने वाले जो आत्माराम पुरुष हैं, उनका कोई अपकार करनेमें प्रकृति समर्थ नहीं होती।

एतैरन्यैश्च पथिभिर्मनो दुष्टमसत्पथम्।
बुद्ध्या युञ्जीत शनकैर्जितप्राणो ह्यतन्द्रितः॥

आलस्य छोड़कर शास्त्रोक्त अन्यान्य उपायोंके द्वारा तथा जित-प्राण अर्थात् प्राणायाम-परायण होकर असत् पथमें प्रवृत्त दुष्ट मनको बुद्धिद्वारा योगसाधनमें लगावे।

इसका फल बतला रहे हैं—

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम्॥

जैसे सोना अग्निमें सुतप्त होने पर शीघ्र ही अपनी मलिनताको परित्याग करता है, उसी प्रकार जितश्वास योगीका चित्त थोड़े ही समयमें निर्मल हो जाता है।

सूक्ष्म भूत सूक्ष्म शरीरमें निहित रहते हैं, यह पहले ही कह चुका हूँ। सूक्ष्म शरीर वायुभूत् है, सूत्रात्मा ही इस सूक्ष्म शरीरका प्राण है। सूत्रात्मा प्राणमय है, अतएव स्पन्दनधर्मी है। यह स्पन्दन जबतक नहीं रुकता, तबतक त्रितापकी ज्वाला कैसे मिटेगी और इस जीवको मुक्तिकी प्राप्ति ही कैसे होगी? अतएव प्राणतत्त्वके सम्बन्धमें यहाँ कुछ और आलोचना करना चाहता हूँ।

"आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छाया एतस्मिन्नेतदाततं, मनोधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे"—(प्रश्न उप०)। आत्मासे यह प्राण उत्पन्न होता है। पुरुष-देहमें जैसे छाया उत्पन्न होती है, उसी प्रकार यह प्राण भी आत्मामें या परमेश्वरमें आतत या अनुगत रहता है तथा मनके द्वारा सम्पादित कामादिसे इस स्थूल शरीरमें आता है।

प्राणतत्त्व

"यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते—एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेति, एवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव सन्निधत्ते"—(प्रश्न उप०)। 'इन समस्त गावों पर शासन करो' कहकर अधिकार-प्राप्त लोगोंको सम्राट् जिस प्रकार नियुक्त करते हैं ठीक उसी प्रकार यह प्राण भी अपर प्राणोंको (चक्षु आदि तथा स्वीय भेदोंको) यथास्थान नियुक्त करता है।

"पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते च मध्ये तु समानः, एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति"—(प्रश्न०)। उपर्युक्त प्राण ही अपानको पायु और उपस्थ देशमें नियुक्त करता है तथा प्राण स्वयं चक्षु, श्रोत्र, मुख और नासिकामें अधिष्ठित होता है। समान मध्यम स्थानमें नाभिमें अवस्थान करता है क्योंकि वही हुत (भुक्त) अन्नको समता प्रदान करता है। प्राणाग्निसे यह सात प्रकारकी दीप्ति (चक्षुद्वय, श्रोत्रद्वय, नासिकाद्वय, मुख और जिह्वा द्वारा सम्पादित ज्ञान) निकलती है।

"हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाड़ीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति"—(प्रश्न०)। जीवात्मा मांसपिण्ड द्वारा परिव्याप्त हृदयाकाशमें वास करता है। इस हृदयमें एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमें एक-एकमें फिर एक-एक सौ शाखा-नाड़िया हैं, उन प्रत्येक शाखा-नाड़ीमें बहत्तर-बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं। इन सबके भीतर व्यान वायु सञ्चरण करती है।

आदित्य-मण्डलसे निकली हुई रश्मियोंके समान हृदयसे सब अवयवोंमें जाने-वाली नाड़ियोंके द्वारा समस्त देहमें व्याप्त होकर व्यान वायु वर्तमान है।

इन सब नाड़ियोंके भीतर जो प्राणका प्रवाह होता है वही देहको प्राणमय तथा श्रोत्रादि इन्द्रियोंको चैतन्यमय रखता है। जीवात्माका स्थान भी जीव-शरीरके भीतर हृदयमें है। इस हृदयमें जो बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं उनके भीतर व्यान-वायु सञ्चरण करती है। इस प्रकार समझमें आ सकता है कि प्राणादि वायुके भीतर ही आत्माकी शक्ति क्रीड़ा करती है।

"अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापं, उभाभ्यामेव मनुष्य-लोकम्"—(प्रश्न०)। एक सौ एक नाड़ियोंमें सुषुम्ना नामक एक ऊर्ध्वगामिनी नाड़ी है। उसके द्वारा उदान वायु ऊर्ध्वगामी होकर पदतलसे मस्तक पर्यन्त सर्वत्र विचरण करते हुए जीवको पुण्यकर्म द्वारा पुण्यलोकको और पापकर्म द्वारा पापलोकको ले जाती है तथा पाप-पुण्य समान होने पर मनुष्यलोकको प्राप्त कराती है। उदानके जय करने पर शरीर लघु होता है और इच्छा-मृत्युकी क्षमता होती है। मेरुदण्डके अभ्यन्तरस्थ बोधवाही नाड़ी ही सुषुम्ना है। सुषुम्ना ऊर्ध्वगामिनी है। उदान भी सुषुम्ना स्थित शक्ति है। जो लोग समझते हैं कि प्राण एक प्रकारकी वायु है, वे शास्त्र-सिद्धान्तसे अवगत नहीं हैं। वेदान्त-सूत्रके अध्याय २, पाद ४ में लिखा है—"न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्"। इस सूत्रके द्वारा ज्ञात होता है कि मुख्य प्राण वायु या इन्द्रिय या इन्द्रियोंकी सामान्य वृत्ति-मात्र नहीं है, क्योंकि श्रुति पृथक् रूपसे इस प्राणका उपदेश करती है।

पीतं भक्षितमाघ्रातं रक्तपित्तकफानिलात्।
समं नयति गात्राणि समानो नाम मारुतः॥—योगार्णव।

समान वायु अन्न-रसको सर्वस्थानमें समनयन करती है। भुक्त द्रव्यको समनयन (assimilate) करना या शरीरके उपादान रसरक्तादिरूपमें परिणत करना समानका कार्य है।

ध्यानसिद्ध पुरुषोंने अलौकिक योगबलके प्रभावसे देखा है कि प्राणवायुके स्थिर होने पर अमर पदकी प्राप्ति होती है। वह अमर पद ही ब्रह्मयोनि है। उस योनिसे ही सबकी उत्पत्ति तथा वहीं सबका लय होता है। इस संसारमें जीव कर्मवश वारंवार आता-जाता है। जो ब्रह्मकी खूँटी स्थिर या मुख्य प्राणको दृढ़ रूपसे पकड़े रहता है वह आवागमनसे मुक्त हो जाता है। इस प्राणक्रियाके द्वारा ही क्रियाकी परावस्था या स्थिति-पदकी प्राप्ति होती है।

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तं ।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिम् ॥—श्रीरामतापिनी ।

उमा = उ—शिव, मा—लक्ष्मी । शिव अर्थात् आत्माकी लक्ष्मी या ऐश्वर्य यह शरीर है । यह शरीर ही प्रकृति या उमा है । इस उमाकी सहायतासे अर्थात् इस शरीरके द्वारा (साधन शरीरके द्वारा ही होता है) सर्वश्रेष्ठ ईश्वरको प्राप्त करते हैं । क्रियाकी परावस्थामें हृदयमें स्थितिरूप जो अनुभव है वही ईश्वर है । तब तृतीय चक्षु कूटस्थ दीखता है । यही तृतीय चक्षु है । यह संसार समुद्र-स्वरूप है । क्रियाके द्वारा इस समुद्रका मन्थन करके जो ऐश्वर्यादिकी प्राप्ति होती है, वही विषय-रूप विष है । इस विषको निगलते हैं नीलकण्ठ । कण्ठस्थित षोड़शदल पद्ममें वायु स्थिर होने पर साधक नीलकण्ठ हो जाता है । तब संसारकी विष-ज्वाला प्रशमित होकर शान्ति-पदकी प्राप्ति होती है । तब लगता है कि "बधिर बोवा रसे डोवा" यानी बहरा, गूँगा और रसमें डूबा हुआ है । किसीके साथ बात करनेकी भी इच्छा नहीं होती । तभी साधक ब्रह्मयोनिमें स्थित होता है ।

भृगुवल्लीमें लिखा है—"प्राणो ब्रह्म इति, मनो ब्रह्मेति, विज्ञानं ब्रह्मेति, आनन्दं ब्रह्मेति"—प्राण स्थिर होने पर ब्रह्म हो जाता है, प्राणके साथ मन रहता है, अतएव प्राणके स्थिर होने पर मन भी स्थिर हो जाता है । तब मन भी ब्रह्म हो जाता है । पश्चात् क्रियाकी परावस्थामें विज्ञानपदकी प्राप्ति हो जाती है, वह भी ब्रह्म है । विज्ञानपदके परे जो आनन्दबोध होता है, वह आनन्द भी ब्रह्म है ।

"प्राणापानयो कर्मेति"—प्राण और अपानके कर्मको ही क्रिया कहते हैं । इस क्रियासे ही ब्रह्मपदकी प्राप्ति होती है । यह कर्म ही प्रकृत कर्म है और सब अकर्म हैं ।

इस प्रकार कर्मके रहस्यसे अवगत होकर जो कर्मद्वारा जीवभावको नष्ट कर सकते हैं, वे ही परम तत्त्वको जानकर अनायास मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं । इसीलिए भगवान्ने इस १३ वें अध्यायमें जीवके बन्धनके कारण तथा उससे विमुक्तिके मार्गका निर्देश किया है ।

—ॐ—

चतुर्दशोऽध्यायः

(गुणत्रय-विभाग-योगः)

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)—ज्ञानानां (सब ज्ञानोंमें) उत्तमं (श्रेष्ठ) परं ज्ञानं (परम ज्ञान) भूयः (पुनः) प्रवक्ष्यामि (कह रहा हूँ), यत् ज्ञात्वा (जो जानकर) सर्वे मुनयः (सब मुनि लोग) इतः (इस देह-बन्धनसे) परां सिद्धिं (परा सिद्धिको) गताः (प्राप्त हुए हैं) ॥१॥

श्रीधर— पुंप्रकृत्योः स्वतन्त्रत्वं वारयन् गुणसङ्गतः ।
प्राह संसार-वैचित्र्यं विस्तरेण चतुर्दशे ॥

"यावत् सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि भरतर्षभ"—इत्युक्तं, स च क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः संयोगो निरीश्वरसांख्यानामिव न स्वातन्त्र्येण; किन्तु ईश्वरेच्छया एवेति कथनपूर्वकं "कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" इत्यनेन उक्तं सत्त्वादिगुणकृतं संसारवैचित्र्यं प्रपञ्चयिष्यन् एवम्भूतं वक्ष्यमाणमर्थं स्तौति—परं भूय इति द्वाभ्याम् । परं परमात्मनिष्ठं । ज्ञायते अनेनेति ज्ञानमुपदेशः भूयोऽपि तुभ्यं प्रकर्षेण वक्ष्यामि । कथम्भूतं ? ज्ञानानां तपःकर्मादिविषयाणां मध्ये उत्तमं मोक्षहेतुत्वात् । तदेवाह—यत् ज्ञात्वा मुनयः—मननशीलाः सर्वे, इतः देहबन्धनात् परां सिद्धिं मोक्षं, गताः—प्राप्ताः ॥१॥

अनुवाद—[पुरुष और प्रकृतिकी स्वतन्त्रता निषेध करके गुण-संगके कारण जो संसारकी विचित्रता उत्पन्न होती है, उसके विषयमें चतुर्दश अध्यायमें विस्तार पूर्वक कह रहे हैं]

"हे भरतर्षभ ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे स्थावर-जङ्गमात्मक सारे पदार्थ उत्पन्न हुए हैं"— यह १३ वें अध्यायके २६ वें श्लोकमें कहा गया है । यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग निरीश्वर सांख्यने जैसा कहा है वैसा स्वाधीन भावसे नहीं होता, बल्कि ईश्वरेच्छासे होता है—यह बतलाते हुए १३ वें अध्यायके २१ वें श्लोकमें जो सत्त्वादिगुणोंसे उत्पन्न संसार-वैचित्र्यकी बात कही गयी है, उसका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके उद्देश्यसे दो श्लोकों द्वारा उस वक्ष्यमाण विषयकी प्रशंसा करते हैं—'पर' अर्थात् परमात्मनिष्ठ जो ज्ञान अर्थात् उपदेश है, उसे पुनः तुमसे प्रकृष्टरूपसे कहूँगा । वह ज्ञान कैसा है ?

मोक्षका कारण होनेके कारण वह समस्त ज्ञान अर्थात् तपस्या और कर्मादिविषयक ज्ञानोंसे श्रेष्ठ है। जिस ज्ञानको जानकर मननशील मुनिगण 'इतः'--इस देह-बन्धनसे 'परा सिद्धि' अर्थात् मोक्षको प्राप्त हुए हैं, उसे ही कहते हैं ॥१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थके द्वारा अनुभव हो रहा है—सब ज्ञानमें उत्तम ज्ञान—जिसके जान लेने पर अपने आप कुछ बोलनेकी इच्छा नहीं होती—ऐसे जो मुनि हैं वे इस क्रियाको पाकर (जो गुरुवक्त्रगम्य है) सब सिद्धियोंके परे जो परा सिद्धि अर्थात् ब्रह्म है—इच्छारहित तथापि इच्छा होते न होते सब अपने आप होता है—इस प्रकार यथार्थ ही होता है—यह कोरी बात नहीं है ! कामकी बात है !! यथार्थ !!! तुम्हारी दोहाई !!!! जिसके परे और कुछ नहीं है।—भगवान्ने १३ वें अध्यायमें जिन विषयोंका विवेचन किया है, उनमेंसे कुछको और भी स्पष्ट करनेके लिए इस अध्यायका प्रारम्भ करते हैं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे जगदादिकी सृष्टि होती है। इसका समर्थन निरीश्वर सांख्य भी करता है। भगवान् इस अध्यायमें बतलावेंगे कि सांख्य मतवाले जिस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगको स्वाधीनभावसे होनेवाला कहते हैं, वैसी बात नहीं है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग स्वाधीन भावसे नहीं हो सकता, वह ईश्वरेच्छासे ही होता है, इस अध्यायमें यही बात भगवान् स्पष्टरूपसे बतलावेंगे। जीव गुणसङ्गद्वारा विविध योनियोंमें परिभ्रमण करता है यह भगवान्ने पूर्वाध्यायमें कहा है। गुण क्या हैं, गुणसंयोग कैसे होता है तथा गुण-समूह किस प्रकार जीवको बन्धनमें डालते हैं—यह पहले नहीं कहा गया है। इस विषयमें कुछ कहना आवश्यक है। भूतप्रकृतिसे जीव कैसे मुक्ति प्राप्त कर सकता है तथा पूर्वोक्त "अमानित्वादि" ज्ञानसाधनकी अपेक्षा भी जो उत्कृष्ट ज्ञानतत्त्व है वह परम ज्ञान क्या है और किन-किन लक्षणोंके द्वारा मुक्त पुरुषोंको पहचान सकते हैं—इन सब लक्षणोंका इस अध्यायमें उल्लेख करेंगे। १३ वें अध्यायमें साधनके लिए 'साधन-ज्ञान'का मुख्यतः उपदेश करके चतुर्दश अध्यायमें उस 'साध्य ज्ञान'की आलोचना करते हैं जिसकी अपेक्षा परम ज्ञान और कुछ नहीं हो सकता और जिस ज्ञानको प्राप्त कर साधकेन्द्र वासनाशून्य परमा सिद्धिकी अवस्था प्राप्त करते हैं। यह सब ज्ञानोंसे उत्तम ज्ञान है क्योंकि दूसरे अन्य विषयोंको जान लेने पर, उसके आगे और क्या है, इस प्रकारका प्रश्न मनमें रह जाता है। परन्तु क्रियाकी परावस्थारूप जो साध्य ज्ञान है, उसको जान लेने पर फिर और जाननेकी कोई इच्छा नहीं रहती अर्थात् इसके परे भी और कोई उत्कृष्ट अवस्था है, अथवा नहीं—इस प्रकारकी जिज्ञासा करनेकी प्रवृत्ति ही नहीं होती, क्योंकि उसमें ही सारे सङ्कल्पों और वासनाओंकी पूर्णतः परिसमाप्ति हो जाती है। इस प्रकारके संलीन मनवाले मुनिजन परमानन्दरूप चरमावस्थाको जानकर अपने आपमें स्तब्ध हो जाते हैं। उनको और कुछ पाना नहीं रहता, इसलिए उनके चित्तमें किसी प्रकारके सङ्कल्पका उदय नहीं होता तथा अनावश्यक विषयोंमें बात करनेकी प्रवृत्ति न होनेके कारण वे संयत-वाक् या मौन रहते हैं। भूतप्रकृतिसे योगियोंको मुक्ति इसी प्रकार प्राप्त होती है। निश्चय ही, इस प्रकारकी मुक्तिप्राप्ति साधारण शक्ति या सौभाग्यकी बात नहीं है। अस्तु, यदि इस प्रकारकी इच्छारहित अवस्थाको ही चरम सौभाग्य मानें तो जिनको यह

सौभाग्य प्राप्त होगा उनकी देहयात्रा कैसे चलेगी? सिद्ध-साधकोंको प्रयोजनके अनुसार ईश्वरकी कृपासे सारे विषय अपने आप प्राप्त होते हैं। साधक उन विषयोंको प्राप्तकर हर्षित नहीं होते और उनकी उनमें कोई आसक्ति भी नहीं होती। ये सारे विषय सिद्धिरूपमें साधकके पास स्वयं उपस्थित होते हैं। परन्तु यह सिद्धि होने पर भी चरम सिद्धि या परा सिद्धि नहीं है। जब साधकको भय, द्वेष, सङ्कल्प आदि कुछ भी नहीं रहता, तब परमात्मनिष्ठ होनेके कारण आत्मानन्दमें मग्न पुरुषके इन्द्रिय-विषय उसके चित्तको कुछ भी विक्षुब्ध या अशान्त नहीं कर सकते। अप्राप्य वस्तुके पानेकी इच्छा भी नहीं होती। जो प्राप्त है उसके संरक्षणमें भी वे उदासीन होते हैं। इस प्रकारकी अवस्थाको ही परा सिद्धि कहते हैं। और विशेषता तो यह है कि उनकी भूतप्रकृतिके लिए प्रयोजनीय किसी वस्तुकी आवश्यकता होने पर उनकी इच्छा होनेके पूर्व ही वह उनके सामने आ उपस्थित होती है। यदि किसी प्रकारकी इच्छा हुई तो वह पूर्ण हुए बिना नहीं रहती, परन्तु उनको इच्छा होना ही कठिन है। मन रहने पर विषय-भोग होता है, परन्तु अमनस्क पुरुषके पास विषयका आना-जाना समान है। किसी भी अवस्थामें उनको कोई अभाव-बोध नहीं होता। अतएव सिद्धि-असिद्धिमें उनको एक-सा जान पड़ता है। वे ही पूर्णकाम हैं और उन्होंने ही परा सिद्धि प्राप्त की है॥ १॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

अन्वय—इदं ज्ञानं (इस ज्ञानको) उपाश्रित्य (आश्रय करके) मम साधर्म्यं (मेरी स्वरूपताको) आगताः (प्राप्त होकर) सर्गे अपि (सृष्टिकालमें भी) न उपजायन्ते (जन्मग्रहण नहीं करते), प्रलये च (और प्रलयकालमें भी) न व्यथन्ति (व्यथित नहीं होते)॥ २॥

श्रीधर—किञ्च—इदमिति। इदं—वक्ष्यमाणं ज्ञानं उपाश्रित्य—इदं ज्ञानसाधनं अनुष्ठाय, मम साधर्म्यं—मद्रूपत्वं प्राप्ताः सन्तः सर्गेऽपि ब्रह्मादिषु उत्पद्यमानेष्वपि नोत्पद्यन्ते तथा प्रलयेऽपि न व्यथन्ति—प्रलय-दुःखानि न अनुभवन्ति। पुनर्नावर्त्तन्त इत्यर्थः॥ २॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—इस वक्ष्यमाण ज्ञानसाधनका अनुष्ठान करके मेरे साधर्म्य अर्थात् मद्रूपत्वको प्राप्त होकर, सृष्टिकालमें (ब्रह्मादिकी उत्पत्तिके समय) पुनः उत्पन्न नहीं होते तथा प्रलयकालमें भी प्रलय-दुःखका अनुभव नहीं करते अर्थात् उनको पुनः लौटकर नहीं आना पड़ता॥ २॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इसको जान लेने पर जो कोई कर्म नहीं है, तथापि एक कर्म है! वह अपने धर्ममें आने पर अर्थात् स्थिति होने पर सुखमें भी वह नष्ट नहीं होता—विशेषरूपसे अन्य दिशामें जाने पर भी उसका नाश नहीं होता!! अर्थात् क्रियाके परेकी स्थिति!!—भगवान्ने जो पूर्व श्लोकमें कहा है कि ज्ञानकी बात कहूँगा उसी ज्ञानके फलकी व्याख्या इस श्लोकमें करते हैं। "तत्त्वं यद्ज्ञानमद्वयम्"—भाग० १ स्कं०।

"तत् अद्वयं ज्ञानं तत्त्वं वदन्ति"। जो अद्वय ज्ञान ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्—इन तीन नामोंसे अभिहित होता है, उसी ज्ञानको तत्त्ववेत्ता लोग 'तत्त्व' कहते हैं। अद्वयका अर्थ है अद्वितीय अर्थात् केवल 'चित्' मात्रसे जो वस्तु विश्वमें परिव्याप्त रहती है, जिसके सिवा विश्वमें अन्य कोई वस्तु नहीं है। यही ज्ञान-तत्त्व अर्थात् ब्रह्मका स्वरूप है। इस ज्ञान-स्वरूपके जाननेका जो साधन है, उसको भी ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान-साधनके सम्यक् अनुष्ठानसे मत्स्वरूपता प्राप्त हो जाती है। इस समय ब्रह्मसे अपनेको पृथक् रूपमें बोध हो रहा है। इस भेदभावके मिट जाने पर एक अद्वितीय भावमें साधककी स्थिति होती है। यह स्थिति प्राप्त होने पर उसको फिर जन्म-मरणका क्लेश अनुभव नहीं करना पड़ता। जिस साधनाके द्वारा यह स्थिति प्राप्त होती है, उसको एक प्रकारका कर्म तो कहते हैं, परन्तु वह कर्म अन्य साधारण कर्मोंके समान क्लेश उठाकर या उद्यम करके नहीं करना पड़ता। वह कर्म अपने आप होता है। वह कर्म है प्राणकर्म। वह स्वस्थान-च्युत होकर अहर्निशि अपने आप चलता है, परन्तु उसमें स्थिरता नहीं है, केवल चलन है। इस चञ्चल प्राण-तरङ्गके उत्पातसे समस्त इन्द्रियादि अहर्निशि अपने-अपने विषयकर्ममें व्याप्ृत रहते हैं—जिसकी निन्दा साधु लोग अज्ञान-तमः कहकर करते हैं। यह चाञ्चल्य जबतक है तबतक इस संसारकी मूर्त्ति कैसी भयानक है !! जन्म-जरा-मरण-अभाव आदिके शत-शत क्लेश मानो मुँह फाड़ कर निगलने आ रहे हैं !! इनके विकराल वदनसे किसीको भी परित्राण पानेका उपाय नहीं है। यही चञ्चल प्राण अत्यन्त सौभाग्यवश जब अपने स्थानमें आकर मिलता है, तब वह अपने स्वभावमें आता है। चञ्चल प्राणका अपने इस स्वभावमें आना ही उसका स्वरूपमें अवस्थान कहलाता है। वह चिर स्थिर, चिर निर्मल, सुख-दुःख-जन्म-मरणका अतीत भाव है। प्राणकी सुषुम्नामें स्थिति होते ही ये सारे परम अभय भाव प्रत्यक्ष हो जाते हैं। जब इस स्थितिमें कुछ भी व्यत्यय नहीं होता, सदा समान भावमें यह स्थिति बनी रहती है, तब सुख-भोग करो या दुःख-भोग करो—तुम्हारा मन फिर कदापि विचलित न होगा। यह अचल स्थिति ही ब्रह्मपद है! जन्म-मरणका क्लेश उन्हींको होता है जो लोग इस अचल स्थिति-पदको धारण नहीं कर सकते। जिन्होंने यह स्थिर ब्रह्मपद प्राप्त किया है, उनका चित्त प्रकृष्टरूपसे लय हो जाता है, यही प्रलय है। जिसको मन नहीं है, उसके लिए सृष्टि नहीं है और प्रलय भी नहीं है ॥२॥

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

अन्वय—भारत (हे भारत !) महत् ब्रह्म (मेरी प्रकृति) मम योनिः (मेरा गर्भाधान-स्थान है), तस्मिन् (उसमें) अहं (मैं) गर्भं दधामि (जगद्-बीज निक्षेप करता हूँ)। ततः (उससे) सर्वभूतानां (सब भूतोंकी) संभवः भवति (उत्पत्ति होती है) ॥३॥

श्रीधर—तदेवं प्रशंसया श्रोतारं अभिमुखीकृत्य परमेश्वराधीनयोः प्रकृति-पुरुषयोः सर्वभूतोत्पत्तिं प्रति हेतुत्वं, न तु स्वतन्त्रयोः, इति इमं विवक्षितमर्थं कथयति—ममेति। देशतः कालतश्च अपरिच्छिन्नत्वात् महत् बृंहितत्वात् स्वकार्याणां वृद्धिहेतुत्वात् ब्रह्म प्रकृतिरित्यर्थः। तत् महद् ब्रह्म मम परमेश्वरस्य योनिः—गर्भाधानस्थानम्। तस्मिन्नहं गर्भं जगद्विस्तारहेतुं चिदाभासं दधामि निक्षिपामि। प्रलये मयि लीनं सन्तम् अविद्याकामकर्मानुशयवन्तं क्षेत्रज्ञं सृष्टिसमये भोगयोग्येन क्षेत्रेण संयोजयामीत्यर्थः। ततः गर्भाधानात् सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां सम्भवः—उत्पत्तिः भवति॥ ३॥

अनुवाद—[इस प्रकार वक्ष्यमाण विषयकी प्रशंसा द्वारा श्रोताको अभिमुख करके अर्थात् श्रोताको श्रवणोन्मुख करके प्रकृति-पुरुषका सर्व-भूतोत्पत्तिके प्रति जो हेतुत्व है वह परमेश्वराधीन है, स्वतन्त्र भावसे उनका हेतुत्व नहीं है—यह विवक्षित अर्थ या वक्ताके वक्तव्यका तात्पर्य कह रहे हैं]—प्रकृतिको महद् ब्रह्म कहते हैं क्योंकि देश और काल द्वारा अपरिच्छिन्न होनेके कारण प्रकृति महत् है। बृंहितत्व अर्थात् अपने कर्मोंकी वृद्धिके कारण प्रकृति ब्रह्म (निरतिशय) है। वह महद् ब्रह्म (प्रकृति) मेरी (परमेश्वरकी) योनि अर्थात् गर्भाधानस्थान है। उसमें ही मैं गर्भ अर्थात् जगद्विस्तारके हेतु—चिदाभासको निक्षेप करता हूँ। प्रलयकालमें अविद्या-कर्मानुशायी जीव मुझमें लीन रहते हैं। सृष्टिकालमें उनके भोगयोग्य क्षेत्रके साथ उन जीवोंकी सम्यक् योजना करता हूँ। इस प्रकार गर्भाधानसे ही ब्रह्मादि सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

[क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोग ईदृशो भूतकारणमित्याह—ममेति। मम स्वभूता मदीया माया त्रिगुणात्मिका प्रकृतिर्योनिः सर्वभूतानां सर्वकार्येभ्यः महत्त्वात् भरणाच्च स्वविकाराणां महद्ब्रह्मेति योनिरेव विशिष्यते। तस्मिन् महति ब्रह्मणि योनौ गर्भं हिरण्यगर्भस्य जन्मनो बीजं सर्वभूतजन्मकारणं बीजं दधामि निक्षिपामि। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-प्रकृति-द्वय-शक्तिमानीश्वरोऽहं अविद्याकामकर्मोपाधिस्वरूपानुविधायिनं क्षेत्रज्ञं क्षेत्रेण संयोजयामीत्यर्थः। संभवः उत्पत्तिः सर्वभूतानां हिरण्यगर्भोत्पत्तिद्वारेण ततस्तस्मात् योनेर्मूलकारणात् गर्भाधानाद्भवति हे भारत—इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग ही प्राणी-सृष्टिका कारण है, यह बतला रहे हैं। मेरी आत्मस्वरूपा—मदीया माया जो त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके नामसे निर्दिष्ट होती है, वह माया ही योनि अर्थात् सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है। अतएव यह प्रकृति सब प्रकारके कार्योंमें प्रधान है तथा आत्मविकार-स्वरूप सब कार्योंका भरण करती है। इसी कारण प्रकृति यहाँ 'महत्' और 'ब्रह्म' इन दो विशेषणों द्वारा विशेषित हुई है। उस महत् और ब्रह्म-स्वरूप योनिमें मैं गर्भका आधान करता हूँ। यहाँ गर्भ शब्दका अर्थ है हिरण्यगर्भका जन्महेतु बीज अथवा सर्वभूतोंका जन्मकारण-स्वरूप बीज। उसी बीजको मैं इस प्रकृतिरूप योनिमें आधान करता हूँ। इसका तात्पर्य यह है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, ये द्विविध प्रकृतियाँ ईश्वरकी शक्ति हैं। इन द्विविध शक्तियोंसे युक्त पुरुष ही ईश्वर है। अविद्या, काम और कर्मरूप अपनी उपाधिके वश स्वरूप-ग्रहण करनेके लिए उद्यत जीवोंको वह ईश्वर क्षेत्रके साथ संयोजित

करता है अर्थात् भूतोंको उनके अपने-अपने प्राक्तन कर्मोंके अनुसार क्षेत्रके साथ संयोजित करता है। इस प्रकारका संयोजन ही गर्भका आधान है। इस गर्भाधानका फल होता है सब प्रकारके भूतोंका सम्भव अर्थात् उत्पत्ति। इन सब भूतोंकी उत्पत्ति हिरण्यगर्भकी उत्पत्तिके बाद होती है—शाङ्कर भाष्य और उसका अनुवाद]॥३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मेरी जो योनि "सर्वं ब्रह्ममयं जगत् व्यापक" जो ब्रह्म उसका जो अणु उसके भीतर प्रवेश करना अर्थात् क्रियाके परेकी स्थिति—सूक्ष्म ब्रह्माणु रूपमें—जहाँ जाने पर कुछ बोल नहीं सकता—पूछने पर भी जो-सो बोलता है !!!—भगवान् यहाँ पुनः सृष्टि-क्रम कह रहे हैं। यह सृष्टि-तत्त्व अतिशय सूक्ष्म है। प्रज्ञाचक्षु-प्राप्त साधकेन्द्रके सिवा अन्यको इसकी धारणा करना कठिन है। तथापि शास्त्रोंमें इस बातको वारंवार समझानेकी चेष्टा की गयी है। बाह्य रूपसे समझाते समय यह कहनेसे समाप्त नहीं होता और श्रोताके सब प्रश्नोंकी मीमांसा भी इससे नहीं होती। यह निज-बोधस्वरूप है। कडु एका स्वाद खाने वालेके सिवा दूसरे नहीं जानते। ब्रह्म सर्वव्यापक निराकार और उत्पत्ति-विनाशवर्जित है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि द्वारा उसको नहीं समझ सकते। वह सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और अत्यन्त सूक्ष्म है। उसका एकांश अत्यन्त सूक्ष्म अणुके समान होता है जिसका योगी लोग अनुभव करते हैं। उसके ही भीतर त्रिलोक विद्यमान है। ब्रह्म-अणुका षष्ठांश यह मर्त्यलोक है। इसके भीतर सप्त समुद्र और सप्त द्वीप हैं। उन सप्त द्वीपोंका एक भाग जम्बूद्वीप है। उस जम्बूद्वीपके लक्ष-कोटि अंशोंका एक अंश भी तुम नहीं हो और तुम्हारे भीतर न जाने कितने लाखों-लाखों अणु रहते हैं। वे सारे अणु अनुभवके द्वारा बोधगम्य हैं। भगवान् कितने सूक्ष्म रूपमें इस अणुके भीतर व्याप्त रहते हैं, इसको बुद्धिके द्वारा समझना सर्वथा असंभव है। अणुके भीतर ही सब कुछ है। वह अणु ही ब्रह्मयोनि है।

क्रियाकी परावस्थामें जो गुणातीत, निर्लिप्त और अव्यक्त है, वही सर्वगुण-विशिष्ट होकर ईश्वर है। जो क्रिया करके क्रियाकी परावस्थाका अनुभव नहीं करते वे प्रपञ्चमें वर्तमान रहते हैं। इसी कारण वे संसारको देखते हैं, ब्रह्मको नहीं देखते। मनके सङ्कल्पके कारण ही प्रपञ्च दीखता है। मन ही सङ्कल्प करके बद्ध होता है, सङ्कल्प न रहने पर जीव मुक्त हो जाता है। इस अवस्थामें मन अपने आप निःसङ्ग होकर हृदयमें निरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार निरुद्ध रहते-रहते उन्मनी भाव हो जाता है। यह उन्मनी भाव ही परम पद है। मनमें ही संसार भासता है, इसलिए जबतक मनका क्षय नहीं होता तबतक क्रियाकी परावस्था भलीभाँति नहीं होती, होने पर भी अधिक देर तक नहीं टिकती। ऊर्ध्वविन्दु और अधोविन्दुके बीचमें मन है। वह मन मनमें रहकर ब्रह्ममें लीन होता है, तब कर्त्ता या करण नामकी कोई पृथक् वस्तु नहीं रहती।

आत्मा प्रकृतिस्थ होकर मन उपाधि धारण करता है और उस मनसे ही इस प्रपञ्चकी सृष्टि होती है। आज्ञाचक्र पर्यन्त गुणका स्थान है। आज्ञाचक्रमें जबतक अचल स्थिति नहीं हो जाती, प्रकृतिके चंगुलसे छुटकारा पानेका कोई उपाय नहीं है। आज्ञाचक्र ही ब्रह्मयोनि है, आज्ञाचक्रसे नीचे उतरना ही मनकी संसाराभिमुखी गति है।

यहाँ ही ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण तथा अधोमुख त्रिकोणका स्थान है। अधोमुख त्रिकोणसे संसार-प्रवृत्ति आरम्भ होती है तथा ऊर्ध्वमुखी त्रिकोणका ऊर्ध्वमुख ही ब्रह्मलोकका पथ है। यहाँ स्थिति-लाभ होने पर गुणातीत अवस्था प्राप्त होती है। यह आज्ञाचक्र योग-मायाका पुर है, इस पुरमें जो रहता है वही पुरुष है। वही महेश्वर या उत्तम पुरुष है। इस महेश्वरके साथ आद्या शक्ति अविना-भाव-सम्बन्धसे नित्ययुक्त है। गुणातीत ब्रह्म या परशिव ही महेश्वर या पुरुषोत्तमका आदि है। यह परशिव अवाङ्मनस-गोचर है। यहाँ प्रकृति भी नहीं है और पुरुष भी नहीं है। पश्चात् पुरुषोत्तम नारायणमें यह शिवशक्ति समभावमें मिली हुई है। वहाँ भी एक दूसरेको विभिन्न भावमें देखनेका कोई उपाय नहीं है। पुरुष-प्रकृति अभिन्न-रूपमें रहते हैं तथापि यही उनका युगल-रूप है। एक ओर सगुण है, दूसरी ओर निर्गुण है। यही महेश्वर या शिवशक्ति-सम्मिलित अर्द्धनारीश्वर-भाव है। शारदातिलकमें लिखा है—

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः॥
सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः॥

सच्चिदानन्द परब्रह्मके सगुण-निर्गुण भेदसे दो विभाव हैं। जब ब्रह्म मायासे अनुपहित रहता है अर्थात् मायाको स्वीकार नहीं करता, तब वह निर्गुण कहलाता है। मायासे उपहित होने पर उसको सगुण ब्रह्म कहते हैं। सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म जब कलायुक्त होता है अर्थात् मूलप्रकृतिसे उपहित रहता है, तब उससे शक्तिका आविर्भाव होता है तथा उस आविर्भूत शक्तिसे नाद (महत्तत्त्व), और नादसे बिन्दु (अहङ्कार-तत्त्व) उत्पन्न होता है। इस मूल प्रकृतिसे उपहित सच्चिदानन्द ब्रह्मकी ही उपासना होती है। मूल प्रकृतिसे अनुपहित निर्गुण ब्रह्मकी उपासना नहीं होती। जीवके अदृष्टके संयोगसे अथवा किसी दैवी कारणसे जिसे कोई नहीं जानता, सच्चिदानन्द ब्रह्मके तादात्म्य-सम्बन्धयुक्त होनेके क्षणमें चैतन्य-युक्त मूल प्रकृतिसे पहले शक्तिका आविर्भाव होता है। यह शक्ति ही आद्या शक्तिके नामसे प्रसिद्ध है। यह आद्या शक्ति मूल प्रकृतिका रूपभेद-मात्र है। यह भी सच्चिदानन्दके साथ एकीभूत है और यहाँ भी गुण-साम्यावस्था वर्त्तमान है। मूलप्रकृतिमें विकृति नहीं है, परन्तु कालके साहचर्यसे जीवके अदृष्टके हेतु इस आद्या शक्तिमें गुणक्षोभ होता है। तन्त्रमें लिखा है—

सृष्टिश्चतुर्विधा देवि प्रकृत्यामनुवर्तते।
अदृष्टाज्जायते सृष्टिः प्रथमे तु वरानने॥
विवर्त्तभावे सम्प्राप्ते मानसी सृष्टिरुच्यते।
तृतीये विकृतिं प्राप्ते परिणामात्मिका तथा॥
आरम्भसृष्टिश्च ततश्चतुर्थे यौगिकी प्रिये।
इदानीं शृणु देवेशि तत्तत्त्वञ्च विशेषतः॥
सृष्टिश्चतुर्विधा देवि यथापूर्वं समासतः॥

हे देवि! प्रकृतिसे चार प्रकारकी सृष्टि होती है। अदृष्टवश जीवसमष्टिका

भोगकाल उपस्थित होने पर जो सृष्टि होती है वह प्रथम सृष्टि या अदृष्ट-सृष्टि कहलाती है। मूलप्रकृतिसे शक्तिका आविर्भाव और गुणक्षोभ ही प्रथम सृष्टि है।

विवर्त्तसृष्टिको मानसी सृष्टि कहते हैं। वेदान्तसारमें लिखा है—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदाहृतः॥

जहाँ एक वस्तुसे दूसरी वस्तु उत्पन्न होते समय पूर्व वस्तु वस्तुतः रूपान्तरको प्राप्त होती है, उसको विकार कहते हैं जैसे दुग्धका विकार दधि है तथा शब्द-तन्मात्रादिका विकार आकाशादि है। जहाँ एक वस्तुसे दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है तथापि पूर्ववस्तुका अन्यथाभाव नहीं होता, उसको विवर्त्त कहते हैं। रज्जुमें सर्पके भ्रमकालमें रज्जुमें मिथ्या सर्पकी उत्पत्ति होनेपर भी रज्जुका स्वरूप उस समय भी अव्याहत रहता है, इसीको विवर्त्त कहते हैं। इस प्रकार प्रकृतिमें उपहित ब्रह्मसे जो जगत्‌की सृष्टि होती है, उसमें अद्वितीय ब्रह्मका ब्रह्मत्व अव्याहत रहता है। रज्जुमें सर्प-कल्पनाके समान मायाकल्पित यह जगत् ब्रह्मका विवर्त्त-स्वरूप है। यही द्वितीय सृष्टि या मानसी सृष्टिके नामसे अभिहित होती है। यह सृष्ट पदार्थ जब विकृतिको प्राप्त होते-होते एक वस्तुको रूपान्तरित करके अन्य वस्तुको उत्पन्न करता है, तब उसको तृतीय सृष्टि या परिणाम-सृष्टि कहते हैं। महत्तत्त्वसे अहङ्कार तत्त्व, अहङ्कार तत्त्वसे एकादश इन्द्रियाँ और पञ्च तन्मात्राएँ तथा पञ्च तन्मात्राओंसे पञ्च-भूतोंकी उत्पत्ति ही तृतीय सृष्टि या परिणाम-सृष्टि है। जब पञ्चीकृत परमाणुसमूहोंके पारस्परिक योगके द्वारा विभिन्न वस्तुओंकी उत्पत्ति होती है, तब उसको चतुर्थ सृष्टि, आरम्भ-सृष्टि या यौगिकी सृष्टि कहते हैं।

अदृष्ट-वश जीव-समष्टिका भोगकाल उपस्थित होने पर जब आद्या शक्ति (मूल प्रकृति) में गुणक्षोभ होता है, तो तत्काल पहले तमोगुणका आविर्भाव होता है। चैतन्ययुक्त शक्ति भी तब तमोगुणमें अनुप्रविष्ट होती है। यह तमोगुण महाकाल-शब्दसे अभिहित होता है। जब प्रलयकाल उपस्थित होता है, तब सत्त्वगुण रजोगुणमें और रजोगुण तमोगुणमें लयको प्राप्त होते हैं। वह तमोगुण भी प्रकृतिमें लयको प्राप्त होता है। यही है आद्या कालीका महाकालको प्रसव करके उनमें उपगत होना या विपरीत रतिमें प्रवृत्त होना। यही है आद्या शक्तिसे आविर्भूत तमोगुणमें आद्या शक्तिका अनुप्रवेश। स्त्री-पुरुष-संयोगसे जैसे जीव-सृष्टि होती है, उसी प्रकार महाकाल और आद्या शक्तिके संयोगसे यह जगत्-सृजन होता है।

प्रकृतिका गुणक्षोभ होने पर उसके द्वारा उत्पन्न महाकालके साथ नाद या महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। यह नाद पुनः सत्त्व, रजः और तमो भेदसे तीन प्रकारका होता है। यह महत्तत्त्व ही हिरण्यगर्भ है, यही प्रथम सृष्ट वस्तु है।

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे"—पहले हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ था। गुणभेदसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर, ये तीन उसकी ही मूर्त्तियाँ हैं। रुद्र ज्ञानशक्तिस्वरूप, ब्रह्मा इच्छाशक्तिस्वरूप तथा विष्णु क्रियाशक्तिस्वरूप हैं।

गोरक्षसंहितामें लिखा है—

इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं गौरी ब्राह्मी च वैष्णवी।
त्रिधा शक्तिः स्थिता लोके तत्परं ज्योतिरोमिति॥

ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति—गौरी, ब्राह्मी और वैष्णवी नामसे अभिहित हैं। इन्हीं तीन शक्तियोंसे सृष्टि, स्थिति और प्रलय हो रहा है। यह त्रिधाशक्तिरूप ज्योति ही प्रणवका प्रतिपाद्य है।

क्रियासारमें लिखा है—

विन्दुः शिवात्मकस्तत्र वीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम्।
तयोर्योगे भवेन्नादस्तेभ्यो जातास्त्रिशक्तयः॥

विन्दु शिवात्मक, बीज शक्त्यात्मक तथा नाद शिवशक्त्यात्मक है। इस विन्दु, बीज और नादसे त्रिशक्ति अर्थात् ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति उत्पन्न होती है।

मूलप्रकृतिके साथ सच्चिदानन्द ब्रह्मका जैसे कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु भी ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्तिके साथ तादात्म्यरूपमें सम्मिलित हैं। अतएव शक्तिके साथ शक्तिमान्का कोई भेद नहीं है। मायाकी सङ्कुचित अवस्था ही ब्रह्मभाव है, अतएव वह अगोचर है। यही तुर्यावस्था, कैवल्यावस्था और अवाच्य है। यही महाकारण-देह, कैवल्यज्ञान-देह और विदेह है। यही परा, परापरा और निःशब्द वाक् है। यही अगोचरी, उन्मनी और ब्रह्म है। यही सूक्ष्म वेद और अगोचर है। यही हृदयाकाश, अगोचर शून्य और सर्वशुद्धातीत है। यही ईश, अघोर और निराकार है। यह 'मसूरमात्र-दीपकं' और 'सोऽहं ब्रह्म' द्वारा सूचित है।

यह भाण्ड (देह) और ब्रह्माण्ड एक ही नियमके अधीन है, एक ही रूप-गुण-समावेशसे निर्मित है। अतएव ब्रह्माण्डमें जो है, देहमें भी वही है। यह ब्रह्माण्ड या देह सब प्रणवरूप है। सारे देवस्थान इस देहमें सन्निविष्ट हैं। प्रणवका अ-कारस्वरूप ब्रह्मा पृथ्वीतत्त्व मूलाधार-चक्रमें अवस्थान करता है। उ-कारस्वरूप विष्णुमूर्त्ति जलतत्त्व स्वाधिष्ठान-चक्रमें, म-कारस्वरूप रुद्र तेजस्तत्त्व मणिपूर-चक्रमें, नादस्वरूप ईश्वर वायुतत्त्व अनाहत-चक्रमें, विन्दुस्वरूप महेश्वर आकाशतत्त्व विशुद्ध-चक्रमें, कलास्वरूप परशिव मनोरूप आज्ञा-चक्रमें और कलातीत परब्रह्म या परमा प्रकृति सहस्रार-चक्रमें अवस्थान करती है।

ये सप्त चक्र प्रणवके सप्ताङ्ग हैं और बहिर्दृष्टिमें ये ही सप्त आम्नाय हैं। इन सप्त आम्नायोंको जान लेने पर सब जानना समाप्त हो जाता है। प्रथम आम्नायमें सृष्टि है—मूलाधारमें कुलकुण्डलिनी प्राणशक्ति-द्वारा जगत्की सृष्टि करती है। द्वितीय आम्नायमें स्थिति है—लिङ्गमूलमें स्थितिरूप विष्णु। तृतीय आम्नायमें संहार है—नाभिदेशमें रुद्र-रूप। नाभिश्वासके प्रारम्भ होने पर जीवकी मृत्यु हो जाती है। चतुर्थ आम्नायमें अनुग्रह है—भक्ति होने पर ही भजन होता है, उसमें ही अनाहत स्थित है। अनाहत शब्द ही ईश्वर-कृपा है, तब हृदयस्थ ईश्वरकी कृपाका अनुभव होता है। पञ्चम आम्नायमें अनुभव है—विशुद्ध-चक्रमें कण्ठमें प्राणकी स्थिति

होते ही अनुभव-पद प्राप्त होता है। षष्ठ आम्नाय आज्ञाचक्रमें निरनुभव है, यह अनुभवातीत अवस्था है। और सप्तम आम्नाय है सहस्रारमें परव्योम।

प्रथम आम्नायका ज्ञेय है कुण्डलिनी शक्ति, द्वितीय आम्नायका गम्य है नारायण या पुरुषोत्तम, तृतीय आम्नायका ज्ञेय है काल, चतुर्थका गम्य है विज्ञान-पद, पञ्चमका ज्ञेय है शून्य, षष्ठका गम्य है ब्रह्म, सप्तमका ज्ञेय है परब्रह्म या परव्योम।

प्रथम आम्नायका साधन है कुलकुण्डलिनीको जगानेके लिए मन्त्रयोग और हठ-योग। द्वितीय आम्नायका साधन है भक्तियोग या लययोग। तृतीय आम्नायका साधन है क्रियायोग और लक्ष्य अथवा ध्यानयोग। चतुर्थ आम्नायका साधन है ज्ञान-योग और उरोयोग (हृदयग्रन्थि-भेदकी साधना)। पञ्चम आम्नायका साधन है परा-योग और संन्यास। षष्ठ आम्नायका साधन है अमनस्कयोग और शाम्भवी योग। सप्तम आम्नायमें सहजयोग और मोक्ष-साधन होता है।

इन योगसाधनोंके करण भी आम्नाय-भेदसे विभिन्न हैं। प्रथम आम्नायका करण है नासिका––श्वास-प्रश्वासका द्वार। श्वास-प्रश्वासके द्वारा ही प्रथम आम्नायका साधन होता है। श्वासके स्थिर हुए विना कुलकुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत नहीं होती। द्वितीय योगका करण है जिह्वा––जिह्वाके तालुकुहरमें प्रविष्ट होने पर वाक् संयत होता है और वाक्-संयमके साथ-साथ इच्छाका नाश होता है। भक्तियोग वह है जिसमें मनोगति अन्यत्र कहीं न जाकर निरवच्छिन्न भावसे ब्रह्ममें मग्न हो जाती है। तृतीय आम्नायके योगाभ्यासका करण है चक्षु। चक्षुका लक्ष्य भ्रूमध्यमें होने पर मन ऐकान्तिक लक्ष्यके प्रति नियुक्त होता है। दृष्टि जबतक स्थिर नहीं हो जाती, मन चारों ओर नाना विषयोंमें दौड़ता रहता है। चतुर्थ आम्नायके योगाभ्यासका करण है त्वक्––कुम्भकके द्वारा हृदयमें पुनः पुनः ठोकर। इस ठोकर-क्रियाके द्वारा चर्ममें जो मोहमयी शक्ति आस्तृत रहती है उसका शोधन होता है। चर्मका आकर्षण सर्वापेक्षा मोहमय आकर्षण है, कामसङ्कल्पका यही प्रधान स्थान है। इस साधनकी परिसमाप्तिमें हृदय-ग्रन्थिभेद होकर दिव्य ज्ञानका सञ्चार होता है। पञ्चम आम्नायस्थ योगाभ्यासका करण है श्रोत्र। श्रोत्रके स्तब्ध होने पर मन अत्यन्त अन्तर्मुख होता है। शब्द ही हमको जगत्के साथ विभिन्न सम्बन्धोंसे युक्त कर देता है। शब्दका बन्धन शुद्ध होने पर बहुत ही दृढ़ होता है। वह अन्त तक रहता है। सब तत्त्वोंके आकाश-तत्त्वमें मिल जाने पर एक अनिर्वचनीय शब्द श्रुतिगोचर होता है, जिससे भवबन्धन छूट जाता है। यही है भगवन्नाम-श्रवण। इस शब्दमें तन्मय होने पर ध्वनिके अन्तर्गत ज्योति तथा ज्योतिके अन्तर्गत शुद्ध मनका सन्धान मिलता है। यह मन ही षष्ठ आम्नायस्थ योगाभ्यासका करण है। "मनःस्थं मनमध्यस्थं मनस्थं मनोवर्जितम्। मनसा मनमालोक्य स्वयं सिद्ध्यन्ति योगिनः।" बाहरकी ओरसे इस षष्ठ आम्नायका करण प्राण है। इसी कारण प्राणक्रिया करने पर जितना शीघ्र मन मनमें प्रवेश कर पाता है उतना शीघ्र अन्य किसी उपायसे नहीं होता। सप्तम आम्नायका योगाभ्यास समाधिस्थितिकी प्राप्ति है। बाह्य भावसे इस सप्तम आम्नायका करण है मृत्यु। वस्तुतः समाधि और मृत्यु एक ही बात है।

इस प्रकार "मम योनिर्महद्ब्रह्म"—महद्ब्रह्म ही भगवान्‌की योनि अर्थात् गर्भाधानस्थान है तथा महद्ब्रह्म क्या वस्तु है, यह समझाया गया। इस महद्ब्रह्ममें गर्भाधान ही द्वितीय या विवर्त्त-सृष्टि है। यहाँ मूल सत्ता अविकृत है, केवल कल्पनामें जगत् रचितवत् प्रतीत होता है। महद्ब्रह्मरूप योनिमें प्रविष्ट होने पर भगवान्‌का नाना रूपोंमें प्रकाश होता है। महद्ब्रह्म—ब्रह्मा ही समष्टि मन है। इसमें ही अनुप्रविष्ट होकर ब्रह्म विश्वको उत्पन्न करता है। "तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये"—उसने (हृदा) अपनी इच्छाके प्रभावसे (आदिकवये) ब्रह्माके चित्तमें (ब्रह्म) ब्रह्मका स्वरूपज्ञान (तेने) विस्तार किया था—(भाग० १ म स्कन्ध)। ब्रह्मा ही सारे ब्रह्माण्डका मन है। यही मन सङ्कल्पका स्थान है। मनके बिना कुछ नहीं हो सकता। इसीसे मानो ब्रह्मके मनःस्वरूप ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए। विश्वसृष्टिका सङ्कल्प इस मनमें ही वर्तमान रहता है। "विद्धि माया मनोमयम्"—(भाग० ११ वाँ स्कन्ध)। क्रियाकी परावस्थामें यह मन नहीं रहता। क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें सङ्कल्पके होते न होते सब कुछ होता है। ऐसा जो ब्रह्म-अणु है, जो अत्यन्त सूक्ष्म है, उस सूक्ष्म अणुके भीतर ब्रह्म अनुप्रविष्ट है, यही उसका एकांश है, यही ब्रह्मयोनि है, यहाँ निज सङ्कल्प कुछ नहीं होता, परन्तु अनिच्छाकी इच्छासे इसी स्थानसे समस्त विषयोंका स्फुरण होता है। बिना सङ्कल्पके वह जो बोलते हैं वही हो जाता है। यही ब्रह्मयोनि है। यह ब्रह्मयोनि ही भगवान्‌की स्वशक्ति है, इसकी निजी कोई कामना या सङ्कल्प नहीं है, परन्तु जीवके अदृष्टवश जब इस अनिच्छाकी इच्छारूपमें सङ्कल्प जागृत होता है तब शक्ति क्रियावती होती है, यही है उसका गर्भधारण। यही है उसकी वस्तु होनेकी इच्छा। इसीलिए कहा जाता है कि जीवका अदृष्ट इसका हेतु है। यद्यपि अदृष्ट कर्मवश ही होता है, परन्तु जीवका जैसे आदि नहीं है वैसे ही कर्मका भी कहीं आदि नहीं है। जीव मृत्युकालमें कामना लेकर मृत्युके गालमें पड़ता है, अतएव उसकी उत्पत्तिका बीज उसके भीतर ही लीन रहता है। समस्त विश्वका प्रलय होने पर भी जीवके कर्मोंका अन्त नहीं होता, अतएव प्रलयके बाद फिर उसकी उत्पत्ति होना अवश्यम्भावी है। प्रलयकालमें जीव कर्मके साथ महद्ब्रह्ममें लीन होता है। महद्ब्रह्म प्रकृतिमें सुप्त होता है। और सृष्टिकालमें काम-कर्मानुयायी जीवको स्व-स्व अदृष्ट भोगके लिए भोग्य क्षेत्रके साथ सम्बन्धयुक्त करनेकी जो चेष्टा की जाती है वही गर्भाधान-क्रिया है। वह गर्भाधानकर्त्ता सगुण ब्रह्म है।

पश्चात् महत्तत्त्वसे अहङ्कारतत्त्व और अहङ्कारतत्त्वसे पञ्च तन्मात्राओंकी सृष्टि होती है—यही विकार-सृष्टि या परिणाम-सृष्टि है। इस त्रितीय सृष्टिके बाद अपञ्चीकृत परमाणु जीवोंके अदृष्टके वश पञ्चीकृत होकर स्थूल देह और अन्नादिको उत्पन्न करते हैं—यही चतुर्थ सृष्टि या यौगिक सृष्टि है। अर्थात् प्रथम ब्रह्मरूप क्रियाकी परावस्थासे तत्परावस्थामें कूटस्थ-ज्योतिके भीतर बिन्दुरूपा महाशक्तिका आविर्भाव होता है। पश्चात् शुद्ध सङ्कल्पका अविर्भाव होता है जिसमें निज भोगेच्छा नहीं होती, तथापि ब्रह्माण्ड-बीज कारण-सलिलके भीतर भासित रहता है। फिर विविध वस्तुओंके विविध परमाणुओंका प्रकाश होता है। तत्पश्चात् स्थूलतम पिण्डभावकी

सृष्टि होती है। परन्तु पिण्डभाव हो या सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम भाव हो—सभी ब्रह्ममय या ब्रह्मस्वरूप हैं। एक अद्वितीय ब्रह्म कैसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके रूपमें परिणामको प्राप्त होता है, वह विशाल विस्तृत ब्रह्माण्ड सब जीवोंके साथ फिर कैसे अणुस्वरूप ब्रह्ममें प्रवेश करता है और वह अणु कैसे अव्यक्तके भीतर विलीन होता है—यह बहुत ही रहस्यकी बात है ॥३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) सर्वयोनिषु (सब योनियोंमें) याः (जो) मूर्त्तयः (मूर्त्तियाँ) सम्भवन्ति (उत्पन्न होती हैं) महद्ब्रह्म (महत्‌ब्रह्म) तासां योनिः (उनकी मातृ-स्थानीया है), अहं बीजप्रदः पिता (मैं बीजदाता पिता हूँ) ॥ ४ ॥

श्रीधर—न केवलं सृष्ट्युपक्रम एव मदधिष्ठिताभ्यां प्रकृतिपुरुषाभ्यां अयं भूतोत्पत्ति-प्रकारः अपि तु सर्वदैव इत्याह—सर्वेति। सर्वासु योनिषु मनुष्याद्यासु या मूर्त्तयः—स्थावर-जङ्गमात्मिका उत्पद्यन्ते, तासां मूर्त्तीनां महद्ब्रह्म प्रकृतिः योनिः—मातृस्थानीया, अहञ्च बीजप्रदः पिता—गर्भाधानकर्त्ता पिता ॥ ४ ॥

अनुवाद—[केवल सृष्टिके उपक्रममें ही मेरे अधिष्ठानके कारण प्रकृतिपुरुष-द्वारा भूतोत्पत्ति होती हो, ऐसी बात नहीं है। परन्तु इस प्रकार सर्वदा भूतोत्पत्ति होती रहती है, इस विषयमें कहते हैं]—मनुष्यादि सब योनियोमें जो स्थावर-जङ्गमात्मक मूर्त्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उनके लिए महद्ब्रह्म या प्रकृति ही मातृस्थानीया है और मैं ही गर्भाधानकर्त्ता पिता हूँ ॥ ४ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जितनी योनियोंसे मूर्त्तियाँ होती हैं, वह नन्हीं-नन्हीं पृथक् पृथक् योनि है—उन सब योनियोंमें भी ब्रह्म है, वह भी ब्रह्मसे उत्पत्ति है—परन्तु वह विभक्त अविभक्त ब्रह्म महद्योनि है, मैं—उसका बीज ब्रह्मके अणुस्वरूपमें हूँ तथा प्रकृष्ट रूपमें—द शब्दका अर्थ है योनि, उसमें ही रख देता हूँ अर्थात् अपने आपमें रखता हूँ—जो क्रियाकी परावस्था है—फिर मैं पिता अर्थात् शक्तिपूर्वक अपनेसे ही अपनी दूसरी मूर्त्ति—कूटस्थका स्वरूप ब्रह्म है !! अर्थात् आत्मज हूँ—अर्थात् पिता, पिता ही पुत्र होता है, पुत्र ही पिता है !!!—देव, पितृ, मनुष्य, पशु, मृग आदि योनियोंमें जो मूर्त्तियाँ उत्पन्न होती हैं, ब्रह्म उनका योनि अर्थात् उत्पत्तिका कारण है और मैं ही बीजप्रद पिता हूँ। यह महद्ब्रह्म क्या है और मैं क्या हूँ ? जिसके न रहने पर कुछ भी नहीं होती, वह ब्रह्म ही महद्योनि अथवा परम कारण है। जितनी योनियोंसे जितनी मूर्त्तियाँ प्रकट होती हैं, उन सबकी योनि भी ब्रह्म है, क्योंकि सब ब्रह्मसे हुए हैं। ब्रह्मके बिना किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। सबके भीतर ब्रह्म महद्योनि अर्थात् क्रियाकी परावस्था है। क्रियाकी परावस्थामें समस्त विभक्त योनियाँ अविभक्त-रूपमें रहती हैं। परन्तु वह ब्रह्म तो सदा ही सर्वत्र विद्यमान है, फिर उसका प्रकाश सब समय या सर्वत्र क्यों नहीं होता ? क्योंकि वहाँ अहंज्ञानका अभाव है। योनिसे प्रकाशित होनेके लिए अहंज्ञान

रहना आवश्यक है। अहंज्ञान जब बिल्कुल मिट जाता है तब ब्रह्माण्ड और तदतिरिक्त स्थानमें जो विशाल ब्रह्म पड़ा है, वह केवल सत्तामात्र भावमें है। वह है, यह कहनेके लिए भी कोई दूसरा वहाँ नहीं रहता। पश्चात् अहंज्ञान स्फुरित होता है, उस अहंके भीतर भी वह रहता है। तब वह 'अहं' ही कूटस्थ-चैतन्य-रूपमें प्रतिबिम्बित होता है। यही अहं ब्रह्माणुरूपमें सर्वत्र व्याप्त है। यह ब्रह्माणु या कूटस्थ क्रियाकी परावस्थामें निहित रहता है अर्थात् अपने भीतर आप रहता है। क्रियाकी परावस्थामें जो महत् अर्थात् विश्वमय एकाकार था, वही शक्तिपूर्वक क्रिया करने पर, पितासे जैसे पुत्र उत्पन्न होता है, उसी प्रकार क्रियाकी परावस्थासे कूटस्थ-स्वरूप ब्रह्म सब देहोंमें प्रकाशित होता है। कभी पिता पुत्र होता है, कभी पुत्र पिता होता है। अर्थात् क्रियाकी परावस्थासे कूटस्थ-ज्योति प्रकाशित होती है और कभी कूटस्थ-ज्योतिसे क्रियाकी परावस्था प्रकाशित होती है। कूटस्थ और क्रियाकी परावस्था एकके ही मूर्त्यन्तर-मात्र हैं। अतः मैं ही बीज अर्थात् ब्रह्माणुरूपमें सर्वत्र सम्प्रविष्ट हूँ तथा महद्ब्रह्म विराट् क्रियाकी परावस्था हूँ। इसीने त्रिभुवनको आच्छादित कर रखा है। समुद्रसे तरङ्गोच्छ्वासके समान इसीसे यह ब्रह्माण्ड पुनः पुनः उठता और डूबता है। क्रियाकी परावस्था और कूटस्थ क्या है—इसे अच्छी तरह समझ लेने पर पुरुष-प्रकृति, ब्रह्म-माया, सगुण–निर्गुण लेकर बखेड़ेमें पड़ना नहीं पड़ता।

महाभारतके शान्तिपर्वमें लिखा है—"योगके मतसे परमात्मा उपाधियुक्त होकर जीवरूपमें परिणत होता है।" परमात्माकी उपाधि ही है यह स्थूल, सूक्ष्म, कारण देह या प्रकृति। प्रकृतिके भीतर चैतन्यका खेल जबतक है तभी तक बद्धभाव या जीवभाव है। प्रकृति, पुरुष एकके ही विभिन्न उपाधि-मात्र हैं। जब क्रियाकी परावस्थामें गुणसङ्गरहित होता है, तब वह निर्गुण होता है। तब उसकी उपाधि पुरुष है। जब वह बाह्य व्यापारमें लिप्त होता है तब वह गुणयुक्त है, तब उसकी उपाधि प्रकृति है।

प्रकृतिके भीतर तमोभावके प्रबल होने पर वह जड़ दृश्य-रूपमें परिणत होता है। प्रकृतिके भीतर रजः और सत्त्व भाव रहने पर मनुष्य-भाव प्रकटित होता है तथा प्रकृतिके भीतर सत्त्वगुण प्रकाशित होने पर वह देवशरीर रूपमें प्रकटित होता है। आत्माके प्रकृतिस्थ होने पर ही उसकी मन उपाधि होती हैं और उस मनसे ही यह सृष्टिकार्य चलता रहता है।

आज्ञाचक्र पर्यन्त गुणका स्थान है। आज्ञाचक्रमें मनकी सम्यक् रूपसे स्थिति होने पर जीव प्रकृतिमुक्त हो सकता है। तब कोई उपाधि नहीं रहती और सृष्टि भी नहीं रहती। जो साधक आज्ञाचक्र पर्यन्त उठते हैं परन्तु स्थिति लाभ नहीं कर पाते, वे प्रकृतिके अधीन रहते हैं और इस जगत्-प्रपञ्चको प्रत्यक्ष करते हैं। अतएव जहाँ गुणका स्थान या आरम्भ है, वहाँ स्थिति लाभ करने पर गुणकी अतीतावस्था प्राप्त हो जाती है। वही योनि अर्थात् सृष्टिका कारण है। अतएव यह आज्ञाचक्र ही ब्रह्मयोनि या महद्ब्रह्मका स्थान है। उसीसे भूतोंकी उत्पत्ति या सृष्टि

होती है। आज्ञाचक्रके अधोदेशमें उतरने पर इच्छाका उद्भव होता है और उस इच्छासे ही सृष्टि होती है ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो !) सत्त्वं रजः तमः इति (ये सत्त्व, रजः और तमः) प्रकृतिसंभवाः गुणाः (प्रकृतिसंभूत गुणत्रय) अव्ययं देहिनं (अविनाशी आत्माको) देहे (देहमें) निबध्नन्ति (आबद्ध करते हैं) ॥ ५ ॥

श्रीधर—तदेवं परमेश्वराधीनाभ्यां प्रकृतिपुरुषाभ्यां सर्वभूतोत्पत्तिं निरूप्य इदानीं प्रकृतिसंगेन पुरुषस्य संसारं प्रपञ्चयति सत्त्वमित्यादिचतुर्दशभिः चतुर्भिः वा। सत्त्वं रजस्तमः इति त्रयो गुणाः प्रकृतिसम्भवाः—प्रकृतेः सम्भवः उद्भवो येषां ते तथोक्ताः। गुणसाम्यं प्रकृतिः, तस्याः सकाशात् पृथक्त्वेन अभिव्यक्ताः सन्तः प्रकृतिकार्ये देहे तादात्म्येन स्थितं देहिनं—चिदंशं वस्तुतोऽव्ययं—निर्विकारमेव सन्तं निबध्नन्ति—स्वकार्यैः सुखदुःखमोहादिभिः संयोजयन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

अनुवाद—[परमेश्वराधीन प्रकृति-पुरुषसे सब भूतोंकी उत्पत्तिका निरूपण करके अब प्रकृति-संगसे पुरुषकी संसारावस्थाका विषय चारसे चतुर्दश श्लोकोंके द्वारा विस्तारपूर्वक कह रहे हैं]—सत्त्व, रजः और तमः नामक तीन गुण प्रकृतिसे सम्भूत हैं। गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रकृति है। गुणत्रय पृथक् रूपसे अभिव्यक्त होकर प्रकृतिके कार्य शरीरमें तादात्म्यभावसे अवस्थित देहीको सुख-दुःख-मोहादिमें आबद्ध अर्थात् संयुक्त करते हैं। देही चिदंश है, वह चिदंश वस्तुतः अव्यय अर्थात् निर्विकार है ॥५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सत्त्व, रजः, तमः—इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्नारूपी यन्त्रमें आरूढ़ रहकर जो पञ्च तत्त्व मन, बुद्धि, अहङ्कारके साथ आत्मा ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य दिशामें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करके इस देहमें देही आत्मा अविनाशी कूटस्थ ब्रह्म आबद्ध है !! उस बन्धनसे मुक्त होते ही वह शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वरूप —क्रियाके परेकी स्थितिरूप ढाककी लकड़ी घड़ामसे आ पड़ेगी।—अस्तु, देही तो जन्म-जरा-मरण आदिसे रहित है, फिर सत्त्व, रजः और तमोगुण तथा इनसे उत्पन्न सुख-दुःख-मोहादि उसको किस प्रकार आबद्ध करते हैं? प्रलयकालमें सत्त्व, रजः और तमोगुण साम्यावस्थाको प्राप्त होते हैं। साम्यावस्थाको प्राप्त त्रिगुण और प्रकृतिमें कोई भेद नहीं। प्रकृतिमें वैषम्य आरम्भ होते ही त्रिगुण प्रकाशित हो जाते हैं। तब जीव और जगत्‌की सारी सृष्टि आरम्भ हो जाती है। प्रकृतिसे गुण उत्पन्न होकर इस देहमें अवस्थित होते हैं। जन्म-मरण-जरा आदिके अतीत होने पर भी देहमें तादात्म्यभावके कारण देहस्थ त्रिगुणके धर्म शोक-मोहादि द्वारा मानो देही जीवात्मा आबद्ध रहता है। जैसे देहाश्रित छाया देहको आवृत करती जान पड़ती है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्माके आश्रित गुण आश्रयदाता क्षेत्रज्ञको आबद्ध करते जान पड़ते हैं।

गुण ही शक्ति है। गुण कहाँ से आते हैं और क्यों? शक्तिमान्‌के भीतर शक्ति अन्तर्निहित है। वह उस शक्तिका खेल सदा दिखलाता हो ऐसी बात नहीं है, परन्तु इच्छा होनेपर दिखा सकता है। इसी प्रकार गुणीके भीतर गुण सर्वदा अन्तर्निविष्ट रहता है, जब इसका प्रकाश होता है तभी शक्तिमान्‌की शक्तिको हम समझ पाते हैं। यह प्रकाश स्वाभाविक होनेके कारण इसके लिए कोई सङ्कल्प नहीं करना पड़ता। जब यह शक्ति उसमें सुषुप्तावस्थामें रहती है, दीर्घकाल तक जाग्रत नहीं होती, तो वही अवस्था निर्गुण, निस्पन्दित भाव है। वही प्रकृतिका साम्यभाव है, पुरुष और प्रकृति उस समय मानो शिवगौरीरूपमें एक दूसरेके भीतर प्रविष्ट हुए रहते हैं। ऋषियोंने ध्यान-योगसे उस विश्व-कारण शक्तिको देखा था—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ श्वेता० उप०।

स्वप्रकाश मायाधीश्वर परमेश्वरकी आत्मभूता शक्तिको उन्होंने कारणरूपमें देखा था। वही शक्ति माया या प्रकृति है। परन्तु सांख्यकी प्रकृतिके समान वह जड़ नहीं है। यह उनकी ही निज शक्ति है। "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम् ॥" यह माया ही परा प्रकृति है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है कि यह प्रकृति मेरी अध्यक्षतामें (प्रेरणासे) समस्त चराचर जगत्‌की सृष्टि करती है। वह शक्ति सत्त्व रजः तमोनामक गुणों और स्वीय कार्य पृथिवी जलादिके द्वारा आच्छादित है। कारण स्वीय कार्यद्वारा आवृत रहता है अर्थात् कारणका आकार कार्यके आकारमें छिपा रहता है, इसीलिए कारण वस्तुको हम पकड़ नहीं पाते।

यह विश्वजननी जिसकी शक्ति है, वह देवता कालात्मयुक्त है अर्थात् समस्त कारणोंका अधिष्ठाता है। जो इन सब कारणोंको नियमानुसार परिचालित करता है, उसी भगवान्‌की स्वीय शक्तिको उन्होंने देखा था।

जैसे अग्निमें ज्वलन स्वाभाविक है, उसके प्रकाशके लिए किसी आयासकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्ममें शक्तिका हिल्लोल अत्यन्त स्वाभाविक है। वह बिना प्रयत्न या सङ्कल्पके ही स्फुरित होता है। जब स्फुरण आरम्भ होता है, तब मान लेना पड़ता है कि वह उनका सङ्कल्प है। यह शक्ति गतिशीला, स्पन्दनधर्मी है, परन्तु कोई गति किसी स्थितिशील सत्तामें युक्त हुए बिना गतिशील नहीं हो सकती। यह गति चिरन्तन नहीं है, अतएव इसको मिथ्या या माया कहते हैं। परन्तु स्थितिशीलता इसके भीतर सदा वर्तमान रहती है। जलमें पड़नेवाली चन्द्रिका का चाञ्चल्य तो दीख पड़ता है, परन्तु चन्द्रिकामें चाञ्चल्य नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्मके भीतर जो स्वाभाविक ज्ञान-कौमुदी विच्छुरित है, वह सब प्रकारके चाञ्चल्य-विक्षेपादि धर्मोंसे रहित है। इसी कारण वह चिर स्थिर, चिर निर्मल है, अतएव नित्य और अविनाशी है। वही ब्रह्मकिरण मायाके स्पर्शसे मायाके चञ्चलत्व आदि गुणोंके द्वारा चञ्चलवत् जान पड़ता है। प्रकृतिके विक्षुब्ध

हुए विना सृष्टि नहीं होती। प्रकृतिके विक्षुब्ध होने पर प्राण चञ्चल होता है और वही चञ्चल प्राण सत्त्व-रजः-तमोगुणरूपमें तथा उसके वाहन इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना नाड़ीके मुँहमें प्रवाहित होकर पञ्च तत्त्व, मन, बुद्धि, अहङ्कारमें परिणत होकर इस जगत्‌का खेल आरम्भ कर देता है। तब इन सब वस्तुओंमें आत्मबोध होने पर इनके प्रति क्षेत्रज्ञ आसक्तिपूर्वक दृष्टिपात करता है। इसी कारण नित्यमुक्त अविनाशी कूटस्थ देही देहके भीतर आबद्ध हो जाता है। यह देह ही मानो उसका निजस्व तथा सर्वस्व जान पड़ती है, यही देहीकी बद्धावस्था है। इस बन्धनसे मुक्त होते ही वह शुद्ध मुक्त होनेके कारण अपने शुद्ध मुक्त स्वभावको ही प्राप्त होता है। प्राण ही चञ्चल होकर इतना गोलमाल पैदा करता है, इसलिए बहुत यत्नपूर्वक प्राणके चाञ्चल्यको अवरुद्ध करना होगा। क्रिया करके क्रियाकी परा स्थिति प्राप्त होते ही सर्वबन्धविनिर्मुक्त आत्मा अपनी महिमामें आप विराजमान होता है ॥५॥

(सत्त्वगुणका बन्धन)

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

अन्वय—अनघ (हे निष्पाप !) तत्र (उनमें) निर्मलत्वात् (निर्मल होनेके कारण) प्रकाशकम् (प्रकाशशील) अनामयं (निरुपद्रव) सत्त्वं (सत्त्वगुण) [आत्माको] सुखसङ्गेन ज्ञानसङ्गेन च (सुखासक्ति और ज्ञानासक्तिद्वारा) बध्नाति (बन्धनमें डालता है) ॥ ६ ॥

श्रीधर—तत्र सत्त्वस्य लक्षणं बन्धकत्वप्रकारं चाह—तत्रेति। तत्र तेषां गुणानां मध्ये, सत्त्वं निर्मलत्वात्, स्वच्छत्वात् स्फटिकमणिरिव प्रकाशकं भास्वरं अनामयञ्च, निरुपद्रवं, शान्तमित्यर्थः। अतः शान्तत्वात् स्वकार्येण सुखेन यः सङ्गः तेन बध्नाति। प्रकाशकत्वाच्च स्वकार्येण ज्ञानेन यः सङ्गः तेन च बध्नाति। हे अनघ—अपाप ! अहं सुखी ज्ञानी चेति मनोधर्मान् तदभिमानिनि क्षेत्रज्ञे संयोजयतीत्यर्थः ॥६॥

अनुवाद—[सत्त्वगुणका लक्षण और उसके बन्धकत्वका प्रकार बतलाते हैं]—उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण स्वच्छ स्फटिक-मणिके समान प्रकाशक अर्थात् भास्वर है और अनामय अर्थात् निरुपद्रव और शान्त है। अतएव शान्त होनेके कारण अपने कार्य—सुखके साथ आसक्तिके द्वारा जीवको आबद्ध करता है। सत्त्वगुणके प्रकाशकत्वके कारण वह स्वकार्य ज्ञानके साथ आसक्तिके द्वारा आबद्ध करता है। हे निष्पाप अर्जुन! 'मैं सुखी हूँ' 'मैं ज्ञानी हूँ' आदि मनोधर्मोंको वह तदभिमानी क्षेत्रज्ञमें संयोजन करता है ॥६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वहाँ अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें—पञ्च तत्त्व, मन, बुद्धि, अहङ्कार इनमें ही मैल होती है—इनको छोड़कर, आत्मामें रहना निर्मल है। कूटस्थ ब्रह्म !! कोई वस्तु निर्मल होते ही प्रकाशको प्राप्त करती है—जिस तलवारमें मोरचा लगा हो, उसे क्रियाके द्वारा परिष्कार करने पर—जो गुरुवक्त्रगम्य है—उस तलवारमें ऐसा प्रकाश होता है

कि अपना मुँह उसमें दीखने लगता है। इसीको पातञ्जल-सूत्रमें कहा है 'स्वरूप-दशनम्' (अर्थात् प्रकृतिज दर्पणमें अपना मुख आप दीख पड़ता है)। जब अपने आपको देख लिया और स्वयं ब्रह्म हो गये तब तो सब कुछ ब्रह्म ही है! और सबको प्रकाश-स्वरूप ही देखा—ब्रह्म ही इसी कारण वेदान्तमें उसे स्वप्रकाश-स्वरूप कहा है। जब सब एक वस्तु हो गया, तब भला विशेष नाश होकर दूसरी वस्तुमें परिणत कैसे होगा? अतएव अविनाशी है—विकार-रहित है—आसक्ति-पूर्वक अन्य वस्तुमें सुखाभिलाष करने पर निःशेषरूपसे उसमें आबद्ध हो गया। इसको छोड़कर आत्मामें स्वयं रहने पर अर्थात् क्रिया करने पर मुक्त अर्थात् क्रियाकी परावस्था है।—ज्ञानको तमोगुण आवृत कर रखता है। सत्त्वगुण उस आवरणको नष्ट करता है। इसी कारण वह प्रकाशक है। सत्त्वगुणमें प्रकाशकत्व-गुण होनेके कारण वह जिस वस्तुका जो स्वरूप है उसे दिखला देता है। रजस्तमः गुणके समान वह विक्षेप और आवरण युक्त नहीं है, इसलिए वस्तुके यथार्थ रूपको प्रकाशित करता है। इससे हम समझ पाते हैं कि कौन वस्तु ग्रहणयोग्य और कौन त्यागयोग्य है। इसमें कोई भ्रम-दर्शन न होनेके कारण यह सब प्रकारके उपद्रवोंसे रहित है। परन्तु अन्तःकरणके सत्त्वगुणसे उत्पन्न प्रकाशधर्ममें ज्ञान तो पैदा होता है सही, परन्तु वह मिश्रज्ञान है अर्थात् उसके साथ रजस्तमो भाव-मिले होते हैं। वह नानात्व-ज्ञानका प्रकाशक होता है। वह कथञ्चित् सुखमय होनेके कारण जीवको खण्डित सुखोंमें आबद्ध करता है। अतः अखण्डज्ञान जो शुद्ध आत्माका धर्म है, वह ज्ञान यह नहीं है। जिसे परा विद्या कहते हैं, जिसके द्वारा आत्मदर्शन होता है, वह भी यह नहीं है। इसलिए इस ज्ञान द्वारा बहिर्विषयोंमें आकृष्ट होकर जीव बन्धन-दशाको प्राप्त होता है। आलोचनात्मक दर्शनशास्त्र और पदार्थ-विज्ञानसे उत्पन्न ज्ञानके द्वारा द्रव्यादिके गुणोंका जो ज्ञान होता है, वह इसी कोटिका ज्ञान है। इसका सङ्ग-त्याग भी कम कठिन नहीं है। आत्मामें मनकी ऐकान्तिक स्थिति ही सत्य ज्ञान है और वही सत्य ज्ञानका प्रकाशक है। उसका लक्षण है विशुद्ध ज्ञान और विशुद्ध आनन्द। यह एकमात्र आत्माका ही धर्म है। इस आत्मामें न रहकर मन जब पञ्च तत्त्वोंमें रहता है तो उसमें नाना प्रकारकी मैल लग जाती है और उसकी स्वच्छताका ह्रास हो जाता है। तलवारमें मोरचा लगनेसे जैसे वह मलीन हो जाती है और उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी प्रकार मनके मलिन रहने पर उसमें आत्म-प्रतिबिम्ब नहीं दीखता। तलवारको घिसने पर जैसे वह निर्मल होकर दमकने लगती है और उसमें अपना मुँह भी दीखने लगता है, उसी प्रकार क्रियाके द्वारा मन विकल्पशून्य होने पर अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है, उस स्वच्छ शुद्ध मनमें आत्म-स्वरूपका दर्शन होता है। आत्माके सिवा अन्य वस्तुमें जो सुख पानेकी लालसा लगी रहती है, वही मनका चञ्चल भाव है। मन जबतक चञ्चल रहता है तबतक आत्माका विशुद्ध भाव प्रत्यक्ष नहीं होता। इसके लिए क्या करना चाहिए, इस विषयमें कबीर साहब कहते हैं—

कबिर सिकलिगर कीजिए सबद मस्कला देइ।
मनकी मैल छुड़ाइके चित दर्पण करि लेइ॥

अस्त्र परसे मैल हटानेके यन्त्रका नाम सिकलिगर है—लोहारका शान-पत्थर।

अस्त्रको शान देनेके लिए एक छोरसे दूसरे छोर तक उलट फेर करके वारंवार शान पर लगाये रखना पड़ता है। शान-चक्र जिस प्रकार आगे-पीछे घूमता रहता है, उसी प्रकार यह चक्ररूप श्वासक्रिया पुनः पुनः आती-जाती रहती है। उस आने-जानेके साथ तुम अस्त्ररूप मनको लगाये रखो। अस्त्रको शान देकर परिष्कार करनेके समय एक प्रकारका शब्द होता है। उसी प्रकार तुम भी मोरचा लगे हुए मन्त्ररूपी अस्त्रको जब प्राणरूप शानके ऊपर बैठाओगे तब एक प्रकारका शब्द होगा। मोरचा कट जाने पर फिर शब्द नहीं होता। इसी प्रकार मनकी मैल कट जाने पर मन जितना ही निर्मल होगा, उतना ही शब्द होना बन्द हो जायगा। मनका सङ्कल्प। विकल्प भी नहीं रहेगा। मनके कुछ स्थिर होने पर बिन्दुदर्शन होगा, परन्तु वह बिन्दु स्थिर नहीं है, ऐसा जान पड़ेगा मानो हिल रहा है। जितना ही हिलेगा उतना ही कम दीख पड़ेगा, अधिक हिलने पर बिल्कुल ही नहीं दीखेगा जैसे दर्पणके हिलने पर उसमें मुख नहीं दीखता। दर्पणके स्थिर होने पर चाहे जो प्रतिबिम्ब पड़े वह दीखेगा। उसी प्रकार चित्तरूप बिन्दुको स्थिर करके दर्पणके समान सामने रखने पर समस्त जगत् उसके भीतर दीख पड़ता है। उस बिन्दु-ज्योतिका दर्शन कैसे होता है? कबीर साहब कहते हैं—

गुरु धोबी सिख कापड़ा साधन सीजनहार।
सुरत सिलापर धोइये निकले जोति अपार॥

कबीर कहते हैं कि शिष्यका मन मैले कपड़ेके समान है और गुरु हैं धोबी। धोबी जैसे कपड़ेको सज्जीमें मिलाकर पत्थर पर पीटता है, गुरुरूप धोबी भी शिष्यको साधानरूप सज्जी-मिट्टीमें मिलाकर आत्माके ध्यानरूप शिला पर वारंवार पीटकर शिक्षा देते हैं। पीटते-पीटते कपड़ेकी सारी मैल कटकर जैसे कपड़ा स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार गुरुके उपदेशके अनुसार साधन करते-करते शिष्यके मनसे सब मैल कट जाती है और उसके भीतर अपूर्व चित्-ज्योतिका प्रकाश होता है। प्राणायामके द्वारा प्राणके स्थिर होने पर मनमें जो स्वच्छता और विशुद्धता आती है उसके द्वारा ही प्रकृत आत्मज्ञान उत्पन्न होता है और उससे ही आत्मानुभूति होती है। विवेकचूड़ा-मणिमें श्रीमदाचार्य शङ्कर कहते हैं—

विशुद्धसत्त्वस्य गुणाः प्रसादः स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः।
तृप्तिः प्रहर्षः परमात्मनिष्ठा यया सदानन्दरसं समृच्छति॥

विशुद्धसत्त्वका लक्षण है—(१) प्रसन्नता, (२) आत्मानुभूति, (३) परमा शान्ति, (४) तृप्ति, (५) प्रहर्ष और (६) परमात्मनिष्ठा—इनके द्वारा ही नित्यरस-रूप आत्माको प्राप्त किया जाता है।

जबतक प्राण-प्रवाह चञ्चल रहेगा और इड़ा-पिङ्गलाके मुखमें चलता रहेगा, तबतक ज्ञान उत्पन्न तो होगा, परन्तु वह सांसारिक ज्ञान होगा, परमात्मनिष्ठ ज्ञान नहीं। सुषुम्नामें प्राण-प्रवाह चलते रहने पर विशुद्ध सत्त्वका आविर्भाव होता है। पश्चात् त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त होती है। वही प्रकृत परमात्मनिष्ठा है। उस

प्रकारकी अवस्था प्राप्त होने पर फिर अशान्ति, निरानन्द या अज्ञान साधकको आच्छन्न नहीं कर सकेंगे ॥ ६ ॥

(रजोगुणका बन्धन)

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय !) रजः (रजोगुणको) रागात्मकं (अनुराग-रूप) तृष्णासङ्गसमुद्भवं (तृष्णा और आसक्तिका उत्पादक) विद्धि (जानो) । तत् (वह) कर्मसङ्गेन (कर्मासक्तिके द्वारा) देहिनं (देहीको) निबध्नाति (आबद्ध करता है) ॥ ७ ॥

श्रीधर—रजसो लक्षणं बन्धकत्वञ्चाह—रज इति । रजःसंज्ञकं गुणं रागात्मकं अनुरञ्जनरूपं विद्धि । अतएव तृष्णासङ्गसमुद्भवं—तृष्णा अप्राप्तेऽर्थेऽभिलाषः, सङ्गः प्राप्तेऽर्थे प्रीतिः विशेषेण आसक्तिः । तयोः तृष्णासङ्गयोः समुद्भवः यस्मात् तत् रजो देहिनं दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु सङ्गेन आसक्त्या नितरां बध्नाति । तृष्णासङ्गाभ्यां हि कर्मसु आसक्तिर्भवति इत्यर्थः ॥ ७ ॥

अनुवाद—[रजोगुणका लक्षण और बन्धकत्व बतलाते हैं]—रजःसंज्ञक गुणको रागात्मक अर्थात् अनुरञ्जनरूप अनुराग-स्वरूप जानो, अतएव वह तृष्णा और सङ्गका उत्पादक है । तृष्णा—अप्राप्त विषयकी अभिलाषा, सङ्ग—प्राप्त विषय में प्रीति अर्थात् विशेष-रूपसे आसक्ति । तृष्णा और सङ्ग, इन दोनोंका जिसके द्वारा समुद्भव होता है वह रजोगुण देहीको दृष्टादृष्ट कर्मोंकी आसक्तिमें निरन्तर आबद्ध रखता है, क्योंकि तृष्णा और सङ्गके द्वारा ही कर्ममें आसक्ति उत्पन्न होती है ॥७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—रजः अर्थात् इड़ा; अन्य किसी वस्तुमें आसक्ति-पूर्वक इच्छा—आत्माके द्वारा ही होती है—उस वस्तुमें प्रार्थनाकी इच्छा, बहुत क्षण दृष्टि करने पर उस वस्तुको पानेकी इच्छा होती है अत्यन्त आग्रहके साथ, जिसको न पाने पर अत्यन्त व्याकुल होता है । उसीका नाम तृष्णा है, वह तृष्णा तुमको आबद्ध करके अच्छी तरह हाथ जोड़े खड़ा किये रखती है । क्योंकि उस वस्तुके द्वारा हमारे मनका तृप्तिरूप फल कुछ क्षणके लिए प्राप्त होगा । इस प्रकारकी इच्छासे खड़ा रहना रूप कर्म सम्पन्न होता है—इस शरीरके भीतर कूटस्थ-स्वरूपमें अर्थात् महादेवका—जैसे कोई आदमी मिठाईकी दूकानमें खड़ा रहता है ।—रजोगुणका स्वभाव है रञ्जित करना । इसीसे तृष्णा और आसक्ति होती है । जो वस्तु अपने पास नहीं है उसको पानेके लिए जो अभिलाषा होती है, उसका नाम तृष्णा है । और जो वस्तु हमारे पास है उसमें प्रीतिवश बराबर उसके बने रहनेकी मनोवृत्तिका नाम आसक्ति है । रजोगुण ही कर्मासक्ति उत्पन्न करके उसके द्वारा जीवको आबद्ध करता है । किसी वस्तुको बार-बार आसक्तिके साथ देखने पर उसको पानेके लिए लोभ होता है । यह लोभ ही जीवको दूसरोंकी दासतामें डालता है, दूसरोंके सामने घुटने टिकवाता है, क्योंकि अभिलषित वस्तु पाकर मनको कुछ तृप्ति मिलती है । यह अतृप्तिका वेग मनमें उदय क्यों होता है ? इसका कारण यह है कि उस समय इड़ा-नाड़ीमें प्राणवेग

सञ्चारित होता है। गेरुआ रङ्ग जैसे सादे कपड़ेमें लगाने पर उसे गेरुए रङ्गसे रँग देता है, उसी प्रकार इड़ा-नाड़ीका प्रवाह चलने पर सब वस्तुओंके प्रति लोभके साथ आसक्ति आती है। हमारी देश-प्रीति, जीवके प्रति कल्याणकी इच्छा—इसी श्रेणीकी आसक्ति है। जीव महादेव है, वह मानो भिखारीके समान कुछ पानेकी आशासे हाथ जोड़कर खड़ा है। वह नहीं जानता कि उसकी सत्तामें ही सब कुछ है, उसको कुछ पाना नहीं है, तथापि प्राणके चाञ्चल्यके कारण यह अमनस्क अशुचि भाव आकर उपस्थित होता है। मन लगाकर क्रिया करने पर प्राण जैसे-जैसे स्थिर होता जाता है वैसे-वैसे वस्तुके प्रति आसक्ति मिटती जाती है। इसलिए कल्याण-कामी पुरुषोंको मन लगाकर क्रिया करना आवश्यक है ॥७॥

(तमोगुणका बन्धन)

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

अन्वय—भारत (हे भारत !) तमः तु (परन्तु तमोगुणको) अज्ञानजं (अज्ञानसे उत्पन्न) सर्वदेहिनां (सब शरीरियोंके) मोहनं विद्धि (मोहोत्पादक जानो)। तत् (वह) प्रमादालस्यनिद्राभिः (प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा) निबध्नाति (देहीको आबद्ध करता है) ॥८॥

श्रीधर—तमसो लक्षणं बन्धकत्वञ्च आह—तम इति। तमः तु अज्ञानात् जातं आवरणशक्तिप्रधानात् प्रकृत्यंशात् उद्भूतं विद्धि इत्यर्थः। अतः सर्वेषां देहिनां मोहनं भ्रान्तिजनकं, अतएव प्रमादेन आलस्येन निद्रया च तत् तमो देहिनं निबध्नाति। तत्र प्रमादः—अनवधानं, आलस्यं—अनुद्यमः, निद्रा चित्तस्य अवसादात् लयः ॥८॥

अनुवाद—[तमोगुणका लक्षण और बन्धकत्व कहते हैं]—तमोगुण अज्ञानसे उत्पन्न है अर्थात् प्रकृतिका जो अंश आवरण-शक्ति-प्रधान है उससे उद्भूत है। अतएव सब देहियोंके लिए मोहन अर्थात् भ्रान्तिजनक है। अतएव प्रमाद, आलस्य और निद्रा द्वारा यह तमोगुण देहीको आबद्ध करता है। प्रमाद शब्दका अर्थ है अनवधानता, आलस्यका अर्थ है अनुद्यम तथा निद्राका अर्थ है चित्तका अवसाद-जनित लय ॥ ८ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आत्मामें न रहकर—अन्य वस्तुमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करनेका नाम तमोगुण है अर्थात् पिङ्गलाने समस्त देहीको अर्थात् महादेवको मोहित कर रखा है, नहीं तो जीवमात्रमें शिव है अर्थात् क्रिया करने पर जो गुरुवक्त्रगम्य है। वे सारे कर्म, जिसके द्वारा आबद्ध हो रहा है, वह प्रकृष्टरूपसे आसक्तिके साथ तद्गत-चित्तसे आग्रह प्रकट कर पागलके समान निरर्थक किसको क्या कहता है, उसका अनुधावन नहीं कर पाता। वैसा न कर सकनेके कारण अपनी गर्मीसे आप उबल उठता है और नाच-नाच कर नाना रूप दिखलाता हुआ काल यापन करता है। और कहता है कि मुझको फुरसत नहीं है—और जो कुछ करता है उसे स्वयं नहीं समझ पाता, क्योंकि उन्मत्त है !! जो शुभ कर्म आगे आता है

उसके विषयमें कहता है कि आगे करूँगा। वह 'आगे' आगे आगे भागता जाता है और आगे निद्रा घेरती है !! जो आवश्यक नहीं है, उससे भी अधिक अर्थात् सन्ध्याके समय सोकर पहर दिन गये उठता है, इस प्रकार आलस्यमें कितने ही दिन बीत जाते हैं। बिना कैदका —कहनेसे भी नहीं मानता—कैसा आश्चर्य है कि बिना बन्धनका बन्धन है अर्थात् अपने द्वारा आप बँधा है—यानी कोई बोले भी नहीं कि तुम सोते हो—राँड़बाजी करते हो इत्यादि।—जैसे अविद्याकी विक्षेपशक्ति रजोगुण है, वैसे ही अविद्याकी आवरणशक्ति तमोगुण है। तमोगुण सर्वदा जीवको आच्छन्न कर रखता है, मोहाभिभूत कर डालता है। जो कार्य करनेसे कल्याण होगा उसकी ओर घूमकर भी नहीं देखेगा और जो कार्य करनेसे अपनी हानि होगी उसमें खूब उत्साह दिखलायेगा, इसको ही प्रमाद कहते हैं। सर्वदा बुद्धिमें जड़ता रहती है, अतएव स्वयं कुछ विचारपूर्वक नहीं कर पाता, सर्वदा परमुखापेक्षी रहता है। चित्तका इतना अवसाद कि जब कुछ स्थिर होकर बैठ जाता है तब जम्हाई उठती है, नींद आती है। हाथमें माला चाहे जितनी ही फिरती हो, सिर दिवालसे ठक् ठक् टकराता रहता है। सुन्दर उपदेश सुननेमें इतनी नींद आती है कि एक बात भी श्रवणगोचर नहीं होती। ध्यानमें बैठने पर नाक गरजने लगती है, परन्तु मनमें धारणा होती है कि वह समाधिस्थ हो रहा है। ये सब बुद्धिके विपर्यय भाव तमोगुणीको सदा घेरे रहते हैं। हरिनाम-स्मरण करनेमें आलस्य लगता है। इसीलिए कहता है कि यह सब शोरगुल मचाना अच्छा नहीं है। ध्यान या साधना करनेमें भी अच्छा नहीं लगता। पूछने पर कहता है कि यह सब अनावश्यक है, मुझे तो बैठते ही ध्यान लग जाता है, परन्तु वस्तुतः उसका ध्यान नहीं लगता, लगती है निद्रा !! इस तमोगुणके वशमें जो जितना ही होगा, उसका अज्ञान उतना ही वृद्धिको प्राप्त होगा। उतना ही उसके सामने आत्मा घनाच्छादित-सा प्रतीत होगा। इसीसे कहना पड़ता है कि तमोगुणसे बढ़कर मनुष्यका, साधकका शत्रु और कोई नहीं है। भगवान् जो करेंगे वही होगा यह कहकर बहुतसे लोग आलस्यमें कालक्षेप करते हैं, परन्तु यह प्रकृत भगवत्-निर्भरता नहीं है। भगवान्ने इसको ही देहीका भ्रान्तिजनक भाव या तमोगुण कहा है। आलस्य और निद्रा इसके अनुचर हैं। इस प्रकारकी भ्रान्ति, आलस्य और निद्राके वशवर्ती होने पर भगवत्साधना नहीं होती।

हमारी श्वास-क्रिया कभी इड़ामें चलती है और कभी पिङ्गलामें। इस श्वासकी गतिके अनुसार मनका रङ्ग बदलता जाता है। श्वासकी गतिकी ओर जिसका लक्ष्य नहीं है, वह चित्तस्पन्दनके स्रोतमें अपनेको बहा देता है। वह नहीं समझ पाता कि उसको क्यों क्रोध होता है, वह क्यों निद्रातुर होता है, क्यों आलस्यके वशवर्ती होता है। जो गुरुके उपदेशके अनुसार श्वासमें लक्ष्य रखनेका अभ्यास करते हैं वह समझते हैं कि प्राणके स्पन्दनके अनुसार ही मन स्पन्दित हो रहा है। इस कारण वे चित्तमें अवैध चिन्तनके उठते ही जाग्रत हो जाते हैं। कुछ देर तक श्वासमें लक्ष्य रखने अथवा प्राणायाम करने पर गुणके आक्रमणसे अपनी रक्षा की जा सकती है। शरीर और मनके लिए कुछ विश्राम या निद्रा आवश्यक तो है,

परन्तु ध्यान रखना होगा कि उसकी मात्रा सीमाका उल्लङ्घन न कर उठे। यह बन्धन कोई हमारे कन्धे पर डाल नहीं जाता, हम स्वयं अविवेक और आलस्यके वश शुभ कार्यमें प्रवृत्त न होकर अशुभके हाथमें आत्मसमर्पण करते हैं!! इससे हम कितना ही दुःख पाते हैं परन्तु मोह नहीं कटता ॥८॥

(त्रिगुणका सामर्थ्य)

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥९॥

अन्वय—भारत (हे भारत !) सत्त्वं (सत्त्वगुण) सुखे सञ्जयति (देहीको सुखमें संश्लिष्ट करता है) रजः कर्मणि (रजोगुण कर्ममें), उत (और) तमः तु (किन्तु तम) ज्ञानं आवृत्य (ज्ञानको आवृत करके) प्रमादे सञ्जयति (प्रमादमें संयुक्त करता है) ॥९॥

श्रीधर—सत्त्वादीनामेवं स्वस्वकार्यकरणे सामर्थ्यातिशयमाह—सत्त्वमिति । सत्त्वं सुखे सञ्जयति—संश्लेषयति, दुःखशोकादिकारणे सत्यपि सुखाभिमुखमेव देहिनं करोतीत्यर्थः। एवं सुखादिकारणे सत्यपि रजः कर्मण्येव सञ्जयति । तमस्तु महत्सङ्गेन उत्पद्यमानमपि ज्ञानं आवृत्य—आच्छाद्य प्रमादे सञ्जयति । महद्भिः उपदिश्यमानस्य अर्थस्य अनवधाने योजयति। उत—अपि, आलस्यादौ अपि संयोजयतीत्यर्थः ॥९॥

अनुवाद—[सत्त्वादि गुणत्रयमें जो इस प्रकार स्वस्वकार्य करनेका अतिशय सामर्थ्य है, वही बतलाते हैं]—सत्त्वगुण सुखमें संश्लिष्ट करता है, दुःखशोकादिका कारण रहने पर भी देहीको सुखाभिमुखी करता है। सुखादिका कारण रहने पर भी रजोगुण कर्ममें संश्लिष्ट करता है। परन्तु तमोगुण महत्संगसे उत्पन्न ज्ञानको आच्छादित करके देहीको प्रमादमें संयोजित करता है। महत्के द्वारा उपदिश्यमान विषयमें असावधानता तथा आलस्यादिमें भी संयोजित करता है ॥९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आत्मामें सर्वदा रहने पर अर्थात् क्रिया करने पर सम्यक् प्रकारसे सुखकी उत्पत्ति होती है, अपने आप सुखमें रहकर परमानन्द पाता है, क्रियाकी परावस्था लाभ करता है। जिस आनन्दको मुखसे व्यक्त करनेकी किसीमें क्षमता नहीं है, इसलिए वह अव्यक्त—निजबोधरूप है—दूसरे उसको नहीं समझा सकते। रजोगुणमें फलाकाङ्क्षाके साथ जो फल कुछ कालके लिए होता है, अर्थात् यह जमीन एक सौ वर्षोंके लिए मेरी है, पश्चात् किसकी होगी, यह निश्चय नहीं है—जमीन तो दस हाथ लम्बी और साढ़े तीन हाथ चौड़ी है उसके लिए दस आदमी का खून, कितना रक्तपात और कितना अर्थव्यय ? जो मुकदमा लड़ते लड़ते फकीर हो गया—पेशेदार साधु हो गया—यही तो रजोगुणका कर्म है। लोग प्रायः इसी प्रकारके कर्ममें आविष्ट हैं—और मैं कौन हूँ ? आत्मा क्या है ?—यह जन्मसे मरण पर्यन्त भूलकर भी मनमें नहीं आया—तथापि ज्ञान-ज्ञान भनभनाता रहता है कि लोगोंके सामने मैं महापुरुषके रूपमें प्रसिद्ध हो जाऊँगा, अतएव अन्यान्य वस्तुओं तथा बातोंमें आसक्तिपूर्वक प्रायः सारा समय लगा देता है। जो कुछ समय बचता है—खर्राटे लेते हुए निद्रारूपी

अनियमित अवस्थामें प्रतिदिन आवृत रहकर घोर अन्धकारमें पड़ा रहता है—अतएव प्रकाश न होनेसे अन्धकारमें रहना पड़ता है। उस प्रकाशका चेष्टापूर्वक अनुसन्धान करना उचित है। यह जान-सुनकर भी उस अन्धकारमें रहना मैं पसन्द करता हूँ, ऐसा कहा करता है—मेरे पास रुपये हैं, मैं खाता-पीता हूँ, भड़भड़ाकर हगता हूँ, मजेमें हूँ—इस प्रकार मिथ्या आमोदमें अज्ञानान्धकारमें झूठमूठ कुछ दिनोंके लिए मत्त रहकर खटमलके समान मृत्युका स्वरूप यम आकर पकड़ लेता है।—सत्त्वगुण जीवको सुखमें संश्लिष्ट करता है। आत्मामें न रह सकनेके कारण प्रकृत सुखका मुख देखनेको नहीं मिलता। क्रियाके द्वारा ही आत्मामें स्थितिरूप परमानन्द-अवस्था प्राप्त होती है। वह अव्यक्त है। मुँहसे बतलानेका कोई उपाय नहीं है। परन्तु क्रिया करना भी खूब सुखकर नहीं है, बल्कि करनेमें नीरस जान पड़ती है। तथापि जो सत्त्वप्रवणचित्त है वह क्रिया करनेमें स्वाद न मिलने पर भी प्रतिदिन नियमित रूपसे क्रिया करता रहता है। जो प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक क्रियाका अभ्यास करता है उसका मन धीरे धीरे सत्त्वगुणसे भर जाता है। दुःख-शोकका प्रकृत कारण रहने पर भी जो बलपूर्वक क्रिया करने बैठता है, उसका यदि क्रियामें थोड़ा भी मन लगा तो उसके मनसे विषय-चिन्ता दूर हो जाती है। तब एक अनामय अवस्था मनको घेर लेती है। तब मनकी निश्चिन्त अवस्थाके कारण एक प्रकारका सुख-बोध होता है। इसमें सन्देह नहीं कि अर्थ, सम्मान, भोगादि प्राप्त करने पर भी मनमें एक प्रकारके सुखका उदय होता है, परन्तु वह सुख सात्त्विक सुख नहीं है। दुःख-शोक न होकर मनमें हर्ष उत्पन्न होता है, इसलिए कुछ सात्त्विकता उसमें है। सत्त्वगुण सुखमें आबद्ध तो करता है, परन्तु यह बन्धनरज्जु उतनी दुश्छेद्य नहीं है। सत्त्वगुण सुखमें कैसे आबद्ध करता है? क्रिया करते-करते जो थोड़ी-थोड़ी शान्ति मिलती है वह इस दुःखमय जगत्में बड़ी ही दुर्लभ है। उसी शान्तिके लोभसे वह प्रतिदिन नियमित रूपसे क्रिया करने बैठता है। यह सुखका बन्धन अवश्य ही सत्त्वगुणमें है, परन्तु यह बन्धन अन्तमें बन्धन-मोचन कर देता है, इसलिए इसको मन्द नहीं कहा जा सकता।

रजोगुणका बन्धन कर्ममें नियोग करना है। साधु हो गये हैं, त्यागीका वेष ले लिया है, फिर भी कर्मासक्ति नहीं जाती। साधारण वस्तुएँ जिनकी उपेक्षा करनेसे भी काम चलता है, उनके लिए महीनेमें बीसों बार अदालतकी दौड़ लगाते हैं। संन्यासीका बाना धारण करने पर भी विषय-भोगकी ओर खूब आकर्षण है। यदि कोई कुछ कहता है तो समझा देते हैं कि राजा जनकके समान वह विषय-भोग कर रहे हैं। इसीसे आज-कल घर-घर राजा जनककी बाढ़से लोग अत्यन्त विपन्न हो रहे हैं। जो लोग धनी हैं वे साधुसङ्ग करने पर भी अपने धन-मदकी दुर्गन्धसे लोगोंको व्याकुल कर देते हैं। रुपया-पैसा तो काफी है, सांसारिक वस्तुओंका अभाव भी नहीं है, पेन्शन मिल रही है—फिर भी कुछ भगवच्चर्चा करने या साधन करनेकी ओर कोई ध्यान नहीं है। वृद्ध अवस्थामें भी कूड़ा-करकटमें सने रहनेकी अभिलाषा अतिमात्रामें विद्यमान है। ये सारे रजोगुणके खेल हैं। रजोगुण जीवको इसी प्रकार आबद्ध करता है। तमोगुण और भी अद्भुत है। वह केवल

कर्त्तव्य-कर्मके अकरण-जनित प्रमादमें जीवको संश्लिष्ट करता है। कुछ समझता न हो, ऐसी बात नहीं है। खूब विचार-शक्ति भी है, परन्तु इतना आलसी है, इतना निद्रालु है कि सत्पथमें जानेकी इच्छा होते हुए भी नहीं जा सकता। संभवतः सत्सङ्गके कारण विवेक और वैराग्य भी है, भगवान्‌की ओर मन भी जाता है, परन्तु साधनके लिए उतनी देर आसन पर कौन बैठा रहे! साधन करते समय किसीने आकर भूतकी कहानी सुनाना शुरू कर दिया तो कान लगाकर उसे ही सुनने लगा। इस प्रकार दुर्लभ समय प्रमादमें, आलस्यमें, वृथा कार्यमें बीत जाता है। ये सारे ही तमोगुणके खेल हैं। अविद्याकी मात्रा इस तमोगुणमें ही अधिक देखी जाती है। पागल जैसे मलपिण्डके कुत्सित भावका अनुभव नहीं कर सकता, उसी प्रकार तमोगुणी अज्ञान-अन्धकारमें आवृत होकर अपने प्रमादजनित दुःखकी अवस्थाका अनुभव नहीं कर सकता। पश्चात् अचानक एक दिन मृत्यु आकर उसे लोकान्तर ले जाती है ॥९॥

(दो गुणोंका अभिभव और एकका प्राबल्य)

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) सत्त्वं (सत्त्वगुण) रजः तमः च (रजोगुण और तमोगुणको) अभिभूय (अभिभूत करके) भवति (उद्भूत या प्रबल होता है) रजः (रजोगुण) सत्त्वं तमः च (सत्त्व और तमोगुणको) [अभिभूत करके] तथा (और) तमः (तमोगुण) सत्त्वं रजः एव (सत्त्व और रजोगुणको) [अभिभूत करके प्रबल होता है] ॥१०॥

श्रीधर—तत्र हेतुमाह—रज इति। रजस्तमश्चेति गुणद्वयं अभिभूय तिरस्कृत्य सत्त्वं भवति—अदृष्टवशात् उद्भवति, ततः स्वकार्ये सुखज्ञानादौ संयोजयतीत्यर्थः। एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेति गुणद्वयमभिभूय उद्भवति। ततः स्वकार्ये तृष्णाकर्मादौ संयोजयति। एवं तमोऽपि सत्त्वं रजश्च उभौ अपि गुणौ अभिभूय उद्भवति। ततश्च स्वकार्ये प्रमादालस्यादौ सञ्जयतीत्यर्थः ॥१०॥

अनुवाद—[इसका हेतु क्या है, यह बतलाते हैं]—रजः और तमोगुणको तिरस्कृत करके सत्त्वगुण उद्भूत होता है अर्थात् जीवके अदृष्टवश उत्पन्न होता है। तदनन्तर स्वकार्य सुख और ज्ञानादिमें जीवको संयोजित करता है। सत्त्व और तमोगुणको अभिभूत करके रजोगुण उत्पन्न होता है और स्वकार्य तृष्णा और कर्मादिमें जीवको संयुक्त करता है। तमोगुण भी सत्त्व और रजः दोनोंको अभिभूत करके उत्पन्न होता है और स्वकार्य प्रमाद और आलस्यमें देहीको संयुक्त करता है ॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पहले एकको मारा—मारकर दुःख करने लगा, इस प्रकार रजः और तमोगुणसे आवृत होकर सत्त्वगुणावलम्बी हो गया अर्थात् काशीमें आकर ब्रह्मचारी बन गया—मारकर हाय-हाय की—रजोगुणसे सत्त्वगुणमें आया, फिर कहने लगा कि हाय-हाय

करनेसे क्या होगा—मारा है ठीक किया है—सत्त्वगुणसे तमोगुणमें आया, फिर सोचने लगा कि यह काम अच्छा नहीं किया—फिर तमोगुणसे सत्त्वगुणमें आया, अब जिसको मारा था उसकी तरफके लोग फिर लड़ाई करने आये—अतएव सत्त्वगुणसे पुनः रजोगुणमें आया—इस प्रकारके तालपत्रके सिपाहीको यमराज एक फूँक यानी निःश्वासमें उड़ा ले जाते हैं।—तीनों गुण एक ही समय कार्य नहीं कर सकते। एक गुणके प्रबल होने पर दूसरे दो अभिभूत अवस्थामें रहते हैं, परन्तु नष्ट नहीं होते। ये गुण सब अवस्थाओंमें ही मिले हुए रहते हैं। सत्त्वगुणका उदय तभी कह सकते हैं, जब सत्त्वगुण प्रबल होकर सिर ऊँचा किये खड़ा हो जाय और अन्य दोनों अभिभूत भावमें रहें। जो लोग अपने प्रति लक्ष्य रखते हैं उनकी समझमें आ जाता है कि कौन-सा गुण कब सिर पर सवार है। जो साधनाभ्यासमें मनको नहीं लगाये रहते उनको गुण अपने इच्छानुसार नाच नचाते हैं। इसीसे एक ही आदमीमें कभी खूब सात्त्विक भाव, कभी राजसिक भाव और कभी तामसिक भावका उदय होते देखते हैं। उस भावको देखकर समझ सकते हैं कि उसमें कौन गुण इस समय खेल करता है। यह पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि श्वासकी गति देखने पर भी इसका पता लग सकता है।

परन्तु क्या ये गुण स्वेच्छापूर्वक आकर देही पर आक्रमण करते हैं?—ऐसी बात नहीं है। यह होता है जीवके पूर्वकर्म या अदृष्टके वश। एक बहुत ही भला आदमी बैठा है, अचानक उनके भीतर भूत क्रोधित हो उठा और तत्काल मन तमोगुणसे अभिभूत हो पड़ा। ये सारी गुण-क्रियाएँ पूर्व कर्म-सूत्रको पकड़ कर कभी-कभी देहीको व्याकुल कर देती हैं। बाहरसे कोई कारण ढूँढ़े नहीं मिलता, फिर भी मन कभी आनन्दित होता है और कभी विषादित। यही रजोगुणजनित विक्षिप्त भाव है।

इसी प्रकार साधारण लोग स्रोतमें पड़े हुए तृणके समान गुण-कर्मके द्वारा अभिभूत होते हैं। परन्तु साधक पुरुष इस प्रकार प्रमादग्रस्त नहीं होते। वे सदा ही प्राणमें लक्ष्य रखते हैं। इसलिए कोई गुण स्वाभाविक रीतिसे प्रबल होने पर भी उनको एकबारगी अभिभूत नहीं कर सकता। किसी गुणको प्रश्रय देने पर वह अतिमात्रामें देहीको जकड़ लेता है। इसलिए गुणके प्रति या प्राणके प्रति लक्ष्य रखना आवश्यक है। जो अलस हैं वे यदि अपने इस तमोगुणके प्रति उदासीनता दिखलाते हैं तो उनको वह तमोगुण इस प्रकार आक्रा त करेगा कि वह गुण मानो उसका स्वाभाविक जान पड़ेगा, उसके अन्तःकरणमें मानो वह डेरा जमाये दीख पड़ेगा। इस प्रकार सभी गुण प्रबल हो सकते हैं। जीव अभ्यासवश जिन-जिन भावोंमें उनको प्रश्रय देगा, वे भी उनके समान ही प्रबल या दुर्बल भावमें देहीको आक्रान्त करेंगे ॥१०॥

(गुणोंकी वृद्धिके चिह्न)

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

अन्वय—यदा (जब) अस्मिन् देहे (इस देहमें) सर्वद्वारेषु (सारे इन्द्रियद्वारों पर) ज्ञानं प्रकाशः (ज्ञानरूप प्रकाश) उपजायते (आविर्भूत होता है) तदा उत (तभी) सत्त्वं विवृद्धं (सत्त्वगुण विशेषरूपसे वृद्धिको प्राप्त है) इति विद्यात् (यह जानना) ॥११॥

श्रीधर—इदानीं सत्त्वादीनां विवृद्धानां लिङ्गानि आह—सर्वद्वारेषु इति त्रिभिः। अस्मिन् आत्मनो भोगायतने देहे सर्वेषु अपि द्वारेषु—श्रोत्रादिषु यदा शब्दादिज्ञानात्मकः प्रकाश उपजायते—उत्पद्यते, तदा अनेन प्रकाशलिङ्गेन सत्त्वं विवृद्धं विद्यात्—जानीयात्। उत-शब्दात् सुखादिलिङ्गेनापि जानीयात् इत्युक्तम् ॥११॥

अनुवाद—[अब सत्त्वादि गुणोंकी विशेषरूपसे वृद्धिके चिह्न तीन श्लोकोंमें कहते हैं]—आत्माकी इस भोगायतन देहके श्रोत्रादि द्वारोंमें जब शब्दादि ज्ञानमय प्रकाश उत्पन्न होता है, तब इस प्रकाश-चिह्नके द्वारा जानना चाहिए कि सत्त्वगुण विशेष रूपसे वृद्धिको प्राप्त है। 'उत' शब्दसे सुखादि चिह्नोंके द्वारा भी सत्त्वगुण वृद्धिको प्राप्त हुआ है, यह जानना चाहिए ॥११॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस देहकी सारी इन्द्रियोंमें लक्ष्य करने पर आत्माका प्रकाश गुरुवाक्यके द्वारा उत्पन्न हो सकता है। वह क्रिया स्वरूप ज्ञान है, जो गुरुवक्त्रगम्य है। वही विद्या विद्या है और सब अविद्या है अर्थात् वही जानना जानना है, और सब अज्ञता है। उस क्रियाकी वृद्धि करना ही सत्त्वगुणमें रहना है।—जिस समय जो गुण वृद्धिको प्राप्त होता है, उस समय उस गुणका कैसा चिह्न दीख पड़ता है, इसी विषयको भगवान बतलाते हैं। जब सत्त्वगुण वृद्धिको प्राप्त होता है तो सारे इन्द्रिय-द्वार सात्त्विक भावसे प्रकाशित हो जाते हैं। तब जो ज्ञान-प्रवाह चलता है, उसमें कोई भ्रम-प्रमाद नहीं रहता, जिसका जो यथार्थ स्वरूप है वही प्रकाशित होता है। सत्त्वगुणशाली सात्त्विक पुरुषकी बातचीत, भाव-भंगिमा आदिमें भी सात्त्विकताका चिह्न प्रकट होता है। तब उसके मुखसे ऐसी बात नहीं निकलती या उसका मन ऐसा कुछ मनन नहीं कर पाता, जो सात्त्विकताका विरोधी हो या इन्द्रियादिके लिए उत्तेजक या अवसादजनक हो। तब साधक इस उपनिषद्-कथित प्रार्थना-वाक्यकी सफलता अपने भीतर समझ पाता है—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

"हे देवगण! यज्ञ-परायण होकर हम कान द्वारा उत्तम विषयोंको श्रवण करते रहें, चक्षुद्वारा उत्तम विषय दर्शन करते रहें।" सत्त्वगुणके प्रवृद्ध होने पर कर्ण ऐसे शब्द सुन पाते हैं, जिनको सुन लेने पर मनका बहिर्मुख भाव स्वतः ही तिरोहित हो जाता है। केवल यही बात नहीं, अशब्दका शब्द, मुरजमुरलीकी तान सुनकर मनः प्राण विमोहित हो उठते हैं। बाह्य दर्शन नहीं रहता, अन्तश्चक्षु खुल जाता है। साधक न जाने कितने अपूर्व दृश्योंको देखते हुए सारे बाह्य दृश्योंको भूल जाता है। ऐसी पवित्र सुगन्धका उदय होता है, जिससे नासिका पवित्र गन्धसे

आमोदित हो उठती है। जिह्वामें ऐसा रसास्वादन होने लगता है कि उस रसकी तुलना बाह्य रससे नहीं की जा सकती। इस प्रकार इन्द्रिय-द्वारों पर दिव्य भाव फूट उठते हैं। मन इतना स्थिर हो जाता है कि वह विक्षेपशून्य शान्त चित्ताकाश शरत्-कालीन निरभ्र स्वच्छ आकाशके समान सुनिर्मल श्यामल शोभासे उत्फुल्ल हो उठता है। ऐसी अवस्थामें यदि कोई गाली भी देता है तो बुरा नहीं लगता। कोई सर्वस्व ले ले, तो भी कोई क्षति नहीं जान पड़ती। सुषुम्नामें जब प्राणवायु प्रवाहित होती है, तभी यह अवस्था होती है। इस अवस्थामें जो जाना जाता है वही असली विद्या या ज्ञान है, और सब अज्ञान है। जो जितना ही मन लगाकर क्रिया करता है, उसका सत्त्वगुण उतना ही वृद्धिको प्राप्त होता है। इसीसे कबीर कहते हैं कि भगवान्को पानेके लिए इस शरीरको जलाकर स्याही बनाओ अर्थात् खूब परिश्रम करो और उसी मसीसे रामका नाम लिखकर भेजो। इस प्रकार जो आठों पहर लगा रहता है, वह भगवान्के प्रेमास्वादनके नशेमें उन्मत्त हो जाता है। कबीर और भी उत्साहके साथ कहते हैं—

प्रेम पियाला भरि पिया कबिरा रटि गुरुज्ञान।
दिया नगारा शब्दका, लाल खड़ा मैदान॥

कबीर कहते हैं कि क्रिया करके क्रियाकी परावस्थारूप प्रेमप्याला भरकर पीयो जिससे देह-इन्द्रिय-मन-प्राण सब प्रेममें भरपूर हो उठे। इस प्रकार गुरुप्रदत्त साधनाको दिनरात रटते रहो, तब तुम अनेक अपूर्व सुन्दर दृश्य, अनेक अद्भुत व्यापार देख सकोगे। जैसे राजाके आने पर उसके आगमनके चिह्नस्वरूप नाना प्रकारके सुस्वर-संयुक्त बाजे बजने लगते हैं, उसी प्रकार इस देहके भीतर ॐकारके विविध नाद झङ्कृत होने लगेंगे और तब देखोगे कि तुम्हारा जो सर्वस्व लालमणि है वह मैदानमें—चिदाकाशके प्रान्तरमें अपरूप दिव्य वेशभूषासे सज कर तुम्हारी चिरदिनकी आशा सफल कर रहा है॥ ११॥

(रजोगुणकी वृद्धिके चिह्न)

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ १२॥

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ!) लोभः (परद्रव्य-ग्रहणकी इच्छा) प्रवृत्तिः (सर्वदा कार्यमें लगे रहना) कर्मणां आरम्भः (कर्ममें सतत उद्यम) अशमः (अशान्ति या अस्थिरता या उपशमरहित हर्षरागादि प्रवृत्ति) स्पृहा (सब वस्तुओंको पानेकी तृष्णा) एतानि (ये सारे चिह्न) रजसि विवृद्धे (रजोगुणकी वृद्धि होने पर) जायन्ते (उत्पन्न होते हैं)॥ १२॥

श्रीधर—किञ्च—लोभ इति। लोभः धनाद्यागमे बहुधा जायमानेऽपि पुनः पुनः वर्द्धमानोऽभिलाषः। प्रवृत्तिः—नित्यं कुर्वद्रूपता, कर्मणामारम्भः महागृहादिनिर्माणोद्यमः। अशमः—इदं कृत्वा इदं करिष्यामीत्यादि-सङ्कल्प-विकल्पानुपरमः। स्पृहा—उच्चावचेषु

दृष्टमात्रेषु वस्तुषु इतस्ततो जिघृक्षा। रजसि विवृद्धे सति एतानि लिङ्गानि जायन्ते। एभिः लिङ्गैः रजोगुणस्य विवृद्धिं जानीयादित्यर्थः॥ १२॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—लोभ—नाना प्रकारसे धनादिका आगम होने पर भी पुनः पुनः उसकी वृद्धि करनेकी अभिलाषा। प्रवृत्ति—सदा कर्ममें लगे रहना। कर्मोंका आरम्भ—महल-अट्टालिका आदिके निर्माणका उद्यम। अशम—यह करके वह करूँगा इत्यादि निरन्तर सङ्कल्पविकल्पका अशान्त भाव। स्पृहा—वस्तुको देखते ही, चाहे वह उत्तम हो या नहीं, उसके संग्रहकी इच्छा। रजोगुणकी वृद्धि होने पर ये सारे चिह्न उत्पन्न होते हैं अर्थात् इन सब चिह्नोंके द्वारा जानना चाहिए कि रजोगुणकी वृद्धि हो गयी है॥ १२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—किसी विषयमें इच्छापूर्वक प्रकृष्टरूपमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करते हुए तद्गतचित्त होनेके पूर्व क्षणका नाम लोभ है, प्रवृत्ति—प्रकृष्ट रूपसे उस अर्थमें सदा सर्वदा तद्रूप होकर मनको उसमें ही रखनेका नाम प्रवृत्ति है; किसी वस्तुको अच्छी तरह आँखसे देखकर आसक्तिपूर्वक अचानक किसी कामके करनेका नाम आरम्भ है। फलाकाङ्क्षाके साथ किसी कर्मको करनेका नाम कर्म है। सम्यक् प्रकारसे इच्छारहित न होकर अर्थात् इस द्वार पर देखता हूँ फिर दूसरे द्वार पर जाऊँगा अर्थात् मुन्सिफकी अदालत, छोटी अदालत, बड़ी अदालत इत्यादि। ये सब रजोगुणके कर्म हैं, रजोगुण-वृद्धिके कर्म हैं।—रजोगुणकी वृद्धि होने पर कौन-कौन से चिह्न उपस्थित होते हैं, यही भगवान् बतलाते हैं। (१) लोभ—किसी वस्तुको देखते ही उसको पानेके लिए आसक्तिपूर्वक लालायित रहना—बहुत धनागम होने पर भी और अधिक पानेकी इच्छा, जो कुछ सामने आवे उसको ही संग्रह करके घरमें डाल रखनेकी इच्छा। (२) प्रवृत्ति—सदा ही कुछ न कुछ लेकर व्यस्त रहना। जिसमें एक बार मन लग गया उसीमें मनको लगाये रखना। अहा! उसका गहना कैसा है। अहा! उसका घर कैसा है। अहा! कैसा सुन्दर उसका उद्यान है—इन सब बातोंकी सदा मनमें जल्पना करते रहना तथा इन्हीं सब विषयोंके संग्रहमें दिन-रात परिश्रम करना। (३) कर्मारम्भ—बड़े-बड़े महल-अट्टालिका आदिके निर्माणमें उद्योग, अपने पास बहुत कुछ होने पर भी अपने अधिकारकी वृद्धिके लिए सतत उद्योग। (४) अशम—मनमें शान्ति नहीं है, सर्वदा मनमें सङ्कल्प-विकल्पकी तरङ्गें उठती रहती हैं, मुकदमा करना, कभी हारना, कभी जीतना, हारने पर फिर ऊँची अदालतमें जानेकी इच्छा इत्यादि। (५) स्पृहा—द्रव्य, भूमि, धन, स्त्री सब कुछ मुझे हो, इस प्रकार मन ही मन बकते रहना।

ये सारे रजोगुणकी वृद्धिके लक्षण हैं। इड़ामें श्वास प्रवाहित होने पर मनकी ऐसी ही अवस्था होती है॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥१३॥

अन्वय—कुरुनन्दन (हे कुरुनन्दन!) अप्रकाशः (आवरण-ज्ञानका अभाव) अप्रवृत्तिः च (कर्ममें अनुद्यम, आलस्य) प्रमादः (अनवधानता, कर्त्तव्यकी विस्मृति)

मोहः एव च (तथा मोह, आच्छन्न भाव, बुद्धिका विपर्यय) एतानि (ये सब) तमसि विवृद्धे (तमोगुणकी वृद्धि होने पर) जायन्ते (उत्पन्न होते हैं) ॥१३॥

श्रीधर—किञ्च, अप्रकाश इति। अप्रकाशः—विवेकभ्रंशः, अप्रवृत्तिः अनुद्यमः, प्रमादः कर्त्तव्यार्थानुसन्धानराहित्यम्, मोहः मिथ्याभिनिवेशः तमसि विवृद्धे सति एतानि लिङ्गानि जायन्ते। एतैः तमसो वृद्धिं जानीयादित्यर्थः ॥१३॥

अनुवाद—(और भी कहते हैं) अप्रकाश—विवेकभ्रंश, अप्रवृत्ति—अनुद्यम, प्रमाद—कर्त्तव्य विषयमें अनुसन्धानका अभाव, मोह—मिथ्या अभिनिवेश, तमोगुणकी वृद्धि होने पर ये सारे चिह्न प्रकाशित होते हैं। इन चिह्नोंसे जानना चाहिये कि तमोगुणकी वृद्धि हो गयी है ॥१३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—दूसरी ओर आसक्ति-पूर्वक दृष्टि करनेसे आत्मातिरिक्त तमोगुणमें रहते हुए, अन्य प्रवृत्ति भली-भाँति आसक्ति-पूर्वक तद्गत-चित्त होकर अर्थात् वही हो जाना प्रकृष्टरूपसे उन्मत्त होकर तथा अपने आप उसके भीतर प्रवेश करके मग्न रहना, ये सब तमोगुणकी वृद्धिके कर्म हैं।—तमोगुणकी वृद्धि होने पर अर्थात् पिङ्गलामें श्वास प्रवाहित होने पर जो लक्षण प्रकाशित होते हैं उन्हें बतलाते हैं। तब सब कुछ अप्रकाश होता है, ज्ञानकी बात सुनाने पर भी सिरमें नहीं घुसती। जन्म-जरा-मरण-रूप भयके कारणोंके होते हुए भी उनके प्रतिकारमें प्रवृत्त न होना, मनमें किसी प्रकारकी विवेक-बुद्धिका उदय ही न होना। शास्त्र, गुरुवाक्य सुनकर भी उसके अनुष्ठानमें उत्साह न होना। समयपर कर्त्तव्यानुसार साधनादि कर्मोंको भूल जाना, मोहवश मद्यपानादि अनर्थोंमें प्रवृत्त होना। विपरीत बुद्धि—जो करनेसे कल्याण होता है, उसे न करना। निद्रा, आलस्य, लेटे पड़े रहना, कदापि क्रिया करनेकी इच्छा न होना। जब ये सब वृत्तियाँ स्फुरित होती हैं, तब समझना चाहिए कि तमोगुणकी वृद्धि हो गयी है ॥१३॥

(मृत्युकालमें गुणत्रयकी वृद्धिके विशेष फल)

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥१४॥

अन्वय—यदा तु (जब ही) सत्त्वे प्रवृद्धे (सत्त्वगुणकी वृद्धिमें) देहभृत् (देही) प्रलयं याति (मृत्युको प्राप्त होता है) तदा (तब) उत्तमविदान् (उत्तम ज्ञाताओंके) अमलान् लोकान् (निर्मल लोकोंको) प्रतिपद्यते (प्राप्त होता है) ॥१४॥

श्रीधर—मरणसमय एव विवृद्धानां सत्त्वादीनां फलविशेषमाह—यदेति द्वाभ्याम्। सत्त्वे प्रवृद्धे सति यदा जीवो मृत्युं प्राप्नोति तदा उत्तमान् हिरण्यगर्भादीन् विदन्ति—उपासते इति उत्तमविदः तेषां ये अमलाः प्रकाशमयाः लोकाः सुखोपभोगस्थानविशेषाः तान् प्रतिपद्यते प्राप्नोति ॥१४॥

अनुवाद—[मृत्युकालमें वृद्धिको प्राप्त सत्त्वादि गुणोंके विशेष फल दो श्लोकोंमें बतलाते हैं]—सत्त्वगुण प्रवृद्ध होने पर यदि जीव मृत्युको प्राप्त होता है तो वह उत्तमविद् लोगोंके अर्थात् उत्तम हिरण्यगर्भादिकी उपासना करनेवालोंके जो अमल अर्थात् प्रकाशमय लोक हैं उन सुखभोगके स्थानोंको प्राप्त करता है ॥

[उत्तमविदां महदादितत्त्वविदां (महदादि तत्त्वोंके ज्ञाताओंके)—शंकर] ॥१४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तब सत्त्वगुणमें प्रकृष्टरूपसे वृद्धि होगी, जब सब कुछ प्रकृष्टरूपसे क्रियाकी परावस्थामें रहने पर लय हो जायगा—तब जिसको उत्तम कहते हैं अर्थात् कूटस्थ ब्रह्म ब्रह्माण्डमें ब्रह्मलोक गमन करके—लोकमें रहता है—जहाँ कोई नहीं, प्रकृतिका मल नहीं है अर्थात् निर्मल ब्रह्मपदमें रहता है।—पिङ्गलामें जब प्राणप्रवाह रहता है, तब चित्त मोहयुक्त हो जाता है। उस समय देह-त्याग होने पर भगवत्स्मरण नहीं होता। अतएव उसकी सद्गति भी नहीं होती, यह अगले श्लोकमें बतलावेंगे। परन्तु सुषुम्नामार्गमें प्राण-प्रवाह चलते समय जिसका देहत्याग होता है, उसका अवश्य भगवच्चिन्तनमें देहत्याग होता है। सुषुम्नामें प्राणकी स्थिति जितने अधिक समय तक होती है उतना ही चित्तमें सत्त्व-भावका उदय होता है। इस स्थितिके समयमें विशेष वृद्धि होने पर यदि मृत्यु होती है तो वह मृत्यु क्रियाकी परावस्थामें होती है। वह अमल ब्रह्मस्थान है, उसमें प्रकृतिकी मैल कुछ नहीं होती। इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नाके अतीत जो गुणवर्जित स्थान है, वही ब्रह्मपद है। उस ब्रह्मपदमें रहकर साधक ब्रह्मरूप हो जाता है। कोई कोई कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि हिरण्यगर्भके ही रूप हैं। जो इनके उपासक हैं वे सगुण उपासक हैं। वे मृत्युके उपरान्त ब्रह्मा, विष्णु और शिवादिके लोकोंको प्राप्त होते हैं। जो निर्गुणके उपासक हैं उनको अन्य किसी लोक-लोकान्तरमें गमन करनेका प्रयोजन नहीं होता। वे प्राणविलयके साथ-साथ यहाँ ही सद्यमुक्तिको प्राप्त होते हैं। कूटस्थ-ज्योतिका दर्शन करते-करते जिनका देह-विलय होता है, वे प्रकृतिके परपार जाकर निर्मल ब्रह्मलोकको उपनीत होते हैं। परावस्थामें रहते-रहते जिनका देह-विलय होता है, उनकी सद्यमुक्ति होती है—"अत्र ब्रह्म समश्नुते" ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढ़योनिषु जायते ॥१५॥

अन्वय—रजसि (रजोगुणकी वृद्धिके समय) प्रलयं गत्वा (मृत्यु होने पर) कर्मसङ्गिषु (कर्मासक्त मनुष्यलोकमें) जायते (जन्म होता है) तथा (उसी प्रकार) तमसि (तमोगुणकी वृद्धिमें) प्रलीनः (मृत पुरुष) मूढ़योनिषु (पशु आदि योनियोंमें) जायते (जन्म ग्रहण करता है) ॥१५॥

श्रीधर—किञ्च, रजसीति। रजसि प्रवृद्धे सति मृत्युं प्राप्य कर्मासक्तेषु मनुष्येषु जायते। तथा तमसि प्रवृद्धे सति प्रलीनो—मृतो मूढ़योनिषु पश्वादिषु जायते ॥१५॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—रजोगुणकी वृद्धिके समय मृत्यु प्राप्त होने पर कर्मासक्त मनुष्यलोकमें जन्मग्रहण होता है और तमोगुणकी वृद्धिके समय मृत व्यक्ति पश्वादि मूढ़ योनिमें जन्म लेता है ॥१५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—रजोगुणमें जब जाता है प्रकृष्टरूपसे लीन होकर, तब फलाकाङ्क्षाके साथ कर्म करता है—और जब तमोगुणमें प्रकृष्टरूपसे लीन होता है, तब मूर्खके समान अवस्था प्राप्त होती है—जैसे बुद्धू!! चैतन्य बुद्धू (ब्रह्म) ब्रह्म-लम्पट। तात्पर्य यह कि—सब जानता है, फिर भी नहीं जानता। अचैतन्य बुद्धू (ब्रह्म) वेश्या-लम्पट—"कुछ भी नहीं जानता, फिर भी कहता है कि सब जानता हूँ।"—कर्मासक्ति ही रजोगुणका चिह्न है। इस अवस्थामें जब मनुष्य रहता है तब फलकी प्राप्तिके लिए ही कर्म करता है। इस अवस्थामें मनुष्यका देहान्त होने पर केवल उसकी देहका ही अस्तित्व लुप्त होता है, क्रिया प्रकट करनेका यन्त्र नष्ट हो जाता है। परन्तु कर्मकी वासनाका आश्रय मन रहता है। देहके नष्ट होने पर भी सूक्ष्म देह-स्थित मनकी वासना नष्ट नहीं होती। जीव जब पुनः इस कर्मक्षेत्र पृथिवी पर आता है तो वही मन और वासना लेकर आता है। नवीन देह धारण करते समय उसकी देह-प्रकृति उसकी पूर्व वासनाओंके अनुरूप ही होती है, अतएव जिसमें अधिक कर्मासक्ति होती है, उसको फिर मनुष्य-योनि ही प्राप्त होती है। कर्म करनेकी देह यह मनुष्य-देह ही है। देहान्तके समय तमोगुणकी अधिकता रहने पर अर्थात् काम-क्रोध-लोभादिके अधिक मात्रामें होने पर, उन वृत्तियोंको चरितार्थ करनेके लिए जीवको जो देह मिलती है, वह बिल्ली, कुत्ते, बकरी, भैंस, बाघ, सर्पादिके समान ही होती है, अन्यथा उन वृत्तियोंकी चरितार्थता कैसे होगी। जीवितावस्थामें जिनका रजोगुण प्रबल होता है वे सदा-सर्वदा फलाकाङ्क्षी होकर नाना प्रकारके कर्मोंमें अपनेको लिप्त रखते हैं। तमोगुणके प्रबल होने पर मानो उनकी शुद्ध बुद्धि लुप्त हो जाती है और उनके मनोभाव प्रचण्ड मूर्खके समान हो जाते हैं। सबके भीतर वही एक नारायण हैं, तथापि गुणभेदसे कितना वैषम्य दीखता है! रङ्गीन काँचके भीतरसे शुद्ध वस्तु देखने पर जैसे वह काँचके रङ्गसे अनुरञ्जित प्रतीत होती है उसी प्रकार नित्य निर्मल, अविकारी आत्माको प्रकृतिके विभिन्न गुणोंके भीतरसे देखने पर वह उन गुणोंसे रञ्जित-सा दीखता है। वस्तुतः उसके निजी शुद्ध भावमें किसी गुणकी व्यञ्जना नहीं होती। इसीसे शुद्ध चैतन्य ब्रह्म—मूर्ख, चोर, अज्ञ, लम्पट-सा जान पड़ता है। परन्तु ब्रह्म सब कुछ जानकर भी मानो कुछ नहीं जानता और साधारण लोग कुछ भी नहीं जानते, फिर भी कहते हैं कि सब कुछ जानते हैं ॥१५॥

(सात्त्विक, राजस और तामस कर्मोंका फल)

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

अन्वय—सुकृतस्य कर्मणः (सुकृत या सात्त्विक कर्मका) फलं (फल) निर्मलं सात्त्विकं (निर्मल और सात्त्विक) आहुः (तत्त्वदर्शी लोग कहते हैं), तु (किन्तु)

रजसः फलं (रजोगुणका फल) दुःखं (दुःख है)। तामसः फलं (और तामसिक कर्मोंका फल) अज्ञानं (अज्ञान है) ॥ १६ ॥

श्रीधर—इदानीं सत्त्वादीनां स्वानुरूपकर्मद्वारेण विचित्रफलहेतुत्वमाह—कर्मण इति। सुकृतस्य—सात्त्विकस्य कर्मणः सात्त्विकं सत्त्वप्रधानं निर्मलं प्रकाशबहुलं सुखं फलमाहुः कपिलादयः। रजसः इति—राजसस्य कर्मणः इत्यर्थः। कर्मफलकथनस्य प्रकृतत्वात्। तस्य दुःखं फलमाहुः। तमसः इति। तामसस्य कर्मणः इत्यर्थः। तस्य अज्ञानं—मूढत्वं फलमाहुः। सात्त्विकादिकर्मलक्षणं च नियतं सङ्गरहितमित्यादिना अष्टादशेऽध्याये वक्ष्यति ॥ १६ ॥

अनुवाद—[अब सत्त्वादि गुणोंके स्वानुरूप कर्मद्वारा जो विचित्र फल होते हैं, उनके विषयमें कहते हैं]—सात्त्विक कर्मोंका सत्त्वप्रधान, निर्मल अर्थात् प्रकाश-बहुल सुखरूप फल होता है, यह कपिल आदि ऋषि कहते हैं। रजःशब्दका अर्थ है राजस कर्म, उसका फल ऋषियोंने दुःख बतलाया है। तमःशब्दका अर्थ है तामस कर्म, उसका फल अज्ञान अर्थात् मूढ़त्व है। सात्त्विकादि कर्मोंका लक्षण "नियतं सङ्गरहितं" इत्यादि श्लोकद्वारा अठारहवें अध्यायमें कहेंगे ॥ १६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—फलाकाङ्क्षारहित कर्म जो मनको ग्राह्य होता है, वह यह क्रिया है जो गुरुवाक्य द्वारा होती है—यही सत् सुकृत है। यही सात्त्विक कर्म है इसका निर्मल फल ब्रह्म है जो क्रियाकी परावस्थामें होता है—रजोगुणका फल अर्थात् फलाकाङ्क्षाके साथ कर्म करनेसे दुःख होता है—अन्य दिशामें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करने पर, तमोगुणमें रहकर—मैं कौन हूँ यह नहीं जान सकता, अतएव अज्ञान—तमोगुणका फल है—जैसे कोई भद्र पुरुष चमारिनके घरमें जाकर अपने आपको भूल जाता है।—अत्यन्त निर्मल होनेके कारण सात्त्विक कर्मका सर्वप्रधान फल है मनकी अकपट, मलरहित अवस्था। उस समय कोई आवरण नहीं रहता। जिस कर्मके द्वारा मनका 'अहंता—ममता'-रूप आवरण कटता है, वही सात्त्विक कर्म है। इन्द्रियोंके द्वारा हम शुभ कर्म भी करें तो वह पूर्ण सात्त्विक नहीं होता। क्योंकि रजोगुण और तमोगुणके प्रवृद्ध होने पर ही अभिमानात्मक अहङ्कारकी उत्पत्ति होती है, अहङ्कारके सात्त्विक अंशके प्रवृद्ध होने पर दश इन्द्रियाँ और मन उत्पन्न होते हैं। अतएव मनके सिवा अन्य इन्द्रिय द्वारा ठीक फलाकाङ्क्षा-रहित कर्म नहीं होता। अतएव जो कर्म फलाकाङ्क्षा-रहित होगा, वह चञ्चल मनके ग्राह्य नहीं है। पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, मन और बुद्धि—इन सप्तदश अवयवों वाला लिङ्गशरीर है। यह लिङ्गशरीर सूक्ष्म वस्तु है, अतएव स्थूल देहादिसे सूक्ष्मधर्मी है। मन और प्राणरूपी यन्त्र अविरत चल रहा है। इस अनवरत कर्म करनेका परिणाम है चाञ्चल्य और अवसाद। अतएव यह सात्त्विक नहीं है। सात्त्विक कर्म तभी होता है जब प्राण और मन स्थिर होकर साधक सङ्कल्पविकल्पशून्य हो जाता है। अतएव सुकृत या सात्त्विक कर्म वही है जिसके द्वारा प्राण स्थिर होता है, और उसके साथ मन भी स्थिर हो जाता है। यह कर्म प्राणक्रिया है, यही एकमात्र मनका सात्त्विक कर्म है, इसका फल है मनका मलशून्य होना। ब्रह्म ही एकमात्र मलशून्य और पवित्र है जो क्रियाकी परावस्थामें अपने आप होता

है। ब्रह्मातिरिक्त अन्य वस्तुमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करके कर्म करने पर फलके लिए मन धुक् धुक् करता है, उससे आसक्ति उत्पन्न होती है—यही रजोगुणका फल है। तमोगुणमें आत्मविस्मृत जीव अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्यको भूल जाता है। केवल प्रवृत्तिसे संताड़ित होकर पशुके समान विषयभोगमें आसक्त होता है। यह आसक्ति अज्ञानका फल है। इसलिए तमोगुणका फल है दुःखबाहुल्य ॥ १६ ॥

(गुणत्रयके विशेष-विशेष फल)

सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

अन्वय—सत्त्वात् (सत्त्वगुणसे) ज्ञानं सञ्जायते (ज्ञान उत्पन्न होता है), रजसः (रजोगुणसे) लोभः एव च (लोभ होता है), तमसः (तमोगुणसे) प्रमाद-मोहौ (प्रमाद और मोह) अज्ञानं एव च (और अज्ञान) भवतः (होते हैं) ॥१७॥

श्रीधर—तत्रैव हेतुमाह—सत्त्वादिति। सत्त्वात् ज्ञानं सञ्जायते। अतः सात्त्विकस्य कर्मणः प्रकाशबहुलं सुखं फलं भवति। रजसो लोभो जायते, तस्य च दुःखहेतुत्वात्, तत्पूर्वकस्य कर्मणो दुःखं फलं भवति। तमसस्तु प्रमादमोहाऽज्ञानानि भवन्ति। ततः तामसस्य कर्मणः अज्ञानप्रापकं फलं भवतीति युक्तमेव इत्यर्थः ॥१७॥

अनुवाद—(इस विषयमें हेतु क्या है, यह बतलाते हैं)—सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, अतएव सात्त्विक कर्मका फल प्रकाश-बाहुल्य है। रजोगुणसे लोभ उत्पन्न होता है, लोभ दुःखका हेतु है, अतएव लोभपूर्वक कर्मका फल दुःख है। तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञानकी उत्पत्ति होती है, अतएव तामस कर्मका फल अज्ञान-प्रापक है ॥१७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सत्त्वगुणमें रहने पर अर्थात् क्रिया करने पर क्रियाकी परावस्थामें अपना स्थिरपद ब्रह्मज्ञान होता है। रजोगुण अर्थात् जब इड़ामें रहता है तब फलाकाङ्क्षाके साथ कर्म करके तद्गतचित्त होकर उसकी प्राप्तिकी इच्छा सब प्रकारसे करता है—इसका ही नाम योग है—पिङ्गलामें रहकर प्रकृष्टरूपसे मत्त होकर एकको मारनेमें अन्यको मारता है मोहित होकर उस वस्तुके प्रति—अपने आपको नहीं पहचानता, अतएव अज्ञान तमोगुणमें होता है।—पहले कहा गया है कि क्रिया करने पर सत्त्वगुण बढ़ता है। अतएव जो अधिक क्रिया करता है, उसका सत्त्वगुण और भी बढ़ जाता है। सत्त्वगुण है क्रियाकी परावस्थामें थोड़ी-थोड़ी स्थिति। तब सुषुम्नामें प्राण धीरे-धीरे चलता है। यह स्थिरता बढ़ने पर ही स्थिरत्वपद प्राप्त होता है। वही ब्रह्मज्ञान है। क्रियाकी परावस्था क्रमशः क्रिया करते-करते होती है। जो जैसी क्रिया करेगा, उसको वैसा ही नशा होगा। कूटस्थमें परव्योम-स्वरूपका प्रकाश होता है—वही परमाकाश है। परमाकाशका अनुभव ही ज्ञानका चिह्न है। ब्रह्मका अन्य कोई चिह्न नहीं है, वह है यह जानना ही उसका चिह्न है। अन्य साधनाओंमें जो मुक्तिक्रम है, उसकी अपेक्षा क्रिया द्वारा वह सहज-लभ्य है। सृष्टिके विकासके समय आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी होती है। क्रमपूर्वक प्रलय होने पर प्रत्येक तत्त्व अपने-अपने कारणमें लय होता है। परन्तु

क्रियाकी परावस्थामें एकसाथ प्रलय होता है, क्रमकी अपेक्षा नहीं होती। एकबारगी सब कारणोंका कारण-स्वरूप जो ब्रह्म है, वही हो जाता है। उपर्युक्त अवस्था क्रिया करके सुषुम्नामें रहनेके फलस्वरूप प्राप्त होती है। इड़ामें रहने पर विषय-तृष्णा बढ़ती रहती है और इस कारण लोभ अर्थात् विषयासक्ति खूब बढ़ जाती है। तमोगुणमें रहता है केवल प्रमाद और मोह ॥१७॥

(सत्त्वादि वृत्तिशीलके फलमें भेद)

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

अन्वय—सत्त्वस्थाः (सत्त्वगुणप्रधान लोग) ऊर्ध्वं (ऊर्ध्वलोकमें) गच्छन्ति (गमन करते हैं), राजसाः (रजोगुणप्रधान लोग) मध्ये तिष्ठन्ति (मध्यलोकमें अवस्थान करते हैं), जघन्यगुणवृत्तिस्थाः (निकृष्ट-गुण-सम्पन्न) तामसाः (तामसी मनुष्य) अधः गच्छन्ति (अधोगतिको प्राप्त होते हैं) ॥१८॥

श्रीधर—इदानीं सत्त्वादिवृत्तिशीलानां फलभेदमाह—ऊर्ध्वमिति। सत्त्वस्थाः—सत्त्ववृत्तिप्रधानाः। ऊर्ध्वं गच्छन्ति—सत्त्वोत्कर्षतारतम्यात् उत्तरोत्तरशतगुणानन्दान् मनुष्य-गन्धर्वपितृदेवादिलोकान् सत्यलोकपर्यन्तान् प्राप्नुवन्ति इत्यर्थः। राजसास्तु तृष्णाद्याकुला मध्ये तिष्ठन्ति—मनुष्यलोके एव उत्पद्यन्ते। जघन्यो—निकृष्टः तमोगुणः तस्य वृत्तिः—प्रमादमोहादिः। तत्र स्थिता अधो गच्छन्ति। तमसो वृद्धितारतम्यात् तामिस्रादिषु निरयेषु उत्पद्यन्ते ॥ १८ ॥

अनुवाद—[अब सत्त्वादि वृत्तिशील लोगोंके फलभेदके विषयमें कहते हैं]—सत्त्ववृत्तिप्रधान लोग ऊर्ध्वलोकको गमन करते हैं। सत्त्वगुणके उत्कर्ष और तारतम्यके अनुसार मनुष्य, गन्धर्व, देवलोक—यहाँ तक कि सत्यलोक तककी प्राप्ति होती है। मनुष्यलोकमें जितना सुख है, उसका सौगुना गन्धर्वलोकमें, गन्धर्व-लोकसे सौगुना पितृलोकमें, पितृलोकसे सौगुना देवलोकमें तथा देवलोकसे सौगुना सत्यलोकमें आनन्द होता है। जो लोग राजसी हैं अर्थात् तृष्णा आदिके द्वारा आकुल हैं, वे बीचमें रहते हैं अर्थात् मनुष्य-लोकमें उत्पन्न होते हैं। जघन्य अर्थात् निकृष्ट तमोगुणकी वृत्तियाँ प्रमाद और मोहादिमें स्थित पुरुष अधोलोकको गमन करते हैं। तमोगुणकी वृद्धिके तारतम्यके अनुसार तामिस्रादि निरय (नरक) में जन्म होता है ॥ १८ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रिया करते करते मस्तकके ऊपर जाता है—वहाँ जाने पर नशा होता है—वह सर्वदा आनन्द भोग करता है—लड़ाई-भिड़ाई मध्यस्थानमें बाहु द्वारा करता है—जो रजोगुणका कर्म है—और अधम क्रिया, अधःमें रहकर अधोदेशमें गमन करता है—जो तमोगुणका कर्म है—जो अत्यन्त निकृष्ट है।—सुषुम्ना-मार्गमें स्थिर स्तम्भस्वरूप वायु जो इस शरीरको धारण किये है, उसमें जो रहता है वह ब्रह्मके अणुका अनुभव करता है। पश्चात् हृदयमें, कूटस्थमें और ब्रह्मरन्ध्रमें मन और प्राणकी स्थिति प्राप्त होती है, तब सवत्र ही ब्रह्मकी उपलब्धि होती है। क्रिया न करके साधारण पुरुष

इसको लक्ष्य नहीं कर सकते। कूटस्थके भीतर एक सुन्दर ज्योतिविशिष्ट आकाशमण्डल है। प्रदीपकी लौके समान प्रकाश उस आकाशमण्डलमें जलता रहता है, उसके ही भीतर त्रिलोक हैं। पश्चात् बोध होता है कि यह सभी ब्रह्म ही है। मन लगाकर दीर्घकाल तक क्रिया करते-करते प्राण सुषुम्नामें आने-जाने लगता है। जिसकी यह अवस्था होती है, वही सत्त्वप्रधान पुरुष है। पश्चात् यह प्राण जब मस्तकमें चढ़कर स्थिर हो जाता है, तब गुणातीत अवस्था प्राप्त होती है। इसी कारण जो सुषुम्नामें रहते हैं, उनकी ऊर्ध्वगति होते-होते आज्ञाचक्रमें स्थिति होती है, पश्चात् सहस्रारमें प्रवेश होता है।

आज्ञाचक्रसे कण्ठपर्यन्त सत्त्वगुणका स्थान है। कण्ठसे नाभिपर्यन्त रजोगुणका तथा नाभिसे नीचे तमोगुणका स्थान है। साधनाके द्वारा जो कण्ठके ऊपर मन रखता है, उसका मन रजस्तमोमय क्षेत्रको पार करके सत्त्वगुणमें अवस्थान करता है। यही है सत्त्वगुणकी विवृद्धावस्था। सत्त्वगुणकी विवृद्धावस्थासे ही आज्ञाचक्र और उसके ऊपर मनकी स्थिति होने पर त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त होती है। सत्त्वगुणकी विवृद्धावस्था होने पर देहके सर्व द्वारोंसे ज्ञानका प्रकाश होता है। तब दूर-श्रवण, दूर-दर्शन तथा इच्छामात्रसे देवलोकमें देवताओंके साथ अवस्थान हो सकता है। जिसका रजोगुण प्रबल है, उसका स्थान मध्यलोकमें होता है अर्थात् वह कर्मभूमि इस जगत्में वारंवार आवागमन करता है। उसका कर्मस्थान कण्ठके नीचे (हृदयमें) रहता है। यह हृदय सदा ही धुक-धुक करता है—क्या होगा, किस प्रकार उसे आयत्त करना होगा, ये ही उसके मनोभाव हैं। हस्तादि, जिनके द्वारा साधारणतः सांसारिक जीव कर्म करते हैं, उसके कर्मके प्रधान साधन हैं। तमोगुणके अधम कार्यादि अधिकतर अधोदेशसे ही होते हैं। नाभिके नीचे नितम्ब, जघनादि प्रदेश हैं, इन स्थानोंमें कामका वास है। कामलीला आदि सारे पशुभाव इसी प्रदेशसे होते हैं। जिसका मन सर्वदा नाभिके नीचे रहता है, उस कामभोगपरायण जघन्य जीवको अधोगति प्राप्त होती है ॥१८॥

(गुणका अतिक्रमण करनेसे ही मोक्ष मिलता है)

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

अन्वय—यदा द्रष्टा (जब द्रष्टा) गुणेभ्यः (त्रिगुणसे) अन्यं कर्त्तारं (दूसरे कर्त्ताको) न अनुपश्यति (नहीं देखता है) गुणेभ्यः च (और गुणोंसे) परं (अतीत वस्तुको) वेत्ति (जानता है) तदा (तब) सः (वह जीव) मद्भावं (मेरे भाव, ब्रह्मभावको) अधिगच्छति (प्राप्त होता है) ॥१६॥

श्रीधर—तदेवं प्रकृतिगुणसङ्गकृतं संसारप्रपञ्चमुक्त्वा तद्विवेकतः (तद्व्यतिरेकन) मोक्षं दर्शयति—नान्यमिति। यदा तु द्रष्टा विवेकी भूत्वा बुद्ध्यादि-आकारपरिणतेभ्यो गुणेभ्यः अन्यं कर्त्तारं न अनुपश्यति, अपि तु गुणा एव कर्माणि कुर्वन्तीति पश्यति। गुणेभ्यश्च परं व्यतिरिक्तं तत् साक्षिणं आत्मानं वेत्ति स तु मद्भावं ब्रह्मत्वमधिगच्छति प्राप्नोति ॥१६॥

अनुवाद—[इस प्रकार प्रकृतिके गुण-सङ्गके कारण जो संसार-प्रपञ्च होता है, उसे कहकर अब तद् व्यतिरेकसे मोक्षप्राप्ति दिखलाते हैं]—जब द्रष्टा विवेकी होकर बुद्धयादिके आकारमें परिणत गुणोंसे भिन्न अन्यको कर्त्तारूपमें नहीं देखता, किन्तु गुण ही कर्म करते हैं ऐसा देखता है तथा गुणोंके अतिरिक्त उनके साक्षीरूप आत्माको जानता है, तब वह मद्भाव अर्थात् ब्रह्मत्वको प्राप्त होता है ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें जब इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना जो दूसरी ओर दृष्टि करते हैं, जिसके द्वारा आत्मामें सर्वदा दृष्टि रहती है—तब त्रिगुणातीत होकर परब्रह्ममें रहकर मेरे भाव अर्थात् एक होकर अपने आप बुद्धिके परे परा बुद्धि ब्रह्ममें गमन करता है ।—आचार्य शङ्कर कहते हैं—"पुरुषकी प्रकृतिस्थता-रूप मिथ्या ज्ञानके साथ जो जीव सम्बद्ध होता है, उसकी ही गुणत्रयमें आसक्ति होती है । त्रिविध गुणसे—मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं मूढ़ हूँ—इस प्रकारका सुख-दुःख-मोहादि बोध ही गुणत्रयके साथ पुरुषका सङ्ग है । यह सङ्ग ही पुरुषके आवागमनका कारण है । सदसद् योनियोंमें जन्म लेना आवागमन कहलाता है । यह अविद्यामूलक मिथ्या ज्ञान ही बन्धनका कारण है और सम्यग्दर्शन मोक्षका उपाय है । अतएव कहते हैं कि कार्य, कारण और विषय—इन तीन रूपोंमें परिणत गुणत्रयसे अन्य कोई कर्त्ता नहीं हो सकता । जो आदमी इस प्रकार देखता है तथा गुणसे पूर्ण पृथक् गुणोंके साक्षीको भी देखता है, वह द्रष्टा मद्भावको प्राप्त होता है ।" वस्तुतः देह-बुद्धि आदिके आकारमें परिणत गुणोंके सिवा कर्मका कर्त्ता और कोई नहीं है । गुण कर्त्ता हैं तथा उनसे स्वतन्त्र आत्मा साक्षीमात्र है, यह ज्ञान जिसका सुदृढ़ हो गया है वह भगवद्-भावको प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है । यही है "मम साधर्म्यमागताः" । ऊपर-ऊपर पोथी पढ़कर इसे जान लेनेसे कोई भगवान्की स्वरूपावस्थामें पहुँच सकता हो, ऐसी बात नहीं है । हमको संसारमें किसने जकड़ दिया है ? त्रिगुण अर्थात् इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्नामें जो प्राण-प्रवाह चल रहा है, उससे ही जीवके साथ त्रिगुणका तादात्म्य होता है, वही जीवका बहिर्दृष्टिरूप संसार बनता है । उस प्राण-प्रवाहके अन्यथा हुए बिना संसार-दृष्टि कदापि नष्ट नहीं होती । इसके लिए क्या करना होगा ? प्राणकी साधना गुरुके उपदेशके अनुसार करने पर प्राण-प्रवाह इड़ा-पिङ्गला और सुषुम्नाके अतीत अवस्थाको प्राप्त करेगा । तभी गुणातीत परब्रह्मके साथ मिलना होगा, परा बुद्धिके साथ यह बुद्धि एक हो जायगी । गुणके साथ बुद्धिका सम्बन्ध लुप्त हो जायगा, तब गुण-कार्य फिर हमें विचलित नहीं कर सकेंगे । तभी आत्मा गुणातीत रूपमें समझमें आयगा । प्राण-प्रवाहके इड़ा-पिङ्गला और सुषुम्नामें रहने पर विषयोंमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि होती है । ब्रह्मदृष्टिसम्पन्न होनेके लिए इड़ा-पिङ्गला और सुषुम्नाके द्वारा ही साधन करना होगा और इसीके द्वारा गुणातीत अवस्था भी प्राप्त होगी । इसका कौशल गुरु-मुखसे जाना जाता है । गुणातीत पुरुष गुणोंके कार्यको केवल साक्षीरूपमें देखते हैं, आत्मा भी प्रकृतिके कार्यका इसी प्रकारका द्रष्टा-मात्र है । प्राणको स्थिर करके आज्ञाचक्रके ऊपर रखने पर जगत्-कार्यमें औदासीन्य आता है ॥१६॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

अन्वय—देही (जीव) देहसमुद्भवान् (देहोत्पत्तिके बीजभूत) एतान् त्रीन् गुणान् (इन तीन गुणोंको) अतीत्य (अतिक्रम करके) जन्ममृत्युजरादुःखैः (जन्म, मृत्यु, जराके दुःखोंसे) विमुक्तः (विमुक्त होकर) अमृतं अश्नुते (मोक्ष प्राप्त करता है) ॥२०॥

श्रीधर—ततश्च गुणकृतसर्वानर्थनिवृत्त्या कृतार्थो भवति इत्याह—गुणानिति । देहाद्याकारः समुद्भवः परिणामो येषां ते देहसमुद्भवाः तान् एतान् त्रीन् अपि गुणान् अतीत्य—अतिक्रम्य, तत्कृतैः जन्मादिभिर्विमुक्तः सन्, अमृतं परमानन्दं प्राप्नोति ॥२०॥

अनुवाद—[उसके बाद सत्त्वादिगुणकृत (अर्थात् जो गुणत्रय देहादिके आकारमें परिणामको प्राप्त हुए हैं) अनर्थोंकी निवृत्तिके द्वारा मनुष्य कृतार्थ हो जाता है, यह बतलाते हैं]—देहसमुद्भवके कारणरूप गुणत्रयको अतिक्रम करके देही तत्कृत जन्म-जरा-मृत्युरूप दुःखसे विमुक्त होकर परमानन्दको प्राप्त होता है ॥२०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इन तीनों गुणोंके अतीत होकर क्रियाकी परावस्थामें रहते हैं वही महादेव जो इस देहसे उत्पन्न हुए हैं अर्थात् कूटस्थ-स्वरूप आप ही आये हैं वह स्थिरत्व-पदको प्राप्त कर जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिसे मुक्त होकर अमृतपद अर्थात् अमरपदको भोग करते हैं।—श्रीमद् आचार्य शङ्कर इस श्लोककी व्याख्यामें कहते हैं—"मायाके उपाधिभूत तीन गुणोंको अतिक्रम करके देही जीवित रहते हुए जन्म-मृत्यु-जरा-जनित दुःखोंसे मुक्त होकर अमृतपदको प्राप्त करता है। इसी प्रकारसे जीव मद्भाव अर्थात् ईश्वर-भावको प्राप्त होता है। इस देहोत्पत्तिके मूल हेतु उपर्युक्त गुणत्रय हैं।"

गुणत्रयका परिणाम यह देह है। देहको अतीत अवस्थाको प्राप्त किये बिना कोई मुक्त नहीं हो सकता। इस देहातीत अवस्थाको प्राप्त करनेके लिए गुणत्रयको अतिक्रम करना पड़ता है अर्थात् इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना-वर्जित अवस्था प्राप्त करनी पड़ती है। इसका उपाय है क्रिया। क्रिया करके क्रियाकी परावस्था प्राप्त होने पर अणुपरिमाण जीव ब्रह्मके अणुमें मिलकर अजीव ब्रह्म हो जाता है अर्थात् उसकी इन्द्रियाँ भी ब्रह्मस्वरूप हो जाती हैं। योनिमुद्रामें मणिके अणुके समान ब्रह्मका अणु कूटस्थमें प्रकाशित होता है। अतएव उस अणुस्वरूप ब्रह्मको देखकर इन्द्रियाँ निवृत्त हो जाती हैं अर्थात् विषयान्वेषणमें व्याप्रत न रहकर स्थिर भावमें रहती हैं। क्रियाकी परावस्थाका यही निदर्शन है। तब देही मद्भाव यानी ईश्वर-भावको प्राप्त होता है। वह कैसे होता है? क्रियाकी परावस्थामें मन दूसरी ओर नहीं जाता। आत्माके परमात्मामें लीन होने पर जो ऐश्वर्य (नशा) होता है, उसमें रहकर महद्ब्रह्ममें लीन होता है अर्थात् महत्तत्त्व आदिकी गति और गुणका ज्ञान होनेपर उसे भगवान् ही कहते हैं। वही जगद्व्यापक महेश्वर है। कूटस्थके भीतर नक्षत्रस्वरूप ज्योति है। वह भगवान् सर्वव्यापक है, अतएव वह सर्वगत शिव है जैसे तिलके भीतर तैल,

दधिके भीतर घृत, स्रोतमें जल, काष्ठमें अग्नि। जैसे घर्षण या पेषणके द्वारा इनको बाहर निकालते हैं, उसी प्रकार प्राणापानके घर्षणके द्वारा इस गुहास्थित पुरुषका दर्शन किया जाता है। जो प्राज्ञ (जीव) है, वही परमात्मा है। उसकी उपाधि है हृदयाकाश। क्रियाकी परावस्थामें अटके रहने पर 'अहं' नहीं रहता। इस अवस्थाको ही अन्तराकाश कहते हैं। यह अन्तराकाश ही परव्योम ब्रह्मस्वरूप है। परमात्मा शरीरमें नखाग्रसे लेकर केशपर्यन्त व्याप्त है, शरीरकी सार ज्योति है। इसके न रहने पर शरीर मृतवत् हो जाता है। उस अचिन्त्य शक्तिरूपा ज्योतिका सार वह है जो हृदयगुहामें 'अणोरणीयान्' रूपमें प्रकाशित है। यही ब्रह्माणु क्रियाकी परावस्थामें प्रविष्ट होने पर ब्रह्मस्वरूप होता है। अतएव महादेव कूटस्थ ही देहमें उत्पन्न होकर जीवरूपमें प्रकाशित होता है और क्रियाकी परावस्थामें स्थिरत्वपद प्राप्त कर जन्म-जरा-व्याधिसे मुक्त होकर विदेह अवस्था अमृतपदको प्राप्त करता है ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)—प्रभो (हे प्रभो !) कैः लिङ्गैः (किस प्रकारके लक्षणोंके द्वारा) [देही] एतान् त्रीन् गुणान् (इन तीनों गुणोंको) अतीतो भवति (अतिक्रम करता है) किमाचारः (किस प्रकारके आचारसे युक्त होता है), कथं च (और किस प्रकारसे) एतान् त्रीन् गुणान् (इन तीनों गुणोंका) अतिवर्तते (अतिक्रमण करता है) ? ॥ २१ ॥

श्रीधर—गुणान् एतान् अतीत्य अमृतं अश्नुते इत्येतत् श्रुत्वा गुणातीतस्य लक्षणं आचारं गुणात्ययोपायं च सम्यग्बुभुत्सुः अर्जुन उवाच—कैरिति। हे प्रभो ! कैः लिङ्गैः कीदृशैः आत्मनि उत्पन्नैः चिह्नैः गुणातीतो देही भवतीति लक्षणप्रश्नः। कः आचारः अस्य इति किमाचारः—कथं वर्तते इत्यर्थः। कथञ्च—केन उपायेन, एतान् त्रीनपि गुणान् अतीत्य वर्त्तते ? तत्कथय इत्यर्थः ॥ २१ ॥

अनुवाद—[इस गुणत्रयका अतिक्रमण करने पर अमृत प्राप्त होता है, यह सुनकर गुणातीतके लक्षण, उसके आचार तथा गुणत्रयके अतिक्रमणके उपायके विषयमें ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हुए] अर्जुन बोले, प्रभो ! देहीके किस प्रकारके लक्षण या चिह्नोंके द्वारा उसे गुणातीत समझा जाता है। उसका आचार कैसा होता है अर्थात् वह किस प्रकार अवस्थान करता है, किस प्रकारसे इस गुणत्रयका अतिक्रमण किया जा सकता है, यह बतलाओ ॥ २१ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरका तेज बोल रहा है—इन तीनोंके चिह्न क्या हैं ? और इनके अतीत किस प्रकार होता है ? और कहाँ रहने पर होता है ? और ये तीनों गुण किस प्रकारके हैं ? और इनमें लोग कैसे रहते हैं ? हे प्रभो ! प्रकृष्टरूपमें होते हो तुम

इस शरीरसे अर्थात् उत्तम पुरुष तुम बोलो।—जब ज्ञात हो गया कि यह गुणत्रय ही हमारे भवबन्धनका हेतु है, तब साधकके लिए भवबन्धनसे छूटनेका उपाय जाननेकी जिज्ञासा करना स्वाभाविक है। अतएव अर्जुन कहते हैं, प्रभो! जिस त्रिगुणकी ज्वालामें जीव छटपटाता हुआ भटक रहा है, उस त्रिगुणका लक्षण तुमने कहा और मैंने समझा भी। अब बतलाओ कि जन्म-मृत्युके बीज इस त्रिगुणको अतिक्रम कैसे किया जा सकता है, जो अतिक्रम करता है उसमें कौनसे लक्षण स्फुटित हो उठते हैं जिनके द्वारा उसको त्रिगुणातीतरूपमें समझा जाय। तुम यदि इनकी पहचान नहीं कह देते हो तो हम अहङ्कार वश सर्वदा भूल करते रहेंगे। गुणोंमें कैसे रहता है, गुणातीत कैसे होता है, गुणातीत होने पर उसके आचार-व्यवहार कैसे होते हैं, यह सब समझा दो प्रभो! ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)—पाण्डव (हे पाण्डव!) प्रकाशं च (प्रकाश अर्थात् ज्ञान) प्रवृत्तिं च (और कर्म-प्रवृत्ति) मोहम् एव च (और मोह) संप्रवृत्तानि (समुदित होने पर) न द्वेष्टि (जो द्वेष नहीं करता) निवृत्तानि च (तथा इनके निवृत्त होने पर) न काङ्क्षति (आकाङ्क्षा नहीं करता) ॥ २२ ॥

श्रीधर—'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इत्यादिना द्वितीयाध्याये पृष्टमपि दत्तोत्तरमपि पुनर्विशेषबुभुत्सया पृच्छतीति ज्ञात्वा प्रकारान्तरेण तस्य लक्षणादिकं श्रीभगवानुवाच—प्रकाशं चेत्यादि-षड्भिः। तत्रैकेन लक्षणमाह—प्रकाशमिति। प्रकाशञ्च—सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्निति पूर्वोक्तं सत्त्वकार्यं। प्रवृत्तिञ्च—रजःकार्यं। मोहञ्च तमःकार्यं। उपलक्षणमेतत् सत्त्वादीनाम्। सर्वाण्यपि कार्याणि यथायथं संप्रवृत्तानि—स्वतः प्राप्तानि सन्ति दुःखबुद्ध्या यो न द्वेष्टि। निवृत्तानि च सन्ति सुखबुद्ध्या न काङ्क्षति, "गुणातीतः स उच्यते" इति चतुर्थेन अन्वयः ॥ २२ ॥

अनुवाद—[द्वितीय अध्यायके ५४ वें श्लोकमें "स्थितिप्रज्ञके क्या लक्षण हैं" इत्यादि जिज्ञासाका उत्तर दिये जाने पर भी पुनः उसको विशेषरूपसे जाननेके अभिप्रायसे अर्जुन जिज्ञासा कर रहे हैं, इसलिए प्रकारान्तरसे उसका लक्षण आदि छः श्लोकोंमें श्रीभगवान् बतला रहे हैं]—प्रकाश शब्दका अर्थ है सत्त्वका कार्य, प्रवृत्ति शब्दका अर्थ रजोगुणका कार्य तथा मोह शब्दका अर्थ है तमोगुणका कार्य। गुणत्रयके उपलक्षणार्थ इनका कथन हुआ है। सत्त्वादि गुणत्रयके कार्य स्वतः उपस्थित होने पर जो दुःखबुद्धिसे द्वेष नहीं करते तथा निवृत्त होने पर सुखबुद्धिसे आकाङ्क्षा भी नहीं करते, वह गुणातीत हैं ॥ २२ ॥

["तामसी वृत्ति उत्पन्न हो गयी है इसलिए मैं मूढ़ हो रहा हूँ, राजसी प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी है इस कारण मैं रजोगुणके द्वारा प्रवर्त्तित हूँ अर्थात् स्वरूपसे भ्रष्ट

हो रहा हूँ—यह मेरे लिए अत्यन्त क्लेशकर है। पुनः सात्त्विक प्रकाशरूप गुण मुझमें विवेक उत्पादन कर रहा है और मुझको सुखमें आसक्त कर रहा है—इस प्रकारकी भावनाओं अर्थात् गुणत्रयके कार्योंके प्रति गुणातीत विद्वेष-भावापन्न हो जाते हैं। सत्त्वादि गुणत्रयसे युक्त पुरुष जिस प्रकार गुणोंके कार्योंके प्रति आकाङ्क्षित होता है, गुणातीत पुरुष कदापि गुणोंके कार्योंके प्रति उस प्रकार आकाङ्क्षित नहीं होते—शङ्कर]॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ द्वारा अनुभव हो रहा है—क्रियाकी परावस्थामें एक प्रकारका प्रकाश होता है, जहाँ न दिन होता है और न रात—उस प्रकाशमें ही प्रकृष्टरूपसे तद्गतचित्त होता है, तद्रूप भावापन्न होकर प्रकृष्ट रूपसे मत्त मतवालेके समान रहते हुए अन्य सब दिशाओंसे चित्त तद्गत होकर तत्पदमें मोहित होता है; इसलिए उसमें रहनेकी सम्यक् इच्छा, न होती है और न नहीं रहनेकी ही इच्छा होती है—मस्तिष्कके ऊपर चढ़ बैठता है मानो वहाँ कोई बैठा हुआ है। इस प्रकार बैठकर इन तीनों गुणोंकी अर्थात् इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना विशेषरूपसे नहीं चलती हैं अर्थात् सूक्ष्मरूपसे ब्रह्मनाड़ीमें चलती हैं, इस प्रकार गुणोंके परेकी अवस्था एक भावमें रहना। इसको जो जानता है वही मेरे भावमें जाता है—अर्थात् क्रियाकी परावस्थाका वर्णन जहाँ तक किया जा सकता है, किया गया (जो गुरुवाक्यगम्य है—'ह'का अर्थ सब स्थिर है)।—हम लोग साधारणतः जिस प्रकारके प्रकाशको प्रकाश कहते हैं, क्रियाकी परावस्थामें उस कोटिका प्रकाश नहीं होता। वह अज्ञान या अन्धकार हो, ऐसी बात भी नहीं है। वह आलोक-जैसी वस्तु भी नहीं है। वह एक अद्भुत प्रकाश है जो इन्द्रियादिके लिए गम्य नहीं है। उपनिषद् कहती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ कठ० २।२

सूर्य सब वस्तुओंका प्रकाशक होकर भी सर्वात्मभूत उस ब्रह्मको प्रकाशित नहीं कर सकता। उसी प्रकार चन्द्र-तारे और ये विद्युत्समूह भी उसको प्रकाशित नहीं कर सकते। हम लोगोंके लिए प्रत्यक्ष-गोचर यह अग्नि भला इसमें कैसे समर्थ हो सकती है! और तो क्या, ये सूर्यादि समस्त ज्योतिर्मय पदार्थ उस प्रकाशमान परमेश्वरके अनुगत होकर ही प्रकाशित होते हैं। लकड़ी जैसे अग्निके संयोगसे ही दाहक होकर जलाती है, परन्तु स्वभावतः नहीं जलाती, वैसे ही ये सूर्यादि पदार्थ उसकी दीप्तिसे ही विभात होते हैं। इस प्रकार वह ब्रह्म ही भात और विभात होता है। कार्यगत नाना प्रकारकी दीप्तियोंमें उस ब्रह्मकी दीप्तिरूपता स्वतः अवगत हो जाती है, क्योंकि जिसमें स्वभावसिद्ध दीप्ति नहीं होती, वह कभी दूसरेको दीप्ति-प्रदान नहीं कर सकता।

ब्रह्म स्वयंप्रकाश-रूप है अतः उसकी चैतन्य-सत्तामें चराचर जगत् प्रकाशित हो रहा है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्‌या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ कठ०१-३

ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त सब भूतोंमें आत्मारूपसे आवृत ब्रह्म किसीके सामने प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि दर्शन-श्रवण आदि व्यापार भी अविद्या द्वारा समाच्छन्न हैं। वह तो प्रकाशित होता नहीं, तब धीर व्यक्ति उसका मनन करके शोकमुक्त कैसे होते हैं?—वह अविशुद्ध बुद्धिके लिए अज्ञेय है, परन्तु संस्कृत, अग्र्‌य, एकाग्रतायुक्त तथा सूक्ष्म वस्तु ग्रहणमें तत्पर बुद्धि द्वारा दृष्ट है।

बुद्धि स्थिर कर लेने पर अत्यन्त सूक्ष्मसे सूक्ष्म वस्तु भी दीख पड़ती है। "क्षीणदोषाः यतयः पश्यन्ति"—जो संयतचित्त हैं अर्थात् जिनका मन दूसरी ओर नहीं जाता, वे शुभ्र ज्योतिर्मय आत्माको देखते हैं।

वह जो शुभ्र निर्मल प्रकाश है, उस प्रकाशस्वरूपमें जिनका चित्त तद्‌गत है, उस परम पदको छोड़कर जिनका चित्त अन्यत्र नहीं जाना चाहता—इस प्रकारकी अवस्था जिनको प्राप्त हो गयी है वे तो भवसागरसे पार होने ही वाले हैं, परन्तु जो भवसागरसे पार हो गये हैं, परम निर्भयपद प्राप्त कर चुके हैं, वे उपर्युक्त अवस्थाकी भी आग्रहपूर्वक कामना नहीं करते और चित्त यदि कुछ संसारकी ओर उतर भी आता है तो उससे उदास नहीं होते। उनको सब अवस्थाओंमें ब्रह्मदर्शन करनेकी शक्ति प्राप्त हो गयी है। अतएव "परम पद्‌में ही बैठा रहूँगा और संसारको न देखूँगा"—इस प्रकारकी इच्छा भी उनमें उदय नहीं होती। संसारके जो भोग बचे हैं उन्हें भोगने की भी इच्छा उनके मनमें नहीं उठती।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ॥ कठ०१-१-२५

"मनुष्यलोकमें जो जो काम्य पदार्थ अत्यन्त दुर्लभ हैं उन सब काम्य वस्तुओंकी स्वेच्छानुसार प्रार्थना करो। रथस्थिता, वादित्रादियुक्ता रमणियाँ तुम्हारे लिए अपेक्षा कर रही हैं। इस प्रकारकी सुन्दरियाँ मनुष्योंके लिए दुर्लभ हैं।" साधनमें दूर तक अग्रसर होने पर ये सब तथा अन्यान्य उपभोग्य काम्य वस्तुएँ साधकके पास अपने आप उपस्थित होती हैं। जो लोग इन भोग्य वस्तुओंमें मोहित न होकर इनको निष्ठीवन (थूक)के समान त्यागते हैं, वे निश्चय ही साधकाग्रगण्य हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु इससे भी उच्च कोटिके साधक वे हैं जो इन सब काम्य वस्तुओं तथा ब्रह्म-वस्तुमें कोई अन्तर नहीं देखते। इन्द्रिय-लोलुपताके कारण काम्य वस्तुएँ सुखकर जान पड़ती हैं तथा दुःखजनक वस्तुको ग्रहण करनेमें अनिच्छा होती है। परन्तु जो लोग मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके अतीत स्थानमें पहुँचकर अपने आपको खो चुके हैं, जो भले-बुरे दोनोंमें कोई अन्तर नहीं देखते, उन ब्रह्मवेत्ता योगियोंकी प्राणशक्ति (जिसके चालित होने पर मन विषयानुभव करता है) मस्तकके ऊपर चढ़कर बैठती है और उतरती नहीं। क्योंकि वह गुणत्रयके अर्थात् इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नाके अतीत अवस्थाको प्राप्त होते हैं, अतएव उनको गुण आकर्षण करके

विषयोंकी ओर नहीं ला सकते। जब सूक्ष्मरूपमें प्राण ब्रह्मनाड़ीमें चलता है तब गुणोंकी परावस्था होती है अर्थात् तब मन अनन्य हो जाता है, एक भावमें सर्वदा स्थिर रहता है। इस अवस्थाको जो प्राप्त करता है तथा उसमें ही रहता है वह ब्रह्मपदको पाता है। क्रियाकी परावस्था भी यही है। यही गुरुभाव है। क्योंकि—

गुकारः प्रथमो वर्णो मायादिगुणभासकः।
रुकारो द्वितीयो ब्रह्म मायाभ्रान्तिविमोचकः॥

'गुरु' का 'गु' वर्ण मायाको कहते हैं अर्थात् जो गुण-विशिष्ट है। मूलाधार-स्थित शक्ति हृदयमें आकर स्थितिपद प्राप्त करती है और मृणालतन्तुके समान हृदयमें गमनागमन करती है, उस स्थिति-पदका नाम हंस है। वह जब प्राणमें जाता है और विन्दु दीख पड़ता है तो उसका नाम रूप या कूटस्थ है। यहीं तक 'गुरु' का 'गु'कार है। उसके बाद 'रु'कार मायाभ्रान्तिविमोचक है, वही क्रियाकी परावस्था—ब्रह्मका निरञ्जन रूप है। उस समय सब स्थिर हो जाता है। यह परम स्थिर भाव ही विश्वातीत या गुणातीत अवस्था है।

क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें पहुँचकर ये जीवन्मुक्त पुरुष संसारके कुछ कुछ कार्य तो करते हैं, परन्तु संसारसे अभिभूत न होनेके कारण प्रकृति उनको कदापि लिप्त नहीं कर सकती। उस समय वे इस लोकके आदमी नहीं होते। परावस्थाकी परावस्थामें भी गुण उनको जकड़ नहीं सकते। रजः और तमः तो आ ही नहीं सकते। कभी-कभी क्षीणाधारामें सत्त्वगुण आता है, परन्तु वह उनकी स्वरूपच्युति नहीं कर सकता॥ २२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्त्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥

अन्वय—यः (जो) उदासीनवत् (उदासीनके समान) आसीनः (स्थिति होनेके कारण) गुणैः (गुणोंके कार्य सुख-दुःखादिके द्वारा) न विचाल्यते (विचलित नहीं होते) गुणाः (गुणसमूह) वर्त्तन्ते (स्वकार्य करते हैं) इत्येवं (इस रूपमें) यः अवतिष्ठति (जो अवस्थान करते हैं) न इङ्गते (चञ्चल नहीं होते) [वही गुणातीत हैं]॥ २३॥

श्रीधर—तदेवं स्वसंवेद्यं गुणातीतस्य लक्षणं उक्त्वा परसंवेद्यं तस्य लक्षणं वक्तुं किमाचार इति द्वितीयप्रश्नस्य उत्तरमाह—उदासीनवदिति त्रिभिः। उदासीनवत् साक्षितया आसीनः—स्थितः सन्, गुणैः—गुणकार्यैः सुखदुःखादिभिः, न यो विचाल्यते—स्वरूपात् न प्रच्याव्यते। अपि तु गुणा एव स्वकार्येषु वर्त्तन्ते, एतैः मम सम्बन्ध एव नास्तीति विवेकज्ञानेन यः तुष्णीं अवतिष्ठति। परस्मैपदमार्षम्। नेङ्गते न चलति॥ २३॥

अनुवाद—[इस प्रकार गुणातीतका स्वसंवेद्य (निजबोधगम्य) लक्षण कहकर परसंवेद्य (दूसरेके बोधगम्य) लक्षण अर्थात् उसका आचार कैसा होता है, इस द्वितीय प्रश्नका उत्तर तीन श्लोकों द्वारा कह रहे हैं]—(१) उदासीनवत्—उदासीनके

समान साक्षीस्वरूपमें अवस्थित होकर (२) गुणकर्म सुखदुःखादिके द्वारा जो विचलित नहीं होते अर्थात् स्वरूपसे च्युत नहीं होते (३) सत्त्वादि गुण स्वस्वकार्यमें प्रवृत्त रहते हैं, इनके साथ मेरा सम्बन्ध ही नहीं है—इस प्रकारके विवेकज्ञान द्वारा जो चुपचाप अवस्थान करते हैं, चञ्चल नहीं होते ॥२३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—गुण जैसे हैं वैसे ही हैं—वायु स्थिर है जैसे निर्वात दीप।—निर्वात स्थानमें दीपशिखा जैसे स्थिर और अचञ्चल होती है, उसी प्रकार योगीकी प्राणवायु स्थिर हो जाती है तथा प्राणवायुकी स्थिरताके साथ मन भी अत्यन्त स्थिर हो जाता है। तब वह मन फिर विषयमें भ्रमण नहीं करता। परन्तु देह-प्रकृति जबतक है तबतक योगीके प्रारब्धकर्मके भोग देहादिमें जैसे होनेवाले हैं, होते रहते हैं। परन्तु उनका मन उन सुखदुःख आदि भोगोंमें निर्लिप्त रहता है अर्थात् वे सुखका विषय पाकर सुखी या दुःखद व्यापारमें दुःखित नहीं होते। तुर्यावस्थागत चित्तमें विषय-संस्पर्श नहीं होता। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्यावस्था—इन चारोंमें प्रथम तीन अवस्थाओं तक भोगकी—आनन्दकी अवस्था है। चतुर्थावस्था शिवभाव है, वहाँ कुछ नहीं है, कोई भोग नहीं है। इस कूटस्थके परे जो पुरुष चतुर्थ गुणातीत अवस्थामें है वही ब्रह्म है। कूटस्थ ही क्षेत्रज्ञ पुरुष है, वही सब कर्मोंका कारयिता है। और जो कर्म करता है, विषयोंमें लिप्त होता है वह भूतात्मा है। यह भूतात्मा ही श्वास या जीव है जो विषयोंमें लिप्त होता है। कूटस्थ ही महत् है, वह अणुसे भी अणु है। चाँदीके समान उसकी आभा है, उसके परे जो पुरुष है वही शिव है। यह श्वास ही ब्रह्म है, इसके द्वारा ही ब्रह्ममें पहुँचा जाता है। तब सब एक हो जाता है, उस एकको देखने पर सब दीखता है। मन सबकी सृष्टि करता है। वह मन जिसका कूटस्थमें रहता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है। क्रियाकी परावस्थामें साधक ब्रह्मस्वरूप हो जाता है और उसका चराचररूप बोध या भाव जाता रहता है। मन ही सब भावोंका कर्त्ता है, मन जब चर या अचर किसी वस्तुका मनन करता है, तब वह वस्तु मस्तिष्कमें आती है। उसी मस्तकमें जब मन ब्रह्मलीन होता है, तब समस्त चराचर वस्तुओंका विनाश हो जाता है। यही क्रियाकी परावस्था या ब्रह्म है। क्रियाकी परावस्थामें जब आत्मा परमात्मामें युक्त होकर लीन हो जाता है, तब सब प्रकारका देखना-सुनना संहृत हो जाता है और तद्गतचित्त होनेके कारण चराचर वस्तुओंका नाश हो जाता है। अतएव वह शिव ही रुद्ररूपमें सबका नाश करता है। यह ब्रह्म है, इसका ही ध्यान सर्वदा करना चाहिए, इसीसे जन्म-मृत्युसे रहित होकर परम पदमें लीन हो सकते हैं। संसारमें उसकी अपेक्षा दूसरी कोई श्रेयस्कर वस्तु नहीं है। इस प्रकार सब वस्तुओंका त्याग अपने आप हो जाता है। तब किसी वस्तुकी ओर मन नहीं जाता। अतएव अनुकूल या प्रतिकूल वस्तुके प्रति उसका राग या द्वेष नहीं हो सकता। सब विषयोंमें वह उदासीन-सा रहता है अर्थात् कोई बाह्य व्यापार उसको चञ्चल नहीं कर सकता। चित्तको बहिर्मुख करनेके योग्य सैकड़ों घटनाएँ घट जाती हैं, परन्तु कोई घटना उसके मनको बाहर नहीं खींच सकती। विषयोंका प्रवाह नदीस्रोतके समान चलता रहता है, वह उसमें डूबता नहीं, स्रोतके ऊपर

ही मानो तैरता रहता है। प्राणकी स्थिति ऊर्ध्वदेश अर्थात् मस्तिष्कमें होने पर साधककी यह अवस्था स्वाभाविक हो जाती है। यही प्राणवायुकी स्थिरता है। सारे गुण अपना काम करते रहते हैं और वह निर्वात दीपके समान स्थिर रहता है। इस प्रकार आत्मस्थ पुरुष ही गुणातीत है। सुख, दुःख या मोहमें उसका हृदय कुछ भी विचलित नहीं होता ॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

अन्वय—[यः—जो] समदुःखसुखः (दुःख और सुखमें समान ज्ञान रखनेवाला) स्वस्थः (स्वरूपमें अवस्थित) समलोष्टाश्मकाञ्चनः (लोष्ट, पाषाण और सुवर्णमें समज्ञानविशिष्ट) तुल्यप्रियाप्रियः (प्रिय और अप्रिय वस्तुमें तुल्यबुद्धिसम्पन्न) धीरः (धीमान्) तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः (निन्दा और प्रशंसामें समभाव)—॥२४॥

श्रीधर—अपि च—समेति। समे सुखदुःखे यस्य। यतः स्वस्थः—स्वरूप एव स्थितः, अतएव समानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य। तुल्ये प्रियाप्रिये सुखदुःखहेतुभूते यस्य। धीरः—धीमान्। तुल्या निन्दा च आत्मनः संस्तुतिश्च यस्य ॥२४॥

अनुवाद—[और भी] (४) जिस आदमीको सुखदुःखमें समान ज्ञान होता है, (५) जो स्वस्थ अर्थात् द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थित है, अतएव (६) लोष्ट, पाषाण और सुवर्णमें समज्ञान-सम्पन्न है, (७) सुख-दुःखके हेतुभूत जो प्रिय-अप्रिय वस्तुएँ हैं उनके विषयमें जिसकी तुल्यबुद्धि है (८) जो धीमान् है तथा (९) निन्दास्तुतिमें जिसका तुल्य ज्ञान है [वही गुणातीत है] ॥२४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—स्वीय अवस्थामें रहते हुए, दुःख-सुख दोनोंमें समान रहता है, उस समय सोना और ढेला, निन्दा-स्तुति दोनों समान होता है जैसे मतवाला प्रिय-अप्रिय दोनोंमें समान होता है; बुद्धिके परे परा बुद्धिमें दृष्टि होती है।—क्रियाकी परावस्थामें जो स्थिति होती है, वही है परा बुद्धि अर्थात् अपने आपमें रहना। उस परमानन्द-अवस्थामें जो नित्य मग्न रहते हैं, उनके सामने फिर सुख-दुःख क्या है। सुख-दुःख अन्तःकरणका धर्म है, अतः जब मन ही नहीं है तब सुख-दुःख आयेगा कैसे। विषयासक्त चित्त सुखकी वस्तु पाकर सुखी होता है, दुःखकी घटना घटने पर रो-रोकर व्याकुल होता है। परन्तु जो आत्मस्थ रहकर इस जगद् और जगद् व्यापारको स्वप्नतुल्य बोध करते हैं, उस सदा-जाग्रत पुरुषको फिर सुख-दुःख कौन दे सकेगा। परमानन्दमें मग्न होकर जो अपने सांसारिक हिताहितकी ओर दृष्टि नहीं देता उसके सामने सुवर्ण और मिट्टीके ढेलेका मूल्य समान है। गुणस्थकी ही स्तुति-निन्दा होती है, जो गुणका अतिक्रम करके आत्मस्थ हो गया है उसके सामने फिर स्तुति और निन्दामें अन्तर कहाँ! मतवालेको जैसे अपनी अवस्थाका ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार जिसका लक्ष्य बुद्धिको छोड़ परा बुद्धिमें प्रतिष्ठित है वही गुणातीत है। मद्यप जैसे सुख-दुःखके प्रति उदासीन होता है, उसी प्रकार परा बुद्धिमें स्थिति के कारण मुक्त पुरुषके सामने प्रिय-अप्रिय नामकी कोई वस्तु नहीं होती ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

अन्वय—मानापमानयोः (मान और अपमानमें) तुल्यः (समबोध-युक्त) मित्रारिपक्षयोः (मित्र और शत्रु पक्षमें) तुल्यः (समबुद्धि-सम्पन्न) सर्वारम्भपरित्यागी (देह-धारणार्थ कर्मोंके अतिरिक्त अन्य सब उद्यमोंका त्याग करनेवाला) सः (वह) गुणातीतः (गुणातीत) उच्यते (कहा जाता है) ॥२५॥

श्रीधर—अपि च—मानेति । माने अपमाने च तुल्यः । मित्रपक्षे अरिपक्षे च तुल्यः । सर्वान् दृष्टादृष्टार्थान् आरम्भान् उद्यमान् परित्यक्तुं शीलं यस्य सः । एवम्भूताचारयुक्तो गुणातीत उच्यते ॥२५॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—(१०) जो मानापमानमें तुल्य हैं, (११) मित्रपक्ष और शत्रुपक्षमें तुल्य हैं तथा (१२) दृष्टादृष्ट विषयोंके उद्यममें त्यागशील हैं, इस प्रकारके आचारसे युक्त मनुष्य ही लोकमें गुणातीत कहलाते हैं ॥२५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मान-अपमान, शत्रु-मित्र, वृद्धि-क्षय दोनोंमें ही तुल्य मतवालेके समान । शुरू होनेके पहले ही त्याग हुआ रहता है, शुरू ही नहीं करना चाहता अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें कोई कर्म ही नहीं करना चाहता—इसीका नाम गुणातीत है ।—मतवालेके लिए जैसे तिरस्कार-पुरस्कार दोनों ही एक-से हैं, गुणातीतकी भी अवस्था उसी प्रकार है । उनका कोई काम सङ्कल्पपूर्वक प्रारम्भ नहीं होता । किसीने कुछ करनेके लिए कहा तो कर दिया । यदि कोई वारंवार निषेध करता है तो वह भी उनके कानमें नहीं पहुँचता । आमिष भोजन किया या निरामिष, इसकी कोई धारणा ही उनको नहीं होती, खानेके लिए दिया और खा लिया बस ! जो मनमें आया किया, करके उसके लिए कोई आनन्द नहीं, सन्ताप नहीं । शत्रुपक्षने अपमान किया, निन्दा की, या मित्रपक्षने प्रशंसा की—कुछ भी उनको ग्राह्य नहीं है ॥२५॥

(गुणातीत होनेका उपाय)

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

अन्वय—यः च (और जो) माम् (मुझको) अव्यभिचारेण भक्तियोगेन (ऐकान्तिक भक्तियोगसे) सेवते (सेवन या उपासना करता है), सः (वह) एतान् गुणान् (इन गुणोंको) समतीत्य (सम्यक् रूपसे अतिक्रम करके) ब्रह्मभूयाय कल्पते (ब्रह्मभावकी प्राप्तिके योग्य होता है) ॥२६॥

श्रीधर—कथञ्च एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्त्तत इति ? अस्य प्रश्नस्य उत्तरमाह—माञ्चेति । च-शब्दः अवधारणार्थः । मामेव परमेश्वरं अव्यभिचारेण एकान्तेन भक्तियोगेन

यः सेवते स एतान् गुणान् समतीत्य सम्यगतिक्रम्य, ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय मोक्षाय, कल्पते समर्थो भवति ॥ २६ ॥

अनुवाद—[किस प्रकार गुणत्रयका अतिक्रमण किया जाता है, इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं]—मुझ परमेश्वरकी जो अव्यभिचारिणी अर्थात् एकान्त भक्तिके साथ सेवा करते हैं, वे इस गुणत्रयको सम्यक् रूपसे अतिक्रम करके ब्रह्मभाव अर्थात् मोक्षको प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं ॥२६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—'माञ्च' मुझको अर्थात् जो क्रिया करता है—अन्य दिशामें (मन) आसक्तिपूर्वक दृष्टि न करके अर्थात् सती होकर—कूटस्थके प्रति एकदृष्टि करके आत्मामें रहना, अपर वस्तुमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करके न रहना—धारणा, ध्यान, समाधि पूर्वक गुरुवाक्यमें विश्वास करके जो क्रिया करता है—जो गुरुवक्त्रगम्य है वह क्रियाकी परावस्थामें रहकर त्रिगुणरहित होकर आठों पहर समान रूपसे स्थिर रहकर मेरा भाव अर्थात् एक ब्रह्म हो गया हूँ या होऊँगा इस प्रकार कल्पना होती है —ॐ।—अब भगवान् यह बतलाते हैं कि त्रिगुणको किस प्रकार अतिक्रम किया जाता है। इसका उपाय है अव्यभिचारिणी भक्ति-रूपी योगके द्वारा भगवान्‌की सेवा। अव्यभिचारिणी भक्ति क्या है ? आचार्य शङ्कर कहते हैं—"न कदाचित् यो व्यभिचरति तेन भक्तियोगेन भजनम् ।"—जो भक्तियोग किसी समय अन्यथाभावको प्राप्त नहीं होता, वही भक्तियोग अव्यभिचारी है। इस प्रकारके अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा वस्तुतः भजन होता है। साधारणतः हमारे अन्तःकरणमें नाना प्रकारकी वृत्तियोंका उदय होता है। परन्तु जिस अन्तःकरणमें अन्य वृत्तिका उदय नहीं होता, केवल सब भूतोंके हृदयस्थ आत्मा, नारायण या ईश्वर जो हमारे 'अहं' हैं, उस 'अहं'को छोड़कर अन्यभाव या अन्य प्रत्यय जिसके मनमें नहीं आता, उनकी ही अव्यभिचारिणी भक्तिके द्वारा भगवान्‌का भजन होता है।

सब रूपोंमें उनका रूप है, जगतमें चेतन-अचेतन सारे पदार्थ परमेश्वरकी सत्तासे परिपूर्ण हैं, उनके सिवा और कुछ नहीं है—इस प्रकारसे अनुप्राणित होकर भजन करना ही प्रकृत भजन है। यह केवल मौखिक बात नहीं है। चिन्तन करने मात्रसे यह भाव मनमें जम जायगा या स्थायी हो जायगा, ऐसी बात भी नहीं है। अनन्य भाव तभी हो सकता है जब शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धके द्वारा मन विचलित नहीं होता। इस प्रकारकी अवस्था प्राप्त करनेके लिए मनको निश्चल करना होगा। मन यदि मैला घोटे या आसक्तिपूर्वक विषयोंकी ओर लोलुप दृष्टि डाले तो उसका सतीत्व कहाँ रहा। वह अव्यभिचारी कैसे हुआ। वह तभी अव्यभिचारी हो सकता है, जब अन्य किसी वस्तुकी ओर आसक्तिपूर्वक दृष्टिपात न करे। दृष्टिको आत्माभिमुख करनेके लिए क्रिया करनी पड़ेगी, क्रियाके द्वारा बिना अवरोध प्राण स्थिर होनेपर उसके साथ मन भी स्पन्दनशून्य हो जायगा। स्पन्दन-शून्य मनका कोई अवलम्बन नहीं रहता, इस निरावलम्ब चित्तमें ही अनन्यभाव या भक्ति फूट उठती है। इड़ा-पिङ्गलामें श्वास चलते रहने पर यह नहीं हो सकता। क्रिया

करते-करते प्राणकी स्थिरताके साथ जब श्वास सुषुम्नामें प्रवाहित होगा और वह प्रवाह दीर्घकाल स्थायी होगा तो प्राण मस्तकमें जा बैठेगा। तभी आठों पहर स्थिर भाव होगा। इस प्रकार साधक त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्तकर परम अभयपदको प्राप्त करते हैं। केवल ज्ञान बघारने या उच्चकण्ठसे हरिनाम लेकर आँसू बहानेसे काम न चलेगा। विषयोंके प्रति आसक्ति रहने पर प्रकृत भक्ति नहीं आ सकती। कामिनी-काञ्चनमें अत्यासक्त पुरुषको भक्ति प्राप्त नहीं होती। परन्तु जो लोग ज्ञान भक्तिका श्रद्धापूर्वक चिन्तन करते हैं उनका यथेष्ट उपकार होता है। कबीर कहते हैं—

पावकरूपी राम है सब घट रहा समाय।
चित् चक्मक् जिन नहि हट्यो धूआँ हो हो जाय॥

कबीर कहते हैं कि राम अग्निरूप हैं, सब घटमें समा रहे हैं, जो चित्तरूपी चक्मक्को अर्थात् मनकी कल्पनाको नहीं हटा सकता उसको अग्निदर्शनका सौभाग्य नहीं प्राप्त होता, केवल धूममात्र दीख पड़ता है।

चित्तः कारणमर्थानां तस्मिन्नस्ति जगत्त्रयम्।
तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः॥

विषयोंका कारण चित्त है, उसीमें तीनों लोक वर्तमान हैं, वह चित्त जब क्षीण होता है तब जगत् भी क्षीण हो जाता है। अतएव चित्त-क्षयकी चिकित्सा प्रयत्न पूर्वक करना आवश्यक है।

वह वस्तु तो आसान नहीं है, वह तो नामरूपके अतीत है, नाम-रूप मिटे बिना वह नहीं प्राप्त हो सकती। कबीर कहते हैं—

निसदिन दमे विरहिनी अन्तरगतकी लाय।
दास कबीरा का बुझै सतगुरु गये लगाय॥
जो जन विरही नामके सदा मगन मन माँह।
या दरपनकी सुन्दरी कहू न पकड़ी बाँह॥

कबीर दास विरहिणी हैं अर्थात् भगवान्‌के सिवा और कुछ उनके मनमें उदय नहीं होता। दिनरात विरह-ज्वालामें जलते हैं, जिसके लिए जलते हैं वह अन्तरमें घुसकर एकान्तमें बैठे हैं। कबीरकी इस ज्वालाको दूसरा क्या समझेगा? सद्गुरुने यह आग लगा दी है। कबीर नाम अर्थात् परमात्माके विरही हैं, भगवानके सिवा और कुछ आकांक्षा नहीं करते, परावस्थारूपी परमात्मा जिसको पाकर प्राण शीतल हो जाता है, उसको पानेके लिए मन साधनको लेकर मग्न हो गया है। सोचा था कि उसको साधारण दृश्य स्त्री-पुत्रादिके समान ही देख लेंगे परन्तु ऐसा नहीं होता। कूटस्थमें जो दीख पड़ता है, यह भी जान पड़ता है वही है—ऐसा सोचकर जो उसको देखने या पकड़ने जायगा, उसको वह फिर दृष्टिगोचर न होगा जैसे दर्पणमें सुन्दरी दीख पड़ती है, अनुभव की जाती है पर पकड़ी नहीं जाती। यदि वह पकड़ा जाता तो चिन्मय जड़में परिणत हो जाता। इसी कारण उसको पकड़कर भी नहीं पकड़ सकते, पाकर भी नहीं पाते। परन्तु जिसको यह विरहावस्था प्राप्त होती है उसके मनमें कोई विषयाभिलाषा नहीं होती। अतएव चित्त स्पन्दन भी

नहीं रहता। उस समय जो कुछ दीखता है सब विष्णुमय जान पड़ता है। यह जगत्-प्रपञ्च मनकी ही कल्पना है। उस मनके रहते प्रपञ्च नहीं मिटेगा, ब्रह्मदर्शन भी न होगा। अतएव प्रकृत भगद्भजन है मनोनिग्रह, और मनको निग्रह करनेका सर्वश्रेष्ठ उपाय है क्रिया॥ २६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥

अन्वय—हि (क्योंकि) अहं (मैं) ब्रह्मणः (ब्रह्मकी) प्रतिष्ठा (आश्रय, पर्याप्ति, प्रतिमा या घनीभूत प्रकाश हूँ), अव्ययस्य (अव्यय अर्थात् परिणाम-शून्य) अमृतस्य (मोक्षकी) [प्रतिष्ठा], शाश्वतस्य (अपक्षयरहित या चिरन्तन ब्रह्मकी प्रतिष्ठा), धर्मस्य च (धर्मकी भी प्रतिष्ठा), ऐकान्तिकस्य सुखस्य च (अखण्ड आनन्दस्वरूपकी भी प्रतिष्ठा हूँ)॥ २७॥

श्रीधर—तत्र हेतुमाह—ब्रह्मणो हीति। हि यस्मात् ब्रह्मणोऽहं प्रतिष्ठा—प्रतिमा, घनीभूतं ब्रह्मैवाहम्। यथा घनीभूतः प्रकाश एव सूर्यमण्डलं तद्वदित्यर्थः। तथा अव्ययस्य—नित्यस्य, अमृतस्य च—मोक्षस्य नित्यमुक्तत्वात्। तथा तत्साधनस्य शाश्वतस्य धर्मस्य च शुद्धसत्त्वात्मकत्वात्, तथा ऐकान्तिकस्य अखण्डितस्य सुखस्य च प्रतिष्ठा अहं परमानन्दैकरूपत्वात्, अतो मत्सेविनः मद्भावस्य अवश्यम्भावित्वात् युक्तमेवोक्तं ब्रह्मभूयाय कल्पते इति॥ २७॥

कृष्णाधीन-गुणासङ्ग-प्रसञ्जित-भवाम्बुधिम्।
सुखं तरति तद्भक्त इत्यभाषि चतुर्दशे॥

इति श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां
गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥

अनुवाद—[उपर्युक्त लक्षण-सम्पन्न व्यक्तिकी ब्रह्मप्राप्तिके विषयमें हेतु बतलाते हैं]—मैं ब्रह्मकी प्रतिमा हूँ अर्थात् मैं घनीभूत ब्रह्म हूँ। जैसे सूर्य-मण्डल घनीभूत प्रकाश है, उसी प्रकार मैं भी ब्रह्मका घनीभूत प्रकाश हूँ। मैं नित्यमुक्त होनेके कारण नित्य अमृत अर्थात् मोक्षकी प्रतिष्ठा हूँ। शुद्ध सत्त्वके कारण मैं मोक्षके साधनरूपमें शाश्वत धर्मकी प्रतिष्ठा हूँ। परमानन्द-स्वरूप होनेके कारण ऐकान्तिक अर्थात् अखण्डित सुखकी भी मैं प्रतिष्ठा हूँ। अतएव मद्भक्तोंकी मद्भाव-प्राप्तिके अवश्यम्भावित्वके हेतु उनका ब्रह्मभाव-प्राप्तिमें समर्थ होना युक्तियुक्त ही है॥२७॥

श्रीकृष्णके अधीन रहनेवाले भक्तगण गुणत्रयके प्रति आसक्ति द्वारा संघठित इस भवसागरको सुखसे पार हो जाते हैं—यही चतुर्दश अध्यायमें भगवान्ने कहा है।

आध्यात्मिक व्याख्या—उस ब्रह्ममें जब क्रिया करते-करते प्रकृष्ट रूपसे स्थिति होती है तब अमरपद पाकर अमृत-क्षरण होता है अर्थात् एक ब्रह्म हो जाता है—तब अव्यय

अविनाशी होता है—क्योंकि ब्रह्म सब हो जाने पर नाश होने पर जो होता है वह भी ब्रह्म है, एक वस्तु होने पर वस्त्वन्तर हुए बिना नाश कैसे हो सकेगा? नित्य उसी अवस्थामें रहने पर अर्थात् आठों पहर उसी अवस्थामें रहने पर—वह भी ब्रह्म हो जाता है—इसका ही नाम धर्म है—अधर्मका नाम धर्म है अर्थात् अन्य किसी वस्तुमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि न करके आत्मामें रहनेका नाम धर्म है—फलाकाङ्क्षा-रहित क्रिया करनेका नाम धर्म है जो गुरुवक्त्रगम्य है—जहाँ रहने पर सुखका एक अन्त होता है अर्थात् बराबर एक ही अवस्थामें परमानन्द सुखमें अवस्थिति प्राप्त करता है जो क्रियाकी परावस्थामें, जो क्रिया करते हैं सबको थोड़ा-बहुत होता है—और सुखके लिए सभी दूसरोंकी गुलामी करते हैं और महाशय महाशय कहकर खुशामद करते हैं !! किन्तु 'विरलो हि महाशयः' जो अष्टावक्रने कहा है अर्थात् जो सदा-सर्वदा विशेषरूपसे दिव्यदृष्टि द्वारा आत्मशक्ति पूर्वक कूटस्थमें अटके रहते हैं, तत्पदके सिवा और कुछ नहीं देखते वे ही महत् और महाशय हैं-—वही महापुरुष जो कुछ देंगे उसे पाकर कुछ क्षणोंके लिए सुख होगा; परन्तु जिस सुखका अन्त नहीं है ऐसे सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा किसीको नहीं होती—ऐसे सुखके लिए सर्वसाधारणको इच्छा करनी चाहिए !!!—पूर्व श्लोकमें कहा जा चुका है कि अचला भक्तिके साथ जो मेरी सेवा करता है वह गुणत्रयको अतिक्रम करके ब्रह्मत्व या ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। अतएव यह जान पड़ता है कि ब्रह्मभावकी प्राप्ति करनेके लिए गुणोंको अतिक्रम करना आवश्यक है अर्थात् इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाके अतीत अवस्थाको प्राप्त करना आवश्यक है। 'मैं' उस ब्रह्मका प्रतीक अर्थात् घनीभूत-स्वरूप हूँ। यहाँ 'मैं' क्या है? यह वह कूटस्थ चैतन्य है जिन्होंने गीता कही है। ब्रह्म ही अन्तिम गन्तव्य स्थान है, वह सब प्रकारकी उपाधियोंसे विवर्जित है, सत्तामात्र और निर्गुण-स्वरूप है। यह क्रियाकी परावस्थाके द्वारा लक्षित होता है। यह निर्गुण-स्वरूप अदृश्य, अस्पर्श्य और अव्यवहार्य है, उसमें न आनन्द है और न निरानन्द। जल जैसे वाष्पकी घनीभूत मूर्त्ति है, हिम जैसे जलकी घनीभूत मूर्त्ति है, वैसे ही निरवयव, निर्लिप्त, विश्वव्यापी आत्मसत्ताका घनीभूत प्रकाश यह कूटस्थ चैतन्य है। वही श्रीकृष्ण हैं, अर्जुनके ज्ञानदाता हैं, समस्त उपासकोंके ज्ञान-दाता हैं। अतएव रूपविवर्जित ब्रह्मकी यदि कुछ प्रतिष्ठा या आश्रय है, जिसको अवलम्बन करके ब्रह्म अपनेको प्रकाशित करता है तो वह कूटस्थ-चैतन्य श्रीकृष्ण हैं। यह कूटस्थ चैतन्य और ब्रह्म एक ही हैं। ब्रह्म मन-बुद्धिके अतीत है और यह कूटस्थ मन-बुद्धिके लिए ग्राह्य है, यही विशेषता है। परन्तु इसको ब्रह्मसे पृथक् नहीं कर सकते। जैसे सरोवरमें कमल खिल उठता है उसी प्रकार ब्रह्म-सरोवरमें इस कूटस्थ चैतन्यकी विमल ज्योति स्फुरित होती है। यही अरूपका रूप है। भक्त साधक इसी रूपको देखकर कृतार्थ होता है।

"एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः"

तुम सर्वत्र एकरूप हो, सब प्राणियोंके तुम आत्मा हो, सब शरीररूपी पुरोंमें तुम अवस्थित हो, तुम नित्य विद्यमान हो, सत्यस्वरूप और स्वयंप्रकाश हो, तुम अन्तहीन तथापि सबके आदि हो। इस कूटस्थ-चैतन्यके जो उपासक हैं वे ही

क्रियाकी परावस्थामें सर्वव्यापी ब्रह्म-स्वरूप हो जाते हैं। किन्तु वह अविज्ञात भाव है, हमारे इन्द्रिय-मन उसकी कोई धारणा नहीं कर सकते। वह अविज्ञात ब्रह्म जिसको आश्रय करके व्यक्त होता है, वह ब्रह्मकी निज शक्ति या माया है, वही सगुणभाव महेश्वर भाव है, उसे पुरुषोत्तम भी कहते हैं और आद्या शक्ति भी कहते हैं। योगी लोग इसी शक्तिको कूटस्थ चैतन्य कहते हैं और इसीको भेद करके योगधारणाके द्वारा पुरुषोत्तमका ज्ञान प्राप्त करते हैं। मैं ही वह एक पुरुष ब्रह्माण्ड-व्यापक हूँ, जब इस प्रकारका अनुभव होता है तभी 'सर्वं 'ब्रह्ममयं जगत्' होता है। अर्थात् आत्मा परमात्मा ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं और सब ब्रह्म-स्वरूप हो जाने पर 'मैं' भी नहीं रहता। क्रियाके द्वारा स्थितिपद प्राप्त होने पर ही उपर्युक्त अवस्था प्राप्त होती है। यही अमृतपद है। इसका कभी नाश नहीं होता, अतः अव्यय है। अन्य किसी वस्तुमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि न करके आठों पहर जो इस अवस्थामें मग्न रहते हैं, वह समझ पाते हैं कि यह क्रियाकी परावस्था ही शाश्वत धर्मकी प्रतिष्ठा है और इसमें जो शान्ति और आनन्द है, वह रिपुके दासत्व या लोगोंके दासत्वके द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता। यह परमपद ही ऐकान्तिक सुखका एकमात्र आश्रय है, यही एकमात्र निरतिशय सुखस्वरूप है। उस अवस्थामें अन्य किसी वस्तुकी इच्छा नहीं होती। इस प्रकार इच्छारहित होने पर शान्तिपद या अमृतपद प्राप्त होता है। प्राणवायुकी स्थिरतासे ही यह अमृतपद प्राप्त होता है। यह अमरपद ही ब्रह्मयोनि है अर्थात् इस स्थितिपदसे ही ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होती है। इस ब्रह्मयोनिसे ही सबकी उत्पत्ति है और इसमें ही सबका लय हो जाता है। इस संसारमें जीव आवागमन करता रहता है। इस प्रकार लाखों-लाखों जन्म व्यर्थ कट जाते हैं, परन्तु ब्रह्मकी खूँटी प्राणको जो दृढ़रूपसे पकड़े हुए है, केवल वही इस आवागमनसे मुक्त है ॥ २७ ॥

इति श्यामाचरण-आध्यात्मिकदीपिका नामक गीताके चतुर्दश अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त।

चतुर्दश अध्यायका सारांश।

सर्वव्यापी ब्रह्म निराकार निरवयव है, परन्तु उसके घटस्थ होने पर उसकी नाम-रूप उपाधि होती है। असंख्य घटोंके जलमें जैसे आकाशके छोटे-छोटे प्रतिबिम्ब पड़ते हैं उसी प्रकार प्रत्येक देह-घटमें कूटस्थ ज्योति और उसके भीतर विन्दु उस विशाल ब्रह्म-स्वरूपके प्रतिबिम्ब हैं। इस देह-घटमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करनेसे ही अविनाशी कूटस्थ ब्रह्म बद्धवत् परिदृष्ट होता है। तब इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नारूपी यन्त्रमें आरूढ़ होकर शिव-स्वरूप आत्मा पञ्चतत्त्व-मन-बुद्धि-अहङ्काररूपी उपाधियोंसे ग्रस्त होकर जीवभावमें मोहित होता है। क्रियाकी परा स्थिति होने पर ही यह बन्धन छूटता है। जिस प्रकार दर्पणके मलिन होने पर उसमें प्रतिबिम्ब स्पष्टरूपसे उपलब्ध नहीं होता, उसी

प्रकार निर्मल कूटस्थ ब्रह्मके पञ्चतत्त्वमें आ पड़ने पर आत्माका सुनिर्मल भाव आवृत हो जाता है। तब मोरचा लगी हुई तलवारके समान उसमें मुँह नहीं दीखता, सब अन्धकारवत् हो जाता है। प्राण-प्रवाह इड़ा-पिङ्गलामें चलने पर जीवकी इस प्रकारकी दशा होती है, तब सर्वत्र व्याप्त ब्रह्मका मानो कोई पता नहीं चलता। इड़ामें प्राणके चलने पर केवल विषय-चिन्तन ही प्रबल होता है, तब मन विषय-तृष्णामें उद्भ्रान्त होकर अपने आपको भूल जाता है। पिङ्गलामें प्राण-प्रवाह चलने पर मनुष्य ठीक उन्मत्तके समान हो जाता है, किसी प्रकारका ज्ञान या धैर्य उसको नहीं रहता। आलस्य-प्रमादमें जीव हत-चेतन हो जाता है और अज्ञानान्धकारमें पड़कर केवल गोता खाता रहता है। सुषुम्नामें श्वास चलने पर मन सात्त्विक भावसे पूर्ण हो जाता है। श्वासकी गतिके अनुसार मनकी गति भी सर्वदा बदलती रहती है। इसलिए जिससे श्वास स्थिर हो वही यत्न करना ठीक है। श्वासमें लक्ष्य रखने पर ही श्वासकी चञ्चलता घटती है। जो जितनी ही क्रियाकी वृद्धि करता है, उतना ही अधिक उसका सत्त्वगुण वृद्धिको प्राप्त होता है। अत्यन्त सत्त्वगुणका स्फुरण होने पर साधकको सम्यक् प्रकारसे इच्छारहित अवस्था प्राप्त होती है। उस समय यदि देहत्याग हो तो वह ब्रह्मचिन्तनमें होगा, उससे साधकको ब्रह्मलोककी प्राप्ति होगी। वहाँ प्रकृतिका मलयुक्त भाव न होनेके कारण साधक ब्रह्मपदमें स्थिति लाभ करके परमानन्दमें मग्न हो जाता है। रजः तमोगुणके स्फुरणके समय देहत्याग होने पर कर्ममय या अज्ञानाच्छन्न जीवनकी प्राप्ति होती है। अधिक देर तक क्रिया करने पर सत्त्वगुण बढ़ता है, तब श्वास ऊर्ध्व अर्थात् मस्तकमें प्रवेश करता है, तभी शान्तिपद प्राप्त होता है। जो लोग वासनाके वश क्रिया करते हैं, वे फिर मनुष्य-योनिमें लौट आते हैं। जो क्रिया नहीं करते, उनके अन्तःकरणसे कामवृत्ति कभी दूर नहीं होती। उनकी दृष्टि अधोदिशामें है, अतएव उनकी गति भी वैसी ही होती है। जो कुछ कर्म होते हैं सब इस त्रिगुणके खेल हैं और इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नामें प्रवाहके कारण होते हैं। आत्मा इन सब व्यापारोंके ऊपर है, इसी कारण उसको त्रिगुणातीत कहते हैं। इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नाकी क्रिया जबतक चलती है तबतक किसीको मुक्ति प्राप्त नहीं होती। परन्तु साधनाके द्वारा जिसने निरन्तर आत्मदृष्टि रखना सीख लिया है वे गुणोंके कार्यमें आसक्त न होनेके कारण स्थिर भावको प्राप्त होते हैं। उनकी बुद्धि परा बुद्धिके भीतर प्रविष्ट होकर अमृत पदको प्राप्त करती है अर्थात वे सर्वदा क्रियाकी परावस्थामें अवस्थित रहते हैं। इस प्रकारके साधकका चित्त तद्गत है, उसमें और कोई कामना नहीं रहती, उस समय उसका प्राण-प्रवाह इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नामें विशेष भावसे नहीं चलता, उसका प्राण सूक्ष्मरूपसे ब्रह्मनाड़ीके भीतर चलता है। यही है गुणका अतिक्रमण। सारे गुण संचालित होते हैं प्राणवायुके द्वारा, अतएव जब वायु स्थिर होती है तो गुणोंका गुणत्व कुछ नहीं रहता। इस अवस्थामें स्थित पुरुषके लिए स्वर्ण और पत्थर, निन्दा और स्तुति, मान और अपमान, शत्रु और मित्र—सभी समान जान पड़ते हैं। आठों पहर समान भावसे जिसकी इस प्रकार स्थिति होती है वही जीवन्मुक्त है।

चतुर्दश अध्यायका परिशिष्ट ।

प्राणिशास्त्रके अनुसार उत्पादन और संहरण—ये दो क्रियाएँ जीवन-तत्त्वके प्रधान विषय हैं। ये दो क्रियाएँ परस्पर विपरीत होने पर भी एक दूसरेके साथ मिलकर अवस्थित हैं। कोई किसीको छोड़ कर रह नहीं सकती। ये सदा एक साथ रहती हैं। हिन्दुओंकी लिङ्गपूजामें यह मिलित भाव बहुत ही सुस्पष्टरूपमें वर्तमान दीख पड़ता है। योनिके साथ लिङ्गकी नित्यसम्बन्धरूप मूर्त्ति है शिवलिङ्ग। इसको समझनेके लिए पहले जो समझना आवश्यक है उस प्रसङ्गको ही यहाँ मैं उठाता हूँ। संहरण-क्रियाका सर्वप्रधान व्यापार है उत्सर्ग-क्रिया—प्रश्वास या वायुका अपगम। इसके द्वारा ही प्रत्येक जीवकोषाणुका मल बाहर प्रक्षिप्त होता है। क्षणभरके लिए भी यह क्रिया यदि बन्द हो जाय तो जीवका जीवन न रहे। उपाय-विशेषके द्वारा यह श्वासका निर्गमन रोका जा सकता है। तब श्वास-ग्रहण भी आवश्यक नहीं होता। समाधिमग्न योगीकी यह अवस्था इतनी स्वाभाविक होती है कि सर्वसाधारणका श्वास ग्रहण और त्याग उनके लिए अस्वाभाविक जान पड़ता है। श्वासकी बहिःक्रिया निरुद्ध होने पर भी उनकी श्वसन-क्रिया भीतर ही भीतर चलती रहती है। उस समय वह सुषुम्ना नाड़ीके भीतर रहती है, अतएव बाहरसे उसकी क्रिया लक्षित नहीं होती। श्वास एक बारगी रुद्ध हो जाने पर शरीर नहीं रह सकता। हमारे शारीरिक सारे व्यापार इस श्वसन-क्रियाके अधीन हैं। पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, यहाँ तक कि वृक्षलता आदिके भीतर भी यह श्वसन-क्रिया अविरत गतिसे चलती रहती है। सुषुम्नाके भीतर श्वसन-क्रियाका बाह्य चिह्न नहीं रहता। उसके अस्तित्वका प्रमाण यही है कि श्वसन-क्रिया न होती तो बीजके भीतर अङ्कुरकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। भुने बीजमें अङ्कुर नहीं निकलता, क्योंकि उसके भीतर प्राण-प्रवाहिकाकी आधार-स्वरूप नाड़ी अग्निमें जलकर नष्ट हो जाती है। यह प्रवाहिका जबतक रहती है तबतक जीवके मृतवत् होने पर भी उसके भीतर जीवनी-शक्ति लौट आ सकती है। प्रवाहिकाके नष्ट हो जाने पर जीवनकी फिर कोई आशा नहीं रहती। समाधिमग्न योगीकी बाह्य श्वास-क्रिया नहीं रहती, यहाँ तक कि चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक्के भीतर भी प्राणका स्पन्दन नहीं पाया जाता। फिर भी उनके भीतर निश्चयपूर्वक प्राण रहता है, क्योंकि व्युत्थित योगीके इन्द्रियादिके कार्य साधारण जीवके समान ही देखे जाते हैं। यह प्राणधारा जब इड़ा-पिङ्गलाके भीतरसे प्रवाहित होती है तब हम श्वासके आने-जानेको लक्षित करते हैं। जीवकी इस अवस्थाको साधारण भाषामें जीविता-वस्था कहते हैं। एकमात्र प्राणको ही विविध कार्योंके अनुसार तथा उनके विभिन्न स्थानोंमें गतिके अनुसार प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय आदि उपाधियाँ दी जाती हैं। इस प्रकार प्राण देहमें सर्वत्र विचरण करके देहेन्द्रिय मनोबुद्धि आदिको अपने अपने कार्यमें संस्थापित करता है। सृष्टि, पोषण और ध्वंसके कार्य इस प्राणकी ही शक्ति-विशेष हैं। ये सारी कार्य-शक्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामसे अभिहित होती हैं। सृष्टिका स्थान है मूलाधारसे नाभि। नाभि और

वक्षःस्थलके बीचमें पोषण-कार्य सम्पादित होता है। कण्ठसे आज्ञाचक्र तक लयस्थान है और उसके ऊपर सहस्रार अमृतमय स्थान है। इस स्थानमें स्थिति होने पर जीव अजर अमर हो जाता है। प्राणापानादिके साधारणतः विक्षिप्त स्वभाव हैं, परन्तु प्राणका एक अपरिवर्त्तनीय स्थिर भाव भी है, वही आत्मा है। प्राणका यह स्थिर भाव न हो तो उसका चाञ्चल्य भी न रहे। यह स्थिर और चञ्चल भाव योनि और लिङ्ग, प्रकृति और पुरुषकी संयुक्तावस्थाके समान एकसाथ गुँथे हुए रहते हैं। उनसे ही मानो जगत् और ब्रह्म एकसूत्रमें ग्रथित हैं। चञ्चल और स्थिर प्राण एकसाथ ग्रथित हैं, अतः इस चञ्चलतासे स्थिर भावको बाहर करना पड़ेगा। जैसे दूधका जलभाग अलग कर देने पर उसके भीतर घृत दीख पड़ता है, उसी प्रकार अनन्त चाञ्चल्यके भीतरसे अनन्त स्थिरताको बाहर कर लेना पड़ेगा। मुञ्जतृणसे इषीका (सीक) ग्रहण करनेके समान धैर्यके साथ स्थिर प्राण अन्तरात्माको प्राणायामादि योग-कौशलके द्वारा इस शरीरेन्द्रियसे अलग कर डालना पड़ेगा। सूत्रात्मा (जीव या प्राण) परमात्माके साथ नित्य योगयुक्त है तथापि जीवके अदृष्टके वश स्वयं केन्द्रसे परिधि पर्यन्त भ्रमण करके फिर केन्द्रकी ओर लौटता है। जीव बहिर्मुख होकर केन्द्रसे परिधिके भीतर पुनः पुनः घूमता हुआ भटक रहा है। जन्ममृत्यु-चाञ्चल्य-जनित सुखदुःखादिका विकार स्वकेन्द्रसे बहिर्भागमें विचरणके कारण होता है। फिर अपने केन्द्रमें लौट आने पर इस समस्त चाञ्चल्यका लेशमात्र भी नहीं रहता। साधनके प्रभावसे प्राणादि वायु अपने केन्द्र सूत्रात्माके भीतर लौट आती है। सूत्रात्माके परमात्मामें सम्मिलित होने पर जो अवस्था प्राप्त होती है योगीलोग उसको अवस्थाभेदसे सविकल्प और निर्विकल्प समाधि नाम देते हैं। प्राणको रुद्र कहते हैं। जैसे रुद्र संख्यामें एकादश हैं वैसे ही प्राण भी (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय) सूत्रात्माको लेकर एकादश हैं। प्राणके रुद्र होनेका प्रमाण है—"ये रुद्रास्ते खलु प्राणाः"। रुद्रका अर्थ है जो रोदन कराते हैं। यह प्राणरूपी रुद्र ही विभिन्न नाड़ियोंसे प्रवाहित होकर देहीको अष्टपाशमें मानो आबद्ध कर रखते हैं। दर्शन-श्रवणादि क्रिया सब प्राणवायुके अधीन हैं। इसी दर्शन-श्रवणादिके द्वारा जीव मोहाविष्ट होकर विषयोंमें आसक्त होकर बद्ध होता है और बहुत दिनों तक दुःख भोगता और रोता रहता है। इसीलिए श्रुतिमें ऋषियोंने प्रार्थना की है—"रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्"। हे रुद्र! अपने प्रसन्न दक्षिण मुखके द्वारा मेरी सदा रक्षा करो। प्राणकी स्थिरता ही रुद्रका दक्षिण मुख है। प्राण जब सुषुम्नावाही होता है तो उसका प्रसन्न भाव साधकको अभयदान करता है। प्राणके सुषुम्नावाही होकर प्रशान्त भाव धारण किये बिना पुनः पुनः जन्ममरणके चक्करसे परित्राण पानेका दूसरा कोई उपाय नहीं है। यही प्रकृत शिवोपासना या लिङ्गपूजा है। इस प्रकारकी शिवोपासना ही सारात्सार तत्त्व है। जान पड़ता है भक्त साधक तुलसीदासने इसी कारण कहा है—

औरो एक गुपुत मत सबहिं कहौं कर जोरि।
शङ्कर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि॥

लिङ्ग और योनि, ये दो सृष्टि-कार्यके प्रधान उपकरण हैं। शिव-शक्ति, पुरुष-प्रकृति अथवा ईश्वर और माया ये युग्मभाव इस लिङ्ग और योनिके साङ्केतिक नाम हैं। यद्यपि ये एकके ही विभिन्न प्रकाश हैं तथापि इन दोनों मूल शक्तियोंके संयोगसे ही सृष्टिकार्य होता है। ये दोनों शक्तियाँ स्वरूपतः बीजावस्थामें एकत्र मिलित रहती हैं, उस समय बीजके भीतर ये दोनों अभिन्न रूपमें वर्तमान होती हैं। इस अभिन्न युग्मभावको ही ईश्वर या ईश्वरी कहते हैं। इस ईश्वरके भीतर एक ओर जहाँ सृष्टि-कारिणी शक्ति विद्यमान रहती है वहाँ दूसरी ओर वह तद्रूप प्रपञ्चातीत शान्त शिवाद्वैत परमब्रह्मरूपमें वर्त्तमान है। उस समय शिव और शक्तिको पृथक् रूपमें नहीं समझ सकते। परन्तु जब परब्रह्मके भीतर सृष्टिकी इच्छा होती है, तब उनके इस सृष्टिमुखी संकल्परूपी बुद्बुदके उदय होते न होते शिव-शक्ति पृथक् हो जाते हैं और द्वैत तत्त्वका विकास होने लगता है। परन्तु शिव-शक्ति उस समय भी विच्छिन्न नहीं होते, उस समय भी दोनों अङ्गाङ्गी-भावसे अच्छेद्य बन्धनमें मिले रहते हैं। उस समय अलिङ्ग-पदवाच्य न होने पर भी वह ज्ञान-गोचर नहीं होता। इसलिए इस भावको भी अव्यक्तावस्था कह सकते हैं। यही शिव-शक्तिका समरस भाव है, यही जगदम्बा या आद्या शक्ति है, इसमें जो चैतन्य है वही द्वितीय पुरुष है। पश्चात् इस अव्यक्तावस्थाको भेद करके जो भास्कर-ज्योति आविर्भूत होती है, उसको ही लिङ्ग कहा जाता है, यही तृतीय पुरुष है। इसी स्थानसे प्रकृति-पुरुषका भेद आरम्भ होता है। लिङ्ग जब प्रकाशित होता है तो उसके साथ योनि भी उत्पन्न होती है। पहले जो एक अद्वितीय था, पश्चात् जो द्वैतरूपमें प्रकाशित होकर भी अव्यक्तके भीतर अङ्गाङ्गी-रूपमें वर्त्तमान था, अब वह अभेद-भाव मानो छूट गया, प्रकृति-पुरुष दोनों पृथक् भावमें प्रकाशित होने लगे। परन्तु पारस्परिक पृथक् अस्तित्व प्रस्फुटित होने पर भी जान पड़ता है कि ये एक दूसरेके साथ मानो जुटे हुए हैं। वस्तुतः इस अवस्थामें उनका पृथक् रूप या भाव प्रकाशित होने पर भी वे कदापि एक दूसरेको छोड़कर नहीं रहते। यही पुरुष-प्रकृतिका पृथक् और मिलित भाव है। योगी लोग इसीको कूटस्थ-ज्योतिरूपमें दर्शन करते हैं। ज्योतिर्मय प्रकृतिमण्डलका मध्यबिन्दु या केन्द्र-स्थानीय जो कृष्ण गोलक छोटे शालग्राम पत्थरके समान है, वही राधावक्षःस्थल-स्थित श्रीकृष्ण हैं। वही साधकोंके ध्येय सवितृमण्डल-मध्यवर्ती पुरुष हैं। यह पुरुष पुरुषोत्तम नारायण या द्वितीय पुरुषके साथ अभिन्न है। किन्तु ज्योति और उसके मध्यमें स्थित कृष्ण अर्थात् 'पुरुषं कृष्णपिङ्गलं' नीलपीत मिश्र वर्ण है, वही तृतीय पुरुष है। इन दोनोंका ऐसा सम्बन्ध है कि एकको छोड़कर दूसरा प्रकाशित नहीं होता—यही युगल भाव है। सब प्रकारके सृष्ट पदार्थोंमें यह युग्म भाव अनुस्यूत है। यह युग्मरूप शिवशक्ति-समरस-भावपूर्ण चिदाकाशसे सरोवरके जलमें प्रस्फुटित कमलके समान उत्थित होता है, ठीक योनिके भीतर शिव-लिङ्गके समान। ज्योति ही मानो प्रकृतिकी देह है और कृष्ण गोलकके भीतर बिन्दु मानो पुरुषकी देह है। ये देहद्वय पृथक् भावसे प्रकटित होकर भी अनादिकालसे नित्य मिलितावस्थामें वर्त्तमान हैं। यह ज्योतिः-स्वरूप देह त्रिगुणान्वित है, इसीसे इसकी तीन रेखाओंके रूपमें कल्पना करते हैं। इन

तीनों रेखाओंके मिलनेसे एक त्रिभुज गठित होता है। ये तीनों वस्तुतः एक होने पर भी गुणोंके प्रभेदसे विभिन्नाकार (श्वेत-रक्त-कृष्ण रूप) को प्राप्त होते हैं। परन्तु उस अवस्थामें भी उनका केन्द्र-मध्यस्थ बिन्दु एक ही होता है। यह योनिमण्डल ऊर्ध्वमुख और अधोमुख भेदसे दो प्रकारका होता है। ऊर्ध्वमुख योनिको ब्रह्मयोनि और अधोमुख योनिको मातृयोनि कहते हैं। साधकको इसी मातृयोनिको भेद करके ऊपर उठना पड़ता है। इसी कारण तन्त्रमें कहा है—'मातृयोनिं परित्यज्य सर्वयोनिं (ब्रह्म) समाचरेत्'। परन्तु उभय योनियोंका केन्द्र है वह बिन्दु। इस बिन्दुस्थानको जाने बिना कोई साधक नहीं बन सकता। यद्यपि उभय योनियोंके भीतर वह एक बिन्दु (पुरुष) वर्त्तमान है तथापि जगत्योनि कुण्डलिनीके ऊपर और अधो भागमें अवस्थानके कारण इस बिन्दुमें भी मानो दोका भ्रम होता है। ये दो बिन्दु थर्मामीटरके पारेके समान ऊपर भी रह सकते हैं और नीचे भी। भेद इतना ही है कि यह बिन्दु एक ही समयमें उभय योनियोंमें वर्त्तमान होता है। जब यह बिन्दु अधोमुखी होकर मूलाधारस्थ त्रिकोण-यन्त्रमें अवस्थित होता है, तभी संसाराभिमुखी वासना प्रवाहित होती है, शिव जीवरूपमें प्रकाशित होते हैं। इस अधोमुखी बिन्दुको ऊर्ध्वमुख करनेकी प्रक्रिया है षट्चक्र-भेदकी क्रिया या प्राणायाम। इसको मूलाधारसे मानो बलपूर्वक उठाकर आज्ञाचक्रके ऊपर ऊर्ध्व त्रिकोणमें संस्थापित करना पड़ता है। प्राण-संयमके द्वारा जब ऊर्ध्व त्रिकोण-क्षेत्रमें बिन्दु संस्थापित होता है तब जीव शिव हो जाता है। इसको ही स्मरण कर वेद कहते हैं—'ऊर्ध्वलिङ्गं विरूपाक्षं विश्वरूपं नमोनमः'—यह विरूपाक्ष है, क्योंकि इसकी दृष्टि उस समय जगत्में सम्बद्ध नहीं होती। ऊर्ध्व त्रिकोणमें बिन्दु प्रतिष्ठित होने पर प्रपञ्चातीत अवस्थाका साक्षात्कार होता है। ऊर्ध्व त्रिकोणमें बिन्दुको धारण करना ही गर्भाधान-क्रिया है। ऊर्ध्व त्रिकोणमें गर्भधारण होने पर जगत्का लय होकर ब्रह्ममुखी अप्राकृत अवस्थाका उदय होता है तथा अधः त्रिकोणमें गर्भाधान होने पर जगत्-प्रपञ्च प्रकटित होता है।

—ॐ—

पञ्चदशोऽध्यायः

(पुरुषोत्तम-योगः)

(संसार-अश्वत्थ)

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)—ऊर्ध्वमूलं (ऊर्ध्वमें जिसका मूल है) अधःशाखम् (शाखाएँ जिसकी नीचेकी ओर हैं) [उस] अव्ययं (अव्ययको) अश्वत्थं (अश्वत्थरूप संसार, जो कल तक नहीं रहेगा, संसार इतना अनित्य है ! अ = नहीं, श्व = कल, स्था = रहना) प्राहुः (कहते हैं), छन्दांसि (सारे वेद) यस्य (जिसके) पर्णानि (पत्ते हैं) तं (उसको) यः वेद (जो जानता है) सः वेदवित् (वह वेदवेत्ता है) ॥१॥

श्रीधर—वैराग्येण विना ज्ञानं न च भक्तिरतः स्फुटम् ।
वैराग्योपस्कृतं ज्ञानमीशः पञ्चदशेऽदिशत् ॥

पूर्वाध्यायान्ते "माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते" इत्यादिना परमेश्वरं एकान्तभक्त्या भजतः तत्प्रसादलब्धज्ञानेन ब्रह्मभावो भवति इत्युक्तम् । न च एकान्तभक्तिः ज्ञानं वा अविरक्तस्य संभवति इति वैराग्यपूर्वकम् ज्ञानम् उपदेष्टुकामः प्रथमं तावत् सार्धश्लोकाभ्यां संसारस्वरूपं वृक्षरूपकालङ्कारेण वर्णयन् श्रीभगवान् उवाच—ऊर्ध्वमूलमिति । ऊर्ध्वं—उत्तमः क्षराक्षराभ्यां उत्कृष्टः पुरुषोत्तमो मूलं यस्य तम् । अधः इति ततोऽर्वाचीनाः कार्योपाधयो हिरण्यगर्भादयो गृह्यन्ते । ते तु शाखा इव शाखा यस्य तम् । विनश्वरत्वेन श्वः प्रभातपर्यन्तमपि न स्थास्यति इति विश्वासानर्हत्वात् अश्वत्थं प्राहुः । प्रवाहरूपेण अविच्छेदात् अव्ययञ्च प्राहुः, "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" इत्याद्या श्रुतयः । छन्दांसि—वेदा यस्य पर्णानि—धर्माधर्मप्रतिपादनद्वारेण छायास्थानीयैः कर्मफलैः संसारवृक्षस्य सर्वजीवाश्रयणीयत्वप्रतिपादनात् पर्णस्थानीयाः वेदाः । यः तं एवंभूतं अश्वत्थं वेद स एव वेदार्थवित् । संसारप्रपञ्चवृक्षस्य मूलं ईश्वरः श्रीनारायणः । ब्रह्मादयः तदंशाः शाखास्थानीयाः । स च संसारवृक्षो विनश्वरः, प्रवाहरूपेण नित्यश्च । वेदोक्तैः कर्मभिः सेव्यताम् इत्यापादितश्च । इति एतावानेव वेदार्थः । अतः एव विद्वान् वेदवित् इति स्तूयते ॥१॥

अनुवाद—[वैराग्यके बिना भक्ति या ज्ञान नहीं होता यह स्पष्ट अर्थात् व्यक्त है। इसलिए भगवान् १५वें अध्यायमें वैराग्यके साथ ज्ञानका उपदेश देते हैं।]

[१४वें अध्यायके अन्तमें (२६-२७वें श्लोकोंमें) 'मां च योऽव्यभिचारेण' इत्यादि वाक्योंमें कहा गया है कि परमेश्वरकी एकान्त भक्तिसे भजनशील व्यक्ति तत्प्रसादलब्ध ज्ञानके द्वारा मुक्ति प्राप्त करते हैं। परन्तु अविरक्त (वैराग्यहीन) व्यक्तिको एकान्त भक्ति या ज्ञान होना सम्भव नहीं है, इसलिए वैराग्य-पूर्वक ज्ञानका उपदेश देनेकी इच्छासे पहले डेढ़ श्लोकोंके द्वारा संसार-स्वरूपका रूपकालङ्कारमें वर्णन करते हुए] श्रीभगवान् बोले—यह संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूल है अर्थात् इसका मूल ऊर्ध्व (उत्तम) है। क्षर और अक्षरसे जो उत्कृष्ट है वह पुरुषोत्तम इसका मूल है। संसार तथा पुरुषोत्तमसे अधः अर्वाचीन कार्योपाधिविशिष्ट हिरण्यगर्भादि इसके द्वारा गृहीत हुए हैं। वृक्षकी शाखाके समान इसकी शाखाएँ हैं। उसको अश्वत्थ कहते हैं, क्योंकि विनश्वर होनेके कारण "श्वः" अर्थात् आगामी प्रभात पर्यन्त टिकने वाला नहीं है, इसलिए विश्वासके योग्य नहीं है। पुनः इसको 'अव्यय' कहते हैं, क्योंकि प्रवाहरूपसे इसका कभी विच्छेद नहीं होता। "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः"—कठ० उप०। (एषः–यह संसाररूप वृक्ष, अश्वत्थ—अस्थायी है, आगामी दिवस पर्यन्त रहेगा या नहीं, कहा नहीं जा सकता। ऊर्ध्वमूल—इसका मूल ऊर्ध्वमें है अर्थात् यह ब्रह्मसे उत्पन्न है, अवाक्शाखः—निम्नदिशामें फैली हुई शाखाओंसे युक्त है अर्थात् देव-मनुष्य-तिर्यगादि जीवोंके द्वारा पूर्ण है। सनातनः—अनादि कालसे यह संसार प्रवाह-रूपमें चला आ रहा है)। सारे वेद इस संसार-वृक्षके पत्ते हैं अर्थात् धर्माधर्म-प्रतिपादनके द्वारा, छायास्थानीय कर्मफलोंके द्वारा संसार-वृक्षको जीवोंके आश्रयणीय रूपमें प्रतिपादन करते हैं, इसलिए सब वेद मानो पत्तोंका कार्य करते हैं। वेद जिस धर्माधर्मका प्रतिपादन करते हैं वे धर्माधर्म ही कर्मफलकी उत्पत्तिके कारण हैं। कर्मफल छायास्थानीय होकर सब जीवोंके आश्रयस्वरूप हैं, इसलिए संसारवृक्षके पर्णस्थानीय वेद हैं। [यथा वृक्षस्य परिरक्षणार्थानि पर्णानि तथा वेदाः संसारवृक्षपरिरक्षणार्थाः धर्माधर्म-तद्धेतु-फल प्रकाशनार्थत्वात्। जैसे पत्ते वृक्षकी रक्षाके कारण होते हैं, उसी प्रकार वेदत्रय भी संसारवृक्षके परिरक्षक हैं, क्योंकि वेदोंके द्वारा ही धर्म और अधर्मके कारण तथा फल प्रकाशित होते हैं—शङ्कर]

जो संसारको इस रूपसे जानता है वही वेदार्थवित् है। संसारप्रपञ्चरूपी वृक्षका मूल ईश्वर या नारायण हैं, उनके अंशस्वरूप ब्रह्मादि शाखास्थानीय हैं। यह संसारवृक्ष विनश्वर है, परन्तु प्रवाहरूपसे नित्य है। वेदोक्त कर्मोंके द्वारा इस संसारका सेव्यत्व प्रतिपादित होता है अर्थात् संसारमें आकर वेदोक्त कर्मोंका निर्वाह किया जाता है इसलिए यह सेव्य भी है—यही वेदार्थ या तात्पर्य है। इसलिए इस प्रकारके ज्ञानयुक्त पुरुषकी ही वेदवित्-रूपमें स्तुति की जाती है॥१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थद्वारा अनुभव हो रहा है—मूल ऊपर है और शाखा नीचे—सिर ऊपर, हाथ-पैर नीचे, इस प्रकार अश्वत्थवृक्षाकार कलेवर है, उल्टा छन्द अर्थात् कूटस्थके भीतर जो बेल-बूटे दीख पड़ते हैं वे पत्ते हैं, इस प्रकार जो कूटस्थको जानता है वह वेदको जानता है; और—। —श्रुतिमें भी है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत्॥ कठ० उप०।

एषः (यह संसाररूपी वृक्ष) अश्वत्थः (अचिरस्थायी है, आगामी दिवस तक रहेगा या नहीं, इसमें सन्देह है) [इस अश्वत्थका] ऊर्ध्वमूलः (ऊर्ध्व जो विष्णुका परम पद है वही इसका मूल है) अवाक्शाखः (जिसकी शाखाएँ नीचेकी ओर हैं—स्वर्ग, नरक, तिर्यक् और प्रेतादिकी देह-प्राप्ति रूप शाखाओं द्वारा अवाक्शाख है) [भूः भुवः स्वः महः जनः तपः और सत्यः इन सप्तलोकोंमें रहने वाले ब्रह्मादि भूतसमूह-रूपी पक्षियोंने इसमें नीड़ बनाये हैं] सनातनः (अनादिकालसे प्रवाहरूपमें वर्त्तमान होनेके कारण चिरन्तन है)। [इस संसारवृक्षका जो मूल है] वह शुक्रं (शुभ्र या शुद्ध ज्योतिर्मय चैतन्यात्मक आत्मज्योतिःस्वभाव है), तत् ब्रह्म (सर्वापेक्षा महत्त्वपूर्ण होनेके कारण वह ब्रह्म है) तत् एव (वही) अमृतं (अविनाश-स्वभाव) उच्यते (कहलाता है), सर्वे लोकाः (सारे लोक) श्रितः (उस ब्रह्मके ही आश्रित हैं), तत् उ (उसको) कश्चन (कोई) न अत्येति (अतिक्रमण करके अवस्थान नहीं कर सकता)। यहीं वह वस्तु है, जिसको नचिकेताने जानना चाहा था।

मैंने पहले अनेक वार इस गीताकी व्याख्यामें उल्लेख किया है कि ब्रह्माण्ड ही संसार है और यह देह उस ब्रह्माण्डका क्षुद्र आयतन है। "देहेऽस्मिन् वर्त्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः। सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः। त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि मे मतः" (शिवसंहिता)। श्रीमद् आचार्य शङ्करने भी कहा है कि यह संसारवृक्ष अवाक्शाख है यानी इसकी शाखाएँ नीचेकी ओर फैली हैं। स्वर्ग, नरक, तिर्यक् और प्रेतादि देह-रूप शाखाओंके द्वारा यह अवाक्शाख है। भुः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यः—इन सात लोकोंमें रहनेवाले ब्रह्मादि भूतसमूह-रूपी पक्षियोंने इसमें नीड़ बनाया है। यह वृक्षाकार-कलेवर है। मूल शब्दसे हम लोग साधारणतः नीचेकी ओर समझते हैं, परन्तु इस वृक्षका मूल ऊपर है और शाखा नीचे। यह मूल जीवका मस्तक, मेरुशिखर है। यह मेरुशिखर सहस्रार ही विष्णुका परम पद है। *

---

* जीवके मूलको मस्तिष्क या मेरुशिखर कहने पर कोई यह न समझे कि मस्तिष्क (Brain) ही मानो असल वस्तु है। मस्तिष्क तो जीव-संवित्के आत्मप्रकाशका स्थान-मात्र है। मस्तिष्क-रूप अवयव आत्माका अधिष्ठान है। परन्तु ये सब भी आत्मचैतन्य नहीं हैं, देहको अवलम्बन करके केवल आत्मप्रकाश-मात्र करते हैं। शरीरके नाशसे जीवका नाश नहीं होता, बल्कि देहसे जीवके निकलने पर देहका ही नाश होता है। इसलिए वाक्य असल वस्तु नहीं है, जो बोलता है वही ज्ञेय या आत्मा है। घ्राण असल सत्य वस्तु नहीं है, घ्राता ही असल

शवस्थानं शैवाः परमपुरुषं वैष्णवगणाः
लपन्तीति प्रायो हरिहरपदं केचिदपरे।
पदं देव्याः देवीचरण-युगलानन्दरसिका
मुनीन्द्रा अप्यन्ये प्रकृतिपुरुषं स्थानममलाः ॥

शैव लोग उक्त स्थानको शिवस्थान कहते हैं। वैष्णवलोग उसको परम पुरुष विष्णुका स्थान कहते हैं। कोई कोई उसको हरिहरस्थान कहा करते हैं। देवीभक्त उसको शक्ति-स्थान तथा कोई कोई विशुद्ध मुनिगण उसे प्रकृति-पुरुषका स्थान कहते हैं।

इह स्थानं ज्ञात्वा नियतनिजचित्तो नरवरो
न भूयात् संसारे क्वचिदपि च बद्धस्त्रिभुवने।
समग्रा शक्तिः स्यान्नियममनसस्तस्य कृतिनः
सदा कर्त्तुं हर्त्तुं खगतिरपि वाणी सुविमला ॥

इस सहस्रार-पद्मको जानकर जो अपने चित्तको उसमें संयत करनेमें समर्थ होता है, वही नरश्रेष्ठ है। उसको फिर संसारमें या त्रिभुवनमें कहीं आबद्ध नहीं होना पड़ता। वह संयतचित्त-कृती ही समग्र शक्तिको आयत्त कर सकता है। सृष्टि-स्थिति-संहारका उसको सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है और वह शून्यमार्गमें विचरण कर सकता है। वाग्देवी उसके मुखमें निरन्तर अधिष्ठान करती हैं।

ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्त्वा क्षणार्द्धं यदि तिष्ठति।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥

ब्रह्मरन्ध्रमें मन स्थापित करके यदि कोई क्षणार्द्ध भी अवस्थान कर सकता हो तो वह सर्व पापसे मुक्त होकर परम गतिको प्राप्त करता है।

अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ॥

जिसका चित्त ब्रह्मरन्ध्रमें लीन होता है, वही पुरुषोतम है। वह स्वेच्छानुसार अणिमादि ऐश्वर्योंको भोगकर अन्तमें मुझमें ही विलीन हो जाता है।

इस सहस्रार-कमलदल-स्थित विष्णुके परम पदसे गङ्गा-यमुना-सरस्वतीरूप त्रिधारा (इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना-रूपी नाड़ीत्रय) प्रवाहित होती है। ये तीनों धारायें त्रयी या वेदत्रय हैं। इस वेदत्रयकी क्रियाके द्वारा अर्थात् इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नाका कार्य होते रहने पर ही त्रिलोक व्यवस्थित रहते हैं। जबतक इनकी क्रिया वर्त्तमान रहती है, तबतक ये भूः भुवः स्वः आदि त्रिलोक विद्यमान रहते हैं।

वस्तु है। रूप असल वस्तु नहीं है, द्रष्टा ही ज्ञातव्य वस्तु है। मन असल वस्तु नहीं है, मननकर्त्ता ही असल वस्तु है। कर्म असल वस्तु नहीं है, कर्मका कर्त्ता ही असल ज्ञातव्य वस्तु है—(कौषी० उप०)। अतएव मनुष्यके अवयवोंमें मस्तिष्कके भीतर जिस स्थानमें विष्णुका परमपद अभिव्यक्त हुआ है उसे ही सहस्रदल-पद्म कहते हैं।

जिस सहस्रारमें सब मिलकर एक हो गये थे, जहाँ कुछ नहीं था, उसी महाशून्य परव्योम (क्रियाकी परावस्था) से सृष्टिकी अभिव्यक्ति होती है।

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्विन्दुसमुद्भवः॥

—शारदातिलक

सच्चिदानन्द ब्रह्मयुक्त आद्या शक्तिसे जो नाद उत्पन्न हुआ है, उस नादसे ही बिन्दुकी उत्पत्ति होती है।

प्राणियोंके सकाम भावसे कृत कर्म जब फलोन्मुख होते हैं तब सर्वसाक्षी, सर्वकर्म-फलप्रद परमेश्वरसे स्वयमेव सृष्टि, माया और पुरुषका प्रादुर्भाव होता है। तदनन्तर बिन्दुरूपी त्रिगुणात्मक अव्यक्तका आविर्भाव होता है। यही "शक्तितत्त्व" है। बिन्दुका अचिदंश "बीज" है और चिदचिद् मिश्रांश "नाद" है। चैतन्याधिष्ठित प्रकृति या शक्तिकी क्रियाप्रधान अवस्था ही नाद है।

'अवयवीभूत होना' अर्थवाले 'विन्द्' धातुके आगे 'उ' प्रत्यय लगानेसे विन्दु पद सिद्ध होता है। जो अवयवीभूत है, वही बिन्दु है। रेखाओंसे त्रिकोण चतुष्कोण आदि नाना आकार (Figure) बनते हैं। रेखा बिन्दुकी समष्टिमात्र है। बिन्दु अविभाज्य वस्तु है, किन्तु उस बिन्दुके परिचालनसे (माया-शक्तिके प्रभावसे) अनेक बिन्दुओंकी उत्पत्ति प्रतिभात होती है। उन बिन्दुओंकी समष्टि ही रेखा है तथा रेखाके परिच्छिन्न संस्थानमें त्रिकोण, चतुष्कोण, वृत्त आदि आकृतियाँ निष्पन्न होती हैं।

अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म मायाशक्तिके द्वारा स्वीय तनुको नानारूपसे परिच्छिन्न करते हैं। उस मायाके द्वारा एक-अखण्ड वस्तु नानारूपोंमें प्रतिभात होती है। सहस्रार में कलातीत परब्रह्म या परमा प्रकृति अवस्थान करती है। वही आज्ञाचक्रमें मनोरूप कलास्वरूप परशिव है तथा विशुद्धचक्रमें आकाशमूर्त्ति बिन्दुस्वरूप महेश्वर है। अनाहतचक्रमें वही, वायुमूर्त्ति नादरूप ईश्वर है। मणिपूरचक्रमें तैजस मूर्त्ति रुद्र, स्वाधिष्ठानचक्रमें जलमूर्त्ति विष्णु और मूलाधारचक्रमें पृथिवीमूर्त्ति ब्रह्मा है। उससे ही सब सृष्ट पदार्थोंकी उत्पत्ति है। अतएव हमारी यह देह ही ब्रह्मादि देवताओंका आधार-स्थान है। क्रियाकी परावस्थामें स्थिर होने पर शून्यसे एक शब्द होता है, उस शब्दका नाम नाद है। उस नाद-ब्रह्मके एकांशमें जगत् और अर्द्धमात्रामें निश्चल स्थिति या क्रियाकी परावस्था है। पक्षिशावकके नीड़के समान हृदय आत्माका स्थान है। यही आत्मा विषययुक्त होने पर जीव तथा विषय-पाशसे मुक्त होने पर शिव है। क्रियाकी परावस्था अव्यक्त पद है। उस अव्यक्त ब्रह्मसे एक पुरुष होता है जो दीखता है और नहीं भी दीखता। उस पुरुषके परे और कुछ नहीं है। वही काष्ठा है, वही परा गति है। १८ निमेष तक जिसकी बिना क्लेशकी ही स्थिति होती है, उसीने कालको जीत लिया है, वही परा गति है। उत्तम पुरुषका रूप शरीरके ही समान है अर्थात् मनुष्या-कृति, अङ्गुष्ठमात्र ज्योतिःस्वरूप है। वह भ्रूमध्यमें दीख पड़ता है। केशके एक हजार भागके एक भागके बराबर सूक्ष्म नक्षत्रके समान जो ज्योति है, वही जीव है। वह सुषुम्नाके

भीतर आता-जाता है। "अक्षरात् सञ्जायते कालः"—ब्रह्मसे काल अर्थात् शून्य और शून्यसे वायु उत्पन्न होती है। वही वायु ऊर्ध्वमें जाकर तम होती है। उस तमसे जल, जलको मथनेसे शिशिर, उसको मथनेसे फेन, फेनसे अण्ड, अण्डसे ब्रह्मा, उससे वायु, वायुसे ॐकाररूप शरीर, उससे मूलाधारमें सावित्री जगद्धात्री और उससे सारे लोक होते हैं। पुनः उससे उल्टी दिशामें गायत्री अर्थात् क्रिया करना, क्रिया करके कूटस्थमें रहना और पश्चात् क्रियाकी परावस्था प्राप्त करना। क्रिया करते-करते कूटस्थमें रहना बनता है, ज्योतिका दर्शन होता है तथा अमृतरूप रसास्वादन होता है। तब एक आश्चर्यजनक स्थिति मूलाधारसे लिङ्गमूल और लिङ्गमूलसे नाभिपर्यन्त होती है। हृदयसे मस्तक पर्यन्त जो वायु रहती है वही इड़ा या प्राणवायु है। पिङ्गलाकी गति अधोदेशमें होती है। इस अधः और ऊर्ध्वके बीचमें सुषुम्ना है। यह अग्निस्वरूप है। यह सब वस्तुओंको भस्म करके एक कर देती है और स्वयं भी भस्म हो जाती है। कण्ठसे मस्तक पर्यन्त अग्नि है, इसको ब्रह्माग्नि कहते हैं, यह स्वपकाशस्वरूप है। ये तीन वायु नाभिमें एक होकर जब हृदय पर्यन्त स्थिर होती हैं तभी क्रियाकी परावस्था होती है। तब प्राण और अपान समानरूपसे स्थिर होते हैं—यही प्रलय है। सृष्टि इसी प्रकार ब्रह्मसे देह पर्यन्त क्रमानुसार होती है। यह सृष्टि और लय वारंवार होता रहता है। एक अवस्थामें नहीं रहता, इसी कारण यह अश्वत्थ है। सर्वदा इसी प्रकार सृष्टि और लय होता रहता है, इसलिए प्रवाहरूपसे यह अव्यय है। जैसे पत्ते वृक्षको सजीव रखते हैं उसी प्रकार छन्द अर्थात् जीवकी इच्छा या वासना ही इस संसार-वृक्षको जीवित रखती है। यह इच्छा ही कूटस्थके भीतर विविध शक्तियोंके खेल और वर्णरूपमें देखी जाती है। इस कूटस्थको जो जानता है वही वेदको जानता है—"न वेदं वेद इत्याहुर्वेदो ब्रह्म सनातनम्"। यही वेद ब्राह्मणके लिए पाठ्य है। इसीलिए सबको क्रिया करनी चाहिए। क्रिया करने पर क्रियाकी परावस्थामें हृदय, प्राण, मन सब स्थिर हो जाते हैं, यही यज्ञसूत्रकी तीन ग्रन्थियाँ हैं। वह परम पवित्र है अर्थात् पञ्च तत्त्वके (पञ्च तत्त्व ही मूल हैं) अतीत है। आत्मा 'सहजं' अर्थात् जन्मके साथ श्वासरूपमें होता है और वह 'पुरस्तात्' अर्थात् इस देह-पुरमें रहता है। वह 'प्रजापति' है, सबकी उत्पत्तिका कर्त्ता है, प्राणके बिना किसी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती। वह आयु है अर्थात् आयुस्वरूप श्वास जबतक है तबतक जीवन है। 'अग्र्यम्'—अग्रभावमें अर्थात् वायु जब ऊर्ध्वमें, मस्तकमें गमन करती है तो उसके द्वारा 'बलमस्तु तेजः'—बल और तेज होता है अर्थात् योगबल, सर्वव्यापकत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्ता आदि शक्तियाँ होती हैं।

पश्चात् निर्गुण ब्रह्म जो परव्योम है उसमें वह लीन हो जाता है। क्रियाकी परावस्थाका रूप अगोचर है अर्थात् सब गुण हैं फिर भी निर्गुण है। उस गुणातीत अवस्थामें यह सारा विश्व, तुम, मैं, स्त्री, पुरुष, बड़े, छोटे सब एक हो जाते हैं, एक कहने वाला भी वहाँ कोई नहीं रहता ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

अन्वय—तस्य (उसकी) गुणप्रवृद्धाः (गुणोंके द्वारा विशेषरूपसे वृद्धिको प्राप्त) विषयप्रवालाः (विषयरूप पल्लवोंसे युक्त) शाखाः (शाखाएँ) अधः ऊर्ध्वं च (अध और ऊर्ध्वभागमें) प्रसृताः (विस्तृत) मनुष्यलोके (मर्त्य लोकमें) कर्मानुबन्धीनि (धर्माधर्मरूप कर्मानुबन्ध) मूलानि (मूल-समूह) अधः च (निम्न दिशामें विशेषरूपसे) अनुसन्ततानि (विस्तृत हो रही हैं) ॥ २ ॥

श्रीधर—किञ्च–अधश्चेति। हिरण्यगर्भादयः कार्योपाधयो जीवाः शाखास्थानीयत्वेन उक्ताः। तेषु च ये दुष्कृतिनः ते अधः—पश्वादियोनिषु प्रसृताः—विस्तारं गताः। सुकृतिनश्च ऊर्ध्वं—देवादियोनिषु प्रसृताः तस्य संसारवृक्षस्य शाखाः। किञ्च गुणैः—सत्त्वादिवृत्तिभिः जलसेचनैरिव यथायथं प्रवृद्धाः—वृद्धिं प्राप्ताः। किञ्च विषयाः—रूपादयः, प्रवालाः—पल्लवस्थानीया यासां ताः। शाखाग्रस्थानीयाभिः इन्द्रियवृत्तिभिः संयुक्तत्वात्। किञ्च अधश्च, च-शब्दादूर्ध्वं च मूलानि अनुसन्ततानि—विरूढानि। मुख्यं मूलं ईश्वर एव। इमानि तु अन्तरालानि मूलानि तत्तद्भोगवासनालक्षणानि। तेषां कार्यमाह—मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनीति। कर्म एव अनुबन्धि—उत्तरकालभावि येषां तानि। ऊर्ध्वाधोलोकेषु उपभुक्त-तत्तद्भोगवासनादिभिः हि कर्मक्षयेण मनुष्यलोक-प्राप्तानां तत्तदनुरूपेषु कर्मसु प्रवृत्तिर्भवति। तस्मिन्नेव हि कर्माधिकारो नान्येषु लोकेषु, अतो मनुष्यलोके इत्युक्तम् ॥ २ ॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—हिरण्यगर्भादि कार्योपाधिविशिष्ट जीवगण शाखास्थानीय कहे गये हैं। उनमें जो दुष्कृतिशाली हैं वे अधःशाखा हैं, वे पशु आदि योनियोंमें विस्तारको प्राप्त होते हैं। और जो सुकृतिशाली हैं वे ऊर्ध्वशाखा हैं, वे देवादि योनियोंमें विस्तृत होते हैं, वे भी उसी संसारवृक्षकी शाखा हैं। ये सारी शाखाएँ सत्त्वादि गुणोंकी वृत्तिरूपी जलसिञ्चनके द्वारा वृद्धिको प्राप्त हो रही हैं। शाखाग्रस्थानीय इन्द्रिय-वृत्तियोंके साथ संयुक्त होनेके कारण रूप-रस आदि इन्द्रियविषय-समूह 'प्रवाल' अर्थात् किसलय या नव पल्लवस्वरूप हैं। 'अधश्च'के 'च' शब्दसे (केवल अधः नहीं) ऊर्ध्वभागमें भी सारे मूल 'अनुसन्तत' अर्थात् विरूढ़ या विस्तृत हैं। मुख्य मूल अवश्य परमेश्वर हैं, परन्तु ये अवान्तर मूल भोगवासनास्वरूप हैं। उनका कार्य बतलाते हैं—'मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि' अर्थात् वे कर्ममात्रमें अनुबन्धी अर्थात् उत्तरकालभावी हैं। इन अन्तराल-मूलोंका 'अनुबन्ध' अर्थात् उत्तरफल कर्म है। ऊर्ध्व तथा अधो लोकमें उपभुक्त जो भोगसमूह हैं, उन भोगोंकी वासना-द्वारा कर्मक्षय होने पर मनुष्यलोकको प्राप्त पुरुष तत्तत् वासनाके अनुरूप कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् ऊर्ध्व और अधोलोकमें तत्तत् भोगवासनाका उपभोग कर फिर जब मनुष्यलोकमें जन्म लेते हैं, तब उनकी उन्हीं वासनारूप कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। कर्माधिकार अन्य लोकमें नहीं है, केवल मनुष्यलोकमें ही है, इसीलिए मनुष्यलोककी बात ही यहाँ कह रहे हैं ॥ २ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अधःसे शाखा अर्थात् नाड़ियाँ ऊपर गयी हैं अर्थात् मस्तकमें; गुण अर्थात् इड़ा–पिङ्गला–सुषुम्ना भलीभाँति वृद्धिको प्राप्त हैं—उस कूटस्थके भीतर

प्रवाल वर्ण (गाढ़ रक्तवर्ण) जो सब देखनेमें आते हैं वे ही ऋषिस्वरूपमें कूटस्थकी ज्योतिमें नक्षत्रके भीतर दीख पड़ते हैं—अध:से ऊर्ध्वमें जानेके लिए चेष्टा प्राप्त लोग फलाकाङ्क्षाके साथ कर्म करनेके लिए उद्यत होकर मनुष्य अपने कर्मसे आप बद्ध हो जाते हैं।—संसार-वृक्षके सम्बन्धमें इस श्लोकमें और भी विशेषरूपसे कह रहे हैं। इस संसार-वृक्ष या इस नर-तनुमें वासनानुसार किसीकी शुभ कर्ममें और किसीकी अशुभ कर्ममें प्रवृत्ति हो रही है। इन सबका मूल कारण कूटस्थ ब्रह्म है जो आज्ञाचक्रमें तथा उसके ऊपर रहता है, परन्तु उसका अवान्तर कारण है असंख्य नाड़ियोंमें प्राणका प्रवाह। इसीके कारण मन शुभाशुभ कर्मोंमें स्पन्दित होता है। कर्मोंके अनुसार इन नाड़ियोंमें कर्मोन्मुखी स्पन्दन प्रकाशित होते हैं, उनके द्वारा जीव कर्मसूत्रमें आबद्ध होता है। नाड़ी-समूह जब स्पन्दित होकर वेगयुक्त होते हैं तो वह वेग मुख्यत: गुणत्रय अर्थात् इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाका ही वेग है। कर्म द्वारा ये वेग और भी प्रबल हो जाते हैं। इसी कारण ये जीवको कर्ममें आबद्ध करते हैं। ये नाड़ियाँ अधो दिशामें मूलाधारसे ऊर्ध्वमें आज्ञाचक्र पर्यन्त विस्तृत हैं। ये कर्मानुबन्धी धाराएँ प्रधानत: दो प्रकारकी हैं। कुछ तो ऊर्ध्वमुखी हैं और कुछ अधोमुखी। अधोमुखी स्पन्दनसे जिन कर्म-वासनाओंका उदय होता है वे जीवको और भी अधोगति प्रदान करती हैं। अर्थात् वारंवार जन्म, आवागमन होता है और कभी-कभी पशु आदि इतर योनियोंमें भी जन्म लेना पड़ता है। सबका जन्म वासनाके अनुसार ही होता है। ऊर्ध्वमुखी स्पन्दनसे जीवके सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और वह स्पन्दन सुषुम्नाका है। सुषुम्नाके स्पन्दनसे कूटस्थ-ज्योतिका दर्शन होता है। कूटस्थ-ज्योतिके भीतर गुहामें जो रक्तवर्ण ज्योति-पुञ्ज दीख पड़ते हैं, वे ही ऋषि गण हैं। इस प्रकारके ज्योतिर्मयरूपमें वे कूटस्थमें रहते हैं। जैसे बाहर शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि विषय-भोग होते हैं, भीतर भी उसी प्रकारके होते हैं। भीतर जितना ही अप्राकृतिक शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धका अनुभव होता है, साधक उतना ही अध्यात्म जगतके उच्च स्तरमें प्रवेश करता है ॥२॥

(वैराग्य द्वारा संसारवृक्षका छेदन)

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढ़मूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा ॥३॥

अन्वय—इह (इस संसारमें) अस्य (इस वृक्षका) रूपं (रूप) न उपलभ्यते (उपलब्ध नहीं होता) तथा (उसी प्रकार) न अन्त: न च आदि: (न अन्त और न आदि) न च संप्रतिष्ठा (और न स्थिति) [उपलब्ध होती है] एनम् (इस) सुविरूढ़मूलम् (सुदृढ़ मूलवाले) अश्वत्थं (अश्वत्थको) दृढ़ेन असङ्गशस्त्रेण (दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा) छित्त्वा (छेदन करके) [ब्रह्मको जान सकते हैं] ॥३॥

श्रीधर—किञ्च—न रूपमिति। इह संसारे स्थितैः प्राणिभिः अस्य संसारवृक्षस्य तथा ऊर्ध्वमूलत्वादि-प्रकारेण रूपं न उपलभ्यते, न च अन्तः अवसानं अपर्यन्तत्वात्, न चादिः

अनादित्वात्, न च संप्रतिष्ठा—स्थितिः, कथं तिष्ठतीति न उपलभ्यते। यस्मात् एवम्भूतोऽयं संसारवृक्षो दुरुच्छेद्यः अनर्थकरश्च तस्मात् एवं दृढेन वैराग्येण छित्त्वा तत्त्वज्ञाने यतेत—इत्याह —अश्वत्थमेनमिति सार्द्धेन। एनं अश्वत्थं सुविरूढमूलं अत्यन्तबद्धमूलं सन्तं असङ्गः—सङ्गराहित्यं अहंममतात्यागः तेन दृढेन शस्त्रेण सम्यग् विचारेण छित्त्वा पृथक् कृत्वा ॥३॥

अनुवाद—[और भी कह रहे हैं]—प्राणीवर्ग इस संसाररूपी अश्वत्थके ऊर्ध्वमूलत्वादि स्वरूपकी उपलब्धि नहीं कर सकते। इसके अन्तकी उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि संसार असीम है। इसके आदिकी भी उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि संसार अनादि है। इसकी स्थिति यानी संसार कैसा है, इसकी भी उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि यह संसार-वृक्ष दुरवच्छेद्य तथा अनर्थकारी है। अतएव इसको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा छेदन करके तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए यत्न करना आवश्यक है, यही सार्द्ध श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। अत्यन्त बद्धमूल इस अश्वत्थको असङ्ग अर्थात् सङ्गशून्यता—अहंममता-त्यागरूप शस्त्र—सम्यक् विचार द्वारा दृढ़ताके साथ छेदन करना होगा ॥३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कोई भूत इसको प्राप्त नहीं करता—इसका अन्त भी नहीं है, आदि भी नहीं है— क्योंकि 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' है—न सम्यक् प्रकारसे स्थिति है, क्रमशः चला जा रहा है। इस ब्रह्माकार कलेवरके ऊपर जो मूल मस्तक-स्वरूप है उसमें विशेषरूपसे आरूढ़ अर्थात् किसी कारणवश न जाना, बल्कि गुरु-वाक्यमें विश्वास करके क्रिया करते जाना इच्छा-रहित होकर—जो अस्त्र होता है खूब मजबूतीसे इच्छा-रहित स्वरूप अस्त्र द्वारा मूल छेदन करते हुए अर्थात् क्रिया करते हुए जो गुरुवक्त्रगम्य है।—स्वप्नदृष्ट वस्तु स्वप्नकालमें दीख पड़ने पर भी जाग्रत अवस्थामें नहीं रहती। स्वप्नावस्थामें जो प्राप्त हुआ वह तो रहता नहीं, अतएव कैसे कह सकते हैं कि वह वस्तु है। इसी प्रकार जिस संसारको लोग बुद्धिके विभ्रमसे इतना जकड़े रहते हैं, उसको वे पाते नहीं, तनिक विचार करने पर ही यह समझमें आ जाता है। ये सब इन्द्रजालिककी माया-मात्र हैं, मनकी कल्पनासे रूप-ग्रहण करके वह सामने फूट पड़ता है। आकाशमें दृष्ट मूर्त्ति जैसे मेघकी गतिके साथ वहाँ ही मिल जाती है, उसी प्रकार क्षण-क्षण जिसका रूप परिवर्तित हो रहा है उस संसारको सत्य कैसे कह सकते हैं! यह कब आरम्भ हुआ है और इसकी समाप्ति कब होगी तथा यह वस्तुतः है या नहीं—कुछ भी जाना नहीं जा सकता। क्रमशः जो चलता जा रहा है, उसकी स्थितिकी कल्पना कैसे कर सकते हैं? यह संसार-वृक्ष सत्य नहीं है, परन्तु सत्यवत् प्रतीत हो रहा है। संसारको इस प्रकार सत्यवत् देखना कब छूटेगा? इसीसे कहते हैं—'असङ्गशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा'। जो कल्पना मनसे उठी है वह मनके मिटे बिना कैसे जायगी? इसीसे इसका छेदन करनेके लिए असङ्ग-शस्त्र चाहिए। 'मैं' और 'मेरा'—यह भाव ही सङ्ग है। ऐसी अवस्था चाहिए जहाँ 'मैं' न रहे और 'मेरा' भी न रहे। गीताके अनेक स्थानोंमें कहा गया है—'मयि जीवत्वं कल्पितम्'—जीवभाव कूटस्थ-चैतन्यमें कल्पित-मात्र होता है। प्राणके चाञ्चल्यसे यह जीवभाव स्फुटित हो जाता है।

यदि प्राणका चाञ्चल्य दूर हो जाय तो उसके साथ-साथ मनकी कल्पना भी मनमें ही लय हो जायगी। जब मन ही न रहेगा तो उसकी कल्पना कैसे उठेगी? इसके लिए क्या करना होगा? इस वृक्षाकार कलेवरके मस्तकके ऊर्ध्व भागमें सहस्रदल कमल है। वह आज्ञाचक्रके ऊपर है। क्रिया द्वारा प्राण स्थिर होने पर वह आज्ञाचक्रके ऊर्ध्वमें स्थित होता है। तब जो इच्छारहित अवस्था आती है, वही त्रिगुणातीत अवस्था है। इस अवस्थाको प्राप्त योगी मुक्त होता है। उसका देहेन्द्रियके साथ कोई सम्पर्क नहीं रहता। यही है वस्तुतः देहसे विच्छिन्न होना। यह छेदन-कार्य क्रियाके द्वारा सम्पन्न होता है। जो कोई मन लगाकर क्रिया करेगा, वही स्थिर होकर इच्छारहित हो जायगा। फिर उसका देहेन्द्रिय आदिके साथ योग न होगा। यह असङ्ग-शस्त्र ही इच्छारहित अवस्था है। जो जितनी ही क्रिया करेगा और जिसका मनःप्राण जितना ही स्थिर होगा उतना ही वह सङ्गरहित हो जायगा। यह सङ्गरहित अवस्था बढ़ते-बढ़ते जब दीर्घकाल-स्थायी होती है तो परम पावन क्रियाकी परावस्था प्राप्त हो जाती है। वही मुक्तिपद है। हृदयमें प्राणवायुकी प्रतिष्ठा अर्थात् स्थिति होने पर परम स्थिरत्व-भावका उदय होता है। उसमें ही 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' बोध होता है। उसको योगीकी तुर्यावस्था कहते हैं॥ ३॥

(संसार वृक्षका मूल—ब्रह्मानुसन्धान)

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

अन्वय—ततः (तत्पश्चात्) तत् पदं (उस वैष्णव पदका) परिमार्गितव्यं (अन्वेषण करना होगा) यस्मिन् गताः (जिस पदमें प्रविष्ट होने पर) भूयः (पुनः) न निवर्त्तन्ति (संसारमें प्रत्यावर्त्तन नहीं करते) [कैसे अन्वेषण करना होगा?] तम् एव च (उसी) आद्यं पुरुषं (आदि पुरुषकी) प्रपद्ये (शरण ग्रहण करता हूँ—इस प्रकार बुद्धियुक्त होकर) यतः (जहाँ से) एषा (यह) पुराणी (चिरन्तन) प्रवृत्तिः (संसार-प्रवृत्ति) प्रसृता (निःसृत हुई है)॥ ४॥

श्रीधर—तत इति। ततः तस्य मूलभूतं तत् पदं—वस्तु वैष्णवं पदं परिमार्गितव्यं अन्वेष्टव्यं। कीदृशं? यस्मिन् गताः—यत्पदं प्राप्ताः सन्तो भूयो न निवर्त्तन्ति—न आवर्त्तन्ते इत्यर्थः। अन्वेषणप्रकारमाह—तमेवेति। यत एषा पुरानी चिरन्तनी संसार-प्रवृत्तिः प्रसृता विस्तृता,तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये—शरणं व्रजामि इत्येवं एकान्तभक्त्या अन्वेष्टव्यं इत्यर्थः॥४॥

अनुवाद—तत्पश्चात् इस संसारके मूलभूत 'तत्पदं' अर्थात् वैष्णव पदका अन्वेषण करना होगा। वह पद कैसा है? जिस पदको प्राप्त कर पुनः संसारमें प्रत्यावर्त्तन नहीं करना पड़ता। अन्वेषणकी प्रणाली कैसी होगी, यह बतला रहे हैं। "जिससे चिरन्तनी संसार-प्रवृत्ति विस्तृत हुई है उस आदि पुरुषकी मैंने शरण ली

है"—इस प्रकारकी एकान्त भक्तिके साथ अन्वेषण करना होगा, यही तात्पर्य है ॥ ४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—उसके बाद—पद—अर्थात् क्रिया करके तत् अर्थात् कूटस्थ ब्रह्मके अणुके भीतर प्रवेश करके चले जाना उचित है—जहाँ जाने पर फिर लौटता नहीं अर्थात् क्रियाकी परावस्था; तमेव चाद्यं वह आदि पुरुष कूटस्थके परे जिसको देखते हैं उसके चरण अर्थात् क्रियामें भली भाँति रहना—जहाँसे सब भलीभाँति मन अन्य वस्तुमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करने पर तद्रूप हो जाते हैं—इस रूपसे ही प्रकृष्ट रूपमें सब वस्तुओंका सृजन हुआ है।—उस परम पदके अन्वेषणकी बात कहते हैं। वह परम पद है क्या? संसारको अनित्य, क्षणभङ्गुर मनमें कह लेने पर भी हमारी इन्द्रियाँ और मन उसे अङ्गीकार नहीं करते। जो रस मिलता है उसके लिए ही इन्द्रियाँ और मन लोलुप होकर संसारको आलिङ्गन करके पड़े रहते हैं। इसलिए जो सत्य रसाल है, वस्तुतः मधुर है, उस रसका उसको आस्वादन कराये बिना उसकी विषयतृष्णा नहीं मिटेगी, विषयोंकी आसक्ति दूर न होगी। इसलिए क्रिया करके सङ्गमुक्त होना आवश्यक है। सङ्गरहित अवस्थामें ही वस्तुतः ब्रह्मान्वेषण होता है। यह थोड़ी बहुत चेष्टाका काम नहीं है, इसके लिए साधकको शूरवीर होना पड़ता है। जो क्रियामें खूब परिश्रम करते हैं और मन लगाकर क्रिया करते हैं, वे विष्णुके उस परम पदको देख पाते हैं। योनिमुद्रामें आकाशके समान एक चक्षुका प्रकाश होता है, वे उसीको सदा देखते हैं। उस चक्षुके अणुके भीतर त्रिलोक है, उन तीन लोकोंमें मर्त्यलोक है, मैं उसी मर्त्यलोकमें हूँ। समस्तके भीतर मैं हूँ और मेरे भीतर समस्त है, यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है!! क्रियाकी परावस्था ही विष्णुका परम पद है। वह सदा मस्तकमें रहता है अर्थात् उसका प्राण सहस्रारमें जाकर इतना स्थिर हो जाता है कि वहाँ से वह फिर उतरनेकी इच्छा नहीं करता, वहाँ न 'मैं' रहता है और न 'मेरा'। ब्रह्म तब सूक्ष्म अणुरूपमें सर्वव्यापक होता है, उस ब्रह्ममें जो लीन हो जाता है, वह सब होकर सर्वत्र रहता है। आत्मा स्थिर होने पर ईश्वर है, तब उसमें षट् ऐश्वर्य प्रकाशित हो उठते हैं। जो सदा मस्तकमें वास करता है वह देवता है, जो कूटस्थ ब्रह्ममें रहता है वही ब्राह्मण है। कूटस्थ ही राजा, ऋषि और देवता है, वही मातृरूपमें संस्थित है। कूटस्थमें जो देवता है वही उत्तम पुरुष है। इस प्रकार क्रिया करते-करते जब मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त वायु स्थिर हो जाती है, तभी इस परम देवताकी पूजा होती है। यजुर्वेदके ३१ वें अध्यायमें लिखा है—'पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रं तथा लोकान् अकल्पयन्'—इड़ा-पिङ्गला, इन दो चरणोंके द्वारा गमन करते-करते भूमि अर्थात् मूलाधारसे मस्तक पर्यन्त स्थिर रहने पर कानसे सब सुना जाता है, दूर-श्रवण हो जाता है। इस प्रकार सारे लोक सृष्ट होते हैं। मनन करने पर ही सृजन होता है, मनमें न लाने पर वस्तुके प्रति लक्ष्य नहीं होता, अतएव तब सृष्टि भी नहीं होती। कूटस्थमें रहकर जो क्रिया करते हैं, वे क्रियाकी परावस्थामें विस्ताररूपमें ब्रह्मका अनुभव करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मविस्तारको जो देखते हैं, उनके सामने कुछ विभाग नहीं रहता, सब एक हो जाता है। क्रिया करके ब्रह्माणुके भीतर प्रवेश करके जो तद्वत् हो जाते हैं, उनकी फिर पुनरावृत्ति नहीं होती। संसारके शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध उसको खींच नहीं सकते। मनका सङ्कल्प

नहीं रहता, अतएव किसी वस्तुके पानेकी इच्छा भी नहीं होती। बुद्धि स्थिर होती है, इसलिए उस अवस्थासे उतरनेकी आवश्यकता भी अनुभूत नहीं होती। कूटस्थके दर्शनके बाद इस प्रकारकी क्रियाकी परावस्थाका साक्षात्कार होता है। वह आदि-पुरुष हैं, उन्हींकी शरणामें जाना आवश्यक है। कैसे शरणागत हो सकते हो? उनके दोनों चरणोंको पकड़ना पड़ेगा। वे चरणद्वय हैं ये श्वास-प्रश्वास, जो सदा गमनागमन कर रहे हैं। जो श्वासकी क्रिया करता है, वह जब उस स्थिरत्व-पदको प्राप्त करता है, तभी विष्णुके परम पदको स्पर्श करता है। इस परम स्थानसे ही पुराणी प्रवृत्ति प्रसृत होती है अर्थात् उस परम स्थानसे अनिच्छाकी इच्छामें जो कुछ सङ्कल्प या चेष्टा होती है, वह तत्काल पूर्ण हो जाती है। जो मनमें आता है, तुरन्त हो जाता है। इस प्रकार सारी वस्तुओंका सृजन वहाँ अपने आप हुआ करता है। मनःप्राणकी स्थिरतासे परिपूर्ण यह दृश्य जगत् शून्यवत् हो जाता है। मनःप्राणकी स्थिरतामें व्यतिक्रम होनेपर ही यह दृश्य प्रपञ्च प्रकाशित होता है। मन बहिर्मुख होकर दृश्य प्रपञ्चमें आकृष्ट होकर उसमें रमण करता है ॥४॥

(परम-पद-प्राप्तिकी साधना)

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

अन्वय—निर्मानमोहाः (मान और मोह-रहित) जितसङ्गदोषाः (इन्द्रियसङ्ग-रूपी दोषोंसे रहित) अध्यात्मनित्याः (आत्मज्ञानमें परिनिष्ठ) विनिवृत्तकामाः (विशेषरूपसे निवृत्तकाम) सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः (सुख-दुःखरूप-द्वन्द्वोंसे) विमुक्ताः (मुक्त होकर) अमूढाः (अमूढ़ अर्थात् विवेकी पुरुष) तत् अव्ययं पदं (उस अव्यय पदको) गच्छन्ति (प्राप्त होते हैं) ॥ ५ ॥

श्रीधर—तत्प्राप्तौ साधनान्तराणि दर्शयन् आह—निर्मानेति। निर्गतौ मानमोहौ अहङ्कारमिथ्याभिनिवेशौ येभ्यः ते। जितः पुत्रादिसङ्गरूपो दोषो यैः ते। अध्यात्मे आत्म-ज्ञाने, नित्याः परिनिष्ठिताः, विशेषेण निवृत्तः कामो येभ्यः ते। सुखदुःखहेतुत्वात् सुख-दुःख-संज्ञानि शीतोष्णादीनि द्वन्द्वानि, तैः विमुक्ताः। अतएव अमूढाः निवृत्ताविद्याः सन्तः तत् अव्ययं पदं वैष्णवं गच्छन्ति ॥ ५ ॥

अनुवाद—[भगवान्की प्राप्तिके विषयमें दूसरे साधनोंको दिखलाते हुए कहते हैं]—(१) निर्मानमोहाः—निर्गत हो गया है मान, अहङ्कार, मोह और मिथ्या अभिनिवेश जिनसे। (२) जितसङ्गदोषाः—पुत्रादि-सङ्गरूप दोष जित हो गया है जिनसे अर्थात् सङ्गदोषको जिन्होंने जीत लिया है। (३) अध्यात्मनित्याः—आत्मज्ञानमें परिनिष्ठित अर्थात् उसमें निष्ठावान्। (४) विनिवृत्तकामाः—विशेषरूपसे निवृत्त हो गया है काम जिनका। (५) सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः—सुखदुःखके

हेतु यानी सुखदुःख नामक जो शीतोष्णादि द्वन्द्व हैं उनसे विमुक्त। [अतएव] (६) अमूढ़ाः—जिनकी अविद्या निवृत्त हो गयी है। वे उस अव्यय वैष्णव पदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मानरहित अर्थात् कोई मुझको अच्छा कहे, यह इच्छा नहीं रहती—अपना कहकर नहीं जानते—इच्छारहित—द्विधारहित—सुखदुःखकी इच्छासे रहित होकर क्रियाकी परावस्थामें आठों पहर रहकर—जो लोग क्रिया नहीं करते वे मूर्ख हैं—जो क्रिया करते हैं अव्यय अविनाशी पदको पाते हैं; अर्थात् क्रियाके परेकी स्थितिको।—किस प्रकारके मनुष्य इस पदको प्राप्त करते हैं, यही यहाँ भगवान् कह रहे हैं। पहले उनको मान-मोह नहीं रहता। कोई मेरा सम्मान करे या अच्छा कहे—इस प्रकारकी इच्छा अन्तःकरणसे दूर हो जाती है अर्थात् निरहङ्कार होनेकी आवश्यकता है। असत्य वस्तुके प्रति हमारा जो अभिनिवेश होता है, उसका कारण अविवेक है। अविवेक या मोहके कारण ही हम "मेरा पुत्र, मेरा घर, मेरा धन" इत्यादिके लिए दिनरात व्याकुल होते हैं। वैष्णव-पद-प्राप्त पुरुषोंके ये सब भाव नहीं होते। पुत्र-दारा-धनादिमें जीवकी जो आसक्ति है, वह आसक्ति ही दोष है। पुत्र, दारा और धनादिके साथ घनिष्ठतर सम्बन्ध रखने पर यह आसक्ति आयेगी ही। यह आसक्ति ही परम पदकी प्राप्तिमें घोर विघ्न है। इस दोषसे रहित न होने पर परमार्थचिन्तनमें बहुत विघ्न उपस्थित होता है। इसलिए अध्यात्मनित्य होना आवश्यक है अर्थात् आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें एकान्तनिष्ठा रखना आवश्यक है। सदा ही परमात्माके स्वरूपकी आलोचना करनी चाहिए। परन्तु केवल मौखिक पाण्डित्यसे काम न चलेगा। केवल पुस्तक पढ़कर, पुस्तकीय विषयकी आलोचना करके निश्चिन्त होनेसे काम न चलेगा। जिससे स्वरूपका बोध हो उसके लिए आठों पहर नशेमें मत्त होकर रहना पड़ेगा। अधिक देर तक मन लगाकर क्रिया किये बिना यह नशा नहीं चढ़ता। यह नशा जिसको जितना अधिक चढ़ता है, वह साधक उसी परिमाणमें क्रियाकी परावस्थाका भोग करता है। यह बहुत ही कठिन वस्तु है, परमात्माके प्रति अगाध प्रीति हुए बिना क्रिया करनेका यह उत्साह चिरस्थायी नहीं होता।*

---

*महात्मा कबीरदासजी कहते हैं—

यह तो घर है प्रेमका मारग अगम अगाध।
सिर काटे पलड़ा धरे लागे प्रेम समाध॥

यह देह (मनुष्य-जीवन) प्रेमका घर है, परन्तु इस प्रेमका मार्ग बड़ा ही अगम्य है। वहाँ सहज ही नहीं पहुँचा जा सकता क्योंकि सारी वस्तुएँ चञ्चल या गतिशील हैं। प्रेम-मन्दिरको जानेका मार्ग अत्यन्त स्थिर है। अचञ्चल हुए बिना वहाँ पहुँचनेका कोई दूसरा उपाय नहीं है। वह अगाध अर्थात् बड़ा ही गम्भीर है, थाह नहीं मिलती (क्रियाकी परावस्थाका अन्त कहाँ है!) यह प्रेम कैसे प्राप्त होता है, इसका उपाय बतलाते हैं—मस्तक काट कर पलड़ा बराबर किये बिना प्रेम-समाधि नहीं लगती। दोनों ओरके पलड़े समान किये बिना काम नहीं चलता। यदि दोनोंमें कोई ऊँचा-नीचा हो तो

इस प्रकार आत्मज्ञानमें परिनिष्ठा जिसकी जितनी अधिक होती है अर्थात् क्रिया करके जो जितना ही नशेमें रहता है, उसका उतना ही विषयानुभव निवृत्त हो जाता है। इस विनिवृत्त-कामसे शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि द्वन्द्वभाव विलुप्त हो जाते हैं। अतएव जो मूढ़ हैं अर्थात् क्रिया नहीं करते, उनका अज्ञान भी निवृत्त नहीं होता, परम पदकी प्राप्ति भी नहीं होती। जो अमूढ़ हैं अर्थात् सांसारिक सुख-दुःखके लिए जो व्याकुल नहीं रहते, वे दिन-रात क्रियामें लगे रहते हैं और फलस्वरूप अव्ययपद अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें स्थिति प्राप्त करते हैं। अव्ययपद वह है जो देश, काल, वस्तु द्वारा परिच्छिन्न नहीं है। केवल क्रियाकी परावस्थामें ही देश-कालकी या नामरूपकी तरङ्ग रुक जाती है ॥५॥

(अपुनरावृत्ति और परम धाम)

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

अन्वय—यत् गत्वा (जिसको प्राप्त होकर) न निवर्त्तन्ते (योगी लोग प्रत्यावर्त्तन नहीं करते) तत् (वही) मम परमं धाम (मेरा परम धाम है)। तत् (उस परम पदको) सूर्यः न भासयते (सूर्य प्रकाश नहीं करता) न शशाङ्कः न पावकः (चन्द्र भी नहीं करता और न अग्नि) ॥६॥

श्रीधर—तदेव गन्तव्यं पदं विशिनष्टि—न तदिति। तत्पदं सूर्यादयो न प्रकाशयन्ति, यत्प्राप्य न निवर्त्तन्ते योगिनः तत् धाम—स्वरूपं परमं मम। अनेन सूर्यादिप्रकाशाविषयत्वेन जड़त्वशीतोष्णादिदोष-प्रसङ्गो निरस्तः ॥६॥

अनुवाद—[वह गन्तव्य पद कैसा है, यह विशेषरूपसे कहते हैं]—उस पदको सूर्यादि प्रकाश नहीं करते। योगी लोग जिस पदको प्राप्तकर संसारमें पुनः प्रत्यावर्त्तन

कोई दूसरी वस्तु रखकर पलड़ा सीधा कर लेते हैं। डाँड़ीका ऊपरका स्थान काट देने पर दोनों पलड़े गिर जाते हैं। डाँड़ी उनके ऊपर रहती है। इसी प्रकार इड़ा-पिङ्गलाका पलड़ा एक बार उठता है एक बार गिरता है अर्थात् कभी इड़ा चलती है तो कभी पिङ्गला। जब क्रिया करते-करते मस्तक नत हो जाय और उसमें किसी बाह्य चिन्तनका उदय न हो (यही सिर काट कर पल्ला ठीक करना है), तब दोनों ओरके पलड़े (इड़ा-पिङ्गला) स्थिर हो जाते हैं। इड़ा-पिङ्गलाके स्थिर होते ही सुषुम्ना तत्त्व-तत्त्वमें चलने लगती है, तभी परमात्माके साथ मनका गाढ़ मिलन होता है। यही प्रेम-समाधि है।

छिन पड़े छिन ऊतरे सो तो प्रेम न होय।
आठ पहर लागा रहे प्रेम कहावे सोय ॥

कबीरदासजी कहते हैं कि अभी कुछ नशा हुआ और फिर क्षणभरमें उतर गया तो उसको प्रेम नहीं कहते। प्रेम तो तब कहते हैं जब आठों पहर नशेके समान भावमें लगा रहे।

नहीं करते, वही धाम मेरा स्वरूप है। इसके द्वारा बतलाया कि वह परम धाम सूर्यादिके प्रकाशका भी विषय नहीं है अर्थात् वे भी उस परम धामको प्रकाश करनेमें असमर्थ हैं। इससे जड़त्व और शीतोष्णादि दोषोंका प्रसङ्ग भी निरस्त हो गया ॥६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वह एक बड़ी ही अद्भुत जगह है—जिसे बहुत-से क्रियाशील लोग देखते हैं जो गुरुवक्त्रगम्य है परन्तु लोग सुनकर हँसी करेंगे न जाननेके कारण—वहाँ सूर्यकी किरण नहीं है—चन्द्रकी रश्मि नहीं है—अग्निकी दीप्ति नहीं है—जहाँ जाने पर फिर लौटना नहीं होता—वही मेरा परम धाम अर्थात् क्रियाकी परावस्था है।—वह स्थान अत्यन्त ही आश्चर्यजनक है। वह काशी, हरिद्वारके समान स्थान-विशेष नहीं है। जीव स्वरूपत: ब्रह्म है। उसकी मनरूपी उपाधि पैदा होने पर ही देश-कालकी धारणा उत्पन्न होती है। इस धारणासे ही देश-काल आदिका व्यवधान होता है। उससे फिर पृथक् पृथक् स्थान और वस्तुरूप परिणाम दीख पड़ते हैं। क्रियाकी परावस्थामें अन्त:करणकी वृत्ति निरुद्ध होने पर जीव और ब्रह्मका भेद-भाव चला जाता है। तब जीवका स्वस्वरूपमें अवस्थान होता है, वही ब्रह्मधाम है। यह जीवके लिए बड़ी ही आश्चर्य-जनक घटना है। देहात्मबोधके कारण जो मन इस विराट् संसारका सृजन कर डालता है और उसके साथ सैकड़ों बन्धनोंसे आबद्ध हो जाता है, उसका यह सम्बन्ध कभी दूर होगा, जीव इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। यह सम्बन्ध तथा विविध नाम-रूपमय जगत् क्रियाकी परावस्थामें अन्त:करणके निरुद्ध होनेके साथ-साथ निरुद्ध हो जाता है। घट जैसे महाकाशको खण्डित करके घटाकाश उपाधि ग्रहण करता है, परन्तु स्वरूपत: घटाकाश-महाकाशमें कोई भेद नहीं होता, उसी प्रकार अन्त:करणकी वृत्तिके द्वारा जो आत्मभाव मन-प्राण-इन्द्रिय तथा तत्तत् विषयोंके रूपमें दीखता है, वह मनोरूप घटोपाधिके विलीन होते ही अपने स्वरूपके प्रकाशको प्राप्त करता है अर्थात् वह वस्तुत: जो था तब वही बोध होने लगता है। इस अवस्थाको ही विष्णुका परम पद कहते हैं। यह अवस्था एक बार प्राप्त होने पर फिर स्वरूपच्युति नहीं होती। जगत्-स्वप्न एक बार टूट जाने पर फिर उस स्वप्न-दर्शनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। तब योगी निरन्तर जाग्रत रहता है। वह अवस्था इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नाकी अतीतावस्था है। वहाँ न आलोक है न अन्धकार, चन्द्र-सूर्य और अग्नि भी नहीं तथापि स्वप्रकाश है। कूटस्थकी नक्षत्ररूपी गुहामें क्रियाके अभ्यासके द्वारा वहाँ गमन किया जा सकता है। वहाँ अनुभव होता है कि देवगण आकाशमूर्त्तिमें ॐकार-ध्वनिका गान कर रहे हैं। जो लोग क्रिया करते हैं वे ही इस आनन्दमय स्थानमें जा सकते हैं। पहले प्राणायाम द्वारा अनिल स्थिर होता है। वह स्थिति ही अमृतपद या क्रियाकी परावस्था है। तब साधक उस आनन्दमयके साथ एक हो जाता है। क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें यह आनन्द अनुभूत होता है। उसको न जान सकनेके कारण ही वह बहुत दूर जान पड़ता है। जिन्होंने क्रिया करके क्रियाकी परावस्थाका अनुभव किया है, वह जानते हैं कि उसमें ही सब कुछ एक हो गया है, वह सबमें तथा सबके बाहर-भीतर एक है, उसके सिवा और कुछ नहीं है। "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत: (इश० उ०-५) ॥६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

अन्वय—जीवलोके (संसारमें) जीवभूतः (जो संसारी या जीवरूपमें प्रसिद्ध है) सनातनः (और जो नित्य है) [वह जीव] मम एव अंशः (मेरा ही अंश है), प्रकृतिस्थानि (प्रकृतिलीन) मनःषष्ठानीन्द्रियाणि (मन जिनका षष्ठस्थानीय है उन इन्द्रियोंको) [प्रलयान्तमें] जीवलोके कर्षति (संसारमें आकर्षण करता है) ॥७॥

श्रीधर—ननु च त्वदीयं धाम प्राप्ताः सन्तः यदि न निवर्तन्ते, तर्हि "सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे", इत्यादि-श्रुतेः सुषुप्तिप्रलयसमये तत्प्राप्तिः सर्वेषामस्तीति को नाम संसारी स्यात् इत्याशङ्क्य संसारिणं दर्शयति—ममैवेति पञ्चभिः । मम एव अंशः योऽयं अविद्यया जीवभूतः सनातनः सर्वदा संसारित्वेन प्रसिद्धः । असौ सुषुप्तिप्रलययोः प्रकृतौ लीनतया स्थितानि मनः षष्ठं येषां तानि इन्द्रियाणि पुनः जीवलोके संसारे उपभोगार्थं आकर्षति । एतच्च कर्मेन्द्रियाणां प्राणस्य च उपलक्षणार्थम् । अयं भावः—सत्यं सुषुप्तिप्रलयोरपि मदंशत्वात् सर्वस्यापि जीवमात्रस्य मयि लयात् अस्त्येव मत्प्राप्तिः । तथापि अविद्ययावृतस्य सानुशयस्य सप्रकृतिके मयि लयः, न तु शुद्धे । तदुक्तं —"अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति" इत्यादिना । अतः च पुनः संसाराय निर्गच्छन् अविद्वान् प्रकृतौ लीनतया स्थितानि स्वोपाधिभूतानि इन्द्रियाणि आकर्षति । विदुषां तु शुद्धस्वरूपप्राप्तेः न आवृत्तिरिति ॥७॥

अनुवाद—[तुम्हारा धाम प्राप्त होने पर पुनरावृत्ति नहीं होती, तथापि ब्रह्ममें एकीभूत होने पर भी वह नहीं जानते कि हम ब्रह्ममें एकीभूत हो गये हैं । सुषुप्ति और प्रलयमें ब्रह्मप्राप्ति सबको होती है, तब संसारी कौन बचा इसको पाँच श्लोकोंमें कहते हैं]—मेरा यह अंश जो अविद्याके द्वारा जीवभावको प्राप्त है, वह सनातन है अर्थात् सर्वदा संसारीरूपमें प्रसिद्ध है । सुषुप्ति और प्रलय कालमें प्रकृतिमें लीन यह जीव जीवलोकमें संसारके उपभोगार्थ इन्द्रियोंको फिर आकर्षण करता है । इस श्लोकमें 'इन्द्रिय' शब्द कर्मेन्द्रिय और प्राणके उपलक्षणार्थ व्यवहृत है । यह सत्य है कि मदंश होनेके कारण जीवमात्रको सुषुप्ति और प्रलयकालमें मुझमें लय प्राप्त होने पर मत्प्राप्ति होती है, परन्तु अविद्यासे आवृत सानुशय जीवका वह लय प्रकृति-विशिष्ट मुझमें होता है । जो शुद्धस्वरूप मैं हूँ, उसमें वह लय नहीं होता । इसीकारण कहा गया है कि "अव्यक्तसे सभी व्यक्त होते हैं" इत्यादि । अतएव पुनः संसारके लिए निर्गत होकर अविद्वान् या अज्ञानी जीव, प्रकृतिमें लीन-भावमें स्थित निज उपाधिभूत इन्द्रियोंको आकर्षण करते हैं । परन्तु विद्वान्की शुद्ध-स्वरूप-प्राप्ति होनेके कारण पुनरावृत्ति नहीं होती ॥७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मेरे ही अणुके अंशसे सब जीवगण जीव होकर नित्य ही

शिवस्वरूपमें वर्त्तमान हैं, परन्तु पञ्चेन्द्रिय और छठां मन—शरीरके पञ्च तत्त्व, मन, बुद्धि, अहङ्कार जिसकी प्रकृति होते हैं उस आत्मामें न रहकर अर्थात् क्रिया न करके—प्रकृतिके गुणके ऊपर वशीभूत होकर, अन्य वस्तुमें आसक्तिपूर्वक आकर्षित होकर अर्थात् विषयकी ओर मनको इच्छाके साथ खींचकर उपस्थित करते हैं।—सब जीव शिवस्वरूप हैं, क्योंकि सब देहोंके भीतर वही ब्रह्माणु रहता है जिसके कारण इस देहादिका प्रकाश हो रहा है। उस ब्रह्माणुके प्रति लक्ष्य न रहनेके कारण केवल प्रकृति (देहेन्द्रिय-मन--प्राण) बोधका विषय हो रही है। ब्रह्माणुका परिवर्तन नहीं होता, परिवर्तन होता है प्रकृतिमें। इस प्रकृतिमें जबतक रहोगे, तबतक आवागमनका अन्त न होगा। प्राणका स्पन्दन ही मन है। यह प्राण जबतक चञ्चल रहेगा, तबतक मनका बाहर आना-जाना बना रहेगा। यह मनका आना-जाना ही संसार—जन्म-मृत्युका अभिनय है। परन्तु जिन्होंने क्रिया करके प्रकृतिको वशीभूत किया है अर्थात् प्राणके गमनागमनको निवृत्त कर दिया है, उनका मन फिर विषयकी ओर आकृष्ट नहीं होता। मनुष्यके मर जाने पर भी उसका स्वभाव नष्ट नहीं होता। निद्रित मनुष्यके सारे सङ्कल्प और चेष्टाएँ सुप्त रहती हैं। निद्राभङ्ग होनेके बाद फिर जाग्रत होकर वह जैसे पूर्वकृत कर्मोंका अनुसरण करता है, उसी प्रकार जीवके मरनेके बाद उसके सारे देहेन्द्रियादिके परमाणु अपने-अपने अधिष्ठातृ देवताओंके भीतर लीन हो जाते हैं या प्रसुप्त रहते हैं। उस जीवका भोग समाप्त होने पर फिर जब जगत्में आनेका समय होता है, तब प्रकृतिमें लीन भावमें अवस्थित इन्द्रियादिको वह आकर्षण करता है तथा तदनुसार उसके देहादि इन्द्रियवर्ग समुत्पन्न होते हैं। जो कर्मानुबन्धी अज्ञ जीव हैं, उनकी ही उपर्युक्त अवस्था होती है, परन्तु जिनकी प्राणशुद्धिके साथ मनःशुद्धि हो गयी है, जिनके मनमें सांसारिक वासनाकी तरङ्ग नहीं रही, उनकी फिर पुनरावृत्ति नहीं होती। प्राणापानकी गतिके साथ सङ्कल्प-विकल्पके बुद्बुद् आभासित हो उठते हैं और तबतक यह संसारचक्र लगातार घूमता रहता है, इसकी विश्रान्ति नहीं होती। यह जीवभाव स्पन्दन-धर्मी है, अतएव बहिर्मुख है। श्वासकी गति आरम्भ होती है एक गतिशून्य स्थिर अवस्थासे। यह स्थिर अवस्था न होती तो किसके सहारे प्राणका यह बाह्य गमनागमन होता। अतएव एक स्थिर अवस्था है। उस स्थिर अवस्थामें और ऊर्ध्वमें जो रहते हैं वही अगतिके गति हैं, परमशिव हैं, पुरुषोत्तम हैं, जगन्माता हैं। यद्यपि वह अनुप्रविष्ट होकर सबके भीतर हैं, परन्तु उनमें लक्ष्य न होनेके कारण कोई उनका अनुभव नहीं कर पाता। वह परम स्थिर अवस्था ही मायातीत अवस्था है—'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्'। वह परम धाम ही सचञ्चल-अचञ्चल, सब अवस्थाओंकी जननी है। उनका आश्रय जिन्होंने प्राप्त किया है, उनको फिर पथभ्रष्ट होना नहीं पड़ता, उनको अपने स्थानसे च्युत होना नहीं पड़ता। दुर्गासप्तशतीमें लिखा है—"त्वामाश्रितानां न विपन्नराणाम्" "रोगानशेषानपहंसि तुष्टा"—तुम तुष्ट होने पर सारे उपद्रवोंका नाश कर देती हो। माँ! जिसने तुम्हारा आश्रय लिया उसको कभी विपद्की संभावना नहीं होती। तब जगज्जननीकी अनुचरी अविद्या उसको संसारके भोगके लिए आकर्षण नहीं कर सकती। श्वास ही उनके चरण हैं, इन

चरणोंको जो पकड़े रहते हैं उनको माँ अपने अङ्कमें (क्रियाकी परावस्थारूप परमानन्द-धाममें) उठा लेती हैं ॥ ७ ॥ *

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

अन्वय—आशयात् (पुष्पादि स्थानसे) गन्धान् (गन्धसमूहको) वायुः इव (वायुके समान) [ग्रहण करके] ईश्वरः (देहादिका प्रभु जीवात्मा) यत् शरीरम् (जिस देहको) अवाप्नोति (प्राप्त होता है) यत् च अपि (और जिस देहसे) उत्क्रामति (उत्क्रमण करता है) [तदा—तब] एतानि (इन छः इन्द्रियोंको) गृहीत्वा (ग्रहण करके) संयाति (गमन करता है) ॥ ८ ॥

श्रीधर—तानि आकृष्य किं करोति ? इत्याह—शरीरमिति। यत्—यदा, शरीरान्तरं कर्मवशात् अवाप्नोति, यतश्च शरीरात् उत्क्रामति, ईश्वरो—देहादीनां स्वामी, तदा पूर्वस्मात् शरीरात्, एतानि गृहीत्वा तच्छरीरान्तरं सम्यग् याति। शरीरे सत्यपि इन्द्रियग्रहणे दृष्टान्तः। आशयात्—स्वस्थानात् कुसुमादेः सकाशात् गन्धान् गन्धवतः सूक्ष्मान् अंशान् गृहीत्वा वायुः यथा गच्छति तद्वत् ॥ ८ ॥

अनुवाद—[इन्द्रियादिको आकर्षण करके जीव क्या करता है, यह बतलाते हैं]—जीव जब शरीरसे उत्क्रमण करता है तथा कर्मवश शरीरान्तरको प्राप्त होता है, तब पूर्व शरीरसे समस्त इन्द्रियोंको ग्रहण करके दूसरे शरीरको सम्यग् रूपसे प्राप्त होता है अर्थात् शरीरान्तरमें प्रवेश करता है। शरीरके रहने पर ही इन्द्रियोंका ग्रहण होता है जैसे आशयसे अर्थात् कुसुम आदिसे गन्धविशिष्ट सूक्ष्म अंशोंको ग्रहण कर वायु गमन करती है ॥८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिसको पाता है, जिसको छोड़ता है—शरीर—हृदयमें धारण करके विषयासक्त होकर इच्छाके साथ—बिना जाने जैसे गन्ध लोगोंकी नाकमें अचानक

---

* आत्मा जीवलोकमें सुर-नर, पशु-पक्षी आदि जीवभावको प्राप्त होता है, परन्तु उनकी देहादिके जन्म और मृत्युमें आत्माका विनाश नहीं होता, यह द्वितीय अध्यायमें अनेक बार कहा जा चुका है। आत्मा सनातन है, क्योंकि वह ब्रह्मरूप मेरा ही अंश है, अतएव ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं है। इससे यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि ब्रह्मका यदि कुछ अंश रहता है तो फिर ब्रह्मका अखण्डत्व, सर्वव्यापित्व और अनन्तत्वकी हानि होती है अथवा ब्रह्म-अंशसे पृथक् वस्तु होने पर यह मानना पड़ता है कि ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य वस्तुका अस्तित्व है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि पहले क्षेत्रज्ञ आत्माकी बात कही गयी है तथा परमात्माकी परा-अपरा-भेदसे दो प्रकृतियोंकी बात भी कही गयी है। अब जैसे शक्तिमान्से शक्ति स्वतन्त्र वस्तु नहीं होती, उसी प्रकार परमात्माकी प्रकृति या शक्तिद्वय उनसे भिन्न वस्तु नहीं है। अतएव मम अंश जीव और ब्रह्मके अभिन्न अभेदत्वमें कोई अन्तर नहीं होता।

अनुभूत होती है, परन्तु किसके द्वारा वह अनुभव हुआ, इस पर लोग ध्यान नहीं देते। वह वायुके द्वारा गन्ध आती है तो किसी गन्धका परित्याग करता है और किसी गन्धका ग्रहण करता है—उसी प्रकार अन्य वस्तुमें आसक्तिपूर्वक जाना—इच्छा ही उसका मूल होता है अर्थात् चञ्चल मन—अपने आपमें न रहकर भटकनेसे अपनेसे आप आबद्ध है !! जैसे पक्षी किसी नदीके तीर प्यासा हुआ किसी डाँड़ पर बैठकर जल पान करूँगा, इस इच्छासे बैठा—डाँड़के दोनों ओर दो लकड़ियाँ थीं, लम्बी ऊपरमें डाँड़ वही डाँड़ एक नलके भीतर था, पक्षी बैठकर जैसे ही पानी पीनेके लिए तैयार हुआ वैसे ही घूम गया, जोर करके छटपटाकर फिर उठा और जल पीनेके लिए उद्यत होते ही फिर गिरा, इस प्रकार करते-करते चिड़ीमारने आकर उसे आसानीसे पकड़ लिया—इसी प्रकार संसारमें इच्छा-स्वरूप तृष्णासे आवृत होकर इड़ा-पिङ्गला रूप दो लकड़ियों पर बैठकर छटपटाता हुआ—कर्मसे आवृत होकर—यमने आकर पकड़ लिया।—कर्मवश देहत्याग करते समय जीव सूक्ष्म देहको ग्रहण करके ही गमन करता है, जैसे वायु गन्ध लेकर गमन करती है। पाप-पुण्यादि कर्मोंके यथोचित फलोंको भोग कर जब दूसरा शरीर ग्रहण करनेका उसका समय आता है, तब अपने पूर्वजन्मकी प्रकृतिके अनुसार देह-गठनके लिए पूर्व देहके इन्द्रिय, मन आदिको साथ लेकर जन्म ग्रहण करता है। जिसने सदा लोगोंकी हिंसा की है, उसको अपने हिंस्र स्वभावके अनुरूप दूसरे जन्ममें व्याघ्र या सर्पकी देह मिलेगी, क्योंकि मनोमय सूक्ष्म देहमें रक्त-मांसादि नहीं होते, केवल भावनामय देह ही होती है। जब उसकी वह सूक्ष्म देह स्थूल देहके लिए स्थूल अणुओंको आकर्षित करेगी, तब उसकी भावनामय देहके अनुरूप स्थूल अणु आकर्षित होंगे। अतएव गत जन्ममें जो जिस प्रकारके चिन्तनमें अनुरक्त था, उसके परजन्मकी देह भी तदनुरूप ही होगी। अतएव जीवकी भावमय देह (सूक्ष्म देह) को पवित्र चिन्तन द्वारा पवित्र किये बिना अन्तमें उसका विषम परिणाम भोगना ही पड़ेगा! दुःसह यातनामय देह प्राप्त कर उसको पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगना ही पड़ेगा। जो लोग बुद्धिमान् और चतुर हैं वे जीवकी इस दुर्गतिसे अवगत होकर सावधान हो जाते हैं और कहीं अशुभ देह प्राप्त न हो जाय, इसके लिए शुभ कर्म और शुभचिन्तन करते रहते हैं। उनको फिर ये सब दुःख-दुर्दशाएँ नहीं भोगनी पड़तीं। जो लोग परमार्थ-चिन्तन नहीं करते, आत्माको कुछ भी नहीं समझते, केवल इन्द्रिय-भोगमें अनुरक्त रहते हैं, वे आत्मघाती हैं, उनको मूढ़ योनियोंमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रत्यभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

—ईशोपनिषद्।

वे इन्द्रियासक्त लोग घोर अन्धकार द्वारा आच्छन्न, आलोकहीन लोकोंको प्राप्त करते हैं। जो आत्मघाती आत्मज्ञानविहीन हैं वे मृत्युके बाद उन अन्धकारावृत निरयलोकोंमें भोग करनेके पश्चात् वृक्ष-पाषाण आदिके रूपमें जन्म लेते हैं।

इसलिए अपने मनको शुद्ध करनेकी चेष्टा न करने पर बड़ी ही लाचारीका सामना करना पड़ता है!! आसक्ति और वासना लेकर वे बार-बार देह त्याग और ग्रहण करते रहते हैं। प्रवाहित वायुसे लोग अचानक गन्ध पाते हैं, परन्तु नहीं जानते कि वह गन्ध कहाँ से आ रही है। इतना पढ़-लिखकर, इतना देख-सुनकर भी हमारी बुद्धि असत् कर्ममें क्यों प्रवृत्त होती है? वायुमें फूलकी गन्धके समान पूर्वजन्म के देह-मनसे सुगन्ध-दुर्गन्धरूप शुभाशुभ कर्मासक्तिको इस जन्ममें भी खींच लाते हैं। इसीकारण अवश होकर हमने पूर्वकर्मोंके अनुरूप जो प्रकृति प्राप्त की है, उसके ही आदेशके अनुसार चलनेके लिए बाध्य हो रहे हैं। यहाँ थोड़ा विचार करके देखो कि क्या करना है। अपने चित्तकी शुद्धिके लिए किस उपायका सहारा लेना है। सत्सङ्ग करो, सत् शास्त्रोंका अध्ययन करो, सद्गुरुका अन्वेषण करो। एकान्तमें बैठकर रोते हुए भगवान्से प्रार्थना करो, इससे तुम्हें बल मिलेगा और इन्द्रिय-संयमके लिए चेष्टित हो सकोगे। डाँड़के पक्षीके समान मुँह बढ़ाकर जल पीनेकी आशासे तुम एक बार इधर, एक बार उधर न झुकना। जीव! तुम विषयतृष्णासे व्याकुल होकर एक बार इड़ामें प्राण प्रवाहित करते हो और विषय चिन्तनसे जर्जरित हो जाते हो, दूसरी बार पिङ्गलामें प्राण प्रवाहित करते हो और निद्रामें, आलस्यमें, व्यर्थके आमोदमें कालक्षय करते हो!! इतने दिन तो विषयभोग किया, क्या उससे तृष्णा मिटी? विषयके प्रति आसक्तिका नशा दूर हुआ? तुम्हारे सिरहाने यम खड़ा है! अरे भ्रान्त, अरे उन्मत्त, अब भी भगवान्का आश्रय ले। अब भी स्मरणके अभ्यासमें प्रवृत्त हो। यदि तुम्हारा प्राण-प्रवाह एकबार भी सुषुम्ना-मुखी होता है तो तुम इस महद्भयसे परित्राण प्राप्त करोगे!! ॥ ८॥

(जीव कैसे विषयभोग करता है)

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

अन्वय—अयं (यह जीव) श्रोत्रं (कान) चक्षुः (आँख) स्पर्शनं (त्वचा) रसनं (जिह्वा) घ्राणं एव (तथा नासिका) मनः च (और मनको) अधिष्ठाय (आश्रय करके) विषयान् (शब्दादि विषयोंको) उपसेवते (उपभोग करता है) ॥ ९ ॥

श्रीधर—तान्येव इन्द्रियाणि दर्शयन्, यदर्थं गृहीत्वा गच्छति तदाह-श्रोत्रमिति। श्रोत्रादीनि—बाह्येन्द्रियाणि मनश्च अन्तःकरणं अधिष्ठाय—आश्रित्य, शब्दादीन् विषयान् अयं जीव उपभुङ्क्ते ॥ ९ ॥

अनुवाद—[जिस कारण इन्द्रियोंको ग्रहण करके गमन करता है, वह बतलाते हैं]—श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, जिह्वा, नासिका—इन बाह्य इन्द्रियों तथा अन्तःकरण-मनका आश्रय करके शब्दादि विषयोंको जीव उपभोग करता है ॥ ९ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पहले लोग सुनते हैं कि इसमें बड़ा मजा है—पश्चात् देखते हैं, तब स्पर्श करते हैं, चखते हैं, सूँघते हैं—इन सब कर्मोंके पहले मन चित्त बुद्धि

स्थिर करते हुए समस्त कर्मफलोंकी आकांक्षाके साथ अपनी असली सेवा क्रिया छोड़कर उपसेवा अर्थात् फालतू मृगमरीचिकाके क्षणस्थायी भ्रममें पड़ता है—इस प्रकार कितना धोखा खाया—परन्तु आप जो कोरे बच्चे हैं वह बचा कितनी ही बार बने।—जीव पूर्वशरीरसे उत्क्रमण कालमें मन और इन्द्रिय (सूक्ष्म शरीर) के साथ गमन करता है। जीव बाह्येन्द्रियों और मनको आश्रय करके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि विषयोंका उपभोग करता है। पञ्चभूत निर्मित यह स्थूल शरीर ही हमारा सर्वस्व नहीं है। यह स्थूल शरीर नष्ट होने पर भी सप्तदश-अवयव-युक्त सूक्ष्म शरीर वर्तमान रहता है। जीव उत्क्रमणके समय सूक्ष्म शरीरको लेकर परलोक गमन करता है और जन्म-ग्रहणके समय यह सूक्ष्म शरीर साथ-साथ आता है। सूक्ष्म शरीरमें प्राण, मन, बुद्धि—सब रहते हैं। इसलिए जीवके पाप-पुण्य, धर्माधर्म सारे संस्कार सूक्ष्म शरीरमें निहित रहते हैं। यह शरीर भी देखा जाता है परन्तु सूक्ष्मत्वके कारण उसको सभी नहीं देख पाते।

ये स्थूल और सूक्ष्म शरीर जीवको बहुत धोखा देते हैं। ये ही जीवको जीवत्व-भावसे भावित करते हैं और इसी कारण जीवको स्वरूपानुसन्धानमें आग्रह नहीं होता। इसी यन्त्र पर आरूढ़ होकर जीव विषयोंका रसास्वादन करता है, इसीलिए यह जिन वस्तुओंको स्वादिष्ट बतलाता है उन्हीं वस्तुओंको जीव स्वादिष्ट अनुभव करने लगता है। इसका फल यह होता है कि विषय-भोग करके आशा और अकांक्षा कुछ भी नहीं मिटती। इसीसे असली वस्तुकी सेवा छोड़कर व्यर्थ वस्तुओंके पीछे समय नष्ट करता है। अनेक वार विषयभोग कर बहुत दुःख पाया है, फिर भी आशाका स्वप्न भङ्ग नहीं होता। लोग ठोकर खाकर सीखते हैं, परन्तु कितनी वार जीव कितने तापोंसे सन्तप्त हुआ, कितना कष्ट उठाया, फिर भी विषयको देखकर अज्ञ बालकके समान उसका उपभोग करना चाहता है। परन्तु जो बुद्धिमान् हैं, वे इन्द्रियोंकी सेवा छोड़कर प्राणकी सेवा करते हैं। प्राणके श्वास-प्रश्वासमें लक्ष्य रखने पर उसकी चरण-सेवा होती है। जो लोग गुरुवाक्यमें विश्वास करके मन लगाकर क्रिया करते हैं, उनके प्राण और अपान, इड़ा और पिङ्गलामें मिल जाते हैं। इस मिलित अवस्थामें ही भगवान्को त्रिभङ्ग-भङ्गिमा-भावमें देखकर भक्त साधक कृतार्थ हो जाता है॥९॥

(आत्माको विवेकी पुरुष देखते हैं)

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

अन्वय—उत्क्रामन्तं (देहान्तरमें गमनशील) स्थितं वा (देहमें स्थित) भुञ्जानं (विषयभोगमें निरत) गुणान्वितं (गुण-संयुक्त) [जीवको] विमूढ़ाः (मूढ़लोग) न अनुपश्यन्ति (नहीं देखते) ज्ञानचक्षुषः (अमूढ़ अथवा विवेकी जन) पश्यन्ति (देखते हैं) ॥१०॥

श्रीधर—ननु कार्यकारणसंघातव्यतिरेकेणएवम्भूतं आत्मानं सर्वेऽपि किं न पश्यन्ति? तत्राह—उत्क्रामन्तमिति। उत्क्रामन्तं देहात् देहान्तरं गच्छन्तं तस्मिन्नेव देहे स्थितं वा

विषयान् भुञ्जानं वा गुणान्वितं इन्द्रियादियुक्तं जीवं विमूढ़ाः न अनुपश्यन्ति—न आलोकयन्ति, ज्ञानमेव चक्षुर्येषां ते विवेकिनः पश्यन्ति ॥१०॥

अनुवाद—[आत्माको कार्यकारणसंघातसे व्यतिरिक्त 'अर्थात् भिन्न-रूपमें लोग क्यों नहीं देखते, इसका उत्तर देते हैं]—उत्क्रामन्तं अर्थात् एक देहसे दूसरी देहमें गमनशील अथवा देहमें ही स्थित विषयभोगशील इन्द्रियादिमें युक्त जीवको मूढ़ लोग नहीं देख पाते, परन्तु ज्ञान-चक्षु-सम्पन्न विवेकी जन देखते हैं ॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जन्म ग्रहण करके क्रमशः फलाकांक्षाके साथ ही कर्म करते रहते हैं तथा चलते-चलते कुछ दिन स्थिर होकर रहते हैं, और जैसे-जैसे गुणका कर्म करते हैं तदनुरूप भोग प्राप्त होते हैं—गुण छोड़कर निर्गुणमें रहनेसे ही बनता है—परन्तु वह करेंगे नहीं—अपना एक ही गुण है जिसे कभी छोड़ नहीं सकते मूर्खके समान—अतएव फलाकाङ्क्षाके साथ कर्मभोग जो दुःख है उसे सुख समझकर तथा जो मिथ्या अर्थात् कुछ दिनोंके निमित्त है उसको सत्य समझ कर कुछ भी देख नहीं पाते हैं—तथापि देखनेकी वस्तु खूँटेके समान शरीरके मध्यस्थानमें रहती है, उसको गुरु-वाक्य द्वारा जानकर क्रिया करने पर जानने योग्य दिव्य दृष्टि कूटस्थके द्वारा देख पाते हैं। अपनी भलाई नहीं दूसरे की भलाई—इस कुसंस्कारसे ही सर्वनाश होता है—आबद्ध होकर लोग रहते हैं।—जिनको आत्मज्ञान नहीं है, जो इन्द्रियासक्त हैं, ऐसे मूढ़ लोग केवल फलाकाङ्क्षायुक्त कर्मोंमें ही व्यस्त रहते हैं। इस कारण बहुधा नाना प्रकारके दुःख, यातनाएँ और क्लेश भोगने पड़ते हैं, तथापि उसे छोड़कर परमार्थ-चिन्तनमें मन लगानेका उनको कुछ अवसर नहीं मिलता। देह-इन्द्रिय आदि गुणोंसे उत्पन्न होते हैं। इस देहेन्द्रियको ही लेकर वे दिन-रात बैठे रहते हैं, इन्हींकी आवभगतमें सारी शक्ति और सारा समय नष्ट करते हैं, परन्तु इसमें कोई शान्ति नहीं मिलती। जबतक गुणोंमें रहना होता है, तबतक त्रिताप नष्ट होनेवाला नहीं। उसे छोड़कर मन लगाकर सुन्दर भावसे क्रिया करनेसे ही सब कुछ बनता है। इसके द्वारा गुणके क्षेत्रसे निर्गुणमें पहुँचा जा सकता है, परन्तु इस ओर तनिक भी लक्ष्य नहीं है। यद्यपि गुणमें रहकर सन्तप्त होते रहते हैं, दिनरात हाय-हाय करते हैं, तथापि सद्गुरुके जिस उपदेशके अनुसार क्रिया करके दिव्यदृष्टि प्राप्त कर त्राण मिल सकता है, उस ओर उनका तनिक भी लक्ष्य नहीं होता। वे यह मिथ्या धारणा लिये रहते हैं कि क्रिया करने पर संसारसे बाहर हो जाना पड़ेगा। इसलिए कमर कसकर ऐसी चेष्टामें लग जाते हैं कि कहीं कोई क्रिया करनेकी चेष्टामें न लग जाय और इस प्रकार अपना तथा दूसरोंका भी सर्वनाश करते हैं।

आत्म-चैतन्यका अनुभव केवल क्रियाकी परावस्थामें ही होता है। आत्मा देह-इन्द्रियके परे है। देह-इन्द्रियके परे गये बिना उसकी उपलब्धि कैसे हो सकेगी? आत्मदर्शन भौतिक पदार्थोंके दर्शनके समान नहीं है। जिनका ज्ञानचक्षु या तृतीय चक्षु खुल गया है वे योगीजन ही आत्मदर्शन कर सकते हैं। इस आत्माकी सत्तासे ही देहेन्द्रियादिके सारे कार्य अर्थात् दर्शन, श्रवण, स्वाद-ग्रहण, गन्ध-

ग्रहण, मनका सङ्कल्प, बुद्धिका अनुभव—सभी कुछ हो रहे हैं। परन्तु ऐसी विड़म्बना है कि जिस सत्ताके प्रभावसे ये सारे कार्य संभव हो रहे हैं, उसको वे कदापि नहीं समझ पाते क्योंकि उनकी बुद्धि आत्मस्थ नहीं है। इसलिए आत्मदर्शनकी इच्छा रखनेवालेको चाहिए कि इन्द्रिय-मन-बुद्धिके बहिर्विचरण-भावको रोके। ये जबतक शान्त होकर अन्तर्मुख न होंगे, तबतक आत्मदर्शन कदापि संभव नहीं। जो विवेकहीन हैं, वे नाना प्रकारके कार्योंमें व्याप्त रहते हैं, परन्तु उन कार्योंके कारणके प्रति उनका लक्ष्य नहीं होता। अतएव जिसके तेजसे यह सब श्रवण-दर्शन-मनन आदि हो रहा है उसके विषयमें चिन्तन करनेका अवसर मृत्यु पर्यन्त नहीं प्राप्त होता ॥१०॥

(प्रयत्नशील योगी आत्माको देखते हैं, दूसरे नहीं)

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

अन्वय—यतन्तः (यत्नशील) योगिनः च (योगीजन ही) आत्मनि अवस्थितं (अपनी देह या बुद्धिमें अवस्थित) एनं (इस आत्माको) पश्यन्ति (देखते हैं), यतन्तः अपि (यत्न करके भी) अकृतात्मानः (अजितेन्द्रिय या अशुद्ध-चित्त) अचेतसः (मूढ़ बुद्धिवाले) एनं (इस आत्माको) न पश्यन्ति (नहीं देख पाते) ॥११॥

श्रीधर—दुर्ज्ञेयश्च अयं यतो विवेकिषु अपि केचित् पश्यन्ति केचित् न पश्यन्ति इत्याह—यतन्त इति यतन्तः ध्यानादिभिः प्रयतमानाः योगिनः केचित् एनं आत्मानं, आत्मनि—देहे अवस्थितं विविक्तं पश्यन्ति। शास्त्राभ्यासादिभिः प्रयत्नं कुर्वाणा अपि अकृतात्मनः—अविशुद्धचित्ताः अतएव अचेतसो मन्दमतय एनं न पश्यन्ति ॥११॥

अनुवाद—[यह आत्मा दुर्ज्ञेय है, क्योंकि विवेकी पुरुषोंमें भी कोई इसे देख पाते हैं और कोई नहीं देख पाते, यही बतलाते हैं]—ध्यानादिके द्वारा प्रयत्न-शील योगीजनोंमें कोई कोई इस आत्माको अपने शरीरमें तथा देहसे विविक्तरूपमें अवस्थित देखते हैं। शास्त्राभ्यासादिके द्वारा प्रयत्न करके भी जो अकृतात्मा अर्थात् अविशुद्ध-चित्त होनेके कारण मन्दमति हैं वे इसको नहीं देख पाते ॥११॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ध्यान-धारणा-समाधियुक्त होकर अर्थात् अटके रहकर अपने मनमें आप रहकर (जिसको लोग नहीं करते, जिसके लिए ऊपर दुःख प्रकट किया गया है) देख पाते हैं दिव्यदृष्टि द्वारा आत्माकी क्रिया करते हैं (जो गुरुवक्त्रगम्य है) स्थिति अवस्था प्राप्त होकर अर्थात् अटके रहकर क्रियाकी परावस्थामें, किन्तु जो आत्माकी स्थिति नहीं कर पाते क्रियाके द्वारा, केवल मनको खींचकर आत्मामें लाते हैं अर्थात् प्रथम चेष्टा करते हैं, वे आत्माको नहीं देख पाते—क्योंकि चैतन्य रूप कूटस्थ ब्रह्ममें अटके रहना बनता नहीं—इसका ही नाम है अकृतात्मा अर्थात् कुछ समय करते करते होगा।—श्रीमद् आचार्य शङ्करने इस श्लोककी व्याख्यामें कहा है—"कोई कोई योगी प्रयत्नशील होकर समाहित चित्तमें

इस आत्माको देखनेमें समर्थ होते हैं। यह आत्मा ही मैं हूँ। इस आत्माका स्वरूप जो स्वीय बुद्धिमें प्रतिफलित होता है उसकी उपलब्धि करते हैं। परन्तु जो अकृतात्मा हैं अर्थात् असंस्कृत-हृदय हैं, जो तपस्या और इन्द्रियजय इन दोनों उपायोंका सहारा नहीं लेते तथा जो अविवेकी हैं, वे प्रयत्नशील होने पर भी उस आत्माको देखनेमें समर्थ नहीं होते।" अर्थात् चित्तशुद्धि ही आत्मदर्शनका एकमात्र उपाय है और उसके लिए तपस्या तथा इन्द्रियजय आवश्यक है। प्राणायाम ही परम तपस्या है और उसके द्वारा ही इन्द्रियोंको विषयोंसे प्रत्याहृत करके अन्तर्मुख करनेसे आत्मदर्शन होता है। प्राणायामके द्वारा प्राणके स्थिर होने पर ही चित्त अन्तर्मुख होता है। उस अन्तर्मुख भावकी गम्भीरताका तारतम्य ही धारणा-ध्यान-समाधि कहलाता है। समाधिभाव चरम अन्तर्मुख भाव है, इस अवस्थामें प्राण अटक जाता है अर्थात् श्वासका बहिर्विचरण नहीं रहता तथा मन विषयान्तरमें धावमान न होकर अपने आपमें प्रतिष्ठित होता है। इस स्थितिकी अवस्थामें ही आत्मा ज्ञानगम्य होता है। जिन्होंने इस स्थितिको प्राप्त किया है, वे ही योगी हैं। परन्तु जो अचेतसः हैं अर्थात् साधन तो करते हैं, परन्तु अभी क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त नहीं हुए हैं, अभी-अभी या दस-पाँच वर्ष साधन आरम्भ किये हो गये पर आत्माको नहीं देख पाते, वे अभी पूर्ण स्थिर नहीं हो पाये हैं। साधनाके बहु अभ्याससे यह स्थिरता उपलब्ध होती है। जिसने साधनाके द्वारा स्थिरताका खूब स्वाद पाया है वे कृतात्मा हैं अर्थात् उनका जीवन सफल हो गया है। उन्होंने अपनी प्राणधाराको असीम प्राण या ब्रह्मचैतन्यके भीतर निमज्जित कर देनेका सामर्थ्य प्राप्त किया है। जिनको अभी यह सामर्थ्य प्राप्त नहीं है वे अकृतात्मा तो हैं, परन्तु वे भी यदि मन लगाकर और भी दीर्घकाल तक साधना करें तो वे भी कृतार्थ हो सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

अन्वय—आदित्यगतं (आदित्यगत अर्थात् सूर्यस्थ) यत् तेजः (जो तेज है) चन्द्रमसि च यत् (चन्द्रमें जो तेज है) यत् च अग्नौ (और जो तेज अग्निमें है) अखिलं जगत् (सारे जगत्को) भासयते (प्रकाशित करता है) तत् तेजः (वह तेज) मामकं विद्धि (मेरा ही जानो) ॥१२॥

श्रीधर—तदेवं "न तद्भासयते सूर्यः" इत्यादिना पारमेश्वरं परं धामोक्तं तत्प्राप्तानाञ्च अपुनरावृत्तिः उक्ता। तत्र च संसारिणः अभावमाशङ्क्य संसारिस्वरूपं देहादिव्यतिरिक्तं दर्शितम्। इदानीं तदेव पारमेश्वरं रूपं अनन्तशक्तित्वेन निरूपयति—यदित्यादि चतुर्भिः। आदित्यादिषु स्थितं यत् अनेकप्रकारं तेजो विश्वं प्रकाशयति तत् सर्वं तेजो मदीयमेव जानीहि ॥१२॥

अनुवाद—[इस अध्यायके षष्ठ श्लोकमें "न तद्भासयते सूर्यः" इत्यादिके द्वारा परम धामके विषयमें कहा गया है और तद्धामको प्राप्त जीवकी अपुनरावृत्तिकी बात भी कही गयी है। वहाँ देहादिसे अतिरिक्त संसारीका स्वरूप भी दिखलाया गया है। अब चार श्लोकों द्वारा अनन्तशक्तित्वरूपमें उस परमेश्वर-सम्बन्धी रूपका निरूपण करते

हैं]—सूर्यादिमें स्थित अनेक प्रकारके तेज जो विश्वको प्रकाशित करते हैं, उन सब तेजोंको मेरा ही तेज समझो ॥ १२ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सूर्यका तेज जो सूर्यसे आया है उसके द्वारा सब प्रकाशित है—वैसे ही कूटस्थका तेज इस शरीरमें रहनेसे शरीरमें स्व-प्रकाश हो रहा है—वह तेज ब्रह्मका रूप है—जो आकाशसे आ पड़ा है। परन्तु आकाशमें कुछ भी देखा नहीं जाता, परन्तु उस आकाशके भीतर ही सूक्ष्मरूपमें परव्योम-स्वरूप एक एक अणुमें अनेक ब्रह्मस्वरूप अणु, और उसके भीतर अनेक ब्रह्माण्ड रहते हैं—उन ब्रह्माण्डोंके भीतर तुम भी एक हो—तुम कितने छोटे हो इसकी विवेचना अपने आप नहीं कर सकते हो !! तुम्हारे डींगकी कोई सीमा नहीं है, तुम क्या हो—यह तुम स्वयं नहीं बतला सकते ! इस प्रकार चन्द्र और अग्निके तेजके अणुमें मेरा ही रूप है—यह दृष्टिगोचर होने पर ही ब्रह्मज्ञान होता है। क्रिया न करके केवल बोलनेसे ऐसी अवस्थाका बोध न होगा—बोध होने पर ही बोध होगा—अर्थात् क्रियाकी परावस्था।—सूर्य, चन्द्र और अग्निमें जो तेज है वह सब उन्हींका प्रकाश है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ कठ० उप०।

उस प्रकाशमान् आत्माके प्रकाशसे ही सूर्यादि सारे प्रकाशशील पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं, यह स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् उसीके प्रभावसे दीप्ति प्राप्त कर रहा है।

वह "ज्योतिषां ज्योतिः" है। वही समस्त ज्योतिर्मय वस्तुओंको ज्योतिः प्रदान करता है। ज्योतिके बिना कोई वस्तु प्रकाशित नहीं हो सकती। इस शरीरके भीतर भी वह ज्योति-रूपमें रहते हैं, इसीसे इस शरीरका प्रकाश अनुभूत हो रहा है। हम शरीरके सौन्दर्य और लावण्यकी जो बात कहते हैं, वह सारा लावण्य और सौन्दर्य उस कूटस्थ-ज्योतिकी कणिकामात्र है। वह कूटस्थ-ज्योति सूत्रात्माके साथ जब इस देहका त्याग करती है, तब यह देह श्रीहीन और मलिन हो जाती है। वह ज्योति सूक्ष्मरूपमें इस आकाशमें सर्वत्र व्याप्त है। वह ज्योति एक क्षुद्र ब्रह्माणुका प्रकाश है। उस ब्रह्माणुमें कितने ब्रह्माण्ड भरे रहते हैं ! सूर्य, चन्द्र और अग्निके प्रत्येक अणुमें उनका ही रूप भरा हुआ है यह जिस दिन हमारी समझमें आ जायगा, उसी दिन हमको ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जायगा। ब्रह्माण्डके ये अनन्त ब्रह्माणु उसी एक ब्रह्माणुके भीतर हैं। वह एक ही बहु तथा बहु ही एक—'एकं अद्वितीयं'—होकर विभात हो रहा है। एकको हजारों लाखों बार एकसे गुणा करो वह एकका एक ही रहेगा जैसे १ × १ × १ × १ × ······ = १। जो कुछ प्रकाशित हो रहा है उस एकसे ही हो रहा है। वह महाशून्य है, अनेक बार उससे कुछ निकालो या उसमें कुछ जोड़ो, फल एक ही होगा—"पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"। प्रत्येक जीवके भीतर वही कूटस्थ तथा तदन्तर्गत सूक्ष्म विन्दु है। वही चित्कण है। अनन्त चिदाकाशमें इस प्रकारके कोटि कोटि चित्कण आकाशके तनमें नक्षत्रोंके समान झलमला रहे हैं। ये एक एक चित्कण ही हमारे 'अहं' हैं। ये चित्कण अनन्त चित्के साथ भिन्न और अभिन्न भावमें सर्वदा वर्त्तमान रहते हैं। चिद्घन पुरुषोत्तम या चिन्मय परमात्माके

साथ ये 'चित्कण' समभावापन्न हैं अर्थात् ये भी जन्म-जरा-मरणादिवर्जित, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-स्वरूप हैं। जैसे प्रदीप्त अग्निसे सहस्रों स्फुलिङ्ग निकलते हैं, उसी प्रकार अक्षय परमात्मासे सहस्रों-सहस्रों चित्कण फूटकर बाहर हो रहे हैं।

यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षरात् विविधाः सौम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ मुण्डक० ॥

यही अक्षर पुरुष है, यही प्रत्यगात्मा है। प्रत्येक देहमें जो चैतन्य प्रकट हो रहा है वह इसका ही चैतन्य है। इससे ही सुख-दुःख-भोक्ता जीव उत्पन्न होकर अध्यात्म नामसे प्रख्यात हो रहा है। शरीरादि प्रकृतिके साथ इसका ही सम्बन्ध है। प्रत्यगात्मा शरीरादिसे पृथक् है, शरीरके दोषगुण उसको नहीं स्पर्श कर सकते। वह भी परमात्माके समान नित्य-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है। यह जीव उस अक्षर पुरुषकी उपासना करके उसके साथ तादात्म्यभावसे मिल जाता है। इस अवस्थाको ही मुक्ति कहते हैं ॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

अन्वय—अहं च (मैं) गाम् (पृथिवीमें) आविश्य (प्रविष्ट होकर) ओजसा (बलद्वारा) भूतानि धारयामि (सब भूतोंको धारण करता हूँ) रसात्मकः (रसमय) सोमः च भूत्वा (चन्द्र होकर) सर्वाः ओषधीः (सारी ब्रीहियवादि ओषधियोंको) पुष्णामि (पुष्ट करता हूँ) ॥१३॥

श्रीधर—किञ्च—गामाविश्येति। गां पृथिवीं, ओजसा—बलेन अधिष्ठाय अहमेव चराचराणि भूतानि धारयामि। अहमेव च रसमयः सोमो भूत्वा ब्रीह्याद्योषधीः सर्वाः संवर्द्धयामि ॥१३॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—पृथिवीमें बलद्वारा अधिष्ठान करके मैं चराचर भूतोंको धारण करता हूँ। मैं रसमय चन्द्र होकर ब्रीहि-यवादि शस्योंका संवर्द्धन करता हूँ ॥१३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—चन्द्रकी रश्मि द्वारा इस पृथिवीकी समस्त वृक्षलताओं-में रस प्रवेश करते हुए मैं ही ओषधिरूपमें पुष्ट करता हूँ—उसको योगी लोग बलपूर्वक मूर्धामें आत्मप्राण रखकर स्थिर करते हुए द्रव्यके गुणमें प्रवेश करते हैं–जो योगी इस प्रकारकी अवस्थामें रहते हैं, उसकी क्रिया अच्छी तरह नहीं होती क्योंकि ब्रह्म अनन्त है—ब्रह्मके गुण भी अनन्त हैं एक अनन्तमें ही रक्षा नहीं है फिर अनन्तका अनन्त—जाने पर उसका अन्त मिलने का उपाय नहीं है—वह अपनेको आप भूल जाता है।—पृथिवी स्वस्थानसे भ्रष्ट होकर स्थानान्तरमें प्रक्षिप्त नहीं होती। यह पृथिवीका निजी गुण नहीं है, न यह मध्याकर्षण शक्तिके द्वारा ही है। यह है ईश्वरीय शक्ति। उस शक्तिकी प्रेरणा ही मध्याकर्षण

रूपमें परिज्ञात होती है। चन्द्रमें जो अमृत रहता है, वह भी ईश्वरीय शक्ति है। वह शक्ति अमृत-रूपमें ओषधादिके भीतर सञ्चारित होकर उनमें रोगनिवारिणी और जीवनदायिनी शक्ति बनकर विश्वकी रक्षा कर रही है। प्रत्येक तरु-लता-गुल्ममें रोगनिवारिणी असाधारण शक्ति विद्यमान रहती है। वे चन्द्रकी रश्मियोंसे इन शक्तियोंको प्राप्त करते हैं। परन्तु किस ओषधिमें कौन-कौन गुण विद्यमान हैं, यह केवल बाह्य परीक्षा द्वारा पूर्णतः जाना नहीं जा सकता। योगी लोग योगके बलसे सारी ओषधियोंके गुणसे अवगत हो सकते हैं तथा उनमें कौन गुण किस समय प्रकट होते हैं यह कालज्ञान भी उनको यथेष्ट रूपमें होता है। इस अभिज्ञताके द्वारा वे ओषधिके गुणको जानकर जब उसका प्रयोग करते हैं, तब वह सिद्ध मन्त्रके समान कार्य करती है। आत्मप्राणको मूर्द्धामें बलपूर्वक लाकर द्रव्यका चिन्तन करके उसमें जो जो शक्तियाँ निहित हैं उनको वे ज्ञानगोचर करते हैं। ऋषिगण पूर्वकालमें लोकहितार्थ इसी प्रकार द्रव्य-गुणसे अवगत होकर उसका प्रचार जनतामें करते थे। उसके फलस्वरूप चिकित्सा शास्त्रमें ओषधि द्वारा रोग निवारणकी व्यवस्था हुई। सिद्ध पुरुषको छोड़कर दूसरे लोग जो कुछ ही दूर अग्रसर होकर इन सब कार्योंमें समधिक शक्तिप्रयोग करते हैं वे योगाभ्यासके असली फल शान्तिको प्राप्त नहीं कर सकते। उनका समय व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। जीव-हितके बहाने वे अपनेको घोर कर्ममें नियुक्त करके अन्तमें कर्ममें आबद्ध होकर मुक्तिमार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं॥१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥१४॥

अन्वय—अहं (मैं) वैश्वानरः भूत्वा (जठराग्नि होकर) प्राणिनां (प्राणियोंकी) देहं आश्रितः (देहको आश्रय करके) प्राणापानसमायुक्तः (प्राण और अपान वायुके साथ मिलकर) चतुर्विधं अन्नं (चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय—इन चार प्रकारके खाद्योंको) पचामि (परिपाक करता हूँ)॥१४॥

श्रीधर—किञ्च—अहमिति। वैश्वानरः—जाठराग्निः भूत्वा प्राणिनां देहस्य अन्तः प्रविश्य प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां सहितः प्राणिभिः भुक्तं—भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चोष्यं चेति चतुर्विधं अन्नं पचामि। तत्र यत् दन्तैः अवखण्ड्य अवखण्डं भक्ष्यते अपूपादि तद्भक्ष्यं। यत्तु केवलं जिह्वया विलोड्य निगीर्यते पायसादि तद्भोज्यं। यज्जिह्वायां निक्षिप्य रसास्वादेन क्रमशो निगीर्यते द्रवीभूतं गुड़ादि तल्लेह्यम्। यत्तु दंष्ट्रादिभिः निष्पीड्य रसांशं निगीर्य अवशिष्टं त्यज्यते इक्षुदण्डादि तत् चोष्यम्—इति चतुर्विधोऽस्य भेदः॥ १४॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—मैं वैश्वानर अर्थात् जठराग्नि होकर प्राणियोंकी देहमें प्रवेश करके जठराग्निके उद्दीपक प्राण और अपान वायुके सहारे प्राणियोंके भुक्त—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चुष्य—इन चार प्रकारके अन्नोंका परिपाक करता हूँ। इनमें भक्ष्य वह है जो दाँतके द्वारा खण्ड-खण्ड करके भक्षण किया जाय जैसे पीठा आदि। जो जिह्वा द्वारा विलोड़न करके निगला जाता है वह भोज्य है जैसे पायस आदि। जो जिह्वापर रखकर रसास्वादन पूर्वक गलेके नीचे उतारा जाता है वह लेह्य है जैसे

द्रवीभूत गुड़ादि। जो दाँत द्वारा निपीड़न करके रसांश मात्र गलेके नीचे उतारकर शेष सीठी आदि फेंक दिया जाता है वह चोष्य है जैसे ईख आदि। यही चतुर्विध अन्नके भेद हैं ॥१४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरमें अग्नि-स्वरूप हमारी देहके भीतर प्राण और अपान समानरूपसे अटके रहने पर चतुर्विध अन्न—चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय,—पचाता हूँ, वह अग्नि जबतक इस शरीरमें है तबतक ही लोग जीवित हैं, जीवन जाते ही वह अग्नि चली जाती है (मर जाने पर लोग कहते हैं ठण्डा हो गया है) परन्तु इस प्रकारकी अग्नि इस शरीरमें जाज्वल्यमान है तथापि क्रियामें—आत्मचिन्तनमें—अनवधान है, अग्नि देने पर भी यदि कभी अवधान न होते हो तो जिसमें खुशी हो उसीमें लगे रहो—भगवान् जठराग्निरूपमें शरीरके भीतर प्रवेश करके चतुर्विध अन्नका परिपाक करते हैं। यह परिपाक प्राण और अपान इन दो वायुओंके साथ युक्त होकर करते हैं। वस्तुतः भोजन कोई साधारण कार्य नहीं है। भोजनके द्वारा ही जीव पुष्ट होता है, बल प्राप्त करता है। आधिभौतिक शरीर जैसे अन्नादि द्वारा परिपुष्ट होता है, वैसे ही यदि अन्न पवित्र हो और देवोद्देश्यसे उत्सृष्ट हो तो इसका सार भाग आध्यात्मिक शरीरको परिपुष्ट करता है। इस अन्नका भोक्ता कौन है? जैसे सब कर्मोंका फल नारायणमें अर्पित होता है, यह अन्न भी वैसे ही परम देवताके उद्देश्यसे अर्पित करना पड़ता है। उस अन्नको ग्रहण करनेके लिए वह वैश्वानर-रूपमें जठरमें बैठे हुए हैं। सौभाग्यकी बात होती यदि हम इस बातको स्मरण करके प्रति ग्रास उनको भोजन करा सकते! देवोद्देश्यसे अन्न त्याग करने पर वह एक पवित्र यज्ञके रूपमें परिणत हो जाता है। इसीसे महर्षि मनुने कहा है—

पूजयेदशनं नित्यं अद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥

अन्न ही जीवन-धारणका मूल है—इस भावसे अन्नका ध्यान करे। अन्नकी निन्दा न करके भोजन करे। अन्न देखकर आनन्दित होवे। यदि और किसी कारणसे मनमें ताप हो तो अन्नको देखकर उसका भी परित्याग करे। यह अन्न प्रतिदिन मुझे प्राप्त हो—इस प्रकार अन्नका अभिनन्दन करे।

श्रुतिमें कहा है—भोक्ता वैश्वानर अग्नि है, भोज्य अन्न ही सोम है। ये दोनों मिलकर अग्निषोम होते हैं। यह जगत् अग्निषोममय है—इस प्रकारकी जिसकी दृष्टि है, उसके लिए अन्न-दोष कुछ नहीं रहता।

इस परमात्मारूपी अग्निमें प्रतिदिन भोज्यरूपी आहुति दी जा रही है। परमात्मा-रूपी अग्निके प्राण और अपान ही आज्यभाग अर्थात् घृत हैं। यह प्राणापान-रूपी घृत ब्रह्माग्निमें हवन हो रहा है, इसीसे हम जीवित हैं। सारे कर्म, सारी चेष्टाएँ, सारे चिन्तन जो हमारे जीवनकी लीलाएँ हैं उसीसे उत्पन्न होती हैं। परन्तु सावधान! यदि यह हवि केवल विषय-चिन्तनमें भस्मीभूत हुई तो इससे केवल धूम उठेगा, केवल अज्ञान-अन्धकार पुञ्जीभूत हो जायगा, भीतरकी उस प्रज्वलित अग्निका कोई सन्धान न मिलेगा। प्राणापानके घर्षणसे अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। क्रियाके द्वारा यह प्राणापान-घर्षण होता है। क्रिया प्राप्त करके भी यदि अवधान

नहीं होता है अर्थात् मनः संयोग या एकाग्रता नहीं होती है तो वह अग्नि कामाग्नि और क्रोधाग्निके रूपमें प्रज्वलित हो उठेगी और ये देह-मन-प्राण उसके इन्धनका कार्य करेंगे। इसीसे हम अग्निरूपी परमात्माके सामने अपने मनकी वासनाको सामवेदके प्रथम मन्त्र द्वारा व्यक्त करते हैं—

"ॐ अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। निहोता सत्सि वर्हिषि।" हे अग्ने! तुम हमारे जीवन-यज्ञकी आहुति ग्रहण करनेके लिए आओ। तुम यज्ञेश्वर हो, जीवन-यज्ञकी यह प्राण-रूप हवि जब तुम ग्रहण करोगे, तभी हम चिर-स्थिर परमानन्द-धाममें प्रविष्ट हो सकेंगे। ये स्थिर प्राण, स्थिर चित्त देवताओंके लिए भक्षणीय या ग्रहणीय हैं। इतने दिनों तक अस्थिर चञ्चल मन-प्राणके द्वारा केवल असुरोंको भोजन कराया गया है, देवतालोग उपवास करते रहे हैं। हे अग्निरूप भगवान्! आज तुम्हारी कृपासे प्राण स्थिर हो गया है, मन स्थिर हो गया है, इस बार यह देव-भोग्य वस्तु-रूपमें परिणत हो गया है। तुम होता बनकर इस आस्तीर्ण कुशके ऊपर उपवेशन करो। इस प्राणयज्ञके तुम होता अर्थात् यज्ञकर्त्ता हो। तुम आस्तीर्ण कुश अर्थात् मूलाधारके ऊपर स्वाधिष्ठानमें नारायण-रूपमें अवस्थान कर रहे हो। तुमको देखकर मैं अपना कर्त्तृत्व-बोध भूल जाऊँ, ऐसी प्रेरणा दो।

जगत्के एकमात्र कर्त्ता प्रभु परमात्मा हैं। वही अग्नि हैं और जो कुछ यह व्यावहारिक जगत् है सब सोम या अन्न है। परमात्मा भोक्ता या द्रष्टा है और इदं सर्वं भोज्य या दृश्य है। ये द्रष्टा दृश्य जबतक मिलित नहीं होंगे—दोनों एक न होंगे, जबतक जगदम्बा कालिकारूपमें 'सब' को खाकर नहीं खेलेंगी, तबतक जगद्दर्शन या भ्रान्ति-दर्शन दूर न होगा ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

अन्वय—अहं च (मैं ही) सर्वस्य हृदि (सबके हृदयमें या बुद्धिवृत्तिमें) सन्निविष्टः (प्रविष्ट हूँ) मत्तः (मुझसे ही) स्मृतिः, ज्ञानं, अपोहनं च (स्मृति, ज्ञान तथा उनका अभाव या विलोप होता है) सर्वैः वेदैः च (सब वेदोंके द्वारा) अहं एव वेद्यः (मैं ही ज्ञेय हूँ)। वेदान्तकृत् (वेदान्तार्थप्रकाशक) वेदवित् च (तथा वेदार्थ-वेत्ता) अहमेव (मैं ही हूँ) ॥ १५ ॥

श्रीधर—किञ्च—सर्वस्येति। सर्वस्य प्राणिजातस्य, हृदि सम्यगन्तर्यामिरूपेण प्रविष्टोऽहं, अतश्च मत्त एव हेतोः प्राणिमात्रस्य पूर्वानुभूतार्थविषया स्मृतिर्भवति। ज्ञानञ्च विषयेन्द्रियसंयोगजं भवति। अपोहनञ्च तयोः प्रमोषो भवति। वेदैश्च सर्वैः तत्तद्देवता-रूपेण अहमेव वेद्यः। वेदान्तकृत्—तत्सम्प्रदायप्रवर्त्तकश्च ज्ञानदो गुरुः अहमित्यर्थः। वेदविदेव च—वेदार्थविदपि अहमेव ॥ १५ ॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—मैं सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामिरूपसे पूर्णतः प्रविष्ट हुआ हूँ। अतएव मुझसे ही प्राणिमात्रकी पूर्वानुभूत विषयकी स्मृति होती है। मुझसे ही विषयेन्द्रिय-संयोगजनित ज्ञान होता है। उस स्मृति और ज्ञानका विलोप भी मुझसे ही होता है। वेदप्रतिपाद्य तत्तत् देवतारूपमें मैं ही वेद्य हूँ तथा वेदान्तकृत् अर्थात् वेदान्त-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक ज्ञानदाता गुरु मैं ही हूँ और वेदार्थवित् भी मैं ही हूँ॥ १५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सबके हृदयमें निःशेषरूपसे जो स्थिति योनिमुद्रामें है (गुरुवक्त्रगम्य)—वहाँ भी गलेमें ताबीज बाँधकर अन्यत्र बक-बक करते हुए ढिंढोरा पीटते फिरते हैं। क्रियाकी परावस्थामें जो स्थिति होती है वह भी हृदयमें—उसका ही नाम ज्ञान है—यदि सब जाननेकी इच्छा करते हो—तो क्रियाकी परावस्थामें (स्थितिमें) रहो। क्योंकि, तब किसी विषयकी इच्छा नहीं रहती—जाननेकी भी इच्छा नहीं रहती—तुम्हारे सिवा अन्य कोई वस्तु भी नहीं रहती, और सब जब एक हो गया और वह एक तुम हो गये, तब सभी एक हुआ। अतएव सब ज्ञात हो गया। जाननेके पीछे लोग पागल होते हैं, वह जानना—जो जानने योग्य है—उसे क्रियाकी परावस्थामें रहकर ही जान सकोगे!! जानना—जानना दो वस्तुओंके रहे बिना नहीं होता—एक आदमी जानेगा अन्य एक वस्तुको, क्रियाकी परावस्थामें रहने पर सब एक हो जाता है, तब दो नहीं रहते, अतएव दोके न रहनेसे जाननेका अन्त हो गया, अतएव वेदान्त पढ़-लिखकर जो अवस्था प्राप्त की जाती है उस सब कुछ जाननेका पलभरमें अन्त कर देती है। ॐ ॐ ॐ वही जानना है, जिसको जानना उचित है, उसको भी क्रियाकी परावस्थामें अपने आप जान सकते हैं। वेद—विद्धातु—जानना, उस वेदको गुरुकी कृपा होने पर अर्थात् तुम्हारी निजी कृपासे पल भरमें जान सकते हो, ॐ इस प्रकारकी उत्तम वस्तुसे लोग विमुख रहते हैं।—अन्तर्यामीरूपसे प्रत्येक जीवके हृदयमें मैं अवस्थित रहता हूँ। मुझसे ही सब प्राणियोंके पूर्वानुभूत विषय स्मरण होते हैं—"या देवी सर्वभूतेषु स्मृतिरूपेण संस्थिता"। 'मैं' है, इसी कारण जीवको विषयेन्द्रिय-संयोगजनित ज्ञान होता है। इस स्मृति तथा ज्ञानका अभाव भी मुझसे ही होता है—"या देवी सर्वभूतेषु भ्रान्तिरूपेण संस्थिता"। वेदसे सब देवताओंका ज्ञान होता है। मैं ही सर्वदेवमय हूँ, इसलिए सब वेदोंका वेद्य भी एकमात्र मैं ही हूँ तथा समस्त ज्ञानका गुरु भी मैं हूँ। यदि कहो कि जब सब कुछ तुम्हीं हो तो यह बद्धभाव भी तुम्हारा ही है, फिर जीव कर्मफल क्यों भोगता है। वास्तविक रज्जुमें सर्पभ्रमके समय भी जैसे सर्पधर्म रज्जुमें नहीं रहता, उसी प्रकार यह कर्म मुझको स्पर्श नहीं करता। जैसे आलोक अंकुरके उद्गमका हेतु-मात्र है, उसके साथ अंकुरका साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार जीवके कर्मानुरूप फलका उदय होता है आत्माकी स्थितिके कारण, अन्यथा कर्मके साथ आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं होता। कर्म जीवका अज्ञान-जनित भावमात्र है। आत्मामें अज्ञानका पूर्ण अभाव है, इसलिए उसमें कर्म और तज्जनित बन्धन नहीं रह सकता।

अन्तर्यामिरूपमें वह सबके भीतर रहते हैं, यह हम जान सकते हैं योनिमुद्रामें।

बाहर तो अस्थि-मांस-रक्त-विनिर्मित इस देह-यष्टिके सिवा और कुछ नहीं देखनेमें आता। तब ये अचेतन इन्द्रियाँ कैसे विषयोंका अनुभव करती हैं, कैसे मन मनन करता है—"केनेषितां वाचमिमां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ?" कौन देवता चक्षु और कर्णको स्व-स्व कार्यमें नियुक्त करता है, किसके अभिप्रायसे लोग वाक्य उच्चारण करते हैं, इसका उत्तर उपनिषद् देती है—

"श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्
वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।"

वह श्रोत्रका श्रोत्र अर्थात् कानकी शक्ति है। वह मनका मन, वाक्यका वाक्य यानी कथन-शक्ति तथा प्राणका प्राण है। श्रीमत् शङ्कराचार्य कहते हैं कि "श्रवणेन्द्रियको साधारणतः स्वविषय शब्द-ग्रहण करनेमें समर्थ देखते हैं, परन्तु नित्य असंहत (निरवयव) सर्वान्तरस्थ आत्मज्योतिके विद्यमान रहने पर ही श्रवणेन्द्रियको विषयके अभिव्यञ्जनका सामर्थ्य होता है, अन्यथा नहीं।" "आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते", "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"—यह पुरुष आत्मज्योतिके द्वारा ही प्रकाशानुरूप कार्य करता है। यह सारा जगत् उसकी दीप्तिसे ही प्रकाशित होता है। हमारे हृदयमें सन्निविष्ट परम ज्योतिःस्वरूप जो विद्यमान रहता है, वह योनिमुद्रामें जाना जाता है। क्रियाकी परावस्थाकी जो स्थिति है वह भी हृदयमें होती है—"यतो निर्याति विषयो यस्मिंश्चैव प्रलीयते। हृदयं तद्विजानीयात् मनसः स्थितिकारणम्"। क्रियाकी इस परावस्थाका नाम ही प्रकृत ज्ञान है। प्रकृत ज्ञानमें द्वैत-भान नहीं होता। क्रियाकी परावस्थामें दूसरी किसी वस्तुका अनुभव नहीं होता, क्योंकि उस समय सब कुछ उस एक अद्वितीयके भीतर आत्मसंगोपन करता है, छाया तेजके भीतर अदृश्य हो जाती है। यही है 'अपोहनं' अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंके संयोगजनित ज्ञानका समाधिज ज्ञानमें विलीन हो जाना। तब फिर किसी वस्तुकी इच्छा नहीं होती। मैं उस एक अद्वितीयके साथ अभिन्न हूँ—यह स्मृतिधारा क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें उदय होती है। क्रियाकी परावस्थामें द्वितीय अर्थात् ज्ञाताके अभावमें कोई ज्ञेय वस्तु नहीं रह सकती। वही अद्वय परमात्मा निखिल ब्रह्माण्ड-व्यापी समस्त ब्रह्माण्डका सत्ता-स्वरूप है। अनुमान रहनेपर भी यह ज्ञानमें क्रियाकी परावस्थामें प्रत्यक्षका विषय बनता है। यही वेदवित्की अवस्था है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या सब कुछ भूल जाना ही ज्ञान है। निद्राके समय या मस्तिष्कके विकृत होने पर हम जैसे सब कुछ भूल जाते हैं, यह भूलना वैसा नहीं है। यह है एक अद्वितीय सत्ताके भीतर इस दृश्य-वैचित्र्यका—नाम-रूप-तरङ्गोंका—आत्मसमुद्रमें या अपने भीतर निमज्जन। जो लोग निरन्तर ज्ञान-ज्ञानकी रट लगाया करते हैं, वे नहीं जानते कि उनकी इन सीमाबद्ध इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान ही कितना प्राप्त होता है ! परन्तु क्रियाकी परावस्थामें जो डूब सकता है, वह जब क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें व्युत्थित होता है, जब उसका बाह्य चैतन्य पूर्णतः नहीं लौटता, तब उसकी जानने और समझनेकी शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि उस अवस्थामें इच्छा होनेपर वह इतना जान और समझ सकता है, जितना संसारकी सारी ज्ञान-

गर्भित पुस्तकोंके पाठसे भी संभव नहीं है। बहुत अनुसंधान और परीक्षाके द्वारा जो बाह्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त होता है, वह ज्ञान योगीको क्षणभरमें हो सकता है। जिसको जाननेपर सब कुछ जाना जाता है, जिसको जान लेनेपर इतने पृथक् पृथक् रूपमें ज्ञान-प्राप्तिकी आवश्यकता नहीं रहती, वेदान्तादि अनेक शास्त्रोंका पाठ करके भी जो अवस्था प्राप्त नहीं होती, वह जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिके अतीत तुरीयावस्था पलक मारते साधकको प्राप्त होती है। जब साधक अपने प्रति आप कृपा करके मन लगाकर साधन करता है, विषयके हेयत्वको जानकर विषय-चिन्तनसे विरत होता है, दुष्कार्यसे इन्द्रियोंको फिरा लेता है, प्राणक्रिया करके मनःप्राणको आत्मस्थ करनेका सामर्थ्य प्राप्त करता है, तब "का चिन्ता मरणे रणे ?" ॥१५॥

(क्षर और अक्षर पुरुष)

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

अन्वय—क्षरः च अक्षरः च (क्षर और अक्षर) इमौ द्वौ (ये दोनों) पुरुषौ एव (पुरुष ही) लोके (संसारमें प्रसिद्ध हैं)। [इनमें] सर्वाणि भूतानि (सारे भूत) क्षरः (नश्वर हैं), कूटस्थः (भोक्ता चेतन) अक्षरः उच्यते (अक्षर पुरुष कहलाता है) ॥१६॥

श्रीधर—इदानीं "तद्धाम परमं मम" इति यदुक्तं तत् स्वकीयं सर्वोत्तमत्वं दर्शयति—द्वाविति त्रिभिः। क्षरश्च अक्षरश्चेति द्वाविमौ पुरुषौ लोके प्रसिद्धौ। तौ एव आह—तत्र क्षरः पुरुषो नाम सर्वाणि भूतानि—ब्रह्मादिस्थावरान्तानि शरीराणि। अविवेकिलोकस्य शरीरेष्वेव पुरुषत्वप्रसिद्धेः। कूटः—राशिः शिलाराशिः पर्वत इव, देहेषु नश्यत्स्वपि निर्विकारतया तिष्ठतीति कूटस्थः—चेतनो भोक्ता। स तु अक्षरः पुरुषः इति उच्यते विवेकिभिः ॥१६॥

अनुवाद—[अब स्वकीय सर्वोत्तमत्वको तीन श्लोकोंमें दिखला रहे हैं]—क्षर तथा अक्षर ये दो पुरुष जगत्में प्रसिद्ध हैं। उनमें क्षर पुरुष हैं समस्त भूतगण—ब्रह्मासे स्थावर पर्यन्त समस्त शरीर क्योंकि अविवेकी लोगोंके लिए शरीरोंमें पुरुषत्वकी प्रसिद्धि है। 'कूट' शिलाराशिमय पर्वत है। पर्वतके विनष्ट होनेपर भी जैसे वह शिलाराशिरूपमें रहता है, उसी प्रकार देहके विनष्ट होनेपर भी निर्विकार होनेके कारण जो विद्यमान रहता है वही कूटस्थ अर्थात् चेतन भोक्ता है। उस चेतन भोक्ताको ही विवेकी लोग अक्षर पुरुष कहते हैं ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—दो पुरुष इस लोकमें हैं, एक क्षर और दूसरा अक्षर। अन्य दृष्टिमें आसक्तिपूर्वक जो रहते हैं उनका नाश होता है, और आत्मामें रहकर जो कूटस्थमें रहते हैं वह अक्षर अर्थात् अविनाशी हैं। तन्निमित्त जितने लोग हैं सब नाशवान् हैं, केवल कूटस्थमें जो आठों पहर रहते हैं, वे ही अविनाशी हैं। जिसकी स्थिति त्रिकुटिमें है, जिसको कोई देख नहीं पाता, केवल गुरुवक्त्रगम्य है—गुरुके चक्षुके द्वारा देखा जाता है—बिना दिखलाये नहीं दीखता।—क्षर और अक्षर पुरुषके सम्बन्धमें श्रीमत् आचार्य शङ्करने जो कहा है, उसका अनुवाद यहाँ देता हूँ—'भगवान्, ईश्वर, नारायण या परमात्मा एक

होने पर भी नाना उपाधियोंवाले हैं। 'आदित्यगत जो तेज अखिल जगत्को भासित करता है'—इन श्लोकोंके द्वारा संक्षिप्तरूपमें उनकी विभूतिका वर्णन किया गया है। क्षर और अक्षर इन द्विविध उपाधियों द्वारा प्रविभक्त-सा प्रतीत होते हुए भी जो वस्तुतः निरुपाधिक ब्रह्म है, उसके प्रकृत स्वरूपके निर्धारणके लिए परवर्ती श्लोकोंका आरम्भ किया जा रहा है। पूर्ववर्त्ती अध्यायोंमें जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट होता है कि पुरुष दो प्रकारके हैं। एक हैं 'क्षर' जो क्षरित होते हैं अर्थात् विनाशको प्राप्त होते हैं और दूसरे हैं 'अक्षर'। अक्षर क्षर-राशि से विपरीत पुरुष हैं। यही भगवान्की मायाशक्ति है। यह अक्षर ही क्षर-नामक पुरुषकी उत्पत्तिके लिए बीजस्थानीय कारण है। संसारी जीवोंका तथा संस्कार-समूहोंका यही एकमात्र आश्रय है। वह क्षर और अक्षर क्या है, यह भगवान् स्वयं बतला रहे हैं। 'क्षर'-शब्दका अर्थ सर्वभूत अर्थात् समस्त विकार-समूह है। जो कूटस्थ पुरुष है, वही अक्षर-शब्दका प्रतिपाद्य अर्थ है। कूटस्थ-शब्दका अर्थ इस प्रकार है—कूट माने राशि। जो राशिके समान अपरिवर्त्तनशील होकर अवस्थित है, वही कूटस्थ कहलाता है। अथवा कूट-शब्दका अर्थ है माया, वञ्चना, जिह्मता, कुटिलता। संसारकी अनन्त बीज-स्वरूप माया-शक्तिका वह आश्रय है, अतएव वह अक्षर या अविनाशी है।"

इस प्रकार श्रीमत् शङ्कराचार्यके मतसे जो कार्योपाधियुक्त भौतिक या विनश्वर पदार्थ है वह क्षर है तथा कारणोपाधियुक्त अविनश्वर मायाशक्ति ही अक्षर पुरुष है। श्रीधर कहते हैं कि ब्रह्मसे लेकर स्थावरपर्यन्त जितने शरीर हैं, जिनका सहारा लेकर चैतन्यका प्रकाश होता है, वह व्यक्त भावरूप शरीर क्षर पुरुष है और देहके विनष्ट होने पर भी जो विद्यमान रहता है वह कूटस्थ अर्थात् चेतन भोक्ता है। अब देखना है कि यह चेतन भोक्ता अव्यक्त कारण और शरीर-रूप व्यक्त कार्य अद्वितीय ब्रह्मसत्तासे कैसे उद्भूत होते हैं। हमारी संवित्की चार भूमिकाएँ हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। एक और अवस्था है जिसे योगी लोग अतितुर्य्यावस्था कहते हैं। अस्तु, साधकोंको संवित्की निम्नभूमिसे उच्च, उच्चतर और उच्चतम भूमिमें उठाना ही योग-साधनका उद्देश्य है। संवित् जबतक उच्चतर भूमिमें नहीं उठती, तबतक हमारे पशुभाव या जीवभावमें परिवर्तन नहीं होता। समाविज प्रज्ञाके बिना कोई देवभाव या शिवभावको नहीं पा सकता। गीताकी व्याख्यामें पहले कहा जा चुका है कि जीव परमात्माके साथ एक होकर भी प्राण-प्रवाहके द्वारा जाग्रतावस्थामें या स्थूल शरीरमें अवतीर्ण हुआ है। इसको ठीक विपरीत दिशामें अपने इस स्थानसे स्व-केन्द्रमें लौटकर जाना पड़ेगा। इस लौटकर जानेके मार्गका अनुसरण करना ही साधना कहलाती है। पहली जाग्रत भूमिका स्थूल देह है, पश्चात् स्वप्न-भूमिका या सूक्ष्म देह है, पश्चात् सुषुप्ति या कारण-देहको अतिक्रम करके साधकको चतुर्थ भूमि या तुरीयावस्थामें लौटना पड़ेगा। स्थूल देहमें चैतन्यका सञ्चार होनेके समय सूक्ष्म और कारण देहोंमें चैतन्य सञ्चारित रहता ही है, यह जान लेना

चाहिए। जब स्थूल शरीरमें यह चैतन्य प्रकाशित रहता है, तब उसको हम जाग्रतावस्था कहते हैं। यह स्थूल देहस्थ चैतन्य ही यथार्थमें भूतात्मा है, यही अन्नमय कोषका वाहन है, यही अहमिकाका क्षेत्र है। यह चैतन्य 'अहं' अभिमानी जीव है, सुख-दुःखका भोक्ता है, इस स्थूल जगत् और स्थूल भोगके सिवा और कुछ इसकी दृष्टिमें नहीं पड़ता। इसी कारण इसको आत्माका स्थूल भाव या जड़भाव कहते हैं। यह स्थूल या जड़भाव अत्यधिक मात्रामें रहने पर मनुष्यत्वका पशुत्वमें बदल जाना कुछ भी विस्मयजनक नहीं है। इस प्रकार जब आध्यात्मिक उच्च स्तरमें आरोहण करनेका जीव प्रयत्न करता है तो उस निम्नश्रेणीके साधकके भावको तन्त्रमें 'पश्वाचार' कहते हैं। इस पश्वाचारके अनुष्ठानसे ही भूतात्मा जीवात्माके भीतर प्रविष्ट या निमज्जित होता है। यह जीवात्मा परमात्माकी किरण है। यही शुद्ध 'अहं'-रूपमें कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीरको प्राणमय कर डालता है। सूक्ष्म और कारण शरीर इनके वाहन हैं अर्थात् वहाँ ही जीवात्मा ज्योति (तैजस) रूपमें प्रत्यक्ष किया जाता है। यह किरण जब स्थूल शरीरमें नहीं आती तब स्थूल शरीराभिमानी 'अहं' विलुप्त हो जाता है, जैसे स्वप्नमें स्थूल शरीरमें अभिमान नहीं रहता। स्थूल सूक्ष्म और कारण देह—यह सभी प्रपञ्च हैं। प्रपञ्चातीत आत्मा जब इन सब स्तरों (conditions) में प्राणसूत्र (सूत्रात्मा) रूपसे अवतरण करता है, तभी कारण, सूक्ष्म और स्थूल देहोंमें प्राण-सञ्चार होता है और साथ-साथ इन सब देहोंमें चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है। प्राण ही मनका जनक है—"मनोनाथस्तु मारुतः"। सूत्रात्मा ही जीव है, इसीको वेदान्तके मतसे चिदाभास कहते हैं। यही श्वासरूपमें जीवका जीवन है। इसी कारण केन्द्रको लौटनेके मार्गमें योगी लोग श्वास-प्रश्वासका दृढ़तापूर्वक अवलम्बन करते हैं। जैसे तुषके भीतर चावल आच्छादित रहता है, उसी प्रकार श्वासके भीतर प्रत्यगात्मा आच्छादित-सा रहता है। चावलके ऊपर तुष रहने पर ही उसमें अङ्कुर निकलता है, तुषके बाहर हो जाने पर फिर अङ्कुर नहीं निकलता। इसी प्रकार जबतक श्वास-प्रश्वास रहता है तबतक उसकी वासना और कर्म तथा कर्मफल-भोगके लिए जन्म-मरण आदि होते हैं। साधनके द्वारा श्वासका क्षय हो जाने पर जो अवशिष्ट रहता है, वह जन्म-मरणकी अतीत अवस्था है। इस सूत्रात्मा प्राणके सम्बन्धमें प्रश्नोपनिषद्में लिखा है—

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।
तुभ्यं प्राणः प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥

हे प्राण ! तुम्हीं प्रजापति होकर गर्भमें विचरण करते हो तथा माता-पिताके अनुरूप या पूर्वकर्मके अनुरूप होकर जन्म ग्रहण करते हो। हे प्राण ! तुम जिस प्राणसमूहके साथ अवस्थान करते हो, वे सब तुम्हारे उद्देश्यसे बलि-प्रदान करते हैं।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता, या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता, शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥

हे प्राण ! तुम्हारा जो तनु वाक्यमें प्रतिष्ठित है तथा जो श्रोत्रमें और चक्षुमें है और जो मनमें सङ्कल्प-व्यापार आदिके द्वारा नियत रूपसे रहता है, उस तनुको शिव अर्थात् प्रशान्त करो। हे प्राण ! उत्क्रान्त मत होना अर्थात् शरीरसे बाहर न निकलना। प्राण स्थिर होने पर वह अन्यत्र नहीं जा सकता। छान्दोग्यमें लिखा है कि ज्ञानियोंका प्राण उत्क्रमण नहीं करता।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञाञ्च विधेहि न इति॥

त्रिलोकमें जो सब अवस्थित हैं, वे प्राणके वशमें हैं। हे प्राण ! माता जैसे पुत्रोंकी रक्षा करती है उसी प्रकार हमारी रक्षा करो तथा हमारे लिए सम्पद् और हित-बुद्धिका विधान करो।

"आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छाया, एतस्मिन्नेतदाततं, मनोऽधिकृते-नायात्यस्मिन् शरीरे।" आत्मा या परमेश्वरसे यह प्राण उत्पन्न होता है। पुरुष-देहमें जिस प्रकार छाया उत्पन्न होती है, उसी प्रकार यह प्राण भी आत्मासे आतत या अनुगत होता है तथा मनः-सम्पादित कोषादि द्वारा इस स्थूल शरीरमें आता है।

प्रत्यगात्मा चिन्मात्र है, वही कूटस्थ है। जीवात्मा उसकी किरण-मात्र है। यह चित्कण प्रत्यगात्मा भी शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है। ये चित्कण कितने हैं, इसकी गणना नहीं हो सकती। ये चित्कण ही "एकोऽहं बहु स्याम्"के बहु हैं। परन्तु बहु होते हुए भी ये एक अद्वितीयके साथ योगयुक्त हैं। ये चिन्मात्र पुरुष अनन्त चिदा-काशके वक्षःस्थल पर प्रतिनियत स्फुटित होते हैं। चिदाकाश ही अव्यक्त परब्रह्मका एक प्रकारसे व्यक्त भाव है जैसे शिवके साथ शिवानी मिलित हैं। उस अव्यक्त भावको कोई आयत्त करने या समझनेमें समर्थ नहीं होता।

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादात् विन्दुसमुद्भवः॥

सच्चिदानन्द ब्रह्मयुक्त आद्या शक्तिसे जो नाद (महत्) उत्पन्न हुआ है, उस नादसे बिन्दु (अहङ्कार-तत्त्व) की उत्पत्ति होती है।

विन्दुः शिवात्मकस्तत्र बीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम्।
तयोर्योगे भवेन्नादस्तेभ्यो जातास्त्रिशक्तयः॥

बिन्दु शिवात्मक है, बीज शक्त्यात्मक है और नाद शिव-शक्त्यात्मक है। इस बिन्दु, बीज और नादसे त्रिशक्ति—ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति अर्थात् रुद्र, ब्रह्मा और विष्णुकी उत्पत्ति हुई है।

यह चेतन भोक्ता पुरुष ही चित्कण है। यही अङ्गुष्ठमात्र पुरुष "ज्योतिरिवाधूमकः" अर्थात् धूमहीन ज्योतिके समान है, यही अन्तरात्मा है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेत्
मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण॥ कठ० उप०॥

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष अन्तरात्मा है, वह जीवात्माका आत्मा है, वह जनगणके हृदयमें सदा सन्निविष्ट है, वह शरीरके साथ संलिप्त रहता है। मुञ्जतृणसे जैसे इषीका पृथक् की जाती है, उसी प्रकार इस पुरुषको अपने शरीरसे पृथक् करके देख सकते हैं।

पश्चात् यह चिदंश भी मानो एक और अद्वितीय ब्रह्ममें डूब जाता है। असंख्य घटोंमें एक ही सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है। असंख्य घटोपाधिके विनाशके साथ इन सब चिदाभासोंका कोई अस्तित्व नहीं रहता। तब केवल एक ही वर्तमान रहता है। एक कहनेवाला भी कोई नहीं रहता।

'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्'—छान्दोग्य। यही माया या चित्कणाका आत्मविलोपन है। जो खेल आरम्भ हुआ था, वह समाप्त हो गया। यही कैवल्यावस्था है। योगसूत्रमें लिखा है—"प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेधर्ममेघः समाधिः"—प्रसंख्यानज या विवेक-ज्ञानमें भी वैराग्ययुक्त होनेपर सर्वथा विवेकख्यातिसे धर्ममेघ समाधि होती है। "ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः"—इस धर्ममेघ समाधिसे अविद्यादि क्लेश समूल नष्ट हो जाते हैं। पुण्यापुण्य सारे कर्माशय समूल नष्ट हो जाते हैं। क्लेशकर्मकी निवृत्ति होनेपर विद्वान् व्यक्ति जीवित रहते ही विमुक्त हो जाते हैं।

इसीलिए लाहिड़ी महाशय अपनी व्याख्यामें कहते हैं कि पुरुष दो प्रकारके हैं। जो आसक्तिपूर्वक विषयादिमें दृष्टि रखते हैं, वे देह-सम्बन्धी बद्धजीव हैं, उनका चैतन्य भूतात्मामें पर्यवसित होता है, वे ही जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़कर मरते रहते हैं। दूसरे वे हैं जिनकी दृष्टि कूटस्थमें लगी है, उनका मन देह-सम्बन्धसे उठकर प्रत्यगात्मामें निबद्ध रहता है, उनका जीव अर्थात् मन प्रत्यगात्माके साथ मिलकर परमात्माके साथ मिल जाता है, इसलिए वे अविनाशी-पदको प्राप्त हैं, वे स्वयं अक्षर-स्वरूप हो गये हैं। देहमें उनका आत्मबोध नहीं होता, उनको त्रिकुटीमें परम स्थिति प्राप्त हो गयी है। उन्होंने अभय और अमृतपद प्राप्त किया है ॥१६॥

(परमात्मा ही पुरुषोत्तम या परमेश्वर हैं)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

अन्वय—अन्यः तु (इन दो प्रकारके [क्षर और अक्षर] पुरुषसे भिन्न) उत्तमः पुरुषः (उत्तम पुरुष) परमात्मा इति उदाहृतः (परमात्मा कहलाता है) यः (जो) ईश्वरः अव्ययः (ईश्वर और अव्यय) लोकत्रयम् आविश्य (लोकत्रयमें प्रविष्ट होकर) बिभर्त्ति (सबका पालन करता है) ॥१७॥

श्रीधर—यदर्थम् एतौ लक्षितौ तमाह—उत्तम इति। एताभ्यां क्षराक्षराभ्यां अन्यः—विलक्षणः तु उत्तमः पुरुषः। वैलक्षण्यमेवाह—परमश्चासौ आत्मा चेति उदाहृतः—उक्तः श्रुतिभिः। आत्मत्वेन क्षरात्—अचेतनात् विलक्षणः परमत्वेन अक्षराच्चेतनात् भोक्तुर्विलक्षणः इत्यर्थः। परमात्मत्वमेव दर्शयति—यो लोकत्रयमिति। य ईश्वरः—ईशनशीलः अव्ययश्च—निर्विकार एव सन् लोकत्रयं कृत्स्नं आविश्य बिभर्त्ति—पालयति ॥१७॥

अनुवाद—[जिसके लिए क्षर और अक्षर पुरुषद्वय लक्षित हुए, उसको बतलाते हैं]—इस क्षर और अक्षरसे विलक्षण अन्य एक पुरुष उत्तम पुरुष है। वह परमात्मा है ऐसा श्रुतिमें कथित हुआ है। वह आत्मा होनेके कारण अचेतन क्षरसे विलक्षण है और परमत्वके कारण भोक्ता अक्षर पुरुषसे भी विलक्षण है। उसका परमात्मत्व दिखलाते हैं—वह ईशनशील ईश्वर अव्यय तथा निर्विकार होकर भी लोकत्रयके हृदयमें आविष्ट होकर प्राणीमात्रका पालन कर रहा है ॥१७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—उस कूटस्थको देखते देखते पश्चात् एक उत्तम पुरुष दीख पड़ता है—जिसको शास्त्रमें परमात्मा कहते हैं। जो स्वर्ग, मर्त्त, पाताल-त्रिभुवन जो इस शरीरके भीतर हैं (वृद्धाङ्गुष्ठसे नाभिपर्यन्त सप्त पाताल, नाभिसे कण्ठपर्यन्त सप्तद्वीपा वसुन्धरा पृथ्वी मर्त्तलोक, कण्ठसे ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त सप्तस्वर्ग) उसमें प्रवेश करके चमड़ेका जामा पहनकर अपना भरण-पोषण विशेषरूपसे करता है अर्थात् जिसके मनमें जो खानेकी इच्छा होती है वह खाता है—वह अव्यय अविनाशी है, क्योंकि सूक्ष्मरूपमें उसके अतिरिक्त कोई और सर्वव्यापी वस्तु होती तो परिवर्त्तन होता, जब सभी एक हैं तब नाश किसका होगा—वही ईश्वर है—कर्त्ता जीव-स्वरूपमें सर्वत्र सब कुछ कर रहा है तथापि सूक्ष्म ब्रह्मरूपमें कुछ भी नहीं करता—करना न करना केवल स्थूलरूपका जानो वह नित्य नहीं है। ॐ—'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'—हिरण्यगर्भ कूटस्थ ही सबके पहले दीख पड़ता है, उसीसे समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, वह सबका एकमात्र पति अर्थात् सबका सृष्टिकर्त्ता है। इस हिरण्यगर्भ कूटस्थके भीतर ही पुरुषोत्तम रहता है। कूटस्थका दर्शन करते-करते उसके भीतर उत्तम पुरुषका दर्शन होता है। उत्तम पुरुषका रूप शरीरके ही समान है। अंगुष्ठ-मात्र ज्योतिःस्वरूप वह भ्रूमध्यमें देखा जाता है और बालके एक हजार भागका एक भाग है। वह जीव सुषुम्नाके भीतर आता जाता है और अत्यन्त सूक्ष्म नक्षत्रकी ज्योतिके समान दीखता है। उत्तम पुरुष ब्रह्म है। उसके ही अधीन आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ये पञ्चतत्त्व हैं और ये उस उत्तम पुरुषसे ही उत्पन्न हुए हैं। उत्तम पुरुष ईश्वर ही सबका कारण है। वही विषय-भोग कर रहा है तथा वही ब्रह्मानन्द भोग करता है। वही स्वरूपवत् है। क्रियाकी परावस्थामें ईश्वरका वह रूप भी नहीं रहता। तब "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" हो जाता है, उस समय और कुछ नहीं रहता। वह समस्त ज्योतियोंकी ज्योति है। वह ब्रह्म है, उसका कोई चिह्न नहीं है, तथापि वह आत्मा द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है—ऐसा श्रुति कहती है। यजुर्वेदमें लिखा है—'मरुतः शिवः मरुतः ब्रह्म'—मरुत ही शिव है, मरुत ही ब्रह्म है। वह मरुत जब स्थिर होता है तब शिव है और वही मरुत अन्य दिशामें दृष्टि करके सृष्टि करता है।

क्रियाकी परावस्था ही शिव है जो सब भूतोंमें रहते हैं। उसने पहले जल, उसके भीतर बीज, उसके भीतर नारायण तथा उसके भीतर कूटस्थ-स्वरूप हेमाण्डकी [सृष्टि करके स्वयं उसके भीतर प्रवेश किया। वही गायत्री हैं और वही नित्यके नित्य

हैं। जब कूटस्थ-स्वरूपा गायत्री लय होती है, तब उसकी शक्ति क्रियाकी परावस्थामें रहती है। "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्"—(श्वेता० उप०)। मायाधीश्वर परमात्माकी वह आत्मभूता, अस्वतन्त्रा शक्ति स्वगुणों अर्थात् सत्त्व, रजः, तमो नामक स्वकीय गुणोंसे तथा स्वीय कार्यों द्वारा आच्छादित है। जब साधक कूटस्थमें रहता है तब समस्त पापोंसे मुक्त होता है। उसके भीतर जो गुहा है उसमें साधक प्रवेश करता है, वहाँ रात या दिन कुछ नहीं है। "असद्वा इदमग्र आसीत् ततः सदजायत" "तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात् तत्सुकृतमुच्यते"। क्रिया करके कूटस्थदर्शन और उसके बाद क्रियाकी परावस्था होती है। क्रिया करके कूटस्थके भीतर जब देवतादिका दर्शन होता है, उस समय भी द्वन्द्वभाव रहता है। क्रियाकी परावस्थामें दर्शनादि नहीं होते, उस समय निर्द्वन्द्व भाव होता है। वही ध्रुव, स्थिर और अक्षर है तथा दर्शनादि व्यापार अस्थिर और क्षर हैं। यद्यपि इस शरीरके भीतर ही कूटस्थ रहता है, परन्तु पहले वह नहीं दीखता। योनिमुद्रामें कूटस्थ-दर्शन होता है। कूटस्थ-दर्शन हो जानेके बहुत पश्चात् उसमें ईशनशील सर्वज्ञ नारायणका दर्शन होता है, वही पुरुषोत्तम-रूप है। कूटस्थके भीतर सत्-असत् सारी सृष्टि हो रही है, इसी कारण उसके भीतर त्रिलोक और त्रिलोकस्थ जीव देखे जाते हैं। पश्चात् पुरुषोत्तम या ईश्वरका दर्शन होता है। ये पुरुषोत्तम क्षर-अक्षरके संयुक्त भाव हैं। यहाँ क्षरकी प्रधानता नहीं है, इसी कारण नारायण प्रपञ्चके अधीश्वर हैं। वह प्रपञ्चको लेकर क्रीड़ामात्र करते हैं तथापि सदा प्रपञ्चातीत भावमें अवस्थित हैं। यह हिरण्यगर्भाख्य नारायण ही सब जीवोंके उपास्य हैं। हिरण्यगर्भ, नारायण, ईश्वर, विष्णु—ये सारे नाम एक ही के हैं। वही नवद्वार-विशिष्ट देहमें प्रविष्ट होकर सूत्रात्मा, प्राण या हंसरूपमें निर्दिष्ट होते हैं। तब उनकी बहिर्मुख वृत्ति फूट उठती है और इस व्यक्त जगत्-प्रपञ्चके व्यवहार चलने लगते हैं। तब वह सुप्तवत् जान पड़ते हैं मानो अपने आपको भूल गये हैं। ये सारे दृश्य पदार्थ सदा एक भावमें नहीं रहते, इसी कारण इनको क्षर कहते हैं। ये क्षर पदार्थ भी अक्षर पुरुषके द्वारा परिव्याप्त हैं। गुरूपदेशके अनुसार साधना द्वारा जब बाह्य वायु स्थिर हो जाती है, अति सूक्ष्म रूपमें केवल तत्त्व-तत्त्वमें चलती रहती है, तब बाह्य प्रकृति या देहका अनुभव नहीं होता। क्षर तब अक्षरके भीतर प्रवेश करता है। तब हंस विपरीत भावसे गमन करके समस्त विश्व-प्रपञ्चको आत्मसात् करता है। तब "सोऽहं; सोऽहं" अर्थात् समस्त दृश्य ही आत्माके द्वारा अनुप्राणितया आत्मासे अभिन्न जान पड़ते हैं।*

---

* पुरुष तीन हैं—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम। भूत-प्रकृतिमें सञ्चारित चैतन्य ही क्षर पुरुष है, जैसे घट-जलमें सूर्यका प्रतिबिम्ब होता है। घटके परिवर्तनसे सूर्यका परिवर्तन नहीं होता या घटके नाशसे सूर्यका नाश नहीं होता, परन्तु घटनाशके साथ घटमध्यस्थ प्रतिबिम्बित चैतन्यका अस्तित्व नहीं रहता। जो प्रतिबिम्बित चैतन्य नहीं परन्तु बिम्बभूत शुद्ध चैतन्य है, जो भूतप्रकृतिसे विविक्त है, देहरूपी घटके नष्ट होने पर भी जो रहता है, जो घटस्थ होकर भी सब घटोंमें एकरूप है अर्थात् 'मनःस्थं मनोमध्यस्थं' होकर भी जो 'मनोवर्जितं' है, जो

साधनाका चरम फल क्रियाकी परावस्थाका समुदय होने पर फिर और दृश्य-दर्शन नहीं होता। उस अवस्थामें सदा रहनेका नाम महानिर्वाणपद है। वहाँ काल चक्रवत् भ्रमण नहीं करता। इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिए प्रयोजन है (१) क्रिया करना, (२) क्रिया करके नशेमें मत्त हो जाना, (३) प्रकृतिस्थ होना अर्थात् इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाके एक हो जाने पर एक प्रकारकी समताका अनुभव करना और वही हो जाना, (४) शान्तिपदकी प्राप्ति, (५) सदा शान्तिपदमें रहना। उस समय बात करनेकी इच्छा नहीं होती, मनमें किसी सङ्कल्पका उदय नहीं होता, वस्तु-निरपेक्ष परम शान्तिके भाव फूट उठते हैं ॥१७॥

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

अन्वय—यस्मात् (क्योंकि) अहं (मैं) क्षरं अतीतः (क्षरके अतीत)

अविनाशी कूटस्थ है—वही अक्षर पुरुष है। यही है 'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्'। यही है परा प्रकृति। इसके बिना सृष्टि आदि कुछ भी नहीं हो सकती। यही प्राणरूपमें समस्त विश्व-ब्रह्माण्डको प्राणमय कर रहा है। यह अज, शाश्वत, अविनाशी पुरुष है।

उत्तम पुरुष भी इस अक्षर पुरुषके साथ अभिन्न है, परन्तु उसमें एक और वैशिष्ट्य है जो अक्षर पुरुषमें नहीं है। वह अतिशय रहस्यजनक तत्त्व है। इस तत्त्वसे सब लोग अवगत नहीं हो सकते। चैतन्यके साथ जड़ संयुक्त होकर चैतन्यवत् जान पड़ता है। शुद्धचैतन्य जड़-सम्पर्क-रहित है, उसमें मनोधर्म नहीं है, वह शुद्ध चैतन्यमात्र है, ज्योति-मात्र है। परन्तु उस ज्योतिके अन्तर्गत पुरुष, जिसमें जड़धर्म नहीं है, वह शुद्ध चैतन्यमात्र होकर भी कर्त्ता और ईशान-भाव-समन्वित है। वह सबके हृदयस्थ होकर भी हृदय-भाव-द्वारा अनावृत है। उससे हम अपने मनकी बात बोल सकते हैं। वह कर्मरूप विधाता है, वह हमारी बात सुनता है, हमको जानता है, हमको प्यार करता है तथा हमारा प्रेम ग्रहण करता है। वही नराकृति नारायण पुरुषोत्तम या भगवान् है। क्षर, अक्षर सब इसके अन्तर्गत हैं। इसको ही लोग भजते हैं। व्यक्त भावकी पराकाष्ठा यह पुरुषोत्तम भाव है। परन्तु परब्रह्म समस्त व्यक्त भावके अतीत है। उसका ही एकांश-मात्र यह कारणार्णवशायी आदि पुरुष है। यही जगत्के पालनार्थ अवतीर्ण होता है। परब्रह्मका स्वरूप इन्द्रिय, मन और बुद्धिके अतीत है, पुरुषोत्तम-भाव भी उसमें निमज्जित है। उसको जाननेका कोई उपाय नहीं है, वह सत्तामात्र है। सारे विशेषणोंके दूर हो जाने पर, समस्त नामरूप मिट जाने पर जो अवशिष्ट रहता है, जिसमें समुद्र-तरङ्गोंके समान अनन्त सृष्टि उच्छ्वसित होती है और जो स्वयं समस्त उच्छ्वाससे विवर्जित् है, जो क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमका आश्रय है, जिसको पुरुष नामसे भी अभिहित नहीं कर सकते, जो न सर्वज्ञ है और न अज्ञ—वही ब्रह्म है। उपनिषदमें यह ब्रह्म ही प्रतिपादित है। ज्ञानी लोग इस सत्तामात्र वस्तुकी सत्यता स्वीकार कर शेष सारी वस्तुओंके अस्तित्वको अस्वीकार करते हैं—यही परब्रह्म है।

अक्षरात् अपि (अक्षरसे भी) उत्तमः च (उत्तम) [हूँ] अतः (इस कारण) लोके वेदे च (लोक और वेदमें) पुरुषोत्तमः प्रथितः अस्मि (पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ) ।।१८।।

श्रीधर—एवम्भूतं पुरुषोत्तमत्वं आत्मनः नाम-निर्वचनेन दर्शयति—यस्मादिति। यस्मात् क्षरं—जड़वर्गं अतिक्रान्तोऽहं नित्यमुक्तत्वात्। अक्षरात् चेतनवर्गादपि उत्तमश्च नियन्तृत्वात्। अतो लोके वेदे च पुरुषोत्तम इति प्रथितः—प्रख्यातोऽस्मि। तथा च श्रुतिः—"स वा अयमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति"—इत्यादि ।।१८।।

अनुवाद—[अपने नामनिर्वचनके द्वारा एवम्भूत पुरुषोत्तमत्वको प्रमाणित करते हैं]—क्योंकि क्षरको अर्थात् जड़वर्गको मैंने अतिक्रम किया है अतएव मैं नित्यमुक्त हूँ। मैं अक्षर अर्थात् चेतनवर्गसे भी उत्तम हूँ, क्योंकि मैं नियन्ता हूँ। इसलिए लोक और वेदमें मैं पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ। श्रुति कहती है—"वही यह आत्मा है, वह सब लोकोंके वशीकरणमें समर्थ है, सब लोकोंका ईशान या ईश्वर है तथा वह शासनकर्त्ता है" ।। १८ ।।

आध्यात्मिक व्याख्या—इस कारण कूटस्थ जो क्षरके अतीत है पश्चात् तुममें ही दीख पड़ता है, इस कारण अक्षरके परे उत्तम अर्थात् ऊर्ध्वमें एक पुरुष देखनेमें आता है, इसलिए तुम जान लेने पर लोगोंमें कह सकते हो कि एक उत्तम पुरुष देखनेमें आता है—जिसको समझ-बूझकर अच्छे पुरुष लिख गये हैं—उसे ही वेद कहते हैं—ॐ—वह वेद ॐकारसे निकला है, और वह ॐकारस्वरूप यह शरीर है—इस शरीरसे जो जाना जाता है उसका नाम वेद है ॐ ॐ ॐ—अतएव समझ-बूझकर सब शास्त्रोंमें पुरुषोत्तमका विषय वर्णन कर गए हैं—घरमें जिसे यव (जौ) कहते हैं, इन्द्रयव कहनेसे जान पड़ता है कि इसी यवके समान कोई वस्तु होगी, बिना जाने पता नहीं इन्द्रयव कितना बड़ा होगा !! अर्थात् गुरुवक्त्र द्वारा जानने पर सब सहज है—और रामचन्द्रको सहज क्रियाके द्वारा प्राप्त कर सकते हैं (जो गुरुवक्त्रगम्य है)।—मैं पुरुषोत्तम हूँ, क्योंकि पूर्वोक्त दोनों प्रकारके पुरुषोंके ऊपर मेरा स्थान है। कार्यरूप यह शरीर या जगत् है, कूटस्थ इससे उत्कृष्ट है, उससे भी उत्तम है उत्तमपुरुष, वह कूटस्थमें लक्षित होता है। साधनाकी परिपक्वावस्थामें कूटस्थके भीतर उसको साधक लोग देखते हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। क्षर पुरुषके वह अतीत है तथा अक्षर पुरुषसे उत्तम है, ऐसा क्यों कहा गया। वह क्षर पुरुषके भीतर नहीं, यह मतलब नहीं है। वह क्षरके अतीत है क्योंकि ये जड़वर्ग देहादि बहुत स्थूल हैं, अत्यन्त बहिर्मुख हैं। जो लोग इस देह और इन्द्रियादि जड़वर्गको लेकर ही पड़े रहते हैं, वे देहस्थित कूटस्थ-चैतन्यका कोई सन्धान नहीं पाते। वैसे लोगोंके लिए वह अनधिगम्य है। वह अक्षरकी अपेक्षा भी उत्तम है क्योंकि इस देहके अभ्यन्तर जो चिज्ज्योति कूटस्थ-मण्डल है, उसको जो गुरुकी कृपासे देखता है, वह भी हिरण्मयवपु धृतशङ्खचक्र पुरुषोत्तम नारायणको कदाचित् देख पाता है। 'यह हेमाण्ड कूटस्थ-ज्योति ही मानो उसका बाह्य शरीर है। उसके अभ्यन्तर वह पुरुषोत्तम नारायण है। यह उत्तम पुरुष ही क्रियाकी

परावस्थामें अखगड चित्सत्तासे अभिन्न होता है। यह पुरुषोत्तम-भाव ही सगुण भावकी पराकाष्ठा है। निर्गुण भाव एकमात्र क्रियाकी परावस्थामें उपलब्ध किया जाता है। पुरुषोत्तम-दर्शनके बाद ही साधक क्रियाकी परावस्था अपने आपमें सहज ही प्राप्त कर सकता है। वह भी क्रियाकी परावस्था ही है, परन्तु वह सगुण भाव है। गुणातीत भाव ही सर्वोत्तम अवस्था है। संसारमें यह बात पहले अभिज्ञ लोगोंके मुखसे सुनी जाती है, उसके बाद महापुरुष लोग आत्मसाक्षात्कारके द्वारा तथा अपनी साधनाकी अभिज्ञताके द्वारा जो जानते हैं उसे संसारके कल्याणके लिए लिपिबद्ध कर जाते हैं, वही शास्त्र और वेद हैं। वेदका मूल प्रणव है। यह देह ही प्रणवरूप है। इस देहको जिसने जान लिया है तथा देहके भीतर निखिल ब्रह्माण्डका जिसने अनुभव किया है, वही प्रकृत वेदज्ञ ब्राह्मण है। बाह्य विचार द्वारा पुरुषोत्तमको जाननेकी चेष्टा करते समय नाना प्रकारके वाद उपस्थित होते हैं। यह पुरुषोत्तम-भाव ही "रहस्यं ह्येतदुत्तमम्" है। वस्तुतः यह कितना बड़ा रहस्य है! जो लोग देहसे अलग और कुछ नहीं समझ पाते, केवल विचार-द्वारा इस चेतन पदार्थको लक्ष्य करते हैं, वह लोग—यह चेतन धारा जो अनन्त चित्सत्तासे आते-आते अनन्त रूप ग्रहण करती है इसको जाने बिना—इस परम रहस्यको कैसे समझ पायेंगे! इस शरीरके भीतर हम सर्वदा एक ज्योतिका स्फुरण देखते हैं, जिसके द्वारा अचेतन इन्द्रिय मन आदि सचेतनके समान दीख रहे हैं। जिस सूत्रात्मा प्राणके प्रकम्पनसे ये समस्त विषय बोधगम्य हो रहे हैं, वह निखिल जीवोंका जीवनस्वरूप प्राणशक्ति और भी अधिक रहस्यमय है। वह प्राणधारा चित्कण-ज्योतिका एक प्रवाहमात्र है। चिदंश या स्थिर प्राण और भी कितना रहस्यमय है! उसके ऊपर पुरुषोत्तम नारायण है। अतएव वह यदि रहस्योंमें उत्तम रहस्य हो तो इसमें विस्मयकी क्या बात है! ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढ़ो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स स र्विद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) एवम् (इस प्रकार) यः (जो) असंमूढ़ः (मोहहीन होकर) मां (मुझको) पुरुषोत्तमं जानाति (पुरुषोत्तम रूपमें जानता है) सः (वह) सर्वभावेन (सब प्रकारसे) मां भजति (मुझको भजता है) [तदनन्तर वह] सर्ववित् (सर्वज्ञ हो जाता है) ॥ १९ ॥

श्रीधर—एवम्भूतेश्वरस्य ज्ञातुः फलमाह—य इति । एवं—उक्तप्रकारेण, असंमूढः—निश्चितमतिः सन् यो मां पुरुषोत्तमं जानाति, स सर्वभावेन—सर्वप्रकारेण मामेव भजति, ततश्च सर्ववित्—सर्वज्ञो भवति ॥१६॥

अनुवाद—[एवम्भूत ईश्वरको जाननेका फल कहते हैं]—उक्त प्रकार निश्चित-मति होकर जो आदमी मुझको पुरुषोत्तम-रूपमें जानता है वह सब प्रकारसे मेरा ही भजन करता है। तदनन्तर वह सर्ववित् अर्थात् सर्वज्ञ होता है ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो कोई मेरा भजन करता है (अर्थात् क्रिया करता है, गुरुवाक्य द्वारा उपदेश पाकर) सम्यक् प्रकारसे अचैतन्य होकर [जगत्को भूलकर, विषयोंके प्रति यह अनासक्ति भाव ही भगवान्के प्रति निश्चितमति करता है] अर्थात् कभी भूल नहीं जाता, वह पुरुषोत्तमको जानता है अर्थात् देखता है—वह सब जानता है—और सब भावोंमें अर्थात् जिसमें मन लगाता है उसीमें उत्तम पुरुषको देखता है अर्थात् सर्वत्र ही ब्रह्मको देखता है क्रियाकी परावस्थामें सर्वदा रहकर।—गुरुके उपदेशके अनुसार जो अकैतव भावसे साधना करता है, साधना किसी फल-प्राप्तिके उद्देश्यसे नहीं केवल भगवत्प्राप्तिकी धारणा रखकर करता है, वह जगत्की अन्य सब बातोंको भूल जाता है। भगवान्के सिवा और कुछ भी उसके मनमें नहीं रहता। इस प्रकार भजन करते-करते वह उत्तम पुरुषको देख पाता है। तब उसका सारा बन्धन मिट जाता है, तब वह सर्ववित् हो जाता है। क्योंकि सब वस्तुओंमें भगवान्को देखता है, भगवान्के सिवा और कुछ नहीं देखता, अतएव भगवान्को जानकर वह भी ब्रह्मरूप हो जाता है—"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"। जबतक सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि नहीं होती, सबके साथ अपनेको साधक मिला नहीं देता, तबतक सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्मवित्के सिवा कोई दूसरा सर्वज्ञ नहीं हो सकता। सर्वज्ञ पुरुष ही सर्वभावसे भगवान्की पूजा कर सकता है। चित्तके एकान्त होने पर जब उसमें अन्य किसी वृत्तिका उदय नहीं होता तभी सर्वगत वासुदेवका भजन होता है। सर्वभावसे भजन करते-करते "सर्व" अर्थात् नामरूप मिट जाता है। तब किसी द्वितीयका भान नहीं रहता, यहाँ तक कि ज्ञातृभाव-पर्यन्त नहीं रहता। पहले वह सर्वत्र अपनेको देख पाता है, पश्चात् सर्व नामका भी कुछ नहीं रहता, सर्वका पृथक् अनुभव भी मिटकर "एकमेवाद्वितीयं" मात्र अवशिष्ट रहता है। तब उस भावको जाननेके लिए भी दूसरा कोई नहीं रहता। क्रिया करते-करते क्रियाकी परावस्थाका थोड़ा-थोड़ा उदय होने पर नशेके समान भाव उदित होता है। उसमें आरम्भमें तो सब वस्तुएँ याद आती हैं परन्तु मन किसी वस्तुमें नहीं जमता। क्रमशः फिर कोई बात याद नहीं आती, तब सब वस्तुओंसे मन संहृत हो जाता है और वह अपने आपमें जमकर बैठता है। तब फिर सङ्कल्प-विकल्पकी कोई तरङ्ग नहीं उठती। सङ्कल्प-विकल्पके न रहने पर भी मन है यह बात समझमें नहीं आती। पश्चात् यह भाव भी डूब जाता है। तब एक अविज्ञात राज्यका परदा खुल जाता है। जो ज्ञान पहले न था, जो दृश्य पहले देखनेमें नहीं आता था, जो शब्द पहले सुननेमें नहीं आता था, वही बोधका विषय होता है। पश्चात् वह अलौकिक बोध भी नहीं रह जाता। तब सब बोध एकके भीतर प्रवेश करके एक हो जाते हैं। जैसे सब नदियाँ समुद्रमें मिलकर समुद्र हो जाती हैं, उनका पृथक् नामरूप नहीं रहता, वैसे ही यह गुणातीत ब्रह्मभाव होता है। "रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम्"—भगवान्के उस रूपमें कोई आकृति नहीं है, वह अरूपका रूप है। मन उसका दर्शन करके परम तृप्ति लाभ करता है, उससे सब शोक-ताप दूर हो जाते हैं। भगवान्के किसी मायिक रूपका दर्शन ही साधनाका अन्तिम फल नहीं है। उनके स्वरूपमें नित्यस्थिति तथा उस स्वरूपमें अपनेको डुबा देना ही भक्तिभावकी पराकाष्ठा है। यह भाव निज

बोधरूप है, ज्ञानस्वरूप है। उसमें स्थिति लाभ करना ही भगवद्भजनका सर्वोत्तम फल है। इस स्थितिका नाम ही क्रियाकी परावस्था है। उनकी अलौकिक शक्ति कार्यरूपसे दृश्य जगत्‌में भासमान हो रही है। मन इस प्रपञ्चको प्रकाशित करता है और भोग करता है। परन्तु समस्त दृश्यके मूलमें जो विन्दु है उस विन्दु या केन्द्रमूलमें लौटकर जाना ही कार्यजगत्‌की अतीत परावस्थाका प्राप्त होना है। वहाँ नानात्व नहीं है। कल्पनाका बहुमुखी प्रकाश ही बाह्य जगत् है, मनकी स्वरूप-च्युति है। उस कल्पनाका मूल मन जब स्वकेन्द्रमें लौट जाता है तो उसके बहुमुखी प्रकाशका अभाव हो जाता है। यही द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान या योग है। यह योगाभ्यास सबका कर्त्तव्य है। योगाभ्यासके बिना ज्ञान या भक्ति किसीकी भी प्राप्ति नहीं होती। योगाभ्यास आत्मदर्शनका प्रत्यक्ष फल प्रदान करने वाला उपाय है। योगबलके तुल्य और कोई बल नहीं है। योगबलसे विहीन पुरुष इन्द्रियजयमें असमर्थ होकर विषयमें निमग्न हो जाता है ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

अन्वय—अनघ भारत (हे निष्पाप अर्जुन!) इति (इस प्रकार) गुह्यतमं (परम गुह्य) इदं शास्त्रं (यह शास्त्र) मया उक्तं (मेरे द्वारा कहा गया) एतद् बुद्ध्वा (इसे जानकर) [लोग] बुद्धिमान् (ज्ञानी) कृतकृत्यः च स्यात् (और कृतार्थ हो जाते हैं) ॥ २० ॥

श्रीधर—अध्यायार्थम् उपसंहरति—इतीति। इति अनेन संक्षेप-प्रकारेण गुह्यतमं अतिरहस्यं सम्पूर्णं शास्त्रमेव मयोक्तम्। न तु पुनर्विंशतिश्लोकं अध्यायमात्रम्। हे अनघ—व्यसनशून्य! अत एतत् मदुक्तं शास्त्रं बुद्ध्वा बुद्धिमान्—सम्यग् ज्ञानी स्यात्, कृतकृत्यश्च स्यात् योऽपि कोऽपि। हे भारत! त्वं कृतकृत्योऽसि इति किं वक्तव्यमिति भावः ॥ २० ॥

संसारशाखिनं छित्वा स्पष्टं पञ्चदशे विभुः।
पुरुषोत्तमयोगाख्ये परं पदमुपादिशत् ॥

इति श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

अनुवाद—[अध्यायार्थका उपसंहार करते हैं]—इस प्रकार संक्षेपमें अतिरहस्यपूर्ण सम्पूर्ण शास्त्रको मैंने कहा है। इसमें शास्त्रका सम्यक् रहस्य कहा गया। हे अनघ अर्थात् व्यसनशून्य! मेरे कथित इस शास्त्रको जानकर कोई भी आदमी सम्यग् ज्ञानी तथा कृतकृत्य हो सकता है। अतएव तुम भी कृतकृत्य हो सकते हो, इसमें तो कहना ही क्या है ॥२०॥

विभु भगवान्‌ने संसाररूपी वृक्षको छेदन करके पुरुषोत्तमयोग नामक पञ्चदश अध्यायमें स्पष्टरूपसे परम पदका उपदेश दिया है।

आध्यात्मिक व्याख्या—यह अत्यन्त गुप्त शास्त्र मैंने कहा, यह स्थिर करके क्रियाकी परावस्थामें रहकर बुद्धिमान बनो (क्रियाकी परावस्थामें जो नहीं रहता, वह बुद्धिमान् नहीं होता) और कृतकृत्य बनो अर्थात् क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें रहो।—यह अध्याय अत्यन्त रहस्यमय है। आचार्य शङ्कर कहते हैं कि समस्त गीताशास्त्रका जो अर्थ है, वह इस अध्यायमें संक्षेपमें प्रतिपादन किया गया है। समस्त वेदका अर्थ भी इस अध्यायमें संक्षेपसे कहा गया है। "यस्तं वेद स वेदवित्", "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इत्यादि वाक्यों द्वारा यही प्रतिपादित होता है। सबके भीतर पुरुषोत्तम रहते हैं। उनको जानकर कोई भी व्यक्ति कृतकृत्य हो सकता है। केवल यत्नपूर्वक साधनाभ्यास करना होगा। साधनाभ्यासके फलस्वरूप इस देहमें ही कूटस्थ तथा उसके भीतर पुरुषोत्तमका दर्शन करके जीवन सफल किया जाता है। परन्तु जीवका ऐसा दुर्भाग्य है, वह इतना अबोध है कि जिन समस्त कर्मोंको करके केवल ज्वाला और सन्ताप सहना पड़ता है, उन्हीं कर्मोंको पुनः पुनः करता है, परन्तु जिन कर्मोंको करनेसे सब सन्ताप मिट जाता है, अन्तःकरणकी सारी वृत्तियाँ निवृत्त हो जाती हैं, अनन्त शान्तिपथका द्वार खुल जाता है, उन कर्मोंकी साधनाकी ओर एक बार भी दृष्टि नहीं जाती। उस मार्गसे कोई नहीं जाता और रोग-शोक-दुःखकी ज्वालामें दग्ध होकर त्राहि-त्राहि करता रहता है। बुद्धिमान् वही है जो क्रिया करता है, क्योंकि क्रिया करनेपर क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है। उससे ही जीवन कृतकृत्य होता है। समस्त शास्त्रोंके द्वारा प्रतिपादित पुरुषोत्तम इस साधनाके द्वारा अवगत होता है ॥२०॥

इति श्यामाचरण-आध्यात्मिक-दीपिका नामक गीताके पञ्चदश अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त।

पञ्चदश अध्यायका सारांश।

यह वृक्षाकार कलेवर है। इसका मूल ऊपर अर्थात् मस्तकमें है और हस्त पाद आदि सब कुछ नीचेकी ओर हैं। हस्त-पादादि कर्मेन्द्रियाँ तथा चक्षु-कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियाँ वस्तुतः सब काम करती हैं, परन्तु आदेश मिलता है मस्तकसे। सारे कार्य जो जीवको कर्मसूत्रमें आबद्ध करते हैं, गुणत्रयसे उत्पन्न हैं। इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना-के भीतर सारे गुण पुष्ट होते हैं और वहींसे प्रस्फुटित होकर संसाराभिमुख प्रधावित होते हैं। इस अवस्थामें जो कर्म होते हैं वे फलाकाङ्क्षायुक्त होनेके कारण जीवका बन्धन बनते हैं। अतएव देहके ऊर्ध्वमें अर्थात् मस्तकमें यदि प्राणकी स्थिति नहीं होती है तो बन्धनावस्थाका भोग करना ही पड़ता है। आज्ञाचक्रके ऊपर जो मूल है, वह कर्मानुबन्धि नहीं है। मस्तकमें (सहस्रारमें) प्राणकी स्थिति होनेपर ही गुणातीत अवस्था प्राप्त होती है। यह अश्वत्थ-रूप कलेवर, जो कलतक रहेगा या नहीं, पुष्टि लाभ कर रहा है अर्थात् वारंवार जन्म-मरण-संकुल देहादि धारण कर रहा है। इसका मूल वासना है। इस वासनाका मूलच्छेद किये बिना वारंवारका जन्म-मरण छूटने वाला नहीं है। मन लगाकर क्रिया करने पर क्रियाकी परावस्था अर्थात् इच्छा-रहित अवस्था प्राप्त होती है। यही संसार-वृक्षका मूलच्छेदक अस्त्र है। क्रिया करके कूटस्थ ब्रह्मके

अणुके भीतर प्रवेश करने पर ही क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है। वही अपुनरावृत्ति-स्थिति है। वही आदि पुरुष हैं, वह कूटस्थके परे दीख पड़ते हैं। इस अवस्थासे च्युत होने पर ही यह सब कुछ हुआ है, तभी मन अन्य वस्तुमें आसक्तिके साथ लक्ष्य करते-करते तद्रूप होकर इस विश्वप्रपञ्चको प्रकाशित करता है। क्रियाके परेकी स्थिति बड़ी आश्चर्यजनक है! वहाँ चन्द्रकी दीप्ति नहीं है, सूर्यकी रश्मि भी नहीं है, तथापि वह धाम अपनी महिमामें सर्वदा प्रभान्वित है। वही परमात्माका परम धाम अर्थात् क्रियाकी परावस्था है। आठों पहर इस अवस्थामें पड़े रहने पर ही क्रियाकी परा-स्थितिरूप अविनाशी पद प्राप्त होता है।

परमात्माका किस प्रकार जीव-भाव होता है, कैसे वह देहमें आते हैं और बाहर होते हैं, इन्द्रियासक्त अज्ञानी जीव इस रहस्यको कुछ भी नहीं समझ सकता। आत्मा इन्द्रिय और मनमें अधिष्ठित होकर किस प्रकार विषय-भोग कर रहा है, यह अत्यन्त ही विस्मयजनक व्यापार है। इन्द्रिय-ग्राह्य समस्त विषय देहस्थ षट्चक्रके द्वारा विद्युद्-वेगसे द्विदलपद्ममें मनःस्थानमें उपनीत होते हैं। तत्पश्चात् तत्काल सहस्रदल-पद्ममें पहुँचते हैं, उसके बाद हमको विषयका अनुभव होता है। यह अनुभव होनेमें क्षण-मात्रकी भी देर नहीं होती। क्रियाके द्वारा आज्ञाचक्रमें स्थिति होनेसे जिनकी बुद्धि स्थिर हो जाती है, वे ही इस सूक्ष्म अनुभवको पकड़ सकते हैं। जिनकी बुद्धि स्थिर नहीं है अर्थात् जो विमूढ़ हैं वे इसकी कुछ भी धारणा नहीं कर सकते। इस स्थिर बुद्धिसे ही सर्वज्ञता प्राप्त होती है।

यह दिव्य दृष्टि उनको ही होती है, जो ध्यान-धारणा-समाधि द्वारा मनको निरोध कर सकते हैं। जो अकृतात्मा हैं अर्थात् कूटस्थ ब्रह्ममें अवरुद्ध नहीं हैं उनको उत्तम-रूप स्थिति यानी दिव्य दृष्टि नहीं होती। बाहर सूर्यकी किरणोंसे जैसे जागतिक वस्तु-समूह प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार कूटस्थ-किरण ही इस शरीर और इन्द्रियादिको प्रकाशमय किये रखती है। यह तेज ब्रह्मका रूप है, यह आकाशसे आता है। इस आकाशके ही भीतर परव्योम-स्वरूप अणु है और उस अणुके भीतर शत-शत ब्रह्माणु रहते हैं। तथा एक-एक ब्रह्माणुके भीतर इतने ब्रह्माण्ड हैं कि उनकी सीमा नहीं है। इस अणुके ज्ञानसे ही ब्रह्मज्ञान होता है।

१५ वें अध्यायके १२ से १४ श्लोक

आत्मा प्राणरूपमें सब वस्तुओंमें है, इसीसे हम सब वस्तुओंके अस्तित्वका अनुभव करते हैं। प्रत्येक वस्तुमें कितने गुण हैं, प्रत्येक लता-गुल्म-उद्भिद्में कितने गुण हैं, इसको योगी लोग आत्म-प्राणको मुर्द्धामें स्थिर करके पूर्णतः जान सकते हैं। परन्तु इच्छा करके यह सब जानना अच्छा नहीं है, इससे आत्मसाक्षात्कारमें विघ्न होता है। हृदयमें निःशेष-रूपसे स्थिति होने पर ही प्रकृत ज्ञान होता है। यदि सब जानना चाहते हो तो क्रियाकी परावस्थामें स्थिर हो जाओ। इससे जो कुछ जानने योग्य है सब जान जाओगे और तब जाननेका भी अन्त हो जायगा। उस अवस्थामें कोई इच्छा नहीं रहती, परन्तु जो जानने योग्य है उसे क्रियाकी परावस्थामें इच्छा न होते हुए भी जान सकते हैं।

इस लोकमें दो प्रकारके पुरुष हैं—क्षर और अक्षर। अक्षर पुरुष कूटस्थ है। यह देह-प्रकृति और दृश्यमान समस्त वस्तुएँ क्षर पुरुष हैं। जो लोग आसक्तिपूर्वक इन देहादि दृश्य पदार्थोंको देखते हैं, उनका नाश होता है, उनको आत्मज्ञान या शान्तिलाभ कुछ भी नहीं होता। जो कूटस्थमें दृष्टि स्थापित कर आठों पहर बैठे रहते हैं, वे ही अक्षर पुरुषके साथ एक होकर अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं। कूटस्थको देखते-देखते एक और पुरुषका साक्षात्कार होता है, वह उत्तम पुरुष है। उसको ही शास्त्रमें परमात्मा कहते हैं, वही चमड़ेका जामा पहनकर सर्वत्र विराजमान है, वह अव्यय, अविनाशी है, वह ईश्वर और कर्त्ता है तथा वही जीवरूपमें सर्वत्र कार्य कर रहा है। किन्तु ये सब अनित्य हैं। ब्रह्मरूपमें वह कुछ भी नहीं करता। कूटस्थका ज्ञान होने पर योगी लोग भली-भाँति जान लेते हैं कि वह विनाशशील नहीं है अर्थात् क्षरके अतीत है। जो उससे भी ऊपर है वह पुरुषोत्तम है।

क्षर और अक्षर तथा उत्तम पुरुष

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

कठ० उप०। १-२-१५।

ब्रह्मपद ही प्राप्तव्य है, ऐसा वेद निर्देश करते हैं। इसी हेतु तपस्याएँ (प्राणायामादि साधनाएँ) अनुष्ठित होती हैं। साधक लोग जिस क्रियाकी परावस्था या ब्रह्मपदकी प्राप्तिके लिए ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान करते हैं, उस ब्रह्मपदको संक्षेपमें कहता हूँ कि वह 'ॐ' है। [ॐकारका रहस्य गीताके प्रथम भागमें देखो।]

जो गुरु-वाक्यमें विश्वास करके दृढ़तापूर्वक और अनुरागके साथ साधना करते हैं, वे उत्तम पुरुषको इस देहके भीतर ही देख पाते हैं तथा क्रियाकी परावस्थामें सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करके उसमें स्थिति-लाभ कर सकते हैं। यह अत्यन्त गुप्त रहस्य है। जो मनुष्य-जीवन प्राप्त कर कृत-कृत्य होना चाहते हैं, उन्हें श्रद्धाके साथ क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

ॐ हरि ॐ

—:❀:—

षोड़शोऽध्यायः

(दैवासुरसम्पद्-विभाग-योगः)

श्रीभगवानुवाच

(दैवी सम्पद्—तत्त्वज्ञानका अधिकार)

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)—अभयं (भय-शून्यता) सत्त्वसंशुद्धिः (चित्तशुद्धि) ज्ञानयोगव्यवस्थितिः (ज्ञान और योगमें निष्ठा, अथवा आत्मज्ञानके उपायमें परिनिष्ठा) दानं (दान) दमः च (दम) यज्ञः च (यज्ञ) स्वाध्यायः (शास्त्रपाठ, ब्रह्मयज्ञ या जपयज्ञ) तपः (तपस्या) आर्जवं (सरलता) ॥१॥

श्रीधर—आसुरीं सम्पदं त्यक्त्वा दैवीमेवाश्रिता नराः ।
मुच्यन्त इति निर्णेतुं तद्विवेकोऽथ षोड़शे ॥

पूर्वाध्यायान्ते "एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत" इत्युक्तं, तत्र क एतत् तत्त्वं बुध्यते को वा न बुध्यते इत्यपेक्षायां तत्त्वज्ञाने अधिकारिणः अनधिकारिणश्च विवेकार्थं षोड़शाध्यायस्य आरम्भः । निरूपिते हि कार्यार्थे अधिकारिजिज्ञासा भवति । तदुक्तं भट्टैः—

भारो यो येन बोढ़व्यः स प्रागालोड़ितो यदा ।
तदा कस्तस्य बोढ़ेति शक्यं कर्त्तुं निरूपणम् ॥ इति

तत्र अधिकारिविशेषणभूतां दैवीं सम्पदमाह—अभयमिति त्रिभिः । अभयं भयाभावः । सत्त्वस्य चित्तस्य संशुद्धिः सुप्रसन्नता । ज्ञानयोगे आत्मज्ञानोपाये व्यवस्थितिः परिनिष्ठा । दानं स्वभोज्यस्य अन्नादेः यथोचितसंविभागः । दमः बाह्येन्द्रियसंयमः । यज्ञः यथाधिकारं दर्शपौर्णमासादिः । स्वाध्यायः ब्रह्मयज्ञादिः जपयज्ञो वा । तपः उत्तराध्याये वक्ष्यमाणं शारीरादि । आर्जवम् अवक्रता ॥१॥

अनुवाद—"आसुरी सम्पद् त्यागकर दैवी सम्पद्को आश्रय करनेवाला पुरुष मुक्त होता है, यही निर्णय करनेके लिए सोलहवें अध्यायमें इसका विचार करते हैं।"

[पूर्व अध्यायके अन्तमें कहा गया है कि "हे भारत ! यह जानकर लोग ज्ञानी और कृतकृत्य होते हैं"। इस तत्त्वको कौन जान सकता है और कौन नहीं जान सकता, इस अपेक्षामें तत्त्वज्ञानके अधिकारी और अनधिकारीका निर्णय करनेके लिए इस सोलहवें अध्यायका प्रारम्भ किया जाता है। कर्त्तव्य विषय निरूपित होते ही उसके अधिकारीके विषयमें जिज्ञासा होती है। इसीसे कुमारिल भट्ट कहते हैं—"कौन भार किसके द्वारा वहन किया जायगा, यह तभी निर्णीत हो सकता है जब पहले यह आलोचित हो जाय कि वह भार क्या है। यहाँ अधिकारि-विशेषणरूप दैवीसम्पद् तीन श्लोकों

द्वारा कथन करते हैं]—अभय-शब्दका अर्थ है भयका अभाव। सत्त्व—चित्त, संशुद्धि—सुप्रसन्नता। ज्ञानयोगमें व्यवस्थिति—आत्मज्ञानके उपायमें परिनिष्ठा। दान—स्वभोज्य अन्नादिका यथोचित संविभाग। दम—बाह्येन्द्रिय-संयम। यज्ञ—यथाधिकार दर्शपौर्णमासादि यज्ञ। स्वाध्याय—ब्रह्मयज्ञादि या जपयज्ञ। तपः—शारीरादि तपस्या। आर्जव—अवक्रता, सरलता ॥१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थके द्वारा अनुभव हो रहा है—क्रियाकी परावस्थामें रहनेसे मरनेका भय क्रमशः चला जाता है—सदा सुषुम्नामें रहकर सम्यक् प्रकारसे निर्मल बुद्धि द्वारा सब देख पाता है; ज्ञान—योनिमुद्रामें रहना; धारणा ध्यान समाधि करना, करके विशेषरूपमें स्थिति; क्रियादान, इन्द्रियादिका दमन, और क्रिया करना, और बुद्धिके परे परा बुद्धिमें स्थिर रहना, कूटस्थमें रहना, सरल होना, किसी विषयकी इच्छा रहते कोई सरल कभी नहीं हो सकता और हिंसारहित भी नहीं हो सकता, जो होना उचित है—अपने आपको देखे बिना कैसे दूसरेको देखोगे, जो अपनेको देखेगा वह सबको समान देखेगा। क्रियाकी परावस्थामें रहने पर, सब एक हो जानेके कारण अपने आपमें तुष्ट, यह क्रियान्वित लोग ही देखते हैं।—नवम अध्यायमें कह चुके हैं कि जीवोंकी प्रकृति तीन प्रकारकी होती है—दैवी, आसुरी और राक्षसी। आसुरी और राक्षसी प्रकृति बन्धनका कारण होती है और दैवी प्रकृति मोक्ष-प्राप्तिके अनुकूल होती है। पूर्वाध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने कहा है कि इस गुह्यतम ज्ञानको जानकर कृतकृत्य हो जाओ। अब इस तत्त्वको जाननेका प्रकृत अधिकारी कौन है, यह जान लेने पर उस अधिकारकी प्राप्तिके लिए मुमुक्षु जीव प्रस्तुत हो सकते हैं, इसीसे उस अधिकारकी बात इस अध्यायमें कही जाती है। मुमुक्षुका लक्ष्य एक प्रकारका है और संसारीका लक्ष्य दूसरे प्रकारका। मुमुक्षुके लिए जो प्रयोजनीय है, वही दैवी सम्पत् है। संसारी अर्थात् विषयासक्तके लिए जो प्रयोजनीय है वही आसुरी सम्पत् है। आजकल असुरोंके द्वारा जगत् परिपूर्ण है, इसी कारण आसुरी सम्पत्‌के लिए जीव लालायित रहता है, दैवी सम्पत्‌की ओर कोई फिर कर भी नहीं देखता। जिसके द्वारा जीव मुक्तिका अधिकारी बनता है वही दैवी सम्पत् है तथा जिस लौकिक ज्ञानके द्वारा जीवका कामोपभोग परिवर्धित होता है, वही आसुरी सम्पत् है। आसुरी सम्पत्‌के द्वारा जीवके बारंबार आवागमनका मार्ग रुद्ध नहीं होता। दैवी सम्पत्‌के द्वारा जीवकी मोक्ष-मार्गानुकूल प्रवृत्तिका उदय होता है, जो उसको शान्तिके मार्गमें, सत्यके मार्गमें ले जाती है। इसी कारण यहाँ दैवी सम्पत्‌के जो अधिकारी हैं, उनके लक्षण और गुण क्या क्या हैं, इसके विषयमें सारी बातें भगवान् अर्जुनको कह रहे हैं।

(१) अभय—भयशून्यता। मेरे सिवा कोई दूसरा भी है, इस द्वितीयका अभिनिवेश जबतक है, तबतक अभयकी प्राप्ति नहीं होती। भगवान्‌का परम पद ही प्रकृत अभयपद है, जिसको प्राप्त कर लेने पर फिर यह चित्त संसाराभिमुखी नहीं हो सकता। इसीलिए श्रुतिमें आदेश किया है—'अभयं सर्वभूतेभ्यः'—सारे प्राणी मुझसे अभय लाभ करें तथा मैं भी सब प्राणियोंसे अभय प्राप्त कर सकूँ। किसीको

भी पराया न समझो। इससे किसीके प्रति हिंसा-भाव न होगा। अहिंसा प्रतिष्ठित हुए बिना वैर-त्याग नहीं होता। दूसरेकी उन्नति देखकर मेरी भी ऐसी उन्नति हो, इस प्रकारकी चाहना करनेसे आत्मभाव प्रतिष्ठित नहीं होता और परके भीतर अपनेको देखना नहीं होता, पर पर ही बना रहता है। सबको अपना बनानेके लिए वासना-त्यागकी आवश्यकता है। वासना-त्याग करनेके लिए मनोनाशकी आवश्यकता है। जीवके लिए सबसे बड़ा भय मृत्युभय है। मृत्युभयसे जीव सदा सन्त्रस्त रहता है। यह भय कैसे जाय और अभय परम पदकी प्राप्ति कैसे हो? जो लोग श्रद्धालु होकर क्रिया करते हैं तथा क्रिया करके थोड़ा थोड़ा क्रियाकी परावस्थाका अनुभव करते हैं, उन्हींका हृद्रोग नष्ट होता है। उन्हें मृत्युका भय नहीं रहता क्योंकि वे प्रतिदिन देहसे पृथक् होकर मृत्युका स्वाद कुछ कुछ पाते रहते हैं। वह कितने आनन्दकी अवस्था है, यह जानकर उनको मृत्युकी कोई आशङ्का या व्याकुलता नहीं रहती। मनकी निःशङ्क अवस्था होती है। मुझे पीड़ा होगी, सर्प-व्याघ्र आक्रमण करेंगे, मुझको कौन देखेगा—ऐसे उद्वेग नहीं होते।

(२) सत्त्वसंशुद्धि—अन्तःकरणके अशुद्धिभाव, जैसे प्रवञ्चना, मिथ्या व्यवहार इत्यादिका परिवर्जन—भीतर बाहर समान। जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वे कभी भयशून्य नहीं हो सकते। बुद्धि कैसे निर्मल होती है? जो लोग प्राणायामादि योगाभ्यास करते हैं, उनके नाड़ी-प्रवाह शुद्ध हो जाते हैं। नाड़ी शुद्ध होने पर उसका स्पन्दन भी शुद्ध हो जाता है। स्पन्दन विशुद्ध होने पर वृत्ति भी विशुद्ध हो जाती है। जो लोग सर्वदा सुषुम्नामें रहते हैं, उनका चित्तस्पन्दन विशुद्ध होगा ही। साधारणतः इड़ा-पिङ्गलाके प्रवाहमें पड़ने पर ही जीवकी संसार-वासनाका उदय होता है। इस प्रवाहके रुद्ध होने पर जब सुषुम्नाका मार्ग खुल जाता है, तब जीवके सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, अतः वासनाकी शुद्धि हो जाती है।

(३) ज्ञान तथा योगमें एकान्त निष्ठा—श्रीमद् आचार्य शङ्करने कहा है कि 'ज्ञान और योगके विषयमें तत्परता या एकाग्रता ही प्रधान दैवी सम्पद् है'। ज्ञान और योगके बिना सत्त्वसंशुद्धि होनेका कोई उपाय नहीं है। आत्मा और अनात्माका ज्ञान तो ज्ञान है, परन्तु वह केवल पुस्तक पढ़ लेनेसे प्राप्त नहीं होता। आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव होता है योनिमुद्रामें। जो योनिमुद्रामें रहते हैं उनको कूटस्थ-मण्डलसे लेकर पुरुषोत्तम-दर्शन तक सब प्राप्त होता है। यह योनिमुद्रा ही प्रधान पीठस्थान है। साधकको यहाँ ही अलौकिक अध्यात्मज्ञान तथा विश्वरूपादिका दर्शन होता है। इतनी बड़ी दैवी सम्पद् और कुछ नहीं है। योग—क्रियाकी परावस्थामें स्थिति, अभ्यासपटुताद्वारा धारणा, ध्यान, समाधिमें स्थिति प्राप्त कर सकना। योगावस्था ज्ञानावस्थाकी प्राप्तिमें और ज्ञानावस्था योगप्राप्तिमें सहायता करती है।

(४) दान—अपनी वस्तुमें आसक्तिका परित्याग करके उसको परार्थमें उत्सृष्ट करना ही दान है। अपने सामर्थ्यके अनुसार अन्नादिका संविभाग करनेसे त्यागकी शिक्षा मिलती है। जबतक परार्थमें अपना चित्त, शक्ति और सामर्थ्य हम नहीं

लगाते, तबतक चित्त स्वार्थभावनासे कलुषित बना रहता है। इस प्रकारके कलुषित चित्तमें ज्ञानप्राप्ति या योगनिष्ठा नहीं हो सकती। सबसे बढ़कर त्याग या दान है जीवको सत्पथ अर्थात् भागवान्का मार्ग दिखला देना। क्रियाभ्यास भगवत्प्राप्तिका प्रशस्त उपाय है। इसलिए क्रियादान ही सर्वश्रेष्ठ दान है।

(५) दम—बाह्येन्द्रियका निग्रह। जो अपने इन्द्रियदमनमें अशक्त है, वह अपनी समस्त शक्ति और अर्थको अपनी इन्द्रियतृप्तिरूपी वह्निके इन्धनरूपमें व्यवहार करता है। वह भला दूसरेके दु:ख-अभावकी बात कैसे सोचेगा? इसलिए अजितेन्द्रिय आदमी कभी दान नहीं कर सकते। जो लोग अभय लाभ करना चाहते हैं, वे इसके लिए इन्द्रियदमनमें मन लगावें।

(६) यज्ञ—वेदविहित देवयज्ञ, नृयज्ञ आदि पञ्च महायज्ञ। मनुष्य जन्म लेते ही पाँच प्रकारके ऋणोंसे ऋणी होता है। उन सब ऋणोंसे मुक्ति इन पाँच प्रकारके यज्ञोंसे होती है। द्विजातिको, विशेषतः साधकको सन्ध्या-वन्दनादिके बाद 'देवयज्ञ' करना चाहिए। 'देवयज्ञ' अर्थात् अपने अपने इष्ट देवता और गृहदेवताकी पूजा। पहले पञ्च देवताकी पूजा करे—

आदित्यं गणनाथञ्च देवीं रुद्रं यथाक्रमम्।
नारायणं विशुद्धाख्यमन्ते च कुलदेवताम्॥

क्रमशः गणेश, सूर्य, नारायण, रुद्र, देवी और अन्तमें कुलदेवताकी पूजा करनी चाहिए।

पश्चात् इष्ट और गृहदेवताकी पूजा करनी चाहिए—

अन्नेन सुमनोभिश्च गन्धैः धूपैः प्रदीपकैः।
गृहस्थः पूजयेन्नित्यं स्वगृहे गृहदेवताम्॥

गृहस्थ आदमी अपने घरमें गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और अन्नके द्वारा गृहदेवताकी पूजा करे।

देवपूजाके पश्चात् होम करे। नित्य होमका अनुष्ठान अब हमारे देशसे प्रायः उठ गया है। परन्तु नित्य होमका अनुष्ठान करनेसे बहुत कल्याण होता है। इसकी उपयोगिताको लोग आज समझ नहीं रहे हैं। यह नित्य होमका अनुष्ठान कुछ आडम्बरमय या जटिल नहीं है। गृहस्थ जो भोजन करता है, उससे भी आहुतिका कार्य हो सकता है।

वैश्वदेव—"यो विश्वं भुवनमाविवेश"—जो देवता विश्वभुवनमें प्रविष्ट हो रहा है, उसी विश्वदेव विष्णुकी पूजा करनी चाहिए। "ॐ वैश्वदेवाय नमः" कहकर प्रातःकाल और सायंकाल वैश्वदेवकी पूजा और आहुति करे। ये सब देवयज्ञके अन्तर्गत हैं।

शास्त्राध्ययन और अध्यापनके द्वारा 'ऋषियज्ञ' सम्पादित होता है। तर्पण और श्रद्धादिके द्वारा 'पितृयज्ञ' सम्पन्न होता है।

बलि—इसके द्वारा समस्त प्राणियोंको अन्न देनेकी व्यवस्था है। यही भूतयज्ञ है। "देवा मनुष्याः पशवो वयांसि"से "प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ताः" तक सभी अन्न-दानके पात्र हैं।

पिपीलिका-कीट-पतङ्गकाद्याः बुभुक्षिताः कर्मनिबद्धबद्धाः ।
प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं तेभ्यो विसृष्टं मुदिता भवन्तु ॥

देवता, मनुष्य, कीट, पतङ्ग, वृक्ष तथा बन्धुहीन और पतित सब मेरे दिये हुए इस अन्नको ग्रहणकर तृप्त और मुदित हों ।

अतिथिपूजा—नृयज्ञ । "प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा ।
सम्प्राप्तो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥

प्रिय या द्वेष्य हो, मूर्ख या पण्डित हो—वैश्वदेव-क्रियाके अन्तमें जो अतिथि प्राप्त हो, वह साक्षात् स्वर्गप्रद है ।

"हिरण्यगर्भबुद्ध्वा तं मन्येताभ्यागतं गृही"—अभ्यागत व्यक्तिको साक्षात् ब्रह्मा समझकर सत्कार करे । अतिथिका नाम, कुल, देश और विद्याके विषयमें पूछताछ करनेका शास्त्रमें निषेध है । यद्यपि "अन्तर्यागात्मिका पूजा सर्वपूजोत्तमोत्तमा" तथापि "बहिःपूजा विधातव्या यावज्ज्ञानं न जायते ।" इसीलिए बाह्य अनुष्ठानके विषयमें यहाँ विस्तारपूर्वक कहा गया । परन्तु योगीका असल यज्ञ है क्रियाका अभ्यास । योग-यज्ञ ही सब यज्ञोंका सार है । प्राणमें अपान और अपानमें प्राणका होम ही प्रकृत होम है—"ब्रह्माग्नौ हूयते प्राणो होमकर्मतदुच्यते ।"

(७) स्वाध्याय—वेदादिका अध्ययन, वेदान्तादि मोक्षशास्त्रकी आलोचना । यह बाह्य भाव है । अधि + इ + अनट् = अध्ययन । इ धातुका अर्थ है गमन, 'अधि'का अर्थ है ऊपर । अस्तु, अध्ययन तब होता है जब क्रिया करते-करते प्राणापानकी गति ऊर्ध्वमें अर्थात् मस्तकमें जाकर स्थिर होती है । "इकारं परमेशानि, स्वयं कुण्डली-मूर्त्तिमान्" । यही परमैश्वर्य है । 'अधि'का अर्थ ऐश्वर्य और आधिपत्य भी होता है । कुण्डलिनी-शक्ति सहस्रारमें उत्थित होकर वहाँ स्थित होती है । अतएव पूजनीय लाहिड़ी महाशयने जो कहा है कि "स्वाध्याय" का अर्थ है बुद्धिके परे परा बुद्धिमें स्थिर होना, वह 'स्वाध्याय'के धातुजनित अर्थसे किया गया है ।

(८) तपः—शारीरिक क्लेश, इसका परिचय आगे दिया जायगा ।

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम् ।
ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः ॥

ब्रह्मचर्य ही सर्वोत्तम तपस्या है । ब्रह्ममें विचरण अर्थात् उसमें स्थिति ही असल ब्रह्मचर्य है । केवल शुक्र धारण करनेसे ही कोई ऊर्ध्वरेता नहीं हो सकता । ऊर्ध्वरेता अर्थात् जिसका रेतः ऊर्ध्वगत हुआ है । कठोर तपके अनुष्ठानके बिना कोई ऊर्ध्वरेता नहीं हो सकता । रेतः शब्द 'री' धातुसे बना है अर्थात् जो क्षरित होता है यानी एक स्थान पर नहीं रहता, क्रमशः बहिर्गत हो जाता है । हमारा चित्त ही वह रेतः है । यह चित्त जिसका ऊर्ध्वमें जाकर स्थित होता है उसको 'ऊर्ध्वरेता' कहते हैं । "ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः" । इसी कारण आध्यात्मिक व्याख्यामें तपका अर्थ होता है "कूटस्थमें रहना ।"

(९) आर्जव—सरलता । जिसकी वासना अधिक है, वह सरल नहीं हो सकता । लोभातुर चित्त क्या कभी सरल हो सकता है ? इसलिए जबतक इच्छा या कामना जागृत

है, तबतक वक्रता रहेगी ही। जो अपने आपमें तुष्ट है, उसको दूसरेका सौभाग्य देखकर दुःख नहीं होता, बल्कि अन्यके सुखको अपना सुख समझता है। मन स्वच्छ रहता है, इसीलिए लाभालाभके प्रति दृष्टि नहीं रहती। अतएव किसीकी हिंसा नहीं करनी पड़ती तथा भाव-गोपन करनेके लिए बहाना नहीं करना पड़ता। जो समझमें आता है, कह उठता है। अतएव दूसरेको भी धोखा नहीं खाना पड़ता ॥१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

अन्वय—अहिंसा, सत्यम्, अक्रोधः (अहिंसा, सत्य और अक्रोध) त्यागः शान्तिः (त्याग और शान्ति) अपैशुनं (परनिन्दा-त्याग, अखलता) भूतेषु दया (सर्वभूतोंके प्रति दया) अलोलुप्त्वं (निर्लोभभाव) मार्दवं (मृदुता) ह्रीः (कुकर्ममें लज्जा) अचापलं (अचाञ्चल्य) ॥२॥

श्रीधर—किञ्च—अहिंसेति। अहिंसा परपीड़ावर्जनम्। सत्यं यथादृष्टार्थभाषणम्। अक्रोधः ताड़ितस्यापि चित्ते क्षोभानुत्पत्तिः। त्यागः औदार्यम्। शान्तिः चित्तोपरतिः। अपैशुनं—पैशुनं परोक्षे परदोषप्रकाशनं, तद्वर्जनं अपैशुनम्। भूतेषु दया—दीनेषु दया। अलोलुप्त्वं—लोभाभावः (अवर्णलोपस्तु आर्षः)। मार्दवं—मृदुत्वं, अक्रूरता। ह्रीः—अकार्यप्रवृत्तौ लोकलज्जा। अचापलं—व्यर्थक्रियाराहित्यम् ॥२॥

अनुवाद—(और भी कहते हैं)—अहिंसा = परपीड़ावर्जन। सत्य = जो ठीक हो, उसके अनुरूप भाषण। अक्रोध = किसीके द्वारा ताड़ित होने पर क्रोधकी अनुत्पत्ति। त्याग = औदार्य, जैसे दानमें क्लेश अनुभव नहीं करना। शान्ति = चित्तकी उपरति। अपैशुन = परोक्षमें परदोष प्रकाशित न करना। भूतों पर दया = दीनोंके प्रति दया। अलोलुप्त्व = लोभका अभाव। मार्दव = मृदुता, अक्रूरता। ह्री = अकार्य-करणमें लोकलज्जा। अचापल्य = व्यर्थ क्रिया न करना ॥२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—हिंसा न रहने पर इच्छा नहीं रहती—क्रियाकी परावस्थामें रहे बिना इच्छाका नाश नहीं होता, जितनी वस्तुएँ देखते हो सब मिथ्या हैं, क्योंकि जो कुछ देखते हो वह सब क्रियाकी परावस्थामें नहीं देखनेमें आते—अतएव सत्य वह ब्रह्म है; क्रियाकी परावस्था में 'मैं हूँ' इस प्रकारका बोध भी नहीं होता, जब अपने ही नहीं, तब दूसरा भी नहीं, किस प्रकार किसके ऊपर क्रोध होगा? क्रियाकी परावस्थामें किसी विषयकी इच्छा नहीं होती; इसलिए जब कि इच्छा नहीं तो फल क्या हो? क्रियाकी परावस्थामें मैं कुछ नहीं, मेरा कुछ नहीं—मैं ही नहीं तो फिर खलता करूँगा किसके साथ? मैं आनन्द करूँ और दूसरेको आनन्द करने दूँ, इसका नाम है दया; ब्रह्मके सिवा और कोई वस्तु नहीं है फिर लोभ किसमें करूँगा? सब लोगोंकी बात पर ठेंगा—कामकी बात किसीके मुखसे नहीं निकलती, जो क्रियाकी परावस्थामें होती है—उस समय चञ्चलत्व नहीं रहता।—(१०) अहिंसा—प्राणियोंको पीड़ित न करना। हिंसा बहिर्मुख जीवका स्वाभाविक धर्म है। परपीड़न किये बिना जीविका नहीं चलती, इसी कारण जीव

हिंसा-परायण होता है। जबतक अपनी सुखेच्छा रहेगी, तबतक उस इच्छाकी पूर्तिके लिए दूसरेको पीड़ित किये बिना काम न चलेगा। इसलिए जिनकी वासना संयत हो गयी है, अपने सुखकी अभिलाषाकी ओर दृष्टि नहीं है वे ही हिंसाशून्य हो सकते हैं। जबतक इच्छाका नाश नहीं होता, तबतक यह अवस्था नहीं आती। क्रियाकी परावस्थामें ही सारी इच्छाओंका सम्यक् नाश होता है। परावस्थामें जो रहते हैं वे महापुरुष अपने आपमें स्तब्ध होते हैं। उनके चित्तमें हिंसाकी तरङ्गें नहीं खेलतीं, इसीसे उनका हृदय विश्व-प्रेमसे पूर्ण होता है। कोई हिंसक जन्तु भी उनकी हिंसा नहीं करता, बल्कि उनके पास आने पर उसका हिंस्र स्वभाव भी परिमार्जित हो जाता है।

(११) सत्य—जो वस्तु या घटना जैसी है, उसको उसी भावसे ठीक-ठीक कहना ही सत्य है। छिपाकर बोलना या जो नहीं है उसे कहना उसके विपरीत यानी मिथ्या है। मिथ्या रोचक होने पर भी कहना उचित नहीं है। सत्य अप्रिय होने पर या दूसरोंको पीड़ाप्रद होने पर मिथ्याके समान है। यह तो हुई बाहरकी बात। परन्तु प्रकृत सत्य और ही वस्तु है। "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"—ब्रह्म ही सत्य है और सारे दृश्य पदार्थ मिथ्या हैं। क्रियाकी परावस्थामें इन दृश्य पदार्थोंका अस्तित्व अनुभूत नहीं होता, परन्तु सत्य या ब्रह्म-सत्ताका अभाव नहीं होता।

(१२) अक्रोध—दूसरोंके द्वारा पीड़ित और अपमानित होने पर भी मनमें किसी अन्य भावका न होना, तब भी मनकी शमता नष्ट न होने देना। क्रियाकी परावस्थामें मैं हूँ या नहीं, दूसरा कोई है या नहीं, यह सब बोध नहीं रहता। अतएव किसीने मुझको पीड़ा पहुँचायी, यह बात मनमें उदित ही नहीं होती, फिर क्रोध किसके प्रति होगा? मैं या दूसरा कोई हो, तब न क्रोध हो।

(१३) त्याग—सब कर्म करके कर्मफल ईश्वरमें समर्पण करना ही त्याग है। यह त्याग ही प्रकृत संन्यास है यानी संसारके किसी भोगके प्रति आसक्ति न रहना। क्रियाकी परावस्थामें ही यह त्याग पूर्ण रूपसे फूट उठता है। किसी वस्तुकी तब स्पृहा नहीं रहती।

(१४) शान्ति—अन्तःकरणका उपशम या चित्तकी उपरति। क्रियाकी परावस्थामें तथा परावस्थाकी परावस्थामें यह शान्ति उपलब्ध की जाती है। मन सङ्कल्पशून्य होता है, अतएव मन नहीं रहता। चित्तकी यह निस्तरङ्ग अवस्था ही शान्तिकी अवस्था है।

(१५) अपैशुन—परोक्षमें किसीका छिद्रान्वेषण न करना। खल-स्वभावके लोग ही दूसरेका दोषकीर्तन करनेमें शतमुख होते हैं। क्रियाकी परावस्थामें न 'मैं' रहता है और न 'मेरा', अतएव जब मैं नहीं और दूसरा भी नहीं तो खलता कौन किसके प्रति करेगा?

(१६) भूतों पर दया—दुःखित या व्यथित प्राणीके प्रति कृपा या सहानुभूति। मैं साधन करके शान्ति पाता हूँ, आनन्द पाता हूँ, दूसरे सन्तप्त जीव भी उस शान्तिका उपभोग कर सकें, लोग क्रिया प्राप्त करें और अभ्यास करें, इसके लिए चेष्टा करना।

बाहरके अभाव अर्थादिके द्वारा मिट सकते हैं, परन्तु मनमें जो दिनरात अशान्तिकी चिता जल रही है, उसको निर्वापित करनेका उपाय बता देना ही प्रकृत 'दया' है।

(१७) अलोलुपता—विषयके सामने आने पर भी इन्द्रियोंका विकार-ग्रस्त न होना। ब्रह्मज्ञ पुरुषको किसी वस्तुके प्रति लोभ नहीं होता क्योंकि वह जानते हैं कि एक ब्रह्म-पदार्थके सिवा और कोई वस्तु नहीं है।

(१८) मार्दव—मृदुता, अक्रूरता। दाम्भिकताका अभाव, दूसरोंके प्रति व्यवहारमें कोमल भावकी रक्षा करना। पद-पद-पर क्रुद्ध न हो उठना या सामान्य कारणसे बौखला न जाना।

(१९) लज्जा—अकार्यमें अप्रवृत्ति। सबको लाँघकर बड़े होनेकी अनिच्छा। "या देवी सर्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता"। इस लज्जाके न रहने पर मनुष्य पशुकी अपेक्षा हीन हो जाता है, किसी भी कुकार्यके करनेमें उसका चित्त नहीं रुकता। हम जिनकी कृपाकी प्राप्तिके लिए व्याकुल हैं, उनके प्रिय कार्यके साधनमें तत्पर न होकर अकार्यमें यदि प्रवृत्त होते हैं तो कौन मुँह लेकर उनके सामने खड़े होंगे। इस प्रकारकी मनोवृत्ति 'ह्री' कहलाती है। ऐसी सुकुमार वृत्ति और कोई नहीं है। जिसके पास लज्जा है, उसके पास सदा श्री, सौन्दर्य रहता है, उसकी शोभासे सभी मुग्ध होते हैं।

(२०) अचापल्य—बिना प्रयोजनके वाक्, पाणि या पाद प्रभृतिका व्यापार न होना ही अचापल्य है। चपलताका कहीं अन्त नहीं है। मनुष्यके मन, इन्द्रियाँ तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गादि सर्वदा व्यापारयुक्त होते हैं। वह क्या करते हैं, क्यों करते हैं—यह स्वयं ही नहीं समझ पाते। तथापि इस चापल्यके दुर्दम्य प्रभावसे सारे नर-नारी पागलके समान अस्थिर हैं। जो प्रतिदिन नियमित रूपसे मनोयोग पूर्वक क्रिया करता है उसका यह चाञ्चल्य धीरे धीरे कम हो जाता है। अन्तमें वह इतना कम हो जाता है कि उसका चित्त ध्यानानुशीलनकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। ध्याननिष्ठ चित्तमें समाधि आसन्न हो जाती है॥ २॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) तेजः क्षमा धृतिः शौचम् (तेज, क्षमा, धृति और शौच) अद्रोहः (अद्रोह) नातिमानिता (अनभिमान) [ये गुण] दैवीं सम्पदं अभिजातस्य (दैवी सम्पद्के अभिमुख उत्पन्न व्यक्तिको) भवन्ति (होते हैं)॥ ३॥

श्रीधर—किञ्च—तेज इति। तेजः प्रागल्भ्यम्। क्षमा—परिभवादिषु उत्पद्यमानेषु क्रोधप्रतिबन्धः। धृतिः—दुःखादिभिः अवसीदतः चित्तस्य स्थिरीकरणम्। शौचं बाह्याभ्यन्तर-शुद्धिः। अद्रोहः—जिघांसाराहित्यम्। अतिमानिता—आत्मनि अतिपूज्यत्वाभिमानः तदभावः नातिमानिता। एतानि अभयादीनि षड्विंशतिप्रकाराणि दैवीं सम्पदं अभिजातस्य भवन्ति। देवयोग्यां सात्त्विकीं सम्पदं अभिलक्ष्य तदाभिमुख्येन जातस्य भाविकल्याणस्य पुंसः भवन्ति इत्यर्थः॥ ३॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—तेज—प्रागल्भ्य, तेजस्विता । क्षमा—पराभवकी उपस्थितिमें क्रोध होने पर भी उसमें प्रतिबन्ध लगाना । धृतिः—दुःख आदिके द्वारा अवसादग्रस्त चित्तको स्थिर करना । शौच –बाह्याभ्यन्तर-शुद्धि । अद्रोह—जिघांसा-राहित्य । नातिमानिता—अपनेमें अति पूज्यत्वाभिमानका अभाव । अभय आदि ये छब्बीस प्रकारके गुण दैवी सम्पद् वाले व्यक्तिके होते हैं । देव-योग्य सात्त्विकी सम्पद् प्राप्त करके जो जन्मग्रहण करते हैं, उन्हींका भावी जीवन कल्याणमय होता है ॥ ३ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तेज अर्थात् मनका तेज, जिसके द्वारा सब देख और कर सकता है—किसी विषयको ग्राह्य न करके क्षमा करता है—अपने आप स्थिर रहता है, सर्वदा ब्रह्ममें रहता है—दूसरेका अनिष्ट जानबूझकर नहीं करता—अतिशय मानकी अभिलाषा नहीं रहती—जो आवश्यक है वह अल्प-स्वल्प रहती है—ये सब क्रियाकी परावस्थामें रहते-रहते, ब्रह्ममें सदा रहनेसे सम्यक् प्रकारसे ये सारी अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं, इनका ही नाम दैवी सम्पद् है ।—(२१) तेज—यह तेज बाह्य चर्मगत दीप्ति नहीं है । यह तेज मनका साहस है, हृदयका बल और उत्साह है । यह तेज जिसके पास रहता है वह कभी काम, लोभ प्रभृति द्वारा पराभूत नहीं होता, सहस्रों विपत्तियाँ पड़ने पर भी सत्य या धर्मपथसे विच्युत नहीं होता । साधनाके द्वारा मनका यह तेज जब वृद्धिको प्राप्त होता है तब उसको योगबल कहते हैं । यह तेज जिनमें पर्याप्त वृद्धिको प्राप्त होता है, वह इसके द्वारा जो देखना चाहते हैं वही देख सकते हैं और जो करना चाहते हैं वही कर सकते हैं ।

(२२) क्षमा—कोई गाली दे या मारे तो सामर्थ्य रहते हुए भी उसको सहन करता है, क्रोध नहीं आने देता । यदि क्रोध हो तो तत्काल मनके वेगको प्रशमित कर सकता है, उसके मनोविकारको बाहर कोई नहीं समझ पाता । क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें बमभोला बन कर बैठा रहता है । कौन उसके बारेमें क्या कहता है उस पर ध्यान ही नहीं देता ।

(२३) धृति—आचार्य शङ्कर कहते हैं—"देह और इन्द्रियोंके अवसाद-ग्रस्त होने पर उसके प्रतिषेधके लिए अन्तःकरणकी जो विशेष वृत्ति है उसको धृति कहते हैं" अर्थात् जिस वृत्तिके द्वारा देह और इन्द्रियोंकी शक्ति संयत रहती है, अवसन्न नहीं होने पाती । धृति वस्तुतः योगधारणा है । यह धृति जितनी ही बढ़ती है उतना ही योगी अपने आपमें स्थिर होता जाता है । मनके विक्षेपशून्य होनेके कारण सुख-दुःख योगीको चञ्चल नहीं कर पाते ।

(२४) शौच—यह बाह्य और आभ्यन्तर-भेदसे दो प्रकारका होता है । मृत्तिका, जल आदिके द्वारा जो शौच होता है वह बाह्य है । मन-बुद्धिकी निर्मलता ही आभ्यन्तर शौच है । यह शौच तभी पूर्ण होता है जब क्रियाकी परावस्थामें स्थिति होती है । तभी ब्रह्मभाव होता है, तभी मैं नहीं रहता और सब एक बोध होता है । आकाश ही सर्वापेक्षा शुचि है । चिदाकाशमें जो अवस्थित है उसकी अपेक्षा शुचि दूसरा कौन होगा ।

(२५) अद्रोह—लोगोंके साथ विरोध न करना। जानबूझकर योगी दूसरोंका अनिष्ट नहीं करता। जिससे लोगोंका अनिष्ट हो, ऐसे कार्य और चिन्तनसे योगी विरत रहता है। जो उदासीन है उसके साथ किसीका विवाद नहीं होता।

(२६) नातिमानिता—अतिमान अर्थात् मैं अतिशय पूज्य हूँ, इस प्रकारके अभिमानका न रहना। साधनामें खूब अनुराग है, साधन भी खूब करता है, तथापि मनकी अस्वच्छता नष्ट न हुई। इसीसे मनमें होता है कि लोग मुझको साधकके रूपमें जानें, मेरी शक्तिकी प्रशंसा करें और सम्मान करें। मनमें यह भाव रहने पर साधनामें यथार्थ उन्नति नहीं होती। मन स्वभावतः अत्यधिक अभिलाषाओंसे पूर्ण रहता है, परन्तु साधकको उतनी ही स्वल्पमात्र अभिलाषा होती है जिसके रहे बिना काम नहीं चलता। अति अल्पमें जिसको सन्तोष होता है, उसको फिर लोगोंके सामने बड़े होनेकी इच्छा ही क्यों होगी?

जो लोग पूर्वजन्मकी सुकृतिके फल-स्वरूप इन सब दैवी सम्पदोंका अधिकारी होकर जन्म-ग्रहण करते हैं, उनको उपर्युक्त सारे गुण स्वाभाविक हो जाते हैं। श्रुति कहती है—"पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन"—पूर्व जन्मोंके पुण्य द्वारा पुण्यमयी वासनाके कारण जीव उत्तरोत्तर पुण्यवान तथा पाप-वासनाके द्वारा पापयुक्त होता है ॥३॥

(आसुरी सम्पद्)

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) दम्भः (धर्म-ध्वजित्व) दर्पः अभिमानः क्रोधः च (दर्प, अभिमान और क्रोध) पारुष्यम् (निष्ठुरता) अज्ञानं च एव (और अज्ञान) आसुरीं सम्पदं अभिजातस्य (आसुरी सम्पद्के अभिमुख उत्पन्न व्यक्तिको) [होते हैं] ॥४॥

श्रीधर—आसुरीं सम्पदमाह—दम्भ इति। दम्भः—धर्मध्वजित्वं। दर्पः धनविद्यादिनिमित्तः चित्तस्य उत्सेकः। अभिमानः व्याख्यात एव। क्रोधः प्रसिद्धः। पारुष्यम् निष्ठुरत्वम्। अज्ञानं—अविवेकः। आसुरीम् इति उपलक्षणम्। असुराणां राक्षसानाञ्च या सम्पद् ताम् अभिलक्ष्य जातस्य एतानि दम्भादीनि भवन्ति इत्यर्थः ॥४॥

अनुवाद—[आसुरी सम्पद् कह रहे हैं]—दम्भ—धर्मध्वजित्व। दर्प—धनविद्यादिके कारण चित्तका उत्सेक अर्थात् अभिमान। अभिमानकी व्याख्या पहले ही की जा चुकी है। क्रोध-शब्द प्रसिद्ध अर्थमें व्यवहृत है। पारुष्य—निष्ठुरता। अज्ञान—अविवेक। जिन लोगोंने आसुरी और राक्षसी सम्पद्को लक्ष्य करके जन्म लिया है उनको ही ये दम्भ-दर्प आदि होते हैं ॥४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मन ही मन कुलीन होनेका घमण्ड करना—बल है इस कारण छाती उभाड़कर चलना—जितना मान आवश्यक है उसकी अपेक्षा अधिक चाहना—सर्वदा क्रोधमें रहना—निष्ठुर वचन बोलना—और आत्मामें न रहना अर्थात् क्रिया न

करना—ये सब आसुरी सम्पद् हैं अर्थात् जो क्रिया नहीं करते उनका इस प्रकारका स्वभाव अपने आप होता है।—(१) दम्भ—अपनी धार्मिकताकी प्रसिद्धिके लिए धर्मानुष्ठान करना, इसको धर्मध्वजी कहते हैं। हाथमें माला फिरती है परन्तु मन अन्य स्थानमें घूमा करता है। मन ही मन विषय-चिन्तन होता है। परन्तु जब कोई आदमी पास आता है तो आखें मूँदकर ध्यानका नाट्य करते हैं। अपनेको औरोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ विश्वास करते हैं परन्तु मुँहसे विनयकी पराकाष्ठा दिखलाते हैं। कुलीन होनेका अभिमान है, परन्तु कार्यमें अधम हैं। इस प्रकारकी प्रवञ्चना ही दम्भ है।

(२) दर्प—धन, मान, विद्या, बुद्धिमें मेरे समान कोई नहीं है, इस प्रकारकी धारणा। धन-जनके गर्वसे जमीन पर पैर नहीं पड़ते। चलनेके समय सर्वदा छाती तान कर चलते हैं। दूसरे किसीकी बात करते समय नाक सिकोड़ते हैं और दूसरे अपनेसे कितने छोटे हैं यही भावसे प्रकट करते हैं। अपनेसे श्रेष्ठ व्यक्तिका अनादर करनेमें नहीं चूकते। उनकी अपेक्षा कोई अधिक जानता है, विद्यामें या ज्ञानमें बड़ा है, यह सुन नहीं सकते। सर्वज्ञताका दावा रखते हैं। ये सब दर्पके लक्षण हैं।

(३) अभिमान—मैं पूज्य हूँ, मैं सब विषयोंमें श्रेष्ठ हूँ, इस प्रकारकी धारणा। कुछ अभिमान सबको होता है। अभिमान होना हमेशा खराब नहीं होता, परन्तु अधिक अभिमान अच्छा नहीं है। मान लो कि किसीको पाण्डित्य है, परन्तु इसके लिए अन्य सबको तुच्छ समझना—यही अभिमान है। और पाण्डित्य तो बिल्कुल ही नहीं है अथवा सामान्य-मात्र है, तथापि उसके अभिमानमें फूलकर बैठना दर्प है।

(४) क्रोध—सर्वदा कुपित रहना, तनिक भी मनके विरुद्ध होने पर उत्तेजित हो जाना। क्रोधीसे लोग डरते हैं और घृणा करते हैं।

(५) पारुष्य—निष्ठुर वचन बोलना, लोगोंके मर्म-स्थानमें चोट पहुँचानेवाली बात बोलना। लोगोंकी जाति, कुल या अङ्गहीनता आदिको लक्ष्य करके मजाक करना। जीवको वृथा कष्ट देनेकी प्रवृत्ति।

(६) अज्ञान—अविवेक, कर्त्तव्याकर्त्तव्यके विषयमें मिथ्या धारणा। स्वयं आलस्यवश कुछ नहीं करते, मुँहसे कहते हैं कि भगवान् जैसा करा रहे हैं वैसा ही कर रहा हूँ, उनकी इच्छाके बिना कुछ नहीं होता इत्यादि। क्रिया करनेसे या साधना करनेसे यथार्थ कल्याण होगा, आत्मप्रतिष्ठा प्राप्त होगी, शान्ति मिलेगी, परन्तु इतना कौन करे—इस प्रकार प्रमाद और आलस्यमें कालक्षेप करना। जो लोग साधन नहीं करते उनकी बुद्धि और भी विकृत हो जाती है। जिसको पूर्वजन्मकी साधना होती है, उसकी इस प्रकारकी दुर्मति नहीं होती। साधनामें उसकी स्वतः प्रवृत्ति होती है। परन्तु पूर्व जन्मोंमें जिसने कुछ नहीं किया है उसकी बुद्धिमें ये सब विपरीत भाव आते हैं। आसुर सम्पद् भोग करनेके लिए जिनका जन्म हुआ है उनको ही दम्भ-दर्प आदि हुआ करते हैं॥४॥

(दैवी और आसुरी सम्पद्का फल)

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

अन्वय—दैवी सम्पद् (दैवी सम्पद्) विमोक्षाय (मोक्षके लिए) आसुरी (आसुरी सम्पद्) निबन्धाय (बन्धनके निमित्त) मता (अभिप्रेत है)। पाण्डव (हे पाण्डव!) मा शुचः (शोक मत करो) दैवीं सम्पदम् (दैवी सम्पदको) अभि (लक्ष्य करके) जातः असि (तुम पैदा हुए हो) ॥५॥

श्रीधर—एतयोः सम्पदोः कार्यं दर्शयन् आह— दैवीति। दैवी या सम्पत् तया युक्तः मयोपदिष्टे तत्त्वज्ञाने अधिकारी। आसुर्या सम्पदा युक्तस्तु नित्यं संसारी इत्यर्थः। एतत् श्रुत्वा किम् अहम् अत्र अधिकारी न वेति सन्देह-व्याकुल-चित्तं अर्जुनं आश्वासयति—हे पाण्डव, मा शुचः शोकं मा कार्षीः। यतस्त्वं दैवीं सम्पदं अभिजातोऽसि ॥५॥

अनुवाद—[इन दोनों सम्पदोंके कार्य क्या हैं, यह दिखलाते हुए कहते हैं]—दैवी सम्पद्से युक्त पुरुष मेरे उपदिष्ट तत्त्वज्ञानमें अधिकारी होता है। और जो आसुरी सम्पद्-युक्त पुरुष हैं वे नित्य संसारी बने रहते हैं। यह सुनकर मैं अधिकारी हूँ या नहीं—इस सन्देहसे व्याकुल-चित्त अर्जुनको आश्वासन देते हुए कहते हैं कि हे पाण्डव! तुम शोक न करो, क्योंकि तुम दैवी सम्पद् भोग करनेके लिए पैदा हुए हो ॥५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—दैवी सम्पद् जो ऊपर मैं कह चुका हूँ, वह विशेष-रूपसे मोक्ष क्रियाकी परावस्थामें रहकर है, और आसुरी मतमें अर्थात् क्रिया न करनेसे निःशेषरूपसे बन्धन—अन्य वस्तुमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करके उसी वस्तुका हो जाता है।—पूर्वजन्मोंके कर्मफलसे मनुष्य आसुरी सम्पद् या दैवी सम्पद् लेकर जन्म-ग्रहण करता है। वासनाबहुल मानव-चित्त भोगसुखके अन्वेषणमें लालायित रहता है। सुखके लिए जीवमें तृष्णाका होना स्वाभाविक है। साधुसङ्ग और शास्त्रनिष्ठाके अभावसे मनुष्यकी प्रवृत्ति और भी विषयोंकी ओर दौड़ती है। विषयोंमें सुख है, यह भ्रम कदापि दूर नहीं होता। अनेक जन्मोंके पुण्यकर्मके फलसे यथार्थ सुखकी ओर मनुष्यका लक्ष्य होता है। तब साधुसङ्ग और शास्त्रज्ञानके प्रभावसे वह समझता है कि सुख बाहरकी वस्तु नहीं है, वह धन-जन, मान-प्रतिष्ठामें नहीं है, यथार्थ सुख आत्मामें है। तब आत्माके अन्वेषणमें जीव व्याकुल होता है, विषयोंमें वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। परन्तु दो-एक जन्ममें पूर्ण वैराग्यकी प्राप्ति नहीं होती और न चित्त पूर्ण आत्ममुखी ही होता है। इसके लिए उसको वारंवार जन्मग्रहण करना पड़ता है। जो पूर्व जन्मोंमें वैराग्यको प्राप्त हो चुके हैं या अल्पाधिक परिमाणमें आत्मान्वेषणमें सचेष्ट रह चुके हैं उनका वर्त्तमान जन्म दैवीसम्पद्-युक्त होता है। इसी कारण देखनेमें आता है कि बहुतसे लोगोंका चित्त साधु-गुरुका उपदेश न पाकर भी अपने आप भगवन्मुखी होता है।

उनका "विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तं" होता है। पूर्व जन्मोंके साधनके फलस्वरूप वे भूतात्मा और जीवात्माके ऊपर प्रत्यगात्माके साथ एकीभूत हो जाते हैं। उनसे निम्न स्तरके भी कुछ साधक होते हैं जिनको भूतात्मा और जीवात्माके भेदका पता होता है, क्योंकि वे भी बाह्य विषयोंमें मग्न होकर नहीं रहते। उनके सामने विषयरस विरस जान पड़ता है। ये जीव जब जगत्में आते हैं तब दैवी सम्पद्-युक्त होकर ही आते हैं। दूसरे ऐसे जीव हैं जो इन्द्रियभोगमें अत्यन्त आसक्त होते हैं, वे पशुधर्मी होते हैं, वे भोगलालसाकी चरितार्थताके सिवा कोई उच्च भाव समझ ही नहीं सकते। ऐसे लोगोंको अभिज्ञताकी प्राप्तिके लिए वारंवार जगत्में आना-जाना पड़ेगा। यद्यपि द्रष्टा या पुरुष चिन्मात्र है, अन्यान्य धर्मादिके द्वारा अपरामृष्ट (असंस्पृष्ट) है, परन्तु एक एक पुरुष अनादिकालसे एक एक चित्त या प्रकृतिके साथ संयुक्त है। प्रकृति ही चित्ताकारमें परिणत होती है, इसी कारण चित्तको प्रकृति कहते हैं। योगदर्शनमें लिखा है—

"द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः"—(२-१७)

द्रष्टा और दृश्यका संयोग ही हेयका हेतु है। चिन्मय पुरुष द्रष्टा है और बुद्धि दृश्य है, क्योंकि समस्त दृश्य ही बुद्ध्याकारमें परिणत होते हैं। इन दोनोंका संयोग-सम्बन्ध जबतक प्रतीत होता रहेगा, अज्ञान भी तबतक रहेगा। यह अज्ञान ही वास्तविक 'हेय' है, यही समस्त दुःखोंका मूल है। वस्तुतः आत्माके साथ दृश्य वस्तुका कभी संयोग नहीं हो सकता। आत्मस्वरूपमें वह एक और अद्वितीय है, वह क्रियाकी परावस्थामें जाना जाता है। उस समय कौन किसका दृश्य तथा कौन किसका द्रष्टा रहेगा? संयोगके न रहने पर भी जो संयोगकी प्रतीति होती है, वही अज्ञान है। इसलिए द्रष्टा और दृश्यका जो संयोग है वह अज्ञानके कारण ही होता है। क्रियाकी परावस्थामें अज्ञानके विलुप्त होने पर दृश्य वस्तुओंका कोई अस्तित्व नहीं रहता।

इस चित्ताकारा या प्राणाकारा (चित्त प्राणका ही स्पन्दन है) प्रकृतिका संशोधन ही समस्त साधनाका मूल उद्देश्य है। इसी कारण योगी लोग प्राणकी साधना के द्वारा अपनी बहिर्मुखी वृत्तियोंको अन्तर्मुख कर देते हैं। प्राण जब अन्तर्मुख होकर सुषुम्नावाही होता है तो चित्तका स्पन्दन ह्रासको प्राप्त होता है और साथ ही वासनाका वेग भी घट जाता है। विक्षेपशून्य चित्त प्राणके साथ एक होकर परम स्थिरताके भावको प्राप्त होता है। यही चित्तकी शुद्धि या प्राणका शोधन कहलाता है। शुद्ध चित्त और शुद्ध प्राण योगीके जन्मान्तरके पुण्य-स्वरूप हैं। उसके ही फलसे शुद्धसत्त्व होकर वे जन्म ग्रहण करते हैं। जिनकी ऐसी अवस्था होती है, वे असुर और राक्षसके समान स्वेच्छाचार-विहारी नहीं हो सकते तथा परमार्थसाधनमें भी मनोयोग-शून्य नहीं हो सकते। जो लोग अनुरागके साथ नित्य क्रिया करते हैं, वे क्रियाकी परावस्था या मोक्ष निश्चय ही प्राप्त करेंगे क्योंकि दैवी सम्पद्से युक्त हुए बिना क्रियाके प्रति अनुराग नहीं होता। क्रियाके प्रति अनुराग होने पर संयमकी ओर दृष्टि जायगी। श्रद्धा और संयम प्रभृति दैवी सम्पद् जीवको मुक्तिकी प्राप्तिमें सहायता करती हैं। जो लोग

श्रद्धाहीन हैं, अच्छी तरहसे क्रिया नहीं करते या बिल्कुल ही क्रिया नहीं करते, वे बहिर्दृष्टिसम्पन्न हैं। बाहरी वस्तुओंमें ही उनकी आसक्ति होती है। उन्हीं वस्तुओंमें उनका प्राण पड़ा रहता है। यही प्राणका बन्धन है। आसुरी सम्पद्‌का यही फल है ॥५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ !) अस्मिन् लोके (इस जगत्‌में) दैवः आसुरः च एव (दैव और आसुर) द्वौ (दो प्रकारकी) भूतसर्गौ (भूतसृष्टि हुई है) दैवः (दैव सम्पद्) विस्तरशः प्रोक्तः (विस्तार पूर्वक कही गयी है) आसुरं (आसुर सम्पद्‌का विषय) मे शृणु (मुझसे सुनो) ॥६॥

श्रीधर—आसुरी सम्पद् सर्वात्मना वर्जयितव्या इत्येतत् अर्थम् आसुरीं सम्पदं प्रपञ्चयितुमाह—द्वाविति। द्वौ द्विप्रकारौ भूतानां सर्गौ मे मद्वचनात् शृणु। आसुरराक्षसप्रकृत्योः एकीकरणे द्वौ इत्युक्तम्। अतः "राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता"—इत्यादिना नवमाध्यायोक्त प्रकृतित्रैविध्येन अविरोधः। स्पष्टम् अन्यत् ॥६॥

अनुवाद—[आसुरी सम्पद् सर्वतो भावसे वर्जनीय है, इसलिए आसुरी सम्पद्‌की बात विस्तृत रूपसे कहते हैं]—भूतोंकी जो दो प्रकारकी सृष्टि है उनमें आसुर और राक्षस प्रकृतिको एक करके दिखाया गया है, इसलिए दैव और आसुर दो ही प्रकारकी सृष्टिका यहाँ वर्णन किया गया है। अतएव नववें अध्यायके "राक्षसीमासुरीम्" श्लोकमें जो त्रिविध प्रकृतिकी बात कही गयी है, उससे यहाँ विरोध नहीं होता ॥६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—दो प्रकारके लोग हैं, एक दैवी और दूसरा आसुरी—दैवीके विषयमें बहुत कह चुका हूँ, जो लोग क्रिया नहीं करते उनका मन किन किन वस्तुओंमें रहता है, यह अब बतलाते हैं।—मनुष्य-सृष्टि ही भूतसर्ग है। यह भूतसर्ग दो प्रकारका है। सृष्ट मनुष्य या तो दैवी सम्पद्-युक्त होते हैं या आसुर सम्पद्-युक्त। दैवी भूतसर्गका परिचय दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षणके वर्णनमें, बारहवें अध्यायमें भक्तके लक्षणकी व्याख्यामें, तेरहवें अध्यायमें ज्ञानका विषय कहकर, चौदहवें अध्यायमें गुणातीतका लक्षण वर्णन करते समय और सोलहवें अध्यायमें "अभयं सत्त्वसंशुद्धिः" आदि वाक्योंमें विस्तृत भावसे कहा जा चुका है। अब आसुरी भूतसर्गका विषय भगवान् कहते हैं। आसुरकी गुण-कहानी सुनकर ही जीव इस भयङ्कर आसुर भावका त्याग करनेके लिए कृतसङ्कल्प हो सकता है। अर्थात् मैं किस प्रकृतिका आदमी हूँ, यह निश्चय कर सकता है तथा अपना संशोधन आप करनेमें लग सकता है। क्रिया करनेका क्या फल है, यह बहुत पहले कह चुका हूँ। अब क्रिया न करनेका फल क्या है, क्रियाहीनका मन किस प्रकार विषयोंमें आबद्ध होता है, यह कहा जाता है। इसे सुनकर आसुर प्रकृतिके लोग सावधान होवें और अपने-अपने चरित्रके संशोधनमें प्रवृत्त होवें ॥६॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

अन्वय—आसुराः जनाः (असुर-स्वभावके लोग) प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च (प्रवृत्ति और निवृत्ति) न विदुः (नहीं जानते), तेषु (उनमें) न शौचं (शौच नहीं) न च आचारः (आचार भी नहीं) न अपि सत्यं विद्यते (और न सत्य ही विद्यमान रहता है) ॥७॥

श्रीधर—आसुरीं विस्तरशः निरूपयति—प्रवृत्तिं चेत्यादि द्वादशभिः । धर्मे प्रवृत्तिं अधर्मात् निवृत्तिञ्च आसुरस्वभावा जना न जानन्ति । अतः शौचम् आचारः सत्यं च तेषु नास्त्येव ॥७॥

अनुवाद—['प्रवृत्तिं च' से लेकर द्वादश श्लोकोंमें आसुरी सम्पद्का विस्तार-पूर्वक निरूपण करते हैं]—आसुर स्वभावापन्न व्यक्तिकी धर्ममें प्रवृत्ति और अधर्मसे निवृत्ति नहीं हो सकती । अतएव उनमें शौच नहीं होता, आचार नहीं होता तथा सत्य भी नहीं होता ॥७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—एक बार मनमें आता है करूँ, फिर आता है नहीं करूँगा—यह क्रिया जो लोग नहीं करते उनको ही इस प्रकारके भाव होते हैं—वे ब्रह्ममें नहीं रहते अर्थात् किसी विषयका निश्चय नहीं होता—किसी एक आचारमें नहीं रहते—मिथ्याके सिवा सत्य बोलना नहीं जानते—उनके पास सत्य रहता ही नहीं ।—धर्म दो प्रकारका होता है—प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक । प्रवृत्तिमूलक धर्मानुष्ठानके द्वारा मनुष्यका सुकृतिसञ्चय होता है और निवृत्तिमूलक धर्मके द्वारा जीवन मुक्तिमार्गमें अग्रसर होता है । परन्तु ये सब स्वेच्छा-मूलक नहीं है, समस्त शास्त्र-विधि द्वारा शासित होते हैं । दोनोंमें शास्त्रानुसार पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता होती है । अतएव शास्त्रविधि क्या है, यह जानना आव-श्यक है । शास्त्रीय विधि-निषेधको जाने बिना तदनुसार कार्य नहीं हो सकता । आसुर प्रकृतिके लोगोंकी प्रवृत्ति धर्ममें नहीं होती, अतएव धर्मशास्त्रके शासनको वे नहीं जानते, ग्राह्य भी नहीं करते । अधर्मसे भी उनकी निवृत्ति नहीं होती, अतएव निवृत्ति मार्गमें पदार्पण करानेवाली मानसिक शक्तिका भी उनमें नितान्त अभाव होता है । क्या धर्म है और क्या अधर्म है—यह सब अनुसन्धान करके देखनेका न तो उनमें सामर्थ्य होता है और न इच्छा होती है । जो लोग इस प्रकार धर्माधर्मज्ञानसे शून्य होते हैं उनमें शौच-सदाचार नहीं रहता । इस कारण उनमें सत्य भी नहीं रह सकता । इन्द्रिय-भोग-सुख आदिमें वे इतने उन्मत्त होते हैं कि उन भोग्य वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए यदि सहस्रों मिथ्या प्रवञ्चना भी करनी पड़े तो वे उसको भी करनेके लिए तैयार होते हैं । इन मिथ्यावादी कपटी और वञ्चकोंके सामने सत्य क्या है अथवा शौच और सदाचार ही क्या है ! इनका तो अभिप्राय सिद्ध होना चाहिए । वे साधन भी ग्रहण करते हैं और गुरुके सामने करनेकी प्रतिज्ञा भी करते हैं, तथापि वे प्रतिज्ञाका पालन नहीं कर सकते, नाना प्रकारके मिथ्या छल करते हैं । यदि कभी मनमें आता भी है कि साधन करें तो

इतना भोगासक्त चित्त होता है कि भोगकी वस्तु पाने पर साधन दिमागमें ही रह जाता है। आध्यात्मिक विषयमें दृढ़ प्रत्यय तो उनको होता ही नहीं, दिखावटी कुछ अनुष्ठान करनेपर भी उसमें उनका स्थिर विश्वास नहीं होता। यदि किसीसे सुन लेते हैं कि ऐसा अभ्यास करने पर शरीर अस्वस्थ हो जायगा तो भयसे वे साधन छोड़ देते हैं। अथवा यदि कोई कहता है कि एक ऐसा साधु आया है जो मन्त्रके द्वारा सोना बना सकता है, तो वह उसी समय उसके पास सोना बनानेका ढङ्ग सीखने चल देते हैं—ऐसा उनका मनोभाव होता है। इस प्रकारके दुर्बल-चित्त व्यक्ति सत्यकी मर्यादाकी रक्षा कैसे कर सकते हैं। प्रवृत्तिका अर्थ इष्ट-साधनमें यत्नविशेष है, इसको ही साधना या क्रिया कहते हैं। इष्टसाधन या क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें जो मनका विराम या विश्राम होता है, वही निवृत्ति है। जो लोग सुर नहीं, असुर हैं अर्थात् जिनके चित्तमें राजसिक और तामसिक भाव अत्यन्त प्रबल हैं, वे न तो क्रिया लेते हैं और न करते हैं। क्रियाकी परावस्थामें जो शान्ति है उससे वे अवगत ही नहीं होते। अतएव ब्रह्मरूप सद्वस्तुके विषयमें उनका कोई अनुसन्धान ही नहीं होता। तदनुसार जीवनयापन करनेकी प्रणाली या आचार भी उनको अवगत नहीं होता तथा वह उनको अच्छा भी नहीं लगता ॥७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

अन्वय—ते (वे) जगत् (जगत्को) असत्यं (मिथ्या अर्थात् वेदादि-प्रमाण-शून्य) अप्रतिष्ठं (धर्माधर्मरूप व्यवस्थाविहीन अर्थात् स्वाभाविक) अनीश्वरम् (ईश्वरशून्य) अपरस्परसम्भूतं (स्त्रीपुरुषसंयोगसे उत्पन्न) किमन्यत् (इसके सिवा कोई कारण नहीं) [केवल] कामहैतुकम् (कामभोगार्थमात्र) आहुः (कहते हैं) ॥८॥

श्रीधर—ननु वेदोक्तयोः धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिं निवृत्तिं च कथं न विदुः ? कुतो वा धर्माधर्मयोः अनङ्गीकारे जगतः सुखदुःखादिव्यवस्था स्यात्, कथं वा शौचाचारादिविषयां ईश्वराज्ञां अतिवर्त्तेरन् ? ईश्वरानङ्गीकारे च कुतो जगदुत्पत्तिः स्यात् ? अत आह—असत्यमिति। नास्ति सत्यं—वेदपुराणादिप्रमाणं यस्मिन् तादृशं जगत् आहुः—वेदादीनां प्रामाण्यं न मन्यन्ते इत्यर्थः। तदुक्तम् "त्रयो वेदस्य कर्त्तारो धूर्त्तभण्डनिशाचराः" इत्यादि। अतएव नास्ति धर्माधर्मरूपा प्रतिष्ठा—व्यवस्थाहेतुः यस्य तत्। स्वाभाविकं जगद्वैचित्र्यं आहुरित्यर्थः। अतएव नास्ति ईश्वरः कर्त्ता व्यवस्थापकश्च यस्य तादृशं जगद् आहुः। तर्हि कुतोऽस्य जगतः उत्पत्तिं वदन्ति ? इति अत आह—अपरस्परसम्भूतमिति। अपरश्च परश्चेति अपरस्परम्। अपरस्परतः—अन्योऽन्यतः स्त्रीपुरुषमिथुनात् सम्भूतम् जगत्। किमन्यत् ? कारणमस्य नास्ति अन्यत् किञ्चित्। किन्तु कामहैतुकमेव—स्त्रीपुंसयोः उभयोः काम एव प्रवाहरूपेण हेतुरस्य इति आहुः इत्यर्थः ॥८॥

अनुवाद—[यदि कहो कि असुर स्वभाववाले वेदोक्त धर्माधर्म, प्रवृत्ति निवृत्ति क्यों नहीं जानते, धर्माधर्मको न मानने पर जगत्की सुख-दुःखादि-व्यवस्था कैसे होती है,

कोई सुखी, कोई दुःखी क्यों है, वे शौच और आचारके विषयमें ईश्वराज्ञा (वेदोक्ति) का कैसे अतिक्रमण करते हैं, ईश्वरको यदि नहीं मानते तो जगत्की उत्पत्ति कैसे होती है, तो यही कहते हैं]—वेदपुराणादि प्रमाणरूप सत्य नहीं हैं अर्थात् वेदादिका प्रामाण्य नहीं मानते। उनके मतसे वेदके कर्त्ता तीन हैं—धूर्त्त, पाखण्डी और निशाचर। अतएव वे जगत्को 'अप्रतिष्ठ' अर्थात् धर्माधर्म-व्यवस्थाविहीन कहते हैं। वे कहते हैं कि जगत्वैचित्र्य स्वाभाविक है, किसी कारणके अधीन नहीं है। अतएव जगत्को अनीश्वर अर्थात् व्यवस्थापक और कर्त्ता हीन कहते हैं। किस प्रकारसे इस जगत्की उत्पत्ति होती है, इसके लिए वे कहते हैं कि अपर और पर, अपरस्पर अर्थात् अन्योऽन्य स्त्री-पुरुष इन दोनोंसे जगत् उत्पन्न हुआ है। किमन्यत् अर्थात् इसका अन्य कुछ भी कारण नहीं है। कामहैतुकम् अर्थात् स्त्री-पुरुष इन दोनोंका जो काम है वही प्रवाहरूपसे इस जगत्का हेतु है ॥८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वे मिथ्या ही स्थिर करते हैं—वे कहते हैं कि इस जगत्में ईश्वर कोई नहीं है—अपने आप होता है—वेश्याके मनके समान दूसरा कुछ नहीं है।—आसुर प्रकृतिके लोग जगत्को असत्य स्थिर करते हैं। ज्ञानी लोग जिस कारण जगत्को मिथ्या कहते हैं, उनकी धारणा ऐसी नहीं होती। ज्ञानी लोग कहते हैं कि इस नाम-रूपमय जगत्के नामरूप सत्य नहीं हैं, परन्तु जिसको आश्रय करके ये नामरूप हैं, वह आश्रय-पदार्थ असत्य नहीं है। वही परम सत्य है। रज्जुमें सर्पभ्रम होता है, वह सर्प मिथ्या है, परन्तु सर्पज्ञानका अधिष्ठानभूत रज्जु मिथ्या नहीं है। इसी प्रकार नामरूपमय जगत् मिथ्या होने पर भी उसकी अधिष्ठानभूत चैतन्य-सत्ता नित्य सत्य पदार्थ है। आसुर प्रकृतिवाले इस प्रकार जगत्को मिथ्या नहीं कहते। वे कहते हैं कि धर्माधर्म-रूप व्यवस्था इस जगत्में नहीं है। यदि होती तो कोई इसका नियन्ता होता, परन्तु जगत्में ऐसा कोई नियन्ता नहीं है। नियन्ता माननेमें उनको बड़ी आपत्ति है, क्योंकि शुभाशुभ कर्मका फल विधान करने वाला कोई हो तो उनको तज्जनित दण्डादि भोग करना अनिवार्य हो जायगा। वे अपने मनको समझाये रखते हैं कि इस प्रकारका कोई नियन्ता या जगत्का कारण नहीं है। इसी कारण उनके स्वेच्छाचारकी सीमा नहीं रहती। ये जगत् जीव कहाँसे होते हैं, उनका प्रेरक कौन है, इसके उत्तरमें वह कहते हैं—कामसुखाभिलाषी स्त्री-पुरुषके परस्पर समागमका ही यह फल है। धर्माधर्मरूप अदृष्ट या ईश्वर इसका कारण नहीं है। "एको बहूनां यो विदधाति कामान्"—जीवबहुल इस जगत्के सब जीवोंके समस्त भोग्योंका जो विधान करता है वह एक और अद्वितीय है—यह आसुर प्रकृतिके लोग कदापि स्वीकार नहीं करना चाहते। वे कहते हैं कि मनके विविध सङ्कल्प-विकल्प वेश्याके समान अविरत एकको छोड़कर दूसरेको पकड़ते हैं, यह मन ही अच्छा है। यदि मन न होता तो सुख कहाँसे होता, इसमें विक्षेप है तो अच्छा ही है, नहीं तो कामभोग्य वस्तुका भोग कैसे होगा। कामनाका त्याग करना, मनको शान्त करना, भगवान्का भजन करना, ये सब पागलके कर्म हैं। इस प्रकारके सहज सुखवादियोंको नास्तिक कहते हैं ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

अन्वय—एतां दृष्टिं (इस प्रकारकी दृष्टि, मत या बुद्धिको) अवष्टभ्य (आश्रय करके) नष्टात्मानः (नष्टस्वभाव, मलिनचित्त) अल्पबुद्धयः (क्षुद्रमति) उग्रकर्माणः (क्रूरकर्मा) अहिताः (जगत्के शत्रु या अमङ्गलकारी लोग) जगतः क्षयाय (जगत्के विनाशके लिए) प्रभवन्ति (जन्मग्रहण करते हैं) ॥ ९ ॥

श्रीधर—किञ्च—एतामिति । एतां लोकायतिकानां दृष्टिं—दर्शनम् आश्रित्य, नष्टात्मानो—मलिनचित्ताः सन्तः, अल्पबुद्धयः दृष्टार्थमात्रमतयः अतएव उग्रं—हिंस्रं कर्म येषां ते, अहिताः वैरिणः भूत्वा जगतः क्षयाय प्रभवन्ति—उद्भवन्ति इत्यर्थः ॥ ९ ॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—लोकायतिक निरीश्वरवादी चार्वाक दर्शनका आश्रय करके मलिनचित्त प्रत्यक्षवादी अल्पबुद्धि लोग हिंस्रकर्मा होते हैं और जगत्के ध्वंसके लिए जन्मग्रहण करते हैं ॥ ९ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार लक्ष्य रखकर, जो अपने आपमें नहीं रहते अर्थात् क्रिया नहीं करते—कदापि बुद्धिको स्थिर नहीं कर पाते—उग्र कर्म, मार डालना इत्यादि जगत्के क्षयके हेतु होता है—जिससे दूसरेकी बुराई होती है वही करते हैं।—जो लोग साधन नहीं करते, वे आत्माको नहीं जान सकते। वे देहको ही सब कुछ समझते हैं, इसलिए देहका पोषण करनेके लिए ही सारा जीवन व्यय करते हैं। ऐसा कोई अकर्म नहीं, जिसे वे न करते हों। ऐसे लोगोंकी बुद्धि साधारणतः तमसाच्छन्न ही रहती है। इसीसे सूकर-कूकरके समान पुरीष-मूत्रमय इस देहके लिए ही वे सदा व्यस्त रहते हैं। उनकी बुद्धि अल्प होती है, इसलिए उनके ज्ञानका विषय भी अल्प होता है। वे अपरिमेय ज्ञान-वस्तु या आत्माके पास तक नहीं जाते। वे ही नष्टात्मा हैं अर्थात् श्रीगुरुके उपदेशके अनुसार अपने आपमें नहीं रहते, रहनेका उपाय या कौशल भी उनको अवगत नहीं होता। ऐसे लोगोंकी प्रकृति प्रायः हिंसाप्रवण होती है। वे शास्त्रनिषिद्ध कार्य करनेमें कभी सङ्कोच नहीं करते। उनका यह जन्म तो ऐसे ही चला गया, परजन्ममें भी वे हिंस्र-स्वभाववश सर्पादि हिंस्रकुलमें जन्म ग्रहण करते हैं और जगत्-जीवोंका अकल्याण करके संसारको व्याकुल करते हैं ॥९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

अन्वय—[ते—वे लोग] दुष्पूरं (कठिनाईसे पूरा होनेवाले) कामम् आश्रित्य (कामका आश्रय करके) दम्भमानमदान्विताः (दम्भ, मान और मदसे उन्मत्त होकर) मोहात् (मोहवश) असद्ग्राहान् (असद् आग्रह या अशुभ सिद्धान्तका अवलम्बन करके—अमुक मन्त्र जप करके इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त करूँगा इत्यादि अशास्त्रीय मनगढ़े सिद्धान्त) गृहीत्वा (ग्रहण करके) अशुचिव्रताः (अशुचि अर्थात् निरयगमनोपयोगी कर्ममें) प्रवर्त्तन्ते (प्रवृत्त होते हैं) ॥१०॥

श्रीधर—अपि च—काममाश्रित्येति। दुष्पूरं—पूरयितुमशक्यं कामं आश्रित्य दम्भादिभिः युक्ताः सन्तः, क्षुद्रदेवताराधनादौ प्रवर्त्तन्ते। कथम्? असद्ग्राहान् गृहीत्वा—अनेन मन्त्रेण एतां देवतां आराध्य महानिधीन् साधयिष्याम इत्यादीन् दुराग्रहान् मोहमात्रेण स्वीकृत्य प्रवर्त्तन्ते। अशुचिव्रताः—अशुचीनि मद्यमांसादिविषयाणि व्रतानि येषां ते ॥१०॥

अनुवाद—[और भी]—दुष्पूर अर्थात् जो पूर्ण नहीं की जा सकती ऐसी कामनाको आश्रय करके वे दम्भादियुक्त होकर क्षुद्र देवताकी आराधनामें प्रवृत्त होते हैं। असद् ग्राहोंको ग्रहण करके अर्थात् अमुक मन्त्र द्वारा अमुक देवताकी आराधना करके प्रचुर धनरत्न प्रा करूँगा—इस प्रकार वे मोहवश उक्त कार्यमें प्रवर्त्तित होते हैं। अशुचिव्रत—मद्य-मांसादि विषय ही उनके सेव्य हैं ॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैथुन करना ही अच्छा है, यही उनके गर्वकी बात है—दिल तोड़नेवाले मोहमें सद्वस्तुको ग्रहण नहीं करते अर्थात् सत्को एकबारगी खा जाते हैं। ब्रह्मके सिवा जितनी भी वस्तुएँ हैं उन्हींमें प्रवृत्त हैं—ॐ ॐ।—वे उग्रकर्मा व्यक्ति क्या करते हैं, इसका ही परिचय दे रहे हैं। वे दुष्पूर कामनाके वशवर्ती होकर दम्भ, मान तथा मद इन तीनोंके साथ सदा युक्त रहते हैं। न पूर्ण होनेवाली दुराशाके वश होकर वे दम्भ और अभिमानके द्वारा शास्त्रविरुद्ध दुराग्रहका अवलम्बन करके कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। अमुक देवताकी आराधनासे धनलाभ होगा अथवा नायिका-सिद्धि प्राप्त कर कामभोगके लिए स्त्री-रत्नकी प्राप्ति हो जायगी—इन सब दुराशाओंसे उद्भ्रान्तमति व्यक्ति अनेक देवताओंकी आराधना करते हैं, अनेक प्रकारके मन्त्रोंका जप करते हैं। वे अशुचिव्रत हैं, उनके द्वारा कोई सात्त्विक कार्य नहीं होनेवाला है। उत्तम विषयमें सिद्धि प्राप्त करनेके लिए अनेक नियमोंका पालन करना पड़ता है। उन व्रतोंका पालन करनेसे शरीर-मन पवित्र हो जाते हैं, सत्त्वगुण वृद्धिको प्राप्त होता है, मन विक्षेपशून्य हो जाता है, हृदयमें सात्त्विक बलका सञ्चार होता है। उनके मुखमण्डलमें भी एक ऐसा स्निग्ध भाव रहता है जिसको देखते ही मनमें श्रद्धाका उदय होता है। जिनके आचरण और नियमनिष्ठा इसके विपरीत हैं, वे ही अशुचिव्रत हैं। उनका आहार जैसा तमोगुणी होता है वैसा ही उनका व्यवहार भी है। उनका चित्त, उनके कार्य और उनका सङ्ग—सभीमें सात्त्विकताका अभाव होता है। किसी अच्छे विषयमें उनकी प्रवृत्ति नहीं होती, कोई सत्कार्य करना वे नहीं जानते, केवल वही करते हैं जिससे संसारका अकल्याण हो। वे लोगोंको भय दिखलाकर उनका वित्त अपहरण करनेकी चेष्टा करते हैं। ये घोर तामसिक प्रवृत्तिके लोग कोई अपकर्म नहीं छोड़ते। इन्द्रियभोगके लिए उनका मन सदा उद्यत होता है। प्रकृत हित कैसे होगा, किस प्रकार चित्त ब्रह्मभावनासे भावित होगा, इसका वे कदापि विचार नहीं करते ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

अन्वय—प्रलयान्ताम् (मृत्युकाल-पर्यन्त) अपरिमेयां (अपरिमेय) चिन्ताम् उपाश्रिताः (चिन्ताको आश्रय करके) कामोपभोगपरमां (काम-भोग-परायण) एतावत् इति निश्चिताः (कामभोग ही परम पुरुषार्थ है, ऐसा जिनका निश्चय है) ॥११॥

श्रीधर—किञ्च—चिन्तामिति। प्रलयः मरणम् स एव अन्तः यस्याः ताम्। अपरिमेयां—परिमातुं अशक्यां चिन्ताम् आश्रिताः—नित्यचिन्तापरा इत्यर्थः। कामोपभोग एव परमो येषां ते। एतावदिति—कामोपभोग एव परमः पुरुषार्थो नान्यत् अस्तीति कृतनिश्चयाः। अर्थसञ्चयान् ईहन्ते इत्युत्तरेण अन्वयः। तथा च बार्हस्पत्यसूत्रम्—काम एवैकः पुरुषार्थ इति। चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति च ॥११॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—वे मृत्युकाल पर्यन्त चिन्ता-ग्रस्त रहते हैं। कामोपभोग ही परम पुरुषार्थ है, कामोपभोगके सिवा और कुछ नहीं है, ऐसा उनका निश्चय है। बार्हस्पत्य सूत्रमें लिखा है—कामना ही पुरुषार्थ है और चैतन्य-विशिष्ट काय या देह ही पुरुष-शब्द-वाच्य है ॥११॥

आध्यात्मिक व्याख्या—चिन्ताकी कोई सीमा नहीं है, महाप्रलयके समय जैसी चिन्ता, भोजन और मैथुनके सिवा और कुछ भी अच्छा नहीं—यही उनका निश्चय है।—आसुरी प्रकृतिके मनुष्यके लिए कामिनी-काञ्चन ही परम पुरुषार्थ है, अतएव वे सर्वदा ही कामोपभोगकी चिन्तामें पड़े रहते हैं। मृत्युकाल पर्यन्त उनकी इस प्रकारकी चिन्ता बराबर बनी रहती है। वे इस चैतन्ययुक्त देहको ही पुरुष तथा कामोपभोगको ही पुरुषार्थ मानते हैं। उनकी यह धारणा होती है कि देहावसानके साथ ही सब समाप्त हो जाता है, देहान्तके बाद किसीको कोई कर्मफल भोग नहीं करना पड़ता, अपने कर्मोंके लिए किसीके सामने जवाब नहीं देना पड़ता। इसलिए वे लोग अपनी अभिलाषाकी पूर्त्तिके लिए कोई अपकर्म नहीं छोड़ते। भगवान्‌की शरण लेना तथा उनका भजन करना उनकी दृष्टिमें व्यर्थ प्रयास तथा मस्तिष्ककी दुर्बलता है ॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥

अन्वय—आशापाशशतैः (शतशत आशारूपी पाशोंसे) बद्धाः (आबद्ध) कामक्रोधपरायणाः (काम तथा क्रोधपरायण लोग) कामभोगार्थं (काम-भोगके लिए) अन्यायेन (असत् उपायोंसे) अर्थसञ्चयान् (अर्थसञ्चय करनेकी) ईहन्ते (इच्छा करते हैं) ॥ १२ ॥

श्रीधर—अतएव—आशेति। आशा एव पाशाः तेषां शतानि तैः बद्धाः इतस्ततः आकृष्यमाणाः। कामक्रोधपरायणाः—कामक्रोधौ परमयनं आश्रयो येषां ते। कामभोगार्थम् अन्यायेन—चौर्यादिना, अर्थानां सञ्चयान् राशीन् ईहन्ते इच्छन्ति ॥ १२ ॥

अनुवाद—सैकड़ों आशारूपी पाशोंसे जो आबद्ध होते हैं और कामक्रोध जिनका परम आश्रय होता है वे लोग काम-भोगके लिए चोरी आदिके द्वारा भी अर्थराशि संग्रह करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १२ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—नाना प्रकारकी आशाओंमें बद्ध—सैकड़ों प्रकारके अन्यायसे पैसा कमाते हैं अर्थात् किसीको मारकर भी पैसा ले लेते हैं—काम और क्रोधसे युक्त होते हैं—वह पैसा लेकर मैथुन और भोजन करते हैं।—सैकड़ों आशाओंके पाशमें वे लोग आबद्ध होते हैं। लोगोंके पास जो कुछ देखते या सुनते हैं उससे ही आकृष्ट हो जाते हैं तथा मुझको भी वैसा ही क्योंकर हो, इस प्रकारकी चेष्टामें लग जाते हैं। यदि दैवात् आशा सफल नहीं हुई या किसी प्रकारका विघ्न घटित हुआ तो क्रोधसे आगबबूला हो जाते हैं। यहाँ तक कि आशा और लोभके वश आदमी की हत्या भी कर डालते हैं और नरकका मार्ग तैयार करते हैं। दूसरेका धन अपहरण करनेमें तथा देव और ब्राह्मणके द्रव्यादि बलपूर्वक ग्रहण करनेमें इनके मनको कोई दुविधा नहीं होती। मानो धन-संग्रह और उसके द्वारा कामोपभोग ही जीवनका एकमात्र उद्देश्य हो, इसलिए वे दुर्वृत्त लोग दूसरोंको ठगकर उनके धनादिको हड़प लेते हैं। वे इतने अधिक कामुक होते हैं कि पर-स्त्रीको भी बलपूर्वक ग्रहण करनेसे मुँह नहीं मोड़ते ॥ १२ ॥

(धनतृष्णा—लोभ)

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

अन्वय—अद्य (आज) इदं (यह) मया लब्धम् (मैंने प्राप्त किया) इमं मनोरथं (यह अभिलषित या इष्ट वस्तु) प्राप्स्ये (मैं प्राप्त करूँगा) इदं मे अस्ति (यह मेरा है) पुनः (फिर) इदं धनम् अपि (यह धन भी) भविष्यति (हो जायगा) ॥१३॥

श्रीधर—तेषां मनोरथं कथयन् नरकप्राप्तिमाह—इदमद्येति चतुर्भिः। प्राप्स्ये प्राप्स्यामि। मनोरथं—मनसः प्रियम्। स्पष्टमन्यत्। एतेषां च त्रयाणां श्लोकानां इति अज्ञान-विमोहिताः सन्तो नरके पतन्तीति चतुर्थेन अन्वयः ॥ १३ ॥

अनुवाद—[उनके मनोरथका वर्णन करके चार श्लोकोंमें उनकी नरक-प्राप्तिके बारेमें कहते हैं]—मैंने आज यह धन प्राप्त किया। अपनी यह अभिलषित वस्तु फिर प्राप्त करूँगा या मेरा यह मनोरथ सिद्ध होगा। मेरे पास यह धन है और भी इस प्रकार मुझे धन होगा ॥१३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आज २५) मिला, और भी ५०) पाऊँगा एक आदमी को मारकर—यह ७५) हुआ—और भी २५) पाऊँगा, क्या और २५) नहीं पाऊँगा ? उससे ही १००) हो जायगा।—आसुर प्रकृतिके लोगोंकी धनतृष्णा बड़ी प्रबल होती है। वे लोग मन ही मन सोचते हैं कि यह धन तो अब मिल गया, और भी इच्छानुसार कितना धन प्राप्त करूँगा ! अब मेरे पास इतना पैसा इकट्ठा हो गया। दूसरे वर्ष और भी

इतना मुझे प्राप्त होगा। और भी कुछ मिल जाने पर मेरा मनोरथ पूर्ण हो जायगा, मैं लखपती हो जाऊँगा, उससे लोगोंमें मेरा कितना मान होगा। क्या बाकी रुपया किसी प्रकार इकट्ठा न कर सकूँगा! किसी प्रकारसे इकट्ठा करना ही होगा। लोग चाहे मुझे जो कहें।

मनुष्यको नरकगामी बनानेमें इस धनैषणाके समान और कोई वस्तु नहीं है। धनमदसे मत्त व्यक्तिका हृदय इतना क्षुद्र हो जाता है कि अर्थके लिए वह पिशाचका भी अभिनय करनेसे मुँह नहीं मोड़ता। धन जैसा मनुष्यको मत्त करता है, वैसा दूसरी कोई वस्तु नहीं करती। धन मनुष्यके चित्तको पत्थरके समान बना देता है ॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥ १४ ॥

अन्वय—असौ शत्रुः (यह शत्रु) मया हतः (मेरे द्वारा मारा गया) अपरान् अपि च (और अन्य शत्रुओंको भी) हनिष्ये (मार डालूँगा) अहं ईश्वरः (मैं ईश्वर अर्थात् सबका नियन्ता या प्रभु हूँ) अहं भोगी (मैं भोगी हूँ) अहं सिद्धः (मैं सिद्ध या कृतकृत्य हूँ) बलवान् सुखी (मैं बलवान् और सुखी हूँ) ॥१४॥

श्रीधर—किञ्च—असौ इति। सिद्धः कृतकृत्यः। स्पष्टमन्यत् ॥१४॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—सिद्ध—कृतकृत्य। मैंने इस शत्रुका नाश किया है, दूसरे शत्रुओंका भी नाश करूँगा। मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं बलवान् हूँ और मैं ही एकमात्र सुखी हूँ, दूसरे लोग केवल पृथ्वीका भार बढ़ानेके लिए हैं ॥१४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस बार तो मैंने शत्रुको मार ही डाला—और भी जो शत्रु आयेगा उसको भी मार डालूँगा—मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ—मै सिद्ध हूँ, मैं ही बलवान्, सुखी हूँ।—वे लोग दूसरोंके सामने छाती तान कर कहते फिरते हैं कि मुझको कोई साधारण आदमी मत समझो! जानते हो अमुक आदमी कितना घमण्डी और धनवान् था, मैंने उसका घमण्ड चूर-चूर कर दिया है। जो मेरे पक्षमें न रहेगा उसका किसी प्रकारसे भी निस्तार नहीं है, उसका मैं सर्वनाश अवश्य ही कर डालूँगा! और जो अमुक अमुक मेरे शत्रु हैं, उनको मैं जूँके समान पीस कर मार डालूँगा। चाहे कोई कितनी ही चेष्टा करे, मेरा बाल बाँका नहीं कर सकता। क्या वे जानते हैं कि मेरी लाठीमें कितना बल है। मैं ही ईश्वर हूँ, और दूसरा कौन नियन्ता है, मैं जो करूँगा वही होगा। ऐसी मूल्यवान् भोग्य वस्तु दूसरे किसके पास है ? मैं इन सब वस्तुओंका भोग नित्य करता हूँ। अमुक लोग पत्ते चाटते फिरते हैं, उनके साथ मेरी तुलना! मैं सिद्ध पुरुष हूँ, मेरे सामने चालाकी नहीं चलेगी। अभी उनके ऊँचे महलको भूमिसात् कर डालूँगा। मेरी बुराई करना आसान नहीं है। देखते हो, मेरे विरुद्ध बात करनेसे उसका कैसा सर्वनाश हो गया! मेरी मन्त्रशक्तिका प्रभाव नहीं जानता! उसके भीठे पर हल चलवा दूँगा। मैंने अमुक आदमीका कैसा सर्वनाश कर डाला! मुझको पकड़ानेकी चेष्टा की थी, नहीं

जानता कि मेरी सिद्धिका क्या प्रभाव है। मुझको पकड़ने आयेगा तो मैं पक्षी बनकर आकाशमें उड़ जाऊँगा। मेरी दुनियाँ सुखकी दुनियाँ है। मेरे पास कितनी जमीन, घर-द्वार और जमींदारी है, मेरे घर पर कितने नौकर हैं, कितने लोग खाते हैं, मेरे लड़के-बच्चे सब हीरेके टुकड़े हैं। इतना तेज, इतना सुख और किसके भाग्यमें है इत्यादि ॥१४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अन्वय— मैं] आढ्यः (धनवान्) अभिजनवान् (कुलीन) अस्मि (हूँ) मया सदृशः (मेरे समान) अन्यः कः अस्ति (दूसरा कौन है) यक्ष्ये (मैं यज्ञ करूँगा) दास्यामि (दान करूँगा) मोदिष्ये (आनन्द करूँगा) इति (इस प्रकार) अज्ञानविमोहिताः (अज्ञानमें विमोहित) ॥१५॥

श्रीधर—किञ्च—आढ्य इति। आढ्यः धनादिसम्पन्नः। अभिजनवान् कुलीनः। यक्ष्ये यागाद्यनुष्ठानेनापि दीक्षितान्तरेभ्यः सकाशात् महतीं प्रतिष्ठां प्राप्स्यामि। दास्यामि स्तावकेभ्यः। मोदिष्ये—हर्षं प्राप्स्यामि इत्येवं अज्ञानेन विमोहिताः—मिथ्याभिनिवेशं प्रापिताः ॥१५॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—मैं धनादि सम्पन्न हूँ। अभि-जनवान् अर्थात् कुलीन हूँ। यक्ष्ये—यागादि अनुष्ठान द्वारा अन्य दीक्षित लोगोंकी अपेक्षा या उनके सन्निकट महती प्रतिष्ठा प्राप्त करूँगा। स्तुति करनेवाले नट आदिको दान करूँगा। मोदिष्ये—आमोद करूँगा, मौज करूँगा—इस प्रकार वे अज्ञानसे विमोहित होते हैं अर्थात् मिथ्याभिनिवेशको प्राप्त होते हैं ॥१५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैं सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ हूँ, मेरे पास बहुत लोग हैं, मेरे समान कोई नहीं है। इस प्रकार अज्ञानसे विमोहित होकर।—ये आसुर प्रकृतिके लोग दूसरोंके सामने कहते फिरते हैं कि धनमें, मानमें, कुलमें, शीलमें मेरे समान इस इलाकेमें और कोई नहीं है। मैं इतनी धूमधामके साथ यज्ञ करूँगा कि जिसे देखकर लोग अवाक् हो जायँगे। उनको कहना पड़ेगा कि ऐसा यज्ञ उन्होंने कहीं नहीं देखा। दीन-दुःखी ब्राह्मणोंको भी ऐसा दान पहले किसीने नहीं दिया। तब देखना, कितने आदमी मेरी खुशामद और स्तुतिगान करेंगे! मैं उनको भी प्रचुर धन दूँगा। मेरे यशसे सारा देश भर जायगा! बन्धु-बान्धवोंके साथ कितना आह्लाद, भोजन-पान चलेगा! इस प्रकार अज्ञान-विमोहित मूढ़ लोग नाना प्रकारके चिन्तन करते रहते हैं ॥१५॥

(मूढ़ अविवेकी लोगोंकी नरकगति)

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

अन्वय—अनेकचित्तविभ्रान्ता (नाना प्रकारकी कल्पनाओंमें विभ्रान्त-चित्त) मोहजालसमावृताः (मोहजालमें सम्बद्ध) कामभोगेषु प्रसक्ताः (विषयभोगमें अत्यन्त आसक्त) अशुचौ नरके (क्लेशमय या अपवित्र नरकमें) पतन्ति (गिरते हैं) ॥१६॥

श्रीधर—एवम्भूता यत्प्राप्नुवन्ति तच्छृणु—अनेकेति। अनेकेषु मनोरथेषु प्रवृत्तं चित्तं अनेकचित्तं, तेन विभ्रान्ताः—विक्षिप्ताः तेनैव मोहमयेन जालेन समावृताः—मत्स्या इव सूत्रमयेन जालेन यन्त्रिताः। एवं कामभोगेषु प्रसक्ताः—अभिनिविष्टाः सन्तः, अशुचौ—कल्मषे नरके पतन्ति ॥१६॥

अनुवाद—[इस प्रकारके लोगोंको जो फल प्राप्त होता है उसे सुनो]—अनेक-चित्त-विभ्रान्त—उनका अनेक मनोरथोंमें चित्त रहता है अतएव वे विक्षिप्त हैं। मोहजाल-समावृत—मत्स्य जैसे सूत्रमय जालमें यन्त्रित होती है उसी प्रकार मोहमय जालके द्वारा वे समावृत होते हैं। कामोपभोग-प्रसक्त—काम-भोगमें अभिनिविष्ट होकर वे क्लेशयुक्त नरकोंमें गिरते हैं ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—चित्तकी अनेक प्रकारकी भ्रान्ति और मोहजालमें आवृत होकर—काम और भोगमें आसक्त होकर नरकमें गिरते हैं अर्थात् दुःखी होते हैं।—उक्त प्रकारके लोगोंके चित्त नाना प्रकारके सङ्कल्पों द्वारा परिपूर्ण होते हैं। एक वस्तुमें उनका चित्त स्थिर नहीं रहता। जिनका चित्त ऐसा विक्षिप्त होता है उनके मनमें कोई सात्त्विक भाव नहीं आ सकता। वे लोग शिश्नोदर-परायण होकर केवल असच्चिन्तनमें ही कालक्षेप करते हैं तथा सर्वदा भ्रमजालमें जड़ित होकर अकल्याणकर कर्मोंमें आसक्त होते हैं। इस प्रकारका विषयासक्त चित्त मृत्युकालमें भी इन सब कुत्सित चिन्ताओंसे व्याप्त रहता है। अतएव घृणित संस्कारोंके वश नीच योनियोंमें जन्मग्रहण करके वे कृमिजालपूर्ण नरकोंमें गिरते हैं। कुकर्मासक्त मनुष्यके चित्तमें जो सङ्कल्प उठते हैं वे नरककी विष्ठाके समान हैं। ऐसी चिन्तामें जो सतत मग्न रहते हैं, उनको नरकवास ही होता है। मृत्युके बाद वे तदनुरूप योनिमें जन्म ग्रहण करते हैं। वहाँ आहार, निद्रा, भय और मैथुन इन चार प्रकारके कर्मोंके अतिरिक्त दूसरे कर्म नहीं रहते। इसकी अपेक्षा घोर क्लेशमय नरक और क्या हो सकता है ॥१६॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अन्वय—आत्मसंभाविताः (पूज्यताभिमानी, आत्मश्लाघाकारी) स्तब्धाः (अनम्र, अविनयी) धनमानमदान्विताः (धनके कारण अभिमान और मदसे युक्त) ते (वे) दम्भेन (दम्भके साथ) अविधिपूर्वकं (अविधिपूर्वक, मनमाने ढंगपर) नामयज्ञैः (नाममात्र यज्ञके द्वारा) यजन्ते (यजन करते हैं) ॥१७॥

श्रीधर—यक्ष्ये इति च यः तेषां मनोरथः उक्तः, स केवलं दम्भाहंकारादिप्रधान एव,न तु सात्त्विक इत्यभिप्रायेणाह—आत्मेति-द्वाभ्याम्। आत्मनैव सम्भाविताः पूज्यतां नीताः, न तु साधुभिः कैश्चित्। अतएव स्तब्धाः अनम्राः। धनेन यो मानो मदश्च ताभ्यां समन्विताः सन्तः। ते नाममात्रेण ये यज्ञाः ते नामयज्ञाः यद्वा 'दीक्षितः सोमयाजी' इत्येवमादिना नाममात्रप्रसिद्धये ये यज्ञाः तैः यजन्ते। कथम्? दम्भेन, न तु श्रद्धया। अविधिपूर्वकं च यथा भवति तथा ॥१७॥

अनुवाद—[यज्ञानुष्ठान द्वारा अन्य याजककी अपेक्षा महती प्रतिष्ठा प्राप्त करूँगा, यह जो उनका मनोरथ पहले कहा जा चुका है, वह केवल दम्भाहङ्कारप्रधान-मात्र है, वह सात्त्विक भाव नहीं है। उनका यह अभिप्राय दो श्लोकोंमें कहते हैं]—आत्मसम्भावित—अपनेसे पूज्यताको प्राप्त, परन्तु किसी सज्जनके द्वारा सम्भावित या पूज्य-रूपमें स्वीकृत नहीं, अतएव अनम्र। वे धनके कारण मान तथा मदयुक्त होकर नाममात्रके लिए यज्ञका अनुष्ठान करते हैं। दीक्षित या सोमयाजी इत्यादि उपाधि और प्रसिद्धिके लिए यज्ञका अनुष्ठान करते हैं। इसे वे दम्भके साथ करते हैं, श्रद्धा-पूर्वक नहीं। उनका यह यज्ञ अविधिपूर्वक होता है ॥१७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अपने पास जो कुछ है उसीसे घमण्ड करते हैं, तकियेके सहारे अकड़कर बैठे हैं, नाम और घमण्डके लिए कोई एक पूजा विशेषरूपसे मन स्थिर न करके करते हैं।—वे लोग आत्मसम्भावित होते हैं अर्थात् दूसरोंके द्वारा सम्मान प्राप्त न होने पर भी वे अपने ही अपना सम्मान करते हैं। परन्तु कोई सत्पुरुष उनको वैसा सन्मानका पात्र नहीं समझता। उनकी धारणा होती है कि उनके समान सर्वगुणयुक्त दूसरा कोई पृथिवी पर पैदा नहीं हुआ है। इसीसे तकियेके सहारे अकड़कर गम्भीर होकर बैठते हैं या तिलक-फटाका देकर गलेमें माला पहनकर आँखें बन्द करके बैठते हैं। इच्छा यह होती है कि सब आकर उनके पैरोंमें गिरें। ये लोग बड़े अविनयी होते हैं। यदि उनके मान-सम्मानमें तनिक भी त्रुटि हुई तो आगबबूला हो जाते हैं। उनके पास रुपया-पैसा होता है तो उसके कारण मान और मद उत्पन्न होता है। सहज ही वे किसीके सामने नत होना नहीं चाहते। यदि यज्ञ भी करते हैं तो वह भी आत्माभिमानसे पूर्ण होकर करते हैं। देवताके प्रति भी किसी प्रकारकी श्रद्धा नहीं होती, वेद-विधिके प्रति भी लक्ष्य नहीं होता और न भक्ति होती है। किसी प्रकार होनेसे ही हुआ! वे केवल नाममात्र यज्ञ करते हैं। शास्त्र-विहित भाव या श्रद्धान्वित होकर वे यज्ञ करना नहीं जानते। उनके यज्ञ केवल बाह्य आडम्बरसे युक्त होते हैं। अपनेको धार्मिक कहकर प्रसिद्ध करनेके लिए ही वे यज्ञ करते हैं। शास्त्रविहित पद्धतिका अवलम्बन न होनेके कारण यज्ञका यथार्थ फल भी नहीं मिलता। क्रिया करते हैं, जप करते हैं, सब नाम पैदा करनेके लिए। वे मन स्थिर करके किया नहीं करते, मनमें विशेष श्रद्धा न होनेके कारण क्रियाका फल जो स्थिरता है, वह भी नहीं प्राप्त कर सकते। आत्मयज्ञका यथार्थ उद्देश्य है अपने आपमें रहना, यह बात उनको अवगत नहीं होती। वे यशके लिए नाममात्रका यज्ञ करते हैं, अतएव सब कुछ अविधिपूर्वक होता है। अमुकका शिष्य कहलाकर परिचय देनेकी बड़ी इच्छा है, परन्तु मनमें यह नहीं होता कि गुरुकी आज्ञाके अनुसार क्रिया करते-चलें। केवल लोगोंको दिखलाने के लिए एक दलमें नाम शामिल करना-मात्र उद्देश्य होता है ॥१७॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अन्वय—अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः (अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधका आश्रय करके) [वे] आत्मपरदेहेषु (अपने और दूसरोंकी देहमें अवस्थित) मां (मुझको) प्रद्विषन्तः (द्वेष करके) अभ्यसूयकाः (असूयाकारी या दोषदर्शी होते हैं) ॥१८॥

श्रीधर—अविधिपूर्वकत्वमेव प्रपञ्चयति—अहङ्कारमिति। अहङ्कारादीन् संश्रिताः सन्तः आत्मपरदेहेषु—स्वदेहेषु परदेहेषु च चिदंशेन स्थितं मां प्रद्विषन्तो यजन्ते। दम्भयज्ञेषु श्रद्धया अभावात् आत्मनो वृथैव पीड़ा भवति। तथा पश्वादीनामपि अविधिना हिंसायां चैतन्यद्रोह एव अवशिष्यते इति प्रद्विषन्त इत्युक्तम्। अभ्यसूयकाः—सन्मार्गवर्तिनां गुणेषु दोषारोपकाः ॥१८॥

अनुवाद—[उनका यज्ञ कैसा अविधिपूर्वक होता है, यह विस्तृत रूपमें कहते हैं]—अहङ्कार, बल, दर्प आदिका आश्रय करके वे अपने और दूसरोंकी देहमें चिदंशरूपमें स्थित मुझसे द्वेष करते हुए यज्ञानुष्ठान करते हैं। दम्भयुक्त यज्ञमें श्रद्धाका अभाव होनेके कारण वे अपनेको व्यर्थ पीड़ा देते हैं। पशु आदिकी अवैध हिंसासे केवल चैतन्य-द्रोहका फल होता है। वे सन्मार्गवर्ती लोगोंके गुणोंमें दोषारोपण करनेवाले होते हैं ॥१८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध इनका आश्रय करके अन्य व्यक्तिके प्रति हिंसा करते हैं।—विद्यमान या अविद्यमान गुणोंको अपनेमें अध्यारोप करके वह सोचता है कि ये सब गुण मुझमें हैं—यही अहङ्कार है। इस अहङ्कारको ही अविद्या कहा गया है। अन्यान्य दोषोंकी अपेक्षा यह अहङ्कार-दोष सर्वाधिक क्लेशदायक है। सब प्रकारकी अनर्थकारी प्रवृत्तियों और दोषोंका यही मूल है। दर्प—जिसका उद्भव होनेपर लोग धर्मका अतिक्रम करते हैं उसे दर्प कहते हैं। काम—"स्त्री आदि भोग्य वस्तुओंके प्रति जो अभिलाषा होती है वही काम है"—शङ्कर।

'घट-घट विराजे राम'—प्रत्येक देहमें आत्माराम विराज रहे हैं। देहात्मवादी इस बातको न तो जानते हैं और न मानते हैं। इसीसे वे सर्वदेहमें अवस्थित, सर्व कर्मोंके साक्षी मुझ (आत्मा)को प्रिय बोध नहीं कर पाते, बल्कि विद्वेष करते हैं। वेद-शास्त्रादिमें भगवान्‌की जो आज्ञा है, उस आज्ञाकी अवज्ञा करके अवहेलना करते हैं। साधु-क्रियावान् लोग जो प्रतिदिन मेरे स्मरण-मनन द्वारा मेरे शरणापन्न होते हैं उसको ये विद्वेषकारी लोग सहन नहीं कर सकते। वे इन सन्त जनोंकी निन्दा करते फिरते हैं तथा अपने मद-मात्सर्यमें भूलकर सबको तुच्छ और नगण्य समझा करते हैं ॥१८॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

अन्वय—तान् (उन) द्विषतः (द्वेष करनेवाले) क्रूरान् (क्रूर) नराधमान् (नराधम) अशुभान् (अशुभ कर्म करनेवालोंको) संसारेषु (संसारमें)

आसुरीषु योनिषु एव (आसुरी योनियोंमें ही) अजस्रं (पुनः पुनः) क्षिपामि (डालता हूँ) ॥१६॥

श्रीधर—तेषां च कदाचित् अपि आसुरस्वभावप्रच्युतिः न भवति इत्याह—तानिति-द्वाभ्याम् । तान् अहं मां द्विषतः क्रूरान् संसारेषु जन्ममृत्युमार्गेषु तत्रापि असुरीष्वेव अतिक्रूरासु व्याघ्रसर्पादियोनिषु अजस्रं अनवरतं क्षिपामि—तेषां पापकर्मणां तादृशं फलं ददामीत्यर्थः ॥१६ ॥

अनुवाद—[उनका आसुर स्वभाव कभी दूर नहीं होता, यही दो श्लोकोंमें कह रहे हैं]—उन विद्वेषकारी क्रूरोंको जन्ममृत्यु-मार्ग अर्थात् संसारमें, पहलेसे भी अधिक आसुरी अर्थात् अतिक्रूर व्याघ्र सर्पादि योनियोंमें अनवरत डालता हूँ। उन पापकर्माओंको उनके पापोंके सदृश ही फल देता हूँ ॥१९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकारके क्रूर लोगोंको आसुरी जन्ममें डाल देता हूँ, जो मनुष्योंमें अधम हैं—म शब्दसे मणिबन्ध कूटस्थ, उससे नीचे जो रहता है अर्थात् कूटस्थमें जो नहीं रहता वह अधम है !! भगवान्ने दशम अध्यायमें कहा है—"अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः"—मैं सर्व भूतोंके आशयमें अर्थात् अन्तःकरणमें आत्मारूपसे अवस्थित हूँ। इसलिए यह 'अहं' ही कूटस्थ चैतन्य या क्षेत्रज्ञ पुरुष हैं। उनको न कोई द्वेष्य है न प्रिय, फिर वे क्रूरकर्माको आसुरी योनिमें क्यों डालते हैं ? उनके द्वेष्य-प्रिय कोई नहीं हैं सही, परन्तु वह कर्मफलके विधाता हैं। जीव अपने-अपने कर्मोंके अनुसार फलभोग करता है। इस फलका विधान करनेवाले वही हैं। अपने-अपने किये कर्मोंका फलभोग सबको ही करना पड़ता है। अचेतन कर्म फल न दे सकता, यदि कर्मके साथ कर्मफलका संयोग कर देनेके लिए कोई चेतन कर्त्ता न होता। वह मनुष्यके समान रागद्वेषके अधीन होकर दण्डविधान करते हों, ऐसी बात नहीं है। उनकी सत्ताके प्रभावसे ही कर्म-समूह फलोत्पादन करते हैं तथा जीवगण कर्मानुरूप फलभोग करते हैं। अन्यथा भगवान्को कोई द्वेष्य और कोई प्रिय नहीं हो सकता। वह सर्वत्र ही समान हैं। फिर दुष्टोंको वह आसुरी योनिमें क्यों डालते हैं। इसका कारण यह है कि जो साधु प्रकृतिके लोग हैं उनका मन आज्ञाचक्रमें और उससे ऊर्ध्वमें रहता है तथा आसुर प्रकृतिके लोगोंका चित्त आज्ञाचक्रसे नीचे रहता है। अतएव ऐसे लोग आसक्तिके साथ कर्म करके अपने आप अधोगतिको प्राप्त होते हैं। जो आज्ञाचक्रमें, कूटस्थमें नहीं रहते वे ही अधम हैं। उन लोगोंकी इस प्रकारकी अधम मनोवृत्ति होनेके कारण मृत्युकालमें भी वे उच्च भावसे भावित नहीं होते। इसी कारण चित्तकी वृत्तियोंके अनुरूप उनको अधम देहकी प्राप्ति होती है। कौन किस प्रकारके कर्मसे कैसा फलभोग करेगा अथवा परजन्ममें कैसी गति होगी, ईश्वरकी सर्व-नियन्तृत्व-शक्ति ही इसका नियामक है। यह कैसे होता है, इस विषयमें भगवान्ने गीता अ० १५ के १५वें श्लोक में स्वयं कहा है—

"सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च।"

सब प्राणियोंकी बुद्धिवृत्तिमें अन्तर्यामीरूपसे मैं अधिष्ठित हूँ। मुझसे ही पूर्वानुभूत विषयजनित स्मृति, विषयेन्द्रिय-संयोग-जनित ज्ञान तथा इन दोनोंका विलोप साधित होता है। अतएव उनके स्वयं कुछ न करने पर भी उनका अस्तित्व ही देवता, मनुष्य तथा अन्यान्य जीवोंको स्व-स्व-कर्ममें नियन्त्रित करता है। भगवान्के इस विराट् शासनके अन्तर्गत सभी हैं, देवता भी इसको अन्यथा नहीं कर सकते। उस पारमेश्वरी नियमके वशमें होकर ही जीवके कर्म अनुरूप फलोत्पादनमें समर्थ होते हैं। भगवान्को द्वेष्य या प्रिय कोई नहीं है, फलभोग करता है जीव अपने कर्मोंके अनुसार। यह नियम-शृंखला न रहती तो यह विराट् जगत् कैसे चलता। ईश्वरेच्छासे ही प्रकृतिके नियम दुर्लङ्घ्य हैं। जो जैसा कर्म और चिन्तन करता है, उसका मनोभाव मृत्युके समय भी तदनुरूप ही रहता है तथा उस मनोभावके अनुसार उसको उच्च या नीच योनिमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है। छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है—"अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा" (५-१०-७)—दूसरी ओर अनुशयी लोगोंमें अर्थात् चन्द्रमण्डलसे लौटने वाले जीवोंमें जो अशुभकर्मा हैं वे भी अविलम्ब अपने कर्मके अनुसार कुत्सित योनिको प्राप्त होते हैं—कुकुर, शूकर या चण्डाल योनिमें जाते हैं। जो लोग क्रिया करके देहातीत या प्रकृतिके अतीत क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त होते हैं, वे देहाभिमान न होनेके कारण देहजनित कर्ममें आबद्ध नहीं होते। होने पर भी देहातीत अवस्थामें देहका फलभोग वे समझ नहीं पाते। इसलिए मन जिससे आज्ञाचक्रमें या उससे ऊर्ध्वमें रह सके तदनुरूप साधनका अभ्यास करना आवश्यक है। जिनका मन आज्ञाचक्रके नीचे रहता है, वे आसक्तिके साथ कर्म करके द्वेष और क्रूर बुद्धि-सम्पन्न होकर वारंवार अशुभ कर्म करते रहते हैं। उसके फलसे वे क्रूर और नीच योनिमें आकर जन्म ग्रहण करते हैं॥१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) मूढ़ाः (मूढ़ लोग) जन्मनि जन्मनि (जन्म जन्ममें) आसुरीं योनिं (आसुरी योनिको) आपन्नाः (प्राप्त होकर) माम् (मुझको) अप्राप्य एव (न पाकर) ततः (तदपेक्षा भी) अधमां गतिं यान्ति (अधम गतिको प्राप्त होते हैं)॥ २०॥

श्रीधर—किञ्च—आसुरीमिति। ते च माम् अप्राप्यैव इति एवकारेण मत्प्राप्ति-शङ्कापि कुतस्तेषाम्? मत्प्राप्त्युपायं सन्मार्गं अप्राप्य ततोऽपि अधमां कृमिकीटादिगतिं यान्ति इत्युक्तम्। शेषं स्पष्टम्॥२०॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—उनको मत्प्राप्तिकी सम्भावना कहाँसे हो सकती है, क्योंकि मत्प्राप्तिके उपाय-रूप सन्मार्गको प्राप्त न करके वे वर्त्तमानसे भी अधम कृमिकीटादिकी गतिको प्राप्त होते हैं॥२०॥

आध्यात्मिक व्याख्या— इस प्रकार आसुरी जन्म लेते लेते पश्चात् डोम-चमार होते हैं।—पूर्व जन्मके संस्कारके वश वे लोग इस जन्ममें भी दुष्ट कार्य करनेमें प्रवृत्त होते हैं। उसके फलस्वरूप उनकी प्रकृति अत्यन्त दूषित हो जाती है और दूषित प्रकृतिसे सत्कर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती। जन्म-जन्मान्तरसे ऐसे नीच कर्मोंको करते करते अन्तमें उनका डोम-चमारके घर जन्म होता है। चित्तशुद्धिके अभावमें भगवत्प्राप्तिका मार्ग उनको ज्ञात नहीं होता, जानने पर भी उसको वे ग्रहण नहीं करते, बल्कि उपहास करते हैं, इन सब कारणोंसे वे साधु मार्गको प्राप्त नहीं होते। आत्मक्रियामें उनको आस्था नहीं होती, अतएव उसको करना वे अनावश्यक समझते हैं। जिससे बुद्धि अच्छी होती है, भगवन्मुखी होती है, उस ओर इनकी कोई चेष्टा नहीं होती। इस प्रकार उनकी दूषित प्रकृतिका भी संशोधन नहीं होता। स्वेच्छाहार-विहारी होकर वे आसुरी सम्पद्का त्याग नहीं कर सकते, अतएव उच्च कुलमें या उच्च योनिमें जन्म ग्रहण कर चित्त शुद्ध करनेका सामर्थ्य नहीं होता। इस प्रकार उनके अनेक जन्म नष्ट हो जाते हैं, बारंबार गर्भवासका क्लेश उठाना पड़ता है। जीवकी यह कैसी विपज्जनक अवस्था है, इसको वह तनिक भी विचार करके देखे तो उसका प्राण दैवी सम्पद्की प्राप्तिके लिए व्याकुल हुए बिना न रहे ॥२०॥

(नरकके त्रिविध द्वार)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

अन्वय—कामः क्रोधः तथा लोभः (काम, क्रोध और लोभ) इदं त्रिविधं (ये तीन प्रकारके) नरकस्य द्वारं (नरकके द्वार हैं) आत्मनः नाशनं (आत्माके नाशक हैं), तस्मात् (अतएव) एतत् त्रयं (इन तीनोंको) त्यजेत् (त्याग करे) ॥२१॥

श्रीधर—उक्तानां आसुरदोषाणां मध्ये सकलदोषमूलभूतं दोषत्रयं सर्वथा वर्जनीयं इत्याह—त्रिविधमिति। कामः क्रोधो लोभश्च इति इदं त्रिविधं नरकस्य द्वारं अतएव आत्मनो नाशनं—नीचयोनिप्रापकम्। तस्मात् एतत् त्रयं सर्वात्मना त्यजेत् ॥२१॥

अनुवाद—[उपर्युक्त आसुर दोषोंकी जड़ जो तीन दोष हैं, वे सर्वथा परित्याज्य हैं, यह बतलाते हैं]—काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरकके द्वार हैं, अतएव "आत्मनाशन" अर्थात् नीचयोनिको पहुँचाने वाले हैं। इसलिए इन तीनोंका सर्वथा त्याग करे ॥ २१ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—काम, क्रोध और लोभ, इन तीनोंमें रहनेसे ही आत्मामें रहना नहीं होता, इसलिए इनका त्याग करना उचित है—त्याग शब्दका अर्थ है फलाकाङ्क्षारहित्य।—आसुरी सम्पद्के असंख्य प्रकार होने पर भी काम, क्रोध और लोभ ये तीन ही मुख्य हैं। इन तीनोंका त्याग करने पर आसुरी सम्पद्का परिहार हो सकता है। ये आत्मज्ञानके नाशक हैं। इन तीन वृत्तियों द्वारा आत्मज्ञान आच्छादित रहता है। जो आत्मज्ञानहीन हैं, उनको नीचयोनि प्राप्त होती है। इन

तीनोंमें जो मग्न रहते हैं, उनका आत्मामें रहना नहीं होता। मस्तिष्कमें किसी ज्योतिका प्रकाश नहीं होता। अतएव मुमुक्षु साधकके लिए विशेष चेष्टा करके इन तीनोंका त्याग करना आवश्यक है। फलाकाङ्क्षारहित होना ही यथार्थ त्याग है। परन्तु क्रियाकी परावस्थाके बिना फलाकाङ्क्षाका त्याग नहीं होता। फलाकाङ्क्षाहीन साधकको सदसत् किसी भी कर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती। स्वभावतः जब जिस भावका उदय होता है, तदनुरूप कर्मचेष्टा होती है। परन्तु जो मुमुक्षु हैं, उनको इन तीनोंके ऊपर विशेष लक्ष्य रखनेकी आवश्यकता है। आचार्य शङ्कर कहते हैं—"नरकप्राप्तिके ये तीन द्वार हैं, इन द्वारोंसे प्रविष्ट होने पर आत्मा नाशको प्राप्त होता है अर्थात् दूसरे किसी पुरुषार्थके योग्य नहीं रह सकता। इन तीनोंमें जो डूबे रहते हैं, उनके लिए मोक्षका मार्ग अवरुद्ध रहता है। इन तीनोंमें आसक्ति रहने पर इच्छा होनेसे भी मोक्षमार्गमें जानेका कोई उपाय नहीं है। इसलिए मुक्तिमार्गमें जानेकी इच्छा करनेवाले पुरुषके लिए इन तीनोंके संयममें विशेष लक्ष्य रखनेकी आवश्यकता है॥ २१॥

(काममुक्त पुरुषका श्रेयःसाधनमें सामर्थ्य)

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय !) एतैः त्रिभिः (इन तीन) तमोद्वारैः (नरकके द्वारोंसे) विमुक्तः (मुक्त होकर) नरः (मनुष्य) आत्मनः श्रेयः (अपना कल्याण) आचरति (साधन करता है) ततः (उससे) परां गतिं याति (परम गतिको प्राप्त होता है)॥ २२॥

श्रीधर—त्यागे च विशिष्टं फलमाह—एतैरिति। तमसः नरकस्य द्वारभूतैः एतैः त्रिभिः कामादिभिः विमुक्तो नरः आत्मनः श्रेयःसाधनं—तपोयोगादिकम् आचरति। ततश्च मोक्षं प्राप्नोति॥ २२॥

अनुवाद—[दोषत्रयके त्यागका विशेष फल कहते हैं]—'तमसः' अर्थात् नरकके द्वारस्वरूप जो कामादि दोषत्रय हैं, उनसे विमुक्त मनुष्य आत्माके श्रेयःसाधक तप-योग आदिका आचरण करता है, तदनन्तर मोक्षको प्राप्त होता है॥ २२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इन तीनोंको छोड़कर आत्मामें सर्वदा रहते हुए गुरु-वाक्यके द्वारा क्रिया करके उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है।—चित्त उपद्रवशून्य हुए बिना कोई श्रेयःसाधनमें कृतकार्य नहीं होता। काम, क्रोध और लोभके प्राबल्यके कारण मनुष्य अपने श्रेय आचरणसे वञ्चित होता है। जो इन त्रिविध उपद्रवोंसे मुक्त हैं, उनको ही मुक्ति प्राप्त होती है। देह-इन्द्रिय आदिके विषयोंकी ओर गति होने पर नरकका मार्ग प्रशस्त होता है। देह-इन्द्रिय आदिके साथ मिलकर मन कामलोभादिकी वासनाको चरितार्थ करता है। जो लोग काम-लोभादिका ही उपभोग करना चाहते हैं, उनकी दृष्टि विषयोंकी सीमा अतिक्रमण नहीं कर सकती। उनके प्राणकी गति बराबर इड़ा-पिङ्गलामें ही प्रवाहित होती रहती है, अतएव चित्त विशेषरूपसे बहिर्मुख

हो जाता है। इससे केवल त्रितापकी ज्वाला उठकर मानवको दुःखके सागरमें निमज्जित कर देती है। देहेन्द्रियके यन्त्रको चलाती हैं प्राणादि वायु। उनके ही विशेष विशेष प्रवाहसे ये काम-क्रोध-लोभादि समुद्भूत होते हैं। अतएव प्राणको शान्त किये बिना इस रिपुत्रयके हाथसे छुटकारा नहीं मिल सकता। सद्गुरुके उपदेशके अनुसार प्राण-क्रिया करने पर प्राणकी गति इड़ा-पिङ्गलासे लौटकर सुषुम्नामें प्रवेश करती है। सुषुम्नामें प्राणकी गति होने पर परा गतिकी प्राप्ति होती है अर्थात् सहस्रारमें स्थिति होती है। यही जीवकी सर्वोत्तम गति है। उस समय काम-क्रोध-लोभ आदिको दूर करनेकी चेष्टा नहीं करनी पड़ती। वे प्राणकी स्थिरताके साथ-साथ स्वयं निर्वापित हो जाते हैं ॥२२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

अन्वय—यः (जो आदमी) शास्त्रविधिं उत्सृज्य (शास्त्रविधिका त्याग कर) कामकारतः (स्वेच्छानुसार) वर्त्तते (कर्ममें प्रवृत्त होता है) सः (वह आदमी) सिद्धिं (सिद्धि) न अवाप्नोति (प्राप्त नहीं कर सकता) न सुखं न परां गतिम् (न सुख, न परा गतिको ही प्राप्त होता है) ॥२३॥

श्रीधर—कामादित्यागश्च स्वधर्माचरणं विना न सम्भवतीत्याह—य इति। शास्त्रविधिं —वेदविहितं धर्मं उत्सृज्य, यः कामकारतः—यथेच्छं वर्त्तते, स सिद्धिं—तत्त्वज्ञानं न प्राप्नोति, न च सुखं—उपशमं, न च परां गतिं—मोक्षं प्राप्नोति ॥२३॥

अनुवाद—[कामादिका त्याग स्वधर्माचरणके विना नहीं हो सकता, यह कह रहे हैं]—जो आदमी वेदविहित धर्मका परित्याग कर यथेच्छ भावसे रहता है अर्थात् स्वेच्छाचारका अनुवर्ती होकर कर्ममें प्रवृत्त होता है, वह तत्त्वज्ञानको प्राप्त नहीं होता। सुख अर्थात् उपशम तथा परा गति अर्थात् मुक्तिको वह प्राप्त नहीं होता ॥२३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शास्त्रकी विधि अर्थात् क्रियाके द्वारा विशेष रूपमें स्थिति न होकर फलाकाङ्क्षाके साथ जो कर्म करता है उसको सिद्धि नहीं होती—सुख और परम गतिकी प्राप्ति नहीं होती—परम गति अर्थात् स्थिति।—शास्त्र क्या है? शास्त्र कहनेसे वेदका ही बोध होता है। वेदानुगत स्मृति और पुराणको भी शास्त्र कहते हैं। स्मृति-पुराण यदि कहीं वेदविरुद्ध होते हैं तो उनका प्रामाण्य पण्डित लोग स्वीकार नहीं करते। जो अज्ञात वस्तु है, शास्त्र उसका ज्ञापक है। जिस वस्तुकी सत्ता है परन्तु हम उसे नहीं जानते, उसके साथ शास्त्र ही हमारा परिचय कराता है। उस अज्ञात वस्तुको जाननेके लिए कुछ विशेष विधि या साधना है, उस विधिका बोधक भी शास्त्र या वेद होता है। वह विधि अपूर्व, नियम और परिसंख्या भेदसे तीन प्रकारकी होती है। अज्ञात विषयका उपदेश ही 'अपूर्व विधि' है जैसे "स्वर्गकामी पुरुष अग्निहोत्र करे" अथवा "प्रतिदिन सन्ध्या करे"। अग्निहोत्रके अनुष्ठानसे जो स्वर्ग प्राप्त होता है,

उससे हम अवगत नहीं है, परन्तु हम उसको मानकर चलते हैं इसीलिए कि वह वेदका उपदेश है। यह उपदेश ही 'अपूर्व' है। पुनः जो आंशिक रूपमें अज्ञात है और आंशिक ज्ञात है, वह 'नियम' कहलाता है। जिस प्रकार धानका छिलका हटाने पर चावल होता है यह हम लोग जानते हैं, धानको छिलका-रहित करनेके अनेक उपाय हैं, उनमेंसे ऊखलमें कूट कर जो चावल निकलेगा उसीसे यज्ञ करना होगा, यह जो आंशिक अज्ञात विधि है इसीको 'नियम' कहते हैं। स्वभावतः मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार अनेक विषयोंमें अनुरक्त होता है जैसे, पशुमांस-भक्षण इत्यादि। परन्तु शास्त्रका उपदेश है कि 'पञ्चनख' प्राणीके सिवा अन्य पशुका मांस न खाओ—इस विधिका नाम 'परिसंख्या' है। वेदोक्त कर्म या उपासना इन तीन प्रकारकी विधियोंके द्वारा शासित हैं। वेदमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड हैं। कर्मकाण्डकी विधिके अनुसार कर्म करके लोग स्वर्गादि उच्च लोकको प्राप्त होते हैं। ज्ञानकांड-का फल और ही प्रकारका है। वह अलौकिक ज्ञान है, इसके द्वारा जीवको निःश्रेयस अर्थात् मुक्तिकी प्राप्ति होती है। इसलिए वेद सर्व पथका प्रदर्शक है। वेदके बिना जीवको मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। इसीसे दुर्गासप्तशतीमें कहा है—

शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधान-
मुद्गीतरम्यपद-पाठवताञ्च साम्नाम्।
देवी त्रयी भगवती भवभावनाय
वार्त्ता च सर्वजगतां परमार्त्तिहन्त्री॥

हे देवि ! तुम शब्द-ब्रह्मरूपा हो, तुम विशुद्ध ज्ञानप्रद ऋग् और यजुर्वेदके आश्रय हो, तुम उदात्तादि स्वरयोगमें रमणीय पदयुक्त सामवेदका भी आश्रय हो, अतएव तुम त्रयी अर्थात् वेदरूपा हो। तुम सर्वार्थ-प्रकाशिका हो, तुम्हीं सर्वैश्वर्ययुक्ता हो, तुम संसार-प्रवाहकी रक्षाके लिए कृषिवाणिज्यादि वृत्तिरूपा हो। तुम निखिल जगत्की परम दुःख-नाशिनी हो।

इसलिए जो लोग शुभ कर्म नहीं करते या करके भी शास्त्रविधिका उल्लङ्घन कर स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त होते हैं, उनको सिद्धि, सुख या मोक्ष कुछ भी प्राप्त नहीं होता। परन्तु शास्त्र असंख्य हैं, उनमें विधि भी अनन्त हैं, अतएव सब लोग सब शास्त्रोंको मानकर चलेंगे, इसकी सम्भावना कहाँ है। शास्त्रोंमें विधि-निषेध इतना अधिक है और वे परस्पर इतने विरुद्धभावापन्न हैं कि उनको मान कर चलना किसीके लिए संभव नहीं जान पड़ता। क्योंकि सब विधियाँ सदा सबके लिए नहीं होतीं। किसके लिए कब कौन विधि सुसङ्गत होगी, यह बतलानेके लिए भी शास्त्रमें अगाध ज्ञान होना आवश्यक है। केवल शास्त्रज्ञान होनेसे ही काम न चलेगा। जिज्ञासुके लिए कौन विधि युक्तियुक्त है, यह समझनेके लिए यथेष्ट मेधाकी आवश्यकता है। परन्तु यह सबको नहीं होती। केवल मेधामात्र रहनेसे काम न चलेगा, यह मेधा "विदिताखिल-शास्त्रसारा" होनी चाहिए। इसके द्वारा सब शास्त्रोंके सारभूत ब्रह्मको जान सकते हैं। साधकको बहुत साधनाके फलस्वरूप जो सिद्धि प्राप्त होती है, उस साधन-सिद्धिके हुए बिना कोई कैसे बतला सकता है कि किसके लिए कौन साधना उपयोगी है। अतएव

बाह्य रूपमें केवल शास्त्रानुशीलनसे काम न चलेगा। बहुत शास्त्राभ्यास और बहुत शास्त्रालोचनाका निषेध भी किया गया है। इसीलिए भगवान् कहते हैं—"शब्दब्रह्मणि निष्णातः न निष्णीयात् परे यदि। श्रमस्तस्य वृथा ज्ञेयः ह्यधेनुमिव रक्षतः।" जो शास्त्रमें अभिज्ञ हैं, परन्तु परनिष्णात नहीं हैं अर्थात् परब्रह्मका ध्यान-धारणा आदि नहीं करते, उनका शास्त्रपाठ केवल श्रममात्र है जैसे वन्ध्या गायको पालन करने वालेका श्रम व्यर्थ हो जाता है। इसीसे—

अनन्तशास्त्रं बहु वेदितव्यं स्वल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः।
यत्सारभूतं तदुपासितव्यं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रम्॥

शास्त्र अनेक हैं, ज्ञातव्य विषय भी बहुत हैं, परन्तु आयु स्वल्प है और विघ्न बहुत हैं, अतएव जो सारभूत है वही उपासितव्य है। जैसे हंस जलमिश्रित दुग्धका सारभाग ग्रहण करता है, उसी प्रकार शास्त्रसे सारभाग लेना चाहिए। यद्यपि आत्मतत्त्व सुविज्ञेय नहीं है, शास्त्रानुसार ही उसका अनुसन्धान करना होगा, परन्तु स्वेच्छाचारसे शास्त्रानुशीलन भी विशेष हानि करता है। किन्तु आजकल हम इसे नहीं मानते। इस श्लोकका बाह्य अर्थ भी अतिशय उपादेय है, परन्तु इसके भीतर जो एक आध्यात्मिक तत्त्व है उसकी विवेचना की जाती है।

शास्त्रका अर्थ है वेद तथा वेदका अर्थ है ज्ञान। वेद अपौरुषेय है, पुरुषकी चेष्टाके फलसे ज्ञान नहीं होता। ज्ञान नित्य सिद्ध वस्तु है। जैसे स्वतः प्रकाशित सूर्यका सामयिक आवरक मेघ है, उसी प्रकार नित्य सिद्ध ज्ञान-वस्तुका सामयिक आवरक अज्ञान है। यह अज्ञान आत्मदृष्टिका अभाव सूचित करता है। आत्मदृष्टिके अभावसे हमको भ्रम उत्पन्न होता है। आत्मदृष्टिसम्पन्न होने पर वह भ्रम नहीं रहता। जो सत्य नहीं, उसको सत्य मानकर ग्रहण करना भ्रम है। जो वस्तु जैसी है उसको वैसा न मानकर अन्य वस्तु समझना ही भ्रम है। आत्मदृष्टिके अभावके वश यह भ्रम हमको सर्वदा हो रहा है। परन्तु हमारे भ्रमके कारण सत्य वस्तुमें कोई विकार घटित होता हो, ऐसी बात नहीं है। जैसे रज्जुमें सर्पभ्रम होने पर भी रज्जु रज्जु ही रहती है, उसी प्रकार नित्य सत्य ब्रह्मवस्तुमें जगदादि असद्वस्तुका भ्रम होने पर भी, जो स्वतः सिद्ध सत्य है उसके सत्य रूपमें कभी कोई व्यभिचार नहीं होता। अतएव हम समझें या न समझें, आत्माके स्वरूपमें कोई विकार नहीं होता, वह सर्वदा ही एकरूप रहता है। इस एकत्वका दर्शन सबको नहीं होता, क्योंकि सूर्यके अङ्कमें मेघके समान, सत्यज्ञानके अङ्कमें कुछ आवरण पड़ जाता है। यह आवरण ही अज्ञानका जनक है। आवरणके दूर हो जाने पर हम सूर्यके स्वतः प्रकाशका अनुभव कर पाते हैं। परन्तु हमारे जाननेके पहले भी उसके स्वतः प्रकाशमें कोई व्यतिक्रम नहीं होता। इसलिए पुरुषकी चेष्टाके फलसे ही ज्ञान समुत्पन्न होता हो ऐसी बात नहीं है, पुरुषकी चेष्टाके फलसे केवल ज्ञानका आवरण-मात्र दूर होता है। यह ज्ञानका आवरण ही प्रकृति या क्षेत्र है। मन इस प्रकृतिमें जबतक रहता है, तबतक वह विषयोंका अनुभव करता है, नानात्व देखता है, जन्म-मृत्युकी क्रीड़ा देखता है, ज्ञान ढँका रह जाता है।

उस ज्ञानकी प्राप्ति करनेके लिए शास्त्रका अनुशीलन करना पड़ता है। शास्त्रका अर्थ है शासन या आज्ञा। किसके शासनमें यह शरीर-यन्त्र चल रहा है? "वायुर्धाता शरीरिणाम्"—वायु ही इस शरीरका विधाता या शासक है। वायुके बलसे ही ये इन्द्रिय, मन, बुद्धि या समस्त प्रकृतिके कार्य परिचालित हो रहे हैं। सब वायुओंमें प्राण मुख्य है। इस प्राणके नियंत्रणमें ही सब कार्य हो रहे हैं। अतएव वायु शरीरका शास्ता या शास्त्र है। इस शास्ताके शरणागत होकर चलनेसे ही सारी प्रकृति उसके अधीन हो जाती है। तब वह प्रकृतिके अधीश्वर पुरुषको भी अवगत हो सकता है। इस प्रकृति-पुरुषसे अवगत होकर जीव जन्म-मरणसे रहित हो जाता है। अतएव तैत्तिरीय उपनिषदमें लिखा है—"नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।" यह वायु ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है, हे वायो! तुमको नमस्कार। "प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति"—इस देहरूप पुरमें प्राणरूपी अग्नित्रय सर्वदा जागरित रहते हैं। प्रजापतिने कहा है कि यज्ञके साथ सारी प्रजा सृष्ट हुई है। यह प्राणयज्ञ ही वह यज्ञ है। यज्ञ करनेसे ही आत्मोन्नतिकी प्राप्ति होती है। यही सबको अभीष्ट भोग प्रदान करता है।

यह वायु सचञ्चल होकर मनको उत्पन्न करती है। मनके द्वारा विषयभोग होता है। यह वायु जब स्थिर होती है तो मन प्राणके साथ मिलकर एक हो जाता है, तभी ब्रह्मदर्शन होता है। प्राणायामके द्वारा इस वायुके वशीभूत होने पर अपरोक्षानुभूति होती है। इस वायुकी साधना ही ज्ञातव्य वस्तु है। प्रश्नोपनिषद्में ऋषिने इस विषयकी विस्तृत आलोचना की है। वायु सबका शासक है, अतएव इसकी क्रिया-सम्बन्धी जो नियम या विधियाँ हैं, उनका ही नाम है शास्त्र-विधि। इस वायुकी क्रियाको ही ब्रह्मविद्या कहते हैं। क्रिया द्वारा मूलाधारसे सहस्रार पर्यन्त चैतन्यप्राप्त होने पर ही वेदज्ञान होता है। यह वेदज्ञान पूर्ण हो जाने पर साधक वेदातीत चरम ज्ञानको प्राप्त करता है। तब द्वितीय अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनको क्यों कहा कि "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" अर्थात् वेद त्रिगुणात्मक हैं, तुम गुणातीत बनो। इस वाक्यमें वेदकी अवहेलना करनेके लिए नहीं कहा गया है (द्वितीय अध्यायके श्लोक ४५ की व्याख्या देखो)। वेदविधिके द्वारा ही वस्तुतः निस्त्रैगुण्य अवस्था प्राप्त की जाती है। वेदविधि है—मेरुदण्डके भीतर षट्चक्रकी क्रिया। ज्ञानके द्वारा ज्ञेयको जान लेने पर जैसे फिर ज्ञानका प्रयोजन नहीं होता, उसी प्रकार षट्चक्रमें प्राणायामादिकी क्रिया करने पर अन्तमें जो विशेष स्थिति प्राप्त होती है, उस गुणातीत अवस्थाकी प्राप्तिके बाद फिर क्रियाकी आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए आरम्भमें शास्त्रविधिका त्याग कर स्वेच्छाचारी होनेका निषेध किया गया है। मनको षट्चक्रमें न रखकर बाहरकी वस्तुओंमें रखना ही शास्त्रविधिका उल्लङ्घन है। सहस्रारमें प्राणकी स्थिति होने पर क्रियाका अन्त होता है। इसलिए षट्चक्रकी क्रिया ही वेदका कर्मकाण्ड तथा सहस्रारमें स्थिति ही ज्ञानकाण्ड है। "ज्ञाने परिसमाप्यते"—ज्ञानमें समस्त समाप्त होता है। इस विशेष स्थितिके द्वारा ही मनका चाञ्चल्य तिरोहित होता है, मन परम शान्त होकर परमानन्दरूप आत्मामें चिर दिनके लिए

निमग्न हो जाता है। क्रिया पहले इड़ा-पिङ्गलामें ही आरम्भ करनी पड़ती है, क्योंकि वही उस समय प्रत्यक्ष होती है। क्रिया करते करते इड़ा-पिङ्गलामें कार्य बन्द होकर सुषुम्नामें कार्य होने लगता है। सुषुम्नामें प्राण-वायुका प्रवाह चलने पर ही निर्मल सत्त्वगुणका आविर्भाव होता है। पश्चात् साधक गुणातीत हो जाता है। जो क्रिया नहीं करता, उसकी इड़ा-पिङ्गलाकी गति शुद्ध नहीं होती, अतएव परमा स्थिति लाभ न होनेसे उसको यथार्थ सुख या परम गति (निर्वाण-मोक्ष) की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥२३॥

(शास्त्र कार्य्याकार्यका प्रमाण है)

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोड़शोऽध्यायः ॥

अन्वय—तस्मात् (इस कारण) कार्याकार्यव्यवस्थितौ (कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यके निरूपणमें) शास्त्रं ते प्रमाणम् (शास्त्र ही तुम्हारा प्रमाण है) [अतएव] इह (कर्माधिकारमें वर्त्तमान रहकर) शास्त्रविधानोक्तं (शास्त्र जो विधान बतलाता है उसको) ज्ञात्वा (जानकर) कर्म कर्तुं (कर्म करनेमें) अर्हसि (योग्य बनो) ॥२४॥

श्रीधर—फलितमाह—तस्मादिति। इदं कार्यं इदं अकार्यं—इति अस्यां व्यवस्थायां ते—तव, शास्त्रं—श्रुतिस्मृतिपुराणादिकमेव प्रमाणम्। अतः शास्त्रविधानोक्तं कर्म ज्ञात्वा इह—कर्माधिकारे वर्त्तमानः यथाधिकारं कर्म कर्त्तुं अर्हसि, तन्मूलत्वात् सत्त्वशुद्धिसम्यग्ज्ञानमुक्तीनाम् इत्यर्थः ॥२४॥

देवदैतेयसम्पत्तिसंविभागेन षोड़शे।
तत्त्वज्ञानेऽधिकारस्तु सात्त्विकस्येति दर्शितम् ॥

इति श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोड़शोऽध्यायः ॥

अनुवाद—[फलितार्थ कह रहे हैं]—क्या कार्य है और क्या अकार्य है यह निरूपण करनेके लिए श्रुति-स्मृति-पुराणादि शास्त्र ही तुम्हारे प्रमाण हैं। अतएव शास्त्रविधानोक्त कर्मोंसे अवगत होकर तुमको यथाधिकार कर्म करना ही ठीक है क्योंकि सत्त्वशुद्धि, सम्यग् ज्ञान और मुक्तिकी प्राप्तिका मूल कर्म ही है ॥२४॥

षोड़श अध्यायमें दैवी और आसुरी सम्पत्तियोंका संविभाग दिखला कर सात्त्विकका ही तत्त्वज्ञानमें अधिकार है यह प्रदर्शित किया गया ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इसलिए शास्त्रमें जैसा कहते हैं विशेष रूपसे बुद्धिके परे परा बुद्धिमें स्थिर होकर जो कर्त्तव्य कर्म अर्थात् क्रिया करना उचित है—विशेषरूपमें स्थिर होकर जो क्रियाकी परावस्था है।—कर्त्तव्याकर्त्तव्यके विषयमें शास्त्र ही प्रमाण हैं। शास्त्राचार जान लेने पर फिर स्वेच्छाचारमें प्रवृत्ति नहीं होती। जबतक शास्त्रको ठीक-ठीक नहीं जान लेते, तबतक गुरुके उपदेशके अनुसार साधनपथमें चलना ही

कर्त्तव्य है। "इह" अर्थात् इस कर्माधिकार-भूमिमें तुम वर्त्तमान हो, इसलिए तुम्हारे लिए शास्त्रनिर्दिष्ट पथमें चलना ही उचित है। शास्त्र पहले ठीक-ठीक समझमें नहीं आता। यह भी बात नहीं है कि पढ़ लेनेसे ही शास्त्रज्ञान हो जायगा, परन्तु शास्त्रमें श्रद्धाका होना आवश्यक है। साधकके लिए शास्त्रका क्या अर्थ है, यह पूर्व श्लोकमें कह चुका हूँ।

कर्माधिकार क्या है? योगी लोग प्राणायामके द्वारा वायु आकर्षण करके कूटस्थमें लक्ष्य करनेसे जानते हैं कि ज्ञातव्य क्या है और कर्त्तव्य क्या है। शरीरमें कौन गुण प्रबल है तथा क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम इन पाँच तत्त्वोंमें किस तत्त्वकी क्रिया चल रही है, यह समझनेका एक विशेष कौशल है। जगत्-मात्रका समाचार कूटस्थमें लक्ष्य करने पर समझमें आ जाता है। तीन बिन्दुओंकी बात पहले कह चुका हूँ। सत्त्व, रजः और तमः ये तीन गुण त्रिकोणाकारमें तीन बिन्दुओंके रूपमें लक्षित होते हैं। रजः-बिन्दु वामकोणमें रक्त-आभाके समान दृष्ट होता है। तमः-बिन्दु दक्षिण कोणमें कृष्ण वर्णके सदृश दीख पड़ता है। सत्त्व-बिन्दु ऊर्ध्वकोणमें शुभ्र किरणके समान जान पड़ता है। इनको ही क्रमशः वामा, रौद्री और ज्येष्ठा कहते हैं। ये सभी शक्तिरूपा हैं। क्षिति-तत्त्वका वर्ण हरिद्रावत् है, जल-तत्त्वका वर्ण हलके सब्ज रङ्गका है, तेजस्तत्त्वका वर्ण जलते हुए अङ्गारके समान है, वायु-तत्त्वका वर्ण जङ्गाल तथा व्योम-तत्त्वका वर्ण आकाश-सदृश है। ये तीनों बिन्दु मिलकर जब एक हो जाते हैं तो त्रिकोणके मध्यमें श्रीबिन्दुका दर्शन होता है, वही मुक्तिदायिनी शक्ति है।

ये सब शरीरस्थ वायुकी शक्तियाँ हैं। प्राणायामादि योग-क्रियाके द्वारा इन समस्त वायुओंके अनेक रहस्य जाने जा सकते हैं। वायुको आयत्त करना होगा। इस वायुकी गतिके अनुसार ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादिमें आसक्त होकर जीव बहिर्मुख और बद्ध होता है। वायुकी क्रियाके द्वारा इस वायुको वशमें करने पर जीवका अन्तर्लक्ष्य आरम्भ होता है। क्रिया जितनी ही अधिक करोगे, वायुकी शक्तिसे अभ्यन्तरस्थ नाड़ीसमुदाय उतना ही विशुद्ध और मलशून्य हो जायगा। नाड़ी-मुखमें वायुकी गतिके अनुसार ही शुभाशुभ इच्छाएँ और सङ्कल्प समुद्भूत होते हैं। नाड़ी जितनी ही शुद्ध होगी उतना ही मनकी गतिका प्रवाह शुद्ध और निर्मल हो जायगा। क्रिया आरम्भ करते ही नाड़ी शुद्ध नहीं हो जाती। जिसका जितना अधिकार होता है तदनुसार ही उसकी उन्नति होती है। श्रीमत् शङ्कराचार्य कहते हैं—"इस श्लोकके 'इह'-शब्द द्वारा 'कर्माधिकारकी भूमि' प्रदर्शित हुई है। यह शरीर कर्मका क्षेत्र या भूमि है, इससे कर्मके अधिकारानुरूप फल मिलता है।"

शास्त्रविधि—शास्त्र-शब्द शास् धातुसे बना है अर्थात् जो शासन करता है या आज्ञा देता है। वायु ही इस देहेन्द्रियको शासन करके इनको स्वस्व कर्ममें नियुक्त करती है (प्रश्नोपनिषद्), अतएव वायु ही शास्त्र है। विधि—वि पूर्वक 'धी' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है विशेषरूपसे धारण करना। अतः वायु विशेषरूपसे

स्थिर होकर जब मस्तकमें स्थित होती है तो यही विधि शास्त्रविधि है, इसको क्रियाकी परावस्था कहते हैं।

इस विधिके पालनका जो नियम गुरु बतला देते हैं, उस नियमके अनुसार चलने पर साधक उच्चसे उच्चतर सोपानमें आरोहण करता है। तब साधक जिस सोपान पर आरूढ़ होता है तदनुसार क्रियाके भी नाना प्रकारके विधान हैं, गुरु उसे बतला देते हैं। साधनमें जिसका जितना अधिकार है, वही उसका स्वभावज कर्म है। यही शास्त्रविधानोक्त कर्म कहलाता है। यही कर्म करनेसे साधकको क्रमशः उन्नति प्राप्त होती है। इस मार्गमें यदि नाना विघ्न-बाधाएँ आकर उपस्थित हों, तो भी जो अधिकारानुसार साधन करता जाता है उसका प्राण धीरे-धीरे स्थिर हो जाता है। पश्चात् विशेषरूपसे स्थिति होने पर क्रियाकी परावस्थाकी प्राप्ति होती है। इस अवस्थाको प्राप्त करने पर ही मनुष्य-जीवनका जो चरम लक्ष्य है उस लक्ष्य-स्थलमें उपनीत हो सकता है। अतएव क्रिया-क्षेत्र इस शरीरको प्राप्त करके क्रिया करनेमें कभी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। यही भगवद्वाक्यका अभिप्राय है ॥२४॥

इति श्यामाचरण-आध्यात्मिक-दीपिका नामक गीताके षोड़श अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त।

—ॐ—

सप्तदशोऽध्यायः

(श्रद्धात्रयविभागयोगः)

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)—कृष्ण (हे कृष्ण !) ये (जो लोग) शास्त्रविधिम् उत्सृज्य (शास्त्रविधिका परित्याग कर) तु (किन्तु) श्रद्धयान्विताः (श्रद्धा-युक्त होकर) यजन्ते (देवदेवियोंकी पूजा करते हैं) तेषां निष्ठा का (उनकी निष्ठा कैसी होती है) सत्त्वं (सात्त्विकी) रजः (राजसी) आहो तमः (अथवा तामसी ?) ॥१॥

श्रीधर—उक्ताधिकारहेतूनां श्रद्धा मुख्या च सात्त्विकी ।
इति सप्तदशे गौणश्रद्धाभेदस्त्रिधोच्यते ॥

पूर्वाध्यायान्ते "यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति" इत्यनेन शास्त्रोक्तविधिमुत्सृज्य कामकारेण वर्त्तमानस्य ज्ञाने अधिकारो नास्ति इत्युक्तम् । तत्र शास्त्र-विधिं उत्सृज्य कामकारं विना श्रद्धया वर्त्तमानानां किम् अधिकारोऽस्ति नास्ति वेति बुभुत्सया अर्जुन उवाच—ये शास्त्र इति । अत्र च शास्त्रविधिम् उत्सृज्य यजन्ते इत्यनेन शास्त्रार्थं बुद्ध्वा तम् उल्लङ्घ्य वर्त्तमाना न गृह्यन्ते, तेषां श्रद्धया यजनानुपपत्तेः । आस्तिक्यबुद्धिर्हि श्रद्धा । न चासौ शास्त्रविरुद्धे अर्थे शास्त्रज्ञानवतां सम्भवति । तान् एव अधिकृत्य "त्रिविधा भवति श्रद्धा" "यजन्ते सात्त्विका देवान्" इत्याद्युत्तरानुपपत्तेश्च । अतो नात्र शास्त्रोल्लङ्घिनः गृह्यन्ते, अपि तु क्लेशबुद्ध्या वा आलस्याद्वा शास्त्रार्थज्ञाने प्रयत्नं अकृत्वा केवलम् आचारपरम्परावशेन श्रद्धया क्वचिद्देवताराधनादौ प्रवर्त्तमाना गृह्यन्ते । अतोऽयमर्थः—ये शास्त्रविधिम् उत्सृज्य दुःखबुद्ध्या आलस्याद्वा अनादृत्य केवलम् आचारप्रामाण्येन श्रद्धयान्विता सन्तो यजन्ते तेषां तु का निष्ठा ? का स्थितिः ? क आश्रयः ? तामेव विशेषेण पृच्छति किं सत्त्वम् ? आहो किं वा रजः ? अथवा तम इति ? तेषां तादृशी देवपूजादिप्रवृत्तिः किं सत्त्वसंश्रिता ? रजःसंश्रिता वा ? तमःसंश्रिता वा ? इत्यर्थः । श्रद्धायाः सात्त्विकत्वात् क्लेशबुद्ध्या आलस्येन च शास्त्रानादरस्य राजसतामसत्वात् त्रिधा सन्देहः । यदि सत्त्वसंश्रिताः तर्हि तेषामपि सात्त्विकत्वात् यथोक्तात्मज्ञाने अधिकारः स्यात् अन्यथा न इति प्रश्नतात्पर्यार्थः ॥१॥

अनुवाद—[उक्त तत्त्वज्ञानमें अधिकारके हेतुओंमें सात्त्विकी श्रद्धा मुख्य हेतु है, इसीलिए सप्तदश अध्यायमें तीन प्रकारकी श्रद्धा कथित हुई है। पूर्व अध्यायके अन्तमें "यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य" इत्यादि श्लोकोंमें शास्त्रविधि त्याग करके यथेच्छभावसे कर्ममें प्रवृत्त लोगोंका ज्ञानमें अधिकार नहीं होता,

यह कहा गया है। इससे शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धापूर्वक कर्मानुष्ठानमें प्रवर्त्तमान पुरुषका तत्त्वज्ञानमें अधिकार है या नहीं, यह जाननेके लिए इच्छुक होकर] अर्जुन बोले—यहाँ "शास्त्रविधि परित्याग करके जो यज्ञ करता है", इसके द्वारा उन लोगोंको ग्रहण नहीं किया गया है जो शास्त्रार्थको समझ कर भी उसका उल्लङ्घन करते हैं। उनके लिए श्रद्धापूर्वक यजन करना सम्भव ही नहीं है। आस्तिक्य-बुद्धि ही श्रद्धा कहलाती है। शास्त्र-विषयके जानने वाले पुरुषको शास्त्र-विरुद्ध विषयोंमें श्रद्धा नहीं हो सकती। इन लोगोंको यहाँ ग्रहण करने पर "श्रद्धा तीन प्रकारकी होती हैं" "सात्त्विक लोग देवताओंका यजन करते हैं" इत्यादि आगे कहे जाने वाले विषयोंकी अनुपपत्ति अर्थात् असङ्गति होती है। अतएव शास्त्र-विधिका उल्लङ्घन करने वाले यहाँ ग्रहणीय नहीं हैं। जो लोग क्लेशबुद्धिसे या आलस्य-वश शास्त्रार्थको जाननेमें प्रयत्न नहीं करते, परन्तु केवल आचार-परम्पराके वश श्रद्धापूर्वक किसी देवताकी आराधनामें प्रवृत्त हैं, वे ही यहाँ ग्रहणीय हैं। अतएव इस श्लोकका यह अर्थ है कि जो लोग शास्त्रोक्त विधियोंका त्याग कर अर्थात् क्लेश-बुद्धि या आलस्यसे केवल आचारके प्रामाण्यवश श्रद्धान्वित होकर यज्ञ करते हैं, उनकी निष्ठा अर्थात् स्थिति किस प्रकारकी होती है। इसी कारण विशेष रूपमें पूछ रहे हैं कि हे कृष्ण, उनकी यह देवपूजाकी प्रवृत्ति सत्त्व-संश्रित, रजः-संश्रित या तमः-संश्रित है। श्रद्धा सात्त्विक वस्तु है, अतः क्लेशबुद्धि और आलस्यके वश शास्त्रमें अनादरके कारण राजसिकत्व और तामसिकत्व-दोष होनेसे त्रिविध श्रद्धामें यहाँ सन्देह होता है। उनकी निष्ठा श्रद्धायुक्त होनेके कारण उनके सात्त्विक होनेकी प्रतीत होती है, तथा क्लेशबुद्धि और आलस्यके कारण शास्त्रमें अनादर राजस या तामस भावको सूचित करता है। अतएव प्रश्न यह है कि यदि वे लोग सत्त्वसंश्रित हैं तो उनका यथोक्त आत्मज्ञानमें अधिकार हो सकता है या नहीं ॥१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरके तेजके द्वारा अनुभव हो रहा है—जो लोग शास्त्रविधि अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें न रहकर कर्म करते हैं फलाकाङ्क्षाके साथ, उनकी निःशेष रूपमें स्थिति सत्त्व, रजः, तमः कर्ममें किस प्रकार होती है?—कर्मानुष्ठान करने वाले तीन श्रेणियोंमें विभक्त हैं—(१) जो शास्त्र-विधि जानकर भी उसमें अश्रद्धा करके अपनी इच्छाके अनुसार कर्मका अनुष्ठान करते हैं वे असुर-सम्प्रदायके हैं। (२) जो शास्त्रके विधि-निषेधको जानकर तदनुसार श्रद्धापूर्वक कर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे देव-सम्प्रदायके हैं। (३) परन्तु एक प्रकारका और सम्प्रदाय है जो आस्तिक्य-बुद्धिशाली हैं, उनको देवपूजामें, नित्य-नैमित्तिक क्रियाओंमें अश्रद्धा नहीं है, वह अनुष्ठान भी यथासमय जो करना चाहिये करते हैं, परन्तु वे पण्डित नहीं हैं, शास्त्रविधि ठीक ठीक नहीं जानते और न जाननेकी चेष्टा ही करते हैं, उनकी पूजा-यज्ञादि ठीक शास्त्रानुसार हुए हैं या नहीं, इस विषयका भी उनको कोई ज्ञान नहीं होता, परन्तु जो परम्परासे चला आता है उसे श्रद्धापूर्वक करते हैं। इस श्रेणीके लोग एक ओर तो श्रद्धायुक्त होते हैं और दूसरी ओर शास्त्र-विधिके ठीक ठीक पालनमें

शिथिल-भावापन्न हैं। ऐसे लोगोंकी श्रद्धा सात्त्विक होगी अथवा राजसिक या तामसिक ?

जो यथार्थ पूजा है वह साधारणतः सबके द्वारा होनेवाली नहीं है। शास्त्रविहितरूपमें पूजा या यागयज्ञादि करना विशेषतः वर्तमान कालमें कठिन है। शास्त्र-विधि-विधानके अनुसार पूजा बहुत कम लोग ही कर सकते हैं, क्योंकि हम सब विधान नहीं जानते, जानने पर भी उसे कर सकना हमारे सामर्थ्यके बाहर है। इसलिए वर्तमान कालमें जो पूजा या यज्ञादि होते हैं वे शास्त्रविधिके अनुसार नहीं होते। तथापि कुलपरम्पराके अनुसार गृहदेवताकी या समय-विशेषपर जो विशेष पूजा हम करते हैं, वह विधि-अनुसार न होने पर भी उसमें श्रद्धाका अभाव नहीं होता। इस प्रकारकी निष्ठा सात्त्विक, राजसिक अथवा तामसिक किस श्रेणीकी कही जा सकती है ? इस श्लोकका आध्यात्मिक तत्त्व यह है कि कार्य तो सभी करते हैं, एक साधारण आदमीसे लेकर एक असाधारण आदमी तक सबको ही कोई न कोई काम करना पड़ता है। अत्यन्त संसारासक्त दुर्जन आदमी भी काम करता है और निःस्वार्थ साधुजन भी दूसरेके लिए परिश्रम करते हैं। संभवतः सब श्रेणीके लोग साधनामें प्रयत्न कर सकते हैं, परन्तु उनकी निष्ठामें यथेष्ट पार्थक्य होता है। कोई आदमी क्रिया इसलिए करता है कि शरीर अच्छा रहेगा, कोई लोगोंके ऊपर प्रभुत्व स्थापनके लिए साधना करता है, कोई केवल लोगोंको दिखानेके लिए करता है। कोई कोई ही आत्मस्वरूपको जाननेके लिए साधन करते हैं। मनुष्य-जन्मका यही सर्वोत्तम कर्त्तव्य है, इसलिए वे अन्य विषयोंमें विशेष लक्ष्य न करके केवल वही प्रयत्न करते हैं जिससे आत्मज्ञान या भगवद्भक्ति प्राप्त हो। इन सब श्रेणियोंके लोगोंकी निष्ठा गुणयुक्त होती है अर्थात् किसीकी सात्त्विक निष्ठा होती है, किसीकी राजसिक तथा किसीकी तामसिक। परन्तु एक प्रकारके और कर्मी हैं जिन्हें कर्म करनेका प्रयोजन नहीं होता, तथापि वे लोकशिक्षाके लिए यथाविहित कर्म करते जाते हैं, कर्मोंमें उनकी तनिक भी आसक्ति नहीं होती। सब आदमी इस प्रकारके कर्म नहीं कर सकते। जिन्होंने साधनके प्रभावसे क्रियाकी परावस्था प्राप्त की है, वे उस अवस्थामें रहकर जगत्के सब व्यवहारोंको यथायोग्य भावसे सम्पन्न कर सकते हैं। परन्तु वे कर्मी जो शास्त्रविधिमें न रहकर अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें न रहकर फलाकाङ्क्षाके साथ क्रिया करते हैं और फलाकाङ्क्षाके विषयमें जिनकी दृढ़ा निष्ठा होती है, उन्हें उससे क्या फल प्राप्त होता है ? उनका श्वास तो सुषुम्नामें चलता नहीं है, अतएव मनमें सात्त्विकी निष्ठा नहीं होती। सात्त्विकी निष्ठा हुए बिना गुणातीत क्रियाकी परावस्थाकी प्राप्ति नहीं होती। उनका श्वास अधिकतः इड़ापिङ्गलामें ही चलता है, परन्तु तो भी क्रियामें निष्ठा रहनेसे वे प्रतिदिन किसी न किसी तरह क्रिया करते चलते हैं। उनके इस प्रकारके आचरणको क्या कहा जायगा ? कोई कोई ऐसे भी हैं जो शास्त्र मानते हैं, श्रद्धापूर्वक पूजा-अर्चना भी करते हैं, परन्तु विधिपूर्वक पूजा करनेके लिए जैसा साधनशील होना आवश्यक है, वे वैसे साधनसम्पन्न नहीं होते। उनकी पूजा-अर्चना किस गुणकी होगी,

यही अर्जुनका प्रश्न है। बहुतसे क्रियावान् लोगोंकी क्रियाके प्रति यथेष्ट श्रद्धा होती है, परन्तु जिस प्रणालीसे क्रिया करने पर ठीक विधिसङ्गत साधना होती है, उसको वे नहीं जानते या नहीं कर सकते। इस प्रकारके क्रियावान् क्रियाके फलकी प्राप्तिमें समर्थ होते हैं या उससे वञ्चित हो जाते हैं, यही अर्जुनका प्रश्न है ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

(मुख्य श्रद्धा सात्त्विकी, गौण श्रद्धा त्रिविधा)

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)—देहिनां (शरीरधारियोंकी) सा श्रद्धा (वह श्रद्धा) स्वभावजा (स्वाभाविक अर्थात् पूर्वजन्मके संस्कारोंसे उत्पन्न) [होती है] एव च (और वह) सात्त्विकी राजसी तामसी च (सात्त्विकी, राजसी और तामसी) इति त्रिविधा भवति (यह तीन प्रकारकी होती है) तां शृणु (उसे सुनो) ॥ २ ॥

श्रीधर—अत्र उत्तरं श्रीभगवान् उवाच—त्रिविधेति। अयमर्थः—शास्त्रतत्त्वज्ञानतः प्रवर्त्तमानानां परमेश्वरपूजाविषया सात्त्विकी एकविधैव भवति श्रद्धा। लोकाचारमात्रेण तु प्रवर्त्तमानानां देहिनां या श्रद्धा सा तु सात्त्विकी राजसी तामसी चेति त्रिविधा भवति। तत्र हेतुः स्वभावजा—स्वभावः पूर्वसंस्कारः तस्माज्जाता। स्वभावं अन्यथा कर्त्तुं समर्थं हि शास्त्रोत्थं विवेकज्ञानं। तत्तु तेषां नास्ति। अतः केवलं पूर्वस्वभावेन भवन्ती श्रद्धा त्रिविधा भवति। तामिमां त्रिविधां श्रद्धां शृणु। तदुक्तं—"व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन"—इत्यादिना ॥ २ ॥

अनुवाद—[इसके उत्तरमें] श्रीभगवान् बोले कि शास्त्र और तत्त्वज्ञानके अनुसार कर्ममें प्रवृत्त लोगोंकी परमेश्वरपूजाविषया श्रद्धा एकमात्र सात्त्विकी ही होती है। परन्तु लोकाचारके अनुसार कर्ममें प्रवृत्त मनुष्योंकी जो श्रद्धा होती है वह सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकारकी होती है। इसका कारण यह है उनकी श्रद्धा स्वभावजा अर्थात् पूर्वसंस्कारसे उत्पन्न होती है। स्वभावको अन्यथा करनेमें शास्त्रजनित विवेकज्ञान ही समर्थ होता है। जो लोकाचारके अनुसार कर्मानुष्ठान करते हैं उनके पास वह नहीं होता। अतएव केवल पूर्व स्वभावके अनुसार या संस्कारवश जो श्रद्धा होती है, वह तीन प्रकारकी होती है। इसीसे द्वितीय अध्याय में भगवान्ने कहा है कि "निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है" ॥२॥

आध्यात्मिक व्याख्या— कूटस्थ द्वारा अनुभव हो रहा है—तीन प्रकारकी श्रद्धा होती है—सात्त्विकी, राजसी, तामसी।—श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है। वह प्राणियोंमें स्वाभावज होती है अर्थात् पूर्वजन्ममें अनुष्ठित जो धर्मादि संस्कार हैं तथा जो मरणकालमें अभिव्यक्त होते हैं, वे पूर्व संस्कार ही वर्त्तमान देहमें 'स्वभाव' संज्ञाको प्राप्त होते हैं। यह श्रद्धा सात्त्विकादि प्रकृतिभेदसे तीन प्रकारकी होती है। इस स्वभावको

लेकर ही मनुष्य जन्म लेता है। जिसका जैसा पूर्व संस्कार होता है, उसकी वैसी श्रद्धा बिना शिक्षाके भी होती है। इस प्रकार विभिन्न प्रकृतिके अनुसार श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है, उसीके बारेमें भगवान् यहाँ कह रहे हैं। शास्त्रादि पाठ, साधुसङ्ग और साधनजनित सात्त्विकी श्रद्धा जो साधकोंको होती है, उसके बारेमें यहाँ नहीं कहते हैं। मनमें निरन्तर तीन गुण खेल करते हैं, मन जब जिस गुणमें अवस्थित होता है, उसके अनुसार ही उसकी श्रद्धा—सात्त्विकी, राजसी या तामसी हुआ करती है। ये गुण जीवकी प्रकृतिमें होते हैं, अतएव श्रद्धा भी प्रकृतिके भावानुसार तीन प्रकारकी होगी ही। शरीर, इन्द्रियाँ और मनमें इन तीनों गुणोंका निरन्तर परिवर्तन होते रहनेके कारण श्रद्धामें भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। श्वास इड़ा-पिङ्गलामें रहने पर श्रद्धा भी तदनुसार राजसिक या तामसिक होती रहती है। सुषुम्नामें श्वास रहने पर सात्त्विकी श्रद्धाका उदय होता है। स्वाभाविक श्रद्धा पूर्व कर्मोंके अनुसार होती है, परन्तु सात्त्विकी श्रद्धा साधन-भजन, साधुसङ्ग और शास्त्रालोचना द्वारा तैयार करनी पड़ती है॥ २

(पुरुष श्रद्धामय है)

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) सर्वस्य (सबकी) श्रद्धा (श्रद्धा) सत्त्वानुरूपा भवति (अपने अन्तःकरणके अनुरूप होती है), अयं पुरुषः श्रद्धामयः (यह जीव श्रद्धामय है) यः (जो) यच्छ्रद्धः (जिस प्रकार श्रद्धायुक्त होता है) सः एव सः (वह उसी प्रकारका होता है)॥३॥

श्रीधर—ननु श्रद्धा सात्त्विकी एव सत्त्वकार्यत्वेन त्वयैव भगवता उद्धवं प्रति निर्दिष्टत्वात्। यथोक्तम्,

"शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः।
तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः॥"

इत्येताः सत्त्वस्य वृत्तय इति। अतः कथं तस्याः त्रैविध्यम् उच्यते? सत्यम्। तथापि रजस्तमोयुक्त-पुरुषाश्रयत्वेन रजस्तमोमिश्रितत्वेन सत्त्वस्य त्रैविध्यात् श्रद्धाया अपि त्रैविध्यं घटते इत्याह—सत्त्वेति। सत्त्वानुरूपा—सत्त्वतारतम्यानुसारिणी, सर्वस्य—विवेकिनः अविवेकिनो वा लोकस्य श्रद्धा भवति। तस्मात् अयं पुरुषो लौकिकः श्रद्धामयः श्रद्धाविकारः त्रिविधया श्रद्धया विक्रियते इत्यर्थः। तदेवाह—'यो यच्छ्रद्धः'—यादृशी श्रद्धा यस्य, 'स एव सः'—तादृशश्रद्धायुक्तः। यः पूर्वं सत्त्वोत्कर्षेण सात्त्विकश्रद्धया युक्तः पुरुषः स पुनः तादृशः सत्त्वसंस्कारेण सात्त्विकश्रद्धया युक्त एव भवति। यस्तु रजस उत्कर्षेण राजसश्रद्धायुक्तः स पुनः तादृश एव भवति। यस्तु तमस उत्कर्षेण तामसश्रद्धायुक्तः स पुनः तादृश एव भवतीति। लोकाचार-

मात्रेण प्रवर्त्तमानेषु एवं सात्त्विकराजसतामसश्रद्धाव्यवस्था। शास्त्रजनितविवेकज्ञानयुक्तानां तु स्वभावविजयेन सात्त्विकी एकैव श्रद्धेति प्रकरणार्थ: ॥३॥

अनुवाद—[श्रद्धा वस्तुत: सात्त्विकी ही होती है क्योंकि भगवान्ने उद्धवसे कहा है कि, शम, दम, तितिक्षा, विवेक, तपस्या, सत्य, दया, स्मृति, तुष्टि, त्याग, अस्पृहा, श्रद्धा, लज्जा, दया तथा आत्मनिर्वृति ये सारी सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ हैं। अतएव श्रद्धाको कैसे त्रिविध कहना सम्भव हो सकता है, इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह बात सत्य है कि श्रद्धा सात्त्विक वृत्ति है, तथापि सत्त्व, रज और तमके मिश्रणसे सत्त्वके त्रिविध होनेके कारण, श्रद्धाकी भी त्रिविधता घटती है]—सत्त्वानुरूप अर्थात् सत्त्व-तारतम्यके अनुसार विवेकी और अविवेकी सबको ही श्रद्धा हो सकती है। इसी कारण यह लौकिक पुरुष श्रद्धामय है अर्थात् त्रिविध श्रद्धाके द्वारा विकारको प्राप्त होता है। इसीसे कहते हैं कि "यो यच्छ्रद्धः" अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, "स एव स:" वह वैसा ही श्रद्धायुक्त होता है। जो पहले सत्त्वोत्कर्षताके कारण सात्त्विक-श्रद्धायुक्त था, वह उसी संस्कारके कारण पुन: सात्त्विक-श्रद्धायुक्त हो जाता है। जो पहले रजोगुणकी उत्कर्षताके कारण राजस-श्रद्धायुक्त था, वह पुन: उसी प्रकार राजस-श्रद्धायुक्त हो जाता है, तथा जो तमोगुणकी उत्कर्षताके कारण तामस-श्रद्धायुक्त था, वह पुन: तामस-श्रद्धायुक्त हो जाता है। इसलिए लौकिक आचारके अनुसार कर्ममें प्रवृत्त व्यक्तियोंके लिए ही इस प्रकारकी सात्त्विकी, राजसी और तामसी श्रद्धाकी व्यवस्था है। शास्त्रज्ञान-जनित विवेकयुक्त पुरुषको स्वभाव-विजयी होनेके कारण एकमात्र सात्त्विकी श्रद्धा ही होती है। इस प्रकरणका यही अर्थ है ॥३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सत्त्वगुणमें अर्थात् क्रिया करता है ब्रह्मके अणुमें रहकर वही पुरुषोत्तम वही ब्रह्ममय है—क्रियाकी परावस्थामें जो रहता है वही ब्रह्म है।—विशिष्ट संस्कारयुक्त अन्त:करणको ही 'सत्त्व' कहते हैं। अन्त:करणके प्रकाश-स्वभावके कारण उसको 'सत्त्व' कहते हैं। जिस अन्त:करणमें जिस प्रकारका संस्कार प्रबल होता है, उस संस्कारके अनुसार ही उसकी श्रद्धा होती है। गुण-संमिश्रणके कारण अन्त:-करणमें भी तारतम्य होता है। इसी कारण श्रद्धामें भी विचित्रता आती है। श्रद्धा अन्त:करणका ही धर्म है, इसलिए कोई पूर्णरूपेण श्रद्धाहीन नहीं हो सकता। जीवमें चाहे जो गुण प्रबल हो, सत्त्वगुण कुछ रहेगा ही, अतएव श्रद्धा भी कुछ रहेगी। इसीसे जीवको श्रद्धामय कहते हैं। निश्चय ही अत्यन्त तम:प्रधान लोगोंमें सत्त्वगुण अत्यन्त अस्फुट रहता है, इसलिए उनमें सात्त्विक वृत्तिका कार्य बहुत ही स्वल्प देखनेमें आता है। जो लोग केवल लोकाचरण-मात्रका अनुसरण करके कार्य करते हैं उनकी श्रद्धाका उत्कर्ष नहीं होता। श्रद्धाका उत्कर्ष-साधन करनेके लिए शास्त्रज्ञान और साधनाकी आवश्यकता है। गुरु और वेदान्त-वाक्यमें दृढ़ प्रत्यय ही श्रद्धा है, परन्तु अन्त:करण अशुद्ध रहने पर सात्त्विकी दृढ़ श्रद्धाका उदय नहीं होता। साधककी दृढ़ श्रद्धासे साधन-विषयमें उनका चित्त दृढ़तापूर्वक निबद्ध हो जाता है। गीता कहती है कि श्रद्धावान् लोग अर्थात् जो तत्पर और संयतेन्द्रिय हैं, वे ही ज्ञान प्राप्त करते हैं। ज्ञानप्राप्तिके बाद ही परमशान्ति मिलती है। जो जितना ही मन लगाकर क्रिया करेगा, उतनी ही उसकी सत्त्वसंशुद्धि

होगी। सुषुम्नाके भीतरसे प्राणधारा प्रवाहित होने पर ब्रह्माणुमें स्थिति प्राप्त होगी और पश्चात् क्रियाकी परावस्थामें साधक ब्रह्मस्वरूप हो जायगा।

क्रियाकी परावस्थामें ब्रह्मभावके सिवा और कोई भाव नहीं रहता, उस समय साधक गुणातीत हो जाता है। परन्तु क्रियाकी परावस्थासे नीचे अथवा क्रिया करते-करते जब मन कुछ स्थिर हो जाता है परन्तु पूर्ण निरोधावस्थाकी प्राप्ति नहीं होती, तब मनमें विषय-चिन्ता न रहनेके कारण वह सत्त्वगुणकी अवस्था होती है। उस अवस्थाके प्राप्त होने पर साधनामें जो उग्र प्रयत्न होता है, उससे ध्यान और ध्यानसे समाधि आसन्न हो जाती है। मुक्तिके लिए सुतीव्र इच्छाके कारण मुक्तिकी प्राप्तिमें जो प्रयत्न होता है, वही सात्त्विकी श्रद्धा है। श्रद्धा 'चेतसः सम्प्रसादः' है—श्रद्धासे चित्तकी प्रसन्नता होती है। चित्तमें अधिक मलका अंश न रहनेसे साधनामें प्रयत्नकी अधिकता होती है। प्रयत्नके आधिक्यसे चित्त महास्थिरतामें प्रवेश करता है। जैसे समुद्रके गहरे तलमें डुबकी मारकर लोग रत्न-संग्रह करते हैं उसी प्रकार समाधिमग्न योगी ज्ञानरत्न प्राप्त कर कृतकृत्य होता है। सत्त्वगुण जितना ही वृद्धिको प्राप्त होता है उतनी ही अणु सदृश ब्रह्मकी अनुभूति होने लगती है। सात्त्विक, राजस और तामस गुणसे समुद्भूत यह प्रकृति ब्रह्मका ही विलास है। क्रिया जितनी अधिक करोगे उतनी ही मात्रामें तुम गुणोंका अतिक्रम करके गुणातीत अवस्थामें पहुँच सकोगे। साधनाका क्रम और उसका फल नीचे लिखा जाता है—

कूटस्थ ही देवता है, उस कूटस्थके भीतर नारायण हैं। कूटस्थमें मन रखनेपर, कूटस्थ जैसा सर्वव्यापक है, साधकका मन भी वैसा ही सर्वव्यापक हो जाता है। कूटस्थ ही ब्रह्म, गुरु और आचार्य हैं। कूटस्थमें रहने पर चित्तकी प्रसन्नता होती है। यही सत्त्वसंशुद्धि और चित्तकी सत्त्वगुणमें स्थिति है। परमपद आत्मामें ही रहता है। जो विषयोंके बीच रहते हुए भी सर्वदा कूटस्थमें मन रख सकता है, वही ऋषि है। आत्मामें लक्ष्य रखनेका अभ्यास करनेसे ही आत्मामें मनकी स्थिति होती है और मन आत्माके साथ एक हो जाता है। आत्मा ही कूटस्थ और ब्रह्माणु है। ब्रह्माणुके भीतर त्रिलोक वर्त्तमान हैं। क्रियाकी परावस्थामें ब्रह्म-अणुके भीतर प्रवेश करने पर स्वर्ग, मर्त्य सर्वत्र गमनागमन किया जा सकता है क्योंकि स्वर्ग, मर्त्य सब उस ब्रह्मके अणुके भीतर हैं। साधक उस ब्रह्म-अणुके भीतर प्रवेश करने पर सर्वत्र पहुँच सकता है या रह सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। कूटस्थके भीतर ही पुरुषोत्तम रहता है। जो शक्तिके साथ साधन करता है, वह इस शरीरके भीतर ही उसको देख सकता है। वही प्रकृष्टरूपमें शरीर धारण करके जन्म ग्रहण करता है। वही सर्वत्र है, इसी कारण उसको 'विष्णु' कहते हैं। षड़ैश्वर्यवान् होनेके कारण उसका नाम 'भगवान्' है। कूटस्थके भीतर वह परम निर्मल पुरुषोत्तम है, इसीलिए उसका नाम 'शिव' है। क्रियाकी परावस्थामें वह अपने आपमें रहता है। वह सब रसोंका रस तथापि स्वयं अरस है। क्रियाकी परावस्था ही विज्ञानमय अवस्था है, वहाँ न आलोक है न अन्धकार। उस समय वह सर्वमय होता है क्योंकि 'सर्व' उसका ही प्रकाश है। इसलिए क्रियाकी परावस्थामें जो रहता है, वह सर्वज्ञ होता है॥३॥

(श्रद्धाका दृष्टान्त—गुणभेदसे पूजाका प्रकार-भेद—
सात्त्विक, राजसी और तामसी व्यक्तिकी पूजा)

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

अन्वय—सात्त्विकाः (सात्त्विक लोग) देवान् यजन्ते (देवताओंकी पूजा करते हैं) राजसाः (राजसी लोग) यक्षरक्षांसि (यक्ष-राक्षसोंकी) अन्ये (दूसरे) तामसाः जनाः (तामसी लोग) प्रेतान् भूतगणान् च यजन्ते (प्रेत और भूतोंकी पूजा करते हैं) ॥४॥

श्रीधर—सात्त्विकादिभेदमेव कार्यभेदेन प्रपञ्चयति—यजन्ते इति । सात्त्विका जनाः सत्त्वप्रकृतीन् देवान् एव यजन्ते—पूजयन्ति । राजसास्तु रजःप्रकृतीन् यक्षान् राक्षसांश्च यजन्ते । एतेभ्यः अन्ये विलक्षणाः तामसाः जनाः तामसानेव प्रेतान् भूतगणांश्च यजन्ते । सत्त्वादि-प्रकृतीनां तत्तद्देवादीनां पूजारुचिभिः तत्तत्पूजकानां सात्त्विकादित्वं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥४॥

अनुवाद—[सात्त्विकादि-गुणभेद उनके कार्य-भेदके द्वारा प्रदर्शित करते हैं]—सात्त्विक लोग सत्त्व-प्रकृति देवताओंकी पूजा करते हैं। राजसिक पुरुष रजः-प्रकृति यक्षराक्षस आदिकी पूजा करते हैं। इन दोनोंसे भिन्न या विलक्षण जो तामसिक पुरुष हैं वे तमः-प्रकृति प्रेत और भूतोंकी पूजा करते हैं ॥४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—देवता अर्थात् कूटस्थकी उपासना सत्त्वगुणावलम्बी लोग करते हैं, रजोगुणसे धनकी उपासना करते हैं और भोग, तथा तमोगुणमें मृत्यु और पञ्चभूतोंकी उपासना करते हैं।—जिनकी सत्त्व-प्रकृति स्वाभाविक है वे देवताओंकी पूजा करते हैं। कूटस्थ ही पर-देवता हैं, अतएव कूटस्थके दर्शनादि जिनको नित्य होते हैं उन्हींको सात्त्विक समझना चाहिए। ये सात्त्विकादि गुण किसमें रहते हैं, इसको इस प्रकार जान सकते हैं—एक ही साधन सबको बतलाया गया, एक आदमी बहुत श्रद्धापूर्वक करने लगा तथा उसे प्रतिदिन कूटस्थ-दर्शन और स्थिरताका अनुभव होने लगा। परन्तु जो लोग राजसी हैं वे अर्थ और भोग चाहते हैं, अतएव वे क्रिया करके फल पाना चाहते हैं। उनका विशेष लक्ष्य यही होता है कि किस प्रकार क्रिया करके दो चार छोटी मोटी अनायास-लभ्य सिद्धियाँ प्राप्त की जाँय। जो लोग क्रिया नहीं करते, वे कुवेर आदि यक्षों और नैऋत आदि राक्षसोंकी पूजा करके धनप्राप्तिकी आशा करते हैं। फलस्वरूप वे कामजालमें और भी जड़ित होकर मोक्षके मार्गको अवरुद्ध करते हैं। जो लोग तमोगुणी हैं, वे भूत-प्रेतादिकी पूजा करते हैं। बहुत सी असभ्य जातियाँ इसी प्रकारके देवताकी पूजा करती हैं। सभ्य जातिमें भी कुछ लोग अपना महत्त्व दिखलाकर लोगों पर प्रभुत्व स्थापनके लिए भूत-पिशाच आदिकी उपासना करते हैं। उनमें कोई कोई सिद्धि-प्राप्ति भी करते हैं। परन्तु उस सिद्धिके फलस्वरूप उनकी और भी अधोगति होती है। कोई कोई पञ्चभूतोंके उपासक हैं। उनकी दृष्टि स्थूल होती है, इसीलिए जल, अग्नि आदि पञ्चीकृत भूतोंकी उपासनामें वे कालक्षेप करते हैं। परन्तु जल और अग्निके भीतर जो एकमात्र पर

देवता रहते हैं उनको वे नहीं जान पाते। इसलिए वे अमृतत्वको न प्राप्त कर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। मृत्युके बाद वे स्वधर्म-भ्रष्ट प्रेतादिके उपासक वायुमय देह धारण करके उल्कामुख-कट-पूतनादि नामक प्रेतयोनियोंको प्राप्त होते हैं ॥४॥

(आसुरिककी पूजा)

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

अन्वय—दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः (दम्भ और अहङ्कारसे संयुक्त) कामरागबलान्विता (कामना, आसक्ति और बलयुक्त) ये [अचेतसः] जनाः (जो अविवेकी लोग) अशास्त्रविहितं (शास्त्रविरुद्ध) घोरं तपः (भयङ्कर तपस्या) तप्यन्ते (आचरणकरते हैं) ॥५॥

श्रीधर—राजसतामसेष्वपि पुनर्विशेषान्तरमाह—अशास्त्रविहितमिति द्वाभ्याम्। शास्त्रविधिं अजानन्तोऽपि केचित् प्राचीनपुण्यसंस्कारेणोत्तमाः सात्त्विका एव भवन्ति। केचित्तु मध्यमा राजसा भवन्ति। अधमास्तु तामसा भवन्ति। ये पुनः अत्यन्तं मन्दभाग्याः ते गतानुगत्या पाषण्डसङ्गेन च तदाचारानुवर्तिनः सन्तः अशास्त्रविहितं घोरं—भूतभयङ्करं तपः तप्यन्ते—कुर्वन्ति। तत्र हेतवः दम्भाहङ्काराभ्यां संयुक्ताः। तथा कामः अभिलाषः, रागः आसक्तिः, बलं आग्रहः एतैरन्विताः सन्तः तान् आसुरनिश्चयान् विद्धि इत्युत्तरेण अन्वयः ॥५॥

अनुवाद—[राजस और तामसमें भी विशेषता है, उसे दो श्लोकोंमें दिखलाते हैं]—शास्त्रविधिको न जानकर भी कोई कोई उत्तम लोग पूर्व पुण्य-संस्कारके वश सात्त्विक होते हैं। कोई कोई मध्यम लोग राजस होते हैं, परन्तु जो अधम लोग हैं वे तामस होते हैं। और जो अत्यन्त ही मन्दभाग्य हैं वे गतानुगतिक भावसे पाखण्डियोंके सङ्गमें पड़कर उनके आचारका अनुसरण करते हुए अशास्त्रविहित घोर अर्थात् भूतभयङ्कर तप करते हैं। इसका कारण यही है कि वे दम्भ और अहङ्कारसे युक्त होते हैं तथा काम (अभिलाषा) राग (आसक्ति) और बल अर्थात् आग्रह द्वारा युक्त होते हैं ॥५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रिया न करके जो घोर तपस्या करते हैं पञ्चतपादि, दम्भ-अहङ्कारके साथ इच्छा और क्रोध तथा बलपूर्वक।—दम्भ और अहङ्कारके साथ जिनका नित्य सम्बन्ध है, वे काम, राग और बलसे उन्मत्त होकर अशास्त्रविहित घोर तपस्या करते हैं। वे शरीरको सुखा डालते हैं अर्थात् अति क्षीण कर डालते हैं। वे इन्द्रियोंको बाह्य उपायोंके द्वारा अचैतन्य किये रखते हैं। कभी-कभी इन्द्रियोंकी उत्तेजनामें वे पाखण्डीके समान घोर अत्याचार करते हैं। अस्वाभाविक रूपमें इन्द्रियोंको क्षीण करनेसे संयम-अभ्यास नहीं होता तथा संयमका फल भी प्राप्त नहीं हो सकता। वे समझते हैं कि इन सब अस्वाभाविक उपायोंसे तपस्या करने पर शीघ्र ही तपस्याका फल प्राप्त होगा। किसी किसीको इस प्रकारकी तपस्याका कुछ फल मिलता भी है, परन्तु विवेक-वैराग्य न होनेके कारण अहङ्कार-अभिमानके वश शास्त्र, गुरु और देवताकी अवहेलना करके वे अपने लिए घोर नरकका रास्ता प्रशस्त कर लेते हैं। पूर्वकालमें हिरण्य-कशिपु, रावणादिने घोर तपस्या की थी। तपस्याके फलस्वरूप उनको ऐश्वर्य, शक्ति

और समृद्धि प्रचुर परिमाणमें प्राप्त हुई थी, किन्तु विवेक-वैराग्यके अभावमें असंयमादिके कारण उनको शीघ्र ही ध्वंसको प्राप्त होना पड़ा। इसी कारण आसुरी तपस्या करनेसे कोई विशेष लाभ नहीं है। जिनकी देह और इन्द्रियाँ खाद्यके अभावमें दुर्बल हो जाती हैं, उनकी विषयासक्ति कम नहीं होती। लोभवश वे सकाम तपस्यामें अपनेको नियुक्त करते हैं। इसके द्वारा मन और बुद्धि और भी मलिन हो जाती हैं और वे आत्मदर्शनके अनुपयुक्त हो जाते हैं ॥ ५ ॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्‌ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

अन्वय—अचेतसः जनाः (अविवेकी लोग) शरीरस्थं (देहस्थित) भूतग्रामं (पञ्चभूतोंको) अन्तःशरीरस्थं मां च (और शरीरमध्यस्थित आत्मस्वरूप मुझको) कर्षयन्तः (क्लिष्ट करके) [ये तपश्चरन्ति = जो तप करते हैं] तान् (उनको) आसुरनिश्चयान् (आसुरनिश्चय अर्थात् जिनका निश्चय असुरके समान है) विद्धि (जानो) ॥ ६ ॥

श्रीधर—किञ्च—कर्शयन्त इति। शरीरस्थं—आरम्भकत्वेन देहे स्थितं, भूतानां पृथिव्यादीनां ग्रामं—समूहं कर्शयन्तः वृथैव उपवासादिभिः कृशं कुर्वन्तः, अचेतसः अविवेकिनः माञ्च अन्तर्यामितया अन्तःशरीरस्थं, देहमध्ये स्थितं मदाज्ञालङ्घनेनैव कर्शयन्तो ये तपः चरन्ति तान् आसुरनिश्चयान् आसुरः अतिक्रूरो निश्चयो येषां तान् विद्धि ॥ ६ ॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—शरीरके आरम्भक रूपसे देहमें अवस्थित भूतग्राम अर्थात् पृथिव्यादि भूतोंको वृथा उपवासादिके द्वारा कृश करके अविवेकी लोग अन्तर्यामीरूपसे देहमें अवस्थित मुझको भी क्लेश देकर तपश्चरण करते हैं। उनको अतिक्रूर निश्चयवाला जानो ॥ ६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरको सुखाकर सारे इन्द्रियादिको अचैतन्य रखकर अर्थात् कूटस्थमें न रहकर, शरीरमें जो मैं हूँ, इस प्रकार मुझको क्लेश देकर जो तपस्या करते हैं, वह आसुरी तपस्या होती है अर्थात् वह अच्छी नहीं, सकाम है।—देहके भीतर आत्मा साक्षीस्वरूपमें अवस्थान करता है। आसुर बुद्धिवाले उस आत्माको भी कृश करते हैं। आत्माको कृश करनेका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा देहादिके समान क्षीण या दुर्बल हो जाता है। आत्मा कृश तभी होता है जब ईश्वरीय वाक्यकी अवहेलना होती है। शास्त्रादिको न मानने या तदनुसार कार्यादि न करने पर ही ईश्वरके वाक्यकी अवहेलना होती है और उससे आत्मसम्बन्धी ज्ञान आवृत हो जाता है। आत्माके ऊपर जितना ही यह आवरण पड़ता जाता है, उतना ही हमारे मन-बुद्ध्यादि आत्माके स्वप्रकाशका अनुभव नहीं कर पाते। यही है आत्माको कृश करना। "सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम्"—इस प्रकारके आत्मज्योतिके प्रकाशका अनुभव योगी लोग करते हैं। परन्तु जो लोग अनाचारी या अत्याचारी हैं, वे साधन-तन्त्रके कठोर नियमोंका पालन नहीं कर पाते। मनमें प्रकृत वैराग्यका उदय न होनेके कारण विषयभोगमें

अधिकाधिक रुचि कम नहीं होती। फलस्वरूप देह और इन्द्रिय आदि भी क्षीण और दुर्बल हो जाते हैं। ज्योतिको धारण करनेवाले देहादि बलहीन हो जाते हैं और उनके भीतरसे आत्माका प्रतिबिम्ब सुन्दरतापूर्वक प्रतिबिम्बित नहीं हो पाता। जैसे काँच और पत्थरमें स्वच्छताके तारतम्यके कारण ज्योतिके प्रकाशका तारतम्य होता है, उसी प्रकार देहेन्द्रियादिके सत्त्वभावापन्न न होने पर उनमें आत्म-ज्योतिका प्रकाश भी क्षीणताको प्राप्त होता है। इसलिए जो पापादि कर्म-द्वारा शरीर, इन्द्रिय और मनको कलुषित करते हैं, उनके भीतर आत्मज्योतिका प्रकाश भी मन्द हो जाता है, यही है "आत्मस्वरूप मुझको कृश करना"। पूर्ण संयमके अभावमें योगी होनेकी इच्छा करना जैसा हास्यास्पद है, उसी प्रकार कूटस्थमें न रहकर शरीर सजाकर तपस्वी बनना अस्वाभाविक और निष्फल चेष्टामात्र है। बहुतसे लोग समझते हैं कि तन्त्रके मतसे साधनादि वेदविरुद्ध व्यापार हैं। वेदको न मानना और बात है, परन्तु वेदविधिके पालनमें अक्षमताके कारण शिवोक्त तन्त्रानुसार कार्य करना "अशास्त्रविहित कार्य" नहीं है। तन्त्रका भी आन्तरिक उद्देश्य है वेदोक्त मार्गकी रक्षा करना। जब मनुष्य कालदोषसे कलि-रोगग्रस्त होकर असमर्थ हो जाता है, तो उस असमर्थ जीवकुलको पुनः धर्ममें प्रवर्त्तित करनेके लिए, उसके रोगकी शान्तिके लिए चेष्टा करना ही सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। इसीसे दुरारोग्य कलिदोष-दूषित व्याधिका उपशम करनेके लिए जगद्गुरु महादेवने जीवोंके कल्याणके लिए तन्त्रशास्त्रका प्रणयन किया है। अतएव तन्त्रशास्त्रके मतसे साधन करने पर "अशास्त्र-विहित घोर तपस्या" होती हो, ऐसी बात नहीं है। "त्वया कृतानि तन्त्राणि जीवोद्धारणहेतवे"—जीवके निस्तारके लिए ही तन्त्र-शास्त्रको आपने प्रवर्त्तित किया है। तन्त्रमें जो भोगसाधन-वस्तुके द्वारा साधना की जाती है, उसका उद्देश्य है तन्त्रोक्त क्रियाके अभ्यासके द्वारा क्रमशः भोगवासनाको निवृत्त कर देना। पश्चात् निवृत्तिका पथ अवलम्बन करके साधक मोक्षकी प्राप्तिके योग्य हो जाता है। इसीलिए तन्त्रमें लिखा है—

"यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षः, यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
देवीपदाम्भोज-समाश्रितानां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥"

जो भोगी है वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। मुमुक्षु पुरुषको भोगकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसने जगन्माताके चरण-कमलमें आश्रय लिया है अर्थात् जो तन्त्रोक्त विधानके अनुसार उपासना करते हैं, वे भोग और मोक्ष दोनोंको प्राप्त करते हैं। इसीलिए तन्त्रोक्त पञ्च मकारकी साधना प्रवर्त्तित हुई। उसके भीतर भी योगाभ्यासका विधान है। जो तत्त्वान्वेषी हैं वे यदि पञ्च मकारके गूढ़ उद्देश्यसे अवगत होकर साधना करते हैं तो फिर कोई गड़बड़ी नहीं होती। परन्तु जो स्थूल भावसे साधन करनेमें अभ्यस्त हैं, वे यदि यथार्थ सद्गुरुके चरणोंका आश्रय लेते हैं तो उनकी आज्ञाके अनुसार चलनेपर कृतकृत्य हो सकते हैं। स्वमांस-होम या ब्राह्मण-रक्त द्वारा होम करके जो इष्ट देवताके तर्पणकी विधि है, उसके अर्थको साधारण लोग नहीं जानते। इसलिए गुरुमुखसे तन्त्रादि शास्त्रोंको सीखना आवश्यक है।

महाभारतके टीकाकार श्रद्धास्पद नीलकण्ठ जैन-धर्मावलम्बी थे। उनको तन्त्रका यथाथ रहस्य और तन्त्रके साङ्केतिक अर्थका ज्ञान न था। इसलिए इन बातोंमें जीवहत्याका उल्लेख समझकर उन्होंने इनको अशास्त्रविहित बतलाया है। परन्तु वास्तविक तन्त्रोक्त मतसे साधना अशास्त्रविहित नहीं हो सकती। जीव-हत्याका विषय वैदिक यज्ञमें भी है, परन्तु उसका आध्यात्मिक अर्थ है। बाह्य अर्थ-मात्र लेकर विचार करने पर स्वयं वेद भी 'अशास्त्रीय' हो जाते हैं।

कूटस्थमें रहना ही प्रकृत तपस्या है, इसे न जानकर जो लोग भक्तिके साथ केवल बाह्यानुष्ठानमें आसक्त होते हैं, उनकी तपस्याका भी कुछ फल होता है। परन्तु जो बाह्याडम्बरपूर्ण अनुष्ठानमें रत होकर शास्त्रविधिका उल्लङ्घन करते हैं, तथा कुछ फल पानेकी आशासे तपस्यामें रत होकर शरीर-मनको क्षीण कर डालते हैं, उनकी वह तपस्या आसुरिक तपस्या होती है उसमें कूटस्थ-दर्शन नहीं होता और क्रियाकी परावस्थाकी भी प्राप्ति नहीं होती। प्रकृत आध्यात्मिकताकी दृष्टिसे वह पूर्ण निष्फल प्रयास जान पड़ता है ॥६॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

अन्वय—सर्वस्य (सब प्राणियोंके) आहारः तु अपि (आहार भी) त्रिविधः प्रियः भवति (तीन प्रकार प्रिय होता है) तथा (उसी प्रकार) यज्ञः तपः दानं (यज्ञ, तपस्या और दान) [तीन प्रकारका होता है] तेषां (उनके) इमं भेदं (इस भेदको) शृणु (सुनो) ॥७॥

श्रीधर—आहारादिभेदादपि सात्त्विकादिभेदं दर्शयितुमाह—आहारस्तु इत्यादि त्रयोदशभिः। सर्वस्यापि जनस्य य आहारः—अन्नादिः, स तु यथायथं त्रिविधः प्रियो भवति। तथा यज्ञतपोदानानि च त्रिविधानि भवन्ति। तेषां च वक्ष्यमाणं भेदं इमं शृणु। एतच्च राजस-तामसाहार-यज्ञादि-परित्यागेन सात्त्विकाहार-यज्ञादि-सेवया सत्त्ववृद्धौ यत्नः कर्त्तव्यः इत्येतदर्थं कथ्यते ॥७॥

अनुवाद—[आहारादिके भेदसे सात्त्विकादि गुणभेद दिखलानेके लिए १३ श्लोकोंमें कह रहे हैं]—अन्नादि आहार त्रिविध रूपोंमें प्रिय होते हैं। इसी प्रकार यज्ञ, तपस्या और दान भी त्रिविध होते हैं। राजस-तामस आहार और यज्ञादिका परित्याग कर सात्त्विक आहार और सात्त्विक यज्ञादिके सेवन द्वारा सत्त्ववृद्धि करना आवश्यक है, यही कहते हैं ॥७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आहार, यज्ञ, तपस्या, दान तीन प्रकारके होते हैं—उन्हें बतलाता हूँ।—मनुष्योंकी प्रकृतिके अनुसार आहार, यज्ञ, तपस्या और दान भी तीन प्रकारके होते हैं। कौन सत्त्वनिष्ठ है, कौन रजोनिष्ठ और कौन तमोनिष्ठ, यह मनुष्यकी विशेष विशेष आहारके प्रति प्रीति देखकर जान सकते हैं। सात्त्विक आहार करनेसे प्रकृति बहुत-कुछ सत्त्वभावापन्न होती है, अतएव जिससे सत्त्वगुणकी वृद्धि होती

है, वैसा ही सात्त्विक आहार साधकको ग्रहण करना चाहिए तथा राजस और तामस आहारका त्याग करना चाहिए। इन विषयोंको ध्यानमें रखनेके लिए ही सात्त्विक, राजसिक और तामसिक आहारादिके भेदोंकी व्याख्या यहाँ भगवान् विस्तृत रूपसे कर रहे हैं ॥७॥

(सात्त्विक आहार)

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विक-प्रियाः ॥८॥

अन्वय—आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः (आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, चित्तकी प्रसन्नता तथा रुचिकी वृद्धि करनेवाले) रस्याः (सरस) स्निग्धाः (स्नेह-घृतादियुक्त) स्थिराः (जिसका सारांश देहमें स्थायी हो सके) हृद्याः (प्रीतिजनक) आहाराः (सब आहार) सात्त्विकप्रियाः (सात्त्विक लोगोंको प्रिय होते हैं) ॥८॥

श्रीधर—तत्र आहारत्रैविध्यमाह—आयुरिति त्रिभिः। आयुः जीवितम्। सत्त्वं उत्साहः, बलं शक्तिः, आरोग्यं रोगराहित्यं, सुखं चित्तप्रसादः, प्रीतिः अभिरुचिः, आयुरादीनां विवर्द्धनाः विशेषेण वृद्धिकराः। ते च रस्याः रसवन्तः, स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः, स्थिराः देहे सारांशेन चिरकालावस्थायिनः, हृद्याः दृष्टिमात्रादेव हृदयङ्गमाः। एवम्भूता आहाराः भक्ष्यभोज्यादयः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

अनुवाद—[आहारकी त्रिविधता तीन श्लोकोंमें कह रहे हैं]—आयु, उत्साह, शक्ति, आरोग्य, चित्तकी प्रसन्नता, अभिरुचि—इनकी विशेषरूपसे वृद्धि करने वाले, साथ ही रसवाले, स्नेहयुक्त तथा जिसका सार अंश देहमें चिरस्थायी हो और जो मनको आनन्द प्रदान करे, इस प्रकारके भक्ष्य-भोज्यादि आहार सात्त्विक लोगोंको प्रिय होते हैं ॥८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आयुवृद्धि होती है क्षीरसे, सत्त्वगुण बढ़ता है घृतसे, बल दुग्धसे, आरोग्य तिक्तसे, सुख मधुसे, प्रीति पायससे—रसाल वस्तुएँ ठण्ढी होती हैं। स्थिरा होता है हविष्यान्न, हृद्य होता है पायस-घृत-मधुमिश्रित—ये सब सात्त्विक आहार हैं। —सात्त्विक लोगोंका जो प्रिय आहार है तथा जो सत्त्वगुणवर्द्धक है, उसे बतलाते हैं। (१) जिससे आयु वृद्धि होती हो, जैसे क्षीर। (२) जिसके द्वारा मनका उत्साह बढ़े, शरीरका अवसाद दूर हो तथा सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, जैसे घृत। (३) जिससे बलवृद्धि हो जैसे दुग्ध। (४) जिसके द्वारा पीड़ासे छुटकारा होकर आरोग्य प्राप्त हो, जैसे तिक्त द्रव्य। (५) जिसके द्वारा सुख प्राप्त हो, जैसे मधु। (६) जिसको भोजन करते ही तृप्ति मिले, जैसे पायस। (७) जो रसयुक्त वस्तु हो, जैसे मीठे फल और रसादि। रसीली चीजोंको खानेसे शरीर ठण्ढा रहता है। (८) जो स्निग्ध वस्तु हो, जैसे मक्खन, मट्ठा प्रभृति। (९) जो स्थिर हो अर्थात् जिसका सार अंश शरीरमें स्थायी भावसे रहे, जैसे हविष्यान्न। (१०) जो हृद्य हो अर्थात् जो देखनेमें मनोरम जान पड़े, किसी प्रकारकी मलिनता जिसमें न हो, जैसे पायस-घृत-मधु-मिश्रित आहार। ये

सात्त्विक आहार हैं। जो योगाभ्यासमें रत हैं, उनको प्रारम्भमें यदि आहारकी वस्तु सात्त्विक न हो तो साधनामें बहुत विघ्न होती है। जिन्होंने साधनामें उन्नति प्राप्त की है तथा बहुत देर तक प्रतिदिन साधना करते हैं उनकी श्वासकी स्थिरता बढ़ती है और स्थिरता-वृद्धिके साथ उनके आहारका परिमाण क्रमशः लघु हो जाता है। इससे शरीर दुर्बल या रोगग्रस्त नहीं होता ॥८॥

(राजसिक आहार)

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

अन्वय—कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः (अति कटु, अति अम्ल, अति लवणाक्त, अति उष्ण, अति तीक्ष्ण, अति रूक्ष, अति विदाही) दुःखशोकामयप्रदाः (दुःख, शोक और रोगजनक) आहाराः (सब आहार) राजसस्य (राजसी लोगोंके) इष्टाः (प्रिय होते हैं) ॥९॥

श्रीधर—तथा कट्विति। अतिशब्दः कट्वादिषु सप्तष्वपि सम्बध्यते। तेन अतिकटुः निम्बादिः। अत्युग्रः, अतिलवणः, अत्युष्णश्च प्रसिद्धः। अतितीक्ष्णः मरीचादिः। अतिरूक्षः कङ्गुकोद्रवादिः। अतिविदाही सर्षपादिः। अतिकट्वादय आहारा राजसस्य इष्टाः—प्रियाः। दुःखं तात्कालिकं हृदयसन्तापादि। शोकः पश्चाद्भावि दौर्मनस्यम्। आमयः—रोगः। एतान् प्रददति—प्रयच्छन्तीति तथा ॥९॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—अति-शब्द कटु आदि सातों शब्दोंके साथ सम्बन्ध रखता है। अति कटु जैसे निम्बादि। अति अम्ल, अति लवण और अति उष्ण द्रव्यादि प्रसिद्ध हैं। अति तीक्ष्ण जैसे मरीचादि। अति रूक्ष जैसे कँगुनी और कोदो नामक धान्य विशेष। अति विदाही सर्षपादि। अति कटु आदि आहार राजसी लोगोंको प्रिय होते हैं। वह दुःख, शोक, अप्रसन्नता तथा रोगप्रद होते हैं ॥९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कड़वा, अम्ल, लवण, ऊष्ण, तीक्ष्ण, जो द्रव्य रूक्ष करते हैं मिर्चा, मरीच—ये राजसिक आहार हैं—खाने पर दुःख और शोक होता है—अच्छी तरहसे।—जिन वस्तुओंका सेवन करनेसे दुःख, शोक और व्याधि उत्पन्न होती है वे राजसी लोगोंको प्रिय होते हैं, यथा (१) अति कटु जैसे निम्ब, चिरायता आदि। (२) अति अम्ल जैसे कच्ची इमली, अमड़ा आदि। (३) अति लवण। (४) अति उष्ण जैसे, जलता हुआ भात, दूध आदि जिससे जीभ जल जाय। (५) अति तीक्ष्ण जैसे तीखा मिर्चा, मीर्च आदि। (६) अति रूक्ष—जो पदार्थ रुखापन पैदा करे, जैसे कँगुनी, कोदो आदि। स्नेह-हीन—चावलका भूजा, चनेका भूजा आदि। (७) अति विदाही—जिसको खाने पर मुँह, पेट, छाती, गला जल उठे जैसे सर्षप आदि। ये भोजनके समय भी दुःखप्रद होते हैं, क्योंकि शरीरमें कष्टका अनुभव होता है। इसका परिणाम भी दुःखजनक होता है, क्योंकि इसके द्वारा व्याधि उत्पन्न होती है। इन सब वस्तुओंके सेवनसे शरीर अस्वस्थ हो जाता है तथा साधनमें विघ्न उत्पन्न होता है। इसलिए क्रियावान् लोगोंको इस विषयमें सतर्क रहना चाहिए ॥ ९ ॥

(तामसिक आहार)

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

अन्वय—यातयामं (पक्क वस्तु जो एक पहर पहले पकायी गयी और ठंढी हो गयी हो) गतरसं (रसहीन जिसका सार निकाल लिया गया हो) पूति पर्युषितं च (पहले दिनका पका, वासी और दुर्गन्धयुक्त हो) उच्छिष्टम् अपि (तथा दूसरोंका भुक्तावशिष्ट) अमेध्यं च (तथा अपवित्र) यत् भोजनं (जो भोज्य वस्तु है) [तत्—वह] तामसप्रियं (तामस लोगोंको प्रिय है) ॥ १० ॥

श्रीधर—तथा—यातयाममिति । यातः यामः प्रहरो यस्य पक्कस्य ओदनादेः तद् यातयामं—शैत्यावस्थाप्राप्तमित्यर्थः । गतरसं निष्पीड़ितसारं, पूति दुर्गन्धं पर्युषितं दिनान्तरपक्कम्, उच्छिष्टम्—अन्यभुक्तावशिष्टं, अमेध्यं अभक्ष्यं कलञ्जादि, एवंभूतं भोजनं भोज्यं तामसस्य प्रियम् ॥ १० ॥

अनुवाद—यातयाम—पक्क वस्तु जो एक पहर बीत जाने पर ठंढी पड़ गयी हो । गतरस—नीरस, जिसका सार निकाल लिया गया हो । पूति—दुर्गन्धमय । पर्युषित—दूसरे दिनका पका हुआ । उच्छिष्ट—दूसरेका भुक्तावशिष्ट, जूठन । अमेध्य—अभक्ष्य, कलञ्जादि (विषाक्तविद्ध पशुपक्षी आदिका मांस) । इस प्रकारके भोज्य तामसी लोगोंको प्रिय होते हैं ॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—दश-ग्यारह दगड पहले पकाया भात, सड़ा गला, बासी उच्छिष्ट, अपवित्र—ये सब तामस भोजन हैं ।—गुणभेदसे आहारके भेद होंगे ही । जिसमें सत्त्वगुण प्रबल है वह राजसिक या तामसिक आहार ग्रहण नहीं कर सकता । ग्रहण करने पर उसका शरीर और मन अस्वस्थ हो जायगा । तामस या राजस प्रकृतिके लोग सात्त्विक आहार ग्रहण करने पर पीड़ाग्रस्त हो जायँगे । निश्चय ही राजसिक और तामसिक लोग यदि धीरे धीरे सत्त्वगुणयुक्त आहार ग्रहण कर सकें तथा सत्त्वानुरूप कार्य और चिन्तादिका अभ्यास कर सकें, तो उनका स्वभाव भी धीरे धीरे परिवर्तित हो जायगा । परन्तु सहसा ऐसा करने पर अनर्थ उत्पन्न होगा । जिसका प्राण सुषुम्ना-मार्गमें प्रवाहित होता है उसके लिए अशुद्ध आहार विपद्-जनक है । इसलिए योगियोंको अशुद्ध आहार ग्रहण करनेमें सावधानीकी आवश्यकता है, अन्यथा विपरीत फल प्राप्त होता है ॥ १० ॥*

---

* कहा जाता है कि सिद्ध साधक श्रीमत् शङ्कराचार्यको किसी चाण्डालने निमन्त्रण दिया । उनको भोजन करानेके लिए अपना खाद्य शूकर-मांस पकाकर रखा । उसका उद्देश्य यह देखना था कि वह जो सबको ब्रह्म कहते हैं, वह केवल मौखिक बात है या उनके भीतर भी यही बात है । श्रीमत् शङ्कराचार्य कुत्तेके वेशमें निमन्त्रणकी रक्षा करने आये । परन्तु चाण्डालोंने न पहचान कर उन कुक्कुर वेशधारी शङ्कराचार्यको मार भगाया । पश्चात् उन्होंने स्वामीजीकी बहुत अपेक्षा की और जब वह नहीं आये तो उनको बड़ा दुःख हुआ ।

(सात्त्विक यज्ञ)

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

अन्वय—अफलाकाङ्क्षिभिः (फलाकाङ्क्षाहीन लोगोंके द्वारा) विधिदिष्टः (शास्त्रविहित) यः यज्ञः (जो यज्ञ) यष्टव्यमेव (अवश्य अनुष्ठेय है) इति मनः समाधाय (इस प्रकार मन समाधान करके) इज्यते (अनुष्ठित होता है) सः सात्त्विकः (वह सात्त्विक यज्ञ है) ॥११॥

फिर आचार्यके पास जाकर वे लोग बोले—'आपने झूठ क्यों कहा ? हम जानते थे कि आप हमारा अन्न ग्रहण नहीं करेंगे, पहले ही यह बात हमको आपने कह दी होती। हम आपके लिए आयोजन करके अपेक्षा नहीं करते। यह हमारी समझमें आ गया कि आप जो ब्राह्मण और चाण्डाल, मनुष्य और पशु सबको ब्रह्ममय कहते हैं, यह बात कपटमय है।' शङ्कराचार्यने उनका समादर करते हुए नम्रतापूर्वक कहा—"भाई ! मैं तो भोजन करनेके लिए आपके यहाँ गया था, परन्तु आपने मुझे भोजन नहीं कराया।" उन्होंने उत्तर दिया—"हम लोग आपकी प्रतीक्षा कर रहे थे, आप तो आये ही नहीं, यदि आप आये होते तो क्या हममें से कोई भी आपको न देखता ? अतएव आपका वहाँ जाना कभी सत्य नहीं हो सकता।" इस पर आचार्यने कहा—"आपकी यह बात ठीक है, परन्तु मैं भी असत्य नहीं बोलता। मैं मनुष्य-वेशमें आपके यहाँ नहीं गया था। इसका कारण यह है कि आप लोगोंने मेरे लिए जो अन्न तैयार किया था, वह मेरे इस शरीरके अनुकूल नहीं था। फिर भी जब आपका निमन्त्रण मैंने स्वीकार किया था, तो उसकी रक्षा करनी ही चाहिए थी। अतएव जिस शरीरसे वह आहार पचाया जा सकता है, उसके अनुसार ही मैं कुक्कुरके वेशमें आपके घर निमन्त्रणकी रक्षा करनेके लिए गया था। परन्तु आपने मुझे भोजन नहीं दिया, बल्कि डंडा मारकर भगा दिया।" यह बात सुनकर चाण्डाल लोग बहुत लज्जित हुए।

एक बार बुद्धदेवके समय भी ऐसी ही घटना घटी थी। बुद्धदेवके भक्त चण्डने उन्हें निमन्त्रण देकर शूकरका मांस खानेके लिए दिया था। करुणामय बुद्धदेव चण्डके दिये हुए शूकर-मांसको ग्रहण कर रोगग्रस्त हो गये थे, यहाँ तक कि उसीसे उनका देहावसान तक हो गया। बुद्धदेवने कहा था कि शूकर-मांस चण्डका प्रिय आहार है, इसीलिए उसने मुझे दिया। परन्तु मेरा शरीर उसको सहन न कर सका, आज उसके ही फलस्वरूप मेरा शरीर नष्ट होने जा रहा है।

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः" यह तो सत्य है ही, पुनः श्रीशङ्कराचार्यने जो इन्द्रियग्राह्य विषयोंको ही आहार कहा है वह भी अति सत्य है, क्योंकि राग, द्वेष, मोह इन त्रिविध दोषोंसे वर्जित होकर इन्द्रियाँ यदि विषय ग्रहण न करें, तो चित्त प्रसन्न न होगा, और निर्मल भी नहीं होगा। किन्तु जिनमें ऐसा उच्च अधिकार उत्पन्न नहीं हुआ है, जो अध्यात्म-मार्गमें प्रवर्त्तक-मात्र हैं, उनके लिए भी आहार यथासम्भव पवित्र होना आवश्यक है। कदर्य अन्न

श्रीधर—यज्ञोऽपि त्रिविधः, तत्र सात्त्विकं यज्ञमाह—अफलाकांक्षिभिरिति त्रिभिः। फलाकाङ्क्षारहितैः पुरुषैः विधिना दिष्टः—आवश्यकतया विहितो यो यज्ञः इज्यते—अनुष्ठीयते, स सात्त्विको यज्ञः। कथम् इज्यते? यष्टव्यमेवेति—यज्ञानुष्ठानमेव कार्यं नान्यत् फलं साधनीय-मित्येवं मनः समाधाय एकाग्रं कृत्वा इत्यर्थः ॥११॥

ग्रहण करनेसे आयु क्षीण होती है, शरीर रोगग्रस्त होता है तथा अकाल-मृत्यु हो जाती है। मनुस्मृतिमें लिखा है—"अनभ्यासेन वेदानां आचारस्य च वर्जनात्। आलस्याद् अन्नदोषाच्च कालो विप्रान् जिघांसति ॥" अ० ५-४

देह-मन शुद्ध न रहने पर अहरहः भगवत्स्मृतिका उदय नहीं हो सकता, अतएव देह-मनकी शुद्धिके लिए अन्न-दोषवर्जित होना चाहिए। आचार-वर्जित होने पर भी अन्नशुद्धिकी हानि होती है, अतएव आचार सर्वदा अवर्जनीय है।

श्रीमद् आचार्य रामानुजने भी खाद्यके त्रिविध दोषोंका त्याग करनेके लिए कहा है—(१) जातिदोष (२) आश्रयदोष (३) निमित्तदोष। जातिदोषका अर्थ यह है कि नीच जाति या कुकर्मासक्त लोगोंका अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिए। आज भी यह आचार इस सम्प्रदायमें प्रबल भावसे विद्यमान है। संस्पर्श-दोष भी बहुत बड़ा दोष है, परन्तु इस युगके लोग इस बातको मानना नहीं चाहते। इसका एकमात्र कारण है सत्त्वगुणका अभाव। आज-कलके चिकित्सक भी उत्कट-व्याधि-पीड़ित स्थानके द्रव्यादि ग्रहण करनेका निषेध करते हैं। स्थूल शरीरके लिए दूषित स्थानका अन्न ग्रहण करने पर व्याधि होना प्रायः अनिवार्य है। यदि व्याधिग्रस्त स्थानका अन्न ग्रहण करनेमें दोष होता है तो सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन, बुद्धि, अहङ्कार, प्राण और इन्द्रियादि यदि हीन जाति या हीन कर्म करनेवालोंके अन्नसे दूषित हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? श्रुतिमें कहा है कि अन्न ही प्राण, मन और बुद्धिरूपमें परिणामको प्राप्त होता है। अतएव जो आदमी जिस अन्नसे पुष्ट होता है उसकी मन, बुद्धि और इन्द्रियोंकी चेष्टा भी तद्रूप ही होनेको बाध्य है। ज्ञान-दृष्टिसम्पन्न ऋषियोंने इसी कारण हिन्दु-समाजमें आहारके सम्बन्धमें इतने कड़े नियम प्रचलित किये थे। यह किसीके प्रति विद्वेषके कारण नहीं था, विशुद्धिकी रक्षाके लिए ही वे ऐसा करनेको बाध्य हुए थे। आजकल भी Segregation camp होते हैं, प्रयोजन होने पर नगरमें यात्रियोंका एकाएक प्रवेश निषिद्ध किया जाता है। कल्याणकी इच्छासे प्रेरित होकर ही ये सब काम किये जाते हैं। हम सरकार या म्युनिसिपैलिटीकी आज्ञा माननेमें कोई आपत्ति नहीं करते, परन्तु शास्त्रकी बात नहीं मानते—इसका कारण है श्रद्धाका अभाव। जो लोग इस प्राचीन पद्धतिको मानकर चलते हैं उनको रसोई घरमें ही धर्मरक्षा करनी पड़ती है। सूक्ष्मका संयम करनेके लिए यदि पहले स्थूलका संयम करना आवश्यक है, तो धर्मको रसोई-घरमें भी बनाये रखना जड़वाद नहीं कहा जा सकता। निश्चय ही ज्ञानके अभावके कारण हम बहुधा सत्यको छोड़कर उसके ऊपरी छिकेलको पकड़ लेते हैं, परन्तु क्या उसको एकबारगी छोड़ देने पर ही हम जड़ातीत अवस्थामें पहुँच सकते हैं? मनुष्य-समाज प्राचीन होने पर भी समाजस्य सब लोग यदि धर्मका पालन नहीं करते हैं तो भी बहुतसे लोग प्राणपनसे उसे करते हैं और ज्ञान-पूर्वक करते हैं। सब लोग वैसा आचारवान् न भी हो सकें, परन्तु आचारहीन हो जाने पर लोग अधिकार-भ्रष्ट होकर नष्ट हो जायेंगे, यह हम विचार कर नहीं देखते। मनुने कहा है—"आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।"

अनुवाद—[यज्ञ तीन प्रकारके होते हैं यह तीन श्लोकोंमें कहते हैं, उनमें सात्त्विक यज्ञके विषयमें यहाँ कहते हैं]—फलाकाङ्क्षारहित पुरुषोंके द्वारा विधिदिष्ट अर्थात् आवश्यक कहकर जो अनुष्ठान विहित होता है, वही सात्त्विक यज्ञ है। मुझे यज्ञानुष्ठान करना है, अन्य फल साधनीय नहीं हैं, इस प्रकार मनको एकाग्र करके वे यज्ञ करते हैं ॥११॥

आध्यात्मिक व्याख्या—फलकी आकांक्षासे रहित होकर क्रिया करना—विशेषरूपसे बुद्धि स्थिर करके क्रियाके परे होकर, कर्त्तव्य कर्म है—इस प्रकार मनमें करके धारणा, ध्यान समाधिपूर्वक जो करता है वह सात्त्विक है।—त्रिविध यज्ञोंमें सात्त्विक यज्ञ कैसा है, यह बतलाते हैं। यह यज्ञ फलाकाङ्क्षारहित होकर किया जाता है। सब यज्ञोंमें फलकी आकाङ्क्षा होती है, फिर फलाकाङ्क्षारहित यज्ञ कौनसा है? भगवत्प्रीत्यर्थ अवश्य कर्त्तव्य समझकर जो यज्ञ अनुष्ठित होता है वह भी सात्त्विक है सही, परन्तु और भी एक प्रकारका यज्ञ है जिसमें फलाकाङ्क्षा बिलकुल ही नहीं होती। वही वस्तुतः सात्त्विक यज्ञ है। इसको ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं, क्योंकि ब्रह्मनाड़ीके भीतर प्राणको ले जाने पर बुद्धि विशेषरूपसे स्थिर होती है। वही एकमात्र कर्त्तव्य कर्म है, क्योंकि उसके सिवा जीवके उद्धारका और कोई उपाय नहीं है। जो अन्यान्य कर्त्तव्य हैं, उनको करने पर मनमें तदनुरूप संस्कार रह ही जाते हैं। मनको संस्कारशून्य किये बिना वास्तविक कामनाशून्य कोई नहीं हो सकता। प्राणके भीतर जो कर्मके संस्कार या दाग पड़ जाते हैं उनको दूर हटाना तबतक असम्भव है जबतक प्राणका शोषण नहीं किया जाता। प्राण जब शुद्ध होकर स्थिर होता है तभी मन शुद्ध होता है। शुद्ध मनमें सङ्कल्पकी तरङ्ग नहीं उठती। सङ्कल्पशून्य अवस्थामें ही समाधिप्रज्ञाका उदय होता है। इसीसे समाधिप्रज्ञाके लिए धारणा-ध्यानादि आवश्यक हैं। धारणा-ध्यानके लिए जो प्राणायामादि पुरुषार्थ-साधन हैं, वे ही सात्त्विक यज्ञ हैं। उसे भी विधिदिष्ट रूपमें करना चाहिए। साधनाके लिए जो शास्त्रोपदिष्ट नियमादि-पालन है, वही विधिदिष्ट यज्ञ है। मनमानी साधना करनेसे काम नहीं चलेगा। गुरुके उपदेश और आदेशके अनुसार काम करना पड़ेगा और वह भी प्रतिदिन नियमपूर्वक ॥११॥

(दाम्भिकका राजस यज्ञ)

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

अन्वय—तु फलं अभिसन्धाय (परन्तु फलकी अभिसन्धि करके) अपि च (तथा) दम्भार्थम् एव (दम्भके लिए अर्थात् अपने धार्मिकत्व और महत्त्वको प्रकट करनेके लिए) यत् इज्यते (जो यज्ञ अनुष्ठित होता है) तं यज्ञं (उस यज्ञको) राजसं विद्धि (राजस जानो) ॥१२॥

श्रीधर—राजसं यज्ञमाह—अभिसन्धायेति। फलं अभिसन्धाय—उद्दिश्य, यत् तु इज्यते—यज्ञः क्रियते। दम्भार्थञ्च—स्वमहत्त्वख्यापनार्थं, तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥१२॥

अनुवाद—[राजस यज्ञके विषयमें कहते हैं]—फलकी अभिसन्धि करके अर्थात् फलके उद्देश्यसे तथा स्वमहत्त्व प्रकट करनेके लिए जो यज्ञ किया जाता है, उसको राजस जानना चाहिए ॥१२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—फलाकाङ्क्षाके साथ और दम्भके साथ जो ऐसा करता है उसको राजसिक यज्ञ कहते हैं। – फलके लाभकी कामना करके अथवा मुझको लोग धार्मिक जानें, इस प्रकारकी वासना लेकर जो यज्ञ या क्रियादि करता है वह राजसी है। बहुत लोग इस उद्देश्यसे साधन करते हैं कि इससे रोग दूर हो जायगा तथा लोग उन्हें योगी कहेंगे। इन सब उद्देश्योंको लेकर जो क्रिया करते हैं, उनकी क्रिया ठीक नहीं होती। दाम्भिक लोग वस्तुतः महान् न होकर भी लोगोंके सामने सम्मान-प्रतिष्ठा चाहते हैं। यदि लोग कार्य-विशेषसे उनसे मिलने आते हैं तो वे दरवाजा बन्द करके बैठते हैं, लोगोंको दिखलाते हैं कि वे कितनी देर तक पूजा करते हैं। सम्भवतः पूजा कुछ नहीं करते, केवल पूजाका नाट्य करके मन्दिरमें बैठे रहते हैं और ऊँघते रहते हैं ॥१२॥

(श्रद्धाहीनका तामस यज्ञ)

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

अन्वय—विधिहीनं (शास्त्रोक्त-विधिशून्य) असृष्टान्नं (सत्पात्रको अन्न-दान-शून्य) मन्त्रहीनं (मन्त्र-वर्जित) अदक्षिणं (दक्षिणारहित) श्रद्धाविरहितं (श्रद्धा-शून्य) यज्ञं (यज्ञको) तामसं परिचक्षते (तामस कहा जाता है) ॥१३॥

श्रीधर—तामसं यज्ञमाह—विधीति। विधिहीनं—शास्त्रोक्तविधिशून्यं। असृष्टान्नं ब्राह्मणादिभ्यः असृष्टं न निष्पादितं अन्नं यस्मिन् तम्। मन्त्रहीनं—मन्त्रैर्हीनं। अदक्षिणम्—यथोक्तदक्षिणारहितं श्रद्धाशून्यं च यज्ञं तामसं परिचक्षते—कथयन्ति शिष्टाः ॥१३॥

अनुवाद—[तामस यज्ञके विषयमें कहते हैं]—शास्त्रोक्त विधिसे शून्य जिस यज्ञमें ब्राह्मणादिके उद्देश्यसे अन्न-दान नहीं होता, जो मन्त्रहीन, दक्षिणारहित और श्रद्धाशून्य यज्ञ है, उसे शिष्टजन तामस यज्ञ कहते हैं ॥१३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाके परे विशेष रूपसे बुद्धि स्थिर न करके और क्रिया न करके तथा ॐकार-क्रिया न करके जो कुछ किया जाता है, सब तामसिक कर्म है, अर्थात् क्रिया गुरु-वाक्यके द्वारा प्राप्त करके समस्त कर्म करे, अन्यथा सब वृथा है।—क्रिया विधिहीन तब होती है जब वह अनियमित रूपसे की जाती है। समयका ठीक नहीं, स्थानका ठीक नहीं, बेगारी करनेके समान काम करना। इसके अतिरिक्त जो नियमित भावसे भी प्रतिदिन क्रिया करते हैं वे यदि क्रिया समाप्त करके झटपट आसनसे उठ जाते हैं, तो वह क्रिया विधिहीन हो जाती है। उसका नियम या विधि यह है कि मन लगाकर क्रिया करनेके बाद भी तबतक स्थिर होकर बैठा रहे, जब तक कि मन चञ्चल न हो जाय। इस प्रकार स्थिरतापूर्वक बैठे रहनेका अभ्यास करने पर क्रियाकी परावस्थाका आस्वादन होता है।

असृष्टान्न—अन्न = प्राण, अ = नहीं, सृष्ट = मिलित। अतएव असृष्टान्न अर्थात् जो प्राण युक्त या मिलित नहीं यानी चञ्चल। क्रिया करके स्थिरत्व-अवस्थाका अनुभव न कर पाना।

मन्त्रहीन—श्वास ही मन्त्र है। श्वास-प्रश्वासके द्वारा जो प्राणायामादि क्रिया की जाती है, उसको न करना ही मन्त्रहीन यज्ञ है। सब पूजाओंके प्रारम्भमें प्राणायाम किया जाता है। उसके विना पूजा मन्त्रहीन है।

अदक्षिण—दक्षिणा = क्रियाका शेषफल अर्थात् परावस्था। उसकी अप्राप्ति ही दक्षिणाविहीन यज्ञ है।

श्रद्धाविरहित—श्रद्धा—भक्तिभाव, विश्वास, मनकी निर्मलता। इन सबका न होना ही श्रद्धाविरहित भाव कहलाता है। जिसकी क्रियामें भक्ति नहीं है, विश्वास नहीं है, जो अनादरके साथ क्रिया करता है, क्रिया करके भी मन निर्मल नहीं होता या सङ्कल्पशून्य नहीं होता, उसीका यज्ञ श्रद्धाविरहित कहलाता है।

उपर्युक्त दोषोंसे रहित होकर क्रिया करनी चाहिए। इसे गुरुसे उपदेश लेकर करना चाहिए। केवल पुस्तक देखकर साधन करनेसे काम नहीं चलेगा। गुरु जैसे जैसे उपदेश दें, ठीक उसी प्रकारसे चलना पड़ेगा। ऐसा न करनेसे केवल परिश्रम ही हाथ लगेगा ॥१३॥

(तपस्या तीन प्रकारकी होती है—शारीरिक, वाचिक और मानस)

(शारीरिक तप)

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

अन्वय—देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं (देवता, द्विज, गुरु और प्राज्ञ पुरुषकी अर्चना) शौचम् (शौच) आर्जवम् (सरलता) ब्रह्मचर्यम् (ब्रह्मचर्य) अहिंसा च (और अहिंसा) शारीरं तपः (शारीरिक तपस्या) उच्यते (कहलाती है) ॥ १४ ॥

श्रीधर—तपसः सात्त्विकादिभेदं दर्शयितुं प्रथमं तावत् शारीरादिभेदेन तस्य त्रैविध्यमाह—देवेत्यादित्रिभिः। तत्र शारीरमाह—देवेति। प्राज्ञाः गुरुव्यतिरिक्ता अन्येऽपि तत्त्वविदः। देवब्राह्मणादिपूजनं शौचादिकं च शारीरं शरीरनिर्वर्त्यं तपः उच्यते ॥ १४ ॥

अनुवाद—[तपस्याके सात्त्विकादिभेद दिखलानेके लिए पहले शारीरादिभेदसे तपस्याके तीन प्रकारके भेदोंको तीन श्लोकोंमें कहते हैं]—देव, द्विज, गुरु और प्राज्ञ अर्थात् गुरुके अतिरिक्त अन्य तत्त्ववेत्ता पुरुषकी पूजा और शौचादि, आर्जव (सरलता), ब्रह्मचर्य और अहिंसा—ये शारीरिक तप कहलाते हैं। शारीरिक तपस्या अर्थात् जो तपस्या शरीर द्वारा सम्पन्न होती है ॥ १४ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—देवता कूटस्थमें ध्यान, क्रियान्वित पुरुषके पास जाना, आत्मामें रहना, विशेष चैतन्य जिनको क्रियाके द्वारा हुआ है उनके पास जाना, 'पूजनं' क्रिया करना—ब्रह्ममें रहना, 'आर्जवं' सरल होना अर्थात् जो मनमें हो वही कहना, 'ब्रह्मचर्यं' ब्रह्ममें

ही रहना, अन्यको अच्छा देखकर कातर न होना—यह शारीरिक तपस्या है।—तपस्या तीन प्रकारकी होती है, उनमें शारीरिक तपके विषयमें यहाँ कहते हैं। (१) देवताकी पूजा—पुष्प, धूप, नैवेद्य आदिके द्वारा शास्त्रविधिके साथ देवार्चना बाह्य पूजा है। किन्तु जो योगाभ्यासमें निरत हैं उनकी पूजा है कूटस्थमें ध्यान। कूटस्थमें ध्यान कैसे किया जाता है, यह सद्गुरुके पास सीखना पड़ता है। (२) द्विज-पूजा—बाह्य दृष्टिसे वेदज्ञ ब्राह्मणका सत्कार। अन्तर्लक्ष्यमें द्विज होता है क्रियावान् पुरुष। जिसको कूटस्थ-दर्शन हुआ है ऐसे पुरुषका सङ्ग करना तथा उसके साथ साधनाके विषयमें आलोचना करना। क्रियावान् पुरुषोंको द्विज कहा जाता है, क्योंकि उनका दो बार जन्म होता है। पहला जन्म मातृगर्भसे भूमिष्ठ होना है। द्वितीय जन्म तब होता है जब गुरु कूटस्थ दर्शन करा देते हैं, कूटस्थ दर्शनका उपाय बतला देते हैं। "मैं कौन हूँ" यह भूल जानेसे जीवका देहात्मबोध प्रबल हो जाता है। जब गुरु कृपा करके 'मैं'को दिखला देते हैं, तब जिस आत्म-स्मृतिका उदय होता है, उस स्मृतिके कारण 'आत्म' सम्बन्धमें जो धारणा उत्पन्न होती है, वही संस्कार है। (३) गुरुपूजा—बाह्य रूपमें माता-पिता-आचार्यकी पूजा। अन्तर्लक्ष्यमें जो आत्मामें प्रतिष्ठित हैं उनकी पूजा ही गुरुपूजा है। आत्मा ही प्रकृत गुरु है। "आत्मा वै गुरुरेकः"—आत्मा ही एकमात्र गुरु है। (४) प्राज्ञपूजा—ब्रह्मनिष्ठ पुरुषकी पूजा। द्विज और गुरुकी तो पूजा करनी ही चाहिए, परन्तु गुरु अथवा ब्राह्मण न होकर भी यदि वह ब्रह्मनिष्ठ और तत्त्वज्ञ पुरुष हैं, तो वह चाहे जिस वर्णके हों उनकी पूजा करना कर्त्तव्य है। अन्तर्लक्ष्यमें प्राज्ञ वह है, जिसने क्रियाके द्वारा विशेष उच्च अवस्था प्राप्त की है अर्थात् जिसकी सुषुम्ना चैतन्ययुक्त हो गयी है और जिसको योग मार्गकी बातें दूर तक मालूम हैं। ऐसे महात्माका सङ्ग करना तथा उनका सत्कार करना आवश्यक है। (५) शौच—मिट्टी, जल आदिके द्वारा शरीर-शुद्धि, तथा प्राणायाम आदिके द्वारा मनःशुद्धि अर्थात् ब्रह्ममें रहनेकी चेष्टा। (६) आर्जव—अकपट भाव, मनमें जो है वही बोलना, मनके भावको न छिपाना। अन्तर्लक्ष्यमें मन, इन्द्रिय और वाणीका संयत हो जाना। (७) ब्रह्मचर्य—शास्त्रनिषिद्ध मैथुनका त्याग। अन्तर्लक्ष्यमें मन जब ब्रह्माभ्यासमें रत हो जाता है और ब्रह्ममें ही रहता है, तभी प्रकृत ब्रह्मचर्य होता है। उस ब्रह्मरत पुरुषको ही लक्ष्य करके कहा गया है—"स देवो न तु मानुषः"। (८) अहिंसा—प्राणीको पीड़ा न पहुँचाना, दूसरोंका भला देखकर व्यथित न होना। श्रुति कहती है—"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि"—प्राणियोंकी हिंसा न करना। उनका प्राण हरना ही केवल हिंसा नहीं है। दूसरोंको पीड़ा पहुँचाना, मर्मभेदी बात बोलना आदि भी हिंसा है। मनुष्य जबतक स्वार्थरत रहेगा, तबतक वह किसी न किसी प्रकार दूसरोंकी हिंसा करेगा ही। यम-साधनमें सर्वोत्कृष्ट अहिंसा ही है। हिंसा और द्वेष ब्रह्मभावकी प्रतिष्ठाके परिपन्थी हैं। जो सबको अपना नहीं बना सकता तथा परोपकारके लिए अपना स्वार्थत्याग नहीं कर सकता, उसको भगवद्भक्ति नहीं होती, भगवद्दर्शन और ज्ञान होना तो दूरकी बात है। ये शरीर-साध्य तप हैं, शरीरके बिना नहीं होते।

इनके अन्तर्लक्ष्य और बहिर्लक्ष्य, दोनोंके प्रति साधकको ध्यान रखना आवश्यक है। बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही भावोंको आयत्त किये बिना प्रकृत आत्मोन्नति नहीं हो सकती, इसलिए ये दोनों ही भाव अनुष्ठेय हैं ॥१४॥

(वाङ्मय तप)

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

अन्वय—अनुद्वेगकरं (अनुद्वेगकर) सत्यं (सत्य) प्रियहितं च (प्रिय और हितकर) यत् वाक्यं (जो वाक्य है) स्वाध्यायाभ्यसनं च एव (और वेदाभ्यास) वाङ्मयं तपः (वाचिक तपस्या) उच्यते (कहलाती है) ॥ १५ ॥

श्रीधर—वाचिकं तप आह—अनुद्वेगकरमिति। उद्वेगं भयं न करोतीति अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं—श्रोतुः प्रियं, हितञ्च—परिणामे सुखकरं, स्वाध्यायाभ्यसनं—वेदाभ्यासश्च, वाङ्मयं—वाचा निर्वर्त्यं तपः उच्यते ॥१५॥

अनुवाद—[वाचिक तपस्या बतलाते हैं]—उद्वेगका अर्थ है भय। जिस वाक्यसे किसीको भय नहीं होता वही अनुद्वेगकर वाक्य है। जो श्रोताके लिए प्रिय और हितकर हो अर्थात् जो परिणाममें सुखकर हो ऐसा सत्य वाक्य तथा वेदाभ्यास—ये सब वाक्य-द्वारा होनेवाली अर्थात् वाङ्मय तपस्या है ॥ १५ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिससे दूसरे किसीको उद्वेग न हो ऐसी बात बोलना, सत्य—प्रिय और हित वाक्य—स्वाध्याय—बुद्धिके साथ क्रिया करना, इसको वाङ्मय तपस्या कहते हैं।—श्रीमद् आचार्य शङ्करने इस श्लोककी व्याख्यामें जो लिखा है, उसका सारांश इस प्रकार है—अनुद्वेगकरत्व, प्रियत्व, हितत्व तथा सत्यत्व इन चार धर्मोंके साथ वाक्यका सम्बन्ध रहना चाहिए।

वाक्य सत्य हो, पर उद्वेगकर, अहित अथवा अप्रिय हो तो उस वाक्यको वाङ्मय तप नहीं कह सकते। और यदि वाक्य हित और अनुद्वेगकर हो, परन्तु सत्य न हो तो उसे भी वाङ्मय तप नहीं कह सकते। इसी प्रकार प्रिय वाक्य भी यदि सत्य, हित और अनुद्वेगकर न हो, तो उसकी गणना भी वाङ्मय तपस्यामें नहीं हो सकती। अतएव यह वाचिक तपस्या भी सहज नहीं है।

आध्यात्मिक भावमें—क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें योगी जिन वाक्योंका उच्चारण करते हैं वे कभी असत्य नहीं होते। वे जगत्के लिए कल्याणकर और प्रिय होंगे ही।

स्वाध्याय—स्व = जीव, अधि = अतिक्रम करना, इ = गमन करना। इसलिए स्वाध्याय = जीवभाव अतिक्रम करके गमन करना। यह अवस्था तब होती है जब बुद्धिके साथ क्रिया की जाती है। गमन करती है मूलाधार-स्थित कुण्डलिनी जीवशक्ति। वह परमानन्दरूप सहस्रारमें शिवके साथ स्थित होती है। 'इ' शब्दका अर्थ है—"इकारं परमेशानी स्वयं कुण्डलीमूर्त्तिमान्"।

इसको वाङ्मय तप क्यों कहा गया? वाक्यका मूल है प्राण। प्राण स्थिर करने पर अपने आप वाक्यसंयम हो जाता है। साधक इससे संयतवाक् होता है, इसी कारण इसको वाङ्मय तपस्या कह सकते हैं ॥१५॥

(मानसिक तपस्या)

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

अन्वय—मनःप्रसादः (मनकी प्रसन्नता) सौम्यत्वं (सौम्यभाव—मुखकी प्रसन्नता आदिके द्वारा अन्तःकरणकी जो वृत्तिविशेष अनुमित होती है, वही "सौम्यत्व" है—शङ्कर) मौनं (मौनभाव) आत्मविनिग्रहः (अन्तःकरणका निरोध) भावसंशुद्धिः (अकपटता—हृदयशुद्धि) इति एतत् (ये सब) मानसं तपः (मानसिक तप) उच्यते (कहलाते हैं) ॥ १६ ॥

श्रीधर—मानसं तप आह—मनःप्रसाद इति। मनःप्रसादः—स्वच्छता, सौम्यत्वम्—अक्रूरता, मौनं—मुनेर्भावः मननमित्यर्थः, आत्मनो—मनसो विनिग्रहः—विषयेभ्यः प्रत्याहारः, भावसंशुद्धिः—व्यवहारे मायाराहित्यं इत्येतन्मानसं तपः उच्यते ॥ १६ ॥

अनुवाद—[मानसिक तपस्याके बारेमें कहते हैं]—मनःप्रसादः—मनकी स्वच्छता, सौम्यत्व—अक्रूरता, मौनका अर्थ है मुनिका भाव अर्थात् मनन। आत्मविनिग्रह—मनका विनिग्रह अर्थात् विषयोंसे प्रत्याहार। भावसंशुद्धि अर्थात् व्यवहारमें मायाहीन रहना—ये मानस तप कहलाते हैं ॥ १६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें रहकर मनकी सन्तुष्टता प्राप्त करना, स्थिर रहना, तृप्त रहना, आत्मामें ब्रह्ममें अटके रहना—यह मानस तप है।—क्रियाके अन्तमें एक प्रकारकी मानसिक प्रसन्नता प्राप्त होती है। उस समय कोई उद्वेग नहीं रहता। मानसिक-तपस्याका सर्वोच्च फल है मनन या ध्यान। तब कोई सङ्कल्प नहीं रहता। "सौम्यत्व" मनकी प्रसन्नताका चिह्न है। यह साधकका मुख देखते ही समझमें आ जाता है। उस समय एक अपूर्व स्थिरता रहती है, मन आत्मामें प्रविष्ट होकर संलीन हो जाता है। 'मौन'—क्रियाकी परावस्थाकी प्राप्तिके कारण मनकी क्रिया नहीं होती। यह मन इतना स्थिर हो जाता है कि जब योगी व्युत्थित होता है तब भी उसका नशा नहीं दूर होता, मन रहते हुए भी विचेष्ट रहता है। बाहरके विविध उत्पातोंके होते हुए भी उस स्थिर भावकी विच्युति नहीं होती। "आत्मविनिग्रह"—चित्तवृत्तिका निरोध, अपने आपमें रहना या ब्रह्ममें अटके रहना। "भावसंशुद्धि"—इस अवस्थामें मनकी अशुद्धि नहीं रहती। मनकी अशुद्धिसे ही सारे विकार होते हैं। विकार जब नहीं रहते तो किसको पर या शत्रु माना जाय। जब काम, क्रोध, लोभ नहीं रहते, तब चित्तमें कोई छल या कपटका भाव नहीं रहता। यही है आत्मभावमें प्रतिष्ठा। इन्द्रिय-विषयोंको देखकर तब मन फिर उछलकूद नहीं

करता। इन्हीं सबको मानस तप कहते हैं। यहाँ केवल मनको रोकनेका विषय ही विशेष रूपसे आलोचनीय है ॥ १६ ॥

(सात्त्विक तपस्या)

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

अन्वय—अफलाकाङ्क्षिभिः (फलाकाङ्क्षाशून्य) युक्तैः (योगयुक्त या एकाग्र-चित्त) नरैः (पुरुषोंके द्वारा) परया श्रद्धया (परमश्रद्धाके साथ) तप्तं (अनुष्ठित) तत् (पूर्वोक्त) त्रिविधं तपः (त्रिविध तपस्याको) सात्त्विकं परिचक्षते (सात्त्विक कहा जाता है) ॥ १७ ॥

श्रीधर—तदेवं शरीरवाङ्मनोभिः निर्वर्त्यं त्रिविधं तपो दर्शितम्। तस्य त्रिविधस्यापि तपसः सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमाह—श्रद्धयेत्यादित्रिभिः। तत् त्रिविधमपि तपः श्रेष्ठया श्रद्धया फलाकाङ्क्षाशून्यैः युक्तैः एकाग्रचित्तैः नरैः तप्तं तत् सात्त्विकं कथयन्ति ॥१७॥

अनुवाद—[इस प्रकार शरीर, वाक्य और मनके द्वारा सम्पादित होनेवाली त्रिविध तपस्याएँ कही गयीं। त्रिविध तपस्याएँ भी सात्त्विकादि-भेदसे तीन प्रकारकी हैं, यह तीन श्लोकोंमें बतलाते हैं]—उत्तम श्रद्धाके साथ फलाकाङ्क्षाशून्य और एकाग्र-चित्त मनुष्यके द्वारा सम्पादित जो त्रिविध तपस्या है, वह सात्त्विक कहलाती है ॥१७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार क्रियाकी परावस्थामें ब्रह्ममें रहकर फला-काङ्क्षा-रहित होकर अटके रहनेका नाम सात्त्विक है।—कायिक, वाचिक और मानसिक तपस्याकी बात कहकर गुणभेदसे ये भी तीन प्रकारकी होती हैं, यह बतलाते हैं। पूर्वोक्त तपस्याएँ कब सात्त्विक होती हैं? जब चित्त फलाकाङ्क्षारहित होता है तभी वह एकाग्र होकर निरोधमुखी होता है, इसीसे शिष्ट पुरुष इसको सात्त्विक तपस्या कहते हैं। प्राणायाम ही परम तपस्या है। प्राणायाम करते करते जब साधककी प्राणधारा सुषुम्नामें चलने लगती है, तभी चित्त एकाग्र होता है और बहिःश्वास क्षीण होते होते पूर्णतः रुद्ध हो जाता है। यही फलाकाङ्क्षाशून्य सात्त्विक तपस्याका लक्षण है ॥१७॥

(राजस तप)

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

अन्वय—सत्कारमानपूजार्थं (सत्कार, मान और पूजा पानेके लिए) दम्भेन च (तथा दम्भपूर्वक) यत् एव तपः (जो तपस्या) क्रियते (की जाती है) तत् इह (वह इहलोकका सर्वस्व अर्थात् इहलोकमें फलप्रद) [अतएव] चलं (अल्पकालस्थायी) [तथा] अध्रुवं (अनिश्चित) [तत् तपः—वह तपस्या] राजसं प्रोक्तम् (राजस कहलाती है) ॥१८॥

श्रीधर—राजसमाह—सत्कारेति। सत्कारः साधुकारः—साधुरयमिति तापसोऽयम् इत्यादिवाक्पूजा। मानः—अभ्युत्थानाभिवादनादिः दैहिकी पूजा। पूजा—अर्थलाभादिः। एतदर्थं दम्भेन च यत् तपः क्रियते। अतएव चलं अनियतं, अध्रुवञ्च क्षणिकम्। यत् एवंभूतः तपः तदिह राजसं प्रोक्तम् ॥१८॥

अनुवाद—[राजस तपस्याके विषयमें कहते हैं]—सत्कार अर्थात् साधुकार। लोग कहेंगे कि यह साधु हैं, तापस हैं इत्यादि वाक्पूजा है। मान—खड़े होकर अभिवादन आदिके द्वारा जो पूजा की जाती है, वह दैहिक पूजा है। पूजा—अर्थलाभ आदि, अर्थदानके द्वारा जो सम्मान-प्रदर्शन होता है। अतएव सत्कार, मान और पूजा प्राप्त करनेके लिए और दम्भके साथ जो तपस्या की जाती है, ऐसी तपस्याका फल इहलोकमें अनित्य तथा अध्रुव अर्थात् क्षणिक है। इस प्रकारकी जो तपस्या है, उसको यहाँ राजस कहा गया है ॥१८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अच्छा कर्म, मान तथा पूजाके लिए दम्भपूर्वक जो तपस्या की जाती है, वह राजसिक है।—लोग मुझको तपस्वी कहेंगे, निराहारी कहेंगे, मुझको देखकर सब अभिवादन करेंगे, किसीके घर जाने पर वह उठकर सम्मान करेगा, उत्तम भोजन देगा, बहुत दान करेगा—ये सब आशाएँ हृदयमें पोषण करते हुए दम्भके साथ जिस तपका अनुष्ठान किया जाता है, वह राजस तपस्या है। इस तपस्याका फल अनियत अर्थात् चञ्चल है। इससे कोई स्थायी फल नहीं प्राप्त होता। अल्प फल जो प्राप्त होता है वह भी ध्रुव नहीं होता। बिना साधनाके कपटपूर्वक जो नाम पैदा किया जाता है, वह कितने दिन तक टिक सकता है! इस प्रकारके दिखावटी तपसे लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकारके फलसे अन्त तक वञ्चित रहना पड़ता है ॥१८॥

(तामसिक तपस्या)

मूढ़ग्राहेणात्मनो यत् पीड़या क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

अन्वय—मूढ़ग्राहेण (अविवेकवश) आत्मनः पीड़या (अपनेको कष्ट देकर—देहेन्द्रियादिको पीड़ा देते हुए) परस्य उत्सादनार्थं वा (अथवा दूसरोंके विनाशके लिए) यत् तपः क्रियते (जो तप किया जाता है) तत् तामसं उदाहृतम् (उसको तामस तपस्या कहते हैं) ॥१९॥

श्रीधर—तामसं तप आह—मूढ़ेति। मूढ़ग्राहेण अविवेककृतेन दुराग्रहेण आत्मनः पीड़या यत्तपः क्रियते। परस्योत्सादनार्थं वा—अन्यस्य विनाशार्थम् अभिचाररूपं, तत् तामसं उदाहृतम्—कथितम् ॥१९॥

अनुवाद—[तामस तपस्याके विषयमें कहते हैं]—अविवेककृत दुराग्रहका अवलम्बन करके आत्म-पीड़ाके द्वारा अथवा दूसरोंके विनाशार्थ अभिचाररूप जो तपस्या की जाती है, वह तामस कहलाती है ॥१९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अपनेको क्लेश देकर (उपवासादि) कर्म जो करते हैं—दूसरोंका भला (न) होनेके निमित्तसे—उसको तामस क्रिया कहते हैं।—परजन्ममें राजा होनेकी आशासे पञ्चाग्नि आदि क्लेश-साध्य तपस्याका अनुष्ठान अथवा किसी आदमीके सर्वनाश या उसके विनाशके लिए मारण, मोहन, उच्चाटन आदिका अनुष्ठान ही तामसिक तपस्या है। मैंने एक तपस्वीकी बात सुनी थी। वह किसी आदमीको निर्वंश करनेके उद्देश्यसे शीतकालमें रात भर जलमें पड़े रहते थे तथा ग्रीष्ममें सूर्यकी ओर मुँह करके खड़े रहते थे। इस प्रकारकी मनोवृत्ति दूषित है। मेरी बात नहीं सुनी या मेरे मनके अनुसार नहीं हुआ, इसलिए किसीका सर्वनाश करनेके लिए तैयार हो जाना उचित नहीं है। हम दूसरोंसे जिस प्रकारके आचरणकी आशा करते हैं, उसको ध्यानमें रखकर हमको भी लोगोंके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। परन्तु कभी-कभी आदमीको दण्ड देना आवश्यक होता है, उससे दण्डनीय आदमीका तथा दूसरोंका भी प्रकृत उपकार होता है। इसीलिए कभी कभी ऋषि लोग क्रोध करके दुष्टोंको शाप दे देते थे। उससे दुष्कर्म करनेवालेको पापका दण्ड मिल जाता था और भविष्यके लिए उसको तथा दूसरोंको सचेत कर दिया जाता था, जैसे दक्ष और इन्द्रके प्रति दुर्वासाका अभिशाप। वह तामसिकता नहीं थी। इस प्रकारका क्रोध लोकस्थितिके लिए आवश्यक है ॥१९॥

दानके भेद

(सात्त्विक दान)

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

अन्वय—दातव्यम् इति (देना कर्त्तव्य है इस बुद्धिसे) अनुपकारिणे (प्रत्युपकारमें असमर्थ व्यक्तिको) देशे (उपयुक्त स्थानमें या पुण्यदेशमें) काले च (पुण्यकालमें अथवा उपयुक्त समयमें) पात्रे च (ब्राह्मणादि सत्पात्रमें अथवा उपयुक्त पात्रमें) यत् दानं दीयते (जो दान दिया जाता है) तत् दानं (वह दान) सात्त्विकं स्मृतम् (सात्त्विक कहलाता है) ॥२०॥

श्रीधर—पूर्वं प्रतिज्ञातमेव दानस्य त्रैविध्यमाह—दातव्यमिति। दातव्यमेव इत्येवं निश्चयेन यद्दानं दीयते अनुपकारिणे—प्रत्युपकारासमर्थाय। देशे कुरुक्षेत्रादौ, काले ग्रहणादौ। पात्रे चेति देशकालसाहचर्यात् सप्तमी प्रयुक्ता। पात्रे पात्रभूताय तपःश्रुतादि-सम्पन्नाय ब्राह्मणाय इत्यर्थः। यद्वा पात्र इति चतुर्थी एवैषा। पात्रे इति तृजन्तं रक्षकाय इत्यर्थः। स हि सर्वस्मात् आपद्गणात् दातारं पातीति पाता, तस्मै यदेवम्भूतं दानं तत् सात्त्विकम् स्मृतम् ॥२०॥

अनुवाद—[दानकी त्रिविधताके विषयमें कहते हैं]—दान करना ही उचित है, इस प्रकारका निश्चय करके प्रत्युपकारमें असमर्थ पुरुषको कुरुक्षेत्रादि पुण्य-देशमें, ग्रहणादिके समय, तपस्या तथा श्रुति-सम्पन्न ब्राह्मणको जो दान दिया जाता है वही

सात्त्विक दान है। ['पात्रे'—यहाँ चतुर्थी न होकर विवक्षामें सप्तमी है। पात्र-शब्दका अर्थ है पात्रभूत अर्थात् तपस्या और श्रुति-सम्पन्न ब्राह्मण। अथवा पात्रमें पातृ शब्दका चतुर्थीका एकवचन है। इसका अर्थ है 'रक्षकके लिए'। जो दाताकी सब प्रकारकी आपदोंसे रक्षा करता है, उसको जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक दान है]॥२०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिसके द्वारा कोई उपकार होनेवाला नहीं है उसको देश, काल, पात्रकी विवेचना करके दिया जानेवाला दान सात्त्विक दान है—जैसे क्रिया देना।—अभावग्रस्त या उपयुक्त पात्रको अन्नादिका दान भी दान है, परन्तु उसकी अपेक्षा भी एक उच्चतर दान है। वह दान देनेके लिए आध्यात्मिक शक्तिसे युक्त होना पड़ता है। मनुष्यका सबसे बड़ा अभाव धनादि वस्तु नहीं है, मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टिसे बड़ा ही दीन है। यहाँ वह अन्धे, लङ्गड़े और बहरेके समान सब प्रकारसे शक्ति-सामर्थ्यहीन है। जीव भवरोगसे बड़ा ही कातर है और उसमें प्रतिकारका कोई सामर्थ्य नहीं है। इस प्रकारके निरुपाय, दीनार्त्त व्यक्तिको जो भगवत्पदमें पहुँचनेका उपाय बतला देते हैं, उनकी अपेक्षा बड़ा दानी और कौन हो सकता है! इस प्रकारके दानका सामर्थ्य सबमें नहीं होता। जो साधन-सम्पन्न और विवेकी हैं, भगवान् जिनके भीतर बैठकर इस प्रकारके जीवोंके उद्धारकी प्रवृत्तिकी प्रेरणा करते हैं, वह धन्य हैं, वही प्रकृत दाता हैं। कबीरदासने ठीक ही कहा है—"गुरु समान दाता नहीं, याचक सिक्ख समान।" चञ्चल मनवाले शिष्यकी अपेक्षा कङ्गाल दूसरा कौन हो सकता है, क्योंकि उसको किसी पदार्थसे तृप्ति नहीं होती। यह भिखारी चित्त भी एक दिन साधनके बलसे तृप्ति प्राप्त कर सकता है और क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें देवताओंके लिए भी दुर्लभ परम निवृत्तिको प्राप्त कर कृतार्थ हो सकता है। अतएव इस दानकी तुलनामें और सब दान तुच्छ हैं।

यह दान कहाँ करना होगा? प्रत्युपकारमें असमर्थ व्यक्तिको अर्थात् जो किसी समय भी तत्तुल्य वस्तु देनेमें समर्थ न हो। देनेकी तत्तुल्य वस्तु भी तो कोई दूसरी नहीं है। गुरु भी उससे किसी प्रत्युपकारकी आशा नहीं रखते। अतएव जिससे जीव भवसागरसे पार हो सकें, इस प्रकारका उपदेश-दान ही प्रकृत दान और सात्त्विक दान है।

अब देश, काल और पात्रके सम्बन्धमें आलोचना की जाती है।

देश—वही उपयुक्त स्थान है, जहाँके लोग हरिभजन करना नहीं जानते और न सीखते हैं। साधनके सम्बन्धमें जो देश अनभिज्ञ है, उसी देशमें साधनका बीज डाला जाता है।

काल—जिस समय देश दुर्भिक्ष-पीड़ित हो या जिस समय रोगके प्रबल प्रादुर्भावसे देश ध्वंसकी ओर जा रहा हो, उसी समय सुवैद्य और सुपथ्यकी आवश्यकता होती है। इसी तरह जिस समय धर्मका नाम-धाम भी लुप्त हो जाता है, जिस समय धर्मध्वजी लोग मनमाने धर्मका प्रचार करके दुःसाहसका परिचय देते हैं, उस समय

यदि कोई सत्यदर्शी पुरुष मोहान्धकारमें पतित जीवके सामने सत्यकी दीपवर्त्तिका हाथमें लेकर उसको सत्यके मार्गमें चलाता है, तो समझना चाहिए कि वह उपयुक्त कालमें ज्ञान-चक्षु दान करके जगत् और जीवका उपकार कर रहा है।

पात्र—जो भूखा है उसके लिए अन्नकी आवश्यकता है। जो भगवान्‌के लिए व्याकुल है तथा जो पथिक मार्गच्युत होकर रास्ता नहीं पा रहा है, उसको सत्पथ दिखला देना ही सत्पात्रको दान देना है और वही सात्त्विक दान है। परन्तु करुणा या ममताके वशीभूत होकर अपात्रमें दान करनेसे ब्रह्मविद्या निष्फल हो जाती है। जिसको पथप्राप्तिके लिए व्याकुलता है, भगवत्प्राप्तिके लिए तृष्णा है, उसीको यह दान ग्रहण करनेका योग्य अधिकारी समझना चाहिए। जो लोग केवल कौतूहल निवारणके लिए अथवा पार्थिव वस्तुकी प्राप्तिकी आशासे साधुके पास उपदेश लेने जाते हैं, वे सब विवेकहीन साधन-चेष्टाशून्य लोग दानके अयोग्य पात्र हैं।

इष्ट देवता या अन्तर्यामी भगवान् ही सद्वस्तु हैं और सब असत् हैं। इसलिए इष्ट देवता या परमात्मा ही प्रकृत सत्पात्र हैं। अस्थितिमें जो स्थिति है, चित्तकी चञ्चलतामें जो एकमात्र अचञ्चल है, उसको परमपद कहते हैं—"पदं तत् परमं विष्णोः"। चाञ्चल्यसे अचञ्चल भाव विलक्षण होनेके कारण उस अचञ्चल भावकी जहाँ स्थिति होती है, वही देश है। देशकी कल्पना हुए बिना कालकी कल्पना नहीं हो सकती, अतएव उद्धारकी प्राप्ति देश और काल-सापेक्ष है। उपकार करनेके लिए कार्य आवश्यक होता है। जहाँ अपने आप सब कार्य बन्द हैं, जो क्रियाकी परावस्था है, उससे बढ़कर अनुपकारी पात्र और क्या हो सकता है? इस प्रकारके पात्रके उद्देश्यसे जागतिक असद्वस्तुका जो त्याग है या उसमें समर्पण है, वही सात्त्विक त्याग है ॥२०॥*

---

* देश, काल और पात्रके सम्बन्धमें प्राचीन व्याख्याताओंने जो अर्थ किया है, वह आधुनिक व्याख्याताओंमें किसी किसीके मनोनुकूल नहीं है। उनको उन व्याख्याओंमें बहुत सङ्कीर्णता दीख पड़ती है। प्राचीन लोगोंने शास्त्रके सिद्धान्तोंका प्रचार किया है, क्योंकि वे शास्त्रज्ञ और साधनशील थे। जिनको शास्त्रज्ञान नहीं है और शास्त्रवाक्यमें विश्वास भी नहीं है, उनके लिए शास्त्रके उद्देश्यको समझ पाना कठिन है, इसमें सन्देह नहीं। इसी कारण वे ऋषिवाक्यमें अनुदारता देखकर क्षुब्ध होते हैं। पीड़ासे कातर एक मोची या डोमको दान करना या सहायता करना ऋषियोंको अनभिप्रेत था, यह बात किसी शास्त्रमें या उसके भाष्य या टीकामें नहीं है। दानके लिए उपयुक्त पात्रको ही दान करना चाहिए, अपात्र या कुपात्रको दान न दिया जाय, यही टीकाकारोंका अभिप्राय है। जिस देशके शास्त्रकारोंने दीन-दुःखी (नृयज्ञ), पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग (भूत-यज्ञ) के लिए नित्य बलि-प्रदानकी व्यवस्था की है, वे ही शास्त्र-प्रणेता यदि अनुदार हों, तो जगत्‌में उदारता कहाँ मिलेगी, यह समझमें नहीं आता। परन्तु उस समय वे लोग जिस प्रकार देश-काल-पात्रको उपयुक्त समझते थे, आधुनिक लोग उस देश-काल-पात्रके सम्बन्धमें वैसी श्रद्धा नहीं रखते। अतएव उन पात्रोंको वे वैसा उपयुक्त नहीं समझते। यह प्राचीनोंकी बुद्धिका भ्रम है या आधुनिकोंका मतिभ्रम, समझमें नहीं आता। सर्वश्रेष्ठ

(राजसिक दान)

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

अन्वय—यत् तु (जो) प्रत्युपकारार्थं (प्रत्युपकारकी आशासे) वा पुनः फलं उद्दिश्य (अथवा फल-प्राप्तिके उद्देश्यसे) परिक्लिष्टं च (तथा क्लेशके साथ या अनिच्छाके साथ) दीयते (दिया जाता है) तत् दानं (उस दानको) राजसं स्मृतम् (राजस कहा जाता है) ॥२१॥

श्रीधर—राजसं दानमाह—यत्तु इति । कालान्तरे अयं मां प्रत्युपकरिष्यति इत्येवं अर्थं फलं वा स्वर्गादिकं उद्दिश्य यत् पुनः दानं दीयते, परिक्लिष्टं—चित्तक्लेशयुक्तं यथा भवति एवंभूतं यत् दानं तत् राजसं स्मृतम् ॥२१॥

अनुवाद—[राजस दानकी बात कह रहे हैं]—कालान्तरमें यह आदमी मेरा उपकार करेगा, इस आशासे अथवा स्वर्गादि फलकी प्राप्तिके उद्देश्यसे क्लिष्ट चित्तसे जो दान दिया जाता है, उसको राजस दान कहते हैं ॥२१॥

दानके योग्य पात्र और दान देनेके उपयुक्त कालके विषयमें प्राचीनोंकी जो धारणा थी वह धारणा अब बदल गयी है । यह अच्छा हुआ है या बुरा, इसके विचारनेका यहाँ प्रयोजन नहीं है । क्योंकि वह काल यह काल नहीं है । प्राचीन लोग भिक्षा माँगना सबके लिए उचित नहीं समझते थे । जिसको खाना नहीं मिलता उसको अन्न दो, जो रोगी है उसकी सुश्रूषा करो, जो असमर्थ है उसकी सहायता करो, जो भीत है उसे अभयदान दो—इस प्रकारका शास्त्रोपदेश तो सब गृहस्थोंके लिए पालनीय है । शास्त्रकारोंने गृहस्थोंको पञ्च महायज्ञोंका निर्देश किया है । दानकी बात यहाँ नहीं कही गयी है, यह तो प्रत्येकका नित्य कर्त्तव्य है । भूखा आदमी चाहे चमार हो, डोम हो, चाण्डाल हो—उसके लिए अन्न ही पथ्य है । अतएव भूखेको अन्न देनेके लिए अलग व्यवस्था आवश्यक नहीं है । यहाँ तक कि अनादर करके या अहङ्कार-पूर्वक दान करनेका भी निषेध है । इसलिए शास्त्रकारोंने पूर्वसे ही दाताको "ह्रिया देयं भिया देयं संविदा देयं" कहकर सावधान कर दिया है । सब भूतोंमें आत्मदर्शन आर्य ऋषियोंका चरम लक्ष्य था । उन्होंने सारी व्यवस्था इसी उद्देश्यको लक्ष्यमें रखकर की है । अन्नदान, औषधिदान, सुश्रूषा या जीव-सेवा, ये सभी महान् कार्य हैं, इसमें सन्देह नहीं है । परन्तु इसकी अपेक्षा भी एक महत्तर कर्त्तव्य है । उसीकी ओर उन्होंने दृष्टि आकर्षित की है । जिस दानके द्वारा भूतमय स्थूल शरीर मात्रकी रक्षा होती है, आध्यात्मिक नित्य जीवनके विषयमें विशेष कोई सहायता नहीं मिलती, उसको वे सर्वश्रेष्ठ दानके रूपमें स्वीकार नहीं करते । अन्नदानके द्वारा आज भूखेकी भूख शान्त तो हो जायगी, परन्तु फिर भूख लगेगी तो उसकी निवृत्ति कैसे होगी ? जिस कर्म-पाशमें बद्ध होकर जीव नाना प्रकारकी भूखोंसे उत्पीड़ित होकर दिनरात जल रहा है, जो भूख इस पार्थिव अन्नसे मिटनेवाली नहीं है, मनुष्यकी उस चिरकालकी भूख, प्यास, अशान्ति और उपद्रवको दूर करके जो उसको पूर्ण नीरोग बना सके—दुःखी जीवको वैसा मार्ग दिखला देना, उसको उस मार्गमें परिचालित कर देना, उसके उस अनन्त-जीवन-व्यापी अभावको मिटानेका

आध्यात्मिक व्याख्या—प्रत्युपकारके निमित्त और फलाकाङ्क्षाके साथ देनेके समय क्लेशसे देता है—उसका नाम राजसिक दान है—जैसे वेश्याको देना।—जो दान इस आशासे किया जाता है कि समय आने पर इस आदमीसे मेरा बहुत काम निकलेगा, अथवा फल-लाभकी आशासे अर्थात् यह दान जो कर रहा हूँ इसके द्वारा मुझे स्वर्गसुखकी प्राप्ति होगी, अथवा जिसको देनेसे मनमें अनुताप होता है अर्थात् एक साथ इतना दान न करनेसे भी काम चल जाता—इस प्रकार जो दान दिये जाते हैं, उनको राजस दान कहते हैं। साधना देनेके लिए उपयुक्त पात्र नहीं है, परन्तु उसको साधना देने पर हमारे दलमें एक धनी आदमी आ जायगा, उसके द्वारा भविष्यत्‌में हमारा बहुत उपकार होनेकी संभावना है, यह सब विचार करके जो अनुपयुक्त व्यक्तिको साधना दी जाती है, वह राजस दान है। पात्रत्वका विचार न करके साधन तो दे दिया, पश्चात् उसके व्यवहारसे अनुतप्त होते हुए भी उसको जो शिक्षा दी जाती है, वह सब राजसिक दान है ॥२१॥

(तामसिक दान)

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

रास्ता पकड़ा देना ही सर्वश्रेष्ठ दान है। वासनाकी अत्यन्त दारुण क्षुधाको निवृत्त करनेका उपाय जो बतला देते हैं वही सर्वश्रेष्ठ दाता हैं। उनके दानको ही सर्वोच्च दानके रूपमें ऋषि लोग स्वीकार करते थे। इसीसे वह दान कहाँ करना चाहिए, उस दानको ग्रहण करनेका योग्य पात्र कौन है तथा दाता उस दानको किस प्रकारसे दान करे, यह सब इस ज्ञानमयी गीतामें उल्लिखित है। ब्राह्मणको सर्वश्रेष्ठ पात्र कहा गया है, क्योंकि ब्राह्मण ब्रह्मविद्याका भाण्डारी है। जो जगत्‌के जीवोंको भवव्याधिकी पीड़ा निवारण करनेके लिए अमोघ औषधि प्रदान करनेमें समर्थ है, परन्तु अपने भोजनाच्छादनके लिए उदासीन है, जो लोभशून्य है, परहित-व्रतमें जीवन समर्पित कर रखा है, ऐसे ही महात्माओंको शास्त्रने दानका योग्यतम पात्र निर्दिष्ट किया है। परन्तु खेद है कि आज इस देशमें ऐसे ब्राह्मणोंका अस्तित्व ढूँढे भी नहीं मिलता। वर्तमान युगके सन्ध्या-जप-विहीन, असंयमी, तपःशून्य, मूर्ख, कपटाचारी नाममात्रके ब्राह्मणोंको दान करनेका शास्त्र निषेध करते हैं। अत्रिसंहितामें लिखा है—

"अव्रताश्चानधीयाना यत्र भैक्ष्यचरा द्विजाः।
तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चौरभक्तप्रदं बधैः॥"

जो ब्रह्मचर्य और विद्याभ्यासी नहीं हैं, उनको जिस गाँवके लोग भोजन कराते हैं, राजा उस गाँवको चौरोचित दण्ड दे।

साधु-विद्वानका प्राप्य अन्न जब अविद्वान् और अतपस्वी ग्रहण करते हैं तो वह परस्वापहरणके तुल्य हो जाता है। और जो उनको दान करते हैं वे भी उस असत् कार्यके प्रश्रयदाता होनेके कारण दण्डनीय हैं।

अन्वय—अदेशकाले (अपुण्य-देश या अशुचि स्थानमें तथा अशौचादिके समय या अपुण्यजनक कालमें) अपात्रेभ्यः च (और मूर्ख, तस्कर तथा नट आदि अपात्रमें) असत्कृतं (सत्कार न करके) अवज्ञातं (अवज्ञापूर्वक) यद्दानं दीयते (जो दान दिया जाता है) तत् (वह) तामसम् उदाहृतम् (तामस कहलाता है) ॥ २२ ॥

श्रीधर—तामसं दानं आह—अदेशेति। अदेशे अशुचिस्थाने। अकाले अशौचादि-समये। अपात्रेभ्यः विटनटनर्त्तकादिभ्यः, यद्दानं दीयते। देशकालपात्रसम्पत्तावपि असत्कृतं—पादप्रक्षालनादिसत्कारशून्यम्। अवज्ञातं तिरस्कारयुक्तं। एवम्भूतं दानं तामसं उदाहृतम्—कथितम् ॥ २२ ॥

अनुवाद—[तामसिक दानके विषयमें कहते हैं]—अशुचिस्थानमें, अशौचादि समयमें, अपात्र अर्थात् धूर्त्त, नट तथा नर्त्तक आदिको जो दान दिया जाता है, वह तामस दान है। उपयुक्त देश, काल, पात्रके होते हुए भी असत्कृत अर्थात् पादप्रक्षालनादि-सत्कारशून्य और अवज्ञात अर्थात् तिरस्कारयुक्त भावसे जो दान दिया जाता है उसे तामस दान कहते हैं ॥ २२ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—देश-कालकी विवेचना न करके अपात्रमें और कुकर्म करके दे वह तामस दान है—जैसे किसीको मार डालनेके लिए रुपये देना।—देश, काल और पात्रकी विवेचना करके ही दान किया जाता है। परन्तु जो दान अपुण्य-देशमें, अनुपयुक्त कालमें और मूर्ख, चोर और नट आदिको दिया जाता है, वह तामसिक दान है। उपयुक्त देश और उपयुक्त पात्र होने पर भी दाता यदि दानलेने वालेको प्रिय-सम्भाषण या सत्कार न करके अनादरपूर्वक दान देता है तो वह तामसिक दान है जैसे, किसी भिखारीके प्रति इस प्रकार कहना कि बहुत देर से हैरान कर रहा है, एक-आध पैसा दे दो, हटाओ। इसीलिए शास्त्रमें कहा है—"श्रद्धया देयम् अश्रद्धया न देयम्"। ग्रहीताकी सामर्थ्यहीनताको जानकर भी चरित्रहीन और दुष्ट लोगोंको जो साधन दिया जाता है, उससे उनका कोई उपकार तो होता नहीं, बल्कि वे साधनको लेकर सबके सामने अवज्ञा-प्रदर्शन, हँसी-मजाक करते हैं, जिससे उनका अकल्याण ही होता है। वे तामस प्रकृति के लोग हैं, उनको क्रिया नहीं देनी चाहिए ॥ २२ ॥

(ब्रह्मका निर्देश)

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

अन्वय—"ॐ तत् सत्" इति (ॐ तत् सत् यह) त्रिविधः (तीन प्रकारका) ब्रह्मणः निर्देशः (ब्रह्मका नाम) स्मृतः (शास्त्रमें कहा गया है) तेन (उनके द्वारा) ब्राह्मणाः (ब्राह्मणादि तीन वर्ण) वेदाः च (सारे वेद) यज्ञाः च (और यज्ञसमूह) पुरा (पूर्वकालमें या सृष्टिके आदिमें) विहिताः (सृष्ट हुए हैं) ॥ २३ ॥

श्रीधर—ननु एवं विचार्यमाणे सर्वमपि यज्ञतपोदानादि राजसतामसप्रायमेवेति व्यर्थो यज्ञादिप्रयासः इत्याशङ्क्य तथाविधस्यापि सात्त्विकत्त्वोपपादनप्रकारं दर्शयितुमाह—ॐमिति। ॐ तत् सत् इति त्रिविधो ब्रह्मणः परमात्मनो निर्देशो नामव्यपदेशः स्मृतः शिष्टैः। तत्र तावत् "ॐमिति त्रिवृद् ब्रह्म" इत्यादि-श्रुतिप्रसिद्धेरोमिति ब्रह्मणो नाम। जगत्कारणत्वेन अतिप्रसिद्धत्वात् अविदुषां परोक्षत्वाच्च। तत्शब्दोऽपि ब्रह्मणो नाम। परमार्थसत्त्व-साधुत्व-प्रशस्तत्वादिभिः सच्छब्दोऽपि ब्रह्मणो नाम। "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिश्रुतेश्च। अयं त्रिविधोऽपि नामनिर्देशो विगुणमपि सगुणीकर्तुं समर्थ इत्याशयेन स्तौति। तेन त्रिविधेन ब्रह्मणो निर्देशेन ब्राह्मणाश्च वेदाश्च यज्ञाश्च पुरा सृष्ट्यादौ विहिताः विधात्रा निर्मिताः सगुणीकृता इति वा। यद्वा यस्यायं त्रिविधो निर्देशः तेन परमात्मना ब्राह्मणादयः पवित्रतमाः सृष्टाः। तस्मात् तस्यायं त्रिविधो निर्देशः अतिप्रशस्त इत्यर्थः ॥२३॥

अनुवाद—[यदि कहो कि इस प्रकारके विचारसे तो सारे यज्ञ, तप, दानादि राजस या तामसप्राय होते हैं, अतएव 'यज्ञादिके लिए प्रयास करना व्यर्थ है', तो इस आशङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि ऐसा होने पर भी उनको सात्त्विक बनानेके उपाय हैं। उन्हीं उपायोंको बतलाते हैं]—ॐ तत् सत् ये तीन परमात्माके निर्देश हैं। इनमें अकार, उकार, मकार स्वरूप—त्रिवृत् ॐकार श्रुतिप्रसिद्ध ब्रह्मका नाम है। जगत्के कारणरूपमें अतिप्रसिद्ध परन्तु अविद्वान् पुरुषोंके लिए परोक्ष अर्थात अगोचर होनेके कारण 'तत्' शब्द भी ब्रह्मका नाम है। परमार्थसत्ता, साधुत्व और प्रशस्तता आदि व्यक्त करनेके कारण 'सत्' शब्द भी ब्रह्मका नाम है। श्रुतिमें लिखा है—"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्।" ये त्रिविध नाम विगुणको भी सगुण कर सकते हैं। इन त्रिविध ब्रह्मके नामोंके द्वारा सृष्टिके आदिमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञ विहित हुए हैं अर्थात् विधाताके द्वारा निर्मित या गुणान्वित किये गये हैं। अथवा जिस ब्रह्मके ये तीन नाम हैं उस परमात्माके द्वारा पवित्रतम ब्राह्मणादि सृष्ट हुए हैं। अतएव ब्रह्मके ये त्रिविध निर्देश या नाम अति प्रशस्त हैं ॥२३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ॐ तत् सत् ब्रह्मके तीन स्थान हैं—(१) ॐकार—यह शरीररूप है, (२) तत्—कूटस्थ है, (३) सत्—ब्रह्म अर्थात् ब्रह्ममें जो रहते हैं, उन्हें पहले शरीरमें क्रिया करनी चाहिए जिसका नाम यज्ञ है। दान—क्रिया करनेके बाद मन देना अर्थात् स्थिति तपोब्रह्ममें रहना। क्रिया करने पर ही ब्राह्मण है; क्रिया करके स्थिति होने पर ही जान सकता है, उसी जाननेका नाम वेद है—आत्मा ब्रह्ममें लीन करनेका नाम यज्ञ है अर्थात् क्रियाके पश्चात् की स्थिति।—शास्त्रविहित कर्मादिके अनुष्ठानमें भी कभी-कभी अङ्गहानि होते देखी जाती है, इसलिए भगवान् वैगुण्यके निवारणका उपाय बतलाते हैं। प्रकृत सत्य आच्छादित रहता है। सत्यका अन्वेषण करते समय प्रायः असत्य ही प्रमादवश सत्य-सा प्रतीत होता है। यह भूल जिससे न होने पावे इसका उपाय भगवान् निर्देश कर रहे हैं। सूर्यके आलोकसे जैसे सारी वस्तुएँ आलोकित हो उठती हैं, उसी प्रकार आत्माका प्रकाश इस देहेन्द्रिय, मन और बुद्धिको प्रकाशित करता है। इसीसे ये सब भ्रमवश चेतनवत् प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थितिमें जबतक हम

चेतयिताको नहीं पकड़ते, तबतक आत्मातिरिक्त वस्तुएँ ही भ्रमवश आत्मवत् ज्ञात होती हैं। प्रकाशके आधार अनन्त हैं, परन्तु प्रकाशमय वस्तु एक और अद्वितीय है। जो कुछ इन्द्रियगोचर हो रहा है तथा जो कुछ अतीन्द्रिय सत्ता है, सभी उसका ही रूप या प्रकाश है। "सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते"—जो कुछ है सब वह हैं और सबके नियन्ता भी वही हैं। समस्त नामरूपमें उनकी स्वरूप-सत्ता आवृत हो रही है। उस आवरणको हटाये बिना वह क्या है, कोई समझ नहीं सकता। "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।"—हे परमात्मन्, उस सत्यस्वरूप ब्रह्मका चैतन्यभाव ज्योतिर्मय पात्रके द्वारा आवृत है। सत्यका अनुसन्धान करनेवाले मुझ जैसेकी ज्ञानप्राप्तिके लिए 'तत्' अर्थात् उस चैतन्य-स्वरूपको उन्मुक्त और प्रकाशित करो। यही प्राचीनतम ज्ञानी लोगोंकी एकमात्र हार्दिक कामना थी। परमधामके चारों ओर ज्योतिःपुञ्ज विच्छुरित हो रहा है। वह ज्योति जिसकी तनुभा है, उसको ही मानो वह ज्योति या विविध प्रकाश आवृत कर रहे हैं। हे प्रभु! उस आवरणको तुम हटा दो जिससे उसके भीतरके चैतन्य-स्वरूपको हम जान सकें, ज्योतिका जड़त्व दूर होकर उसमें चैतन्यका स्फुरण हो, ज्योतिके अन्तरालमें जो तुम रहते हो इसको हम जान सकें। यहाँ उसी उपायको भक्तसुहृद् भगवान् बतलाते हैं। भगवान् मानो भक्तसे कह रहे हैं कि मेरी खोजमें तुमको इधर-उधर जाना नहीं है। तुम्हारे भीतर ही मैं रहता हूँ। विचार करके देखो, तुम मेरे ही प्रकाशमात्र हो। एकबार दिव्य चक्षु खोलकर देख लो कि साध्य और साधक एक ही वस्तु है। तुम जिस शरीरको दिनरात ढोते फिरते हो, जानते हो वह किसके चैतन्यसे चैतन्ययुक्त हो रहा है? यह स्थूल शरीर, मन और इन्द्रियाँ सभी तो जड़ हैं। वे चैतन्यके रूपमें तुम्हारे सामने आकर खड़े होते हैं। तुम उनको देख देखकर विमुग्ध हो गये हो और यह भूल गये हो कि ये सब जड़ हैं। अब यदि उस जड़ातीतको अनुभव करना चाहते हो तो इस देह-समष्टिको भूलनेकी चेष्टा करो। पहले इस स्थूल देहके अन्तःस्थित सूक्ष्म देहको समझनेकी चेष्टा करो, उसके भीतर एक और सूक्ष्म कारण-देह है उसका अन्वेषण करो। ये सब एक दूसरेको आलिङ्गन किये हुए हैं। इस त्रिविध देहको समझ लेने पर इनके भीतरके देहातीत ब्रह्म-चैतन्यको जान सकोगे। उस ब्रह्मके प्रकाश-स्थान तीन हैं। उनमें स्थूलतम प्रकाश जिसमें होता है वही इस त्रिदेहकी समष्टि या त्रिपुर है—वही ॐ-शब्द-वाच्य है। ॐकार ब्रह्मका नाम है। नामके द्वारा जैसे व्यक्तिका परिचय होता है, वैसे ही इस त्रिविध शरीर द्वारा हम त्रिविध शरीरस्थ चैतन्यसे परिचित हैं, इसलिए यह ब्रह्मका नाम है। यह ब्रह्मका कार्यरूप नाम है। उनका कारणरूप नाम भी है। गृहमध्यस्थ पुरुषको देखनेके लिए जैसे गृहमें जाकर उसको देखना होता है, उसी प्रकार उस ब्रह्मका अन्वेषण करनेके लिए इस त्रिपुर-समन्वित देहका ही पहले अवलम्बन करना होगा। इसी कारण साधनके लिए इस देहको प्रथम और प्रधान अवलम्बनके रूपमें ग्रहण करने पर सत्य वस्तुका सन्धान मिल सकेगा। यह त्रिपुर देह ॐकारका रूप या ॐकारमय है। ॐ = अ + उ + म्। अ = स्थूल शरीर, उ = सूक्ष्म शरीर, म् = कारण शरीर। इन तीनोंका विकास नाद,

विन्दु और कलासे है, जिनका सङ्केत 'ँ' है। ये नाद, विन्दु और कला तीनों मिलकर प्रकृतिरूपिणी जगन्माताके रूप हैं। यही आद्या शक्ति विन्दुरूपा है। यही चिदंश जीवकी संज्ञा है। यही 'तत्' स्वरूपका वाच्य है। यही "एतस्य महतो भूतस्य नाम"—यही कारण सृष्टि है। "सत्"—ब्रह्म, यह कार्य-कारणके अतीत सत्तामय भाव है। "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्"—सृष्टिके पूर्वमें यह सत् ही था, यही तुरीय ब्रह्म या क्रियाकी परावस्था द्वारा उपलक्षित है।

यह ब्रह्म ही जीवकी चरम गति है—"निधानं बीजमव्ययम्"। इस ब्रह्मभावका अनुभव करनेके लिए पहले इस शरीरमें क्रिया करनी पड़ती है। वह क्रिया यद्यपि अपने आप हो रही है, तथापि साधकको केवल उसकी ओर लक्ष्य रखना होगा। इसीका नाम यज्ञ है। साधन द्वारा प्राणको हृदयमें रखने पर आत्मज्योतिका दर्शन होता है। उस ज्योतिमें लक्ष्य स्थिर होते-होते ध्येय वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। उसके द्वारा प्रज्वलित आत्म-संयमरूप अग्निसे प्राणकी स्थिरावस्था प्राप्त होती है तथा इन्द्रिय-वृत्तियाँ तिरोहित होती हैं। यही है आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें प्राणको होम करना। "ब्रह्माग्नौ हूयते प्राणो होमकर्म तदुच्यते"—जो यह यज्ञ करता है वही साग्निक ब्राह्मण है। ब्राह्मण वेदपारग अर्थात् सर्व-विषयवेत्ता होता है। क्रियाके द्वारा स्थितिपद प्राप्त होने पर साधकको कुछ अज्ञात नहीं रह जाता। इस जानने या ज्ञानका नाम ही वेद है।

साधक इस प्रकारके यज्ञानुष्ठानके द्वारा पहले भूतमय प्राकृत देहको ब्रह्ममें लीन करे। इसीको भूतशुद्धि कहते हैं।

"ॐ तत् सत्"—ये तीन परमात्माके नाम हैं। इन तीन स्थानोंमें उनको जानना होता है। जब सूक्ष्मादि शरीरोंको जान लें तो ॐकारका जानना हो जायगा। पश्चात् कूटस्थ चैतन्यको जान लेने पर साधक उसके 'तत्' नामको जान लेता है। 'तत्' को जान लेने पर साधक ब्राह्मणत्वको प्राप्त करता है। पश्चात् और भी उच्च अवस्थामें पहुँचने पर साधक जब नामरूपमय जगत् और अपने आपको भी भूल जाता है, जब भगवान्में डूबकर "अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय" अर्थात् सब एक हो जाता है, तब त्रिगुणातीत अवस्था आती है। वही 'सत्' शब्दका वाच्यार्थ है। इन तीनोंके मिलनेसे ही सृष्टि, स्थिति और लय होता है। जब तीनोंका प्रकाश नहीं रहता, केवल एकमात्र सत् रहता है, तब सृष्टि, स्थिति, लय कुछ भी नहीं रहता। इन तीन भावोंमें मिलकर ही ब्रह्मका लीला-विलास होता है। इसलिए इन तीन नामोंके समान पावन और कुछ नहीं है। ब्रह्मके इस पवित्र नामत्रयके द्वारा ही उसका स्वरूप अवगत होता है।

यह ब्रह्मनाम अवाच्य होने पर भी इसकी एक प्रकारकी ध्वनि है, जो प्राकृत शब्दके समान न होने पर भी ध्वनित होता है। वह अशब्दका शब्द है। वह कर्णरन्ध्रमें सुन नहीं पड़ता, फिर भी सुनने-जैसा अनुभव होता है। प्रणवकी तीन मात्राएँ स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप हैं। प्रणवकी अर्द्धमात्रा 'ँ' विश्वकारण अनाद्या प्रकृतिरूप है। उसके ऊर्ध्वमें परव्योम विदेहरूप अवाच्यावस्था है। प्रणवके

सप्त अवयवोंमें मूलाधारसे विशुद्ध पर्यन्त (गुह्यद्वारसे कण्ठ तक) प्रकृतिका लीलाक्षेत्र है। आज्ञाचक्र या भ्रूमध्य प्रकृति और पुरुषका मिलन-स्थान है तथा ब्रह्मरन्ध्र या सहस्रार निरञ्जन ब्रह्मका स्थान है। यह कैवल्य-ज्ञान देहके ऊर्ध्वमें अतितुर्यावस्था या विदेहभाव कहलाता है।

इस प्रणवको जाननेके लिए या इसकी सूक्ष्म पवित्र ध्वनिके साथ परिचय प्राप्त करनेके लिए साधन-शिक्षाकी आवश्यकता है। जीवके हृदयमें अविश्रान्त "धुक्-धुक्" शब्द हो रहा है। यह हृदयसे सर्वाङ्गोंमें रक्तस्रोत या जीवनधाराकी परिचालना कर रहा है। बाहरका यह शब्द उस आभ्यन्तरिक शब्दकी अभिव्यक्ति-मात्र है। इस शब्दसे ही सब कुछ सृष्ट हुआ है, इसलिए यह शब्द समस्त सृष्ट पदार्थोंके हृदयके साथ गुँथा हुआ है। विश्वके समस्त चेतन और अचेतन पदार्थोंके भीतरसे यह सुर बराबर निकल रहा है। थोड़ा स्थिर होने पर ही यह सुना जाता है। प्रत्येक जीवके हृदयमें जैसे "धुक्-धुक्" शब्द होता है उसी प्रकार विश्वरूप भगवान्के हृदयके भीतर जो एक अस्फुट कोमल नाद झंकृत हो रहा है, वही प्रणवध्वनि है। मनुष्यके हृदयका शब्द जैसे उसके जीवनका परिचायक है, यह प्रणवध्वनि या नाद भी उसी प्रकार विश्वात्माके अस्तित्वका स्मारक-चिह्न है। इसीलिए प्रणव ही सब मन्त्रोंमें प्रधान मन्त्र है और इसी मन्त्रकी सहायतासे ही बद्ध जीव भवसागर पार हो जाता है। योगी लोग इस प्रणवध्वनिको ही श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि कहते हैं। विश्वात्मा परमेश्वरके साथ जिस साधकका हृदय मिल जाता है वही साधक प्रणवध्वनि सुनकर कृतकृत्य होता है। इस ध्वनिकी सहायतासे साधक अपने हृदयको परमात्माके हृदयके साथ मिला दे सकता है। इसी कारण प्रणवको ईश्वरका वाचक कहा गया है। हमारे हृदयकी अस्फुट ध्वनि धुक्-धुक् जैसे हमारा जीवन या 'मैं' है, उसी प्रकार प्रणव-ध्वनिका वाच्य वह महाचैतन्य अवाच्य, विदेह या अगोचर ब्रह्म है। यही एकमात्र 'सत्' पदार्थ है। और जो कुछ है सब 'असत्' या परिणामी है। विश्व-प्राण ॐकारको जो समझ सकता है, वह अपनेको सर्वभूतस्थ जान पाता है। यह ज्ञान ही वस्तुतः वेदज्ञान है। यह ज्ञान जिसको होता है उसका ही मन्त्र-चैतन्य होता है। तब 'ॐ तत् सत्' भावना करने पर एकबारगी विश्वात्माकी स्मृति होती है और अभिमानयुक्त 'मैं' का कर्तृत्वाभिमान लुप्त हो जाता है। तब चराचर समस्त विश्व वासुदेवमय जान पड़ता है।

तीन स्थानोंमें ब्रह्मका परिचय होता है। ब्रह्मके निर्विशेष होने पर भी इन तीन स्थानोंमें ज्ञान-प्रकाशका पार्थक्य होनेके कारण वह निर्विशेष-भाव भङ्ग हो गया है। इसी कारण भजनशील व्यक्ति भगवान्को 'त्रिभङ्ग-भङ्गिम' रूपमें अनुभव करते हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ एक ही चैतन्यके तीन विभाव हैं। विलोमरूपसे देखने पर (१) 'सत्'-स्वरूप ब्रह्म जो नित्य सत्य अविनाशी सत्ता है, वही पश्चात् स्फुटित होते होते (२) 'तत्' अर्थात् कूटस्थ-ज्योति है। पश्चात् और भी स्थूल भावमें (३) यह त्रिपुर-समन्वित देह या प्रकृति है। इसी कारण ब्रह्मको जाननेके लिए इस दृष्ट स्थूल

शरीरका अवलम्बन करके ही साधन आरम्भ करना पड़ता है। साधन करते-करते निविड़ भावमें मन जितना ही डूबता जायगा उतनी ही स्थूल भावकी विस्मृति होगी। यही अपनेको देना या उनके चरणोंमें आत्मसमर्पण है। यह आत्मसमर्पण जितना ही निविड़ भावसे होगा उतना ही तपोलोकमें, कूटस्थमें अर्थात् आज्ञा-चक्रमें स्थिति प्राप्त होगी। इस स्थितिके परिमाणकी न्यूनाधिकताके द्वारा ही जातिका निर्णय होता है। जिनकी यह स्थिति अत्यन्त अधिक होती है, वे ही साधन-राज्यके ब्राह्मण हैं। इस प्रकारके ब्राह्मणके पदरजसे मानवकी भव-व्याधि शान्त हो जाती है ॥२३॥

(ॐ)

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

अन्वय—तस्मात् (इस कारण) ॐ इति (ॐ यह शब्द) उदाहृत्य (उच्चारण करके) ब्रह्मवादिनां (ब्रह्मवादियोंके) विधानोक्ताः (शास्त्रोक्त) यज्ञदानतपः-क्रियाः (यज्ञ, दान और तपस्यादि कर्म) सततं (निरन्तर) प्रवर्त्तन्ते (अनुष्ठित होते हैं) ॥२४॥

श्रीधर—इदानीं प्रत्येकं ॐकारादीनां प्राशस्त्यं दर्शयिष्यन् ॐकारस्य तदेवाह—तस्मादिति। यस्मादेवं ब्रह्मणो निर्देशः प्रशस्तः, तस्मात् ओमिति उदाहृत्य उच्चार्य कृता वेदवादिनां यज्ञाद्याः शास्त्रोक्ताः क्रियाः सततं—सर्वदा अङ्गवैकल्येऽपि प्रकर्षेण वर्त्तन्ते सगुणा भवन्तीत्यर्थः ॥२४॥

अनुवाद—[अब ॐकारादि शब्दत्रयके प्राशस्त्यको दिखलाते हैं। यहाँ ॐकारका प्राशस्त्य कहते हैं]—क्योंकि ब्रह्मके ये निर्देश प्रशस्त हैं, इसलिए ॐ इस शब्दका उच्चारण करके वेदवादी लोगोंकी यज्ञादि शास्त्रोक्त क्रियाएँ अङ्ग-वैकल्य होने पर भी प्रकृष्ट होती हैं अर्थात् ॐकार उच्चारणके फलसे सगुण होती हैं ॥२४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इसलिए इस शरीरके द्वारा आत्मक्रिया करने पर देखोगे कि आत्मा क्रियाके परे अपने आप स्थिर हो गया है तथा आत्माका ब्रह्ममें अर्पण हुआ है, और स्वरूपमें कूटस्थ ब्रह्ममें अवस्थिति हुई है अर्थात् क्रियाकी परावस्था—इस प्रकारके कर्ममें ब्रह्मवादी सदा रहते हैं।—ब्रह्म विषयक आलोचना तथा ध्यान धारणा करके जिन्होंने ब्राह्मी स्थिति प्राप्त की है, वे सब आत्मवित् पुरुष कहते हैं कि इस शरीरके द्वारा आत्म-क्रिया करो। वस्तुतः केवल मुँहसे 'ॐ' शब्द कहनेसे काम न चलेगा, यह अनुच्चार्य है। यह ॐकार देहत्रय है, यह कहा जा चुका है। इस सम्बन्धमें एक साधन है जिस साधनके अभ्यास-फलसे शरीरमें जो अहंज्ञान है, वह तिरोहित हो जाता है। क्रियाभ्यास करने पर अपने आप वह स्थिरावस्था आती है, जहाँ न 'मैं' रहता है न 'मेरा'। तभी सब कर्म ब्रह्मार्पण होते हैं और स्वरूपमें अवस्थान होता है। इस

अवस्थामें ही यज्ञ-दानादि अर्थात् क्रिया करना और क्रियादान होता है। वह कैसे होता है तथा वह यज्ञ दानादि क्या वस्तु है, यह भाषा द्वारा नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह ॐकारकी साधना ही ब्रह्ममें सर्वकर्म-समर्पणका उपाय है ॥२४॥

(तत्)

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

अन्वय—तत् इति ('तत' यह शब्द) [उच्चारण करके] फलं अनभिसंधाय (फलकी अभिसन्धि न करके) मोक्षकाङ्क्षिभिः (मुमुक्षुओंके द्वारा) विविधाः (अनेक प्रकारके) यज्ञतपःक्रियाः दानक्रियाः च (यज्ञ-क्रिया, तपक्रिया औरदानक्रिया) क्रियन्ते (की जाती हैं) ॥२५॥

श्रीधर—द्वितीयं नाम प्रस्तौति—तदिति। उदाहृत्य इति पूर्वस्य अनुषङ्गः। तदिति उदाहृत्य—उच्चार्य शुद्धचित्तैः मोक्षकाङ्क्षिभिः पुरुषैः फलाभिसन्धिं अकृत्वा यज्ञाद्याः क्रियाः क्रियन्ते। अतः चित्तशोधनद्वारेण फलसङ्कल्पत्यजनेन मुमुक्षुत्वसम्पादकत्वात् तच्छब्दनिर्देशः प्रशस्तः इत्यर्थः ॥२५॥

अनुवाद—[द्वितीय नाम तत्की प्रशंसा करते हैं]—'तत्' यह शब्द उच्चारण करके शुद्धचित्त मुमुक्षु पुरुष फलाभिसन्धि छोड़कर यज्ञादि क्रियाका अनुष्ठान करते हैं। अतएव चित्तशोधन द्वारा फल-सङ्कल्पका त्याग करके मुमुक्षुत्व सम्पादनका हेतु होनेके कारण अर्थात् फलकामनाका त्याग मोक्षसाधक होनेके कारण 'तत्' शब्दका निर्देश प्रशस्त है ॥२५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थमें प्रवेश करके, फलाकाङ्क्षारहित क्रिया करके—ब्रह्ममें रहकर—दान और विविध प्रकारके अनुष्ठान मोक्षकाङ्क्षी लोग—क्रिया करते हैं।—मोक्षार्थी लोग कूटस्थमें लक्ष्य रखकर सारी क्रियाएँ किया करते हैं। फलस्वरूप वे कूटस्थमें प्रवेश करके फलाकाङ्क्षारहित हो जाते हैं। घर्षणसे जैसे तिलके भीतरसे तेल, दहीके भीतरसे घी, काष्ठके भीतरसे अग्नि निकलती है, उसी प्रकार क्रिया करने पर आत्माका प्रकाश अनुभूत होता है। आत्माको देखने और जाननेका साधारणतः कोई उपाय नहीं है, वह है या नहीं इस विषयमें भी सन्देह हो सकता है। परन्तु वह है और सत्य है—यह कूटस्थमें रहते-रहते इस प्रकार अनुभव होता है मानो हम उसको देखते हैं। वह सर्वव्यापी है, परन्तु उसको जाननेका मूल है कूटस्थमें रहना। ब्रह्म अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे हृदयस्थ होकर भी नख से लेकर सिख पर्यन्त सारे शरीरमें व्याप्त रहता है। वह अणुस्वरूप आत्मा अन्य शरीरोंमें भी व्याप्त रहता है। इसलिए दूसरे लोग जो सोचते हैं वह अपने मनमें भी अनुभव हो सकता है। साधारणतः मनके चञ्चल होनेके कारण यह अनुभव नहीं होता। चञ्चल मनके स्थिर होने पर सबके मनका भाव अपने मनमें जाना जा सकता है। साधारण अवस्थामें जानना, न जानना, यह मन, वह मन आदि पृथक् पृथक् भावमें रहते हैं। ॐकार-क्रियाके द्वारा परव्योममें

आरोहण करने पर फिर नानात्वकी उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि वहाँ ब्रह्मके सिवा और कुछ है ही नहीं ॥२५॥

(सत्)

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ !) सद्भावे (सत् अर्थात् है, अस्तित्व बतलानेमें) साधुभावे च (साधु भाव अथवा श्रेष्ठ अर्थ समझानेमें) सत् इति एतत् (सत् यह शब्द) प्रयुज्यते (प्रयुक्त होता है) तथा (और) प्रशस्ते कर्मणि (माङ्गलिक कर्ममें भी) सच्छब्दः ('सत्' शब्द) युज्यते (व्यवहृत होता है) ॥२६॥

श्रीधर—सच्छब्दस्य प्राशस्त्यमाह—सद्भाव इति-द्वाभ्याम् । सद्भावे अस्तित्वे, देवदत्तस्य पुत्रादिकम् अस्ति इति अस्मिन् अर्थे, साधुभावे च साधुत्वे देवदत्तस्य पुत्रादि श्रेष्ठमिति अस्मिन्नर्थे, सदित्येतत् पदं प्रयुज्यते । प्रशस्ते—माङ्गलिके विवाहादिकर्मणि च सदिदं कर्मेति सच्छब्दो युज्यते—प्रयुज्यते सङ्गच्छत इति वा ॥२६॥

अनुवाद—[दो श्लोकोंके द्वारा 'सत्' शब्दका प्राशस्त्य कहते हैं]—'सद्भाव' में अर्थात् अस्तित्व बतलानेमें, जैसे देवदत्तके पुत्र हैं तथा (२) "साधुभाव" अर्थात् साधुत्वमें, जैसे देवदत्तके पुत्रादि श्रेष्ठ हैं तथा (३) प्रशस्त कर्म अर्थात् माङ्गलिक विवाहादि कर्ममें 'सत्' शब्दका प्रयोग सङ्गत होता है ॥ २६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सद्भावमें ब्रह्ममें ही केवल अटके रहते हैं—साधन क्रियामें अनवरत लगे रहते हैं, वे ही क्रिया करते करते ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं । प्रकृष्ट रूपमें क्रियाकी परावस्थामें रहने पर शान्तिपद अवस्थामें फिर कुछ भी कर्म नहीं रहता, इसलिए ब्रह्मके सिवा और कहीं मनको नहीं योजित करते ।—सद्भाव अर्थात् ब्रह्मभाव । सद्भाव तभी होता है जब साधक केवल ब्रह्ममें अटका रहता है । साधारणतः सबका मन संसारमें अटका रहता है । जब मन केवल ब्रह्ममें अटका रहता है, तब 'सद्भाव' या कैवल्यस्थिति होती है । तब ब्रह्मके सिवा अन्य किसी विषयका प्रत्यय उदित नहीं होता । साधुभाव—साधन-क्रियामें जो अविरत लगे रहते हैं, उन्हींका कार्य साधु अर्थात् सम्यक् है । और सारे कर्म विषय-कर्म हैं । इन सब कर्मोंके द्वारा समता नहीं आ सकती । केवल प्राणकर्ममें जो लगे रहते हैं, उन्हींका चित्त ब्रह्मलीन होता है । इसलिए इस प्राणकर्मको भी 'सत्' कहा जाता है । जो ब्रह्मप्राप्तिका कारण है वह ब्रह्म ही है । प्रशस्त कर्म भी 'सत्' कर्म है । प्र + शन्स् + त = प्रशस्त अर्थात् प्रशंसाके योग्य कर्म, मङ्गलकर्म । सर्वापेक्षा मङ्गलजनक और प्रशंसायोग्य अवस्था क्रियाकी परावस्था है, क्योंकि इस अवस्थामें चित्तमें संसार-भाव नहीं रहता । वही परम शान्तिकी अवस्था है, अतएव इसकी अपेक्षा मङ्गलजनक और कुछ नहीं हो सकता । लोग संसार-तापसे सन्तप्त होकर केवल हाहाकार कर रहे हैं । चित्तकी बहुमुखी वृत्ति ही संसार है । परन्तु परावस्थामें और कोई वृत्ति नहीं रहती, कोई कर्म भी

नहीं रहता। इस नैष्कर्म्य-अवस्थामें मन केवल ब्रह्ममें युक्त होता है, अन्य किसी विषयमें वह जा ही नहीं सकता। यही शान्तिपद है, यहाँ प्राण स्थिर होता है अतएव कोई कर्म नहीं रहता। यह परम मङ्गलमय अवस्था जिस साधनाके द्वारा प्राप्त होती है वही कर्म सत् है तथा जो लोग उस कर्ममें सदा लगे रहते हैं, वही साधु हैं ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

अन्वय—यज्ञे तपसि दाने च (यज्ञ, तपस्या और दानमें) स्थितिः (जो निष्ठा या तत्परता है) सत् इति च (सत् नामसे) उच्यते (कही जाती है) तदर्थीयं (ईश्वरके उद्देश्यसे) कर्म च एव (कर्म भी) सत् इति एव अभिधीयते (सत् नामसे ही पुकारा जाता है) ॥ २७ ॥

श्रीधर— कञ्च—यज्ञ इति। यज्ञादिषु या स्थितिः तात्पर्येण अवस्थानं तदपि, सदित्युच्यते। यस्य चेदं नामत्रयं स एव परमात्मा अर्थः फलं यस्य तत् तदर्थं कर्म—पूजोपहार-गृहाङ्गनपरिमार्जनोपलेपनरङ्गमाङ्गलिकादिक्रियाः तत् सिद्धये यदन्यत् कर्म क्रियते उद्यान-शालिक्षेत्र-धनार्जनादि-विषयं तत् कर्म तदर्थीयम्। तच्च अतिव्यवहितमपि सदित्येव अभिधीयते। यस्मात् एवं अतिप्रशस्तं एतन्नामत्रयं तस्मात् एतत् सर्वकर्मसाद्गुण्यार्थं कीर्त्तयेत् इति तात्पर्य्यार्थः। अत्र च अर्थवादानुपपत्त्या विधिः कल्प्यते "विधेयं स्तूयते वस्तु" इति न्यायात्। अपरे तु "प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः" "क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः" इत्यादिवर्त्तमानोपदेशः "समिधो यजति" इत्यादिवत् विधितया परिणमनीय इत्याहुः। तत्तु "सद्भावे साधुभावे च" इत्यादिषु प्राप्तार्थत्वात् न संगच्छत इति पूर्वोक्तक्रमेण विधिकल्पनैव ज्यायसी ॥२७॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—यज्ञादिमें अर्थात् यज्ञ, तपस्या और दानमें जो स्थिति है या तत्परतारूपमें जो अवस्थान है वह भी सत् नामसे कथित होता है। "ॐ तत् सत्" ये नामत्रय जिनके हैं वही परमात्मा हैं। वे कर्म जिनका फल परमात्माकी प्राप्ति है तदर्थीय कर्म हैं, जैसे, पूजोपहार-संग्रह, देवगृहाङ्गन-परिमार्जन, उपलेपन इत्यादि माङ्गलिक कर्म। इन कर्मोंकी सिद्धिके लिए जो पुष्पोद्यान, धान्यक्षेत्र और धनार्जनादिरूप कर्म हैं, वे भी तदर्थीय कर्म हैं। ये कर्म अतिशय व्यवहित होने पर भी 'सत्' नामसे कथित होते हैं। क्योंकि ॐ तत् सत् ये नामत्रय अतिप्रशस्त हैं इसलिए कर्मोंको सद्गुणयुक्त करनेके लिये इस नामत्रयका कीर्तन करना ही विधि है। इस विषयमें अर्थवाद (प्रशंसा)की अनुपपत्ति होनेके कारण विधि-कल्पना ही उचित है। क्योंकि "विधेयं स्तूयते वस्तु" विधेय वस्तुका स्तवन किया जाता है—इस न्यायके अनुसार विधिकल्पना ही उचित है। दूसरे लोग कहते हैं कि "प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः" "क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः" इत्यादि श्लोकोंमें वर्त्तमान उपदेश "समिधो यजति" इत्यादिके समान विधिरूपमें परिणमनीय है अर्थात् विधिरूपमें परिणत करने योग्य है। परन्तु यह सङ्गत नहीं है, क्योंकि "सद्भावे साधुभावे" इस श्लोकमें उसकी प्राप्ति हो जानेके कारण पूर्वोक्तरूपमें विधिकल्पना ही श्रेष्ठ है। अर्थात् "ॐ तत् सत्" केवल अर्थवाद या प्रशंसार्थ व्यवहृत नहीं होते, उनका कीर्तन करना ही विधि है ॥२७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रिया करनेके समय, कूटस्थमें रहनेके समय तथा क्रिया-दानके समय केवल ब्रह्मका ही उद्देश्य रहता है, इस प्रकारकी स्थिति सदा-सर्वदा ब्रह्ममें, जो हैं, रहते हैं, वे ही ब्रह्मस्वरूप हैं, अथवा कोई कर्म अर्थात् जो कुछ करते हैं उस ब्रह्मको ही देखकर तथा उसके ही उद्देश्यसे ब्रह्म ही सर्वदा स्थिर बुद्धिमें रखते हैं अर्थात् क्रियाकी परावस्था।—यज्ञकर्ममें, तपस्यामें और दानमें जो स्थिति है उसका ही नाम सत् है। तदर्थीय अर्थात् "ॐ तत् सत्" इन तीन शब्दोंके प्रतिपाद्य जो परमेश्वर हैं उनके लिए जो यज्ञादि कर्म अनुष्ठित होते हैं, वे ही कर्म तदर्थीय कर्म हैं। सत्-शब्दके द्वारा तदर्थीय कर्म भी अभिहित होता है—(शङ्कर-भाष्यका अनुवाद)। यज्ञ अर्थात् क्रिया करके जो स्थिति होती है, तपोलोक या कूटस्थमें रहनेके समय जो स्थिति होती है तथा क्रिया-दानके समय अर्थात् जीवके कल्याणार्थ क्रियाके उपदेशके समय जो स्थिति होती है, यह सब सद्भाव या ब्रह्मभाव है। क्योंकि जो सर्वदा ब्रह्ममें रहते हैं, वे चाहे जिस अवस्थामें रहें, उसी अवस्थामें उनके सारे कार्य ब्रह्मोद्देश्यसे अनुष्ठित होते हैं। वे ब्रह्मको पृथक् करके कुछ भी नहीं कर सकते। उनके सभी कार्योंमें ब्रह्मोद्देश्य रहता है। जैसे नटी मस्तक पर कलसी रखकर हाव-भाव दिखलाकर नृत्य-गीतादि करती है, परन्तु उसका लक्ष्य कलसीके ऊपर रहता है, उसी प्रकार योगीकी जो क्रिया-जनित स्थिर बुद्धि होती है, उसमें एकमात्र ब्रह्म ही लक्षित होता है। उसके समस्त कार्यादि स्थिर बुद्धिमें अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें रहकर होते हैं। यह कैसे होता है इसको योगीके सिवा और कोई नहीं जान सकता। श्वास सुषुम्नामें प्रवाहित न होकर जब इड़ा-पिङ्गलामें चलता है, तो वही कर्मका वैगुण्य है। इस वैगुण्यके समाधानके लिए ही "ॐ तत् सत्" का उपदेश है। इसका मुखसे उच्चारण करना भी पुण्यजनक है, क्योंकि यह मन्त्र सत्यभाव और साधु-भावका उद्दीपक है। परन्तु केवल मन्त्रका उच्चारण करके चुप हो जानेसे इसका सम्यक् फल प्राप्त न होगा। इसलिए आत्म-हितेच्छु व्यक्तिको चाहिए कि इसका प्रकृत रहस्य और साधना सद्गुरुसे सीखें। इस साधनमें जो सिद्ध हैं, वे ही प्रकृत साधु हैं। उनकी बुद्धि सर्वदा स्थिर और ब्रह्ममें युक्त होती है। अतएव वे जो कुछ कहते या करते हैं सब ब्रह्ममें तन्मय होकर। इसीसे उनके कर्म और वाक्य सब ब्रह्म-भावमय और सत्यमय होते हैं ॥२७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः।

अन्वय—अश्रद्धया (अश्रद्धाके साथ) हुतं (होम) दत्तं (दान) तप्तं तपः (अनुष्ठित तपस्या) यत् च कृतं (और अन्य जो कुछ किया जाता है) [वह सब] असत् इति उच्यते (असत् कहलाता है), पार्थ (हे पार्थ!) तत् (वह) न इह (न इस लोकमें) न प्रेत्य (न परलोकमें) [कोई काम आता है] ॥२८॥

श्रीधर—इदानीं सर्वकर्मसु श्रद्धयैव प्रवृत्त्यर्थम् अश्रद्धया कृतं सर्वं निन्दति—अश्रद्धयेति। अश्रद्धया हुतं—हवनं, दत्तं दानं, तपः तप्तं निर्वर्त्तितं। यच्च अन्यदपि कृतं कर्म तत् सर्वं असत् इत्युच्यते। यतः तत् प्रेत्य—लोकान्तरे न फलति विगुणत्वात्। नो इह—न चास्मिन् लोके फलति अयशस्करत्वात्॥

रजस्तमोमयीं त्यक्त्वा श्रद्धां सत्त्वमयीं श्रितः।
तत्त्वज्ञानेऽधिकारी स्यादिति सप्तदशे स्थितम्॥२८॥

इति श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां श्रद्धात्रयविभाग-योगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥

अनुवाद—[कर्मोंमें श्रद्धायुक्त प्रवृत्ति उत्पन्न करनेके लिए अश्रद्धासे कृत कर्मोंकी निन्दा करते हैं]—अश्रद्धापूर्वक हवन, दान, तपस्या तथा अन्य सारे कृत कर्म असत् कहे जाते हैं। क्योंकि वे अङ्गवैगुण्यके कारण लोकान्तरमें कोई फल प्रदान नहीं करते। अयशस्कर होनेके कारण इह लोकमें भी फलप्रद नहीं होते॥२८॥

रजस्तमोमयी श्रद्धाका त्याग करके सत्त्वमयी श्रद्धाका जो आश्रय लेते हैं, वे तत्त्वज्ञानके अधिकारी होते हैं, यही सप्तदश अध्यायमें कथित हुआ है।

आध्यात्मिक व्याख्या—ब्रह्ममें न रहकर होम करना (ॐकारकी क्रिया), देना (क्रिया-दान), तपस्या करना अर्थात् कूटस्थमें रहना—ब्रह्ममें न रहकर करनेसे ही असत् हो जाता है, उसका इहलोक और परलोकमें कल्याण नहीं है।—कर्म यदि तदर्थीय नहीं होता तो असत् हो जाता है। कर्म कैसे तदर्थीय होता है? श्रद्धाके साथ साधन करने पर अभिमान नष्ट हो जाता है। अभिमानपूर्वक किया हुआ कर्म शुभ होने पर भी शुभ फल प्रदान नहीं करता। गुरूपदेश और शास्त्रोपदेशको अमान्य करके जो स्वेच्छाचारसे कार्य करते हैं उनका कार्य कभी सात्त्विक नहीं होता अर्थात् उस कार्यके द्वारा कभी सुषुम्नामें प्राण प्रत्यावर्त्तन नहीं करता। सुषुम्नामें प्राणके परिचालित होने पर जो कार्य अनुष्ठित होते हैं, वे सभी सात्त्विक कर्म हैं। इस प्रकार जो कर्म सात्त्विक नहीं है, उसमें प्रवृत्तिका प्राबल्य होनेसे वह न तो इहकालमें आनन्द-जनक होता है और न परकालमें मङ्गलप्रद। सात्त्विक भावसे कर्म होना आवश्यक है क्योंकि सात्त्विक भाव अर्थात् सुषुम्नामें प्राण प्रवाहित हुए बिना किसीको आत्मप्रत्यक्ष नहीं होता तथा न कोई स्थूल-सूक्ष्म देहादिके परे जा सकता है। स्थूल और सूक्ष्म देहरूप उपाधिके रहते किसीको प्रकृत ज्ञानभक्तिका उदय नहीं होता। इड़ा-पिङ्गलामें जिनका श्वास प्रवाहित होता है वे ज्ञान-प्राप्तिके अधिकारी नहीं हैं। इसलिए जिससे श्वास सुषुम्नामें प्रवाहित हो, इस प्रकारकी साधनामें प्रयत्न करना आवश्यक है। इससे ब्रह्ममें स्थिति प्राप्त होगी। ब्रह्ममें स्थिति हुए बिना चाहे ॐकार-क्रिया करो या कूटस्थमें रहो या सहस्र सहस्र लोगोंको क्रियादान करो—इससे कोई प्रकृत कल्याण नहीं प्राप्त होगा। इन सब क्रियाओंके फलस्वरूप कुछ बाह्य सिद्धि प्राप्त हो सकती है, परन्तु वह कामोपभोगका अतिक्रमण न कर सकनेके कारण असत् है अर्थात् उस क्रियासे प्रकृत कल्याण नहीं होता। परन्तु जो सांसारिक लाभ-हानिकी उपेक्षा करके प्राणपणसे प्रीतिपूर्वक नियमितरूपसे

क्रिया करते हैं, उनका परिश्रम सफल होता है। उनका कर्म भगवत्प्रीत्यर्थ होता है, अतएव उनकी जागतिक फलकी ओर दृष्टि नहीं रहती। वह शुद्ध अच्युतके चरणोंकी ओर लक्ष्य करके दौड़ पड़ते हैं। इस प्रकारके साधकोंके समस्त कर्म भगवदुद्देश्यसे अनुष्ठित होते हैं, अतएव उनके द्वारा किये गये आहार, विहार, पूजा, साधन करना और साधन देना आदि समस्त कर्म सात्त्विक हो जाते हैं। इस प्रकारके योगी सत्त्व-शुद्धिकी अवस्था प्राप्त होने पर भक्ति और ज्ञानप्राप्तिके अधिकारी होते हैं। इस अधिकारकी प्राप्तिके लिए ही भगवान्‌ने 'ॐ तत् सत्' मन्त्रका उपदेश दिया है। इस मन्त्रको जो जानता है तथा इसका साधन करता है, उसको ही अधिकारकी प्राप्ति होती है, अन्यथा लोगोंको दिखलानेके लिए साधन करनेपर कोई फल हाथ नहीं लगता ।।२८।।

इति श्रीश्यामाचरण-आध्यात्मिक-दीपिका नामक गीताके सप्तदश अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त।

—ॐ तत् सत्—

अष्टादशोऽध्यायः

(मोक्षयोगः)

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृशीकेश पृथक् केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)—महाबाहो (हे महाबाहो !) हृषीकेश (हे हृषीकेश !) केशिनिषूदन (हे केशिनिषूदन !) संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं (संन्यास और त्यागके तत्त्व) पृथक् (पृथक् रूपमें—परस्पर विभक्तरूपमें) वेदितुम् इच्छामि (मैं जाननेकी इच्छा करता हूँ) ॥ १ ॥

श्रीधर— न्यासत्यागविभागेन सर्वगीतार्थसंग्रहम् ।
स्पष्टमष्टादशे प्राह परमार्थविनिर्णये ॥

अत्र च "सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी"—(५।१३), "संन्यासयोग-युक्तात्मा"—(६।२८) इत्यादिषु कर्मसंन्यास उपदिष्टः, तथा "त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः"—(४।२०) "सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्"—(१२।११) इत्यादिषु च फलमात्रत्यागेन कर्मानुष्ठानं उपदिष्टम् । न च परस्परविरुद्धं सर्वज्ञः परमकारुणिको भगवान् उपदिशेत् । अतः कर्मसंन्यासस्य तदनुष्ठानस्य च अविरोधप्रकारं बुभुत्सुः अर्जुन उवाच—संन्यासस्येति । भो हृषीकेश—सर्वेन्द्रियनियामक, हे केशिनिषूदन—केशिनाम्नो महतो हयाकृतेः दैत्यस्य युद्धे मुखं व्यादाय भक्षयितुम् आगच्छतः अत्यन्तं व्यात्ते मुखे वामबाहुं प्रवेश्य तत्क्षणमेव विवृद्धेन तेनैव बाहुना कर्कटिकाफलवत् तं विदार्य निषूदितवान् । अतएव हे महाबाहो इति सम्बोधनम् । संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथक्—विवेकेन वेदितुम् इच्छामि ॥ १ ॥

अनुवाद—[परमार्थका विशेषरूपसे निर्णय करनेवाले अष्टादश अध्यायमें संन्यास और त्यागका विभाग कथन करते हुए समस्त गीताके अर्थोंका संग्रह स्पष्ट रूपसे कहते हैं । "सर्वकर्माणि मनसा" (५।१३) तथा "संन्यासयोगयुक्तात्मा" (६।२८) आदिके द्वारा कर्मसंन्यासका उपदेश दिया गया है। फिर "त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं" (४।२०) तथा "सर्वकर्मफलत्यागं" (१२।११) आदि श्लोकोंमें फलमात्रका त्याग करके कर्मानुष्ठान करनेका उपदेश दिया गया है । परम कारुणिक सर्वज्ञ भगवान् परस्परविरुद्ध वाक्योंका कभी उपदेश नहीं कर सकते । अतएव कर्मसंन्यास और कर्मानुष्ठान इन दोनोंका विरोध जिससे न हो, वही समझनेके लिए इच्छुक होकर] अर्जुन बोले—हे हृषीकेश अर्थात् हे सर्वेन्द्रियोंके नियामक ! हे केशिनिषूदन ! हे श्रीकृष्ण ! संन्यास और त्यागके तत्त्वका पार्थक्य जाननेकी मुझे इच्छा हो रही है । (केशीनामक एक बृहत् अश्वाकृति दैत्यके

फैले मुँहमें बाँया हाथ घुसाकर, तत्काल उस हाथको बढ़ाकर, ककड़ीके फलके समान उसको विदीर्ण करके वध किया था। इसी कारण श्रीकृष्णको महाबाहु और केशिनिषूदन कहकर सम्बोधन किया गया है)॥ १॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरके तेजके द्वारा प्रकाश हो रहा है—संन्यास और त्यागमें पार्थक्य क्या है?—ऋषिप्रणीत शास्त्रोंमें द्विजातियोंके लिए, विशेषतः ब्राह्मणोंके लिए चार आश्रमोंका विधान है। वे चार आश्रम हैं—(१) ब्रह्मचर्य, (२) गार्हस्थ्य, (३) वान-प्रस्थ और (४) संन्यास। प्रत्येक परवर्ती आश्रमके लिए उसके पूर्ववर्ती आश्रममें योग्यता प्राप्त करनी होती है। अतएव किसी आश्रमका त्याग करनेसे काम नहीं चलता। हमारे वर्तमान शिक्षालयोंमें पृथक् पृथक् श्रेणीविभाग हैं। एक श्रेणीका पाठ तैयार करने पर छात्रको दूसरी श्रेणीमें पढ़नेकी योग्यता प्राप्त होती है। वह योग्यता प्राप्त हुई है या नहीं, इसके लिए परीक्षा देनी पड़ती है। परीक्षा देनेके बाद जब छात्र योग्य समझा जाता है तो उसको उच्च श्रेणीमें पढ़नेका अधिकार दिया जाता है। भारतवर्षका वर्णाश्रम-विभाग भी उपर्युक्त श्रेणी-विभागके अनुरूप कहा जा सकता है। अन्तर केवल इतना ही है कि पाठशालाओंके श्रेणीविभाग संख्यामें अधिक होने पर भी कुछ वर्षोंकी चेष्टासे अतिक्रम किये जा सकते हैं, परन्तु ऋषियोंके वर्णाश्रम-विभागमें उन्नत श्रेणीका अधिकार कुछ ही वर्षोंमें नहीं प्राप्त होता, यहाँ तक कि अनेक जन्मोंमें भी नहीं प्राप्त हो सकता है। जन्मजन्मान्तरसे इस विश्व-शिक्षालयमें पाठ-अभ्यास करनेके लिए जीवसमूह प्रेरित होते हैं, जैसे जैसे पाठाभ्यासमें योग्य होते जाते हैं, वैसे-वैसे शिक्षार्थी तदनुरूप दूसरे जन्ममें उच्चसे उच्चतर श्रेणीमें पहुँचते हैं। उद्देश्य होता है और भी उच्चतर शिक्षा प्राप्त करना। इस संस्कारके अनुसार जीव आगामी जन्मके लिए प्रस्तुत होता है। जिसका जैसा अभ्यास और जैसी चेष्टा होती है, वह तदनुकूल फल प्राप्त करता है। इस शिक्षाका चिह्न प्रत्येक जन्ममें संस्काररूपसे प्रत्येक जीवके शरीर, इन्द्रिय और मनमें जम जाता है। फलस्वरूप चार प्रकारके जीव जगत्में देखे जाते हैं—(१) मुक्त, (२) मुमुक्षु, (३) संसारी और (४) पाखण्डी। मुक्त पुरुष ज्ञानी होते हैं, उनका पाठ समाप्त-प्राय समझना चाहिए। मोक्षरूप परमानन्दका अधिकारी होनेके कारण उनको कर्मके साथ बद्ध नहीं होना पड़ता। इसलिए कर्ममें वे लिप्त नहीं होते। मुमुक्षु, संसारी और पाखण्डी जीवोंके अभ्युदयके लिए कर्मकी व्यवस्था है। वर्ण-विभाग भी उनके कर्मकी अनुकूलताके लिए ही व्यवस्थित है। साधारणतः ब्राह्मण मुमुक्षु हैं, क्षत्रिय मुमुक्षु और संसारी हैं, वैश्य संसारी हैं तथा नीच-वृत्तिवाले क्रूर पाखण्डी शूद्र-श्रेणीके अन्तर्गत हैं। सबसे निम्नश्रेणीके लोग भी अपने कर्मोंके अनुसार क्रमशः उन्नति प्राप्त कर सकते हैं। शास्त्रमें इसकी व्यवस्था है। इस क्रमिक उन्नतिके फलस्वरूप वे संसारी और मुमुक्षु होकर अन्तमें ब्राह्मण-कुलमें जन्मग्रहण करते हैं। ब्रह्मनिष्ठ और तत्त्वज्ञान-परायण गृहस्थ होकर वे वर्णविहित गृहस्थाश्रमके नियमोंका पालन करते हैं। साधनामें सफल होनेके लिए पूर्णरूपसे आत्मबलका प्रयोग करनेके निमित्त वे संसारका त्यागकर वानप्रस्थाश्रम तथा अपनेको उपयुक्त समझकर संन्यास-आश्रम तक ग्रहण कर सकते हैं। आजकल तो अधिकार हो या न हो

इच्छा होते ही लोग संन्यासी हो जाते हैं। प्राचीन कालमें इस प्रकार इच्छानुसार संन्यास-ग्रहणकी व्यवस्था नहीं थी। इसी कारण उस समय चतुर्थाश्रममें संन्यासियोंकी संख्या बहुत ही कम थी। इसके सिवा प्रथम तीन आश्रमोंके कार्य समाप्त करते करते बहुतोंकी आयु समाप्त हो जाती थी। उस समयके लोग इतने विचारशील थे कि वे जबतक अधिकारी नहीं होते थे उच्चतर आश्रम ग्रहण नहीं करते थे। अतएव ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रमके सिवा अन्य किसी आश्रममें अधिक संख्यामें लोगोंका समागम नहीं हो सकता था। जैसे-जैसे साधनाके द्वारा ज्ञान विकसित होता था, तदनुसार ही वे उच्च आश्रमको ग्रहण करते थे। उनका विश्वास था कि जन्मान्तरके कर्मोंके फलसे ही उच्च वर्णमें जन्म होता है। आजकलके समान पुस्तकी विद्या ही उनका संबल न थी। अकर्मण्य रहकर ऊँचा बननेकी प्रवृत्ति किसीमें न थी। यदि ऐसी प्रवृत्ति किसीमें होती भी थी तो राजशासन उसे यथास्थान संस्थापित कर देता था। अतएव आधुनिक समयके अनुसार अनधिकारी व्यक्ति किसी आश्रममें प्रवेश करके उसको कलङ्कित नहीं कर पाते थे। अवश्य ही श्रुतिमें ऐसा उपदेश है कि "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" —जभी वैराग्य हो तभी प्रव्रज्याश्रम ग्रहण करे। इस नियमके अनुसार कोई कोई ब्रह्मचर्याश्रमको समाप्त करके ही चतुर्थाश्रमको ग्रहण करते थे, परन्तु ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत ही स्वल्प थी। इस प्रकार चतुर्थाश्रम ग्रहण करनेका विधान उन्हीं लोगोंके लिए था, जिनको प्रबल वैराग्य उत्पन्न होता था। उस वैराग्यभावकी गतिको कोई रोध नहीं कर पाता था, किसी बाह्य आकर्षणसे वह वैराग्यवान् आकर्षित नहीं हो सकता था, अतएव उसके लिए अन्य आश्रमोंकी शिक्षा प्रयोजनीय नहीं थी। आज जैसे अत्यन्त बुद्धिमान् छात्रको द्विगुण उन्नीत (double promotion) किया जाता है, शास्त्रमें भी उपयुक्त अधिकारीके लिए ऐसी व्यवस्थाका अभाव नहीं था। परन्तु तीव्र वैराग्यके बिना इस प्रकारकी उन्नति प्राप्त करना किसीके लिए संभव न था। उस समय राज्य और समाजका शासन शास्त्रानुसार चलता था। अतएव मनिषी लोगोंकी इस ओर खूब तीक्ष्ण दृष्टि होती थी कि शास्त्रविधिका कहीं उल्लङ्घन न हो। उस समय अनधिकार प्रवेश बिलकुल न था। बौद्ध विप्लावनके बाद वेदविधिको सुरक्षित और समाजको सुपरिचालित करनेके लिए लोकशिक्षकोंकी विशेष आवश्यकता होनेके कारण आचार्य शङ्करने संन्यासी-समाजका आयतन बढ़ानेके लिए उपर्युक्त वेदविधिका आश्रय लेकर समाजमें संन्यासियोंकी संख्या बढ़ा दी थी। अवश्य, उस समय भी लोग शास्त्रविधिका यथासाध्य पालन करनेकी चेष्टा करते थे। वर्त्तमान युगके समान शास्त्रविधि-वर्जित स्वेच्छाचार-प्रणोदित संन्यासियोंकी संख्या उस समय एकबारगी अविरल तो न थी, परन्तु उनकी मात्रा इतनी अधिक न थी। जिस युगमें भगवान्ने अर्जुनको गीताका उपदेश दिया था उस ममय उन लोगोके लिए संन्यास विहित न था जिनको तत्त्वज्ञान नहीं उत्पन्न हुआ रहता था और ज्ञानकी अभिलाषा भी नहीं रहती थी। अतएव इस श्रेणीके लोगोंके कर्म संन्यासकी व्यवस्थाके लिए संन्यासके अतिरिक्त त्यागीकी एक दूसरी श्रेणीका विभाग किया गया हो, यह विश्वसनीय नहीं है। जिनको ज्ञानकी अभिलाषा ही नहीं है, उनके

लिए त्याग या संन्यास कैसे संभव हो सकता है, यह समझमें नहीं आता। आत्मसाक्षात्कार और मोक्षकी इच्छाके लिए ही संन्यासाश्रम है। जिनको यह इच्छा ही उत्पन्न नहीं हुई उनको खींचकर संन्यासी या त्यागी बनानेका प्रयोजन क्या है? श्रुति कहती है—"ज्ञानादेव तु कैवल्यम्"—ज्ञानसे ही कैवल्य प्राप्त होता है। यह ज्ञान सहज-लभ्य नहीं है। पुस्तक पढ़कर ज्ञानकी लम्बी-चौड़ी बातें करनेसे कोई ज्ञानी नहीं होता। इसके लिए अधिकारी बनना पड़ता है। जिस ज्ञानसे समस्त अनैक्यों या भेदोंमें ऐक्य स्थापित होता है वह ज्ञान बहुत साधनाके फलस्वरूप किसी भाग्यवान् पुरुषको ही प्राप्त होता है। जिसको ज्ञानकी अभिलाषा है, उसको पहले अधिकारी होना पड़ेगा। इसके लिए साधनाभ्यास चाहिए। साधनाभ्यासके द्वारा हृदय कुछ शुद्ध हो जाने पर हृदयमें वैराग्यकी अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। उस प्रज्वलित वैराग्यरूपी अग्निमें सारी विषम-वासनाओंको हविरूपमें निक्षेप करने पर आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्ति हो सकती है। जो साधनाभ्यास आत्मसाक्षात्कारका उपाय है, वह भी अधिकारी-भेदसे चार प्रकारका होता है। प्रथम बहिःपूजा, जप, श्रवणकीर्तनादि। द्वितीय पूजा है प्राणतत्त्वके साथ परिचित होना। प्राणायामादि योगाभ्यासके द्वारा जब प्राण स्थिर होता है तब मन और इन्द्रियादि स्थिर होकर अन्तर्मुखी होती हैं। उसी समयसे अन्तःपूजा प्रारम्भ होती है। बहिःपूजाके समान वहाँ भी पुष्प, धूप, दीप, अञ्जली और आरती आदि होती हैं, परन्तु उसमें कायक्लेश नहीं होता। केवल स्थिर मनके द्वारा वह पूजा सम्पाद्य होती है। इस प्रकार भूतात्मा और सूत्रात्माकी पूजा समाप्त होने पर जो भूतादिमें प्रकाशित हो रहा है उस एकमात्र प्रकाशस्वरूपकी पूजा ही तृतीय अधिकारीकी पूजा है। तब "ब्रह्ममयीकी पूजामें पूजक ब्रह्ममय" हो जाता है। यह केवल स्थिर मनमें ध्येय वस्तुका ध्यान या उसमें तद्गत हो जाना है। चतुर्थ अधिकारमें स्थूल, सूक्ष्म, कारणके अतीत होकर आत्माकारमें या स्वस्वरूपमें अवस्थान होना है। यही प्रपञ्चातीत अवस्था है। इस अधिकारमें मायाका लेश भी नहीं रहता। यही शुद्ध अद्वैतानन्द, ब्रह्मभाव अथवा क्रियाकी परावस्था है।

जो लोग पूर्वजन्मकी सुकृतियोंके फलस्वरूप वैराग्यवान् होते हैं, अतएव जो मुमुक्षु हैं उनके ज्ञानकी परिपक्वताके लिए संन्यासको दो भागोंमें विभक्त किया जाता है। (१) विविदिषा-संन्यास और (२) विद्वत्-संन्यास। जो लोग पूर्वसंस्कारके वश मुमुक्षु होते हैं, अतएव ऐहिक सुख-सम्पदके प्रति अत्यन्त ही उदासीन हैं, उनको बहुत थोड़े समयकी साधनासे ही सिद्धि प्राप्त होती है। उनका चित्त स्वभावतः सांसारिक हानि-लाभके प्रति उदासीन रहता है। उनका चित्तमल नाममात्रका होनेके कारण थोड़े दिनोंकी साधनासे ही उनको प्राण तथा मनकी स्थिरता सहज ही प्राप्त हो जाती है। जिनका प्राण थोड़े ही प्रयत्नसे सुषुम्नामें प्रवेश करता है वे शीघ्र ही ब्रह्मभावसे भावित या क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त या आत्मस्थ हो सकते हैं। इस प्रकार जिनका चित्त प्रक्षीण दशाको प्राप्त होकर प्रकृत ज्ञानाधिकारको प्राप्त करता है, उनके मनसे कर्मासक्ति जीर्ण त्वचाके समान स्खलित हो जाती है। इस प्रकारके साधकेन्द्रके लिए जो संन्यास होता है, वही स्वाभाविक संन्यास है। यही विद्वत्-संन्यास

कहलाता है। इस संन्यासके लिए कोई विधि-विधान या आयोजन नहीं करना पड़ता। फल अत्यन्त पक जाने पर जैसे अपने आप वृक्षसे नीचे गिरता है, उसी प्रकार उनका मन संसारसे स्वभावतः ही मुक्त हो जाता है। इसके लिए किसी पाठशालामें नाम लिखानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु जो उस प्रकारके अधिकारी नहीं हैं परन्तु मुमुक्षु-भाव-सम्पन्न हैं, संसारसे कुछ अंशमें अनासक्त भी हैं, उनके शमदमादि और अनासक्ति-भावको पुष्ट करने तथा बढ़ानेके लिए कतिपय शास्त्रीय व्यवस्थाएँ हैं। उन विधि-व्यवस्थाओंको शास्त्रानुमोदित ढंगसे ग्रहण करनेको ही 'विविदिषा'-संन्यास कहते हैं। यह वास्तविक संन्यास नहीं, बल्कि संन्यासके लिए शिक्षण-व्यवस्थामात्र है।

इस अध्यायमें 'त्याग' और 'संन्यास'की विशेष आलोचना की गयी है। इन दोनों शब्दोंका धातुगत अर्थ एक ही है। परन्तु 'त्याग' शब्द एक विशिष्ट अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इस 'त्याग' शब्दकी आलोचना करनेसे जान पड़ता है कि यह शब्द भगवद्गीताका निजस्व है। संन्यास-शब्दसे इसका वैशिष्ट्य भी विशेषरूपसे विचार करने योग्य है। भगवान् श्रीकृष्णने जीवके कल्याणके लिए त्यागके एक विशिष्ट मार्गकी उद्भावना करके मानो लोकचक्षुके सामने उसे एक नये ही रूपमें उपस्थित किया। यह वेद-विरुद्ध नहीं है, परन्तु जान पड़ता है कि उस समयके समाजमें यह अविज्ञात और अप्रचलित था। उसके पूर्व कृतयुग आदिमें त्याग और संन्यासको पृथक् करके समझानेका प्रयोजन नहीं पड़ा था। परन्तु कालचक्रकी विडम्बनासे जब जीवकी मति-गति हीन और अशुद्ध होने लगी, तब फिर संन्यास और त्यागके विषयका प्रचार जनसमाजमें करनेका प्रयोजन हुआ। संन्यास और त्यागका धातुगत अर्थ एक ही है, यह हम पहले कह चुके हैं। कालक्रमसे संन्यासका एक रूढ़ि अर्थ समाजमें प्रचलित हो गया था। संन्यासी शब्दसे वस्तुतः यही ज्ञात होता है कि—

सदन्ने वा कदन्ने वा लोष्ट्रे वा काञ्चने तथा।
समबुद्धिर्यस्य शश्वत् स संन्यासीति कीर्तितः॥

सर्वत्र समबुद्धिविशिष्ट व्यक्ति ही प्रकृत संन्यासी है। किन्तु पश्चात् संन्यासीका वेष धारण करना ही महत्त्वकी बात हो गयी—

दण्डकमण्डलुं रक्तवस्त्रमात्रञ्च धारयेत्।
नित्यप्रवासी नैकत्र स संन्यासीति कीर्तितः॥

संन्यासीकी यह अन्तिम परिभाषा ही जब विशेषरूपसे प्रबल होने लगी, तब संन्यासीके भीतर भी विविध भेद और विविध सम्प्रदायकी सृष्टि होने लगी। परन्तु जान पड़ता है कि अति प्राचीन समाज-व्यवस्थामें यह अनुमोदित न थी। संन्यासका वास्तविक अर्थ तो घर-द्वार छोड़ना नहीं था और न वेषभूषा धारण करना ही था। संन्यासकी वास्तविकता तो थी बुद्धिकी समता। समबुद्धि-भावापन्न होकर यदि कोई सद्गृहस्थ या ब्रह्मचारी भी हो तो वह वेषधारी संन्यासी न होने पर भी यथार्थरूपमें संन्यासी है। मुनीश्वर द्वैपायन वेदव्यासी या शुकदेव कोई भी गृहत्यागी न थे, तथापि वे संन्यासी थे। गीतामें भगवान्ने इसी प्रकारका अभिप्राय प्रकट किया है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ।।५।३

जो द्वेष नहीं करता, आकांक्षा भी नहीं करता, उसको कर्मानुष्ठान करते हुए भी संन्यासी समझना चाहिए। हे महाबाहो! राग और द्वेष आदिसे शून्य शुद्धचित्त पुरुष अनायास ही संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

षष्ठ अध्यायमें भगवान् फिर कहते हैं—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।६।१

जो फलकी आकांक्षा न करके कर्त्तव्य समझकर विहित कर्मोंको करता रहता है, वही संन्यासी है और वही योगी है। निरग्नि (अग्निके द्वारा साध्य यज्ञादि कर्मोंका त्याग करनेवाला) अथवा अक्रिय (अनग्नि-साध्य कर्मोंका त्याग करनेवाला) न संन्यासी है और न योगी है।

यहाँ भगवान्ने स्पष्टतः प्रचलित संन्यासका प्रतिवाद किया है। परन्तु संन्यासाश्रमको बुरा कहकर प्रतिवाद किया हो, ऐसी बात नहीं है। अत्याश्रमी या संन्यासी ही सर्वोत्कृष्ट होते हैं, परन्तु अनधिकारपूर्वक इस आश्रमको ग्रहण करनेसे समाजमें विप्लव उत्पन्न हो जायगा, इस आशङ्कासे उन्होंने वेषधारी संन्यासीकी निन्दा की है तथा उपर्युक्त संन्यासीके साथ त्यागी गृहस्थ योगियोंको समान आसन प्रदान किया है।

संन्यासी लोग ज्ञान-वैराग्य-सम्पन्न और गृहत्यागी होते हैं तथा त्यागी लोग भक्त, ज्ञानी, कर्मी तथा गृही होते हैं। इन ज्ञानसम्पन्न कर्मयोगियोंके कर्म किस प्रकार संन्यासमें परिणत होते हैं, इसी बातको समझानेके लिए भगवान्ने गीतामें विशेष प्रयास किया है।

संन्यासी कहनेसे एक विशिष्ट सम्प्रदायका बोध होता है। अतएव जो गृहत्यागी नहीं हैं, परन्तु ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्त साधक हैं, उनको लक्ष्य करके सम-अर्थ बोधक 'त्यागी' शब्दका व्यवहार किया है। इस शब्दका व्यवहार करने पर विशिष्ट आश्रमयुक्त 'संन्यासी' का भ्रम नहीं होगा बल्कि संन्यासीका सम-उद्देश्यबोधक अर्थ होगा। अर्थात् अत्याश्रमी न होकर भी लोग संसारमें रहते हुए संन्यासीके समान समबुद्धिविशिष्ट हो सकते हैं। भगवान्ने 'त्यागी' शब्दके द्वारा मानो उन सब ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थोंका स्थान निर्देश कर दिया है। 'संन्यास' और 'त्याग' दोनों शब्द पृथक् उद्देश्यका बोध कराते हैं, इस बातको उन्होंने इस अध्यायके द्वितीय श्लोकमें अति स्पष्टरूपमें निर्देश कर दिया है। 'त्यागी' शब्द प्राचीन है, तथापि भगवान्ने गीतामें उसे पुनः नया रूप देकर लोकसमाजमें उसका प्रचार किया है। इसीसे उन्होंने उसकी संज्ञा भी निर्धारित कर दी है। उस समय संसारमें ऐसे मनीषी महापुरुषोंका आविर्भाव हो चुका था जो संसारी होकर भी संन्यासी थे। उन्होंने संसारका त्याग नहीं किया था, परन्तु उनके जीवनमें त्यागका उच्च दृष्टान्त वर्त्तमान था। हो सकता है कि किसी किसीको संन्यासीका स्वाभाविक अधिकार न था, परन्तु उनके त्यागका समुज्ज्वल दृष्टान्त अत्याश्रमीके लिए भी अनुकरणीय था जैसे—भीष्म, युधिष्ठिर, विदुर आदि। ऐसे ही लोगोंके स्थान-निर्देशके लिए यह

'त्यागी'-शब्द व्यवहृत हुआ है। गीताके इस अध्यायमें त्यागी तथा संन्यासीके लक्षणोंमें जो पार्थक्य है वह भगवान्‌ने बतला दिया है। "सिद्‌ध्यसिद्‌ध्योः समो भूत्वा, समः सिद्धावसिद्धौ च, ब्रह्मण्याधाय कर्माणि इत्यादि श्लोकोंमें फलासक्ति-त्याग करके ब्रह्ममें कर्म समर्पण कर सकने पर तथा सिद्धि-असिद्धिमें हर्षविषादविहीन होनेपर पुरुषका कर्मबन्धन नहीं होता इत्यादि उपदेशोंके द्वारा अत्याश्रमी न होनेपर भी संन्यासीके उच्च पद पर आसीन हो सकते हैं, यह अभिप्राय स्पष्टतः भगवान्‌ने प्रकट किया है। भगवान्‌ने भागवतमें भी उद्धवसे मोक्षके तीन उपाय बतलाये हैं—ज्ञान, भक्ति और कर्म। "निर्विण्णानां ज्ञानयोगः न्यासिनां इह कर्मसु"—दुःख-बुद्धिसे कर्मफलमें विरक्त कर्मत्यागियोंके लिए ज्ञानयोग है। यही संन्यासाश्रमका पालनीय धर्म है। "तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्"—दुःख-बुद्धि-शून्य, फलमें अविरक्त पुरुषके लिए कर्मयोग है। और "यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्। न निर्विण्णः नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः"—यदृच्छा-क्रमसे मत्कथामें श्रद्धायुक्त जो पुरुष संसारसे विरक्त नहीं है और अत्यन्त आसक्त भी नहीं है, उसके लिए भक्तियोग ही सिद्धिप्रद है। अर्थात् जो काममें आसक्त है उसका कर्मयोग ही आश्रय-स्थान है। जो मत्कथामें जातश्रद्ध है, सब कर्मोंमें निर्विण्ण है और कामको दुःखात्मक जानकर भी उसका परित्याग करनेमें असमर्थ है, उसके लिए भक्तियोग ही भेषजरूप समझो। परन्तु जिसने कामका पूर्ण त्याग कर दिया है, उसके लिए ज्ञानयोग अवलम्बनीय है।

वर्त्तमान कालमें मनुष्यके चरित्रकी आलोचना करने पर ज्ञात होता है कि भक्तिमार्ग ही वर्त्तमान कालके अधिकांश लोगोंका अवलम्बनीय पथ है। इसीसे भगवान्‌ने विशेषरूपसे त्यागी और भक्त होनेके लिए ही अर्जुनको लक्ष्य करके जगत्‌को उपदेश दिया है। इसमें संन्यासकी कठोरता नहीं है परन्तु भगवत्प्राप्तिके लिए व्याकुलता है। ज्ञानका अगाध गाम्भीर्य और उसके साथ ज्ञानकी उज्ज्वलताकी पराकाष्ठा न रहने पर भी, परार्थमें आत्मत्याग और भगवद्भक्तिके मृदुमधुर हिल्लोलमें साधकका प्राण यहाँ निरन्तर हिल्लोलित रहता है। वर्त्तमान युगके तथाकथित वैष्णवोंके समान कर्मकी ओर न मुड़ना तथा ज्ञानकी आलोचना भी न करना—इन सब निःसार बातोंकी कोई अवतारणा यहाँ नहीं है। भगवान्‌को स्वजन समझकर या आत्मतुल्य जानकर प्रेमकी शिक्षा ही इसका अन्तिम लक्ष्य है। भगवान्‌की ओर मनको एकाग्र किये रखनेका उपदेश ही इसकी साधना है। जो भगवद्भक्त है वही समदृष्टि-सम्पन्न होता है। अन्तमें उसका नानात्व-बोध मिट जाता है। कोई योगाभ्यास करे अथवा वेदान्तकी आलोचना करे अथवा जप-पूजा आदिमें मनको निविष्ट करे, चाहे जैसे हो भगवान्‌की ओर मनको एकाग्र कर सकनेसे ही जीवनकी अपूर्व सार्थकता और सफलता है। यह बात जगज्जीवको सुनानेके लिए ही मानो कृपालु जगद्‌गुरु कटिबद्ध हुए हैं। इसीलिए संन्यासकी व्यवस्था होते हुए भी उन्होंने त्यागकी महिमाका कीर्तन करके उपयुक्त ज्ञानी-भक्त गृहस्थके आसनको यथेष्ट उच्च कर दिया है। इस प्रकारसे जीवनको परिचालित करने पर अनधिकारीको भी एक दिन अधिकार प्राप्त हो सकेगा, माया-निबद्धदृष्टि संसारी भी भगवत्कृपासे एकदिन

इस विश्वमें सर्वत्र भगवानको तथा उनकी महिमाको उपलब्ध कर सकेगा। यह शुभ संयोग उसको एकदिन अवश्य प्राप्त होगा। तब वह विश्वके साथ अपने आत्माके ऐकान्तिक योग या एकात्मताको समझकर अपने जीवन-जन्मको कृतकृत्य कर सकेगा। ये सब त्यागके अभ्यासी लोग आध्यात्मिक मार्गके एक स्थानमें स्थित नहीं हैं, अतएव इनमें भी विविध भेदोंका होना अनिवार्य है। भगवान् इन सब भेदोंकी बात तथा इनके लक्षणादिकी आलोचना इस अध्यायमें विशेषरूपसे करेंगे ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

(काम्य-कर्म-वर्जन ही संन्यास है)

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)—कवयः (पण्डित लोग) काम्यानां कर्मणां (काम्य कर्मोंके) न्यासं (त्यागको) संन्यासं विदुः (संन्यास जानते हैं)। विचक्षणाः (पण्डित लोग) सर्वकर्मफलत्यागं (सब प्रकारके कर्मोंके फलके त्यागको) त्यागं प्राहुः (त्याग कहते हैं) ॥ २ ॥

श्रीधर—तत्र उत्तरं श्रीभगवानुवाच—काम्यानामिति। काम्यानां "पुत्रकामो यजेत" "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिकामोपबन्धेन विहितानां कर्मणां न्यासं परित्यागं संन्यासं कवयो विदुः, सम्यक् फलैः सह सर्वकर्मणामपि न्यासं संन्यासं पण्डिता विदुः—जानन्ति इत्यर्थः। सर्वेषां काम्यानां नित्यनैमित्तिकानां च कर्मणां फलमात्रत्यागं प्राहुः त्यागं विचक्षणाः निपुणाः। न तु स्वरूपतः कर्मत्यागम्।

ननु नित्यनैमित्तिकानां फलाश्रवणात् अविद्यमानस्य फलस्य कथं त्यागः स्यात्? न हि बन्ध्यायाः पुत्रत्यागः सम्भवति। उच्यते—यद्यपि स्वर्गकामः पशुकाम इत्यादिवत् "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति"—इत्यादिषु फलविशेषो न श्रूयते, तथापि अपुरुषार्थे व्यापारे प्रेक्षावन्तं प्रवर्त्तयितुम् अशक्नुवन् विधिः "विश्वजिता यजेत" इत्यादिषु इव समान्यतः किमपि फलं आक्षिपत्येव। न च अतीवगुरुमतश्रद्धया स्वसिद्धिरेव विधेः प्रयोजनमिति मन्तव्यम्। पुरुषप्रवृत्त्यनुपपत्तेः दुष्परिहरत्वात्। श्रूयते च नित्यादिषु अपि फलं "सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति" इति, "कर्मणा पितृलोकः", इति "धर्मेण पापं अपनुदति" इत्येवमादिषु। तस्माद् युक्तमुक्तं "सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः" इति।

ननु फलत्यागेन पुनरपि निष्फलेषु कर्मसु अप्रवृत्तिरेव स्यात्। तन्न। सर्वेषामपि कर्मणां संयोगपृथक्त्वेन विविदिषार्थतया विनियोगात्। तथा च श्रुतिः—"तमेतं आत्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति। अतः श्रुतिपदोक्तं सर्वं फलं बन्धकत्वेन त्यक्त्वा विविदिषार्थं सर्वकर्मानुष्ठानं घटत एव। विविदिषा च नित्यानित्यवस्तु-विवेकेन निवृत्तदेहाद्यभिमानतया बुद्धेः प्रत्यक्प्रवणता। तावत् पर्यन्तं च सत्त्वशुद्ध्यर्थं ज्ञानाविरुद्धं यथोचितं आवश्यकं कर्म कुर्वतः तत्फलत्याग एव कर्मत्यागो नाम, न स्वरूपेण। तथा च श्रुतिः—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" इति। ततः परं तु सर्वकर्मनिवृत्तिः स्वत एव भवति। तदुक्तं नैष्कर्म्यसिद्धौ—

प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः।
कृतार्था न्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव॥

उक्तञ्च भगवता "यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्" इत्यादि। वशिष्ठेन चोक्तम्—

न कर्माणि त्यजेद् योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ।
कर्मणो मूलभूतस्य सङ्कल्पस्यैव नाशतः॥ इति

ज्ञाननिष्ठाविक्षेपकत्वं आलक्ष्य त्यजेद्वा, तदुक्तं श्रीभागवते—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥

इत्यादि। अलमतिप्रसङ्गेन, प्रकृतमनुसरामः॥ २॥

अनुवाद—[इस प्रश्नके उत्तरमें] श्रीभगवान् बोले—'पुत्रकी कामनासे याग करो', 'स्वर्गकी कामनासे याग करो' इत्यादि कामनाओंके लिए जो काम्य-कर्म विहित हैं उनके न्यास अर्थात् परित्यागको संन्यास कहते हैं। सम्यक् फलके साथ सर्व कर्मोंका जो न्यास है उसको ही पण्डित लोग संन्यास नामसे जानते हैं और विचक्षण अर्थात् निपुण व्यक्ति काम तथा नित्यनैमित्तिकादि कर्मके फलमात्रके त्यागको त्याग कहते हैं, स्वरूपतः कर्मत्यागको वे त्याग नहीं कहते।

यदि कहो कि नित्यनैमित्तिक कर्मकी फलश्रुति न होनेके कारण अविद्यमान फलका त्याग कैसे सम्भव है, बन्ध्याका पुत्रत्याग तो कभी सम्भव नहीं हो सकता, तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि यद्यपि 'स्वर्गकामः' या 'पशुकामः' इत्यादिके समान "प्रतिदिन सन्ध्या करे" "यावत् जीवन अग्निहोत्र याग करे" इत्यादि स्थलोंमें फलविशेष का उल्लेख श्रुतिमें नहीं है, तथापि प्रयोजन-उद्देश्यके अतिरिक्त कर्ममें ज्ञानी पुरुषको प्रवृत्त करनेमें विधिके असमर्थ होनेके कारण "विश्वजित नामक याग करे" इस प्रकारके स्थलमें फलकी बात उक्त न होने पर भी जैसे फलकी कुछ कल्पना करनी पड़ती है, उसी प्रकार "प्रतिदिन सन्ध्या करे" इत्यादि स्थलोंमें भी कुछ फल है, यह समझना होगा। तथा गुरुके मतमें अतिशय श्रद्धावश स्वसिद्धि ही विधिका प्रयोजन है, अतएव विधि किसी फलकी अपेक्षा नहीं करती, यह मान लेना ठीक नहीं है। पुरुषकी प्रवृत्तिकी अनुपपत्ति दुष्परिहरणीय होती है अर्थात् पुरुषकी निष्फल कर्ममें प्रवृत्ति होना असम्भव है। नित्य कर्मादिमें भी फलश्रुति देखी जाती है, जैसे "इन सबको पुण्यलोककी प्राप्ति होती है" "कर्म द्वारा पितृलोकको जाते हैं" "धर्मके द्वारा पाप अपनोदित होता है" इत्यादि। अतएव सब कर्मोंके फलत्यागको जो पण्डित लोग त्याग कहते हैं, वह युक्तियुक्त ही है।

यदि कहो कि फलत्याग करने पर लोगोंकी कर्ममें प्रवृत्ति होनेकी सम्भावना नहीं है तो यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि "संयोगपृथक्त्वन्याय-क्रम"से सब कर्मोंके द्वारा विविदिषा अर्थात् तत्त्वज्ञानकी इच्छा उत्पन्न होती है, यह कहा जाता है। इस विषयमें श्रुति कहती है कि "ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तपस्या और

अनाशक (भोगादिहीनता या संन्यास) द्वारा उस आत्माको जाननेकी इच्छा करते हैं।" कर्मफल बन्धक होता है, अतएव कर्मका फलत्याग करके विविदिषार्थ (तत्त्वज्ञानकी इच्छासे) सब कर्मोंका अनुष्ठान करणीय हो सकता है। नित्यानित्य वस्तुके विवेकके द्वारा देहादिमें अहंबुद्धि निवृत्त हो जाने पर बुद्धिमें प्रत्यक्प्रवणता उत्पन्न होती है, यही विविदिषा शब्दका अर्थ है। सत्त्वशुद्धिके लिए ज्ञानके अविरुद्ध आवश्यक कर्म करके उसका फलत्याग करना ही वास्तविक कर्मत्याग है। आलसीके समान स्वरूपतः बिल्कुल ही काम न करना कर्मत्याग नहीं है। श्रुतिमें लिखा है कि "इहलोकमें कर्मादि करके शतवर्ष पर्यन्त जीवित रहनेकी इच्छा करे"। पश्चात् चित्तकी प्रत्यक्प्रवणतारूप विविदिषा उत्पन्न होने पर सारे कर्म स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं। इसीकारण नैष्कर्म्य-सिद्धिमें कहते हैं कि जो कर्म चित्तशुद्धिके द्वारा बुद्धिमें प्रत्यक्प्रवणता उत्पन्न करके कृतार्थ करते हैं वे अपने आप अस्तप्राप्त हो जाते हैं, जैसे मेघ वर्षाके अन्तमें अपने आप अस्तप्राप्त हो जाता है। भगवान् भी तृतीय अध्यायमें कहते हैं कि जो आत्मरत और आत्मतृप्त हैं उनको कोई कर्त्तव्य कर्म नहीं रहता। योगवासिष्ठमें वसिष्ठ जी भी कहते हैं कि "योगी पुरुषके कर्मके मूलभूत सङ्कल्प जब नष्ट हो जाते हैं तो उनको कर्मत्याग नहीं करना पड़ता, कर्म ही उनको त्याग देता है। अथवा ज्ञाननिष्ठाका विक्षेपकत्व देखकर योगी कर्म त्याग करता है। श्रीमद्भागवत ११ वें स्कन्धके २० वें अध्यायमें भगवान् उद्धवसे कहते हैं कि "जबतक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, अथवा जबतक मत्कथा-श्रवणमें श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती, तबतक नित्यनैमित्तिक कर्म करना ही पड़ता है। ज्ञाननिष्ठ विरक्त पुरुष अथवा मद्भक्त अनपेक्षक होकर रहते हैं अर्थात् कर्मकी अपेक्षा नहीं रखते। वे लिङ्ग (चिह्न) और आश्रमका परित्याग कर अविधिगोचर होकर अर्थात् विधिके अधीन न रह कर यथेच्छा विचरण करते हैं॥२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ द्वारा प्रकाश हो रहा है—वर्त्तमान अवस्थामें इच्छाको रोकनेका नाम संन्यास है, और भविष्यमें इच्छा रोकनेका नाम त्याग है सब कर्मोंका।—काम्य कर्मोंका त्याग करना संन्यास कहलाता है तथा सारे फलोंकी इच्छाका त्याग करके कर्म करनेको त्याग कहते हैं। यही नैष्कर्म्यसिद्धि या इच्छारहित अवस्था है। अल्प वासनाके रहते हुए भी कोई त्यागी नहीं हो सकता। जो भगवान्के ऊपर पूर्ण आत्मसमर्पण करता है, जिसका प्राण पूर्ण अवरुद्ध हो गया है, जो सर्वदा क्रियाकी परावस्थामें रह सकता है, तथा वहाँ ही रहते हुए अनिच्छाकी इच्छासे संसार-धर्म और समस्त कर्मोंको करता जाता है वही यथार्थ त्यागी है। संन्यासी लोग वर्त्तमानकी इच्छाका त्याग करते हैं सही, परन्तु वर्तमानकी इच्छा या सङ्कल्पका त्यागकर जो क्रिया नहीं कर सकता, वह क्रियाका फल जो परावस्था या शान्ति है उसे कैसे प्राप्त कर सकता है। अतः क्रियाकी परावस्था या शान्ति प्राप्त करनेकी आशासे जो वर्त्तमान सङ्कल्प या इच्छाका त्याग करके खूब मन लगाकर क्रिया करते हैं, वे ही 'संन्यासी' हैं। बाहरी संन्यासीको भी समस्त कर्म, अनुष्ठान आदि त्याग करना पड़ता है, परन्तु उसको मोक्षेच्छा रहती है। त्यागीको यह मोक्षेच्छा भी नहीं रहती,

क्योंकि वह परावस्थाको प्राप्त होता है। परावस्था उसीको प्राप्त होती है जिसको कोई इच्छा नहीं रहती। अत्यल्प इच्छा रहने पर मन एकाग्र हो सकता है सही, परन्तु रुद्ध नहीं होता। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादि सारी काम्य वस्तुओंकी ओर मनके दौड़ने पर वह एकाग्र भूमिकामें नहीं पहुँच सकता। अतएव जो मनका उपराम या शान्ति चाहते हैं वे प्राणवायुको ब्रह्ममार्गमें ऐसी सतर्कतासे परिचालित करते हैं कि मन बाह्य वस्तुमें प्रलुब्ध होकर इधर उधर विक्षिप्त न हो। विक्षिप्त होने पर शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती। ब्रह्ममार्ग या सुषुम्नामें मनके साथ प्राणवायुको प्रविष्ट करानेके लिए मनको साधु-असाधु समस्त सङ्कल्प-विकल्पोंका त्याग करना पड़ेगा तथा कूटस्थमें लक्ष्य रखकर ब्रह्ममार्ग सुषुम्नाके भीतर केवल मनके साथ वायुको सञ्चालित करना होगा। अवश्य ही उस समय आज्ञाचक्रमें या विष्णुपदमें मनका लक्ष्य रहेगा। सब लक्ष्यको छोड़कर इसी एक लक्ष्यको एकटक देखते रहने या उसको पकड़े रहनेका नाम संन्यास है। परन्तु अन्य समस्त वर्त्तमान लक्ष्योंके प्रति उदासीन हुए बिना चरम लक्ष्यको मन दृढ़तापूर्वक पकड़ नहीं सकता। उस लक्ष्यको दृढ़भावसे पकड़े बिना आज्ञाचक्र भेद नहीं हो सकता। यही संन्यास है। इसमें अन्य किसी वस्तुकी प्राप्तिकी ओर लक्ष्य नहीं होता, परन्तु परावस्थामें स्थितिके लिए पूर्ण इच्छा रहती है। त्यागी लोग इस अवस्थाके ऊपर रहते हैं, सब कर्मोंका फलत्याग ही उनकी स्वाभाविक अवस्था होती है। उन्हें संन्यासीके समान बलपूर्वक कर्मत्याग नहीं करना पड़ता। कामियोंके समान उनके मनमें अविरत सङ्कल्पकी तरङ्गें नहीं उठतीं, जो कुछ है सब अपने आप सहज ही उनके मनसे गल जाता है। संन्यासियोंके समान क्रियाकी परावस्थाकी ओर भी उनकी टान नहीं होती, क्योंकि वह उस समय उनकी सहज अवस्था होती है। मन स्थिर होनेके कारण आज्ञाचक्रमें उसे एकाग्र करनेकी उनको आवश्यकता नहीं होती। सब सङ्कल्प उस समय अपने आप छूट जाते हैं। केवल प्राणक्रिया सूक्ष्म-भावसे सुषुम्नामें चलती रहती है। इस प्रकारकी स्थिति प्राप्त होने पर योगीके नित्य-नैमित्तिक कर्ममें भी बाधा नहीं पड़ती। त्यागीका यही स्वाभाविक लक्षण है। इस अवस्थाको वे ही जानते हैं जो 'विचक्षण' हैं अर्थात् जिनका बाहर ईक्षण नहीं है।

फलोद्देश्यसे जो यज्ञ, जप, दानादि किये जाते हैं वे सभी काम्य कर्म हैं। देहेन्द्रियादिमें जबतक अहं-बोध रहेगा, तबतक काम्य कर्मोंका त्याग होना असम्भव है। फलाकाङ्क्षा मनमें रहने पर निष्काम-भावसे कर्म नहीं हो सकते। इष्टसाधनके लिए सङ्कल्प होने पर ही काम या इच्छा उत्पन्न होती है। बारंबार जन्म या आवागमनके कारण हैं ये कामसङ्कल्प। काम्य कर्म भी वेदविहित कर्म हैं, वे अनुष्ठाताको परलोकमें स्वर्गादि सुख प्रदान करते हैं, परन्तु उनसे जन्म-मृत्यु छूट नहीं सकती। कामना चरितार्थ करनेके लिए जो कर्म अनुष्ठेयरूपसे शास्त्रमें विहित हैं उन सब कर्मोंके परित्यागका नाम संन्यास है। सारे काम्य कर्मोंका एकबारगी त्याग नहीं हो सकता। और कोई सङ्कल्प न रहने पर भी मोक्षेच्छा रहेगी ही। थोड़ी सी भी कामना रहने पर गुणोंकी क्रीड़ा अवरुद्ध नहीं की जा सकती। तो फिर सङ्कल्पके अवरोधका उपाय क्या है? शास्त्र कहते हैं कि यदि कर्म त्याग न कर सको तो विष्णुप्रीत्यर्थ कर्म करो। कर्म करते

समय मन ही मन कहो कि 'हे भगवान्! मेरे इस कर्मसे तुम्हारी प्रीति प्राप्त हो, तुम्हारे प्रसन्न होने पर ही मेरे कर्म सार्थक होंगे।' विष्णु सबके भीतर प्रविष्ट होकर अन्तर्यामी रूपसे रहते हैं। अपने अन्तःकरणके भीतर उस अन्तर्यामीको अनुसन्धान करके देखना होगा। जहाँ मन-इन्द्रियादिकी सारी चञ्चलता मिटकर परा स्थिति या परमानन्दमात्र अवशिष्ट रहता है, उसको ही विष्णुका परम पद कहते हैं। जिनको अन्य किसी बाह्य कर्मादिमें आसक्ति नहीं है, परन्तु इस परमानन्दधाममें प्रवेश प्राप्त करनेके लिए व्याकुलता है, वे ही संन्यासी हैं। क्रमशः उनकी सारी बाह्य चेष्टाएँ निवृत्त हो जाती हैं। वही परम पद, निश्चल स्थिति या अवरुद्ध रूप है। उस समय और किसी वस्तुके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यही है संन्यासके द्वारा अत्युत्कृष्ट सत्त्वशुद्धि प्राप्त होना—"नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।" इसका विस्तृत विवरण भगवान्ने इस अध्यायके ५१ से ५५ वें श्लोक तक किया है। इसी अवस्थाके परिपक्व होने पर साधक त्यागी हो जाता है। तब बाह्य संन्यासके बिना भी साधक परमहंस-अवस्थामें प्रवेश कर सकता है। समाधि-अवस्था प्राप्त होने पर मन-बुद्धि सभी निर्मल हो जाते हैं, उन पर फिर विषयों की छाप नहीं पड़ती। उस समय मन कूटस्थमें अटका रहता है, तो भी साधककी अनिच्छाकी इच्छासे सारे काम चलते रहते हैं। कूटस्थ या विष्णुपदसे विचलित न होकर भी वह सब प्रकारके कर्म कर सकते हैं। उनके सारे काम होते हैं, परन्तु उनमें निजी कामना कुछ नहीं रहती। यही वस्तुतः सर्वकर्मफलत्यागकी अवस्था है। यही सर्वोच्च या सर्वोत्तम अवस्था है। सारे कर्मोंको करते हुए भी "नैव किञ्चित् करोति सः।" यही विद्वत्-संन्यास है। इसमें चित्तशुद्धि और मनोनाश दोनों ही हो जाते हैं। परन्तु "कर्मयोगं विना ज्ञानं कस्यचिन्नैव दृश्यते"—क्रिया-योगके बिना इस प्रकारका ज्ञान किसीको प्राप्त होते नहीं देखा जाता। कूटस्थमें लक्ष्य रखना जब सहज हो जाता है तब समस्त पाप दूर हो जाते हैं, मनमें फिर पाप उत्पन्न ही नहीं होते, तभी प्रकृत ज्ञानप्राप्ति या ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। "ज्ञानं उत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।" इस ज्ञानके उत्पन्न होने पर कर्ममें अकर्म देखनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है। इसी कारण सहस्रों कर्मोंसे परिवेष्ठित होने पर भी योगीको कर्मबन्धन नहीं होता। उन सब महापुरुषोंके सारे कर्म विष्णुप्रीत्यर्थ होते रहते हैं। उनके द्वारा जो कुछ होता है सब भगवदिच्छासे सम्पादित हो रहा है, ऐसी उनको प्रतीति होती है। ऐसे ही लोगोंकी ओर लक्ष्य करके भगवान् कहते हैं—"ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति"। फलाकाङ्क्षारहित होनेके कारण उनके कालकी सीमाका निर्देश नहीं होता। अतएव वे कालातीत या 'अकाल' पुरुष होते हैं। कर्म करने या न करनेकी कोई इच्छा ही उनमें नहीं रहती। सुखाभिलाषा या दुखत्याग, जीवितेच्छा या मरणभय—कुछ भी उनको नहीं होता। ऐसे पुरुष द्वन्द्वातीत अवस्थाको प्राप्त कर सदाके लिए मुक्त हो जाते हैं ॥२॥

(सांख्य और मीमांसाके मत)

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

अन्वय—एके मनीषिणः (कोई कोई पण्डित लोग) कर्म दोषवत् (कर्म दोष-विशिष्ट है) इति त्याज्यं (इसलिए त्याज्य है) प्राहुः (बतलाते हैं), अपरे च (और कोई कोई) यज्ञदानतपःकर्म (यज्ञ, दान और तपस्यारूप कर्म) न त्याज्यं इति (त्याज्य नहीं है ऐसा कहते हैं) ॥३॥

श्रीधर—अविदुषः फलत्यागमात्रम् एव त्यागशब्दार्थः न कर्मत्याग इति। एतदेव मतान्तरनिरासेन दृढीकर्त्तुं मतभेदं दर्शयति—त्याज्यमिति। दोषवत्—हिंसादिदोषवत्त्वेन केवलं बन्धकं इति हेतोः सर्वमपि कर्म त्याज्यमिति एके—सांख्याः प्राहुः मनीषिण इति। अस्य अयं भावः—"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इति निषेधः, पुरुषस्य अनर्थहेतुः हिंसा इत्याह। "अग्निषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादि-प्राकरणिको विधिस्तु हिंसायाः क्रतूपकारकत्वं आह। अतो भिन्नविषयत्वेन सामान्यविशेषन्यायागोचरत्वात् बाध्यबाधकता नास्ति। द्रव्यसाध्येषु च सर्वेष्वपि कर्मसु हिंसादेः सम्भवात् सर्वमपि कर्म त्याज्यमेवेति। तदुक्तम्—"दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः" इति। अस्यार्थः—उपायो ज्योतिष्टोमादिः सोऽपि दृष्टोपायवत् गुरु-पाठात् अनुश्रूयते इति अनुश्रवो वेदः तद्बोधितः। तत्र अविशुद्धिः—हिंसा, तथा क्षयः—विनाशः। अग्निहोत्र-ज्योतिष्टोमादि-जन्य-स्वर्गेषु तारतम्यं च वर्त्तते। परोत्कर्षस्तु सर्वान् दुःखी करोति।

अपरे तु मीमांसका यज्ञादिकर्म न त्याज्यमिति प्राहुः। अयं भावः—क्रत्वर्थापि सति इयं हिंसा पुरुषेण एव कर्त्तव्या, सा च अन्योद्देशेनापि कृता पुरुषस्य प्रत्यवायहेतुरेव। यथा हि विधिः विधेयस्य तदुद्देशेन अनुष्ठानं विधत्ते तादर्थ्यलक्षणत्वात् शेषत्वस्य, न तु एवं निषेधो निषेध्यस्य तादर्थ्यम् अपेक्षते, प्राप्तिमात्रापेक्षितत्वात्। अन्यथा अज्ञान-प्रमादादिकृते दोषाभावप्रसङ्गात्। तदेवं समानविषयत्वेन सामान्यशास्त्रस्य विशेषेण बाधात् नास्ति दोषवत्त्वम्। अतो नित्यं यज्ञादि कर्म न त्याज्यमिति। अनेन विधिनिषेधयोः समानबलता वार्यते सामान्य-विशेषन्यायं सम्पादयितुम् ॥ ३ ॥

अनुवाद—[अविद्वान् पुरुषके लिए फलत्यागमात्र ही त्याग-शब्दका अर्थ है, कर्मत्याग (प्रकृत) त्याग नहीं है। दूसरे मतोंका खण्डन करते हुए इसको दृढ़ करनेके लिए मतभेद दिखलाते हैं]—हिंसादि-दोषयुक्त होनेके कारण कर्ममात्र ही बन्धनके हेतु हैं। इसी कारण कोई कोई मनीषी अर्थात् सांख्याचार्य लोग सभी कर्मोंको त्याज्य बतलाते हैं। "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" अर्थात् भूतमात्रकी हिंसा न करे—इस निषेध-विधानके द्वारा हिंसाको अनर्थका हेतु बतलाया है। "अग्निषोमीयं पशुमालभेत" अग्निषोमाख्य यज्ञमें पशुहिंसा करे इत्यादि हिंसाविषयक जो विधि है उसमें हिंसाको यज्ञक्रियाके अङ्गके रूपमें बतलाया है। ये दो विधियाँ भिन्न-विषयक होनेके कारण सामान्य-विशेष-न्यायका विषय नहीं बनतीं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि हिंसा अनर्थ-साधक नहीं है। द्रव्यसाध्य सभी कर्मोंमें हिंसाकी सम्भावना होनेके कारण कर्ममात्र परित्याज्य हैं। इस सम्बन्धमें सांख्य कहता है कि "दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः" अर्थात् आनुश्रविक या वेदबोधित जो ज्योतिष्टोमादि उपाय हैं वे दृष्टोपायके समान हिंसासे युक्त हैं। तथा वे क्षययुक्त

और अतिशययुक्त हैं अर्थात् अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोमादि यज्ञके कारण जो स्वर्ग प्राप्त होता है उसमें भी तारतम्य है। एकका उत्कर्ष दूसरेको दुःखी बनाता है।

[आनुश्रविक—गुरुके मुखसे जो श्रुत होता है, उसका नाम अनुश्रव अर्थात् वेद है। तद्बोधित जो है वही आनुश्रविक है।]

पुनः मीमांसक लोग कहते हैं कि यज्ञादि कर्म परित्याज्य नहीं हैं। इसका भावार्थ यह है कि यज्ञार्थ हिंसा होने पर भी उस कर्मसे पुरुषको प्रत्यवाय नहीं लगता। विधि होने पर विधेय कर्म जिसका उपकारक होता है उसके उद्देश्यसे ही वह विधेय कर्मके अनुष्ठानका विधान करता है, क्योंकि विधेय उद्देश्यका अङ्ग होता है। परन्तु निषेधविधि निषेध्य जो हिंसादि कर्म हैं वे अपने तादर्थ्यकी अपेक्षा नहीं करते अर्थात् निषेध्य किसीका उपकारक होता है या नहीं, इसकी अपेक्षा नहीं करते। केवल निषेधकी प्राप्ति मात्र होनेसे काम हो जाता है। अतएव 'हिंसा मत करो' कहनेसे चाहे जिस प्रकारकी हिंसा हो वह निषेधका विषय बन जाती है। इसको न मानने पर अज्ञानकृत या प्रमादजनित हिंसामें दोष नहीं लगता। और यज्ञार्थ हिंसा करे, यह कहने पर हिंसा पुरुषार्थ-प्रापक भी हो जाती है। अतएव हिंसामें निषेध और विधि दोनोंके रहने पर विशेष शास्त्रके द्वारा सामान्य-शास्त्रका खण्डन हो जाने पर हिंसामें दोष नहीं, यह प्रमाणित होता है। इसलिए यज्ञादि कर्म परित्याज्य नहीं हैं। सामान्यविशेष-न्यायानुसार विधि-निषेधका समबलभाव निवारित हो गया। सांख्यके मतसे उपर्युक्त विधि-निषेध भिन्न प्रकरणोक्त होनेके कारण उनमें कोई विरोध नहीं है, यह कहा गया है। अतएव उस मतसे यज्ञीय हिंसा भी वर्जनीय नहीं है। मीमांसक सामान्य-विशेष-न्यायकी युक्ति दिखलाकर सांख्यकी युक्तिका खण्डन करके दिखलाते हैं कि यज्ञीय हिंसामें दोष नहीं है। [सांख्याचार्यगण कहते हैं कि सारे कर्म दोषयुक्त हैं, अतएव बन्धनके हेतु हैं। इसलिए कर्ममात्र ही त्याज्य हैं। श्रुतिमें अहिंसाकी बात भी है—"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि"। हिंसा करनेसे ही प्रत्यवाय है अर्थात् उससे पाप उत्पन्न होता है। परन्तु फिर श्रुतिमें यज्ञके लिए पशुहिंसा विहित भी है। विशेषविधि सामान्यविधिका बाधक होती है, अतएव द्वितीय विधिके द्वारा प्रथम विधि निवारित होती है। परन्तु इस प्रकारकी बाधकता संभव नहीं है क्योंकि उभय विधियोंमें कोई विरोध नहीं है। विरोध न होनेके कारण एक विधि दूसरीका बाधक नहीं हो सकती। प्रथम विधिका अर्थ है कि पुरुष हिंसाके द्वारा प्रत्यवायका भागी होता है। द्वितीय विधिका अर्थ है कि अग्निषोमीय यज्ञमें पशुहिंसा यज्ञका उपकारक है। द्वितीय विधिका उद्देश्य यह नहीं है कि अग्निषोमीय यज्ञमें पशुहिंसा यज्ञका उपकारक होनेके कारण पाप उत्पन्न न करेगी। इससे यह प्रतीत होता है कि यज्ञद्वारा पाप और पुण्य दोनों उत्पन्न होते हैं। अतएव यज्ञके द्वारा दुःखकी एकान्त निवृत्ति नहीं हो सकती। अतएव जो कर्म द्रव्यसाध्य हैं उनमें हिंसाकी सम्भावना होनेके कारण सर्वकर्म त्याज्य हैं। परन्तु मीमांसक कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याज्य नहीं हो सकते। उनके मतसे जो हिंसा यज्ञार्थ की जाती है वह विहित है, उसके द्वारा प्रत्यवाय नहीं होता; अन्य उद्देश्यसे हिंसा करने पर प्रत्यवाय हो सकता है। "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि"

यह निषेधवाक्य है और "अग्निषोमीयं पशुम् आलभेत" यह विधिवाक्य है। निषेधवाक्य विधिवाक्यका बाधक नहीं होता, अतएव यज्ञादि कर्म त्याज्य नहीं हैं]॥ ३ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यज्ञ, दान, तपस्या कर्म कर्त्तव्य हैं। इनका त्याग नहीं करना चाहिए अर्थात् क्रिया देना और ब्रह्ममें रहना सर्वदा उचित है।—क्रिया करना, क्रिया देना कर्म हैं तथा परावस्थामें रहना क्रियाका फल है। अतएव कर्म त्याज्य नहीं हो सकते। क्रिया न करने पर परावस्था नहीं आ सकती। जो कर्मको दोषयुक्त मानते हैं वे परावस्था-प्राप्त ज्ञानी हैं। उन्होंने जिस अवस्थाको प्राप्त किया है उस अवस्थामें प्राणक्रिया नहीं हो सकती, इसलिए उनके समान अवस्थाको प्राप्त योगीके लिए कर्मको त्याज्य कहते हैं। जो लक्ष्य स्थानमें पहुँच गये हैं उनके कर्म न करने पर भी चल सकता है, तथापि उद्देश्यविहीन होकर भी स्वभावधर्मके वश वे सर्वदा क्रिया करते हैं। इसी कारण कबीर साहबने कहा है—

राम नाम सुमिरन करे ब्रह्मा विष्णु महेश।
कह कबीर सुमिरन करे नारद शुक अरु शेष॥
सनकादिक सुमिरन करे नामा ध्रुव प्रह्लाद।
जन कबीर सुमिरन करे, छाँड़ि सकल बकवाद॥

अतएव सर्वोच्चावस्थामें भी स्मरण चलता है, परन्तु उनको बलपूर्वक स्मरण नहीं करना पड़ता। यह अपने आप होता है। जिनका चित्त अभी स्थिर नहीं हुआ है, उनके लिए कर्म त्याज्य नहीं है। कर्मत्याग करने पर मोक्षमार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

जिन्होंने अपने मनको वशमें कर लिया है, वे ही मनीषी हैं। उनका प्राण स्थिर होनेके कारण उन्होंने ब्राह्मी स्थिति प्राप्त की है। किसी प्रकारका बाह्य कर्म उनके लिए करना सम्भव नहीं है। उनका प्राण बिना चेष्टाके ही उस समय स्थिर हो जाता है, अतएव खींचने और छोड़नेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। यज्ञ, दान और तपस्या त्याज्य नहीं हैं—यह उपदेश उनके ही लिए जानना चाहिए जिनका प्राण आज्ञाचक्रमें या उससे ऊपर स्थिर नहीं हुआ है। जिनको क्रियाकी परावस्था स्थायी रूपसे प्राप्त नहीं है, वे यदि क्रियाका अभ्यास छोड़ दें तो उनका निदिध्यासन (ध्यान) प्रस्फुटित न होगा। जबतक साधनाके द्वारा आत्मबोध नहीं होता तबतक साधना ठीक ढंगसे चलानी पड़ेगी। असमयमें क्रियाका त्याग करने पर साधकके दोनों कूल नष्ट हो जाते हैं। इसी कारण मीमांसक लोगोंने सकामी (देहसे सम्बन्ध रखने वाले) लोगोंके लिए कर्मका विधान किया है जिससे वे भविष्यमें ज्ञानकी प्राप्ति कर सकें। जिन्होंने प्रसंख्यान प्राप्त किया है या जो योगारुढ़ हैं, उनके लिए कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है। नदीके उस पार पहुँच जाने पर नौकाकी आवश्यकता नहीं रहती ॥३॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

अन्वय—भरतसत्तम (हे भरतश्रेष्ठ !) तत्र त्यागे (उस त्यागमें) मे निश्चयं (मेरा निश्चय अर्थात् सिद्धान्त) शृणु (श्रवण करो)। पुरुषव्याघ्र (हे पुरुषश्रेष्ठ !) त्यागः हि त्रिविधः (त्याग तीन प्रकारका) संप्रकीर्तितः (कथित हुआ है) ॥४॥

श्रीधर—एवं मतभेदमुपन्यस्य स्वमतं कथयितुमाह—निश्चयमिति । तत्रैवं विप्रतिपन्ने त्यागे निश्चयं मे वचनात् शृणु । त्यागस्य लोकप्रसिद्धत्वात् किमत्र श्रोतव्यम् ? इति मा श्रवमंस्था इत्याह । हे पुरुषव्याघ्र—पुरुषश्रेष्ठ ! त्यागोऽयं दुर्बोधः । हि यस्मात् अयं कर्मत्यागः तत्त्वविद्भिः तामसादिभेदेन त्रिविधः सम्यक् विवेकेन प्रकीर्तितः । त्रैविध्यञ्च "नियतस्य तु संन्यासः कर्मणः"—इत्यादिना वक्ष्यति ॥४॥

अनुवाद—[मतभेद प्रदर्शन करके यहाँ स्वीय मत प्रकट कर रहे हैं]—इस प्रकार विरुद्धरूपमें प्रतिपन्न त्यागके विषयमें मेरा सिद्धान्त क्या है, यह श्रवण करो। त्यागका अर्थ सभी जानते हैं, अतएव इस विषयमें सुननेके लिए और क्या रह जाता है, ऐसी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। इसीसे कहते हैं कि हे पुरुषश्रेष्ठ ! त्याग बड़ा ही दुर्बोध विषय है। तत्त्वदर्शियोंने सम्यक् विवेचना करके तामसादि-भेदसे इस कर्मत्यागको त्रिविध बतलाया है। इस त्रैविध्यको "नियतस्य तु संन्यासः" इत्यादि श्लोकोंमें बतलावेंगे ॥४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—त्यागी पुरुष सारी इच्छाओंको खा जाते हैं वर्तमान और भविष्यत्की, इसलिए वे व्याघ्रके समान पुरुष हैं । वे तीन प्रकारके हैं ।—त्याग सुविज्ञेय विषय नहीं है, अतएव इस विषयमें ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसीसे भगवान् अर्जुनसे कह रहे हैं कि त्याग सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे तीन प्रकारका होता है । प्रथमतः ज्ञान प्राप्त करने पर साधकको जो त्याग स्वभावतः होता है, वही श्रेष्ठ त्याग है । इस त्यागके लिए मनके ऊपर कोई जोर-जबर्दस्ती नहीं करनी पड़ती । द्वितीय प्रकारका जो त्याग है वह साधकको स्वाभाविक नहीं होता, वह अर्जित होता है अर्थात् वह स्मरण-मननादि साधनके प्रभावसे तथा विचारके द्वारा धीरे धीरे उत्पन्न होता है । उसके लिए साधकको बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। इस प्रकारका त्याग निर्गुण न होते हुए भी सात्त्विक होता है। सात्त्विक त्यागमें अभ्यस्त हुए बिना कोई ज्ञानके उच्च शिखर पर आरोहण करनेमें समर्थ नहीं होता। तृतीय प्रकारका जो त्याग है वह सकाम या राजसिक है। उस समय चित्तशुद्धि नहीं होती, इसी कारण जो कुछ त्याग होता है वह काम्य वस्तुकी प्राप्तिके लिए होता है। बहुतसे लोग साधना करते हैं, योगाभ्यास करते हैं, आत्मदर्शनके लिए नहीं, केवल कुछ ऐश्वर्य प्राप्तिके लिए । उससे वे चित्तको उन्नत और उदार नहीं बना सकते। साधनाका प्रधान लक्ष्य जो आत्मसाक्षात्कार है वह इस श्रेणीके साधकको कदाचित् ही घटित होता है । राज्यप्राप्तिके लिए ध्रुवका गृहत्याग और तपस्या इस श्रेणीके त्यागमें गिने जाने योग्य है। एक प्रकारका और भी त्याग है जो चौथी श्रेणीका त्याग कहला सकता है। वह है तामसिक त्याग। यह त्याग वैराग्यवश नहीं होता । कर्मको क्लेशसाध्य समझकर भ्रान्तिवश जो कर्मत्याग किया जाता है, वह तामसिक त्याग है। उपार्जनमें असमर्थ होकर या घरमें भर्त्सित होकर मनमें जो निर्वेद-भाव उत्पन्न होता है, उसके कारण पुत्रकलत्र-गृहादिका त्याग निकृष्ट त्याग है। जो प्रकृत त्यागी होते हैं उन्हें कोई इच्छा या सङ्कल्प नहीं होता ॥४॥

(यज्ञ, दान और तप अनुष्ठेय हैं, क्योंकि ये पावन हैं)

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

अन्वय—यज्ञदानतपःकर्म (यज्ञ, दान और तपस्यारूप कर्म) न त्याज्यं (त्याज्य नहीं हैं) तत् (वह) कार्यम् एव (करने ही योग्य हैं) । यज्ञः दानं तपः च एव (यज्ञ, दान और तपस्या ही) मनीषिणां (विवेकियों या मुमुक्षुओंके) पावनानि (चित्तशुद्धिकारक हैं) ॥५॥

श्रीधर—प्रथमं तावत् निश्चयमाह—यज्ञेति द्वाभ्याम् । मनीषिणां विवेकिनां, पावनानि चित्तशुद्धिकराणि ॥५॥

अनुवाद—[दो श्लोकोंद्वारा इसे कहते हैं]—यज्ञ, दान और तपस्या—ये त्रिविध कर्म परित्याज्य नहीं, बल्कि अनुष्ठेय हैं, क्योंकि ये विवेकी जनोंके लिए चित्तशुद्धिकारक हैं ॥५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रिया, क्रिया देना, ब्रह्ममें रहना कर्त्तव्य कर्म हैं, इनसे मन पवित्र होता है ।—मन पवित्र हुए बिना ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती । मनकी पवित्रता क्या है, यह पूर्व अध्यायोंमें अनेक बार कह चुके हैं । जिस मनमें किसी सङ्कल्पका उदय नहीं होता वही मन पवित्र है । स्थिरावस्था ही मनका वह पवित्र भाव है । क्रिया द्वारा मन शुद्ध होते होते यहाँ तक शुद्ध हो जाता है कि उसमें फिर सङ्कल्पका उदय ही नहीं होता । इस सङ्कल्पशून्य मनको ही शुद्ध चित्त कहते हैं । उस समय वह आत्माके साथ मिलकर एक हो जाता है । क्रिया द्वारा मन सङ्कल्पशून्य होता है, इसलिए जबतक चित्तशुद्धि नहीं हो जाती तबतक क्रिया करना ही कर्त्तव्य है । क्रियादान भी चित्तशुद्धिमें सहायता करता है । दूसरोंके उपकारके लिए जो त्याग किया जाता है उससे सत्त्वशुद्धि होती है । सब दानोंकी अपेक्षा यही बड़ा दान है । क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें थोड़ा थोड़ा भी स्थिर होने पर चित्तशुद्धि होती है । जिन क्रियावान् पुरुषोंकी क्रियाकी परावस्था आरम्भ हो गयी है उनका मन फिर अविशुद्ध नहीं होता । छान्दोग्य उपनिषद्में लिखा है—"त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति ।" यज्ञ, अध्ययन और दान—ये तीन धर्मके स्कन्ध हैं । "सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति"—इन सब कर्मोंके द्वारा ही लोक पवित्र होते हैं । जो कर्म सद्भावोंके उद्दीपक हैं, वे ही ज्ञानोत्पत्तिमें सहायता करते हैं । अतएव प्राणायामादि क्रियायोग जो साक्षात् भावसे ज्ञानके उत्पादक हैं, वे कभी परित्याज्य नहीं हो सकते ॥५॥

(किस प्रकार अनुष्ठान करनेसे नित्यकर्म पावन होते हैं ?)

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ !) तु (किन्तु) एतानि कर्माणि अपि (ये सब कर्म भी)

सङ्गं (आसक्ति) फलानि च (और फलाकाङ्क्षा) त्यक्त्वा (त्यागकर) कर्त्तव्यानि (करने योग्य हैं) इति मे (यह मेरा) निश्चितं उत्तमं मतम् (निश्चित उत्तम मत है) ॥६॥

श्रीधर—येन प्रकारेण कृतानि एतानि पावनानि भवन्ति तत् प्रकारं दर्शयन् आह—एतान्यपि इति। यानि यज्ञादीनि कर्माणि मया पावनानि इत्युक्तानि एतानि एव कर्त्तव्यानि। कथम्? सङ्गं—कर्त्तृत्वाभिनिवेशं त्यक्त्वा केवलं ईश्वराराधनतया कर्त्तव्यानि इति। फलानि च त्यक्त्वा कर्त्तव्यानीति च मे मतं निश्चितम् अतएव उत्तमम् ॥६॥

अनुवाद—[जिस प्रकार किये जाने पर ये सब कर्म पावन अर्थात् चित्तशुद्धिकर होते हैं उसे कहते हैं]—जिन यज्ञदानादि कर्मोंको मैंने पावन कहा है, उन सब कर्मोंको करना उचित है। कर्म किस प्रकार करनेसे चित्तशुद्धिकर होते हैं, यह बतला रहे हैं। सङ्ग अर्थात् कर्त्तृत्वाभिनिवेश त्याग कर तथा फलकामना त्याग कर केवल ईश्वराराधनरूपसे कर्म करना उचित है—यही मेरा निश्चित अभिमत है, अतएव यह उत्तम है ॥६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ये सब कर्म फलाकाङ्क्षारहित होकर कर्त्तव्य हैं, यह मेरा मत है।—कर्त्तृत्वाभिनिवेश और फलाकाङ्क्षाका त्याग करके क्रिया किये बिना क्रियाका फल जो क्रियाकी परावस्था है, वह प्राप्त नहीं हो सकती। क्यों नहीं प्राप्त हो सकती, यह बतलाते हैं। क्रियामें आसक्ति होना खराब नहीं है, परन्तु फलाकांक्षाके कारण जो क्रियामें आसक्ति होती है वह अच्छी नहीं है। इस प्रकारका भाव लेकर जो क्रिया करता है उसका चित्त शुद्ध नहीं होता या मन स्थिर नहीं होता। अतएव इस भावसे क्रिया करना न करनेके समान ही हो जाता है। साधकको यह समझना चाहिए कि वह जो क्रिया करते हैं वह किसी सांसारिक लाभ या अभ्युदयके लिए नहीं करते। क्रिया करना गुरुका आदेश है, इसीलिए क्रिया करनी चाहिए। फल कुछ नहीं होनेके कारण उसकी अवहेलना करनेसे काम नहीं चलेगा। पूर्ण अन्तःकरणसे क्रिया करनी चाहिए। पूर्ण अन्तःकरणसे क्रिया करने पर ही चित्त-मल अपनोदित होता है और उसीसे चित्त विशुद्ध होता है। निर्मल चित्तमें ही ज्ञान समुत्पन्न होता है। अन्तःकरणके विषय-शून्य होने पर जो ज्ञान समुदित होता है, वही विशुद्ध ज्ञान है। वही ज्ञान जीवकी मुक्तिका कारण है ॥६॥

(नित्यकर्मका संन्यास अवैध है)

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

अन्वय—तु (किन्तु) नियतस्य कर्मणः (नित्यकर्मका) संन्यास (त्याग) न उपपद्यते (युक्तियुक्त नहीं होता)। मोहात् (मोहवश) तस्य परित्यागः (उस नित्यकर्मका परित्याग) तामसः परिकीर्तितः (तामस कहलाता है) ॥७॥

श्रीधर—प्रतिज्ञातं त्यागस्य त्रैविध्यं इदानीं दर्शयति—नियतस्येति-त्रिभिः। काम्यस्य कर्मणो बन्धकत्वात् संन्यासः युक्तः नियतस्य तु—नित्यस्य पुनः कर्मणः संन्यासः—त्यागः, न उपपद्यते सत्त्वशुद्धिद्वारा मोक्षहेतुत्वात्। अतः तस्य परित्यागः उपादेयेऽपि त्याज्यं इति एवं लक्षणात् मोहादेव भवेत्। स च मोहस्य तामसत्वात् तामसः परिकीर्त्तितः ॥७॥

अनुवाद—[त्यागके त्रिविधित्वको यहाँ तीन श्लोकोंमें दिखलाते हैं]—काम्य कर्म बन्धनका हेतु है, इसलिए उसका त्याग उचित है। नित्यकर्मका त्याग कदापि उचित नहीं है, क्योंकि सत्त्वशुद्धिकारक होनेके कारण वह मुक्तिका हेतु है। सत्त्वशुद्धिद्वारा मोक्ष होता है। कर्म सत्त्वशुद्धिका बाधक है अतएव नित्यकर्मका भी परित्याग उपादेय है—इस प्रकारका लक्षणयुक्त भाव मोहके कारण उत्पन्न होता है। मोह तामसिक है, अतएव इस प्रकारका परित्याग तामसिक कहलाता है ॥७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—निःशेषरूपसे धारणा, ध्यान, समाधिपूर्वक इच्छारहित होना अपने आप—इसका नाम संन्यास है। मोहसे त्याग करना तामस त्याग है अर्थात् सब मर गये इस मोहसे काशीमें आकर संन्यासी होना।—मनुष्य-प्रकृति पूर्वस्वभाववश पापकर्ममें लिप्त होती है। नित्य कर्मके अनुष्ठानके द्वारा यह संस्कार रुद्ध होता है। नित्यकर्मका त्याग करनेपर पापप्रवृत्ति बढ़ने लगती है। काम्य कर्म त्याज्य होनेपर भी चित्तशुद्धिके अभाववश प्रायः सभी लोग काम्य कर्म करनेके लिए उत्सुक होते हैं। नित्यकर्मके अनुष्ठानके द्वारा चित्तकी यह अशुद्धि क्रमशः क्षीण होती है। अतएव जबतक ज्ञान प्राप्त नहीं होता तबतक नित्यकर्म, साधन, सन्ध्यावन्दन आदि त्याज्य नहीं हैं। संसारासक्ति ही ज्ञानका परिपन्थी है। विचारके द्वारा आसक्ति कुछ कुछ ह्रासको प्राप्त तो होती है, परन्तु पूर्ण रूपसे नहीं जाती। ब्रह्मचर्य-पालन और उसके साथ साधनके अभ्यासके द्वारा प्राण, मन और बुद्धिके स्थिर होने पर आनन्दस्वरूप ब्रह्मकी अनुभूति होती है। समस्त संसारासक्तिका मूल है देह और देहमें आत्मबोध। देहातीत अवस्थाका साक्षात्कार हुए बिना देहात्मबोध कदापि विलुप्त नहीं होता। इस देहाभिमानको नष्ट करनेकी प्रचेष्टा ही मुमुक्षुकी सर्वप्रधान साधना है। धारणा, ध्यान और समाधिके बिना यह देहाभिमान नष्ट होनेवाला नहीं है। प्राणायाम-साधनके द्वारा देहस्थ वायु स्थिर होनेपर मन अन्तर्मुख होता है। यही धारणा है। यह योगधारणा जितनी ही अधिक होती है उतनी ही मूलाधार-स्थिता सुप्ता कुण्डलिनी जाग्रत होकर साधकको अनास्वादित नशेमें विभोर कर डालती है। यही ध्यान कहलाता है। यह ध्यानावस्था प्रगाढ़ होते होते समाधिमें परिणत होती है। इस अवस्थामें किसी प्रकारकी इच्छा न रहनेके कारण साधक देह-सम्बन्ध-रहित हो जाता है। यही यथार्थ त्यागकी अवस्था है। सामयिक उत्तेजनावश जो लोग संसार-त्याग करते हैं, वह तामस त्याग है। उसके द्वारा जीवको प्रकृत ज्ञान प्राप्त नहीं होता, सांसारिक संस्कार भी नष्ट नहीं होते। एकमात्र समाधि-अभ्यासके द्वारा ही प्रकृत त्याग हो सकता है।

"आत्मनात्मानमाज्ञाय मुक्तो भवति मानवः"—आप अपनेको जान लेनेपर मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है। अपनेको जाननके लिए "सहज" साधनाका अभ्यास करना पड़ता है। जो जन्मके साथ ही प्राप्त हुई है वही "सहज" साधना है। वही साधना करते करते चित्तमल विदूरित होता है। तब एकमात्र शुद्ध चैतन्यमें प्राणकी स्थिति होती है। चित्तमलके मार्जित हुए बिना किसीको दिव्यचक्षुकी प्राप्ति नहीं होती। दिव्यचक्षु प्राप्त हुए बिना कैसे जानोगे कि अखण्ड मण्डलाकार सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। मन जबतक अत्यन्त चञ्चल है तबतक इस नित्य वस्तुका सन्धान नहीं मिल सकता। प्राणका चाञ्चल्य दूर करनेके लिए श्वासके प्रति लक्ष्य रखना पड़ेगा। चण्डीदास कहते हैं—

"प्रेमेर याजन, सुनो सर्वजन, अति से निगूढ़ रस।
जखन साधन करिबे तखन इड़ाय टानिबे श्वास।
ताहा ह'ले परे मनवायु से त्रे आपनि हइबे बश॥"

अर्थात् प्रेमका याजन अति निगूढ़ रस है। जब साधन करे तब इड़ामें श्वासको खींचे। क्रमशः मन और प्राण अपने आप वशमें हो जायँगे॥ ७॥

(राजस त्याग—इससे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती)

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

अन्वय—दुःखम् इति (दुःखकर होनेके कारण) [जो] कायक्लेशभयात् (शारीरिक क्लेशके भयसे) यत् कर्म त्यजेत् (जिस कर्मका त्याग करता है) सः (वह) राजसं त्यागं कृत्वा (राजस त्याग करके) त्यागफलं न एव लभेत् (त्यागका फल नहीं प्राप्त करता)॥ ८॥

श्रीधर—राजसं त्यागमाह—दुःखमिति। यः कर्त्ता आत्मबोधं विना केवलं दुःखमित्येवं मत्वा शरीरायासभयात् नित्यं कर्म त्यजेत् इति यत् तादृशः त्यागः राजसः, दुःखस्य राजसत्वात् अतः तं राजसं त्यागं कृत्वा राजसः पुरुषः त्यागस्य फलं ज्ञाननिष्ठालक्षणं नैव लभत इत्यर्थः॥८॥

अनुवाद—[राजस त्याग किसे कहते हैं, यही बतलाते हैं]—जो कर्त्ता आत्मबोध हुए बिना, कर्मको दुःखकर मानकर शारीरिक क्लेशके भयसे कर्मत्याग करता है, उसका त्याग राजस है, क्योंकि दुःख ही राजस है। राजस त्याग करके राजस पुरुष ज्ञाननिष्ठारूप त्यागफलको प्राप्त नहीं करता॥ ८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिस कर्मके करनेमें बड़ा दुःख, शरीरको बड़ा क्लेश होगा—और भय होता है कि कैसे कर सकूँगा—इस प्रकार जो त्याग करता है वह राजसिक त्याग है—उस त्यागका फल नहीं मिलता।—जो कर्म दुःखप्रद समझकर परित्याग किया जाता है वह राजस त्याग है। उससे त्यागका फल शान्ति प्राप्त नहीं होती। बहुत लोगोंको साधन-भजन या सन्ध्यावन्दन आदि करनेकी कुछ कुछ इच्छा होती है, परन्तु जाड़ेके डरसे बिछौना छोड़कर उठ नहीं

पाते। गर्मीमें कड़ी गर्मीके कारण अच्छी नींद न मिलने पर उन्हें चारपाईसे उठनेकी इच्छा नहीं होती। इस कारण जो नित्य कर्मका त्याग होता है वह राजसिक त्याग है। वे इस प्रकारके त्यागका एक अभिनव हेतु अवश्य खोज निकालते हैं। वे कहा करते हैं कि वे जो नित्यकर्म नहीं करते वह द्वेषवश या अनिच्छावश नहीं, बल्कि उनको इन कर्मोंके करनेकी आवश्यकता ही नहीं है, इसलिए नहीं करते। परन्तु त्यागका असली कारण आलस्य या प्रमाद है, यह स्वीकार करनेमें उनको लज्जा मालूम होती है। इसीसे लोगोंके सामने खूब बलपूर्वक कहा करते हैं कि अब मैं ये सब टंट-घंट फैलानेकी आवश्यकता नहीं समझता। तीन तीन घंटे मेरुदण्ड सीधा करके बैठने और आयास-साध्य प्राणायामादि साधन करनेकी अब कोई आवश्यकता नहीं है। यह सब खटपट करनेका समय बीत गया। कोई कोई इस प्रकार कहा करते हैं कि "अयञ्चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीड़नम्"—ब्रह्माकार वृत्तिकी निश्चलता-सम्पादन ही प्रकृत प्राणायाम है, जो लोग अज्ञ हैं वे ही नाक दाबनेको प्राणायाम कहते हैं। ये सब मौखिक ब्रह्मज्ञानी त्यागके फल स्थितिको, जो क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें अनुभूत होती है, कभी प्राप्त नहीं कर सकते। कायक्लेशके भयसे जो साधनका त्याग करते हैं, उनका त्याग राजसिक त्याग कहलाता है ॥८॥

(सात्त्विक त्याग)

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) सङ्गं (कर्त्तृत्वाभिमान या आसक्ति) फलं च एव (और फलकामना) त्यक्त्वा (त्यागकर) कार्यम् इति एव (यह कर्त्तव्य है, ऐसा समझकर) यत् (जो) नियतं कर्म (शास्त्रविहित नित्यकर्म) क्रियते (अनुष्ठित होते हैं) सः त्यागः (वह त्याग) सात्त्विकः मतः (सात्त्विक कहलाता है) ॥९॥

श्रीधर—सात्त्विकं त्यागमाह—कार्यमिति। कार्यं इत्येवं बुद्ध्वा, नियतं अवश्यं कर्त्तव्यतया विहितं कर्म, सङ्गं फलं च त्यक्त्वा क्रियते इति यत् तादृशः त्यागः स सात्त्विको मतः ॥९॥

अनुवाद—[सात्त्विक त्यागके विषयमें कहते हैं]—"अवश्य कर्त्तव्य है" इस बुद्धिसे जो आसक्ति और फलका त्याग कर विहित कर्म किया जाता है, उस प्रकारके त्यागको सात्त्विक त्याग कहते हैं। [राजसिक और तामसिक त्यागी कर्मका ही परित्याग कर बैठते हैं, परन्तु सात्त्विक पुरुष कर्मत्याग नहीं करते। वे फलाकाङ्क्षा-मात्रका त्याग करते हैं। सात्त्विकोंका त्याग कर्मत्याग नहीं है, फलमात्रका त्याग ही उनका लक्ष्य होता है। प्रश्न हो सकता है कि नित्य कर्मके लिए शास्त्रमें किसी फलका उल्लेख नहीं है, फिर उसका त्याग कैसे सम्भव हो सकता है। सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म यथाविहित रूपमें करने पर सकाम कर्मके समान उससे भी कुछ फल होता है। किसी वृक्षसे फल

न प्राप्त होने पर भी उससे अनाकाँक्षित छाया प्राप्त होती है। उसी प्रकार नित्य कर्मका और कोई फल न होने पर भी उससे जो पापक्षय होता है और चित्त-शुद्धि होती है, यह शास्त्र-सम्मत है। अतः कर्मफलका लोभ न करके जो विहित कर्मोंका अनुष्ठान किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग है। फलकामना द्वारा ही जीव बद्ध हो जाता है। हृदयमें फलाकाङ्क्षा रहते ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती। इसीलिए मुमुक्षु लोग फलाभिसन्धान-रहित होकर नित्यकर्म किया करते हैं। सन्ध्योपासनादि विहित कर्मोंमें फलकामना न रहने पर भी अनुष्ठाताको फल प्राप्त होता ही है। त्रिगुणकी ताड़नाके वश जीव अविरत शास्त्रविरुद्ध आचरणमें प्रवृत्त होता है, परन्तु फलाकाङ्क्षारहित नित्यकर्मके अनुष्ठानसे जीवकी पाप-प्रवृत्तिका वेग कम हो जाता है]॥६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो कर्त्तव्य कर्म हैं उन सबको करना चाहिए—फलाकाङ्क्षारहित निःशेषरूपसे संयत होकर करे—सब करे—इसका नाम सात्त्विक त्याग है।—संसारके समस्त कर्त्तव्य तथा शास्त्रानुसार विहित कर्म जो हमें प्रतिदिन करने पड़ते हैं, उन सबको करना पड़ेगा। कर्मको छोड़ देनेसे काम न चलेगा। कर्ममें द्वेष-बुद्धि रहने पर उस कर्मको न करना ही स्वाभाविक है। योगीको किसी कर्ममें द्वेष-भाव नहीं होता, इसलिए किसी कर्मके प्रति उनका मन विद्रोही नहीं होता। आसक्तिवश कर्ममें यत्नशील होना भी उनके लिए असम्भव है। जैसे श्वास-प्रश्वासरूपी कर्म अविश्रान्त चलता है और उसमें सङ्कल्प नहीं होता, उसी प्रकार वे सभी कर्म करते रहते हैं तथापि उनका कोई सङ्कल्प नहीं होता। क्रियाकी परावस्थामें कोई कर्म नहीं रहता। क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें कर्म होता है, किन्तु कर्त्तृत्वाभिमान नहीं रहता। इस प्रकारकी फलाभिसन्धान-शून्य अवस्थामें ही प्रकृत सात्त्विक त्याग होता है। अन्यथा सोच-समझकर त्याग करने पर प्रकृत सात्त्विक त्याग नहीं होता। उसमें फलकी गन्ध कुछ रहेगी ही। प्राण सुषुम्नामें चलने पर अभ्यास और संस्कार-वश बाह्येन्द्रियोंके द्वारा कुछ कुछ कर्म होने पर भी उसमें आसक्ति बिल्कुल ही नहीं रहती। अविश्रान्त भगवत्स्मरणमें योगीका चित्त मतवाले पागलके समान हो जाता है। उस अवस्थामें फिर सङ्कल्प करके कोई काम नहीं होता॥६॥

(सात्त्विक त्यागका लक्षण)

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१०॥

अन्वय—सत्त्वसमाविष्टः (सत्त्वगुण-सम्पन्न) मेधावी (स्थिर-बुद्धि) छिन्नसंशयः (संशय-रहित) त्यागी (त्यागी पुरुष) अकुशलं कर्म (अकल्याणकर या दुःखकर कर्ममें) न द्वेष्टि (द्वेष नहीं करता) [एवं] कुशले (सुखकर या कल्याणकर कर्ममें) न अनुषज्जते (आसक्त नहीं होता)॥१०॥

श्रीधर—एवम्भूतसात्त्विकत्यागपरिनिष्ठितस्य लक्षणमाह—न द्वेष्टीत्यादि। सत्त्वसमाविष्टः—सत्त्वेन संव्याप्तः सात्त्विकत्यागी, अकुशलं—दुःखावहं, शिशिरे प्रातःस्नानादिकं,

कर्म न द्वेष्टि। कुशले च—सुखकरे कर्मणि—निदाघे मध्याह्नस्नानादौ, न अनुषज्जते—प्रीतिं न करोति। तत्र हेतुः, मेधावी स्थिरबुद्धिः, यत्र परपरिभवादि महदपि दुःखं सहते, स्वर्गादि-सुखञ्च त्यजति, तत्र कियदेतत् तात्कालिकं सुखं दुःखञ्च, इत्येवम् अनुसंधानवान् इत्यर्थः। अतएव छिन्नः संशयः मिथ्याज्ञानं दैहिकसुखदुःखयोः उपादित्सा परिजिहीर्षालक्षणं यस्य सः ॥१०॥

अनुवाद—[इस प्रकारके सात्त्विक-त्याग-परिनिष्ठ पुरुषका लक्षण कहते हैं]—सत्त्वसमाविष्ट अर्थात् सत्त्वगुणसम्पन्न त्यागी पुरुष दुःखावह कर्म जैसे शीतकालमें प्रातः-स्नानादिसे द्वेष नहीं करते। सुखकर कर्म जैसे ग्रीष्मकालमें मध्याह्नस्नान आदिमें वे प्रीति नहीं करते। इसका कारण यह है कि वह मेधावी अर्थात् स्थिरबुद्धि हैं और परिभवादि महान् दुःखोंको भी सहन कर सकते हैं तथा स्वर्गादि-सुखका भी त्याग कर सकते हैं। तात्कालिक सुख-दुःखको जो क्षणिक समझते हैं, उन्हें सुख-दुःखके लिए मनमें अनुसन्धान कैसे होगा? सुख कैसे आया या दुःख क्यों हुआ, इसका कारण क्या है, इन सब विषयोंका अनुसन्धान कुछ भी मनमें नहीं होता। अतएव वह छिन्नसंशय हैं अर्थात् दैहिक सुख-दुःखके ग्रहण या त्यागकी इच्छा उनमें नहीं होती ॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शुभ कर्म करनेमें द्वेष नहीं करता—शुभ कर्मकी इच्छा भी नहीं करता—सब कर्मोंको फलाकाङ्क्षारहित होकर करता है—क्रियामें रहकर (जो गुरूपदेशगम्य है) उसमें ही अटके रहकर सब कर्म करना—इस प्रकार स्थिर बुद्धि होकर भीतर ही भीतर धारणा-पूर्वक अटका रहकर सारे कर्म करता है संशयरहित होकर।—प्राणकर्म ही 'स्वभावनियत कर्म' है। वह 'सहज कर्म' और 'स्वभावज कर्म' भी है। हम प्रत्येक क्षण श्वास त्याग और ग्रहण क्रिया करते हैं, फिर भी उसमें कोई इच्छा नहीं होती। इस स्वभावनियत कर्ममें लक्ष्य रखते-रखते जो इच्छा-रहित हो जाते हैं, वे सारे सांसारिक कर्मोंको करके भी किसी विशेष कर्मके प्रति प्रीति या द्वेष नहीं रखते। अकुशल कर्मके प्रति उसे विद्वेष नहीं होता तथा कुशल कर्मके प्रति भी आसक्ति नहीं रहती। वे जो कुछ सोचते हैं उसे फलाकाङ्क्षारहित होकर करते हैं। इसका कारण यह है कि वे साधन करते-करते सत्त्वसमाविष्ट हो जाते हैं। मन लगाकर अधिक देर तक क्रिया करने पर श्वासकी गति ह्रास होती है तथा सुषुम्नावाही हो जाती है। फलस्वरूप सत्त्वगुण अधिक परिमाणमें उनको व्याप्त करता है, अतएव उनकी बुद्धि स्थिर होती है अर्थात् वे मेधावी होते हैं। आत्मज्ञानरूप प्रज्ञा ही मेधा है। यह मेधा जितनी ही वृद्धिको प्राप्त होती है, उतनी ही आत्मस्वरूपमें उसकी स्थिति होती जाती है। यह स्थिति प्राप्त होते ही मनका सारा संशय छिन्न हो जाता है। कूटस्थमें लक्ष्य रखनेके अतिरिक्त अन्य किसी विषयमें उनका लक्ष्य नहीं रहता। उनके चित्तका लय-विक्षेप दूर हो जानेके कारण आत्मा-अनात्मा-सम्बन्धी सारे संशय दूर हो जाते हैं। क्रियाकी परावस्थामें रहना ही परमार्थ और देहादिमें आसक्त होना ही अनर्थ है, इसे वे जानते हैं। इसी कारण वे कुशल कर्म करके उसमें आसक्त नहीं होते। यद्यपि वे कभी अकुशल कर्म नहीं करते, तथापि उसमें किसी प्रकारकी

द्वेषबुद्धि नहीं रखते। इसलिए मेधावी होना आवश्यक है। क्रियाकी परावस्था ही असल मेधा है। उसमें उनका मन सदा अटका रहता है, अतएव देहेन्द्रियादि द्वारा कर्म करने पर भी किसी कर्मका दाग उनके चित्तमें नहीं पड़ता। इसका नाम ही भगवदर्पित चित्त है। इस चित्तमें भले-बुरेका विचार नहीं आता। नशेबाजके समान उनका मन नशेमें सर्वदा मत्त रहता है। जो करना होता है वही करते हैं, उससे अच्छा होगा या बुरा यह तरङ्ग उस समय मनमें नहीं उठती। उनको मन ही नहीं होता, अतएव सङ्कल्पकी तरङ्गोंके उठनेकी सम्भावना नहीं होती। देहेन्द्रियादिके साथ सम्बन्धयुक्त मनमें ही विविध संशय उत्पन्न होते हैं। प्राणायामादि साधनकी सहायतासे वह मन जब समताको प्राप्त होता है तो देहेन्द्रियादिके साथ सम्बन्धरहित हो जाता है। तब मन मर्कटके समान विषय-वृक्षकी शाखा-शाखामें नहीं भटकता। इस प्रकार चित्तकी स्थिरताकी पराकाष्ठा प्राप्त होते ही आत्माका स्वस्वरूपमें अवस्थानरूप योग सिद्ध होता है ॥१०॥

(देहाभिमानीका कर्मत्याग नहीं होता, फलत्याग ही मुख्य त्याग है)

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

अन्वय—देहभृता (देहधारी या देहाभिमानी जीव) कर्माणि (सब कर्मोंको) अशेषतः त्यक्तुं (अशेष प्रकारसे त्याग करनेमें) न हि शक्यं (समर्थ नहीं होता)। यः तु (परन्तु जो आदमी) कर्मफलत्यागी (कर्मफलका त्यागी है) सः त्यागी इति अभिधीयते (वह त्यागी नामसे अभिहित होता है) ॥११॥

श्रीधर—ननु एवंभूतात् कर्मफलत्यागात् वरं सर्वकर्मत्यागः तथा सति कर्मविक्षेपाभावेन ज्ञाननिष्ठासुखं सम्पद्यते तत्राह—न हीति। देहभृता—देहाभिमानवता, निःशेषेण सर्वाणि कर्माणि त्यक्तुं न हि शक्यानि। तदुक्तम्—"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" इत्यादिना तस्मात् यस्तु कर्माणि कुर्वन् अपि कर्मफलत्यागी स एव मुख्यः त्यागी इत्यभिधीयते ॥११॥

अनुवाद—[तब तो इस प्रकार कर्मफलत्यागकी अपेक्षा सर्वकर्मत्याग ही श्रेष्ठ है, उसमें विक्षेपके अभावके कारण ज्ञाननिष्ठारूप सुखकी प्राप्ति हो सकती है, इसका उत्तर देते हैं]—देहाभिमानी जीव निःशेषरूपसे सर्वकर्म त्याग करनेमें समर्थ नहीं होता, यह तृतीय अध्यायमें "न हि कश्चित् क्षणमपि" इत्यादि श्लोकमें कथित है। अतएव जो आदमी सर्वकर्म करते हुए भी कर्मफलत्यागी है, वही मुख्य त्यागी कहलाता है ॥११॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यह देह धारण करके पूर्णरूपसे बिना कर्म किये नहीं रह सकता—समस्त कर्मोंको करके फलाकाङ्क्षारहित होकर जो सब कर्मोंको करता है उसका नाम त्यागी है—स्थिर बुद्धिके साथ—दूसरे लोग स्थिर बुद्धिके साथ त्याग न करके चञ्चल स्वभावके कारण पुनः ग्रहण भी करते हैं।—जिनकी बुद्धि स्थिर नहीं होती, वे मुखसे 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ' यदि ऐसा कहें, तो भी कर्ममें उनका अभिमान रहता है। जहाँ देहाभिमान

है, वहाँ देहकृत कर्ममें अभिमान रहेगा ही। क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त योगीको देहमें अभिमान तो क्या, देह होनेका भान भी नहीं रहता। तब फिर उनसे कर्म किस प्रकार होता है, क्योंकि वे भी कर्म करते देखे जाते हैं। वे कर्म तो करते हैं, परन्तु साधारण मनुष्य जैसे आसक्तिके साथ कर्म करता है, उस भावसे वे कर्म नहीं करते। प्रयोजन न रहने पर भी क्या कोई कर्म कर सकता है? ज्ञानी पुरुषका कोई प्रयोजन नहीं होता, इस कारण उनके लिए साधारण आदमीकी तरह कर्म करना सम्भव नहीं है। जैसे सर्पकी केंचुली इच्छाके बिना भी वायुके वश होकर इतस्ततः सञ्चालित होती है उसी प्रकार सङ्कल्पके अभावमें योगीकी कर्मप्रवृत्तिमें वेग होना सम्भव नहीं है। वायुसे सन्ताड़ित केंचुलीके समान उनके सारे कर्म प्रारब्धवश सम्पन्न होते हैं। कर्ममें आसक्ति न होनेके कारण कर्मके शुभाशुभ फलसे वे आबद्ध नहीं होते। ज्ञानीका कर्मत्याग इसी प्रकार हुआ करता है। जबतक देह है, निःशेषरूपसे किसीका भी सर्वकर्मत्याग नहीं हो सकता। इसीसे भगवान् कहते हैं कि जब कर्म किये बिना कोई रह ही नहीं सकता, तब जो कर्म करता है और फलकी आकाङ्क्षा भी नहीं रखता, वही प्रकृत त्यागी है। मैं फलाकाङ्क्षाका त्याग करके कर्म करूँगा, ऐसा मनमें सोच लेने पर ही कोई इस प्रकारके त्यागमें समर्थ नहीं हो जाता। जो मनमानी तौर पर विषयादिका त्याग करता है, उसके लिए पुनः विषय ग्रहण करना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। अतएव कामनाका त्याग करनेके लिए साधना करनी चाहिए। प्राणायाम-साधनाके द्वारा जिसके प्राण, मन और बुद्धि स्थिर हो जाती हैं, उनको फिर कुछ भी विचलित या लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं कर सकता। अभिमानका त्याग दूसरे किसी उपायसे नहीं हो सकता, प्राणके स्थिर होने पर ही यह सहजलभ्य हो सकता है ॥११॥

(कर्मके त्रिविध फल—ये फल किसको होते हैं?)

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

अन्वय—अनिष्टं (अकल्याणकर) इष्टं (कल्याणकर) मिश्रं च (तथा इष्टानिष्ट-मिश्र) त्रिविधं (तीन प्रकारके) कर्मणः फलं (कर्मके फल) अत्यागिनां (सकाम पुरुषोंको) प्रेत्य (मरने पर) भवति (होते हैं)। तु (किन्तु) संन्यासिनां (फलत्याग करने वालोंके) न क्वचित् (कभी नहीं होते) ॥१२॥

श्रीधर—एवम्भूतस्य कर्मफलत्यागस्य फलमाह—अनिष्टमिति। अनिष्टं—नारकित्वम्, इष्टं—देवत्वं, मिश्रं—मनुष्यत्वम्। एवं त्रिविधं पापस्य पुण्यस्य चोभयमिश्रस्य च कर्मणो यत् फलं प्रसिद्धं, तत् सर्वं अत्यागिनां—सकामानामेव प्रेत्य परत्र भवति। तेषां त्रिविध-कर्मसम्भवात् न तु संन्यासिनां क्वचिदपि भवति। संन्यासि-शब्देनात्र फलत्यागसाम्यात् प्रकृताः कर्मफल-त्यागिनः गृह्यन्ते, "अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च" इत्येवमादौ कर्मफलत्यागिषु संन्यासिशब्द-प्रयोग-दर्शनात्। तेषां सात्त्विकानां पापासम्भवात् ईश्वरार्पणेन च पुण्यफलस्य त्यक्तत्वात् त्रिविधमपि कर्मफलं न भवतीत्यर्थः ॥१२॥

अनुवाद—[कर्मफलत्यागका क्या फल है, इसे बतलाते हैं]—अनिष्ट अर्थात् नारकित्व, इष्ट अर्थात् देवत्व, मिश्र अर्थात् मनुष्यत्व, ये त्रिविध फल प्रसिद्ध हैं। ये पाप, पुण्य और उभयमिश्र तीन प्रकारके कर्मोंके फल हैं। ये सब अत्यागियोंके अर्थात् सकामकर्मियोंके परलोकगत होने पर होते हैं, क्योंकि उनको ही त्रिविध कर्मोंकी सम्भावना होती है। संन्यासियोंको इन सब त्रिविध कर्मोंकी कभी संभावना नहीं होती। फलत्यागके विषयमें तुल्यताके कारण संन्यासी-शब्दसे यहाँ प्रकृत कर्म-फल-त्यागीका ही ग्रहण किया गया है। षष्ठ अध्यायमें "अनाश्रितः कर्मफलं" इत्यादि श्लोकोंमें कर्मफलत्यागीमें संन्यासी-शब्दका प्रयोग देखा जाता है। इन सब सात्त्विक लोगोंमें पापकी संभावना नहीं होती। ईश्वरार्पणके कारण उनके द्वारा पुण्यफल परित्यक्त होते हैं, अतएव उनके लिए त्रिविध कर्मफल नहीं होते—यही तात्पर्य है ॥१२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शुभ, अशुभ और शुभाशुभमिश्रित, तीन प्रकारके कर्मोंके फल हैं—कर्मके इन तीनों फलोंका जिन्होंने त्याग किया है—वर्त्तमान अवस्था और भविष्यत्में जो त्यागी हैं—वे ही इन तीनोंका त्याग कर सकते हैं, परन्तु संन्यासी, जिसने केवल वर्त्तमान अवस्थामें त्याग किया है, वह कभी इन तीनोंका त्याग नहीं कर सकता—क्योंकि उनको भविष्यत्के मोक्षपद आदिकी इच्छा रहती है।—कर्म तीन प्रकारके होते हैं—अनिष्ट, इष्ट और उभय-मिश्रित। जो लोग त्यागी नहीं हैं अर्थात् जो संसारासक्त हैं उनको इन समस्त कर्मोंका फल मृत्युके परे या जन्मान्तरमें भोगना पड़ता है। इष्ट कर्मके द्वारा देवलोकमें, अनिष्ट कर्मके द्वारा तिर्यक् योनिमें तथा मिश्रकर्मके फलस्वरूप मनुष्य-लोकमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इन तीन प्रकारके कर्मोंका त्याग किये बिना जन्मान्तर-परिग्रह और तज्जनित सुख-दुःखादि-भोग अनिवार्य हैं। इसलिए जो विवेक-सम्पन्न पुरुष हैं वे इस कर्म-बन्धनको काटना चाहते हैं। परन्तु कर्मबन्धन काटनेकी इच्छा करनेसे ही कर्मबन्धन कट जाता हो ऐसी बात नहीं, क्योंकि पूर्वाभ्यासजनित संस्कार और स्वभाव मनुष्यको अनिच्छा होते हुए भी कर्ममें प्रवर्त्तित करते हैं और उसे वाध्य होकर फलभोग करना पड़ता है। कर्मफल-भोगसे भीत होकर जो संसार-गतिसे मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, उनको त्यागका अभ्यास करना पड़ता है। जो लोग त्यागका अभ्यास करनेके लिए इच्छुक हैं, उनको वैराग्य हो गया है अर्थात् उन लोगोंको विषय स्वादिष्ट नहीं लगते, यह समझना चाहिए। इस त्याग-भावको सुदृढ़ करनेके लिए जिस उपायका सहारा लिया जाता है, उसको ही शास्त्र "विविदिषा-संन्यास" कहते हैं। इस विविदिषा-संन्याससे संसार अनुपादेय अथवा हेय विवेचित होता है तथा उसका लक्ष्य होता है कि किस प्रकार यह संसार-गति रुद्ध हो जाय। परन्तु आत्मज्ञानके सिवा संसार-गति रुद्ध नहीं होती। इसलिए विविदिषा-संन्यासका प्रधान साधन है विचार। आत्मानात्म-विवेक हुए बिना अनात्म-वस्तुका त्याग नहीं हो सकता। जो मन पहले विषयादि ग्रहणमें व्यापृत रहता था, अब उसी मनको विषयसे हटाकर ब्रह्मस्वरूपकी धारणाकी चेष्टामें लगाना पड़ता है। इसका उपाय है श्रवण और मनन। इस श्रवण और मननसे सांसारिक

विषयोंमें आसक्तिका ह्रास होता है और ब्रह्म-विज्ञानके लिए समधिक आग्रह होता है। शास्त्रानुमोदित संन्यास एक ऐसा आश्रम है, जिस आश्रममें दूसरा कोई कर्त्तव्य नहीं होता। इसीसे जो विरक्त पुरुष होते हैं वे इस चतुर्थ आश्रमको ग्रहण कर श्रवण-मनन द्वारा वैराग्यभावको पुष्ट करते हैं और साधनादिके द्वारा ऐकान्तिक भावसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए सचेष्ट रहते हैं। उस समय उनके मनमें संसारके प्रति विद्वेष और मोक्षके प्रति आग्रह होता है। यह ग्रहण और त्यागकी इच्छा जबतक मनमें रहती है तबतक वे संन्यासी होते हुए भी त्यागी नहीं कहला सकते। उस समय भी वे सम्यक् ज्ञानी या त्यागीकी पदवी पर आरूढ़ नहीं होते। जो सर्वकर्मत्यागी या सर्वभावना-विनिर्मुक्त नहीं हो सकते उनकी यदि इस अवस्थामें मृत्यु होती है तो पुनरावृत्ति अवरुद्ध नहीं होती। परन्तु जो त्यागी हैं अर्थात् संन्यास न लेकर भी परम अर्थमें संन्यासी हो गये हैं, उनकी फिर पुनरावृत्ति नहीं होती। इसलिए त्रिविध कर्मोंका फलभोग उनको कभी नहीं करना पड़ता। जबतक इच्छा-द्वेष बना हुआ है, तब तक हम प्रकृति या महामायाके शासन-क्षेत्रसे अव्याहति प्राप्त नहीं कर सकते, तब तक जन्म-मरण और कर्मभोग नहीं मिटते। सारांश यह है कि जिन्होंने अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त किया है, वे ही त्यागी हैं। वे चाहे घरमें रहें या वनमें, इस त्याग-भावके सुदृढ़ होने पर उनके मनमें फिर किसी सङ्कल्पकी तरङ्ग नहीं उठती। उनका राग-द्वेष क्षीण होते होते एकबारगी क्षीण हो जाता है। उनकी स्थितिको ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। उनको वर्त्तमान या भविष्यत्की कोई कामना या सङ्कल्प नहीं होता। देहेन्द्रिय-मनके साथ जबतक सम्बन्ध रहता है तबतक नहीं कह सकते कि संसार छूट गया है। अतएव मुक्तिलाभकी सम्भावना भी नहीं रहती। संसारमें हम बँधे क्यों हैं? हमारी इच्छा और द्वेषसे जो कर्म समुद्भूत होते हैं उनके भोग और प्रतिक्रियाके लिए तत्तत् विषयोंमें हम बँध जाते हैं। इस त्रिपुर या देहादिमें अभिमानके रहते इच्छा-द्वेष आदि द्वन्द्वभाव विनष्ट नहीं होते। स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह ही त्रिपुर है। इस त्रिपुरमें अभिमान जबतक बना है मुक्तिप्राप्त होना सम्भव नहीं। इस त्रिपुर या प्रकृतिसे आत्मा भिन्न है, यह समझना होगा। इसका एकमात्र उपाय है स्थिर प्राणका उद्बोधन। प्राण चञ्चल होकर मनको, मन इन्द्रियोंको तथा इन्द्रियाँ देहको कर्ममें नियुक्त करती हैं। अतएव प्राणकी चञ्चलताके रहते संन्यास लेने पर भी सर्वकर्मत्याग नहीं हो सकता। जो त्यागी हैं वे कर्मफलमें आकाङ्क्षारहित होते हैं, ब्रह्मलक्ष्यमें वे सर्वदा अवहित रहते हैं, इसीसे सांसारिक लाभ-हानि, शुभाशुभ कुछ भी उनको चञ्चल नहीं कर सकते। त्यागीका आसन ही सर्वापेक्षा उच्च है। त्यागी होनेके लिए मनका पूर्ण निरोध करना पड़ता है और यह तभी सम्भव है जब प्राण स्पन्दनशून्य हो जाय। प्राणका यह निःस्पन्दन-भाव त्यागीके लिए स्वाभाविक है। संन्यासीको अन्य इच्छा न होते हुए भी मोक्षकी इच्छा रहती है। परन्तु त्यागीको मोक्ष-लाभकी भी आशा नहीं होती। प्राण स्पन्दित होता है पूर्वकर्मानुसार। प्राणके स्पन्दित होने पर मन और सारी इन्द्रियाँ स्पन्दित हो उठती हैं। इस स्पन्दनका नाम ही कर्मचेष्टा है। इससे स्पष्ट होता है कि इस

कर्मचेष्टाका वेग प्राणसे उत्पन्न होता है। उस प्राणको सुषुम्नामुखी करने पर मूलाधारस्थ जीवशक्ति आज्ञाचक्रमें निरुद्ध हो जाती है। इस निरोधभावके द्वारा मन और इन्द्रियोंकी विषय-गति निरुद्ध हो जाती है। जिसका यह निरोधभाव सहज और सम्यक् हो गया है, उसके लिए विषयत्याग भी स्वाभाविक और सहज हो जाता है। इस अवस्थामें स्थित साधकेन्द्रको ही त्यागी कहते हैं। वे इच्छा करके त्याग करते हों, ऐसी बात नहीं। उनका त्याग अपने आप होता है। उस त्यागमें उनको कोई कष्ट नहीं होता। मन स्वभावतः ही अचञ्चल होकर विषयग्रहण नहीं करता। क्रमशः त्यागीके ग्रहीतृ-ग्रहण-भाव भी नहीं रहते। ग्रहीतृ-ग्रहण-भावके क्षीण होने पर ग्रहणका विषय भी नहीं रहता, अतएव मनका स्पन्दन किस हेतु होगा? इसका ही नाम समता या समाधि है। इस समय जिसको जीवात्मा कहते हैं, उस समय वह परमात्माके साथ अभिन्नभावमें स्थित हो जाता है ॥१२॥

(कर्मके पाँच कारण)

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) सर्वकर्मणां सिद्धये (सब प्रकारके कर्मोंकी सिद्धिके लिए) कृतान्ते सांख्ये (कर्मकी परिसमाप्तिसूचक वेदान्त या सांख्य शास्त्रमें) प्रोक्तानि (कथित या वर्णित) एतानि (ये) पञ्च कारणानि (पाँच कारण) मे निबोध (मुझसे जान लो) ॥१३॥

श्रीधर—ननु कर्म कुर्वतः कर्मफलं कथं न भवेत् इत्याशङ्क्य सङ्गत्यागिनो निरहङ्कारस्य सतः कर्मफलेन लेपो नास्ति इति उपपादयितुमाह—पञ्चेति पञ्चभिः। सर्वकर्मणां सिद्धये—निष्पत्तये, इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च कारणानि, मे वचनात् निबोध जानीहि। आत्मनः कर्त्तृत्वाभिमाननिवृत्त्यर्थं अवश्यं एतानि ज्ञातव्यानि इति एवं, तेषां स्तुत्यर्थमेवाह—सांख्य इति। सम्यक् ख्यायते—ज्ञायते परमात्मा अनेनेति सांख्यं—तत्त्वज्ञानं, तस्मिन्। कृतं कर्म, तस्य अन्तः समाप्तिः अस्मिन् इति कृतान्तः तस्मिन् वेदान्तसिद्धान्त इत्यर्थः। यद्वा, संख्यायन्ते गण्यन्ते तत्त्वानि अस्मिन् इति सांख्यम्। कृतः अन्तः निर्णयोऽस्मिन्निति कृतान्तः—सांख्य-शास्त्रमेव, तस्मिन् प्रोक्तानि अतः सम्यक् निबोध इत्यर्थः ॥१३॥

अनुवाद—[जो आदमी कर्म करता है, उसको कर्मफल क्यों नहीं मिलेगा, इस आशङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि सङ्गत्यागी निरहङ्कारी पुरुषका कर्मलेप नहीं होता। यह पाँच श्लोकों द्वारा प्रतिपादन करते हैं]—हे महाबाहो! सब कर्मोंकी निष्पत्तिके पाँच कारण हैं। आत्माके कर्त्तृत्वाभिमानकी निवृत्तिके लिए इन कारणोंको अवश्य जान लेना चाहिए। जिससे सम्यक् ज्ञान होता है वही सांख्य या तत्त्वज्ञान है। कृतका अर्थ है कर्म और जिसमें उसकी समाप्ति होती है वह कृतान्त कहलाता है। वेदान्तका सिद्धान्त यही है। सब तत्त्व जिसमें गिने जाते हैं वह सांख्य है और जिसमें इनका अन्त अर्थात् निर्णय होता है वही सांख्यशास्त्र है ॥ १३ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब लोग जो कर्म करते हैं उसके पाँच कारण कहे गये हैं, वे ही सब कारण कर्म सिद्धिके निमित्त किये जाते हैं।—कर्म-सम्पादनके लिए जो पाँच कारण हैं, वे ज्ञातव्य हैं। वे ज्ञातव्य इसलिए हैं कि जिस आत्माके कर्तृत्वाभिमानके कारण यह संसार-लीला चलती है, वह कर्तृत्वाभिमान जबतक निवृत्त नहीं होता, तबतक इस संसारकी निवृत्ति नहीं होती। यह आत्मवस्तु ही सत्य है, यह एक और अद्वितीय है। आत्माका इस प्रकार सत्य परिचय न होनेके कारण ही आत्माके नानात्वका बोध होता है। आत्मामें जन्म-मृत्यु-सुख-दुःख-रूप संसार अध्यारोपित होता है। आत्माका जो स्वरूप है, उस सत्यज्ञानको छोड़कर अन्य बोध क्यों होता है? अनात्मवस्तु जो मिथ्या है, उसको सत्य बोध करके अनात्मवस्तुमें आत्मबोध और मिथ्यावस्तुमें सत्यबोध होता है, यही अविद्याका कार्य है। जबतक यह अविद्या नष्ट नहीं होती, आत्माके स्वरूपका बोध नहीं होता। अविद्या नष्ट होती है विद्याके द्वारा। असंख्य तरङ्गोंके अभिघातके कारण जैसे समुद्रका स्थिरत्व लक्षित नहीं होता, उसी प्रकार अविद्याकी असंख्य तरङ्गोंके घातके कारण स्थिर आत्माकी उपलब्धि नहीं होती। इसलिए आत्मज्ञानके जो जो आवरण हैं, उनके सम्बन्धमें जानना आवश्यक है। यह ज्ञान-प्राप्ति जिस शास्त्रके द्वारा होती है उसको सांख्यशास्त्र कहते हैं। इसी कारण सांख्यको कृतान्त कहते हैं। क्रिया करते-करते क्रियाकी परावस्थाकी प्राप्ति होनेपर कर्मकी परिसमाप्ति होती है। तभी आत्माकी सम्यक् ख्याति या प्रकाश होता है। कृत अर्थात् कर्मका अन्त या क्रियाकी परावस्था। अविद्याका खेल जबतक रुद्ध नहीं होता, तबतक कर्मकी गति भी रुद्ध नहीं होती और कर्मकी गति रुद्ध न होनेपर जन्म-यातायात-रूप संसार-खेल भी निरन्तर प्रवहमान रहता है। आत्मज्ञानके द्वारा अविद्याके निवृत्त होनेपर अविद्याजनित कर्म भी निवृत्त हो जाते हैं और जन्म-यातायात-रूप कर्मफल भी विलुप्त हो जाता है। क्रियाकी परावस्था ही सम्यक् ज्ञान है। उस अवस्थामें कोई क्रिया नहीं रहती। इड़ा-पिङ्गलामें जबतक श्वास बहता रहता है तभी तक अविद्या है। तबतक कर्म भी रहेगा, कर्मका फल भी रहेगा। यही अनात्म-दृष्टि या मिथ्याज्ञान है। इस मिथ्याज्ञानके जो कारण हैं, उन पाँचों कारणोंके सम्बन्धमें सम्यक् धारणा होनेपर फिर अविद्याकी उत्पत्ति नहीं होती। जैसे सतर्क रहनेपर चोर चोरी नहीं कर सकता, उसी प्रकार मिथ्याज्ञानके कारणोंको जान लेनेपर फिर मिथ्या-ज्ञान द्वारा मुग्ध नहीं होना पड़ता। "क्रिया, कारक और फलका आत्मामें आरोप होता है अज्ञानके द्वारा। जो अज्ञानी उन अधिष्ठान आदि क्रियासम्पादक कारकोंको आत्मा समझता है, उसके लिए अशेषरूपसे कर्मसंन्यास सम्भव नहीं है"—(शङ्कर)। भगवान् कहते हैं कि यह अनात्मज्ञान जिनके ऊपर अवलम्बित है उन कारणोंको विशेष रूपसे जाननेकी आवश्यकता है। उनको सम्यक् रूपसे जान लेनेपर फिर आत्मविस्मृति घटित होनेकी संभावना नहीं रहती। भगवान्ने गीतामें पहले भी कहा है—"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।" परन्तु जबतक ॐकार-क्रियाकी सहायतासे हृदयग्रन्थि भेद नहीं की जाती, तबतक कोई 'तत्' और 'सत्'

को लक्ष्य नहीं कर सकता। 'तत्' और 'सत्' का अभेद-ज्ञान ही प्रकृत ज्ञान है ॥ १३ ॥

(पञ्च कारण)

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अन्वय—अधिष्ठानं (देह) तथा कर्त्ता (और अहङ्कार) पृथग्विधं च करणं (कर्म-साधनरूप विविध इन्द्रियाँ) विविधाः (नाना प्रकारकी) पृथक् चेष्टाः च (पृथक् पृथक् चेष्टाएँ या व्यापार), अत्र (इन कारणोंमें) दैवम् एव च (दैव—इन्द्रियादिके अधिष्ठात्री देवता या धर्माधर्मरूप संस्कार या सर्वप्रेरक अन्तर्यामी) पञ्चमम् (पाँचवाँ कारण है) ॥१४॥

श्रीधर—तान्येव आह—अधिष्ठानमिति। अधिष्ठानं—शरीरं, कर्त्ता चिदचिद्ग्रन्थिः अहङ्कारः। पृथग्विधम् अनेकप्रकारं करणं चक्षुःश्रोत्रादि। विविधाः कार्यतः स्वरूपतश्च, पृथग्भूताः चेष्टाः—प्राणापानादीनां व्यापाराः। अत्र एतेषु एव दैवं च पञ्चमं कारणम्—चक्षुराद्यनुग्राहकम् आदित्यादि-सर्वप्रेरकोऽन्तर्यामी वा ॥१४॥

अनुवाद—[कर्मोंके सम्पादनके जो कारण हैं उन्हें बतलाते हैं]—(१) अधिष्ठान—शरीर, (२) कर्त्ता—चित् और अचित्का ग्रन्थिरूप अहङ्कार, (३) करण—अनेक प्रकारके करण, चक्षुश्रोत्रादि इन्द्रियाँ, (४) कार्यतः और स्वरूपतः विभिन्न चेष्टाएँ अर्थात् पञ्च प्राणोंके व्यापार आदि, (५) दैव—दैव ही पञ्चम है अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंके सहकारी सूर्यादि देवता अथवा सर्व-प्रेरक अन्तर्यामी। [दैव अर्थात् अनुग्राहक देवता। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राणको क्रमशः दिग्देवता, वायुदेवता, अर्कदेवता, वरुणदेवता और अश्विनीकुमार प्रेरणा करते हैं। अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम और प्रजापति क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियोंको प्रेरित करते हैं। चन्द्र, ब्रह्मा, शङ्कर और विष्णु क्रमशः मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्तको नियन्त्रित करते हैं। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पञ्च प्राणोंके देवता क्रमशः सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान हैं। इन सब देवताओंके द्वारा प्रेरित होकर ये सारी इन्द्रियाँ स्थूल विषयका अनुभव करती हैं। धर्माधर्मरूप संस्कारको भी कोई कोई दैव कहते हैं] ॥१४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पहले एक कर्म मन ही मन स्थिर करता है, वह कर्त्ता-रूपमें ही स्थिर करता है—स्थिर करके करना आरम्भ करता है—करनेके लिए आरम्भ करके नाना प्रकारकी चेष्टा करता है—करनेसे क्या होता है—दैवके द्वारा जो कुछ होनेवाला है वही होता है—अतएव बुद्धि, अहङ्कार, विविध चेष्टाएँ और दैव—ये सब कर्मके कारण होते हैं। इसलिए सभी कर्मोंका कारण मन है, उस मनको क्रियाके द्वारा स्थिर करने पर कोई भी कर्म नहीं होता—फलाकाङ्क्षाके सहित।—कोई भी कर्म करते समय पहले मनमें सङ्कल्प होता है।

सङ्कल्पका उदय मनमें होता है, बुद्धि कर्त्तव्याकर्त्तव्यको स्थिर करती है—यही अन्तःकरणका कार्य है। मनका सङ्कल्प (१) इन्द्रिय-यन्त्रके द्वारा परिचालित होकर कार्य उत्पन्न करता है। इन यन्त्रोंको परिचालित करती हैं (२) प्राणादि पञ्च वायु। इन सारी क्रियाओंकी निष्पत्तिके लिए समस्त इन्द्रियादिके धारक एक आधारकी आवश्यकता होती है। यह आधार या अधिष्ठान है (३) देह। देहरूप आधारको आश्रय करके ही कर्मचेष्टाकी अभिव्यक्ति होती है। कर्म जिसके उद्देश्यसे (प्रयोजनसिद्धिके लिए) सम्पादित होते हैं, वही (४) कर्त्ता है—वह चिदाभास या जीव है। वही आत्माके साथ तादात्म्य या अध्यासयुक्त होकर चित्-लक्षणसे युक्त होता है। अर्थात् वह चित् नहीं है, तो भी चित्के साथ तादात्म्यवश चित्के समान प्रतीत होता है या अपनेको चेतन-रूप मानता है—इसको ही दर्शन-शास्त्रमें 'अहंकार' कहते हैं। यही सब कर्मोंका कर्त्ता है। (५) दैव—धर्माधर्मका फलदाता ईश्वर या धर्माधर्मरूप संस्कार। अहङ्कार इस संस्कारके अनुरूप ही होता है। पूर्व जन्मोंके संस्कारोंकी छाप ही ग्रन्थि या अज्ञान है। यह अविद्याग्रन्थि चितके साथ संयुक्त होकर ही 'मैं' 'मैं' करती है। इस अहङ्कारके बिना कोई कार्य नहीं होता, इसी कारण इसको कर्त्ता कहते हैं। एक घर तैयार करनेके लिए ईंट लकड़ी, चूना, मिस्त्री, कुली सबका प्रयोजन होता है, परन्तु जिसके उद्देश्यसे या जिसकी इच्छासे वह घर तैयार होता है वही कर्त्ता है। यह कर्त्ता चित् और जड़की मिलित 'ग्रन्थि' या अहङ्कार है। परन्तु पञ्चम दैव ही सृष्टिका प्रधान कारण है। वह प्रकृतिमें उपहित चैतन्य है या तादात्म्य भावसे युक्त महामहेश्वरी महाप्राण या सर्वान्तर्यामी ईश्वर है। यदि जगत् अज्ञान-कल्पित है, तो यह प्रश्न उठता है कि यह अज्ञता किसमें है। श्रुतिमें लिखा है कि ब्रह्मका सङ्कल्प "एकोऽहं बहु स्याम्" ही इस विराट् विश्वके प्रकाशका मूल कारण है। ब्रह्मका यह सङ्कल्परूप कारण न होने पर यह सृष्टि ही नहीं होती। भागवतमें ब्रह्माका वचन है कि "जिस प्रकार नकेल लगा देने पर चौपाये जानवर मनुष्यके लिए उसकी इच्छाके अनुसार काम करते हैं, हम भी उसी प्रकार त्रिगुणमें बद्ध होकर ईश्वरकी इच्छाके अनुसार उनके लिए काम करते हैं" (भा० ५-१-१५)। अतएव जीवका प्रथम अदृष्ट लिखा जाता है ब्रह्मके सङ्कल्पके द्वारा। ईश्वरका यह अनादि आदि-सङ्कल्प ही महानियति या दैव है। इस नियतिका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है। नियति ही धर्माधर्म-संस्काररूपमें प्राणके द्वारा स्पन्दित होकर जीवके मनमें अपनेको प्रकट करती है। प्राणकी स्पन्दन-क्रिया देह-क्षेत्रमें ही सम्पादित होती है, मानो उससे ही देहक्षेत्र संस्कारानुरूप कार्य करनेमें प्रवृत्त होता है। प्राण द्वारा ही पूर्वजन्मके कर्म शरीर, इन्द्रिय और मनमें दैवरूप बीजसे युक्त होकर फलरूपमें प्रकाशित होते हैं। पुरुषार्थके द्वारा देह-क्षेत्र कर्षित होने पर उसमें दैवरूप बीज वपन होता है और उससे जीव कर्मानुसार निर्दिष्ट फल प्राप्त करता है। निर्दिष्ट कर्मका निर्दिष्ट फल ही नियति है। इस नियतिका उल्लङ्घन करनेका सामर्थ्य रुद्रादि देवताओंमें भी नहीं होता। नियति ही ईश्वर-सङ्कल्प है। पुरुषके प्रयत्नके साथ मिलकर ही नियति फलप्रसव करती है। सारे जीवोंका सम्मिलित अदृष्ट ही ईश्वर-सङ्कल्प है। उनके अपने किसी निजी प्रयोजनके वश यह जगत्

सृष्ट नहीं होता। अतएव दैवके अखण्डनीय होने पर भी पुरुषार्थके लिए स्थान है। पुरुषार्थके बिना दैव सिद्ध नहीं होता। इसी कारण शास्त्र कहते हैं कि दैव बीज-स्वरूप और पुरुषार्थ क्षेत्र-स्वरूप है। बीजमें समस्त शक्तिके निहित होने पर भी जैसे क्षेत्रके बिना वह प्रकाशित नहीं होता, उसी प्रकार अदृष्टरूप बीज-शक्तिके होने पर भी क्षेत्र-कर्षणादि-रूप पुरुषार्थके बिना दैव सिद्ध नहीं होता।

अतएव हम जो कर्म करते हैं उनका निरूपण करते समय देखा जाता है कि (१) देह या अधिष्ठान, (२) इन्द्रियादि करण, (३) प्राणापानादिकी चेष्टा, (४) कर्त्ता या अहङ्कार और (५) दैव जो महानियतिकी प्रेरणा है—इन पाँच कारणोंके मिलनेसे ही कर्म सम्पादित होते हैं। आत्मा इन सबका साक्षी मात्र है, कारण नहीं है। मायाके बिना जगत्‌की कल्पना नहीं होती, इस कारण संसार मायिक वस्तु है। ब्रह्ममें माया नहीं है, अतएव उसमें जगत् भी नहीं है। क्रियाकी परावस्थामें इसी कारण जगत्‌का अस्तित्व नहीं रहता, परन्तु सत्ताभावका अभाव नहीं होता। जब क्रिया रहती है तभी कर्त्ताकी आवश्यकता होती है। परावस्थामें कोई क्रिया नहीं रहती, अतएव आत्मा नित्य अकर्त्ता है। नाम-रूपमय दृश्य वस्तु कल्पित-मात्र है, सत्य नहीं। रज्जुमें सर्पभ्रम होता तो है, परन्तु रज्जु कभी सर्प नहीं बनती। इसी प्रकार ब्रह्ममें जगत्-भ्रम होने पर भी ब्रह्म कभी जगत्‌रूपमें परिणत नहीं होता। रज्जुमें सर्पबोध जैसे द्रष्टाकी दृष्टिका विभ्रम-मात्र है, उसी प्रकार ब्रह्ममें संसार-कल्पना अज्ञका बुद्धि-विभ्रम-मात्र है। यह भ्रम ब्रह्माश्रित नहीं है, क्योंकि पूर्ण ज्ञानमय ब्रह्ममें भ्रम नहीं रह सकता। ज्ञानके भीतर अज्ञानका रहना किसी प्रकार सम्भव नहीं, अतएव भ्रम जीवके आश्रित है। जैसे जीवत्व कल्पित है, उसी प्रकार उसका आश्रित भ्रम भी कल्पनामात्र है। ज्ञानोदय होने पर ही अविद्या तिरोहित होती है तथा उसके साथ जीवभाव भी अन्तर्हित हो जाता है। अतएव जीवके आश्रयमें रहनेवाला भ्रम भी तब नहीं रहता। चिर स्थिर नित्य सत्य भाव ही ब्रह्मभाव है। तरङ्गायमान जलमें जैसे चन्द्रिका चञ्चल जान पड़ती है, उसी प्रकार ब्रह्ममें अनित्य संसार दृष्ट होता है। इसीसे जन्म-मृत्यु, सुख-दुःखादिका अनुभव होता है। सर्परूप भ्रमका अधिष्ठान जैसे व्यावहारिक सत्यस्वरूप रज्जु है, उसी प्रकार चिर स्थिर आत्मा ही इस चञ्चल मनका आश्रय है। चाञ्चल्य तिरोहित होने पर मन नहीं रहता, कल्पना भी नहीं रहती। जो चिर स्थिर अखण्ड अविनाशी है वही प्रकाशित होता है। वही मनका आश्रय है। मनका मन परमात्मा है। साधनाके द्वारा चञ्चल मन जब चिर स्थिर आत्मामें प्रविष्ट होकर आत्माके साथ एक हो जाता है तब उसकी मन उपाधि भी नहीं रहती, सृष्टि भी नहीं रहती ॥१४॥

शरीरवाङ्‌मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

अन्वय—नरः (मनुष्य) शरीरवाङ्‌मनोभिः (शरीर, वाक्य और मनके द्वारा) यत् न्याय्यं वा विपरीतं वा कर्म (उचित या अनुचित जो कर्म) प्रारभते (आरम्भ करता है) एते पञ्च (ये पाँचों) तस्य हेतवः (उसके हेतु हैं) ॥ १५ ॥

श्रीधर—एतेषामेव सर्वकर्महेतुत्वमाह—शरीरेति। यथोक्तैः पञ्चभिः प्रारभ्यमाणं कर्म त्रिष्वेव अन्तर्भाव्यशरीरवाङ्मनोभिः इत्युक्तम्, शारीरं वाचिकं मानसं च त्रिविधं कर्मेति प्रसिद्धेः। शरीरादिभिः यत् कर्म धर्म्यं अधर्म्यं वा करोति नरः तस्य सर्वस्य कर्मणः एते पञ्च हेतवः ॥ १५ ॥

अनुवाद—[सर्व कर्मोंका हेतुत्व इन्हीं पाँचोंमें है, यह बतलाते हैं]—उपर्युक्त पञ्च कारणोंसे प्रारभ्यमाण कर्मोंको शरीर, वाक्य और मनके द्वारा कृत कहा गया है क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि कर्म शारीरिक, वाचिक और मानसिक होते हैं। शरीरादिके द्वारा जो धर्म्य या अधर्म्य कर्म मनुष्य करता है, उन सब कर्मोंके ये ही पाँच हेतु हैं ॥ १५ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इन सब कारणोंके पाँच हेतु हैं। यह शरीर है इसी कारण मनस्थिरपूर्वक दूसरी ओर दृष्टि करता है—वह दृष्टि वाक्यके द्वारा सुनकर—अमुक वस्तु यह है—बहुत अच्छी है, वह अच्छी है, वह अच्छी ही रहे—परन्तु इसकी विवेचना न करके मैं उस वस्तुका कर्त्ता बनूँगा अर्थात् वह वस्तु मेरे अधीन हो—इसके बाद मन उस वस्तुको पानेके लिए चलता है—चलते समय जूता, वस्त्र, चादर लेना पड़ा और पैर से चलना शुरू कर दिया—दूकानके पास तक गया—जाकर पूछा गुलाब-जामुन है ? दैवयोगसे गुलाब-जामुन खतम हो गया है—यह विपरीत कर्म है। उसके स्थानमें दूसरी वस्तु ले सकते हैं—अतएव शरीर, वाक्य, मन द्वारा न्याय्य कर्म या विपरीत कर्म—सब कर्मोंके हेतु ये पाँच ही होते हैं।—मनुष्य जो कुछ कायिक, वाचिक या मानसिक कर्म करता है, ये पाँच ही उसके हेतु हैं। इनके रहते हुए जीवको मोक्षकी सम्भावना नहीं है। जीवके साथ इन पाँचोंका सम्बन्ध विचार करके देखो। जीव स्वयं चिदंश है, अतएव वह कर्म नहीं करता। प्रकृति कर्म करती है। प्रकृतिके कर्ममें अभिमान करके जीव सुख-दुःखादिमें जड़ित होता है। प्रकृतिके कर्ममें अभिमान न करनेपर जीव सुख-दुःखादिमें संलिप्त नहीं होता। तब फिर जीवको कर्त्ता न कहकर अहङ्कारको कर्त्ता क्यों कहते हैं ? अहङ्कार यद्यपि प्राकृतिक वस्तु है, परन्तु ब्रह्मके चैतन्यसे वह चेतनवत् प्रतीत होता है। घटस्थ जलमें चन्द्रका प्रतिबिम्ब पड़ता है। जलमें चन्द्रको देखने पर भी वास्तविक चन्द्र जलके साथ युक्त नहीं होता। इसी प्रकार अहङ्काररूप जलमें ब्रह्मचैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़कर अहङ्कारको चैतन्ययुक्त करता है। जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रके समान मायामें प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जीव है। उस माया अथवा अज्ञानका नाश होनेपर जीवभाव भी नष्ट हो जाता है। यदि कहो कि अज्ञानका नाश होने पर जीवभाव नष्ट नहीं होता, तो फिर मुक्ति कैसे सिद्ध होगी ? अज्ञानशून्य जीवभावको नित्य मानने पर, पूर्णज्ञान-सम्पन्न जीवोंको भी ईश्वरके समान सर्वशक्तिमान् मानना पड़ता है। ऐसी स्थितिमें जब नाना जीवोंकी मुक्तिकी बात सुनी जाती है, तब ईश्वर भी नाना क्यों नहीं होंगे ? परन्तु यह ठीक नहीं है। अज्ञानके कारण ही जीवभाव कल्पित होता है। अज्ञानके नष्ट होने पर उसके साथ जीवभाव भी नष्ट हो जाता है। घटके नष्ट होने पर जैसे घटाकाशकी पृथक् सत्ता नहीं रहती, अज्ञानके नष्ट होने पर जीवकी भी उसी प्रकार पृथक सत्ता नहीं रहती। ब्रह्म

तो सदा ही ज्ञानस्वरूप है, तब फिर जगदादि प्रपञ्च कैसे उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर उनकी स्थिति कैसे होती है? ब्रह्मकी अघटित-घटनापटीयसी मायाशक्तिके द्वारा ही यह विश्वलीला पुनः पुनः अनुष्ठित होती है। यह मायाशक्ति नितान्त ही दुस्तरा है, तथापि जब शास्त्र जीवकी मुक्तिकी बात कहते हैं, तब समझना चाहिए कि यह माया दुस्तरा होने पर भी नित्य नहीं है। भगवान् प्रकृति-पुरुषके नियामक, त्रिगुणके अधीश्वर तथा संसार-स्थिति और मोक्षप्राप्ति दोनोंके हेतु हैं। अतएव भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करने पर जीव संसार-बन्धनसे छूट जाता है। श्रुति कहती है—

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः
ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद् यः।
प्रधान-क्षेत्रज्ञ-पतिर्गुणेशः
संसार-मोक्ष-स्थिति-बन्ध-हेतुः॥

वह विश्वकर्त्ता, विश्ववित् है। वह सबकी आत्मा और योनि अर्थात् कारण है। वह चेतन, कालका प्रवर्तक, अपहत-पाप्मत्वादिगुणसम्पन्न और सर्वविषयक ज्ञानसम्पन्न है। वह प्रकृति और पुरुषका नियामक है, त्रिगुणका अधीश्वर है तथा संसारस्थिति, मोक्षप्राप्ति और बन्धनका हेतु है। वह एक अद्वितीय परमात्मा ही सबका नियन्ता है।

"एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः।"

क्योंकि परमात्मा एक है, इसलिए परमार्थदर्शी ब्रह्मवेत्तालोग अन्य किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं करते। मूलमें वही एकमात्र सत्तारूपमें विद्यमान हैं। यह नामरूप-विशिष्ट जगत् इन्द्रजालके समान मायाकल्पित है।

ब्रह्मके स्वयं अविकारी होने पर भी उसकी मायाशक्ति ही जगत्प्रपञ्चाकारमें परिणत होती है। चैतन्यरूपमें ब्रह्म सृष्टि-स्थितिके कारणरूपसे उल्लिखित होता है। परन्तु क्रियाकी परावस्थारूप ब्रह्मभावमें जीव नहीं रहता, और न जगत् रहता है। मायाका आश्रय करने पर ब्रह्मका ईशनभाव होता है अर्थात् तब वह ईश्वर कहलाता है। मायासे अविद्याके उत्पन्न होने पर वह चैतन्य ही जीवभावमें संसारी होकर बन्धनयुक्त होता है। जो परावस्थाको प्राप्त नहीं होता, वह देहमें आबद्ध होकर जीवरूपमें जन्म-मृत्युके अधीन होकर दुःख और शोकग्रस्त होता है। जीवभावकी दृष्टिसे विचार करके देखने पर यह बाह्य प्रपञ्च एकबारगी मिथ्या नहीं जान पड़ता। पुनः क्रियाकी परा-वस्थामें जीवभाव मिट जाने पर इस प्रपञ्चका कोई पता नहीं लगता। इसीसे योगी लोग शिवशक्तिका एकत्र सम्मिलन करके इस मायाबन्धनसे उत्तीर्ण होते हैं। जड़-चेतनका मिलन-स्थान यह विश्व और जीव है। जड़त्वकी ओर दृष्टि रहने पर जीव अपने आपको बद्ध मालूम करता है और दृष्टि चैतन्यमुखी होने पर बन्धन-मुक्त होने लगता है।

"संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरञ्च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥" श्वेता० उप०।

परमेश्वर ही इस क्षर और अक्षर, व्यक्त और अव्यक्तमय विश्वको पोषण या धारण करता है। मायाधीन जीव भोक्तृभावके कारण आबद्ध होता है। जीव और ईश्वरमें भेद उपाधिकृत है। उपासनाके द्वारा योग्यता प्राप्त होने पर निरुपाधिक परमेश्वरके विषयमें ज्ञान होता है। तब ज्ञानप्राप्तिके बाद जीवभाव तिरोहित होने पर मुक्ति प्राप्त होती है ॥१५॥

(आत्मा 'अकर्त्ता' 'केवल' है)

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

अन्वय—तत्र एवं सति (जब सब कर्मोंके ये पाँच हेतु हैं तब) यः तु (जो आदमी) केवलं (निःसङ्ग) आत्मानं (आत्माको) कर्त्तारं पश्यति (कर्त्ताके रूपमें देखता है) अकृतबुद्धित्वात् (असंस्कृत बुद्धिके कारण) सः दुर्मतिः (वह दुर्बुद्धि व्यक्ति) न पश्यति (सम्यक् रूपसे दर्शन नहीं करता) ॥१६॥

श्रीधर—ततः किम्? अत आह—तत्रेति। तत्र—सर्वस्मिन् कर्मणि एते पञ्च हेतवः इति। एवं सति, केवलं—निरुपाधिकं असङ्गं आत्मानं तु यः कर्त्तारं पश्यति, शास्त्राचार्योपदेशत्यागेन असंस्कृतबुद्धित्वात्, दुर्मतिः असौ सम्यक् न पश्यति ॥१६॥

अनुवाद—[उससे क्या होता है, इसके उत्तरमें कहते हैं]—सब कर्मोंके ये पाँच हेतु होने पर भी जो मूढ़ शास्त्रका और आचार्यका उपदेश त्याग करनेके कारण निरुपाधि असङ्ग आत्माको कर्त्ताके रूपमें देखता है, उसकी बुद्धि परिमार्जित न होनेके कारण वह सम्यक् दर्शनमें समर्थ नहीं होता ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इन सब कर्मोंका कर्त्ता आत्मा है, उसको ही क्रिया द्वारा देखते हैं, पकड़ते हैं क्रियाकी परावस्थामें—जो आदमी आत्माकी क्रिया नहीं करता वह नहीं देख पाता—इसी कारण आत्मासे अन्य दिशामें आसक्तिपूर्वक मन जाता है।—आत्माको कर्त्ताके रूपमें देखना हमारी दुर्मति है। आत्मा कर्त्ता नहीं है। कर्मादिका सम्पादन उपर्युक्त पाँच हेतुओंके द्वारा ही होता है, ये बातें प्राचीन भाष्यकार तथा टीकाकारोंने कही हैं। परन्तु लाहिड़ी महाशयने एक नयी बात बतलायी है। पूर्व श्लोकमें कथित पाँच हेतुओंको कर्मका कर्त्ता स्वीकार करने पर भी क्या इसीसे आत्माका प्रकृत कर्तृत्व विलुप्त हो गया? आत्माके बिना इन पाँचोंमें कर्म करनेकी क्षमता कहाँ है? अतएव आत्मा कोई कर्म करे या न करे, प्रकृत कर्त्ता तो आत्मा ही है। आत्मा कर्त्ता होकर भी अकर्त्ता है—इस बातको जो क्रिया नहीं करता वह नहीं जान सकता। इसीसे जो दुर्मति हैं वे असङ्ग आत्माको कर्त्ता मानते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा ही आसक्तिपूर्वक मानो सब कुछ कर रहा है। आत्माकी आसक्ति न होनेके कारण किसी कर्ममें उसका अभिमान नहीं होता—यह समझ न सकना ही दुर्मति है। अन्यथा आत्मा तो सब कुछ है, अतएव वह सब कर्मोंका कर्त्ता है—ऐसा समझनेमें कोई दोष नहीं लगता। आत्माकी शक्तिसे ही ये पाँचों हेतु काम करते

हैं, परन्तु आत्मा निःसङ्ग और मुक्त है, उसको कर्म स्पर्श नहीं कर सकता। जो लोग मन और बुद्धिके कर्त्तृत्त्व-भावको आत्मामें आरोप करते हैं वह यह नहीं समझ पाते कि आत्माका अकर्त्तृत्वभाव कैसा है। वह कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता, चलते हुए भी नहीं चलता, बोलते हुए भी नहीं बोलता। कठोपनिषद् कहती है—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥

आत्मा स्थिर होकर भी गमन करता है, निश्चेष्टवत् होकर भी सर्वत्र गमन करता है, हर्षयुक्त और हर्षहीन है—इस प्रकारके स्वप्रकाश आत्मदेवको मेरे बिना दूसरा कौन जान सकता है अर्थात् आत्माका ज्ञाता आत्मा या आत्मज्ञ पुरुष है। यह आत्मा देखा जाता है। प्रमाण—"यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः"। क्षीण-दोष होने पर अर्थात् मनका चाञ्चल्य मिटने पर अथवा मनकी विषयग्रहणकी प्रवृत्ति रुकने पर ही योगी पुरुष उस आत्माको देख पाते हैं। क्रियाकी परावस्थामें जब सब एक हो जाता है तब आत्मा ज्ञात हो सकता है, तभी उसके साथ एक हो जा सकते हैं। परन्तु जो 'अकृतबुद्धि' है अर्थात् जो क्रिया करके स्थिर नहीं हो सकता, उसे प्रकृत बुद्धि नहीं होती। क्रियाकी परावस्थाके सिवा स्थिरबुद्धि होनेका कोई उपाय नहीं है। जिनको बुद्धिकी स्थिरता प्राप्त नहीं होती वे अकृतबुद्धि हैं, अतएव वे आत्माको नहीं देख पाते। उनकी समझमें यह भी नहीं आता कि आत्मा सब विषयोंका कर्त्ता होकर भी निर्लिप्त कैसे है। क्रिया करके जबतक क्रियाकी परावस्था प्राप्त नहीं होती, बुद्धिका स्थिर भाव प्राप्त नहीं होता, तबतक उनको आत्मदर्शन नहीं होता।

जब आत्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं तब अनात्मा नामकी कोई वस्तु नहीं रह सकती। आत्मदृष्टिके अभावके कारण ही जड़ पदार्थकी उपलब्धि होती है। चक्षु निरामय न रहने पर जैसे एक रङ्ग दूसरा ही रङ्ग जान पड़ता है उसी प्रकार मनकी विकृत अवस्थामें जड़-अजड़का भेद जान पड़ता है। आत्माके सिवा और कुछ न रहनेके कारण आत्मा असङ्ग है। क्रियाकी परावस्थामें जब कुछ भी नहीं रहता, तभी आत्मा असङ्ग रूपमें उपलब्ध होता है। प्रकृत पक्षमें यदि और कुछ रहता तो आत्मा असङ्ग नहीं हो सकता। अविद्याके प्रभावसे एक आत्मा जगदादि नाना रूपोंमें देखा जाता है। वस्तुतः जगत् नामकी कोई सत्य वस्तु नहीं है। नाना वस्तुओंके दर्शन-कालमें भी वह एक आत्मा असंख्य भावोंमें बुद्धिगोचर होता है। बुद्धिके स्थिर न होनेके कारण मरीचिकामें जल होनेका भ्रम होता है। जो साधन नहीं करते उनकी बुद्धि स्थिर भावको प्राप्त नहीं होती। ब्रह्म एक और अद्वितीय है, यह मुँहसे कहने पर भ्रम नष्ट नहीं होता, अनेक एक नहीं हो जाता। एकमात्र क्रियाकी परावस्थामें जब बुद्धि स्थिर हो जाती है, तब नानात्वका कोई अस्तित्व समझमें नहीं आता। इसका ही नाम सम्यक् दर्शन है। आत्माके सिवा अन्य वस्तु देखना ही असम्यक् दर्शन है। जबतक मन चञ्चल है, बाह्य-दृष्टि-सम्पन्न है, तबतक अविद्याका खेल खतम नहीं होता, संसार-दर्शन भी लुप्त नहीं होता। तबतक शत-सहस्र भेद वर्तमान हैं, तबतक जीव भी है और

ब्रह्म भी है। जीव जबतक जीव है, तबतक वह अनीश है अर्थात् कर्त्ता नहीं है। कर्त्तृत्व उस समय माया-शबलित ईश्वरका होता है। उस ईश्वरको कर्त्ता न मानकर जो अपनेको कर्त्ता मानता है, वह दुर्मति है। संसार-क्रीड़ा मिथ्या अथवा स्वप्नमात्र होने पर भी जबतक है तबतक वह ईश्वरमें अध्यासित है। ज्यों ही स्वप्नदर्शन भङ्ग होता है त्यों ही न कर्म रहता है और न कर्त्ता, रहता है एक परमात्मा। इसे ही आत्माका स्वरूपमें अवस्थान अथवा शुद्ध भाव कहते हैं। आत्मा यद्यपि स्वतः शुद्ध है, तथापि मायाको अङ्गीकार करने पर उसका जो भाव होता है वह चित्-जड़का मिश्रण है, उसे ही अशुद्ध भाव कहते हैं। मायाधीन जीवमात्रमें यह अशुद्ध भाव रहता है। क्रियाकी परावस्थामें अशुद्ध भाव जैसे ही तिरोहित होता है, वैसे ही जीव अकर्त्ता और निःसङ्ग-रूपमें कथित होता है। तब जीवत्व नहीं रह जाता, उसको शिवत्वकी प्राप्ति होती है। जीवावस्थामें निज महिमा अज्ञात रहती है, इस कारण उसको चेतन करने पर भी चैतन्य प्राप्त नहीं होता। उस समय न वह अपने अधीन होता है और न ईश्वरके अधीन। उस समय वह दुष्ट इन्द्रियोंकी प्रेरणासे केवल भोग-सुखके लिए लालायित होकर भोग्य वस्तुकी ओर ही दौड़ा करता है।

ब्रह्म एक है, वहाँ द्वितीय वस्तु नहीं है, तब फिर यह जगत्-दर्शन किसको होता है? द्वितीय वस्तु कहाँ से आती है? यह अन्य कोई पृथक् सत्ता नहीं है। एक ही सत्ताके भीतर यह विचित्र शक्ति रहती है जो कभी कभी प्रकट हो जाती है। यही है ब्रह्मका अपने भीतर अपनी शक्तिका स्फुरण। यद्यपि शिव एक है, तथापि उनकी निज शक्तिका जब स्फुरण होता है तब मानो एकके ही भीतर द्वितीयको देखते हैं। यही शिव-शक्ति-सम्मिलित भाव है। एक ओरसे देखने पर मानो ऐसा जान पड़ता है कि दो सत्ताएँ हैं। परन्तु भलीभाँति देखने पर जान पड़ता है कि एक दूसरेके साथ अभेद-भावसे मिले हुए हैं, बिल्कुल ही अभिन्न है। पश्चात् शक्तिका सातिशय स्फुरण या बहिर्मुखी भाव "एकोऽहं बहु स्याम्" होता है, यही ब्रह्मका सङ्कल्प या मायाश्रय है। इससे प्राणशक्तिका स्फुरण होता है। पुनः प्राणसे मन, इन्द्रिय आदिका सम्प्रसारण-भाव होता है। "प्राणो ह्येष: यः सर्वभूतैर्विभाति, विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी"—(मुण्डक)।—जो परमात्मा, ब्रह्मादि तृण पर्यन्त समस्त पदार्थोंमें प्रकाशित हो रहा है, वही हमारा अचञ्चल स्थिर प्राण है। ज्ञानी साधक, इसको क्रियाकी परावस्थामें जानकर, यह कहनेमें समर्थ होता हैं कि आत्मातिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है।

जो एक था उसीने बहु रूप धारण किया। यही भागवती माया है। इसी शक्तिके प्रभावसे आत्मविस्मृत आत्मा अपनेको नाना रूपोंमें देखता है तथा एक दूसरेको भिन्न रूपमें देखनेका भ्रम करता है। आत्मदर्शनका लोप हो जाता है, चैतन्यकी क्षीणता और जड़की प्रसारता प्राप्त होती है। सहस्रारसे ब्रह्मशक्ति अवतरण करते करते प्राणसत्तामें स्पन्दमान होकर अन्तमें जगदादिरूपमें परिलक्षित होती है। अन्तमें मूलाधारमें अवतरण करके निद्रित हो जाती है। यहाँ ही जीव अज्ञानाच्छन्न हो जाता है। आज्ञाचक्र पर्यन्त जो स्पन्दन होता है उससे माया उतना आच्छन्न नहीं करती। वहाँ माया रहती है, परन्तु मायाधीन भाव नहीं रहता। उस समय

ज्ञानकी पूर्णता रहती है। यहाँ तक ऐश्वरिक सृष्टि है। कण्ठ, अनाहत, नाभि पर्यन्त वैकारिक भाव है। नाभिके नीचे मायिक सृष्टि है, उस समय बिल्कुल ही आत्मविस्मृत भाव है। तब प्राण स्पन्दित होकर मनको तथा मन इन्द्रियोंको बहिर्मुख परिचालित करता है। इससे ही अनन्त खेल और अनन्त जीव-जगत्‌का सम्प्रसारण होकर अनन्त जगत्-लीला चलने लगती है ॥१६॥

(किसको कर्मलेप नहीं होता ?)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

अन्वय—यस्य (जिसका) अहङ्कृतभावः (मैं कर्त्ता हूँ, यह भाव) न (नहीं है), यस्य बुद्धिः (जिसकी बुद्धि) न लिप्यते (लिप्त नहीं होती) सः (वह) इमान् लोकान् (इन लोगोंको) हत्वा अपि (मार कर भी) न हन्ति (नहीं मारता है) न निबध्यते (अतएव आबद्ध भी नहीं होता) ॥१७॥

श्रीधर—कः तर्हि सुमतिः ? यस्य कर्मलेपो नास्ति इत्युक्तम् इति अपेक्षायाम् आह—यस्येति। अहमिति कृतः अहङ्कर्त्ता इति एवम्भूतो भावः—अभिप्रायो यस्य नास्ति। यद्वा अहङ्कृतः अहङ्कारस्य भावः स्वभावः कर्त्तृत्वाभिनिवेशो यस्य नास्ति। शरीरादीनामेव कर्मकर्त्तृत्वालोचनादित्यर्थः, अतएव यस्य बुद्धिर्न लिप्यते—इष्टानिष्टबुद्ध्या कर्मसु न सज्जते। सः—एवम्भूतो देहादिव्यतिरिक्तात्मदर्शी इमान् लोकान्—सर्वानपि प्राणिनो लोकदृष्ट्या हत्वापि विविक्ततया स्वदृष्ट्या न हन्ति। न च तत्फलैः निबध्यते—बन्धनं प्राप्नोति। किं पुनः सत्त्वशुद्धिद्वारा परोक्षज्ञानोत्पत्तिहेतुभिः कर्मभिः न तस्य बन्धशङ्का इत्यर्थः तदुक्तं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा इति ॥१७॥

अनुवाद—[सुमति क्या है तथा किसको कर्मलेप नहीं होता इसी विषयमें कहते हैं]—मैं कर्त्ता हूँ इस प्रकारका भाव जिसका नहीं है अथवा शरीरादि ही कर्मोंके कर्त्ता हैं इस प्रकारकी आलोचनाके कारण जिसमें अहङ्कृतभाव या कर्त्तृत्वाभिनिवेश नहीं है, अतएव जिसकी बुद्धि इष्टानिष्ट कर्मसमूहमें आसक्त नहीं होती, देहादिसे व्यतिरिक्त आत्मदर्शन करनेवाला वह पुरुष लोकदृष्टिसे समस्त प्राणियोंकी हत्या करके भी शुद्ध भावमें आत्मदृष्टिसे किसीको भी नहीं मारता और न हत्याके फलसे आबद्ध ही होता है अर्थात् वह बन्धनको प्राप्त नहीं होता। सत्त्वशुद्धि द्वारा अपरोक्ष ज्ञानकी उत्पत्तिके कारण वह पुरुष कर्म करके बद्ध होगा, यह आशङ्का अनावश्यक है। इसी कारण कहा है कि जो पुरुष फलासक्तिका त्याग करके भगवदर्पित चित्तसे कर्म करता है, वह उसी प्रकार पापपुण्यमय कर्ममें लिप्त नहीं होता जैसे पद्मपत्र जल द्वारा लिप्त नहीं होता। कर्मलेप नहीं होता, इसका कारण यह है कि 'कर्मप्रेरणा' और 'कर्मसंग्रह' सब कुछ त्रिगुणात्मक हैं। निर्गुण आत्माके साथ इनका सम्बन्ध नहीं है। अतएव आत्मज्ञ पुरुष जो निरहङ्कार हैं, उनको कर्मलेप सम्भव नहीं है ॥१७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें रहकर जब अपने आपमें रह कर भी नहीं रहता—उस आश्चर्य-दशामें रहकर फिर किसी विषयमें आसक्ति पूर्वक स्थिर बुद्धिके द्वारा लिप्त नहीं होता—वह सब लोगोंको मार डाले, तो भी वह नहीं मारता—और न मारनेके कारण आबद्ध हो सकता है—क्योंकि, वह अपने आपमें नहीं था—वह ब्रह्मके नशेमें उसी प्रकार बेखबर रहता है जैसे मदके नशेमें मतवाला आदमी।—आत्माके सम्बन्धमें उपनिषद कहती है—"प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः"—(माण्डूक्य मन्त्र ७)। 'प्रपञ्चोपशमं' जगद्विकाशकी निवृत्तिरूप अर्थात् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिके सम्बन्धसे शून्य, 'शान्तं' विकार-शून्य अर्थात उसकी अवस्थान्तर-प्राप्ति नहीं होती, 'शिवं' मङ्गलमय, 'अद्वैतं' द्वितीयके अभिनिवेशसे शून्य, 'चतुर्थं' जाग्रदादि पादत्रयसे भिन्न, 'सः आत्मा' वही आत्मा 'मन्यन्ते' जिनको ज्ञात है, वे कहते हैं कि 'सः विज्ञेयः'—वही ज्ञेय है, उसको जानना चाहिए। यही असल ज्ञान है। यह ज्ञान उनको होता है जो क्रियाकी परावस्थामें रहते हैं। उस अवस्थामें क्रिया नहीं रहती, वहाँ कर्त्ता भी नहीं रहता। वह एक विचित्र अवस्था है, वह निज अनुभवरूप है। इस अवस्थामें बुद्धि स्थिर होकर आत्माकार हो जाती है, अतएव इन्द्रियादिके कर्ममें बुद्धि लिप्त नहीं होती। अहङ्कार या कर्तृत्वाभिमान रहने पर ही कर्मफलमें बुद्धि लिप्त होती है। जिसमें अहंभाव नहीं होता, उसमें कर्तृत्वभाव भी नहीं रहता। अतएव उस अवस्थामें कर्म करनेसे कर्मजनित सुख-दुःखरूप फलमें आबद्ध नहीं होना पड़ता। जिसको अपरोक्षानुभूति नहीं हुई है, वे इस प्रकार अनासक्त भावसे कर्म नहीं कर सकते। मुँहसे अनासक्ति बघारना अथवा उसी प्रकार कर्म करते जाना भी अहङ्कारका ही नामान्तर है। योगवासिष्ठमें श्रीवसिष्ठजी कहते हैं कि "हे राम! तुम बाहरसे राजा बनकर राज्य शासन करो, परन्तु भीतरसे अपनेको अकर्त्ता समझो।" वारंवार क्रियाकी परावस्थामें रहकर जिनकी गति या बुद्धि शुद्ध हो गयी है, उनमें "मैं कर्त्ता हूँ" इस प्रकारकी भावना ही नहीं आ सकती। उनकी बुद्धि कर्ममें लिप्त नहीं होती, अतएव वे कर्मजनित फलसे हृष्ट या सन्तप्त नहीं होते। उनकी बुद्धि शरीरेन्द्रियके आचारके साथ नहीं मिलती। इसी कारण जैसे नशेबाज मदके नशेमें देहाभिमान-शून्य हो जाता है, उसी प्रकार यह बुद्धि भी अभिमान-रहित हो जाती है—इसीको निरहङ्कार-भाव कहते हैं। समझना चाहिए कि आत्माका किसी प्रकारका अवस्थान्तर नहीं होता। आत्मा अन्य किसीके साथ तद्भावापन्न नहीं होता। इस कारणसे हनन या अहनन किसी भी कार्यमें वह लिप्त नहीं होता। 'मैं कर्त्ता हूँ' यह जैसे एक प्रकारका मनोभाव है, वैसे ही 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ' यह एक दूसरे प्रकारका मनोभाव है। अहङ्कारशून्य आत्मज्ञ पुरुषको ये दोनों ही भाव नहीं होते। आत्माके शुद्धस्वरूपमें कोई अध्यास नहीं है, इसलिए उस अवस्थामें इन दोनोंमें कोई भाव नहीं रहता। उस समय देहेन्द्रियादिमें अहंभाव न रहनेके कारण देहादिकृत हनन-कार्यके वे कर्त्ता नहीं होते, आत्मस्थ होनेके कारण बुद्धि भी इन कार्योंमें लिप्त नहीं हो सकती। अतः तत्तत् कार्यमें आत्मा भी बद्ध नहीं हो सकता। तब मनमें प्रश्न उठते हैं कि यह सब काण्ड करता कौन है, यह इन्द्रजाल दिखाता कौन है, कर्म करके दण्ड या पुरस्कार पाता कौन है, 'सु' या 'कु'

कर्म करनेके लिए कहता ही कौन है अथवा निषेध ही कौन करता है? ईश्वर सबके बुद्धिस्थ होकर सबको सब कर्म करा रहे हैं, इसका अर्थ क्या है तथा यदि ईश्वर ही सब कुछ कराते हैं तो हम फल भोग करते हुए मरते क्यों हैं?

कौन भोग करता है और कौन भोग कराता है, इसको समझनेके लिए आवश्यक है कि पहले हम यह जान ले कि मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है। यह बात अत्यन्त ही सत्य है कि शुभाशुभ कोई भी कर्म हम क्यों न करें, यदि हमारे भीतर कोई चेतन वस्तु या आत्मा न रहता तो उसे हम कर ही नहीं सकते थे। चेतनके अधिष्ठान या प्रेरणाके बिना अचेतनमें प्रवृत्ति या कार्य नहीं हो सकता। सब प्रवृत्तियोंके भीतर एक चेतनकी प्रेरणा रहती है। वही चेतन प्रेरक आत्मा या ब्रह्म है। अतएव आत्माको अकर्त्ता मानकर किनारे कर देनेसे काम नहीं चलेगा। "सर्वस्य बुद्धिरूपेण जनस्य हृदि संस्थिते"—तुम प्राणीमात्रके हृदयमें बुद्धिरूपमें अवस्थित हो। कालवश जो कुछ रूपान्तरित हो रहा है, कालकी वह शक्ति भगवान्से ही प्राप्त है। गीतामें यह भी लिखा है कि—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

हे अर्जुन! सर्वान्तर्यामी ईश्वर स्वकीय मायाशक्तिके प्रभावसे शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ जीवोंको परिभ्रमण कराते हुए उनके हृदयमें अवस्थित रहते हैं अर्थात् ईश्वर हृद्देशमें अवस्थान करते हुए शरीर-यन्त्रमें आरूढ़ जीवोंसे नाना प्रकारके कर्म करा रहे हैं। उन कर्मोंको किये बिना जीवका निस्तार नहीं। यदि इस चरखीके चक्करसे बचना चाहते हो तो तुमको ईश्वरके शरणापन्न होना पड़ेगा। वह यदि प्रसन्न होते हैं तो तुम मुक्तिलाभ करके शान्ति प्राप्त करोगे। तृतीय अध्यायमें भगवान्ने कहा है कि 'जीव स्वीय प्रकृति अर्थात् पूर्वजन्मके संस्कारोंके अनुरूप कर्म करनेके लिए बाध्य है, इन्द्रिय-निग्रह करनेसे भी कुछ काम न चलेगा।' इसी कारण कुकर्मके कुफलको जानकर भी जीव पूर्वसंस्कारके वश कुकर्म करनेके लिए बाध्य होता है। अतएव जीवके समान इतना अधिक असहाय और कौन है! ब्रह्मका सङ्कल्प "एकोऽहं बहु स्याम्" ही जीवके हृदयमें कर्मेच्छाका मूल है। वही एक नाना जीव बनकर अपने सङ्कल्पका फलभोग कर रहे हैं, वही जीव होकर भोग रहे हैं। ईश्वर-स्वभाव जीवका कर्मलेप नहीं हो सकता, इसी कारण वह त्रिगुणका जाल बनाकर अपने आप आबद्ध हो गये हैं। कैसा अद्भुत काण्ड है! उनको कर्म करनेमें जबतक अच्छा लगता है, तबतक जीवरूपमें वह आनन्दसे कर्मको करते जाते हैं। परन्तु धीरे धीरे जब कर्मके विविध फल उत्पन्न होकर जीवको विडम्बित और प्रपीड़ित करते हैं, तब जीवका जागरण होता है, धीरे धीरे उसकी मोहनिद्रा टूटनेका उपक्रम होने लगता है। जीव तब गाड़ी खींचनेवाले बैलके समान श्रान्त और क्लान्त होकर अपने कन्धेसे बन्धनको हटानेके लिए व्याकुल हो उठता है। परन्तु इच्छा होनेपर भी उसी समय वह अपने कन्धेके बोझको फेंक नहीं सकता, क्योंकि उस समय जीव अनीश्वरभावापन्न रहता है। मूढ़तावश अहङ्कारमें मत्त होकर वह

सोचता है कि अपना बोझ अपने आप फेंक सकेगा, परन्तु कुछ दिनोंकी चेष्टाके बाद वह समझने लगता है कि ऐसा करना उसके सामर्थ्यके बाहर है। अब तक जो वह व्यर्थ घमण्ड कर रहा था, वह उसकी दुर्मति थी। वारंवारके विफल प्रयासने उसको निजी सामर्थ्यके ऊपर सन्देह उत्पन्न करा दिया है। अब वह मानो किसीकी शरण लेना चाहता है। अब वह समझ गया है कि इतने दिन आँखों पर पट लगाकर उसने अपने कर्तृत्व-अभिमानको ही बड़ा समझ रखा था, आज उसका वह विश्वास चला गया है। वह अब समझ गया है कि जो उसको यन्त्रारूढ़के समान घुमा रहा है, वही उसका मालिक है, वही ईश्वर है। स्वयं वह शक्ति-सामर्थ्यरहित एक अहङ्कृत बद्ध जीव है। उसके लिए रोना ही सार है, उसमें कुछ करनेकी क्षमता नहीं है। जीव तब भयसे व्याकुलचित्त होकर रो पड़ता है और कहता है—"प्रभो! इस शरणागत दीन आर्तकी रक्षा करो।" तब श्रीभगवान् श्रीगुरु-रूपमें आकर भवसिन्धुमें डूबती हुई उसकी जीवननौकाके कर्णधार बनते हैं। जीव पहले अपना स्वरूप जाननेमें असमर्थ होता है। उसकी देह-प्रकृति उसका सर्वस्व होती है। उस प्रकृतिके साथ वह तादात्म्य-भावसे मिलित है। उस प्रकृतिसे वह अपनेको पृथक् करके कदापि नहीं देख पाता। प्रकृतिके मोहसे मुग्ध जीव सारे कर्मोंमें अपना कर्तृत्व देखता है। इसी कारण उसकी बुद्धि सब कर्मोंमें लिप्त हो जाती है और उनके सुख-दुःखरूप फलभोग करनेके लिए वह बाध्य होता है। देहात्मभावमें मग्न जीव और किसीको भी नहीं देख पाता, अतएव सब कर्मोंका कर्त्ता बनकर पुनः पुनः इस जगत्में आवागमन करता रहता है तथा जन्ममृत्युके पाशमें बद्ध होकर रोदन करता रहता है। श्रीगुरुदेव जब उसके ज्ञानचक्षु उन्मीलित कर देते हैं, तब जीव समझ पाता है कि इस देहेन्द्रियरूप प्रकृतिसे वह कितना भिन्न है। प्रकृति अश्व है और वह अश्वारोही है। प्रकृतिके कर्तृत्वको मानकर इतने दिनों तक जीव कैसी भूल कर रहा था। कहाँ तो घोड़े पर सवार होकर वह आनन्दसे भ्रमण करता, परन्तु ऐसा न करके वह स्वयं घोड़ेको अपने कन्धे पर लेकर भटकता हुआ क्लान्त हो रहा था! जीव जब विचार करके अपनी अवस्था समझ लेता है, तब उसका स्वरूप-सन्धान प्रारम्भ होता है। उसकी प्रकृति सत्त्व, रजः और तमःसे मिली होती है। जीव ईश्वरका अंश होकर भी इन गुणोंके साथ जड़ित होकर गुणोंसे अपनेको कभी अतिरिक्त या पृथक् नहीं समझ सकता। भगवान्की चैतन्यमयी प्राणमयी शुद्ध शक्ति हृदयमें ईशभावसे अनुप्राणित होकर वर्त्तमान रहती है। वही शक्ति जब नाभिके नीचे मूलाधारादिमें अवतरण करती है, तब जीवभावमें बद्ध होकर स्वयं अपने स्वरूपको भूल जाती है। इसीको मायाद्वारा व्याप्त होना कहते हैं। उस समय सूक्ष्म जगत् या सूक्ष्म शक्तिकी बात भी याद नहीं आती, केवल स्थूल भावमें लक्ष्य रहता है। उस अवस्थामें रहते रहते जीव अपनेको भी स्थूल मानने लगता है और एकबारगी अपने स्वरूपको भूलकर अनीश्वर-भावमें दिन-यापन करता है। जो स्पन्दन पहले आज्ञाचक्रमें प्रादुर्भूत हुआ था, वही पुनः स्पन्दित होकर हृदय-देशमें अवतरण करता है। उस समय

भी उसका सम्यक् ज्ञान विलुप्त नहीं होता। परन्तु अन्तःकरण-व्यूहके द्वारा परिवेष्टित होकर हथकड़ी-बेड़ी पहने चोरके समान जब वह स्पन्दन-वेग नाभिके नीचे अवतरण करने लगा तब उसके ज्ञानकी उज्ज्वल प्रभा क्षीण होते होते एकबारगी विलुप्त हो गयी, उसकी जो ईश्वरीय शक्ति थी वह सुप्तवत् होकर प्रच्छन्न हो गयी। जीव मायाके द्वारा घोर निद्रामें पड़कर जड़वत् हो गया। इस प्रकार जब वह एक अद्भुत इन्द्रजालसे विरचित मायाजालमें आबद्ध होकर जीवभावका खेल आरम्भ कर देता है, तब वह क्या है, कहाँ है, किसकी खोजमें घूम रहा है, कौन खेल खेलकर दिन काट रहा है—इन सब बातोंको मानो कोई उसके चित्तपटसे मिटा देता है। मायाभिभूत बद्ध जीव पहले-पहल राग, द्वेष, काम, क्रोधको लेकर ही व्यस्त रहता है। गुरुकी कृपासे जिस दिन उसकी स्मृति जाग उठती है, उस दिन नवीन मार्ग प्राप्त कर मानो वह नये देशका निवासी हो जाता है। उस दिनसे वह अपने चिर अभ्यस्त मार्गको छोड़कर नये पथका पथिक बन जाता है, बिल्कुल ही उलटा मार्ग पकड़ता है। यह उलटा मार्ग ही निवृत्ति-मार्ग है, उसके स्वस्थानमें लौटनेका पथ है। इस मार्गसे जो चलता है, उसकी सत्त्वशुद्धि होना अनिवार्य है। सत्त्वशुद्धि जितनी ही अधिक होती है, उतना ही वह निज निकेतनके समीप पहुँचता जाता है। आरम्भमें मार्ग बहुत विघ्न-सङ्कुल होता है। उस विघ्नबहुल मार्गमें चलते चलते उसको अप्रत्याशित अनेक विघ्नोंका सामना करना पड़ता है। इतने दिनोंतक स्थूल जगत्में स्थूल विषयोंको अपना मानकर बहुत कष्ट उठाया है, अब सूक्ष्म जगत्के सूक्ष्म विषय उसको रुचिकर जान पड़ने लगे। उन सब शक्तियोंको अपना समझकर वह अपनेको कृतकृत्य समझने लगा। तब सत्त्व-किरणोंसे उद्भासित होकर शक्तियाँ उसके भीतर प्रकाशित होने लगीं। उन शक्तियोंको मानो अपने अधीन सोचकर जीव अधीर हो उठा। जीवको चोटके ऊपर चोट खानी पड़ी और उसके भीतर फिर सत्यका प्रकाश होने लगा। सत्यके आलोकमें अपना स्थान निर्णय करनेमें समर्थ होकर साधनामें प्राणपनसे लगकर वह अपने अन्तःपुरकी ओर दौड़ चला। इस बार उसकी बहुत दिनोंकी आशा सफल होनेकी सम्भावना हुई। भगवत्कृपासे स्थूलका नशा उतर गया, उसी समय अध्यात्मराज्यका द्वार खुल गया। साधकका अन्तःकरण तब जितना शुद्ध सत्त्व भावसे पूर्ण होने लगा, उतना ही पर वैराग्यका उदय होने लगा। तब भूल नहीं होती, फिर भी विभीषिका-दर्शनका अन्त नहीं हुआ। इसीसे वह कहीं जाता नहीं, कुछ चाहता नहीं, अपने भीतर आप स्तब्ध रहता है—इसीको सर्वधर्म-संन्यास कहते हैं। यही है सर्वधर्म परित्याग करके हृदयस्थ ईश्वरमें आत्मसमर्पण करना। अब उसके सारे कर्माकर्म तथा उसके समस्त फलाफल निवृत्त हो जाते हैं। इसीको हृदयग्रन्थि-भेद या प्रपञ्चका उपशम कहते हैं। यहाँ ही ईश्वरके साथ जीवका तादात्म्यभावमें मिलन या स्वरूप-केन्द्रके साथ निज केन्द्र (अहङ्कार)का सम्मिलन होता है। जब ईश-शक्तिके साथ जीव-शक्ति मिलकर एक और अभिन्न हो जाती है तब उस शुभ मुहूर्त्तमें साधक सहस्रारमें परव्योममें उत्थित होकर अपने आपको खो देता है। उस शिवशक्तिके सम्मिलन-क्षेत्रमें जीव अपनी

स्वरूपावस्थाको प्राप्त करता है। वह जो था फिर वही बन जाता है। तब सहस्रारमें नील-पीत कमलके ऊपर सर्वशुद्धातीत निराकार परमात्माके साथ एक होकर सोऽहं ब्रह्म या सर्ववेदोंके लिए अगोचर विदेह-भावको प्राप्त होकर ब्रह्मनिरञ्जन-रूपमें जन्म-मृत्युके परे पहुँच जाता है।

इसी समय मायोपहित चैतन्य ईश्वर भी मायातीत होकर अन्तर्हित हो जाता है। प्रकृतिका परिणाम अहङ्कार प्रकृतिके तथा प्रकृति परमात्माके साथ एक हो जाती है। यही अवरुद्ध भाव है। यहाँ आत्मा ही आत्मा है, आत्म-किरणसे उद्दीप्त शुद्ध सत्त्व-भाव भी गुणातीत भावमें पर्यवसित होता है। तब उपास्य-उपासक-सम्बन्ध भी विलुप्त हो जाता है।

निर्मोहमोहपदवीति न मे विकल्पो निःशोकशोकपदवीति न मे विकल्पः।
मनो न बुद्धिर्न शरीरमिन्द्रियं तन्मात्रभूतानि न भूतपञ्चकम्।
अहङ्कृतिश्चापि वियत्स्वरूपकं तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥
न त्वं न मे न महतो न गुरुर्न शिष्यः।
सच्छन्दरूप-सहजं परमार्थतत्त्वं ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥

—अवधूत-गीता।

मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्र या पञ्चमहाभूतसे आत्माका कोई सरोकार नहीं है। वहाँ न 'तुम' है, न 'मैं'। वह महत् रूपमें भी कुछ नहीं है। वहाँ न गुरु हैं, न शिष्य। वह परमार्थतत्त्व सहज और सच्छन्द है अर्थात् किसी प्रयत्नसे जाना नहीं जाता। वह ज्ञानामृत है और समरसपूर्ण आत्मा है। उसकी तुलना एकमात्र गगनसे होती है। मैं उसी गगनके सदृश हूँ।

जीव जब अपने निकेतनकी ओर यात्रा करता है, तभीसे उसके भाव शुद्ध होने लगते हैं। क्रमशः जितना अग्रसर होता है, उतना ही वह शुद्धसे शुद्धतर होता जाता है। इस प्रकार विशुद्धताके उच्च स्तरमें प्रतिष्ठित होने पर उस विशुद्ध सत्त्वके भीतरसे सर्वान्तर्यामी ईश्वरका पता लगता है। तब साधक समझ पाता है कि जो कुछ जगत्में हो रहा है उसकी इच्छासे ही हो रहा है। ईश्वरका आश्रय पाकर जीवके जड़त्वका बन्धन छूट जाता है। काम-क्रोध-राग-द्वेषादि पशुभाव उस समय विगलित हो जाते हैं। साधनाके द्वारा यह जिस प्रकार सम्भव होता है वही यहाँ क्रमपूर्वक लिखा गया है। क्रियाके द्वारा क्रियाकी परावस्थाकी प्राप्ति होती है। उस अवस्थामें रहना ही सन्ध्या है। सम्+ध्या=सन्ध्या अर्थात सम्यक्‌रूपसे धारणा। प्राणके निरोधसे ही यह धारणा होती है—"सुखं यद्वायुधारणम्"। यही स्थिति या अवरुद्ध रूप अथवा क्रियाकी परावस्था है। अभ्यास करते करते सहज ही इस अवरुद्ध भावमें स्थित हो सकते हैं। यही प्रकृत ध्यान-सन्ध्या है, इसमें कुछ भी कायक्लेश नहीं है। ब्रह्मभावसे भावित चित्त इस प्रकार सब भूतोंके साथ मिलकर एक हो जाता है। साधन करते-करते जब सुषुम्नाके भीतर साधकके प्राणकी गति होती है, तब उस साधकको 'एकदण्डी' कहते हैं। उस समय प्राण इड़ा-पिङ्गलाको छोड़कर सुषुम्नामें रहता है। सुषुम्नामें रहते-रहते सुषुम्नाके अतीत अवस्थाको प्राप्त होते ही "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"

साधकके अनुभवका विषय हो जाता है। समुद्रमें हिल्लोलके समान अव्यक्त ब्रह्मसिन्धु आत्मासे प्राण उत्पन्न होता है—'अव्यक्तात् जायते प्राणः'। जैसे पुरुषकी छाया होती है, उसी प्रकार प्राणकी छाया मन है। मनसे इन्द्रिय और शरीर प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार आत्मा स्थूलसे स्थूलतम पिण्डमें परिणत होता है। फिर जब स्थूलसे सूक्ष्ममें जाना होता है, तब उलटा मार्ग पकड़ना पड़ता है। इस प्रकार उलटे मार्ग पर चलते चलते 'मैं' का सङ्कीर्ण बोध दूर होकर 'मैं' के व्यापक भावका बोध होने लगता है। तब स्थूल जाग्रत् आदि भाव भी नहीं रहते। स्थूल बोधसे रहित होनेके बाद सूक्ष्म स्वप्नबोध भी नहीं रहता। उसके बाद सुषुप्तावस्थामें ज्ञानका सब पार्थक्य मिट जाता है, समस्त पृथक् ज्ञान एकीभूत हो जाता है, तब प्रकाशका नानात्व-भाव भी नहीं रहता। "यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, तत्-सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः" अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें जो सुषुप्ति होती है उसमें स्वप्नदर्शन नहीं होता, मन वहाँ एकाग्र होकर निरोधाभिमुखी हो जाता है, अतएव सङ्कल्पकी तरंगें न उठनेके कारण मन भी नहीं होता। सुषुप्तिस्थानमें रहते-रहते स्वयं ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है, सारे दृश्य प्रपञ्च तिरोहित हो जाते हैं और एक ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रहता है। इसी अवस्थाको लक्ष्य करके माण्डूक्योपनिषद्ने कहा है—"एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।" यही सर्वेश्वर अथवा सर्व जगत्का ईश्वर या शासनकर्त्ता है, यही सर्वज्ञ है, यही अन्तर्यामी है, यही सबकी योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान है, यही चराचर जगत्की उत्पत्ति और प्रलयका कारण है।

क्रियाके द्वारा जब यह प्रज्ञानघन अवस्था प्राप्त होती है, तब उस अवस्थामें साधक सब कुछ जान सकता है। क्रिया-द्वारा क्रियाके फलस्वरूप पहले स्थैर्य आकर उपस्थित होता है, अधिक क्षण तक रहनेवाली घण्टा-ध्वनि सुन पड़ती है। वह घण्टा-ध्वनि अधिक काल तक स्थायी होनेपर स्थैर्यभावकी वृद्धि होती है और उस परमानन्दका भोग करते-करते साधक आनन्दमय हो जाता है। यहाँ ही साधक ब्रह्मके तृतीय पादके साथ परिचित होकर समझ पाता है कि 'प्रज्ञानं ब्रह्म' क्या वस्तु है। इस अवस्थाको प्राप्त साधक प्राज्ञ कहलाता है। पश्चात् हृदयग्रन्थि भेद करनेपर 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' भावका बोध होता है। वहाँ मन और इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ ब्रह्मलीन हो जाती हैं। प्राणायामादि साधनके द्वारा यह निरोधशक्ति बढ़ती है। प्राणनिरोध होनेपर मन अपने आप निरुद्ध हो जाता है। मन प्राणकी ही छाया है। वाम नाड़ी इड़ा और दक्षिण नाड़ी पिङ्गला ही चन्द्र-सूर्य नामसे अभिहित होती हैं। प्राण-चेष्टा जब इन दोनों मार्गोंका त्याग करती है, तभी साम्यावस्था प्राप्त होती है। तब यह समझना चाहिए कि सुषुम्नामें स्थिति हो गयी है। चित्त भी तब इधर उधर नहीं दौड़ता। प्राण जब सुषुम्नामें प्रवेश करके स्थिर होता है तब रागद्वेषादि पशुधर्म नहीं रहते। आगे इस अध्यायमें श्रीभगवान् सर्वधर्म-त्यागका उपदेश देते हैं, क्योंकि साधकको इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नाके परे जाना पड़ेगा। इस अवस्थाको ही "अमावस्या" कहते हैं। अमावस्यामें ही जगन्माता महाकालीकी पूजा प्रशस्त

है। जब सूर्यके साथ चन्द्र एक राशिमें एकत्र वास करता है, तभी अमावस्या होती है—"अमा सह वसतः चन्द्राकौं अत्र"। सूर्य प्राण है तथा चन्द्र मन है। इन दोनों नाड़ियोंमें जब प्राण प्रवाहित होता है तभी जीवभाव या बद्धभाव होता है। चन्द्र मन और सूर्य प्राण—ये दोनों जबतक पृथक् रहते हैं, तबतक देहात्मबोध नष्ट नहीं होता। जब चन्द्रनाड़ीस्थ शक्ति (इड़ा) सूर्यनाड़ीस्थ शक्ति (पिङ्गला) के साथ मिल जाती है अर्थात् जब मन और प्राण एक हो जाते हैं, तब सृष्टि-क्रिया निरुद्ध हो जाती है—इसीका नाम प्रलय है। यह शिवशक्ति-सम्मिलित अवस्था ही अमावस्याकी कालीपूजा या साधककी चिदाकाशमें स्थिति है। ऐसी स्थिति होनेपर वह स्वयं आनन्दरूप होकर परमानन्द समरस-सिन्धुमें निमज्जित होता है। यही है परमगुरुकी निज-शक्तिके साथ संयुक्त होना। यही पञ्चमकारका मैथुनतत्त्व है। इस मिथुनभावसे ही परम शिवके साम्यरससे उद्भूत अमृतके द्वारा जीवशक्ति परिप्लुता होकर शक्ति शिवके साथ एक हो जाती है। तब फिर सृष्टिक्रिया नहीं रहती। यही राधाकृष्णका युगल-मिलन है। इस मिलनरसका अनुभव करनेके लिए ही वैष्णव लोग श्रीराधिकाके अनुगामी होकर साधना करते हैं। सारी इन्द्रियशक्तियाँ अन्तर्मुखी होकर जब अलक्ष्यके देशमें गमन करती हैं, तभी गोपाङ्गनारूपी इन्द्रियाँ कृष्णाभिसारमें प्रवृत्त होती हैं। इस अभिसारकी पूर्णतामें ही जीवनकी वास्तविक परिसमाप्ति होती है। यही असीमके साथ ससीमका मिलन है ॥१७॥

(कर्मका प्रवर्त्तक और क्रियाका आश्रय)

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

अन्वय—ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता (ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता) त्रिविधा कर्मचोदना (कर्मप्रवृत्तिके ये तीन प्रकारके हेतु हैं), करणं कर्म कर्त्ता (करण, कर्म और कर्त्ता) इति त्रिविधः कर्मसंग्रहः (तीन कर्मसंग्रह या क्रियाके आश्रय हैं) ॥१८॥

श्रीधर—"हत्वापि न हन्ति न निबध्यते" इति एतदेव उपपादयितुं कर्मचोदनायाः कर्माश्रयस्य च कर्मफलादीनां च त्रिगुणात्मकत्वात् निर्गुणस्य आत्मनः तत्सम्बन्धो नास्ति इत्यभिप्रायेण कर्मचोदनां कर्माश्रयञ्चाह—ज्ञानमिति। ज्ञानम्—इष्टसाधनमेतत् इति बोधः। ज्ञेयम्—इष्टसाधनं कर्म। परिज्ञाता—एवम्भूतज्ञानाश्रयः। एवं त्रिविधा कर्मचोदना। चोद्यते प्रवर्त्त्यते अनया इति चोदना—ज्ञानादित्रितयं कर्मप्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः। यद्वा चोदनेति विधिः उच्यते। तदुक्तं भट्टैः—"चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः" इति।

ततश्चायमर्थः—उक्तलक्षणं त्रिगुणात्मकं ज्ञानादित्रयं अवलम्ब्य कर्मविधिः प्रवर्त्तते इति। तदुक्तं—"त्रैगुण्यविषया वेदाः" इति। तथा च करणं—साधकतमम्। कर्म च कर्त्तुरीप्सिततमम्। कर्त्ता—क्रियानिर्वर्त्तकः। कर्म संगृह्यते अस्मिन् इति—कर्मसंग्रहः। करणादि त्रिविधं कारकं क्रियाश्रय इत्यर्थः। सम्प्रदानादिकारकत्रयन्तु परम्परया क्रियाप्रवर्त्तकमेव केवलं, न तु साक्षात् क्रियाया आश्रयः। अतः करणादित्रयमेव क्रियाश्रय इत्युक्तम् ॥१८॥

अनुवाद—[कर्ममें जिसका कर्तृत्वाभिमान नहीं है तथा जिसकी बुद्धि कर्ममें लिप्त नहीं होती उसको बन्धन नहीं होता। वह किसीको विनष्ट करके भी विनष्ट नहीं करता और बन्धनको भी प्राप्त नहीं होता। इस पूर्वोक्त विषयका प्रमाण दे रहे हैं कि कर्मप्रवृत्ति, कर्माश्रय और कर्मफलादिकी त्रिगुणात्मकताके कारण निर्गुण आत्माके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी अभिप्रायसे यह बतला रहे हैं कि कर्मप्रवृत्ति और कर्माश्रय क्या हैं]—(१) ज्ञान—'यह इष्ट-साधक है', इस प्रकारका बोध। (२) ज्ञेय—इष्टसाधन कर्म ही ज्ञेय है। (३) परिज्ञाता—ज्ञानका जो आश्रय है, वही परिज्ञाता है। ये तीन ही कर्म-प्रवृत्तिके हेतु हैं।

इससे यह अर्थ हुआ कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त त्रिगुणात्मक ज्ञानादित्रयका अवलम्बन करके कर्मविधि प्रवर्त्तित होती है। द्वितीय अध्यायमें भी कहा गया है कि 'त्रिगुणान्वित सकाम पुरुषोंके लिए वेदने कर्मफलका प्रतिपादन किया है' इत्यादि। 'करण'—क्रिया-साधक। 'कर्म'—कर्त्ताका ईप्सिततम अर्थात् अतिशय अभिलषित। 'कर्त्ता'—क्रियानिर्वर्त्तक या सम्पादक। 'कर्मसंग्रह'—क्रिया सम्यक्रूपसे इसमें संगृहीत होती है, अतएव करणादि त्रिविध कारक ही क्रियाश्रय हैं। सम्प्रदानादि तीन कारक साक्षात्रूपसे क्रिया-निर्वर्त्तक नहीं हैं, केवल परम्परारूपसे क्रिया-प्रवर्त्तकमात्र हैं। इसलिए करणादित्रयको ही क्रियाश्रय कहते हैं ॥१८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—(१) जानना—(२) जाननेकी वस्तु ब्रह्म—(३) और जो जानेगा, यह आत्मा—ये ही तीन कर्म कथित हुए हैं अर्थात् क्रिया करके कूटस्थ•ब्रह्मका ज्ञान—अपने ही होना अर्थात् क्रियाकी परावस्था ही हुआ कर्म। करण माने क्रिया करना, कर्म क्रिया करके कूटस्थ ब्रह्ममें जाना, इस आत्माको जो कर्त्तारूपमें मानते हैं।—क्रियाकी परावस्थामें 'मैं' नहीं, 'तुम' नहीं, 'क्रिया' नहीं, अतएव 'कर्त्ता' भी नहीं। परन्तु व्यावहारिक अवस्थामें कर्म है, अतएव उसका कर्त्ता भी है। वह कर्ता आत्मा ही है। आत्माके न रहनेपर कुछ भी नहीं होता। आत्माके कर्त्ता होनेपर भी कर्मका लेप उसमें नहीं लगता। अतएव मानना पड़ेगा कि कर्मके साथ आत्माका सम्पर्क नहीं है। तब फिर कर्मोंका प्रवर्त्तक किसको माना जाय? अतएव ज्ञान (जिसके द्वारा विषय प्रकाशित होते हैं), ज्ञेय (जो कुछ ज्ञातव्य है), परिज्ञाता (बुद्धिरूप उपाधिके द्वारा विशेषित अविद्याकल्पित भोक्ता)—ये तीनों सामान्य भावसे सब कर्मोंके प्रवर्त्तक हैं। ज्ञान, ज्ञेय, परिज्ञाता इन तीनोंके संयोगसे कर्मका आरम्भ होता है। ये ही कर्मके प्रवर्त्तक हैं तथा कर्त्ता, कर्म और करण ये ही क्रियाके आश्रय हैं।

मान लो, मैं योगतत्त्व जानना चाहता हूँ और योगाभ्यास करना चाहता हूँ। ऐसी अवस्थामें पहले मुझे यह जानना चाहिए कि योग विषय क्या है, योग कितने प्रकारके हैं और कौन पद्धति मेरे लिए अवलम्बनीय है। इसके सम्बन्धमें साधु लोग और शास्त्र क्या कहते हैं इसकी भी धारणा होनी चाहिए, नहीं तो योगके नामसे अन्य कुछ अभ्यास होने लगेगा। योग-सम्बन्धी आवश्यकताको समझना ही ज्ञान है। योगमार्ग या योगक्रिया ज्ञेय वस्तु है। उसकी

साधना किस प्रकार है, यह मुझको ज्ञात नहीं। इसको गुरुके समीप जाकर सीखना पड़ेगा। अतएव साधन-मार्ग और क्रियाके फल आदि 'ज्ञेय' वस्तु हुए। इनको जाने बिना क्रियामें उत्साह न आयेगा। ज्ञेय वस्तुके सम्बन्धमें जिसको ज्ञान है, वही उसका परिज्ञाता है। क्रियाके परिज्ञाताके बिना क्रियाका उपदेश कौन देगा। जब मैंने उपदेश प्राप्त कर लिया, तो मैं भी क्रियाका ज्ञाता हो गया। यह ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ही कर्मके प्रेरक हैं। इनसे ही क्रिया करनेके लिए प्रेरणा मिलती है। इसके पश्चात् कर्त्ता, कर्म और करण ये कर्मसंग्रह या क्रियाके आश्रय हैं। इन तीन वस्तुओंसे ही सब कर्म एकत्रित होते हैं, इसीलिए इन तीनोंको कर्मसंग्रह या क्रियाका आश्रय कहते हैं। क्रिया जिसके द्वारा होगी, उसके सम्बन्धमें भी ज्ञान होना आवश्यक है। हमारी बुद्धि इतनी तमसाच्छन्न है कि गुरुने तो कृपा करके क्रिया दे दी है, अब क्रिया करा देना भी उन्हींको पड़ेगा। हम इतने आलसी हैं और अनित्य वस्तुमें इतने मुग्ध हैं कि हमको शिशुके समान कान पकड़कर पाठमें बैठाना पड़ेगा और पाठ कण्ठस्थ करा देना होगा। इसका कारण और कुछ नहीं है, हम क्रिया करनेकी आवश्यकता तक हृदयङ्गम नहीं कर पाते। अपने शरीरको या पुत्रको रोग पकड़े तो हम औषधका सेवन करेंगे, डाक्टरको बुलायेंगे, परन्तु इस भवव्याधिके प्रतीकारके लिए औषध-निर्वाचन, औषधका प्रयोग—सब कुछ गुरु ही करेंगे! कहीं गुरुमें वैसी श्रद्धा-बुद्धि भी होती! यह सब तो अज्ञान और मोह है। यह पूर्ण तामसिकताका फल है। ज्ञान-ज्ञेय-परिज्ञाता-द्वारा क्रियाकी प्रयोजनशीलता समझ लिया, क्रियाका फल कैसा होगा यह भी जान लिया, और जिसे क्रिया करनी है वह परिज्ञाता मैं हूँ यह भी जान लिया। ये तीनों साधनकर्ममें मुझको लगायेंगे। साधनाकी प्रयोजनशीलता जब ठीक हो गयी, तब साधन किस किसके ऊपर निर्भर करके सम्पन्न होगा, इसके सम्बन्धमें भी ज्ञान होना आवश्यक है। (१) करण—जिनके द्वारा क्रिया साधित होती है, वे हैं ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राण। इनकी सहायतासे क्रिया निष्पन्न होगी। (२) कर्त्ताके अभिलषित प्राणायामादि योग-क्रियाएँ कर्म हैं और (३) जो क्रिया करेगा—अन्तःकरण या अहं-अभिमानी जीव—वही कर्त्ता है। इन तीनोंके ऊपर क्रिया निर्भर करती है, इसलिए ये तीन क्रियाके आश्रय हैं। क्रियाकी प्रयोजनशीलताका ज्ञान और क्रिया कैसे करनी पड़ती है, इस सम्बन्धमें ज्ञान न होने पर जैसे क्रिया नहीं होती, वैसे ही क्रियाका आश्रय न रहने पर या आश्रयोंके दोषयुक्त होने पर क्रिया-साधन होनेकी सम्भावना नहीं है। क्रियाका ज्ञाता और क्रिया करने वाला कर्त्ता दोनों एक ही व्यक्ति है। यही है 'अहं'के साथ तादात्म्ययुक्त अन्तःकरण, मनोबुद्धि या अहं-अभिमानी जीव। संक्षेपमें फिर कहता हूँ—(१) जिसको जानना है उसके सम्बन्धमें ज्ञान या धारणा, उसको जाननेकी आवश्यकताकी उपलब्धि, (२) जो जाननेकी वस्तु है वह है स्थिर प्राण या ब्रह्म और (३) जो जानेगा वह है चञ्चल आत्मा, विषयविमूढ़ आत्मा या जीव। यही प्रकृत 'अहं' या 'मैं' के साथ तादात्म्ययुक्त है। इस प्रकार क्रियाके आश्रय तीन हैं—(१) जो क्रिया करेगा, (२) जिन सब इन्द्रिय-मनः-प्राणादि यन्त्रों द्वारा क्रिया

करनी होगी, (३) क्रिया—जिसके द्वारा कूटस्थ ब्रह्ममें पहुँचा जाता है। असल कर्त्ता यही कूटस्थ ब्रह्म है! इस कूटस्थके बिना कुछ नहीं होता। उसका साक्षात् योग न रहने पर भी असल कर्त्ता वही है।

आत्माको ही ज्ञेय कहा है। आत्मा ही जाननेकी वस्तु है, वह नित्य सर्वव्यापक चैतन्य-स्वरूप है। चञ्चलताके कारण ही अपने आपमें न रहनेके कारण अचैतन्य जीवभाव है इसी कारण हम क्या हैं, यह नहीं जानते। अतएव निजबोध नहीं होता। दूसरी ओर मन देनेसे आत्मा अचैतन्य होता है। क्रियाकी परावस्थामें रहना ही चैतन्य है। जीव अपना स्वरूप तभी समझ पाता है, जब क्रियाकी परावस्थामें रहता है। उसीको परमात्मा कहते हैं। क्रिया करते करते योनिमुद्रामें मणिके अणुके समान ब्रह्म-अणु कूटस्थके भीतर प्रकाशित होता है। इस अणुका परिमाण दृष्ट होनेके कारण वह ब्रह्म कैसे होगा, इसमें सन्देह होता है। परिमाण होने पर आकार हो गया, परन्तु ब्रह्म निराकार है। जबतक सब है, तबतक सबके भीतर उसका प्रवेश भी है। इस अणु-स्वरूपमें ब्रह्म सर्वव्यापक है, सर्वत्र और सबके भीतर है। योगशिखोपनिषदमें लिखा है—

द्वितीयं सुषुम्नाद्वारं परिशुद्धं विसर्पितम्।
कपालसंपुटं भित्वा न तु पश्यन्ति तत्परम्॥

मेरुदण्डके भीतर सुषुम्नाके अतिसूक्ष्म द्वारमें विस्तार रूपसे गमन होने पर मन परिशुद्ध अर्थात तृप्त होता है। उस समय कपालमें दण्डवत् भार जान पड़ता है। उसके बाद वायुके द्वारा भेद होने पर फिर कुछ दीख नहीं पड़ता, क्योंकि उस समय सारी इन्द्रियाँ और मन आत्माके साथ मिलकर ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं और "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" हो जाता है। अर्थात जाननेकी जो वस्तु है वही हो जाता है। तब फिर स्वयं नहीं रहता, अतएव ब्रह्मपद प्राप्त होता है। तब ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं रहता। योगशिखोपनिषद्में लिखा है—

आदित्यमण्डलं दिव्यं रश्मिजालसमाकुलम्।
तस्य मध्यगतो वह्निः प्रकाले दीपवर्त्तिवत्॥

कूटस्थके भीतर सुन्दर ज्योतिविशिष्ट आकाशका मण्डल है। उस आकाश-मण्डलमें चारों ओर दीपककी बत्तीके समान प्रकाश जल रहा है। उसके ही भीतर त्रिलोक हैं। वह समस्त त्रिलोक ब्रह्ममय है तथा त्रिलोक-स्थित चराचर और जितने कर्म हैं सभी ब्रह्म हैं।

योनिमुद्रामें श्वेतद्वीप-निवासी परव्योमस्वरूप ब्रह्ममें अग्निशिखा देखनेमें जो समय लगता है, परमेश्वर पुरुषोत्तमको देखनेमें भी वही समय लगता है। योगी लोग इसी प्रकार सूर्य—कूटस्थ ब्रह्मको भेद करके योगाभ्यासकी धारणाके द्वारा पुरुषोत्तमका ज्ञान प्राप्त करते हैं। "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" यह आदित्यान्तर्गत पुरुष ही 'मैं' हूँ। जब मैं ही वह एक पुरुष ब्रह्माण्ड-व्यापक ब्रह्मस्वरूप होता हूँ, तभी "सर्वं ब्रह्ममयं" होता है। समस्त ब्रह्मस्वरूप होने पर फिर अपने आप भी नहीं रहता।

"क्रिया करते करते क्रियाकी परावस्थामें रहना प्रथम क्रिया है। इसी प्रकार रहते हुए सर्वदा ध्यान करने पर ब्रह्मपदको पाता है। मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र तक सुषुम्नाका एक टान रहता है, यह द्वितीय मात्रा है, इसको विष्णुदैवत कहते हैं। योनिमुद्रामें अधिक क्षण स्थिति होने पर कृष्णवर्ण कूटस्थके भीतर सब देवताओंके साथ साक्षात्कार होता है, पुरुषोत्तम जो नित्य पुराण पुरुष हैं उनका भी दर्शन होता है। यही वैष्णव पद है अर्थात् लिङ्गमूलसे मस्तक पर्यन्त वायु स्थिर रहती है। पुनः जो ईशान देवता हैं अर्थात् ॐकार-क्रिया द्वारा जब सब जाना जाता है तो वही तृतीय मात्रा अर्थात् ब्रह्म, अधिपति और ईश्वर है। सब भूतोंके भीतर होनेके कारण सब ज्ञात होता है। तब भस्मके समान वर्ण देखा जाता है। इस प्रकार ध्यान करते करते नाभिसे मस्तक पर्यन्त वायुका टान रहेगा। इस ध्यानसे ईशान-पद प्राप्त होगा। अर्थात् कूटस्थके भीतर बिन्दु अथवा बाह्य बिन्दुमें (जो भ्रू के सामने देखा जाता है) रहोगे। वह बिना इच्छा—अनिच्छाकी इच्छा—जो बोधगम्य नहीं है, केवल उनकी महिमा है—उसके द्वारा सब जान सकोगे। और जो अर्द्ध मात्रा या चतुर्थ मात्रा है—उस समय हृदयमें ब्रह्मकी स्थिति अनुभव होती है, जहाँ सब देवताओंका तेजोमय रूप देखा जाता है, आकाशमें विचरण करता है, शुद्ध स्फटिकके समान वर्ण देखा जाता है, उसीका सर्वदा ध्यान करे। गगन-मण्डलमें यह ध्यान नित्य करते-करते सहस्रदलपद्म नामक निधि प्राप्त होती है। अर्थात् सर्वव्यापी ब्रह्म आत्मस्वरूप है, उसके परे और कुछ नहीं है।"—(लाहिड़ी महाशयकृत वेदान्तदर्शनकी व्याख्या अ० २।३)

उपर्युक्त विषयका सार यह है—

(१) प्रथम कार्य है क्रिया करना। (२) क्रिया द्वारा क्रियाकी परावस्थाकी प्राप्ति। यही ज्ञेय या ब्रह्मवस्तु है। क्रियाकी परावस्थामें ही ब्रह्मविज्ञान होता है। (३) क्रियाकी परावस्थामें रहते-रहते जो ध्यानावस्था होती है, उसके द्वारा ब्रह्मपद प्राप्त होता है। तब सुषुम्नाके भीतर मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त एक टान अनुभव होता है। यही प्रणवकी प्रथम मात्रा है। (४) योनिमुद्रामें कृष्णवर्ण कूटस्थके भीतर समस्त देवताओंका साक्षात्कार होता है, पश्चात् पुरुषोत्तमका दर्शन होता है। यही विष्णुपद है। उस समय लिङ्गमूलसे मस्तक पर्यन्त वायु स्थिर हो जाती है। यही प्रणवकी द्वितीय मात्रा है। (५) ॐकार-क्रियाके द्वारा जब नाभिसे मस्तक पर्यन्त टान होता है तब जो एक अपूर्व अवस्था प्राप्त होती है, वही प्रणवकी तृतीय मात्रा है। तब सर्वभूतस्थित ईश्वर जाना जाता है। यही ईश्वर-दर्शन है। ईश्वर सर्वभूतस्थ हैं अतएव साधक भी तब सबके अन्तरमें प्रवेश कर सकता है। वह तब सबकी सब बातें जान सकता है। उस समय मन कूटस्थके भीतर बिन्दुसे सदा लगा रहता है और सवदा बिन्दु-दर्शन होता है। (६) हृदयमें जब ब्रह्मकी स्थिति अनुभव होती है, तब वही प्रणवकी चतुर्थ मात्रा होती है। तब आकाशमें समस्त देवताओंका तेजोमय रूप दीख पड़ता है। शुद्ध स्फटिकके समान वर्ण देखा जाता है। वही शिवरूप है। वही ध्यान करते-करते सहस्रदल कमलमें स्थिति अनुभव होती है। तब एक आत्मा ही परब्रह्मस्वरूप और सर्वव्यापी है, यह अनुभव-पद प्राप्त होता है ॥१८॥

(सांख्यमतसे सब वस्तुएँ त्रिगुणात्मक हैं और आत्मा निर्गुण है।)

ज्ञान, कर्म और कर्त्ताके त्रिविध रूप।

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१६॥

अन्वय—गुणसंख्याने (सांख्यशास्त्रमें) ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च (ज्ञान, कर्म और कर्त्ता) गुणभेदतः (सत्त्वादि-गुणभेदसे) त्रिधा एव (तीन प्रकारके ही) प्रोच्यते (कहलाते हैं) तानि अपि (उनको भी) यथावत् शृणु (यथायथ भावसे सुनो) ॥१६॥

श्रीधर—ततः किम् ? अत आह—ज्ञानं कर्म चेति। गुणाः सम्यक् कार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपद्यन्ते अस्मिन् इति गुणसंख्यानं—सांख्यशास्त्रम्। तस्मिन् ज्ञानञ्च कर्म च कर्त्ता च प्रत्येकं सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिधैव उच्यते। तान्यपि ज्ञानादीनि वक्ष्यमाणानि यथावत् शृणु। त्रिधैवेति एवकारो गुणत्रयोपाधिव्यतिरेकेण आत्मनः स्वतः कर्मादि-प्रतिषेधार्थः। चतुर्दशाध्याये "तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्" इत्यादिना गुणानां बन्धकत्वप्रकारो निरूपितः। सप्तदशाध्याये "यजन्ते सात्त्विका देवान्" इत्यादिना गुणकृत-त्रिविधस्वभावनिरूपणेन रजस्तमःस्वभावं परित्यज्य सात्त्विकाहारादि-सेवया सात्त्विकस्वभावः सम्पादनीय इत्युक्तम्। इह तु क्रियाकारकफलादीनाम् आत्मसम्बन्धो नास्तीति दर्शयितुं सर्वेषां त्रिगुणात्मकत्वम् उच्यत इति विशेषो ज्ञातव्यः ॥१६॥

अनुवाद—गुणसंख्याने' अर्थात् सांख्य-शास्त्रमें ज्ञान, कर्म और कर्त्ता ये तीनों सत्त्वादि-गुणभेदसे तीन प्रकारके हैं, ऐसा कहा गया है। वही ज्ञानादिका विषय कह रहा हूँ, इसे यथायथ भावसे सुनो। चतुर्दश अध्यायमें "तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्" इत्यादिके द्वारा सत्त्वादिगुणत्रयका बन्धकत्व निरूपित हुआ है तथा सप्तदश अध्यायमें "यजन्ते सात्त्विका देवान्" श्लोकोंमें गुणकृत त्रिविध स्वभावके निरूपणके द्वारा रजः और तमः स्वभावको त्यागकर सात्त्विक आहार आदिका सेवन करते हुए सात्त्विक स्वभाव सम्पादन करनेको कर्त्तव्य बतलाया है। अब क्रिया, कारक और फल आदिके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है यह दिखलानेके लिए सब वस्तुओंकी त्रिगुणात्मकता कह रहे हैं।

[आचार्य शङ्करने कहा है—"परमार्थब्रह्मैकत्वविषये यद्यपि विरुध्यते, तदपि गुणभोक्तृविषये प्रमाणमेव।" परमार्थ ब्रह्मैकत्व-विषयमें सांख्यशास्त्रका विरुद्ध मत होने पर भी गुण और गुणभोक्ताका स्वरूपनिर्णय करनेके विषयमें यही शास्त्र प्रमाण है।] ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ज्ञान, कर्म, कर्त्ता—तीन प्रकारके तीनों गुणोंमें होते हैं, उनके सब गुण जिस जिस प्रकारके होते हैं उनको बतलाता हूँ।—आत्माके अकर्त्ता होने पर भी गुणभेदसे ज्ञान, कर्म और कर्त्ताकी त्रिविध अवस्था होती है। यह कर्त्ता और ज्ञेय वस्तु (आत्मा) एक ही वस्तु नहीं हैं। क्रियाके बिना कारकत्वक सम्भावना नहीं रहती, परन्तु जो गुणातीत है उसमें फिर क्रियाकी सम्भावना नहीं है। अतएव यह कर्त्ता गुणातीत नहीं, बल्कि त्रिगुणयुक्त

है। बुद्धि-प्रतिबिम्बित चैतन्य या आभास-चैतन्य ही सब वस्तुओंका ज्ञाता है। साधनके द्वारा यह आभास-चैतन्य जब शुद्ध हो जाता है, तब वह भी अकर्त्ता हो जाता है। जहाँ दृश्य वस्तु है वहाँ उसका द्रष्टा भी होगा। परन्तु जब दृश्य वस्तुका अभाव है तो द्रष्टृत्वभाव भी नहीं रहेगा। चित्तस्पन्दनके कारण ही नाना प्रकारकी वस्तुओंकी कल्पना होती है। प्राणस्पन्दनके बिना चित्तस्पन्दन नहीं होता, अतएव नाना प्रकारकी दृश्य वस्तुएँ प्राणके विविध स्पन्दनके सिवा और कुछ नहीं हैं। प्राण जब निःस्पन्दित होता है तो उसका नाना वस्तुरूप परिणाम भी क्षीण हो जाता है। इस प्रकार जब चित्तस्पन्दन क्षीणताको प्राप्त होता है तब उसका भोक्तृभाव भी विलुप्त हो जाता है। यही द्रष्टाका स्वस्वरूपमें अवस्थान है। वृत्तिकी सम्यक् निरुद्धावस्थाके द्वारा ही यह सिद्ध होता है। इस अवस्थाको ही कैवल्यावस्था कहते हैं। तब बुद्धिका अभावप्रयुक्त बुद्धि-बोधात्मक भाव भी नहीं रहता। परन्तु व्युत्थित अवस्थामें "वृत्तिसारूप्यमितरत्र" अर्थात् पुरुष मानो बुद्धि-वृत्तिके साथ अभिन्नभावमें प्रतीत होता है। दर्पणके रहनेपर ही जैसे उसके सम्मुखस्थ वस्तुका प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है, उसी प्रकार बुद्धिरूप दर्पणके रहनेपर प्रतिबिम्बका दीख पड़ना दूर नहीं होता। द्रष्टा पुरुष ही चैतन्यस्वरूप है। यही द्रष्टा ज्ञाता है, यही दृश्य या ज्ञेय वस्तु भी है। द्रष्टृ-चैतन्यके द्वारा चेतनयुक्त होकर बुद्धि विषयोंको प्रकाशित करती है। अतएव द्रष्टा पुरुष या बुद्धिप्रतिबिम्बित चैतन्य ही ज्ञाता पुरुष है तथा विषयसमूह ज्ञेय हैं। इन्द्रिययुक्त चित्त है विषयज्ञानका करण या दर्शनशक्ति। चित्तके साथ मिलकर ही आत्माका भोक्तृत्व-भाव होता है। यह भोक्तृत्व-भाव अस्मिता नामक अभिमानसे उत्पन्न होता है। चित्तमें जो विषयका ज्ञान होता है वह अभिमानका ही एक प्रकार-विशेष है। द्रष्टा पुरुषके सन्निकर्षसे बुद्धिमें विषय प्रकाशित होते हैं, इसी कारण बुद्धिवृत्तिके साथ पुरुष मानो अभिन्नभावसे अवस्थित जान पड़ता है। इसीलिए विषयके साथ पुरुषका भी सारूप्य प्रतीत होता है। निरुद्ध अवस्थामें जैसे उसका स्वरूपमें अवस्थान होता है, उसी प्रकार व्युत्थित दशामें विषयरूपमें वही प्रतीत होता है। इस कारण ज्ञेय विषय ज्ञाता पुरुषसे अभिन्न है। दृश्यके न रहने पर जैसे द्रष्टा नहीं रहता, द्रष्टाके न रहने पर उसी प्रकार दृश्य भी नहीं रहते। सत्तावान् वस्तुएँ कर्तृ-निरपेक्ष होने पर अस्तित्वमें नहीं रह सकतीं। वस्तुकी सत्ता द्रष्टाकी सत्ताके ऊपर निर्भर करती है। अतएव वस्तुकी सत्ता भी द्रष्टा पुरुषसे विभिन्न नहीं हो सकती। आत्माका इस प्रकार नाना रूपोंमें प्रकट होना ही उसकी माया या लीला है। वास्तविक द्रष्टा और 'मैं' एक ही वस्तु है, बीचमें 'मन' आकर समस्त वस्तुओंको दुर्ज्ञेय बना डालता है। इसी कारण दृश्य वस्तुको देखकर मूढ़ जीव भीत और कम्पित-चित्त होकर कहता है—"हे आविः, हे प्रकाशस्वरूप, तुम मेरी बुद्धिमें प्रकाशित हो। माँ, तुम तो प्रत्येक जीव-हृदयमें बुद्धिरूपमें अवस्थित हो। इस बुद्धिके द्वारा ही तुम वस्तु-मात्रको स्वतन्त्ररूपसे प्रकाशित करके मुझको विक्षिप्त कर रही हो। तुम्हारे इन नाना रूपोंको देखकर भय लग रहा है। एकवार तुम स्वस्वरूपमें अवस्थान करके निज भावमें प्रतिष्ठित हो जाओ। तुम्हीं मैं हूँ और मैं ही समस्त दृश्यरूपमें प्रस्फुटित हो

उठता हूँ। तुम्हारी कृपासे मेरी दर्शन-शक्ति प्रस्फुटित हो। तभी नानात्वके खेलसे मुग्ध नहीं होना पड़ेगा।"

साधक! इस प्रकार शरणागत भावमें प्राणमयी अभया चित्-शक्तिसे आत्म-निवेदन करो, तभी तुम उसके साथ योगयुक्त हो सकोगे। यह बाह्य जगत् तुम्हारा ही रूप है, तुम्हारे आत्माका ही प्रकाश है—इसे तुम जान सकोगे। तब इस बाह्य दृश्यको देखकर भय न लगेगा

जिस लीलामयीकी लीला 'तुम' 'मैं' तथा बाह्य 'जगत्'के रूपमें प्रकाशित हो रही है, वह उसीके गुणका खेल है। सत्त्वादि-भेदसे इस गुणके कितने प्रकार होते हैं यही भगवान् आगे कहेंगे ॥१९॥

(एकात्म-ज्ञान ही सात्त्विक ज्ञान है)

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

अन्वय—येन (जिस ज्ञानके द्वारा) विभक्तेषु (विभिन्न भावोंमें प्रतीयमान) सर्वभूतेषु (सब भूतोंमें) अविभक्तं (अविभक्त भावमें स्थित) एकं अव्ययं भावं (एक अव्यय नित्य वस्तुरूपमें) ईक्षते (दृष्ट होता है) तत् ज्ञानं (वह ज्ञान) सात्त्विकं विद्धि (सात्त्विक जानो) ॥२०॥

श्रीधर—तत्र ज्ञानस्य सात्त्विकादित्रैविध्यमाह—सर्वभूतेषु इति-त्रिभिः। सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु, विभक्तेषु—परस्परं व्यावृत्तेषु अविभक्तं अनुस्यूतम् एकम् अव्ययं निर्विकारं भावं—परमात्मतत्त्वं, येन ज्ञानेन ईक्षते आलोचयति तत् ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ॥२०॥

अनुवाद—[तीन श्लोकोंमें सात्त्विकादि त्रिविध ज्ञानके बारेमें कहते हैं]—ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त परस्पर व्यावृत्त (खण्डित-से प्रतीयमान) भूतोंमें एक अविभक्त निर्विकार परमात्मतत्त्व जिस ज्ञानके द्वारा आलोचित और दृष्ट होता है, उस ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान समझो ॥२०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रिया करके सब भूतोंमें एक कूटस्थ ब्रह्म अव्यय अविनाशीको जो देखता है—भिन्न भिन्नमें भी एक करके देखता है, और भिन्न भिन्न सब जीव ब्रह्मस्वरूप हैं ऐसा सर्वत्र देखता है—इसीका नाम सात्त्विक ज्ञान है अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें यही ज्ञान होता है।—देश, काल और वस्तुके द्वारा विभिन्न भूतोंमें परिच्छिन्नरूपसे जो सत्ता दृष्ट होती है, वह एक, अखण्ड और निर्विकार है—इस प्रकारकी एक अद्वितीय परमात्म-सत्ता जिस ज्ञानके द्वारा आलोचित होती है, वही सात्त्विक ज्ञान है। इसीका नाम सम्यक् दर्शन है। आपाततः हमको जो ज्ञान होता है उसमें वस्तुएँ विभिन्न रूपोंमें प्रतीत होती हैं, परन्तु उन सब असंख्य विभिन्न वस्तुओंमें एक अविभक्त चिद्वस्तु है। वह सर्वदा द्वैत-विवर्जित है। इस अद्वितीय तत्त्व-वस्तुकी जिस ज्ञानके द्वारा उपलब्धि की जाती है वही सात्त्विक ज्ञान है। हमारी विभिन्न इन्द्रियोंकी विभिन्न शक्तियाँ बहिर्मुखी होकर सब वस्तुओंके पृथक्-पृथक् भावोंको उपलब्ध करती हैं।

इस परम ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए उनकी उन विभिन्न शक्तियोंको सम्पिण्डित करके एकमुखी करना होगा। इस प्रकार इन्द्रियोंके एकीकरणके द्वारा सत्तासामान्य-भाव प्रस्फुटित होगा। हमारे मन और प्राण चञ्चल हैं, इसी कारण इन्द्रियोंकी बहिर्मुख वृत्तियाँ निवृत्त नहीं की जा सकतीं, अतएव नानात्वका ज्ञान भी निवृत्त नहीं होता। नानात्वके ज्ञानको दूर करनेके लिए सबसे पहले मनके लय-विक्षेप-भावको दूर करना आवश्यक है। उसीके द्वारा दृश्यदर्शन हो रहा है। प्राणका चाञ्चल्य ही मनका चाञ्चल्य है। उस प्राणको प्राणायाम-साधनाके द्वारा स्थिर करना होगा। तरङ्गायमान समुद्रके चिर स्थिर भावको ग्रहण करनेके लिए उसके तरङ्ग-भङ्गके चाञ्चल्यको जैसे प्रशमित करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार जो एक अखण्ड ज्ञेय वस्तु आपाततः नाना रूपोंमें जान पड़ती है, वह वस्तुतः नाना नहीं है, वह स्थिर आत्माका तरङ्गायित भावमात्र है, यह तभी जान पड़ेगा जब प्राणायामके द्वारा प्राण स्थिर हो जायगा। प्राणायाम-साधनके द्वारा श्वासके स्थिर होने पर प्राण स्थिर होता है। प्राणकी स्थिरताके साथ-साथ मन भी स्थिर हो जाता है। मनके अचञ्चल या प्राणके स्थिर होने पर ही वह आत्ममुखी होता है। तब अनेककी भावना या नानात्वके तरङ्गोच्छ्वास प्रशमित हो जाते हैं, इसको निरोध-भाव भी कहते हैं। इस निरोधभावसे ही एकात्मज्ञान या ब्रह्मज्ञानका उदय होता है। तब द्वैत प्रपञ्च मिथ्या प्रमाणित हो जाता है। इस अवस्थामें स्थित योगी ऐसा होता है—

जिताहारो जितक्रोधो जितसङ्गो जितेन्द्रियः।
निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारो निराशीरपरिग्रहः॥

'जिताहार'का यह अर्थ नहीं है कि क्षुधाको नष्ट करना होगा। इस अवस्थामें स्थित योगीको रसनाकी तृप्तिकर वस्तुमें आसक्ति नहीं होती। वह जो पाते हैं वही खाते हैं। यह खानेमें अच्छा लगता है, वह अच्छा नहीं लगता—इस प्रकारकी इच्छाका योगीमें सम्यक् अभाव होता है। साधारणतः हमको अपनी अभिलषित वस्तुके न पाने पर क्रोध होता है परन्तु योगाभ्यासीको क्रियाकी परावस्थामें मन या इच्छा न रहनेके कारण क्रोध होनेकी सम्भावना ही नहीं होती। वह सङ्गदोषवर्जित होते हैं। आसक्तिपूर्वक किसीका सङ्ग नहीं करते। वे व्यर्थकी बातचीत भी किसीके साथ नहीं करते। इस कारण उनके सामने अन्य वस्तु रहकर भी नहीं रहती। उनकी इन्द्रियाँ स्वायत्त होती हैं, वे उनको कुमार्गमें नहीं ले जा सकतीं। इसका कारण यह है कि वे जितेन्द्रिय होते हैं, किसी इन्द्रियका उनके ऊपर कर्त्तृत्व नहीं होता। क्रियाके द्वारा प्राण वशमें होने पर उनकी इन्द्रियाँ रहकर भी नहीं रहतीं। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पञ्च कर्मेन्द्रियाँ भी अपने अपने कर्मके प्रति स्पृहा नहीं रखतीं। वे निर्द्वन्द्व होते हैं, क्योंकि क्रियाकी परावस्थामें मन ही नहीं रहता। अन्य कोई लक्ष्य या भाव न रहनेसे द्वन्द्व कैसे होगा। वे सर्वदा निरहङ्कार होते हैं क्योंकि 'मैं' 'मैं' करके जो सर्वदा क्षिप्तके समान विचरण करता था, वह अहङ्कार भी नहीं रहता। अतएव सृष्टि रहते हुए भी क्रियाकी परावस्थामें नहीं रहती। रज्जुमें सर्पभ्रमके समान चञ्चल मनको ब्रह्ममें संसारभ्रम होता है। क्रियाकी

परावस्थामें मन नहीं रहता, अतएव सृष्टि भी नहीं रहती। उस समय एक अव्यक्त ब्रह्म-वस्तुके सिवा अन्य किसी वस्तुकी सत्ता नहीं रहती। अतएव निर्द्वन्द्व, निरहङ्कार योगीको किसी भोगकी इच्छा या किसी वस्तुके प्रति लोभ भी नहीं रहता। उनको परिग्रहकी भी सम्भावना नहीं होती। साधक ! यदि प्राणक्रिया द्वारा मनको वशमें कर सको तो जगत्, जीव, माया, ईश्वर या आत्माके सारे रहस्यसे अवगत हो जाओगे। यही प्रकृत सात्त्विक ज्ञान है ॥२०॥

(पृथक् या अनैक्यका ज्ञान ही राजस ज्ञान है)

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

अन्वय—तु (किन्तु) पृथक्त्वेन (पृथक् पृथक् रूपमें) यत् ज्ञानं (जो ज्ञान) सर्वेषु भूतेषु (सब भूतों में) पृथक् विधान् नानाभावान् (विभिन्न प्रकारके नाना भावोंको) वेत्ति (जानता है) तत् ज्ञानं (उस ज्ञानको) राजसं विद्धि (राजस जानो) ॥२१॥

श्रीधर—राजसं ज्ञानमाह—पृथक्त्वेनेति। पृथक्त्वेन तु यत् ज्ञान इत्यस्यैव विवरणम्। सर्वेषु भूतेषु—देहेषु, नानाभावान्—वस्तुत एव अनेकान्, क्षेत्रज्ञान्, पृथग्विधान्—सुखित्व-दुःखित्वादिरूपेण विलक्षणान् येन ज्ञानेन वेत्ति तत् ज्ञानं राजसं विद्धि ॥२१॥

अनुवाद—[राजस ज्ञानके विषयमें कहते हैं]—जिस ज्ञानमें पृथकरूपसे सब भूतोंमें विभिन्न प्रकारके सुखी-दुःखी आदिरूपमें विभिन्न भाव अनेक क्षेत्रज्ञोंके रूपमें अनुभूत होते हैं, उस ज्ञानको राजस समझो ॥२१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पृथक् करके नाना वस्तुओंमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करके भी एक ब्रह्मस्वरूप देखता है वह राजसिक ज्ञान है।—जिस ज्ञानके द्वारा अपरिवर्तनीय एक आत्मस्वरूपका ही ज्ञान होता रहता है, तथा विभिन्न शरीरोंमें प्रविभक्तरूपसे दृष्ट होने पर भी आत्माका ऐक्य निरन्तर आकाशके समान बोध होता है, वह सात्त्विक ज्ञान है। यह क्रियाकी परावस्थामें अनुभूत होता है, यह बात पूर्व श्लोकमें कहा जा चुकी है। परन्तु जब एकात्मबोध न हो, नाना वस्तुएँ नाना भावोंमें दीखती हों और तत्तद् वस्तुमें आसक्ति तथा कभी कभी विरक्ति भी प्रकट होती हो तथापि वे सब एक के ही नाना रूप हैं इस प्रकारका ज्ञान होता हो तो वह राजस ज्ञान है। एकात्मभावका चिन्तन होते रहने पर भी जबतक देहका पार्थक्यभाव लुप्त नहीं होता, तबतक उसको शुद्ध ज्ञान नहीं कहेंगे। वह एक प्रकारसे मलमिश्रित ज्ञान है, अतः वह राजस ज्ञान है। ज्ञानकी शुद्धता होने पर फिर उसमें पृथक्त्वका भाव नहीं रह जाता। सब ब्रह्मके ही पृथक् पृथक् भाव हैं, यह समझ लेने पर भी पृथक् दृष्टि नष्ट नहीं होती। अतएव यह ज्ञान भी राजसिक ज्ञान है। रजोगुणका धर्म है चञ्चलता। मनमें एकत्वका विचार रहने पर भी अनुभवमें द्वैत भाव नहीं मिटता। विभिन्न शरीरोंका बोध होने पर देहस्थित देहीकी भी पृथक् रूपमें धारणा होती है। सत्ताका एकत्व परोक्षभावमें दीखने पर भी सत्ताके स्वरूपमें अवस्थानरूप विभिन्न

प्रकारकी वृत्तियोंका निरोधभाव स्फुरित नहीं होता। अतएव वह ज्ञान सत्त्वमुखी होने पर भी सात्त्विक ज्ञान नहीं है। नानात्वका ज्ञान रहने पर उसको राजस ज्ञान ही कहना पड़ेगा ॥२१॥

(स्थूल देहादिमें आत्मज्ञानतामस ज्ञान है)

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अन्वय—यत् तु (जो ज्ञान) एकस्मिन् कार्ये (किसी एक विषयमें) कृत्स्नवत् (सम्पूर्णरूपसे) सक्तम् (अभिनिविष्ट या आसक्त होता है) [यह देह ही आत्मा है अथवा यह प्रतिमा ही ईश्वर है, इस प्रकारका निश्चय] अहैतुकम् (युक्तिविरुद्ध) अतत्त्वार्थवत् (जो तत्त्वार्थको प्रकट नहीं करता या जो तत्त्वज्ञानका विरोधी अर्थात् परमार्थ-अवलम्बनसे शून्य है) च अल्पं (और तुच्छ है) तत् (वह ज्ञान) तामसम् उदाहृतम् (तामस कहलाता है) ॥२२॥

श्रीधर—तामसं ज्ञानमाह—यत्त्विति। एकस्मिन् कार्ये देहे प्रतिमादौ वा कृत्स्नवत् परिपूर्णवत्, सक्तम्—एतावानेव आत्मा ईश्वरो वा इति अभिनिवेशयुक्तम्, अहैतुकम् निरुपपत्तिकम्, अतत्त्वार्थवत् परमार्थालम्बनशून्यं, अतएव अल्पं तुच्छम्, अल्पविषयत्वात् अल्पफलत्वाच्च। यत् एवम्भूतं ज्ञानं तत् तामसं उदाहृतम् ॥२२॥

अनुवाद—[तामस ज्ञानके विषयमें कहते हैं]—जो ज्ञान एकमात्र कार्यमें—देह या प्रतिमादिमें—परिपूर्णवत् आसक्त अर्थात् यह देह ही आत्मा है* या यह प्रतिमा

---

* भगवान्को हम लोग देख नहीं सकते, अतएव हमको भगवत्-उपासनाके लिए कोई अवलम्बन आवश्यक है। बिना अवलम्बनके भगवद्ध्यान सबके लिए सहज नहीं है। इसी कारण योगियोंने कूटस्थमें जिन रूपोंको प्रत्यक्ष किया था, अल्पज्ञ मानवोंके कल्याणके लिए मृत्तिका-शिला आदिसे तैयार की गयी उनकी प्रतिमामें उनके ध्यान पूजादिकी व्यवस्था बनायी थी। उद्देश्य यह था कि साधारण लोग उनकी अभिज्ञताका फल प्राप्त कर प्रतिमादिमें भक्ति-श्रद्धा-युक्त होकर जीवन कृतार्थ कर सकें। इस प्रकार भक्ति-श्रद्धाके साथ प्रतिमादिकी अर्चना शास्त्र-सम्मत है, अतएव वह तामसिक नहीं। परन्तु देवार्चनका प्रकृत उद्देश्य ज्ञात न होनेके कारण मृत्तिका-शिला आदिसे बनी प्रतिमा-मात्रको ईश्वर मानने पर वह तामसिकतामें परिणत होता है। प्रतिमामात्रका अवलम्बन करके यदि चैतन्य-सत्ता या ईश्वर-भाव अनुभव होता है, तो वह कभी सामान्य वस्तु नहीं हो सकती। हमारे देश में बहुतेरे साधकोंने इन प्रतिमाओंमें पूर्ण-चैतन्यमय परम-पुरुषका पता पाया था। उन साधक-प्रवर लोगोंके सामने वह शिला तब केवल शिलामात्र न थी। पाषाणमयी मूर्तिमें चिन्मयी मूर्तिका स्पन्दन अनुभूत होता था। प्रतिमाके भजन आदिसे सत्य ज्ञान आवृत नहीं होता, अतएव वह पूजा तामसिक नहीं हो सकती। यदि मृत्तिका-शिलामें किसी प्रकारके चैतन्यका पता नहीं मिले और पूजा केवल लोकाचारसे उत्पन्न अनुष्ठानमात्र हो, तो वह हमारे अन्तरस्थित शुद्ध चैतन्यभावको जाग्रत नहीं करेगी। यह अवश्य ही तामसिक है।

ही ईश्वर है, इस प्रकारके अभिनिवेशसे युक्त है तथा जो युक्तिहीन, परमार्थ-अवलम्बनसे रहित अतएव अल्प-विषयक या अल्प-फलजनक होनेके कारण अति तुच्छ है, वह ज्ञान तामस कहलाता है ।।२२।।

आध्यात्मिक व्याख्या—किसी कर्मके निमित्त आसक्तिपूर्वक दृष्टि करता है, बिना कारण—वह तामसिक है ।—देहको सर्वस्व मानने वाले अविवेकी जीवको जो ज्ञान होता है, वह तामसिक ज्ञान है । उसकी सारी धारणा मनमानी होती है, उसमें युक्ति नहीं होती, विचारके लिए स्थान भी नहीं होता, तथापि अपनी धारणाके प्रति अटूट विश्वास होता है । तमसाच्छन्न बुद्धिसे इस प्रकारके ज्ञानका उदय होता है । शङ्कराचार्यने दृष्टान्त दिया है कि जैन और बौद्ध दार्शनिकोंके मतसे जीव देह-परिमाण-मात्र तथा ईश्वर काष्ठादिपरिमाणमात्र है । इस प्रकारका ज्ञान अयौक्तिक है । वह कभी सत्य पदार्थ को प्रकट नहीं कर सकता । अतएव उसका फल भी अति तुच्छ है अर्थात् जो इस मतके अनुयायी हैं उनको परमार्थसम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त स्वल्प होता है । तामसिक लोग सत्य वस्तुको नहीं देख पाते, क्योंकि तमोगुणका धर्म है ज्ञानको आवरण किये रहना ।।२२।।

(सात्त्विक कर्म)

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते ।।२३।।

अन्वय—अफलप्रेप्सुना (फलाभिलाषशून्य पुरुषके द्वारा) सङ्गरहितं (अनासक्तभावसे) अरागद्वेषतः (अनुराग या द्वेष द्वारा प्रेरित न होकर) कृतं (अनुष्ठित) यत् नियतं कर्म (जो नित्य कर्म है) तत् सात्त्विकम् उच्यते (वह सात्त्विक कहलाता है) ।।२३।।

श्रीधर—इदानीं त्रिविधं कर्म आह—नियतमिति-त्रिभिः । नियतं नित्यतया विहितम् सङ्गरहितम्—अभिनिवेशशून्यम्, अरागद्वेषेतः कृतं पुत्रादि-प्रीत्या वा शत्रु-द्वेषेण वा यत् कृतं न भवति । फलं प्राप्तुमिच्छतीति फलप्रेप्सुः तद्विलक्षणेन निष्कामेन कर्त्रा यत् कृतं कर्म तत् सात्त्विकमुच्यते ।।२३।।

अनुवाद—[अब तीन श्लोकोंमें त्रिविध कर्मके विषयमें कहते हैं]—जो कर्म (१) नियत अर्थात् नित्य अनुष्ठेय रूपमें विहित है तथा (२) सङ्गरहित अर्थात् अभिनिवेशशून्य, (३) अरागद्वेषतः कृतं अर्थात् पुत्रादिकी प्रीतिके लिए या शत्रुके प्रति विद्वेषवश नहीं किया जाता और (४) अफलप्रेप्सु अर्थात् जो कर्म निष्काम भावसे किया जाता है, उसको सात्त्विक जानो ।।२३।।

आध्यात्मिक व्याख्या—इच्छारहित होकर—फलाकाङ्क्षारहित ध्यान-धारणा-समाधिपूर्वक इच्छा-रहित, हिंसा-रहित—इस प्रकारका जो कर्म है उसका नाम सात्त्विक कर्म है अर्थात् क्रिया करते जाना ।—भगवान् अब त्रिविध कर्मकी बात कहते हैं । (१) प्राणकी चञ्चल अवस्थामें (२) प्राणकी कुछ स्थिरता होने पर तथा (३) प्राणकी पूर्ण स्थिरतामें कर्म जिस प्रकार विभिन्न भावसे किये जाते हैं, उन्हींके

विषयमें यहाँ कहते हैं। प्रथमावस्थामें श्वास इड़ा-पिङ्गलामें चलता है। द्वितीयमें इड़ा-पिङ्गलामें चलते हुए भी श्वास सामान्यभावसे सुषुम्नामें चलता है और तृतीयमें परिपूर्णभावसे प्राण सुषुम्नाके मार्गसें होकर चलता है। तब जो कर्म किये जाते हैं वे ही सात्त्विक कर्म हैं। श्वास कभी इड़ामें, कभी पिङ्गलामें तथा कभी सुषुम्नामें बहता जाता है। इस श्वासके प्रति जिस साधकने लक्ष्य रखना सीखा है, वह श्वासके प्रवाहके साथ कर्मके भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भावको लक्ष्य कर सकता है। इसलिए वह सतर्कतापूर्वक श्वासकी गतिको सुषुम्नामार्गमें चलानेकी चेष्टा करता है। साधनामें अग्रसर साधक गुरुके उपदेशके अनुसार साधनपथमें चलते-चलते ऐसी स्थितिमें पहुँचता है कि उसका प्राण कण्ठमें या उसके ऊपर रहता है। तब उसके मन, प्राण और इन्द्रियोंमें सात्त्विकता वृद्धिको प्राप्त होती है। ऊर्ध्वमें अवस्थित होनेके कारण मनमें किसी प्रकारका कामसङ्कल्प नहीं रहता, अतएव तत्कृत कर्मोंमें भी किसी कामनाकी कालिमा नहीं लगती। इन साधकोंको क्रियाके सिवा और कोई कर्म नहीं रहता। इसके द्वारा धारणा-ध्यानकी अवस्था प्राप्त कर वे एकबारगी पूर्णफलाकाङ्क्षासे रहित अवस्थामें प्रवेश करते हैं। इस अवस्थामें ही योगीको योगसमाधि होती है। इसके सिवा अन्य किसी अवस्थामें सङ्गरहित होना सम्भव नहीं है। सङ्गरहित अवस्थामें जो कर्म किये जाते हैं उनमें अभिनिवेश नहीं होता, अतएव द्वेषभाव भी नहीं रह सकता। अमुक आदमीने क्रिया करके कितनी सांसारिक उन्नति की है, मैं भी खूब क्रिया करके उसकी अपेक्षा कहीं अधिक लाभ उठाऊँगा—इस प्रकारकी भावना लेकर जो साधनामें चेष्टाशील होते हैं, उनकी वह चेष्टा व्यर्थ है। वे क्रियाके फल अर्थात् शान्तिसे वञ्चित हो जाते हैं। मुझको खूब दर्शन होता है या दूसरोंके समान मुझको दर्शन नहीं हो रहा है या मेरी क्रिया ठीक नहीं हो रही है इत्यादि भावना लेकर जो साधनमें प्रवृत्त होते हैं, वे कर्मफलप्रेप्सु हैं। जिनको ये भाव बिलकुल ही उदय नहीं होते, वे ही "अफलप्रेप्सु" हैं। यह 'अफलप्रेप्सु'-भाव उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होकर योगीको पूर्ण निष्काम बना डालता है। तब उसके प्राणकी गति भी पूर्णभावसे सुषुम्नामें प्रविष्ट हो जाती है। प्राणक्रिया अधिक परिमाणमें किये बिना इस प्रकारकी अवस्था सहज ही प्राप्त नहीं होती। इसीसे दृढ़ाभ्यासी साधकके लिए यह कर्म नियत या नित्य अनुष्ठेय हो जाता है। फलस्वरूप साधककी यह क्रिया अपने आप चलती रहती है तथा अविराम भावसे चलती है। श्वास-प्रश्वासके प्रति जिनका स्थिर लक्ष्य रहता है, उनका मन अति सहज ही स्थिर भाव धारण करता है तथा अनायास ही सुषुम्ना-मार्गमें परिचालित होता है। इस अवस्थामें कृत कर्म ही सात्त्विक कर्म हैं ॥२३॥

(राजस कर्म)

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

अन्वय—तु (परन्तु) कामेप्सुना (फलकी कामनावाले पुरुषके द्वारा) साहङ्कारेण वा (अथवा "मैं कर्त्ता हूँ" इस प्रकारके अहङ्कारसे युक्त पुरुषके द्वारा) पुनः बहुलायासं (तथा बहुत क्लेश और परिश्रमके साथ) यत् कर्म क्रियते (जो कर्म अनुष्ठित होता है) तत् राजसं उदाहृतम् (वह राजस कहलाता है) ॥२४॥

श्रीधर—राजसं कर्म आह—यत्त्विति । यत्तु कर्म कामेप्सुना—फलं प्राप्तुं इच्छता साहङ्कारेण वा—मत्समः कोऽन्यः श्रोत्रियोऽस्ति इत्येवं निरूढ़ाहङ्कारयुक्तेन च क्रियते तच्च पुनः बहुलायासं अतिक्लेशयुक्तं, तत् कर्म राजसम् उदाहृतम् ॥२४॥

अनुवाद—[राजस कर्म क्या है, यह बतलाते हैं]—जो कर्म फलप्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले अथवा अहङ्कार युक्त व्यक्तिके द्वारा अनुष्ठित होता है, तथा जो अति क्लेशयुक्त है, उसको राजस कर्म जानो ॥२४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—बहुत प्रयासपूर्वक फलाकाङ्क्षाके साथ घमण्ड करके कर्म करना—राजसिक कर्म है।—जिस कामके करनेमें बहुत दौड़-धूप या झंझट करनी पड़ती है या जिसके बारेमें ढिंढोरा पीटा जाता है, वही राजस कर्म है। बहुतेरे क्रियावान् भी इसी प्रकारके होते हैं। क्रियासे कोई मतलब नहीं, परन्तु आसन डालना, स्थान झाड़ना-बुहारना, द्वार बन्द किये रहना, गलेमें माला डालना, फूलकी थाल सजाना, चन्दनका तिलक लगाना, उच्चकण्ठसे मन्त्रोच्चारण करना तथा लोगोंको दिखानेके लिए पद्मासन लगाकर शिव-चक्षु होकर बैठना—इस प्रकारके उनके भाव होते हैं। उनका क्रिया करनेका असल उद्देश्य यह होता है कि उससे दीर्घ आयु प्राप्त होती है, शरीर अच्छा रहता है और भूख बढ़ती है। एक आसन पर बैठनेसे पैरमें कष्ट भले ही हो, तथापि बद्ध-पद्मासनमें शरीर-मुख विकृत करके बहुत कष्ट उठाते हुए बहुत देर तक आसन पर बैठनेका जो प्रयास है वह राजस कर्म है ॥२४॥

(तामस कर्म)

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

अन्वय—अनुबन्धं (भावी शुभाशुभ फल) क्षयं (धनक्षय) हिंसा (प्राणियोंका पीड़न) पौरुषं च (और अपने सामर्थ्यकी) अनपेक्ष्य (अपेक्षा या विचार न करके) मोहात् (अविवेकवश) यत् कर्म आरभ्यते (जो काम आरम्भ किया जाता है) तत् तामसं उच्यते (उसको तामस कर्म कहते हैं) ॥२५॥

श्रीधर—तामसं कर्म आह—अनुबन्धमिति । अनुबध्यते इति अनुबन्धः पश्चाद्भावि शुभाशुभम्, क्षयं वित्तव्ययम् । हिंसा परपीड़नम्, पौरुषं च स्वसामर्थ्यं, अनपेक्ष्य अपर्यालोच्य केवलं मोहादेव यत् कर्म आरभ्यते तत् तामसं उच्यते ॥२५॥

अनुवाद—[तामस कर्म क्या है, यह बतलाते हैं]—पीछे जो बन्धनमें डाले, उसको अनुबन्ध कहते हैं। भावी शुभ और अशुभ, वित्तक्षय, परपीड़ा तथा अपने

सामर्थ्यका विचार किये बिना केवल मोहवश जो कर्म आरम्भ किया जाता है वह तामस कहलाता है ॥२५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सोनेके पूर्व जैसे बाँध डाले—ऐसा कर्म जिससे नाश होता हो—और दूसरे का भला न देख सके—अनपेक्ष किसीकी भी अपेक्षा न करे अर्थात् चारों ओर देखकर नहीं करता, इस प्रकार पुरुषत्व प्रकट करता हुआ मोहवश जो कर्म करना आरम्भ करता है—उसको तामस कर्म कहते हैं।—भगवान् तामस कर्मका फल दिखलाते हैं। तामस कर्मका दोष यह है कि उसमें कोई विचार नहीं रहता। कोई आदमी सम्भवतः शुभ कर्म करता है, उससे कर्त्ताका कल्याण होगा परन्तु तामस कर्त्ताको दूसरेका मङ्गल अच्छा नहीं लगता। अतएव दूसरोंके शुभ कर्ममें भी उसकी दोष-दृष्टि रहेगी। छोटे लड़केको नींद आने पर जैसे वह स्थान-स्थान पर विचरण नहीं कर पाता, निद्राके कारण विवश हो जाता है, उसी प्रकार तामसिक कर्त्ता ऐसा कर्म करनेके लिए तैयार होता है जिससे उसका विनाश अवश्यम्भावी होता है। दुराग्रहके कारण वह अपना हित नहीं समझ पाता और उस प्रकारका कर्म करके अपना सर्वनाश साधन करता है। विवेक-शक्ति न रहनेके कारण ही ऐसे कर्मोंमें उसकी प्रवृत्ति होती है जिससे आगे चलकर उसको विपत्तिमें पड़ना पड़ता है। अपने सामर्थ्यसे अधिक कर्म करते हुए अपना सर्वस्व नष्ट कर बैठता है। ऐसे कर्मके पीछे सदा दुःख या भयका बन्धन रहता है। वह अपना शक्ति-सामर्थ्य अनुचित ढंगसे क्षय करता है और दूसरोंके लिए क्लेषदायक हो जाता है। तामसिक कर्म तभी होते हैं जब मन नाभिके नीचे रहता है। जैसे काममें उन्मत्त होने पर आगा-पीछा सोचनेका ज्ञान ही नहीं रहता। उससे शरीर, मन, धर्म सब नष्ट हो जाते हैं, बहुत धनका व्यय होता है, तथापि इन कर्मोंके करनेमें कर्त्ताके आग्रहकी सीमा नहीं रहती! जिन कर्मोंके करनेके पहले अपने सामर्थ्यकी ओर दृष्टि नहीं रहती, दूसरोंको अनुचित ढंगसे पीड़ित करनेकी आवश्यकता होती है, मोहवश केवल मनके आवेगसे कर्म किया जाता है, उनमें भावी सुफल कुछ नहीं रहता, ऐसे ही कर्म तामसिक होते हैं। मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि भी इसी प्रकारके कर्म हैं। हिंसा, द्वेष और लोभके वश अपने सामर्थ्यसे बाहर जाकर जिस कर्मके करनेकी प्रवृत्ति होती है तथा जिससे अपने या दूसरोंके हानिलाभका विचार नहीं होता, विचारशून्य होकर मनमाना जो कर्म किया जाता है, वह तामसिक कर्म है। सात्त्विकादि-भेदसे कर्त्ताकी जैसी बुद्धि उत्पन्न होती है, कर्म भी तदनुसार ही होते हैं। ऊपर-ऊपरसे कर्मका विचार करनेसे काम नहीं चलता। कर्त्ताका आशय (मनोवृत्ति) देखकर कर्मका विचार किया जाता है, अन्यथा विचारमें भ्रम हो सकता है। कोई आदमी शुद्ध अन्तःकरणसे किसी कर्ममें प्रवृत्त हो तो उसका बाह्य आकार राजसिक या तामसिक होने पर भी वह प्रकृततः राजसिक या तामसिक नहीं भी हो सकता है। अर्जुन "किं नो राज्येन गोविन्द" कहकर युद्धसे विमुख होते हैं, यह आपाततः सात्त्विक जान पड़ता है तथापि भगवान् उसको सात्त्विक कर्म नहीं मानते। अर्जुनकी उस विचार-विमूढ़ताका तामसिक फल देखकर भगवान् उनको युद्धसे निवृत्तिमें उत्साहित नहीं कर सके ॥२५॥

(सात्त्विक कर्त्ता)

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

अन्वय—मुक्तसङ्गः (फलमें आसक्तिशून्य) अनहंवादी ("मैं कर्त्ता हूँ" इस प्रकारका भाव जिसको नहीं है) धृत्युत्साहसमन्वितः (धैर्य और उत्साहयुक्त) सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः (सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष-विषाद आदि विकारोंसे शून्य) कर्त्ता सात्त्विक उच्यते (कर्त्ता सात्त्विक कहलाता है) ॥२६॥

श्रीधर—कर्त्तारं त्रिविधमाह – मुक्तसङ्ग इति-त्रिभिः । मुक्तसङ्गः त्यक्ताभिनिवेशः, अनहंवादी गर्वोक्तिरहितः, धृतिः धैर्यम् उत्साहः उद्यमः ताभ्यां समन्वितः संयुक्तः । आरब्धस्य कर्मणः सिद्धौ असिद्धौ च निर्विकारः हर्षविषादशून्यः । एवम्भूतः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

अनुवाद—[सात्त्विकादि त्रिविध कर्त्ताके विषयमें तीन श्लोकोंमें कहते हैं]—(१) मुक्तसङ्ग अर्थात् त्यक्ताभिनिवेश, आसक्ति या फलकामनासे शून्य, (२) अनहंवादी अर्थात् गर्वोक्तिरहित, (३) धैर्यशील, (४) उद्यमी या अध्यवसायशील तथा (५) आरब्ध कार्यकी सिद्धि या असिद्धिमें हर्षविषादरहित—इस प्रकारके कर्त्ताको सात्त्विक कहते हैं ॥२६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इच्छारहित ब्रह्म करता है क्रियाके परे स्थिति, सर्वदा भीतर ही भीतर स्थिर रहती है । उत्साह—ऊर्ध्वके साथ अर्थात् कूटस्थमें सर्वदा लगा रहता है, किसी विषयको अपने आप देखनेके लिए, अथवा हो उठता है या होता नहीं—इन दोनोंमें ही क्रियाकी परावस्थामें रहकर स्थिर—मनमें कोई विकार नहीं—इस प्रकारके कर्त्ताको सात्त्विक कर्त्ता कहते हैं —सात्त्विक कर्त्ताके विषयमें कहते हैं । वह स्वयं इच्छारहित होता है । जो कुछ होता है वह ब्रह्मकी इच्छासे होता है, इस प्रकारका अचञ्चल भाव भीतर ही भीतर सर्वदा उसको होता है । क्रिया करनेके समय मनमें कोई सङ्कल्प उदित नहीं होता । प्रतिदिन नियमितरूपसे अधिक देर तक क्रिया करता रहता है, क्रियाकी परास्थिति भी खूब होती है, दूसरा कोई सङ्कल्प मनमें नहीं उठता, केवल चक्र-चक्रमें मन उठता और उतरता रहता है । इतने दिनोंसे क्रिया कर रहा हूँ या इतनी देर तक क्रिया करता हूँ, तथापि वैसा अनुभव नहीं होता इत्यादि चिन्ता जिसके मनमें नहीं आती, गुरुकी आज्ञा पालन करते हुए चलता हूँ ऐसा सोचकर प्रतिदिन स्थिरतापूर्वक धैर्य और उत्साह युक्त होकर क्रिया किये जाते हैं, क्रिया करके कुछ अनुभव हुआ या न हुआ, मन स्थिर हुआ या वैसा ही रहा, इसके लिए जो व्याकुल नहीं होता या उद्यम-उत्साह कम नहीं करता, इस प्रकारका कर्त्ता ही सात्त्विक कर्त्ता है । उपर्युक्त प्रकारसे जो क्रिया करता है, उसकी क्रियाकी परावस्था या समाधि गम्भीर रूपसे उदित न होने पर भी क्रियाकी परा स्थिति कुछ कुछ होती ही है । क्रियाका नशा भी खूब जमा रहता है, मन मानो किसी अननुभूत विषयमें अटक जाता है, बाहरी विषय उतना मनमें नहीं आता, मन बहुधा वृत्तिरहित अवस्थामें स्थिर रहता है । यह अवस्था

प्राप्त होने पर क्रमशः मन कूटस्थमें लगा रहता है। उस समय वह कूटस्थके भीतर बहुत कुछ देखता है, तथापि देखनेकी कोई कामना वह नहीं करता। न देखने पर भी मन विषाद या निरानन्दसे नहीं भर जाता या उसके कारण मन उद्यमरहित होकर साधनामें शिथिलता नहीं दिखलाता। मन लगाकर क्रिया करनेसे क्रियाकी परावस्था या स्थिरता उदित होती है। इस कारण उसकी बुद्धि भी स्थिर होती है। किसी कारणसे वह उत्फुल्ल या विषएण नहीं होता। सम्भवतः किसी कार्यको सम्पन्न करनेके लिए अत्यन्त परिश्रम और अर्थव्यय किया, परन्तु कर्म सफल नहीं हुआ तो इस कारण उसके चित्तमें अप्रसन्नता नहीं होती, बल्कि सदा उसके मुखमण्डल पर हास्यकी छटा दीख पड़ती है। चेष्टा व्यर्थ हो गयी, यह सोचकर उसके चित्तमें क्षणभरके लिए भी विषादकी कालिमा नहीं लगती। इसीका नाम है मुक्तसङ्ग। उसमें अहंभाव नहीं रहता, अतएव कर्म करके सफलता प्राप्त करने पर भी चित्तमें कोई अहङ्कार या विकार नहीं आता। इस प्रकारके अनहंवादी पुरुष साधन करके यदि कभी कुछ अनुभव करते हैं और वह अनुभव चिरस्थायी नहीं होता तो इसके लिए वह विषएण नहीं होते। किसी फलकी आकाङ्क्षा न करके केवल गुरुके उपदेशके अनुसार साधन करते रहते हैं। नाना कर्मोंमें नियुक्त होकर भी कूटस्थमें लक्ष्य रखनेसे वे कभी नहीं चूकते। कोई फल मिले या न मिले, उनकी साधनामें अप्रवृत्ति कभी नहीं आती। इस प्रकारके प्रमादशून्य पुरुष ही सात्त्विक क्रियावान् हैं ॥२६॥

(राजस कर्त्ता)

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

अन्वय—रागी (जिसमें राग या आसक्ति है) कर्मफलप्रेप्सु (जो कर्मफलकी कामना करता है) लुब्धः (परद्रव्यमें जिसकी तृष्णा होती है) हिंसात्मकः (दूसरोंको पीड़ित करना जिसका स्वभाव है) अशुचिः (बाह्य तथा आन्तर शौचाचारसे जो वर्जित है) हर्षशोकान्वितः कर्त्ता (हर्ष और शोकसे युक्त कर्त्ता) राजसः परिकीर्तितः (राजस कहलाता है) ॥२७॥

श्रीधर—राजसं कर्त्तारमाह—रागीति। रागी पुत्रादिषु प्रीतिमान्, कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलकामी, लुब्धः परस्वाभिलाषी, हिंसात्मकः मारकस्वभावः, अशुचिः विहितशौचशून्यः लाभालाभयोः हर्षशोकाभ्यां समन्वितः कर्त्ता राजसः ॥२७॥

अनुवाद—[राजस कर्त्ताके विषयमें कहते हैं]—रागी अर्थात् पुत्रादिमें प्रीतिमान्, कर्म-फलकी कामना करनेवाला, परधनकी अभिलाषा करनेवाला, मारक-स्वभाव, विहित शौचसे शून्य, लाभालाभमें हर्षशोकयुक्त—इस प्रकारका कर्त्ता राजस कहलाता है ॥२७॥

आध्यात्मिक व्याख्या— इच्छाके साथ फलाकाङ्क्षा, लोभ, हिंसा, अशुचि, सुखी तथा दुःखी—इस प्रकारका कर्त्ता राजस कर्त्ता कहलाता है।—जिनकी विषयादिमें अत्यधिक प्रीति होती है, वे सर्वदा पुत्रपुत्री आदिके लालन-पालनमें व्यस्त रहते हैं तथा विषयकी

प्राप्तिमें सतृष्ण रहते हैं। अतएव वे नियमित रूपसे क्रिया-साधनमें तत्पर नहीं होते। जो कुछ क्रिया करते हैं उसमें फल-प्राप्तिकी ही आकाङ्क्षा होती है। यह कार्य करने पर शरीर ठीक रहेगा अथवा सिद्धगुरुके आशीर्वादसे अनेक विपत्तियोंके चङ्गुल से त्राण मिल जायगा, उनकी सिफारिशसे कुछ अर्थप्राप्ति भी होगी—इन सब भावोंको लेकर जो साधन करने आते हैं वे सब लोभी फलाकाङ्क्षी लोग राजस कर्त्ता हैं। इन लोगोंकी परधनापहरणमें प्रबल प्रवृत्ति होती है। अपने सामान्य लाभके लिए दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिए भी प्रस्तुत होते हैं। धन यथेष्ट होने पर भी त्याग नहीं कर पाते। इस कारण कर्त्तव्यपालनमें भी पराङ्मुख होते हैं। उनमें अन्तःशौच अर्थात् मनकी स्थिरता नहीं होती। बाहरी भोजनादिमें भी असंयमी होनेके कारण अनाचारी और अत्याचारी होते हैं। वे लोग स्वकार्य-सिद्धिमें हर्षान्वित तथा असिद्धिमें शोकग्रस्त हो जाते हैं। इन सब लक्षणोंको देखकर उनको राजस कर्त्ता कहते हैं ॥२७॥

(तामस कर्त्ता)

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अन्वय—अयुक्तः (असमाहित या मनोयोगशून्य) प्राकृतः (असंस्कृत-बुद्धि अर्थात् शास्त्रज्ञानहीन—जब जो मनमें आता है वही करता है) स्तब्धः (अनम्र, उद्धत, किसीको भी अपनी अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं मानता) शठः (मायावी, वञ्चक) नैष्कृतिकः (परवृत्तिका उच्छेद करने वाला या दूसरोंका अपमान करनेवाला) अलसः (अवसन्न-स्वभाव) विषादी (शोकयुक्त) दीर्घसूत्री च (तथा दीर्घसूत्री अर्थात् जिस कामको अभी करना ठीक है उसके करनेमें महीनों लगा देनेवाला) कर्त्ता तामस उच्यते (इस प्रकारका कर्त्ता तामस कहलाता है) ॥२८॥

श्रीधर—तामसं कर्त्तारमाह—अयुक्त इति। अयुक्तः अनवहितः, प्राकृतः विवेक-शून्यः, स्तब्धः अनम्रः, शठः शक्तिगूहनकारी, नैष्कृतिकः परापमानकारी, अलसः अनुद्यमशीलः, विषादी शोकशीलः, यत् अद्य वा श्वः वा कार्यं तत् मासेनापि न सम्पादयति यः स दीर्घसूत्री। एवम्भूतः कर्त्ता तामसः। कर्तृत्रैविध्येनैव ज्ञातुरपि त्रैविध्यम् उक्तम् ज्ञातव्यम्। कर्मत्रैविध्येनैव च ज्ञेयस्यापि त्रैविध्यम् उक्तं वेदितव्यम्। बुद्धेः त्रैविध्येन करणस्यापि त्रैविध्यम् उक्तं भविष्यति ॥२८॥

अनुवाद—[तामस कर्त्ताके विषयमें कहते हैं]—अयुक्त अर्थात् अनवहित या असावधान, विवेकशून्य, अनम्र, गुरुके प्रति नम्र व्यवहार न रखने वाला, शठ अर्थात् जो मनके भावको छिपाता है, दूसरोंका अपमान करने वाला, उद्यम न करने वाला, शोकशील तथा दीर्घसूत्री अर्थात् जो काम आजकलमें किया जा सकता है उसे महीने भरमें भी पूरा न करने वाला—इस प्रकारका कर्त्ता तामस होता है। कर्त्ताकी त्रिविधताके कारण ज्ञाताकी भी त्रिविधता जाननी चाहिए।

कर्मकी त्रिविधता कहनेसे ज्ञेयमात्रकी त्रिविधता कही गयी। पश्चात् बुद्धिकी त्रिविधताके हेतु करणकी त्रिविधता कही जायगी ॥२८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें नहीं रहते—वहाँ न अटके रहकर जिधर तिधर अटके रहते हैं, उनका अटका हुआ चित्त पुत्तलिकाके समान भौचक्करमें पड़ जाता है—कोई भी कर्म नहीं कर पाता—सबके साथ ठगई, सर्वदा आलस्यमें—सर्वदा ही दुःखसे मन भार हो जाता है—आज नहीं, कल करूँगा—इसके बाद बूढ़ा होने पर धर्मकर्ममें मन लगाऊँगा —इस प्रकारकी अवस्था तामस कर्त्ता है।—तामसिक लोगोंका मन विषयोंमें अटका रहता है, साधनामें नहीं अटकता। वे मन ही मन अनेक प्रकारकी कल्पना-जल्पना करते रहते हैं, परन्तु कार्य कुछ नहीं करते। मन ही मन खूब इच्छा होती है कि क्रियाकी परावस्था हो जाती, परन्तु क्रियाकी परावस्था तो क्रिया करने पर ही आती है। वह क्रियामें बिल्कुल ही मनोयोग नहीं देते। क्रिया करनेके लिए बैठते हैं तो मन जहाँ-तहाँ घूमता है, अतएव स्थिरता नहीं आती, और मन भी निरुद्ध नहीं होता। क्रिया करनेके समय जैसा-तैसा कोई सामान्य दृश्य देखने पर समझते हैं कि कोई बहुत बड़ी बात हो गयी। उससे ही मन ही मन खूब सन्तुष्ट हो जाते हैं। कभी कभी उसके कारण बहुत गर्वका भी अनुभव करते हैं। प्रतिदिन क्रिया भी नहीं करते, पूछने पर कहते हैं कि कामकी इतनी झंझट रहती है कि समय ही नहीं मिलता। उन कामोंके सिर-पैरका कोई ठिकाना नहीं होता, केवल अपने आपको धोखा देना होता है। आदमीको देखकर दो चार बार साँस खींचते हैं, मनमें होता है कि लोग जानें कि वह कितनी क्रिया करते हैं। इस प्रकार लोगोंको ठगनेकी प्रवृत्ति होती है। हो सकता है कि आसन पर बैठे बैठे नींद लेते हों, परन्तु लोगोंसे कहते हैं कि "क्रियामें मन जब बस जाता है तब फिर बाह्य ज्ञान नहीं रहता, कहाँ क्या हो रहा है या कौन क्या कर रहा है, मैं कुछ भी समझ नहीं पाता, पुकारने पर भी सुन नहीं पाता।" मन चारों ओर रहता है, कोई उनके विरुद्ध कुछ बोले तो वह बात वे कदापि भूल नहीं सकते। किसी मङ्गल-कार्यमें योग नहीं दे सकते, क्योंकि उसमें काम करना पड़ता है तथा पैसा खर्च करना पड़ता है। लोगोंसे कहते फिरते हैं कि "उन सब कार्योंको करनेसे मन विक्षिप्त होता है, इसलिए वह सब काम-धाम अच्छा नहीं लगता। मैं सर्वदा कूटस्थमें लक्ष्य करके बैठा रहता हूँ, मुझे यही अच्छा लगता है। अब किसी व्यर्थके काममें समय नष्ट करनेकी इच्छा नहीं होती।" मन सदा असन्तुष्ट रहता है, किसी कामसे दो पैसे प्राप्त भी होते हैं तथापि उसमें प्रसन्नता नहीं, मनमें आता है कि और भी अधिक होना उचित था। मुँह पर सदा ऐसा एक विषादका भाव रहता है मानो कोई विपद् आसन्न है। जब बात करते हैं तो केवल मनहूसकी तरह अपने दुःखका ही गीत गाते हैं। दुःखसे परित्राणका उपाय बतला देने पर भी उस मार्गको वह कभी नहीं पकड़ते। साक्षात्कार होने पर केवल अपना ही रोना रोते हैं। वे इस प्रकारकी धारणा रखते हैं कि दुनियाके लोग मिलकर उनसे शत्रुता साध रहे हैं और उनकी उन्नतिके मार्गमें बाधा उपस्थित कर रहे हैं। एक साधारण काम जिसके लिए अधिक समयकी भी जरूरत नहीं तथा अधिक व्यय भी नहीं है,

उसको लेकर खूब माथापच्ची करते हैं, कितने ही लोगोंके साथ परामर्श करने जाते हैं। इस प्रकार जितने समयमें उसको कर डालना उचित था, सदा सन्दिग्ध-चित्त होकर उस समयके भीतर वे उसे कर नहीं पाते। कार्यका उपयुक्त समय बीत जाता है, परन्तु उनकी चिन्ताका अन्त नहीं होता। क्रिया लेना उचित है या अनुचित, यह विचार करते-करते दस वर्ष बीत गये, तथापि मन निःसंशय होकर किसी सिद्धान्तको निश्चित न कर सका। इस प्रकार एक दिन अतर्कित-रूपसे जीवनका अन्तिम क्षण आ पहुँचा और सब समाप्त हो गया! इस प्रकारके कर्त्ता ही तामस कर्त्ता हैं ॥२८॥

(बुद्धिके त्रिविध भेद)

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥

अन्वय— धनञ्जय (हे धनञ्जय !) बुद्धेः धृतेः च (बुद्धिके और धृतिके) गुणतः एव (गुणानुसार ही) त्रिविधं भेदं (तीन प्रकारके भेद) पृथक्त्वेन (पृथक् पृथक् रूपसे) अशेषेण (समग्र-रूपसे) प्रोच्यमानं (जो कहा जानेवाला है उसको) शृणु (श्रवण करो) ॥२९॥

श्रीधर—इदानीं बुद्धेः धृतेश्च त्रैविध्यं प्रतिजानीते—बुद्धेर्भेदमिति। स्पष्टोऽर्थः ॥२९॥

अनुवाद—[अब बुद्धि और धृतिकी त्रिविधताके विषयमें कहते हैं]—हे धनञ्जय ! सत्त्वादि गुणोंके भेदसे बुद्धि और धृतिके जो तीन प्रकारके भेद हैं, उनको पृथक्-पृथक् रूपसे तथा समग्र रूपसे बतलाता हूँ, सुनो ॥२९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—बुद्धि, धृति तीन प्रकारकी है—उनके गुण बतलाता हूँ, पृथक् पृथक् करके।—सत्त्वादि-गुणभेदसे बुद्धिके भी त्रिविध भेद होते हैं, यही बात भगवान् समग्र तथा पृथक् रूपसे बतलावेंगे। जीव या आत्माको हम बुद्धिके द्वारा जानते हैं। यद्यपि इसका विकार आत्माको स्पर्श नहीं कर सकता, तथापि असिद्धावस्थामें अन्तःकरणके धर्म जीवमें आरोपित होते हैं और उसके द्वारा ही जीवका विचार किया जाता है। इसीसे भगवान् कह रहे हैं कि जबतक बुद्धि आत्मस्थ नहीं होती, आत्माका कर्मविहीन निष्क्रिय भाव जाना नहीं जा सकता। जो लोग गुणोंमें ही पड़े रहते हैं, वे बुद्धिको परिमार्जित नहीं कर सकते। उसको जाने विना उन्नत अवस्थामें वे किस प्रकार पहुँचेंगे। बुद्धिके विशुद्ध होने पर ही राग-द्वेषका त्याग होता है तथा चित्त शान्त होकर उपरामको प्राप्त होता है। इसीसे भगवान् बुद्धि और धृतिका भेद दिखलाकर, जिससे सात्त्विकी बुद्धि और धृतिकी प्राप्ति हो उसके लिए अर्जुनको चेष्टा करने कहते हैं। पहले कहा जा चुका है कि मुक्तसङ्ग, धृतियुक्त और अहंकार-शून्य कर्त्ता ही सात्त्विक है। सारे कर्मोंके मूलमें हम बुद्धिको देखते हैं। बुद्धिके विना शुभ-अशुभ कोई भी कर्म नहीं होता। बुद्धि ही ज्ञानशक्ति है और धृति

धैर्य या धारणाकी शक्ति है। इसके बिना कोई भी कर्म नहीं हो सकता। मनमें हो सकता है कि कर्त्ताके विषयमें जब कह चुके हैं तब फिर बुद्धि या धृतिके सम्बन्धमें पृथक् कहनेका प्रयोजन क्या है। कर्त्ताके बिना बुद्धि या धृतिका अस्तित्व ही कहाँ है। यह सत्य तो है, परन्तु आत्मसत्तामें कर्तृत्व-भोक्तृत्व कुछ भी नहीं रहता। जब कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वकी आलोचना चल रही है तब उसके भीतर आत्मा किस प्रकार अवस्थान करता है, यह अवश्य ही प्रणिधानयोग्य है। आत्मा इस अवस्थामें बुद्धिरूप होकर वर्त्तमान रहता है। बुद्धिकी सात्त्विकता, राजसिकता और तामसिकताके अनुरूप बुद्धि-प्रतिबिम्बित आत्माको भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक रूपमें कल्पना करते हैं। अतएव बुद्धि यदि राग-द्वेष-शून्य होकर विशुद्ध होती है, तब आत्मा भी गुणमलशून्य होकर प्रकाशित होगा। बुद्धिमें गुणमल न रहने पर वह बुद्धि ही आत्माकार हो जाती है। गुणमलशून्य होने पर मन और बुद्धिकी तरङ्ग शान्त हो जाती है और आत्मा निजस्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है। चैतन्यमय ज्ञान ही आत्मा है। यह आत्मा ही समस्त वस्तुओंको प्रकाशित करता है। ज्ञान ही ज्ञाता और ज्ञेयरूपमें प्रकाशित होता है। अज्ञानके द्वारा इन तीनोंकी पृथक्ताकी उपलब्धि होती है। जब ज्ञाता ज्ञेयसे पृथक् रूपमें न जान पड़ेगा, तब ज्ञेय वस्तु भी धीरे धीरे अदृश्य हो जायगी। ज्ञेय वस्तु रहे बिना ज्ञाताका दृश्यदर्शन भी न होगा। तब ज्ञाता किसीके साक्षीरूपमें न रहकर केवल सत्तामात्ररूपमें स्थिति लाभ करेगा। यही द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान कहलाता है। यह क्रियाकी परावस्थामें ही होता है ॥२९॥

(सात्त्विक बुद्धि)

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ !) या बुद्धिः (जो बुद्धि) प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च (कर्ममें प्रवृत्ति और निवृत्तिको) कार्याकार्ये (कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यको) भयाभये (भय और अभयको) बन्धं मोक्षं च (बन्ध और मोक्षको) वेत्ति (जानती है) [अर्थात् जिस बुद्धिके द्वारा यह जाना जाता है कि कैसे बन्धन होगा या कैसे मुक्ति होगी] सा सात्त्विकी (वही बुद्धि सात्त्विकी बुद्धि है) ॥३०॥

श्रीधर—तत्र बुद्धेः त्रैविध्यमाह—प्रवृत्तिं इति-त्रिभिः। प्रवृत्तिं धर्मे, निवृत्तिं अधर्मे। यस्मिन् देशे काले च यत् कार्यम् अकार्यम् च। भयाभये—कार्याकार्यनिमित्तौ अर्थानर्थौ। कथं बन्धं कथं वा मोक्ष इति या बुद्धिः—अन्तःकरणं वेत्ति, सा सात्त्विकी। यया पुमान् वेत्तीति वक्तव्ये करणे कर्तृत्वोपचारः, काष्ठानि पचन्ति इतिवत् ॥३०॥

अनुवाद—[इस विषयमें बुद्धिका त्रैविध्य तीन श्लोकोंमें बतलाते हैं]—धर्ममें प्रवृत्ति और अधर्ममें निवृत्ति तथा जिस देशमें जिस कालमें जो कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य और भय या अभय है अर्थात् कार्य और अकार्यके कारण जो अर्थ और अनर्थ है तथा किस प्रकार बन्धन या किस प्रकार मोक्ष होता है—इन सबको जो बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण जानता है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥३०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस कर्ममें प्रकृष्टरूपमें रहना उचित है अर्थात् क्रिया; क्रिया बिना किये रहना अनुचित है, क्रिया ही कार्य है—न करना अकार्य है; क्रिया न करने पर भय है; क्रिया करने पर भय नहीं—क्रिया न करने पर बन्धन, क्रिया करने पर मोक्ष—इस प्रकारकी बुद्धि क्रिया करने पर ही होती है अर्थात् सुषुम्नामें रहने पर सात्त्विक बुद्धि होती है।—सात्त्विकी बुद्धि कैसी होती है यह भगवान् बतलाते हैं। मानव-शरीर प्राप्त कर हम पशुके समान जो इच्छा हो वही करें, यह कभी सङ्गत नहीं हो सकता। अवश्य ही पशुके समान आहार-निद्रा-भय-मैथुन आदिमें यथेष्ट प्रवृत्ति होती है, परन्तु इस प्रवृत्तिके वशमें पड़े रहनेसे जीवनमें कभी कृतकृत्यता प्राप्त नहीं होती तथा जन्म-मरणके पाशसे मुक्ति नहीं मिलती। इसलिए प्रवृत्ति और निवृत्तिके सम्बन्धमें बोध होना आवश्यक है। विषय-विनिवृत्त चित्त ही मोक्षका कारण है तथा इन्द्रियादिके सुखके लिए जो हम कर्ममें प्रवृत्त होते हैं वही हमारे बन्धनका कारण होता है। हम कर्म किये बिना नहीं रह सकते। इसलिए जो कर्म बन्धनका कारण तथा जो मोक्षका कारण है, उसके सम्बन्धमें हमारी सम्यक् धारणा न होने पर इन्द्रियाँ कर्णधारविहीन नौकाके समान हमको कुकर्मके आवर्त्तमें डुबा देंगी। कार्य करनेके लिए शास्त्रदृष्टि होना आवश्यक है। शास्त्रमें कुछ कर्मोंको विहित और कुछ कर्मोंको प्रतिषिद्ध बतलाया है। अतएव जो विहित है वही कर्त्तव्य है तथा जो अविहित है वह अकर्त्तव्य है। जब इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यके विषयमें मनकी दृढ़ धारणा होती है तथा बुद्धि दृढ़ताके साथ कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय करती है, तभी वह सात्त्विक बुद्धि होती है। कुछ ऐसे कर्म होते हैं जो भय पैदा करते हैं, जैसे चोरी, हिंसा, मिथ्याभाषण आदि। ऐसे भी कर्म हैं जिनसे अभयप्राप्ति होती है, जैसे तपस्या, ईश्वर-प्रणिधान, इन्द्रियसंयम, परोपकार आदि। जिस बुद्धिके द्वारा यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि अनिष्ट-जनक कार्य परित्यज्य हैं और इष्ट-जनक कार्य ग्राह्य हैं, वही सात्त्विक बुद्धि है। श्रीमत् आचार्य शङ्कर कहते हैं—"तत्र ज्ञानं बुद्धेः वृत्तिः बुद्धिस्तु वृत्तिमती"—ज्ञान बुद्धिकी ही वृत्ति है। ज्ञानरूप वृत्ति बुद्धिका ही धर्म है। अब देखना है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति कैसे होती है। मन जब विषयोंमें दौड़ता है तो वह प्रवृत्तिका कार्य है और जब मन विषयसे निवृत्त होता है तो वह निवृत्ति है। जीवका स्वाभाविक आकर्षण प्रवृत्तिकी ओर ही होता है, क्योंकि वह आपात-मनोरम होती है। विषय-प्रवृत्त चित्तमें अविद्या, अस्मित, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश उत्पन्न होते हैं। वे जीवनके लिए अतिशय क्लेश और जन्म-मरण आदिका कारण बनते हैं। इसलिए "तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि"—क्रियायोगके द्वारा उन क्लेशोंको क्षीण करनेकी चेष्टा की जाती है। क्रियाके द्वारा अशुद्धिका क्षय होता है, इसलिए क्रियामें प्रवृत्त रहना उचित है और क्रिया न करके रहना अनुचित है। सूक्ष्म क्लेशोंका त्याग चित्तलयके द्वारा ही होता है। यह चित्तलय होता है क्रियाके द्वारा, अतएव क्रिया करना ही कर्त्तव्य है तथा न करना ही अकर्त्तव्य है। धर्म और अधर्मरूप कर्मोंके संस्कार ही कर्माशय कहलाते हैं। कर्माशय जबतक रहेगा, तबतक क्लेशका मूल बना ही रहेगा। कर्माशय के वर्त्तमान रहते कोई निर्भय नहीं हो

सकता। परन्तु जो श्रद्धा और मनोयोगपूर्वक क्रिया करते हैं, उनका देहबन्धन क्षीण हो जाता है अर्थात् मनका देहाभिमान और तज्जनित सुख-दुःखादिका बोध नहीं रहता। जो क्रिया नहीं करते उनका देहाभिमान नष्ट नहीं होता, बल्कि वृद्धिको प्राप्त होता है। अतएव वह जन्म-मृत्युके भयका कारण बनता है। जन्म-मरण आदि क्लेश जीवके लिए महाभय हैं। इस महाभयसे एकमात्र क्रिया ही परित्राण करके मुक्ति प्रदान कर सकती है अतएव क्रिया करना ही सबके लिए कर्त्तव्य है। यदि किसीकी बुद्धि सात्त्विक न हो, परन्तु यदि वह नियमितरूपसे क्रिया करे तो उसके प्राणकी गति सुषुम्नामें होगी। जब प्राण सुषुम्नावाही होता है तो बुद्धि स्थिर हो जाती है अर्थात् बुद्धि सात्त्विक हो जाती है। सात्त्विक बुद्धिके द्वारा ही बन्धनसे छुटकारा मिलता है॥ ३०॥

(राजसी बुद्धि)

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) यया (जिस बुद्धिके द्वारा) धर्मं अधर्मं च (धर्म और अधर्म) कार्यं अकार्यं एव च (कार्य और अकार्य) अयथावत् (अयथार्थरूपसे) प्रजानाति (जानता है) सा (वह) राजसी बुद्धिः (राजसी बुद्धि है)॥ ३१॥

श्रीधर—राजसीं बुद्धिं आह—ययेति। अयथावत्—सन्देहास्पदत्वेन इत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्॥ ३१॥

अनुवाद—[राजसी बुद्धिके विषयमें कहते हैं]—हे पार्थ! जिस बुद्धिके द्वारा धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्य यथायथरूपसे नहीं जाने जाते, वही राजसी बुद्धि है॥ ३१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रिया करना धर्म है, क्रिया न करना अधर्म है, क्रिया करना कर्म है—क्रिया न करना अकर्म है—जो बुद्धि इस प्रकार यथार्थ नहीं जानती, इस प्रकारकी अस्थिर बुद्धिका नाम राजसिक बुद्धि है।—जिस बुद्धिके द्वारा निश्चित भावसे धर्माधर्म या कार्याकार्यका स्वरूप समझमें नहीं आता, वही राजसी बुद्धि है। स्वरूप समझमें नहीं आता और सन्देह रह जाता है कि यह त्याज्य है या ग्राह्य। निःसंशय नहीं हो सकता, सब जगह अस्पष्ट भाव रहता है। हमारे भीतर प्राणरूप जो सूत्र है, वही सब भूतोंका पोषक या धारक है। यह धर्मरूपी प्राण-सूत्र ही सब कुछ है। प्राणके न रहने पर समस्त लोग निश्चल निस्पन्दवत् हो जाते हैं। उसको हम समझ नहीं पाते, इसी कारण प्राणके प्रति कोई आस्था नहीं होती। जान पड़ता है कि यह प्राणधर्म यन्त्रके समान काम किये जा रहा है, उसके साथ धर्माधर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्राणरूपसे ही भगवान् घट-घट विराजमान हैं। सूत्रात्मारूपसे प्राण ही जगत्का पोषक और चालक है। प्राणके बिना कुछ भी नहीं रहता। इसीसे प्राण-क्रिया द्वारा प्राणको दीर्घ करना होता है। प्राणायाम करनेसे श्वासकी आभ्यन्तरिक और बाह्य गति अवरुद्ध होती है। इस प्रकारके अवरोधके द्वारा

ज्ञानका अज्ञान-मूलक आवरण क्षीण हो जाता है। अज्ञानके नष्ट हुए बिना जीवका भवबन्धनसे छुटकारा नहीं होता, इसलिए क्रिया करना ही सर्वोत्तम धर्म है तथा करना ही अधर्म है। क्रियाके सम्बन्धमें जिसकी स्थिर बुद्धि नहीं है अर्थात् विश्वास नहीं है, जब अच्छा लगता है करते हैं, जब अच्छा नहीं लगता नहीं करते—इस प्रकारकी भावना वाली बुद्धिमें ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, आत्म-दर्शन नहीं होता, अतएव वह सांसारिक बुद्धि या राजसिक बुद्धि है ॥३१॥

(तामसी बुद्धि)

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ !) या (जो बुद्धि) अधर्मं (अधर्मको) धर्मम् इति मन्यते (धर्मरूपमें मानती है) च (और) सर्वार्थान् (सब विषयोंको) विपरीतान् (विपरीत-रूपमें देखती है) तमसा आवृता (अज्ञानसे आच्छन्न) सा बुद्धिः (वह बुद्धि) तामसी (तामसी बुद्धि है) ॥३२॥

श्रीधर—तामसीं बुद्धिमाह—अधर्ममिति । विपरीतग्राहिणी बुद्धिः तामसीत्यर्थः । बुद्धिः अन्तःकरणं पूर्वोक्तम् । ज्ञानं तु तद्वृत्तिः । धृतिरपि तद्वृत्तिरेव । यद्वा—अन्तःकरणस्य धर्मिणो बुद्धिरपि अध्यवसायलक्षणा वृत्तिरेव । इच्छाद्वेषादीनां तद्वृत्तीनां बहुत्वेऽपि धर्माधर्मभयाभयसाधनत्वेन प्राधान्यात् एतासां त्रैविध्यं उक्तम् । उपलक्षणं च तत् अन्यासाम् ॥३२॥

अनुवाद—[तामसी बुद्धि क्या है, यह बतलाते हैं]—विपरीत-ग्राहिणी बुद्धि ही तामसी बुद्धि है। अन्तःकरण ही बुद्धि है, ज्ञान उसकी वृत्ति है, धृति भी उसकी वृत्ति है। अथवा अन्तःकरणरूप धर्मीकी बुद्धि और अध्यवसाय वृत्तियाँ हैं। इच्छाद्वेषादि अन्तःकरणकी वृत्तियोंका बहुत्व रहने पर भी धर्माधर्म-भयाभय- साधनरूप बुद्ध्यादिकी प्रधानता के कारण इनकी त्रिविधता कही गयी। अन्यान्य वृत्तियोंके भी ये उपलक्षण हैं ॥३२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रिया न करना ही धर्म—सब वस्तुओंमें दृष्टि और ब्रह्म जो सर्वत्र हैं उनमें दृष्टि नहीं करता—इस प्रकारकी बुद्धिको तामसिक बुद्धि कहते हैं।—जो बुद्धि समस्त विषयोंको विपरीत भावसे ग्रहण करती है उसे तामसिक बुद्धि कहते हैं। तामसी बुद्धिसे युक्त पुरुष धर्मको अधर्म और अधर्मको धर्मरूप मानते हैं। इस बुद्धिके सामने दुःखप्रद वस्तु सुखप्रद ज्ञात होती है तथा जो असत्य और अनित्य है, वह सत्य और नित्यवत् प्रतीत होता है। जो यथार्थमें सत्य और नित्य है, वह असत्य और अनित्य-सा जान पड़ता है। हमारा यह शरीर कैसा अनित्य है, कभी है, कभी नहीं है, तथापि इस शरीरको हम नित्य मानकर रक्षा और आदर-सत्कार करनेमें कितना व्यस्त रहते हैं, मानो यह चिरकाल तक बना रहेगा। तामसी बुद्धिके कारण ही हम ऋषिप्रणीत शास्त्रोंकी अवज्ञा करते हैं तथा शास्त्रकथित कर्म

और आचार समूहको अन्धसंस्कार कहकर उपहास करते हैं। कदर्य और कदन्न ग्रहण ही अकाल-मृत्युका कारण है—इन शास्त्र-वाक्योंके प्रति हम व्यङ्ग करते हैं तथा शास्त्रोक्त सदाचारका त्याग कर गर्व करते हैं। श्रेयःसाधनका त्याग कर हम प्रेयःसाधनमें जीवन बिताते हैं। क्रिया करना जो परम धर्म तथा प्रकृत सुखशान्तिकी प्राप्तिका उपाय है, तामसिक बुद्धिसे युक्त पुरुष अहङ्कार और अज्ञानके वश उसकी उपेक्षा करके योगाभ्यासादिकी निन्दा करते हैं तथा अपने और दूसरोंके कल्याणके मार्गमें कण्टक रोपकर अपनेको बुद्धिमान् समझते हैं। जो सर्वत्र रहता है, हमारे भीतर-बाहर विद्यमान है, जो नित्य परम पदार्थ है, विवेक-दृष्टिके अभावमें उस आत्माको समझने और जाननेकी चेष्टा न करके जो अनित्य और कष्टदायक हैं उन सब भोग्य द्रव्यादिकोंके प्रति वे लोलुप दृष्टि करते हैं और उसको प्राप्त करनेमें अपनेको भाग्यवान् तथा न प्राप्त करनेमें अभागा समझते हैं। ये सारे विपरीत भाव तामसी बुद्धिके लक्षण हैं, कलियुगमें इस प्रकारकी तामसी बुद्धिका प्रभाव अधिक हो जाता है ॥३२॥*

---

* भक्त तुलसीदासने अपने रामचरितमानसमें कलियुगके इन मोहान्ध लोगोंका जो सुन्दर चित्र अङ्कित किया है, वह यहाँ उद्धृत किया जाता है—

कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भये सद्ग्रन्थ।
दम्भिन्ह निजमति कल्पि करि, प्रगट किए बहु पन्थ।
भये लोग सब मोहबस, लोभ ग्रसे सुभ कर्म।
सुनु हरिजान सुज्ञान निधि, कहउँ कछुक कलि धर्म॥
बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुतिविरोधरत सब नर नारी॥
द्विज श्रुतिबेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जाकहँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारम्भ दम्भरत जोई। ताकहँ सन्त कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो पर धनहारी। जो कर दम्भ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवन्त बखाना॥
निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी। कलिजुग सोइ ज्ञानी बैरागी॥
जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥
अशुभ वेष भूषण धरे, भच्छाभच्छ जो खाहिं।
तेइ तापस तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलिजुग माहिं॥
नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मरकटकी नाईं॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ज्ञाना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
सब नर काम लोभ रत क्रोधी। वेद विप्र गुरु सन्त विरोधी॥
गुन मन्दिर सुन्दर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥
सौभागिनी विभूषणहीना। विधवन के सिंगार नवीना॥

(सात्त्विकी धृति)

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ !) योगेन (योगबलके प्रभावसे, एकाग्रतावश) अव्यभिचारिण्या (विषयान्तरकी धारणाके बिना) यया धृत्या (जिस धृतिके द्वारा) मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः (मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाएँ) धारयते (नियमित होती हैं) सा धृतिः सात्त्विकी (वह धृति सात्त्विकी है) ॥३३॥

श्रीधर—इदानीं धृतेः त्रैविध्यमाह—धृत्येति-त्रिभिः । योगेन चित्तैकाग्र्येण हेतुना, अव्यभिचारिण्या विषयान्तरम् अधारयन्त्या, यया धृत्या मनसः प्राणस्य इन्द्रियाणाञ्च क्रिया धारयते नियच्छति, सा धृतिः सात्त्विकी ॥३३॥

अनुवाद—[अब तीन श्लोकोंमें धृतिकी त्रिविधता बतलाते हैं]—चित्तकी एकाग्रताके कारण विषयान्तरकी धारणा न करके जिस धृतिके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंका नियमन या निरोध किया जाता है, वह धृति सात्त्विकी है ॥३३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रियाकी परावस्थामें अपने आपमें जब धारणा होकर मनका और प्राणवायुका तथा दस इन्द्रियोंका समस्त ज्ञानसे रहित होकर—धारणा-ध्यान-समाधि-पूर्वक स्थिर रहता है—तब अपने आपमें रहता है, दूसरी ओर आसक्तिपूर्वक तब दृष्टि नहीं जाती—इस प्रकारकी धारणाका ही नाम सात्त्विक धारणा है ।—"ध्रियते अनया इति धृतिः इति यत्नविशेषः" (आनन्दगिरि)—जिस यत्नविशेष द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रिया नियमित होती है उसे धृति कहते हैं । यह धारणा योगधारणा होनी चाहिए । समाधि-साधनके बिना यह नहीं होती । समाधि-साधनके बिना धारणा होने पर वह असिद्ध होती है । अतएव जो धारणा प्राणायाम करते-करते प्राणवायुके निरोधके कारण होती है, उसमें मन और इन्द्रियोंकी क्रिया निरुद्ध हो जाती है । तब दूसरी ओर दृष्टि नहीं जाती, अपने आपमें रहती है । यही सात्त्विक धृति है ।

साधारणतः अढ़ाई दण्ड इड़ामें, अढ़ाई दण्ड पिङ्गलामें और सामान्य क्षण सुषुम्नामें प्राण प्रवाहित होता है । इड़ा-पिङ्गलाकी क्रियाके द्वारा सुषुम्नामें श्वासकी गति होती है । तब क्रियाकी परावस्था या स्थिरत्व-पद प्राप्त होता है । इस प्रकार स्थिर होने पर समस्त इन्द्रियोंकी तथा मनकी विषयोंमें गति निवृत्त हो जाती है । यही पापशून्य अवस्था है । क्रिया करते-करते मनके चाञ्चल्यके क्षयके साथ पापका भी

गुरु सिख अन्ध बधिर कर लेखा । एक न सुनै एक नहिं देखा ॥
हरइ शिष्यधन शोक न हरई । सो गुरु घोर नरक महँ परई ॥
मातु पिता बालकन्ह बोलावहिं । उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं ॥
ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात ।
कौड़ी कारन लोभबस, करहिं विप्र गुरु घात ॥

क्षय हो जाता है, तब मन मनमें ही लीन हो जाता है। ब्रह्मके समान साधक भी समभावापन्न हो जाता है। तब अपने हृदय तथा हृदयस्थ देवताका अनुभव किया जाता है। वह परमानन्दकी अवस्था है। साधकका तब और कोई आश्रय या अवलम्बन नहीं रहता। इस प्रकारकी निरावलम्ब स्थिति ही क्रियाकी परावस्थामें है। इस स्थितिके द्वारा ही योगीलोग मणिबन्धके परे जो पद है उसे प्राप्त करते हैं। यही विष्णुका परम पद है। शरीरमें सर्वदा वायु चलती है। उस वायुके द्वारा क्रिया करके साधक पापसे मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। स्थिर पद ही ईश्वर है. वह प्राणरूपसे हृदयमें रहता है। यह स्थिर भाव जब विस्तृत होता है, तब महत् पद प्राप्त होता है। तभी ईश्वरकी महिमासे साधक अवगत होता है। यह स्थितिपद जितना ही बढ़ता है, उतनी ही धृति सात्त्विक होती है। तब मन अवलम्बनशून्य होकर स्थिर होता है, बिना चेष्टाके या बिना अवरोधके वायु स्थिर हो जाती है तथा दृष्टि भी किसी विषयमें लक्ष्य न होनेके कारण स्थिर हो जाती है। इस का दूसरा नाम खेचरी-सिद्धि है ॥३३॥

(राजसिक धृति)

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन !) यया धृत्या (जिस धृतिके द्वारा) धर्म-कामार्थान् (सारे धर्म, अर्थ और काम) धारयते (धारण किये जाते हैं अर्थात् त्यागे नहीं जाते) तु (किन्तु) प्रसङ्गेन (कर्त्तृत्वादि-अभिनिवेशके वश) फलाकाङ्क्षी- (फलकी कामना होती है) पार्थ (हे पार्थ !) सा धृतिः राजसी (वही धृति राजसी है) ॥३४॥

श्रीधर—राजसीं धृतिमाह—यया तु इति। यया तु धृत्या धर्मार्थकामान् प्राधान्येन धारयते—न विमुञ्चति, तत्प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी च भवति सा राजसी धृतिः ॥ ३४ ॥

अनुवाद—[राजसी धृतिके विषयमें कहते हैं]—जिस धृतिके द्वारा धर्म, अर्थ और काम प्रधानरूपमें अवधारित होते हैं उस धृतिको राजसी धृति कहते हैं ॥ ३४ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—धर्म-फलाकाङ्क्षाके साथ कर्म तथा अन्य सब कर्म फलाकाङ्क्षाके साथ जो धारणा होती है वह राजसिक धारणा है।—धर्म, अर्थ और काममें ही जो मग्न रहते हैं, मोक्षकी चिन्ताके लिए जिनके हृदयमें स्थान नहीं है, फलाकाङ्क्षासे ही जो कर्मसाधनमें प्रवृत्त होते हैं, वे मन और इन्द्रियोंके द्वारा केवल भोग-सुखकी ही आलोचना करते हैं, उनकी धृति ही राजसी धृति है। साधनादिका अभ्यास करने पर भी उनका चित्त वासनारहित होना नहीं चाहता। साधनाके द्वारा कब कौन फल प्राप्त होगा, इसी चिन्तामें मग्न रहते हैं। क्रिया करके कुछ स्थिर होने पर भी वे फलकी आकाङ्क्षा करते हैं। प्रसङ्गवश यदि इस प्रकारकी चिन्तामें कामना सिद्ध हो जाती है तो वे मनमें धारणा कर लेते हैं कि यदि वह अवस्था पुनः आती तो फिर कुछ कामना पूरी होती। यह मोक्षमार्गमें विशेष विघ्न उत्पादन करती है ॥३४॥

(तामसिक धृति)

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ !) दुर्मेधा (अविवेकी, दुर्बुद्धि पुरुष) यया (जिस धृतिके द्वारा) स्वप्नं (निद्रा) भयं (भय) शोकं (शोक) विषादं (विषाद) मदं च एव (और गर्व) न विमुञ्चति (परित्याग नहीं करता) सा धृतिः तामसी (वह धृति तामसी है) ॥ ३५ ॥

श्रीधर—तामसीं धृतिमाह—ययेति । दुष्टा अविवेकबहुला मेधा यस्य सः दुर्मेधाः पुरुषः, यया धृत्या स्वप्नादीन् न विमुञ्चति, पुनः पुनः आवर्त्तयति । स्वप्नेऽत्र निद्रा । सा धृतिः तामसी ॥३५॥

अनुवाद—[तामसी धृतिके विषयमें कहते हैं]—जिस धृतिके द्वारा स्वप्नादिको अर्थात् निद्रा, भय, शोक, विषाद तथा मदको परित्याग नहीं करता अर्थात् पुनः पुनः दुहराता है वह धृति तामसी है ॥ ३५ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—स्वप्न, भय, विषाद, गर्व—इस प्रकारके कर्ममें धारणा तामसिक कहलाती है ।—धृतिका अर्थ है धारणा । विगत सुख-दुःखादिकी या विषाद-शोककी जो स्मृति या धारणा हमारे चित्तमें लगी रहती है, वही समय समय पर मनमें उदित होती है तथा उदित होकर पुनः शोक-दुःख-मोहको उत्पन्न करती है । जिस धृतिके द्वारा इस प्रकार शोक-मोहप्रद विषय पुनः पुनः मनमें आवर्त्तित होते हैं, कदापि भूलते नहीं, वही तामसी धृति है । विषय-व्यापारको दुःखप्रद जानकर भी इस तामसी धृतिके संस्कार-वश हम विषयचिन्तनसे निवृत्त नहीं हो पाते । निद्रा भी हमारी एक तामसिक वृत्ति है, उसको हम तामसी धृतिके द्वारा पकड़े रहते हैं और प्रतिदिन नियमपूर्वक सो जाते हैं । निद्रा मनका एक प्रकारका आच्छन्न या तमोभाव है, उस समय मनकी क्रियाशीलता लुप्त हो जाती है । ऐसी बात नहीं है कि हम निद्राका त्याग नहीं कर सकते । ऋषि पतञ्जलिने निद्राको भी मनकी एक वृत्तिविशेष कहा है । निद्रामें भी एक प्रकारका प्रत्यय होता है, जिसके द्वारा हम निद्राकालीन अवस्थाको जाग्रत अवस्थामें स्मरण कर सकते हैं । मैं सुखसे सोया था, सोने पर मन आज खूब प्रसन्न जान पड़ता है, "प्रज्ञा मे विशारदी करोति"—मेरी प्रज्ञाको खूब विशुद्ध करती है—इस प्रकारकी निद्रा सात्त्विक निद्रा है । ऐसी निद्रामें देवदर्शन होता है, इष्ट फलकी प्राप्ति होती है । एक प्रकारकी और निद्रा है वह राजसिक है । मैं दुःखमें सोया था, मेरा मन अकर्मण्य हो गया है अर्थात् मनमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता, सुखसे या सहज ही कुछ स्मरण नहीं होता, मन मानो अनवस्थित होकर भ्रमण करता है, सोते-सोते असम्बद्ध स्वप्न देखता है, जागकर उठने पर मन अत्यन्त अप्रसन्न रहता है, यही राजसिक निद्रा है । तमोभावापन्न निद्रामें नींद खूब गाढ़ी होती है, परन्तु जागकर

उठने पर मन प्रसन्न नहीं रहता, शरीरकी थकावट दूर नहीं होती बल्कि शरीरपर एक बोझ-सा जान पड़ता है, चित्तकी जड़ता और आलस्य दूर होना नहीं चाहता। निद्राका निरोध न होने पर योगकी प्राप्ति नहीं होती। हमारे देशमें पूर्वयुगके महात्मा लोग अधिकांशमें जितनिद्र होते थे।

आत्मविचारशील तथा योगेश्वर पुरुषोंके भय, निद्रा, शोक और विषाद अल्प होते हैं, क्योंकि ये प्रकृतिके धर्म हैं, आत्माके नहीं। तामसिक प्रकृतिके लोगोंको ये विषय स्वाभाविक और अधिक मात्रामें होते हैं, अतएव वे अच्छे बननेकी चेष्टा भी भलीभाँति नहीं कर सकते। इस प्रकारके लोग साधनके साधारण क्लेशको भी सहन करना नहीं चाहते। एक दिन दैवात् यदि रात्रिमें जागकर साधनाभ्यास करते हैं तो तीन दिनों तक दिनमें सोते हैं और उससे शरीर और मन इतना जड़ हो जाता है कि पीछे कई दिनों तक नियमित समय पर नहीं उठ पाते। बहुतोंकी यह धारणा है कि निद्रा यदि भलीभाँति न हो तो रोग हो जायगा। परन्तु जो लोग रात्रिमें जागकर साधनाभ्यास करते हैं, उन सब सात्त्विक लोगोंको अधिक परिश्रम करने पर भी थकावट नहीं आती, यहाँ तक कि लगातार दो चार दिन न सोने पर भी दिनके समय नींद नहीं आती। आलस्य, निद्रा, भय ये तामसिक धर्म हैं। तमोगुणके रहते कोई योगी या आत्मज्ञ नहीं हो सकता। भगवान् इस धृतिके विषयमें कहते हैं कि जो तत्त्वज्ञानेच्छु हैं उनकी राजसिक या तामसिक धृति होनेसे काम नहीं चल सकता। राजसिक और तामसिक लोगोंको आत्मामें या भगवान्में प्रकृत विश्वास नहीं होता। उनके सङ्कल्पका भी कोई निश्चय नहीं होता, इस कारण वे साधनाके फल-लाभसे चिरवञ्चित होते हैं। सात्त्विक-धृति-सम्पन्न पुरुष ठीक इसके विपरीत होते हैं। उनको साधनाभ्यासमें आलस्य नहीं लगता, आत्मामें भी कोई सन्देह नहीं होता, इसी कारण वे अपने सङ्कल्पमें अटल होते हैं।

ज्ञानी पुरुष देहसम्बन्धी नहीं होते, इस कारण देहधर्म उनको स्पर्श नहीं कर पाता। चेष्टा करने पर लोग जितनिद्र या मृत्युभयशून्य हो सकते हैं, क्योंकि जो जितना ही आत्मस्थ होता है, वह उतना ही प्रकृतिके कारागारसे मुक्त होता है। मृत्यु-भय, शक्तिकी स्वल्पता या देहका अस्वास्थ्य—ये सब देहप्रकृतिके निजस्व हैं। जो देहप्रकृतिसे मुक्त है, वह प्रकृतिजात गुणोंसे व्याकुल न होगा। हमारे भीतर जो जीव है, वह प्रकृतिके साथ मिलकर बिलकुल जड़भावापन्न और शोकभयग्रस्त हो गया है। इस समय वह अपनी आत्मशक्तिमें विश्वास स्थापित नहीं कर पाता तथा रोग-शोक-विपदादिमें पड़कर अपनेको नितान्त असहाय समझ रहा है। आत्मा जन्म-जरा, रोग-शोक और मृत्युसे रहित है, आत्मा अभय और अमृत-स्वरूप है—इस आत्म-कथाकी आलोचना करके उसकी निद्रा भङ्ग करा देनी पड़ेगी। अपने प्रकृत स्वरूपका विश्वास पैदा करा देने पर रोग-शोक-परिपूर्ण बद्ध जीव फिर शोकातिग-अवस्था प्राप्त कर कृतकृत्य हो सकेगा॥३५॥

(त्रिविध सुख)

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तञ्च निगच्छति ॥३६॥

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ !) इदानीं तु (इस समय) त्रिविधं सुखं (तीन प्रकारके सुखके विषयमें) मे शृणु (मुझसे सुनो), यत्र (जिस सुखमें) अभ्यासात् रमते (अभ्यास द्वारा आनन्द पाता है) दुःखान्तं च (और दुःखका अवसान) निगच्छति (प्राप्त होता है) ॥३६॥

श्रीधर—इदानीं सुखस्य त्रैविध्यं प्रतिजानीते अर्द्धेन—सुखमिति । स्पष्टोऽर्थः । तत्र सात्त्विकं सुखं आह—अभ्यासादिति । यत्र यस्मिन् सुखे अभ्यासात् अतिपरिचयात् रमते, न तु विषयसुख इव सहसा रतिं प्राप्नोति, यस्मिन् रममाणश्च दुःखस्य अन्तं अवसानं नितरां गच्छति प्राप्नोति ॥३६॥

अनुवाद—[अब अर्द्धश्लोक-द्वारा सुखकी त्रिविधताके विषयमें कहते हैं]—जिस सुखमें नियमित अभ्यासके कारण अति परिचय प्राप्त करके रति प्राप्त होती है, विषयसुखके समान सहसा क्षणस्थायी रति नहीं प्राप्त होती, तथा जिसमें रत होने पर दुःखका अन्त हो जाता है वही सात्त्विक सुख है ॥३६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सुख तीन प्रकारके हैं—अभ्यासके द्वारा, क्रिया करके जहाँ पहुँचा जाता है वहाँ सुख है न, जो सुन्दर परव्योम देखता है क्रियाकी परावस्थामें रह-कर—दूरका अर्थात् दुःख अन्य वस्तुमें आसक्तिपूर्वक देखना—दुःख है दूरका ख=शून्य, पञ्चतत्त्वकी शून्याकार चटक-मटक देखता है आसक्तिपूर्वक उसीमें लगे रहकर लोग विव्रत हो जाते हैं—इसका ही नाम दुःख है—यह सर्वदा सबको होता है परन्तु क्रियाकी परावस्थामें इस दुःखका अन्त होता है।—कर्मतत्त्वके विषयमें कहते-कहते भगवान्ने कर्मके प्रवर्त्तक ज्ञान, कर्मके आश्रय कर्त्ता तथा कर्मके साधन—बुद्धि, धृति आदिके त्रिविध भेदोंका वर्णन किया। अब कर्मके फल सुखादिके भी त्रिविध भेद दिखलाते हैं। सुखके त्रिविध भेदको बतलाते समय किस प्रकारका सुख मनुष्यको वाञ्छनीय है तथा कौन-सा सुख अग्राह्य है, यह बतलाते हैं। भगवान् कहते हैं कि विषय-सुख ग्राह्य नहीं है। वह परिचित है और सहज ही मिलता भी है, परन्तु अन्त तक सुखप्रद नहीं होता, अतएव उसके प्रति आसक्त न होकर ऐसे सुखका सन्धान करना चाहिए जो सहसा प्राप्त न हो, पुनः पुनः अभ्यास करने पर प्राप्त हो तथा प्रकृत दुःखका अवसान हो जाय। यही समाधि-जनित सुख है। अभ्यास किसे कहते हैं? योगदर्शनमें लिखा है—"तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः"। चित्त जब वृत्तिशून्य होता है तो उस निरोध-प्रवाहको स्थिति कहते हैं। उस स्थितिके लिए जो पुनः पुनः उत्साहके साथ प्रयत्न किया जाता है, उसका नाम अभ्यास है। इस अभ्यासके द्वारा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक क्लेशोंका अवसान होता है। आध्यात्मिक क्लेश मानसिक है। दैवकी प्रतिकूलतासे अथवा पूर्वजन्मके कर्मोंके फलसे जो प्रतिबन्धकादि विघ्न आते हैं, वे ही आधिदैविक

क्लेश हैं। वात-पित्त-कफ-जनित शारीरिक क्लेश आधिभौतिक कहलाते हैं। इन दुःखोंका अन्त होने पर जो सुख प्राप्त होता है, वह गुणभेदसे तीन प्रकारका है। उस सुखको प्राप्त करनेके लिए अभ्यास करना आवश्यक होता है। क्रियाके अभ्यासके द्वारा धीरे-धीरे साधक उस सुखमय स्थानमें पहुँच जाता है, जहाँ पहुँचने पर (क्रियाकी परावस्थामें) अन्य वस्तुमें आसक्तिपूर्वक देखना, जो दुःखका ही नामान्तर है, फिर नहीं होता। सुख=सु+ख=सुन्दर आकाश अर्थात् परव्योम। व्योममें स्थितिके समान और कोई दूसरा उत्कृष्टतर सुख नहीं हो सकता। दुः+ख=दुःख अर्थात् जो परव्योमसे दूर हटा देता है। विषयासक्ति जिसकी जितनी अधिक होती है, वह परव्योमसे उतना ही दूर रहता है। पञ्चतत्त्वकी चटक-मटक देखकर लोग मुग्ध होकर उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं, परन्तु वहाँ शून्य भाण्ड टन् टन् करता है, सुखका आभास तो है परन्तु प्रकृत सुखका नाम तक नहीं रहता। जीव आपात-मनोहर वस्तु पाकर उसमें ही मुग्ध होकर परम सुखके प्रति उदासीन होकर समस्त जीवनको दुःखमय कर डालता है। विषयको प्राप्त होने पर दुःख नष्ट नहीं होता। क्रियाकी परावस्था ही एकमात्र दुःखका निवर्त्तक है ॥३६॥

(सात्त्विक सुख)

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं आत्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

अन्वय—यत् तत् (जो कुछ) अग्रे विषम् इव (पहले विषके समान) परिणामे (अन्तमें) अमृतोपमम् (अमृत-तुल्य होता है) आत्मबुद्धि-प्रसादजम् (जो आत्म-बुद्धिकी प्रसन्नतासे उत्पन्न होता है) तत् सुखं (वह सुख) सात्त्विकं प्रोक्तम् (सात्त्विक कहलाता है) ॥३७॥

श्रीधर—कीदृशं तत्—यत्तदिति। यत्तत् किमपि अग्रे—प्रथमं, विषमिव मनःसंयमाधीनत्वात् दुःखावहमिव भवति। परिणामे तु अमृतसदृशम्। आत्मविषया बुद्धिः आत्मबुद्धिः, तस्याः प्रसादः रजस्तमोमलत्यागेन स्वच्छतया अवस्थानं, ततो जातं यत् सुखं तत् सात्त्विकं प्रोक्तं योगिभिः ॥३७॥

अनुवाद—[वह सुख कैसा है, यह बतलाते हैं]—जो मनःसंयमके अधीन होनेके कारण पहले विषवत् दुःखावह जान पड़ता है, परन्तु परिणाममें अमृतके समान होता है, तथा जो सुख आत्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होता है उसको योगीजन सात्त्विक सुख कहते हैं। आत्म-विषयक बुद्धि ही आत्मबुद्धि कहलाती है, उसका प्रसाद अर्थात् रजस्तमोरूप मलका त्याग होने पर बुद्धिका जो स्वच्छ रूपमें अवस्थान है उससे जो सुख उत्पन्न होता है वह सात्त्विक है ॥३७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पहले विषकी जैसी ज्वाला होती है, उसी प्रकार सन्तोंकी मति या क्रियाकी बात सुनते ही अहङ्कारसे आवृत मन कभी ग्रहण करनेके लिए सम्मत नहीं होता—परन्तु एक बार कन्धा झुकाकर गुरुवाक्यमें विश्वास करके क्रियाके अभ्यासमें प्रवृत्त

होने पर अमृत (की प्राप्ति होती है)। अमृत तो सुना सबने है परन्तु किसीने कभी न देखा न अनुभव किया—क्रियाके बाद गुरुवाक्यके द्वारा उपदेश पाकर उसका अनुभव कर सकते हैं—उस अनन्त सुखको पाने पर ही अमर-पद प्राप्त होता है—सुषुम्नामें रहकर वह क्रिया होती है—इस कारण उसको सात्त्विक सुख कहते हैं। वह केवल आत्मामें बुद्धि स्थिर करके क्रियाके द्वारा होता है—आत्माकी ही कृपासे परमानन्द प्राप्त होता है।— सात्त्विक सुख इन्द्रियभोग-जनित सुख नहीं है। वह तपः-क्लेश, वैराग्य और ध्यानके द्वारा साधित होता है। इसी कारण उसका साधन सहज या अनायास-लभ्य नहीं है। इसका मार्ग प्राप्त करना सहज नहीं और पथ भी सुगम नहीं है। भुक्तभोगी लोग जानते हैं कि क्रिया पहले पहल यहाँ तक कि दो चार वर्ष अच्छी नहीं लगती। यद्यपि कोई इस मार्गको आग्रहके साथ ग्रहण करता है, तथापि कुछ ही दिन करके जब इसकी दुर्गमता और नीरसता समझमें आती है तब फिर उसका चित्त अग्रसर होना नहीं चाहता। पहले कुछ कुछ प्रयत्नमें शिथिलता आती है, फिर अन्तमें उधर पदार्पण करनेकी इच्छा नहीं होती, यहाँ तक कि बहुतोंको तब साधनामें बैठनेमें भी डर लगता है। परन्तु जो गुरुवाक्य पर निर्भर करके 'जो होना होगा वही होगा' कहकर फलाफलकी ओर न देखकर कन्धा भिड़ाकर क्रियाके अभ्यासमें चित्तको लगाये रखते हैं, वह एक न एक दिन साधनाकी उत्तप्त मरुभूमिको उत्तीर्ण कर साधनाकी परावस्थारूप सुशीतल शान्तिमय ह्रदमें अवगाहन करके कृतकृत्य हो जाते हैं। वह तब अमृत पान करके अमर हो जाते हैं। उनके ही सम्बन्धमें भक्तिसूत्रका यह कथन सार्थक है—"स तरति स तरति स लोकान् तारयति।" वह पार हो जाता है, वह तो पार होता ही है औरोंको भी पार कर देता है। जिस अमृतकी बात हम मुँहसे बोलते हैं या कानसे सुनते हैं, उस अमृतको वह साक्षात् रूपमें प्राप्त करते हैं। परन्तु यह अभ्यास सहज नहीं है। एक तो यह पहले-पहल बड़ा तीता लगता है, दूसरे दीर्घकाल तक इसका अभ्यास करना पड़ता है। इससे स्वल्प प्रेम वाले मनुष्यके धैर्यका बाँध टूट जाता है। दीर्घ समयतक तथा बहुत दिनों तक साधना किये बिना प्राण सुषुम्नामें प्रवेश नहीं करता। प्राणके सुषुम्नामुखी हुए बिना उस परम सुखका आस्वादन किसीको प्राप्त नहीं हो सकता। मन लगाकर बहुत दिनों तक क्रिया करने पर आत्म-गुरुकी कृपासे आत्मामें बुद्धि स्थिर हो जाती है और जिसको शास्त्रमें परमानन्द कहते हैं वह परमानन्द तब साधकको प्राप्त होता है। इन्द्रियसुख शरीरको लेकर होता है, परन्तु सात्त्विक सुखमें शरीरको भूलना पड़ता है। इस सुखके भोगके समय मनका सङ्कल्प नहीं रहता, उस समय मन बुद्धिके साथ मिलकर एक हो जाता है, प्राण भी स्पन्दन-शून्य हो जाता है, अतएव बुद्धिमें अन्य किसी विचारकी तरङ्ग नहीं उठती। तभी बुद्धिके साथ आत्माका मिलन होता है। यही 'सु=सुन्दरं, खं=शून्यं' है। विषय-सम्पर्कसे शून्य होनेके कारण बुद्धिमें रञ्च मात्र भी विषयका दाग नहीं पड़ता, उसमें केवल आत्मा ही लक्षित होता है। निद्रा-आलस्यसे होने वाला तामसिक सुख तथा विषयेन्द्रियके योगसे होने वाला राजसिक सुख यह नहीं है। बुद्धिके साथ आत्माके मिलनका जो सुख है वह वही सात्त्विक सुख है। इसमें शारीरिक चाञ्चल्य नहीं

होता, मनमें चञ्चलता नहीं होती, बुद्धिमें भी चाञ्चल्य नहीं होता। बुद्धि उस समय एकाग्र होकर निरुद्ध रहती है। उस समय अन्य अनुभव कुछ नहीं रहता। प्रकृत सुख उसीको कहते हैं। आत्मा आनन्दस्वरूप है, अतएव उस समय एक आनन्दके सिवा और कुछ अनुभव नहीं रहता। उस समय बुद्धि उसी आनन्दमें मिलकर आनन्दरूप हो जाती है ॥३७॥

(राजस सुख)

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

अन्वय—विषयेन्द्रियसंयोगात् (विषय और इन्द्रियके संयोगवश) यत् तत् (जो सुख होता है वह) अग्रे (पहले) अमृतोपमम् (अमृत-तुल्य होता है) [किन्तु] परिणामे विषम् इव (अन्तमें विष-तुल्य होता है) तत् सुखं (उस सुखको) राजसं स्मृतम् (राजस कहते हैं) ॥३८॥

श्रीधर—राजसं सुखमाह – विषयेति। विषयाणाम् इन्द्रियाणां च संयोगात् यत् तत् प्रसिद्धं स्त्रीसंसर्गादिसुखं, अमृतं उपमा यस्य तादृशं भवति, अग्रे प्रथमम्। परिणामे विषतुल्यम् इहामुत्र च दुःखहेतुत्वात्। तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

अनुवाद—[राजस सुखके विषयमें कहते हैं] —विषय और इन्द्रियके संयोगसे उत्पन्न सुख जैसे स्त्री-संसर्गादि पहले अमृतोपम होता है और परिणाममें विषतुल्य होता है। वह इहकाल में और परकालमें दुःखका हेतु है। इस प्रकारका सुख राजस सुख कहलाता है ॥ ३८ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—विषय इन्द्रिय अर्थात् फलाकाङ्क्षाके साथ आसक्तिपूर्वक देखनेमें पहले जान पड़ता है कि रक्षा हुई, ऐसी उत्तम वस्तु पा गया हूँ यह सोचकर मैथुन करता है, किन्तु यह मन स्थिर करके मैं अमर हूँ, मरूँगा नहीं, क्या मैं मरूँगा ? जो मुझको मर कहता है वह मरे—जो कभी मृत्युकी विवेचना नहीं करते वह भी मरेंगे, और जो मर कहते हैं, क्या वे बचेंगे—अर्थात् दोनों ही मृत्युग्रासमें पड़े हैं, तथापि लड़कोंके समान मिथ्या बातचीतको सत्य मानते हैं, अतएव बात ही बुरी है जिसको बोले बिना नहीं रह सकते—परन्तु क्रियाकी परावस्थामें अपने आप मौन हो जाता है। परिणाम-स्वरूप मैथुनके बाद किसी सड़ी हुई योनिमें लिङ्ग देकर विषके समान ज्वाला उपस्थित होती है—इसका ही नाम राजसिक सुख है।—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादिके साथ श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका आदि इन्द्रियोंका संयोग होने पर जो एक प्रकारका सुख उत्पन्न होता है वह पहले अमृतोपम जान पड़ता है। उसको पानेके लिए हमारा चित्त कितना व्यग्र होता है! जान पड़ता है कि ऐसी सुखप्रद वस्तु और कोई नहीं है। स्त्री-संगम आदि सुखोंकी समाप्तिके समय एक परिणाम-विरस-भाव आ उपस्थित होता है, जिससे वे सब सुख क्षणकालके बाद विषतुल्य लगने लगते हैं। मनमें बहुत घृणा होती है और वे सुख अत्यन्त तुच्छ जान पड़ते हैं। केवल यही नहीं, इस प्रकारकी इन्द्रिय-

परायणताका परिणाम और भी भयावह होता है। उससे बल, वीर्य, रूप, मेधा, धन और उत्साह सब विनष्ट हो जाते हैं। इन्द्रिय-तृप्तिके लिए कितने अधर्मका आश्रय लेना पड़ता है और उसके परिणाम-स्वरूप जीवको नरकादि महादुःख भोगना पड़ता है। मनुष्य इस सामान्य सुखके मोहसे पागलके समान अपना कितना अनिष्ट करता है, अपने भविष्यको कितना तमसावृत कर डालता है, इसको स्थिरतापूर्वक विचार करके देखने पर हृदय काँप उठता है। अब सात्त्विक सुखके साथ राजसिक सुखकी तुलना करके देखिये। राजसिक सुख सात्त्विक सुखके ठीक विपरीत है। राजसिक सुख पहले अमृत-तुल्य और पश्चात् विषके समान ज्वालाप्रद होता है। सात्त्विक सुख पहले विषके समान जान पड़ता है, परन्तु पश्चात् अमृतके समान लगता है। राजसिक सुखकी साधनामें कोई कष्ट नहीं होता, विषयके साथ इन्द्रियका संयोग होते ही सुख प्राप्त हो जाता है। परन्तु सात्त्विक सुख सहसा प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए साधन करना पड़ता है। अभ्यास करते करते प्राण तिक्त हो उठता है, परन्तु जब एक बार प्राण वशमें हो जाता है तब साधनामें सिद्धिलाभ होता है। बुद्धि निर्मल हो जाती है और उस शुद्ध बुद्धिमें आत्माका स्वरूप-दर्शन होता है। तब मनमें जो प्रसन्नता आती है, उसके साथ दूसरे किसी आनन्दकी तुलना नहीं हो सकती। वह सुख एकमात्र आत्मज्ञानसे ही प्राप्त हो सकता है। आत्मज्ञानमें जिनकी निष्ठा नहीं है, वे बाह्य वस्तुमें सुखकी आशा करते हैं। उन सुखोंके लिए उन्हें बहुत कष्ट सहन करना पड़ता है, उनके फलस्वरूप नाना प्रकारके दुःसाध्य रोगोंको भोगना पड़ता है तथा मरणोपरान्त नरक-भोग करना पड़ता है। राजसिक सुख तो केवल वासनाकी परितृप्तिका साधन है, इसी कारण वह चञ्चल है, इस सुखके लिए अन्य वस्तुकी अपेक्षा करनी पड़ती है। सात्त्विक सुख इन्द्रियके साथ विषयके संयोगसे नहीं उत्पन्न होता। वह मन, प्राण और बुद्धिकी स्थिरतासे उत्पन्न होता है, अतएव वह अचञ्चल है तथा विषयमिश्रित नहीं है। इसी कारण वह निर्मल आकाशवत् स्वच्छ तथा सर्वतोमुखी है। वह केवल परमानन्द-स्वरूप है, उसमें दुःखकी तरङ्गें नहीं उठतीं। राजसिक सुख देहेन्द्रियक संयोगसे उत्पन्न होता है और सात्त्विक सुख देहेन्द्रियादिकी अतीत अवस्थामें प्राप्त होता है ॥३८॥

(तामस सुख)

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

अन्वय—यत् च सुखं (और जो सुख) अग्रे अनुबन्धे च (पहले और पश्चात्) आत्मनः मोहनं (बुद्धिके लिए मोहप्रद होता है) निद्रालस्यप्रमादोत्थं (निद्रा, आलस्य और प्रमादसे पैदा होता है) तत् (वह सुख) तामसम् उदाहृतम् (तामस कहलाता है) ॥३९॥

श्रीधर—तामसं सुखमाह—यदिति। अग्रे च प्रथमक्षणे, अनुबन्धे च पश्चादपि यत् सुखं आत्मनो मोहकरं तदेवाह—निद्रा च, आलस्यञ्च प्रमादश्च—कर्त्तव्यार्थावधानराहित्येन मनोग्राह्यम् एतेभ्य उत्तिष्ठति यत् सुखं तत् तामसम् उदाहृतम् ॥३९॥

अनुवाद—[तामस सुखके विषयमें कहते हैं]—जो पहले और पीछे आत्माके लिए मोहप्रद है तथा जो निद्रा, आलस्य, प्रमाद और कर्त्तव्यकर्ममें अनवधानता आदि विषयोंसे उत्पन्न होता है, वह सुख तामस कहलाता है ॥३९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पहले मनको बाँध डालता है, किञ्चित् अल्पसुखके लिए मोहित कर देता है—वह निद्रामें पहले अनुभव होता है। यद्यपि जब कोई बाधा देता है तब अनुभव होता है। उसी प्रकार आलस्यमें भी। तथा रुष्ट होनेमें अथवा किसी विषयमें प्रमत्ततापूर्वक आसक्तिके साथ दृष्टि करना—इसको तामसिक सुख कहते हैं अर्थात् कुछ भी देख नहीं पाता।—जो सुख आत्मज्ञानसे उत्पन्न नहीं होता या विषयेन्द्रियके संयोगवश भी नहीं होता, बल्कि निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होता है वही तामसिक सुख है। रातभर सोकर भी दिनमें खर्राटेकी नींद लेते हैं, सामान्य जप-ध्यानमें भी मनोनिवेश नहीं कर पाते, यदि करते भी हैं तो केवल तन्द्रा! बिना निद्राके चारपाई पर पड़े रहते हैं, थोड़ी देर भी बैठ नहीं सकते, थोड़ी देर बैठने पर सोनेकी इच्छा करते हैं। जगे हुए हैं तथापि कोई कर्त्तव्य कर्म उपस्थित होने पर उसे कदापि नहीं करते, करनेके लिए कहने पर बिगड़ जाते हैं। क्या सोनेसे, बैठे रहनेसे, आलस्यमें कालक्षेप करनेसे किसीको सुख मिलता है? अवश्य ही इसमें एक प्रकारका सुख है, परन्तु भोगादिके समान इन्द्रिय-तृप्ति या चित्तविश्रान्तिके कारण यह सुख नहीं होता। मनमें तो सैकड़ों कल्पनाएँ करता है, परन्तु उठने या कुछ करनेके लिए कहने पर बिगड़ उठता है—इससे जान पड़ता है कि इस आलस्य या जड़ताके भीतर भी एक प्रकारका सुख है, नहीं तो मनुष्य उसे छोड़ना क्यों नहीं चाहता। यह सुख वस्तु-तन्त्रतासे शून्य होता है। यह एक प्रकारका बुद्धिका आच्छन्न भावमात्र है। मादक द्रव्य ग्रहण करने पर भी इसी जातिका सुख अनुभूत होता है। परन्तु इससे बड़ी हानि होती है। इस तमोभावके कारण देह और मनकी शक्ति दिन-दिन ह्रासको प्राप्त होती है, ज्ञानकी उज्ज्वलता घट जाती है, कोई कर्त्तव्य निश्चय नहीं कर पाते। आलस्य और अतिनिद्राके फलसे बहुतेरे शक्तिशाली पुरुष भी जीवनमें सफलता-प्राप्तिसे वञ्चित हो जाते हैं। तीक्ष्ण प्रतिभा रहने पर भी आलस्यसे उनकी गति अति मन्द हो जाती है। तमोगुण एक प्रकारकी मादकता प्रदान करता है, उसमें किसी प्रकारका विचार नहीं रहता। शराब पीकर सारी रात नालीमें पड़े-पड़े लोटते रहते हैं और सवेरे उठकर फिर शराबखानेकी ओर दौड़ते हैं! यह दशा देखकर लोग कितनी घृणा करते हैं, आत्मीय जन कितना बुरा-भला कहते हैं, स्त्री-पुत्रके कष्टकी सीमा नहीं रहती, तथापि इस सामान्य सुखका लोभ नहीं छूटता। इस श्रेणीके सुखको ही तामसिक सुख कहते हैं ॥३९॥

(त्रिगुणसे कोई मुक्त नहीं)

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

अन्वय—पृथिव्यां (पृथिवीमें) दिवि वा (अथवा स्वर्गमें) देवेषु वा पुनः (अथवा देवताओंमें) तत् सत्त्वं नास्ति (वैसा प्राणी या वस्तु नहीं है) यत् (जो) प्रकृतिजैः (प्रकृतिसे उत्पन्न) एभिः त्रिभिः गुणैः (इन तीन गुणोंसे) मुक्तं स्यात् (मुक्त हो) ॥४०॥

श्रीधर—अनुक्तमपि संगृह्णन् प्रकरणार्थम् उपसंहरति—न तदिति । एभिः प्रकृतिसम्भवैः सत्त्वादिभिः गुणैः, मुक्तं हीनं, सत्त्वं प्राणिजातम् । अन्यत् वा यत् स्यात् तत् पृथिव्यां—मनुष्यलोकादिषु दिवि देवेषु च क्वापि नास्तीत्यर्थः ।४०॥

अनुवाद—[तीन श्लोकों द्वारा प्रकरणार्थका उपसंहार करते हैं]—जड़ या चेतन कोई वस्तु प्रकृतिजात सत्त्वादि त्रिगुणसे मुक्त नहीं है । पृथिवीके मनुष्योंमें या स्वर्गके देवताओंमें कोई नहीं है जो गुणोंसे मुक्त हो ॥४०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पृथिवीमें स्वर्गमें देवता और क्रियान्वित व्यक्ति—इस प्रकृतिमें तीन गुण हैं इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना—सत्त्व, रजः, तमः—इन तीन गुणोंसे मुक्त उसके तुल्य कोई नहीं है ।—प्रकृतिका परिणाम यह जगत् है, अतएव जगत्की कोई वस्तु या कोई प्राणी सत्त्वादि गुणोंसे मुक्त नहीं है । जहाँ सत्त्वादि गुण हैं, वहाँ तदनुसार कर्म भी होते हैं । इन सब भेदोंको दिखलानेके लिए भगवान्ने ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, बुद्धि, धृति और सुखका त्रैविध्य दिखलाया है जिससे लोग समझ सकें कि किस प्रकारके कर्म करणीय हैं और किस प्रकारके कर्म त्याज्य हैं । सर्वभूतोंमें एकात्मताका ज्ञान ही सात्त्विक ज्ञान है । जो सात्त्विक कर्त्ता होता है उसके लिए सात्त्विक ज्ञानके कारण आसक्ति-रहित होकर कर्म करना स्वाभाविक हो जाता है । उसकी बुद्धि भी सात्त्विक होती है, अतएव प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्यके सम्बन्धमें उसका ज्ञान निश्चित और सुदृढ़ होता है । जिस कर्मसे बन्धन होता है उस कर्ममें वह कभी प्रवृत्त नहीं हो सकता । उसकी प्रवृत्ति इस प्रकारके कार्योंमें नहीं होती, इसका कारण यह है कि उसकी धृति सात्त्विक होती है अर्थात् समाधिसाधन द्वारा बुद्धि मालिन्यरहित हो जाती है । वात्याहत तरणीके समान इन्द्रियाँ उसको यत्र तत्र निक्षेप करें, इसकी सम्भावना ही नहीं रहती । इस प्रकारके संयमके फलसे जो परमानन्द प्राप्त होता है, वह सात्त्विक कर्त्ता निश्चय ही प्राप्त करेगा । इस निर्मल आनन्दको छोड़कर विषयोंका मलिन वारि पान करनेकी उसके लिए सम्भावना ही नहीं होती । इसीसे भगवान्ने इन सब गुणजात कर्मों तथा बुद्धिके भेदोंको दिखलाकर साधकको सावधान कर दिया है कि आत्मा निर्गुण है, अतएव कोई कर्मफल उसको बन्धनमें नहीं डाल सकता । इसलिए उस आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित हुए बिना कदापि त्रिगुणको अतिक्रम

नहीं कर सकते। ये गुणत्रय ही आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेमें प्रधान बाधक हैं। इसीसे कहते हैं कि गुणत्रयमें सत्त्व ही निर्मल और प्रकाशधर्मी है, अतएव यदि सत्त्वगुणका आश्रय कर सको तो ब्रह्म-संस्पर्श प्राप्त हो जायगा, ब्रह्मका प्रकाश अनुभवमें आयेगा। उसका प्रकाश अनुभूत होने पर जीवको गुणत्रय मुग्ध करके नहीं रख सकते। त्रिगुणमयी प्रकृति ही इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना है। इड़ा-पिङ्गलामें जबतक प्राणका प्रवाह चलता है तबतक संसार-दृष्टि नष्ट नहीं होती। इसलिए क्रियाका अभ्यास करना चाहिए। क्रियाके अभ्याससे जब प्राण सुषुम्नावाही होने लगता है तो विचित्र रूप और विचित्र शब्दका दर्शन-श्रवण होता है। अपरिचित और अज्ञात देशके उन विचित्र दृश्योंको देखकर चित्त फिर बाह्य जगत्के चित्रोंको देखनेके लिए व्याकुल नहीं होता। पश्चात् सुषुम्नामें प्राणके रहते-रहते अपने आप गुणातीत अवस्था प्राप्त होती है। जैसे तिलमें तेल, दधिमें घृत, स्रोतमें जल तथा काष्ठमें अग्नि रहती है, उसी प्रकार प्रकृतिमें ब्रह्म रहता है। प्रकृति भी ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। क्रियाके द्वारा देह-प्रकृतिके भीतर उसको परावस्थारूपमें लक्ष्य कर सकते हैं। कूटस्थमें रहते रहते अनुभव होता है मानो आत्माको देख रहा हूँ। पश्चात् फिर द्रष्टा मैं भी नहीं रहता। जैसे दुग्धके प्रत्येक अणुमें घृत रहता है, उसी प्रकार सर्वव्यापी आत्मा सबके भीतर प्रकाशित होता है। कूटस्थमें रहते रहते यह बोध निश्चल हो जाता है। अतएव क्रियाका अभ्यास करके कूटस्थ-दर्शनकी योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है। इससे साधक इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाकी अतीतावस्था प्राप्त कर सत्त्व, रजः और तमः इन तीनों गुणोंको अतिक्रम कर सकता है। इन तीन गुणोंसे देवता, मनुष्य और इतर प्राणी सब आबद्ध रहते हैं। इस त्रिगुणके बन्धनसे मुक्त हुए बिना जीवके दुःखभोगका अवसान नहीं होता ॥४०॥

(कर्म-विभाग और तदनुयायी त्रिवर्ग)

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

अन्वय—परन्तप (हे परन्तप !) ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके) कर्माणि (सारे कर्म) स्वभावप्रभवैः गुणैः (स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा) प्रविभक्तानि (विभक्त हुए हैं) ॥४१॥

श्रीधर—ननु च यद्येवं सर्वमपि क्रियाकारकफलादिकं प्राणिजातञ्च त्रिगुणात्मकमेव तर्हि कथं अस्य मोक्षः ? इति अपेक्षायां स्वस्वाधिकारविहितैः कर्मभिः परमेश्वराराधनात् तत्प्रसादलब्धज्ञानेन इत्येवं सर्वगीतार्थसारं संगृह्य प्रदर्शयितुं प्रकरणान्तरं आरभते—ब्राह्मणेत्यादि-यावदध्यायसमाप्तिः। हे परन्तप—हे शत्रुतापन, ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां विशां शूद्राणां च कर्माणि प्रविभक्तानि—प्रकर्षेण विभागतो विहितानि। शूद्राणां समासात् पृथक्करणं द्विजत्वाभावेन वैलक्षण्यात्। विभागोपलक्षणमाह। स्वभावः—सात्त्विकादिः, प्रभवति—प्रादुर्भवति येभ्यः तैः गुणैः उपलक्षणभूतैः। यद्वा, स्वभावः—पूर्वजन्मसंस्कारः, तस्मात् प्रादुर्भूतैः

इत्यर्थः। तत्र सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणाः। सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानाः क्षत्रियाः। तम-उपसर्जन-रजःप्रधानाः वैश्याः। रज-उपसर्जनतमःप्रधानाः शूद्राः ॥४१॥

अनुवाद—[यदि क्रिया-कारक-फलादि तथा प्राणिसमूह ये सब त्रिगुणात्मक हैं, तो प्राणियोंकी मुक्ति कैसे सम्भव होगी, इस आशङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि स्व-स्व अधिकार-विहित कर्मोंके द्वारा ईश्वरकी आराधना करने पर उनकी कृपासे प्राप्त ज्ञानके द्वारा मुक्ति होती है। समस्त गीतार्थके सारको 'ब्राह्मण' इत्यादि श्लोकसे अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त प्रकरणान्तरसे कह रहे हैं]—हे शत्रुतापन! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रके सारे कर्म प्रविभक्त हैं अर्थात् प्रकृष्टरूपमें विभाग करके विहित हैं। ये वर्ण सात्त्विक-राजसिकादि स्वभावसे प्रादुर्भूत अथवा पूर्वजन्मके संस्कारसे प्रादुर्भूत गुणोंके द्वारा विभक्त हैं। उनमें ब्राह्मण सत्त्वप्रधान, क्षत्रिय सत्त्वमिश्रित-रजःप्रधान, वैश्य तमःउपसर्जित-(मिश्रित)-रजःप्रधान और शूद्र रजोमिश्रित-तमःप्रधान हैं ॥४१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—जो जैसा जैसा कर्म करते हैं, वे वैसी वैसी श्रेणीमें विभक्त हुए हैं—स्वभाव अर्थात् आत्मामें रहकर अटके रहना क्रियाकी परावस्था—इसके द्वारा जिसका जैसा गुण होता है, वह उसी प्रकारकी जातिमें विभक्त होता है।—त्रिगुणात्मिका माया ही इस संसारका कारण है। यह माया यदि भगवान्‌की है तो उनके साथ ही रहती है और रहेगी, अतएव उसकी निवृत्ति कभी सम्भव नहीं हो सकती, इस आशङ्काका निवारण करनेके लिए, जिस उपायसे संसार-कारणकी निवृत्ति हो सकती है, भगवान् वही उपाय अब बतलावेंगे। चतुर्दश अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है कि प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्व, रजः और तमोगुण इस अव्यय देहीको आबद्ध करते हैं। अतएव इस गुणत्रयको जो अतिक्रम नहीं कर सकता उसे स्व-स्वरूपमें अवस्थान या मुक्तिप्राप्तिकी आशा नहीं है। कठिन होने पर भी भगवद्भक्ति और असङ्ग-शस्त्रके द्वारा गुणत्रयका अतिक्रमण किया जा सकता है। परन्तु असङ्ग-शस्त्र और भगवद्भक्तिकी प्राप्तिके लिए जीवको उपयुक्त बनना पड़ता है। जीवको इसका अधिकारी बनानेके लिए ही वेदोक्त वर्णाश्रम-धर्मकी आवश्यकता है। सब जीव एकबारगी ब्रह्मज्ञ नहीं हो सकते। इस ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए प्रत्येक जन्ममें मनुष्यको प्रयत्न करते रहना पड़ता है। इस प्रयत्नके फलस्वरूप वेदमार्गमें अधिकार उत्पन्न होता है। तब अपने अपने साधन और चेष्टाके अनुसार कोई वैश्य, कोई क्षत्रिय अथवा कोई ब्राह्मण होता है। इस अधिकार-प्राप्तिके पहले सभी शूद्र रहते हैं। अब यहाँ संशय यह हो सकता है कि जब भगवान् सब भूतोंमें समदृष्टि-सम्पन्न हैं, तब उन्होंने फिर पृथक्-पृथक् वर्ण और धर्मकी सृष्टि क्यों की। यह संशय दूर करनेके लिए भगवान् कहते हैं कि चतुर्वर्णकी सृष्टिके लिए कोई उत्तरदायी नहीं है। यह "स्वभावप्रभवैर्गुणैः" है। पूर्वपूर्व जन्मोंका संस्कार ही स्वभाव कहलाता है, उस स्वभावके अनुसार ही सबका जन्म होता है। इच्छानुसार कोई ब्राह्मण-शूद्रादिरूपमें सृष्टि नहीं करता, न यह कपोलकल्पित ही है। स्वभाव ही इसका कारण है। इस स्वभाव

या प्रकृतिमें रहने पर गुणके तारतम्यके अनुसार कर्मका भी पृथक् पृथक् विभाग हो जाता है और उसके फलस्वरूप ब्राह्मण-शूद्रादि चतुर्वर्णकी उत्पत्ति होती है। जहाँ सत्त्वगुणकी अधिकता होती है वहाँ ब्राह्मण और जहाँ सत्त्वमिश्रित रजोगुण होता है वहाँ क्षत्रियकी उत्पत्ति होती है। तमोमिश्रित रजोगुण वैश्य-स्वभावका तथा रजोमिश्रित तमोगुण शूद्रस्वभावका कारण है। मनुष्यका पूर्वजन्मकृत धर्माधर्मरूप संस्कार ही स्वभाव है। उस स्वभावसे गुण उत्पन्न होकर सृष्ट पदार्थ (स्थावर—जङ्गम) आदिको चार वर्णोंमें विभक्त करते हैं। जो लोग वर्णाश्रमविहित स्वकर्म किया करते हैं वे परजन्ममें और भी उच्च वर्णमें जन्म लेते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण-कुलमें आकर ब्राह्मणोचित कर्म करके मुक्तिप्राप्तिका अधिकार प्राप्त करते हैं। परन्तु ब्राह्मणकुलमें जन्म लेकर यदि कोई सदाचार-भ्रष्ट हो जाता है तो उसकी उन्नतिके मार्गमें विघ्न आ जाता है और वह सम्भवतः अगले जन्ममें शूद्रत्वको भी प्राप्त हो सकता है। तथा "शूद्र भी सदाचारनिरत होकर अपने कर्त्तव्य कर्मोंका अनुष्ठान करे तो अगले जन्ममें ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेमें समर्थ होता है"—(महाभारत, अनुशासनपर्व)। ब्राह्मण स्वधर्मभ्रष्ट हो तो इसी जन्ममें उसका पतन अनिवार्य है। जान पड़ता है कि इसी कारण ब्राह्मणोंको अत्रिसंहितामें देव, मुनि, द्विज, राजा, वैश्य, शूद्र, निषाद, पशु, म्लेच्छ और चाण्डाल इन दस श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है। इसीसे प्रतीत होता है कि ब्राह्मण-कुलमें जन्म लेनेसे ही कोई प्रकृत ब्राह्मण नहीं हो सकता। ब्राह्मण-वंशमें उत्पन्न पुरुषको भी ब्राह्मण होनेके लिए चेष्टा करनी पड़ती है। ब्राह्मण-सन्तानके लिए शुभ मार्गमें चलना अन्य वर्णकी अपेक्षा सहज-साध्य है, क्योंकि उनको स्वाभाविक उत्तम प्रकृति प्राप्त होती है। उनके लिए सत्पथमें चलना अन्य वर्णकी अपेक्षा सहज जान पड़ता है। अन्तर्लक्ष्यकी बात यह है कि पिङ्गलामें श्वास बहते रहने पर जो कर्म किये जाते हैं वे शूद्रके अनुरूप तमोगुणान्वित होते हैं अर्थात् वे मनुष्यको शोक-मोहसे मुह्यमान करते हैं। पुनः जब इड़ामें श्वास चलता है तब रजोगुण प्रबल होता है, कर्म-प्रवृत्ति होती है, विषयवासनाका अन्त नहीं रहता—यही वैश्यभाव है। उस समय मन केवल व्यापारमें व्यस्त रहता है, कैसे दो पैसे मिलेंगे, किस प्रकार धन बढ़ेगा, इस प्रकारकी विविध तृष्णाओंसे जीव व्याकुल रहता है। उस समय कुछ धर्मकार्य करने पर भी उसकी दृष्टि लाभहानिके हिसाबकी ओर अधिक रहती है। जब सुषुम्नामें श्वास बहने लगता है और बीच-बीचमें दूसरे मार्गमें भी चलता है तब क्षत्रिय-भाव होता है। तब इच्छा तो रहती है, परन्तु समस्त कार्य भगवत्प्रीत्यर्थ अनुष्ठित होते हैं। यदि कोई विपद्ग्रस्त होता है तो सत्त्वगुण प्रबल होनेके कारण क्षत्रियभावापन्न जीव उसकी सहायता अवश्य करेगा। दूसरोंका दुःख दूर करनेके लिए अपना सर्वस्व लुटा देनेमें भी वह कुण्ठित नहीं होगा। भवरोग-निवारणके लिए सदुपदेश देकर निरुपाय जीवको साधनाका पथ दिखलाकर क्षत्रियभावापन्न साधक उसका यथार्थ उपकार किया करते हैं। वे बीच-बीचमें क्रियाकी परावस्थामें रहते हैं, इसी कारण सब जीवोंको आत्मोपम देखनेका सामर्थ्य प्राप्त करते हैं। जिनका श्वास अधिकतर सुषुम्नामें चलता है तथा

जो बीच-बीचमें इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाकी अतीत अवस्था भी प्राप्त करते हैं, वे ही ब्रह्मज्ञ पुरुष या ब्राह्मण हैं। वे और भी प्रयत्न करने पर गुणातीत अवस्थामें नित्य प्रतिष्ठित हो सकते हैं। तब वे सब वर्णोंके अतीत होकर प्रकृत त्यागी हो जाते हैं। उनका बाहरी शरीर शूद्र, वैश्य अथवा क्षत्रिय होने पर भी वह ब्राह्मण तथा सब वर्णोंके लिए नमस्य होते हैं। इन मुक्त पुरुषोंकी वस्तुतः कोई जाति नहीं होती, वे गुणातीत होते हैं, इसलिए गुणकर्मके विभागकी बात उनके सम्बन्धमें घटित नहीं होती। इसी कारण देखा जाता है कि कबीर, दादू, नानक, यवन हरिदास नीच-कुलमें जन्मग्रहण करने पर भी ब्राह्मणवत् पूजित हो चुके हैं तथा अनेक सद्ब्राह्मण भी उनके चरणोंका आश्रय लेकर कृतकृत्य हो गये हैं ॥४१॥

(ब्राह्मणके स्वाभाविक गुण-कर्म)

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

अन्वय—शमः (अन्तरिन्द्रिय-निग्रह अर्थात् मनः-संयम), दमः (बाह्येन्द्रिय-निग्रह अर्थात् इन्द्रियसंयम) तपः (तपस्या) शौचं (शौच) क्षान्तिः (क्षमा) आर्जवं (सरलता, कुटिलता-राहित्य) ज्ञानं (ज्ञान, पाण्डित्य) विज्ञानं (विज्ञान, तत्त्वानुभव) एवं च आस्तिक्यम् (और आस्तिकता, परलोक और पुनर्जन्ममें विश्वास तथा वेदादिमें श्रद्धा) ब्रह्मकर्मस्वभावजम् (ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्म हैं) ॥४२॥

श्रीधर—तत्र ब्राह्मणस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह—शम इति। शमः—चित्तोपरमः। दमः—बाह्येन्द्रियोपरमः। तपः—पूर्वोक्तं शारीरादि। शौचं—बाह्याभ्यन्तरम्। क्षान्तिः - क्षमा। आर्जवम्—अवक्रता। ज्ञानं—शास्त्रीयम्। विज्ञानं अनुभवः। आस्तिक्यं—अस्ति परलोक इति निश्चयः। एतत् शमादि ब्राह्मणस्य स्वभावात् जातं कर्म ॥४२॥

अनुवाद—(ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्मोंको कहते हैं]—शम अर्थात् चित्तका उपरम, दम अर्थात् बाह्येन्द्रियोंका उपरम, तपः—शरीरसम्पाद्य तपस्यादि, शौच अर्थात् बाह्याभ्यन्तर-शुद्धि, क्षान्ति—क्षमा, आर्जव—अवक्रता, ज्ञान—शास्त्रीय ज्ञान, विज्ञान—अनुभव, आस्तिक्य अर्थात् परलोक है इस प्रकारका निश्चय। ये समस्त ब्राह्मणके स्वभावजात कर्म हैं ॥४२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अब सबके कर्म विशेषरूपसे कह रहे हैं—शम क्रियाकी परावस्था, सबको समानरूपसे देखना और षड् इन्द्रियोंका दमन करना; कूटस्थ व्योममें रहना—शौच = ब्रह्ममें रहना, सब विषयोंसे अर्थात् फलाकाङ्क्षाके सहित कर्मसे निरस्त—जो मनमें होता है वही बोलते हैं—ज्ञान = योनिमुद्रामें देखते हैं—देखते हैं क्रियाकी परावस्थामें रहकर, जहाँ दिन-रात कुछ भी नहीं है, वहाँ सब देखते हैं कोई वस्तु या ईश्वर ब्रह्म हैं—इस प्रकार जो जानता है वही ब्राह्मणका कर्म करता है—अपने आप क्रियाकी परावस्थामें स्थित होकर।—**शम, दम, तपस्या, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक धर्म हैं। इन धर्मोंके द्वारा ही उनके ब्राह्मणत्वका परिचय मिलता है। वह क्रियाकी परा-**

वस्थामें रहते हैं, इसलिए सबको समान भावसे देखते हैं। उनकी इन्द्रियाँ स्वभावतः अन्तर्मुख होती हैं, इसलिए उनकी बाह्य क्रिया अधिक नहीं होती। कूटस्थमें उनका स्वाभाविक लक्ष्य होता है, इसलिए उनका मन शून्यवत् हो जाता है। उनकी सदा ब्राह्मी स्थिति होती है, इसी कारण किसी कर्ममें उनकी फलाकाङ्क्षा नहीं होती। वह किसीका दोष नहीं देखते, अतएव क्षमा सदा उनको वरण करती है। वह योनिमुद्रामें बहुत कुछ देखते हैं और देखकर नयी-नयी अभिज्ञता प्राप्त करते हैं। जो ज्ञान बाह्य चेष्टासे नहीं हो सकता, उन सबको वह कूटस्थके भीतर देखते हैं। वह विज्ञान-पदमें आरूढ़ होते हैं अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें नशेमें मत्त होकर सबके भीतर रहनेवाले ऐक्यका अनुभव करते हैं। उस अवस्थामें योगीको अनुभव होता है कि वहाँ दिन-रात कुछ भी नहीं है, तथापि एक प्रकारका अनिर्वचनीय प्रकाश सर्वदा वर्त्तमान रहता है। यह सब देख और सुनकर ईश्वर या ब्रह्मके अस्तित्वमें उनको कोई सन्देह नहीं रहता। क्रियाकी परावस्थामें अपने आपमें रहकर वे जो कुछ व्यावहारिक कर्म करते हैं वह सब उस समय ब्राह्म कर्म होता है। भगवान्‌के अस्तित्वमें विश्वास ही साधककी चरम उपलब्धि है। "अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति"—आत्मा है इसकी निश्चित उपलब्धि जिसको हो जाती है उस साधककी बुद्धिमें आत्माका प्रकृत स्वरूप सुस्पष्टरूपसे प्रकाशित हो जाता है। समाधिसाधन द्वारा इस अस्तित्वकी उपलब्धि हो सकती है। (इनकी व्याख्या १३ वें और १७ वें अध्यायमें देखिये)॥ ४२॥

(क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म)

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥४३॥

अन्वय—शौर्यं (पराक्रम) तेजः (वीर्य) धृतिः (धैर्य) दाक्ष्यं (कार्यमें कुशलता) युद्धे च अपि अपलायनम् (तथा युद्धमें न भागना) दानम् (मुक्तहस्तता, औदार्य) ईश्वरभावः च (प्रभुशक्ति या नियन्तृत्व) क्षात्रं (क्षत्रियका) स्वभावजं कर्म (स्वाभाविक कर्म है)॥ ४३॥

श्रीधर—क्षत्रियस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह—शौर्यमिति। शौर्यं पराक्रमः। तेजः प्रागल्भ्यम्। धृतिः धैर्यम्। दाक्ष्यं कौशलम्। युद्धे चाप्यपलायनम्—अपराङ्मुखता। दानम् औदार्यम्। ईश्वरभावः नियमनशक्तिः एतत् क्षत्रियस्य स्वाभाविकं कर्म॥ ४३॥

अनुवाद—[क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म बतलाते हैं]—पराक्रम, तेज, प्रागल्भ्य अर्थात् प्रत्युत्पन्नमतित्व, दक्षता, युद्धमें अपराङ्मुखता, उदारता, शासनकी क्षमता—ये सब क्षत्रियके स्वभावजात कर्म हैं॥ ४३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शौर्य = क्रिया करना = उसके द्वारा क्षमता दिखाना; धृति = अपने आप क्रियाकी परावस्थामें रहना; दाक्ष्य अर्थात् सर्वदा क्रिया करना गुरुवाक्यके द्वारा जो लभ्य है—क्रिया करनेसे नहीं हटना अर्थात् दिवारात्रि क्रिया करना, क्रिया दान करना, सर्वदा क्रियाके परे हृदयमें स्थिति—ये क्षत्रियके कर्म हैं, इस क्रियाकी परावस्थामें रहकर।—

क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं (१) शौर्य—आठों पहर क्रिया करना। (२) तेजः—क्रिया करके क्रियाका फल विभूति आदि दिखा सकना। क्रिया श्रद्धापूर्वक करते करते साधकमें अन्तःशक्तिका विकास होता है। यद्यपि शक्ति प्राप्त करना ही योगाभ्यासका लक्ष्य नहीं है, परन्तु शक्तिके विकाससे जाना जाता है कि साधककी साधना ठीक चल रही है। योगीको अन्तमें गुणवैतृष्ण्यरूप परवैराग्य द्वारा विषयके प्रति परम उपेक्षा आ जाती है। तब योगी समझता है—"प्राप्तं प्रापनीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः" (योगभाष्य)—जो प्रापणीय है वह प्राप्त हो गया, जो क्लेश क्षय करने योग्य हैं वे सब क्षीण हो गये, भवसंक्रम अर्थात् जन्म-मरणरूप प्रवाह छिन्न तथा ग्रन्थिमुक्त हो गया। (३) धृति—इसको प्राप्त कर साधक कदापि अवसन्न नहीं होता। जिसका लक्ष्य स्थिर हो गया है तथा क्रियाकी परावस्थामें जिसे स्थिति प्राप्त हो गयी है, उसको ही प्रकृत धृति लब्ध हुई है। आज्ञाचक्रमें अविच्छेद स्थिति होने पर ही यह संभव है। अत्यन्त उग्र साधक हुए बिना यह संभव नहीं है। (४) दक्षता—चतुरता। जो सर्वदा क्रिया करते हैं, समय बिल्कुल ही नष्ट नहीं करते, क्रियामें ही लगे रहते हैं वे ही चतुर हैं। (५) अपलायन—साधन-पथमें समय समय पर प्रभूत विघ्न आकर उपस्थित होते हैं, यहाँ तक कि मृत्यु आसन्न हो जाती है तथापि वह साधना नहीं छोड़ते। (६) दान—एक ओर जैसे विषयादिके प्रति निस्पृहभावके कारण वह मुक्तहस्त होते हैं, दूसरी ओर लोगोंको सत्पथमें लानेकी चेष्टा करते हैं और क्रियादान करते हैं, जिससे जीवकी भवक्षुधा निवारित होती है। (७) ईश्वरभाव—क्रियाके परे हृदयमें स्थितिलाभ, हृदयग्रन्थि-भेद। कूटस्थमें सोनेके समान जो वर्ण दीख पड़ता है उसके भीतर सूर्यके समान रथचक्र होता है जिसे सुदर्शनचक्र कहते हैं। उसके भीतर जो देव या पुरुषोत्तम रहते हैं, वही ईश्वर हैं। पुरुषोत्तम-रूप जब दीखता है तब एक ब्रह्मरूप जान पड़ता है, परन्तु तब भी एक नहीं हो जाता। जब क्रियाकी परावस्थामें द्रष्टा भी ब्रह्म हो जाता है, तब वह पुरुषोत्तम ब्रह्मके साथ एक हो जाता है ॥४३॥

(वैश्य और शूद्रके स्वभावजात कर्म)

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

अन्वय—कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं (कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य) स्वभावजं वैश्यकर्म (वैश्यके स्वभावज कर्म हैं)। शूद्रस्य अपि (और शूद्रका भी) परिचर्यात्मकं कर्म (सेवा-कर्म) स्वभावजम् (स्वभावसिद्ध है) ॥४४॥

श्रीधर—वैश्यशूद्रयोः कर्म आह—कृषीति। कृषिः कर्षणम्। गां रक्षतीति गोरक्षः तस्य भावो गोरक्ष्यं—पाशुपाल्यमित्यर्थः। वाणिज्यं—क्रय-विक्रयादि, एतत् वैश्यस्य स्वाभाविकं कर्म। त्रैवर्णिकपरिचर्यात्मकं शूद्रस्यापि स्वभावजं कर्म ॥४४॥

अनुवाद—[वैश्य और शूद्रके स्वाभाविक कर्म बतलाते हैं]—कृषि = कर्षण। गोरक्ष्य—गोरक्षा जो करता है वह गोरक्ष है, उसका भाव अर्थात् पशुपालन।

वाणिज्य—क्रय-विक्रय आदि। ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन त्रिवर्णकी परिचर्या ही शूद्रका स्वाभाविक कर्म है ॥४४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—केवलक्रिया करता है, गो-शब्दका अर्थ है जिह्वा, उसे ऊपर उठाये रखता है और फलाकाङ्क्षाके साथ क्रिया करता है, इस प्रकार क्रियाकी परावस्थामें रहकर जो करते हैं वे वैश्य हैं। और केवल आत्मामें रहें इसके उपयुक्त क्रिया पानेके लिए जो कर्म करते हैं वे शूद्र हैं—इस आत्मामें ही रहकर स्थिर रहते हैं।—तमःसंमिश्रित रजोगुणकी अधिकता ही वैश्यत्व है। उसके स्वाभाविक कर्म कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य हैं। कृषि—कर्षण करना। वे देहरूपी क्षेत्रको कर्षण द्वारा उन्नत करते हैं। प्राणायाम ही कर्षण-क्रिया है। देहरूपी क्षेत्रमें प्राणायाम करने पर देहप्रकृतिका जड़त्व दूर हो जाता है और स्वभावचरित्रके अनेक उत्कर्ष साधित होते हैं। इसके लिए उनको गोरक्षा करनी पड़ती है। गो शब्दका अर्थ है जिह्वा और इन्द्रिय। जिह्वाको तालुमूलमें रखकर प्राणायामादि करने पर प्राणायामका उत्कर्ष साधित होता है। साधकको यथासंभव इन्द्रियोंको विषयसे प्रत्याहृत करनेकी चेष्टा करनी होती है, अन्यथा इन्द्रियोंकी पुष्टि या गोपालन नहीं होता। गोपालनके बिना कर्षण-क्रिया भलीभाँति सुसम्पन्न नहीं होती और कर्षणका फल जो ज्ञान और शान्ति है, वह भी प्राप्त नहीं होता। वाणिज्य भी वैश्योंका एक स्वाभाविक कर्म है। वाणिज्य=फलाकाङ्क्षा करना। प्रकृतिमें रजः और तमोभाव रहने पर ही कुछ पानेकी इच्छा होती है, क्योंकि उस समय अन्तःकरण मलयुक्त रहता है। परन्तु इस कर्षणके फलसे वह क्षत्रियत्व प्राप्त करते हैं। जो शूद्र हैं वे क्रिया पानेके लिए सबकी परिचर्या करते हैं।

सेवाभाव या गुरु-शुश्रूषा न रहने पर कोई साधन प्राप्त करनेका अधिकारी विवेचित नहीं होता। त्रिगुणमयी प्रकृति सत्ता-सागर-विशेष है, उसमें अनन्त जीव-रूप बुद्‌बुद निरन्तर उठते रहते हैं। जिस जीव-बुद्‌बुदमें शम-दम-तपः-शौचादिकी वृत्तियाँ स्वाभाविक रूपसे स्फुरित होती हैं वह सात्त्विक-भावापन्न है। ये सात्त्विक भाव जिस मानव श्रेणीमें अधिक मात्रामें रहते हैं वे ही ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणके प्राण-प्रवाह स्वभावतः ही सुषुम्नावाही होते हैं, अतएव उनमें शम, दम, तितिक्षा, उपरति और ज्ञान प्रचुर मात्रामें रहते हैं। इसी कारण ब्राह्मण शान्त, धीर और विषयादिसे निस्पृह होते हैं तथा साधनामें सिद्ध होकर सबको आत्मज्ञानका उपदेश देते हैं। प्रकृति-सत्ता-सागरके जिन बुद्‌बुदोंमें शौर्य, वीर्य, दक्षता, दान और प्रभुत्व-भाव प्रकाशित होते हैं, उनको सत्त्व और रजोमिश्रित-भावापन्न जानना चाहिए। वे ही क्षत्रिय हैं। वे लोगोंको सुशासनमें रखकर सबको सत्पथमें परिचालित करते हैं। उनका प्राण-प्रवाह सुषुम्नामें स्थायीभावसे न रहने पर भी प्रायः सुषुम्नामें रहता है। इसी प्रकार गुणकर्मके फलसे वैश्य और शूद्रभाव स्फुरित होता है। यही स्वाभाविक क्रम है। आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए यह क्रम या प्रणाली सबको अवलम्बन करनी पड़ती है। पूर्व जन्मके कर्मोंके अनुसार हमारे चित्तमें संस्कार सञ्चित रहते हैं, जिनसे चित्त संस्कारानुरूप कर्ममें प्रवृत्त होता है ॥४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

अन्वय—स्वे स्वे कर्मणि (अपने अपने कर्ममें) अभिरतः नरः (तत्पर मनुष्य) संसिद्धिं लभते (सिद्धि प्राप्त करता है) स्वकर्मनिरतः (स्वकर्ममें निष्ठायुक्त व्यक्ति) यथा (जिस प्रकार) सिद्धिं विन्दति (सिद्धिलाभ करता है) तत् शृणु (वह सुनो) ।।४५।।

श्रीधर—एवम्भूतस्य ब्राह्मणादिकर्मणो ज्ञानहेतुत्वमाह—स्वे स्वे इति। स्वस्वाधिकार-विहिते कर्मणि अभिरतः—परिनिष्ठितो नरः, संसिद्धिं ज्ञानयोग्यतां लभते। कर्मणां ज्ञानप्राप्ति-प्रकारमाह—स्वकर्मेति सार्द्धेन। स्वकर्मपरिनिष्ठितो यथा—येन प्रकारेण तत्त्वज्ञानं लभते तत्प्रकारं शृणु ।४५।।

अनुवाद—[ब्राह्मणादिके इस प्रकारके कर्म ज्ञानके हेतु हैं, यह बतलाते हैं]—अपने अपने अधिकार-विहित कर्ममें परिनिष्ठित व्यक्ति संसिद्धि अर्थात् ज्ञानकी योग्यता प्राप्त करता है ।।४५।।

आध्यात्मिक व्याख्या—अपने अपने कर्ममें सर्वदा दृष्टि रखकर जो कर्म करते हैं, वे मनुष्य क्रमशः सम्यक् प्रकारसे सिद्धि अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें रहकर कदापि इच्छा नहीं करते, अपने कर्ममें सर्वदा रहते रहते निःशेषरूपसे क्रिया करते करते इच्छारहित हो जाते हैं वह कहता हूँ सुनो।—गुणभेदसे जो जिस कर्मका अधिकारी है, उस शिष्यको सद्गुरु तदनुरूप उपदेश दिया करते हैं। शिष्य यदि गुरुके उपदेशके अनुसार कार्य करता जाता है तो उससे उसको सिद्धि प्राप्त होती है। सिद्धि-लाभका अर्थ है इच्छारहित अवस्था, जो क्रियाकी परावस्थामें होती है। क्रियाके प्रकार-भेद हैं। सद्गुरु समस्त क्रियाका उपदेश शिष्यको एक साथ नहीं देते। जो उन्नति करता जाता है, उसको नयी नयी क्रियामें दीक्षित करते हैं। यदि प्रथम दीक्षाके बाद किसीकी जिह्वा नहीं उठी तो उसको वैश्यत्व प्राप्त न होगा और वह नयी क्रिया कुछ नहीं पायेगा। तथापि उसे जो कुछ क्रिया मिली है उसे ही यदि मनः-प्राण लगाकर करता रहे तो क्रियाका फल जो परावस्था है, वह उसे अवश्य प्राप्त होगा। इस परावस्थाकी प्राप्तिके लिए ही क्रिया करना है। केवल क्रिया करते जाना ही क्रियाका उद्देश्य नहीं हो सकता। क्रियाके द्वारा क्रियाकी परावस्थाकी प्राप्तिकी योग्यता होती है। इसी कारण क्रिया करना आवश्यक है। रामगीतामें लिखा है कि "न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणां स्फुटम्"—अखिल कर्मोंकी अपेक्षा त्याग ही प्रशस्त है, क्योंकि "ज्ञानं विमोक्षाय न कर्मसाधनम्"—मुक्ति ज्ञानद्वारा होती है, कर्म ज्ञानका साधन नहीं है। इससे कोई यह न समझ ले कि क्रिया आवश्यक नहीं है। ज्ञान-प्राप्तिकी चेष्टा ठीक है। ज्ञान उत्तम है सही, परन्तु वह कर्मत्यागके बिना होनेवाला नहीं और यह कर्मत्याग क्रियाके द्वारा ही होता है। क्रिया प्रत्यक्षरूपमें परावस्थाका कारण नहीं है, तथापि क्रियाके द्वारा जब प्राण सुषुम्नामें प्रवेश करता है तो बाह्य क्रिया अपने आप त्यक्त हो जाती है। तब एक प्रकारका नशा उदित होता है। उस नशेमें जगत् भूल जाता है। दृश्योंकी विस्मृति हो जाने पर ध्याताकी ध्येयाकारमें अवस्थिति होती है। बाह्य कर्म या सांसारिक

कर्म मनकी कल्पनाके वश हुआ करते हैं। प्राणकर्म उस प्रकारका नहीं है। वह मनके कल्पना-वश नहीं होता, वह अपने आप होता है। प्राणमें लक्ष्य रख सकने पर अपने आप क्रिया बन्द हो जाती है। जिस प्रकारसे यह होता है, उसे बतलाता हूँ ॥४५॥

(अधिकारानुरूप कर्म ही सिद्धिलाभका हेतु है)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

अन्वय—यतः (जिससे) भूतानां (प्राणियोंकी) प्रवृत्तिः (प्रवृत्ति या कर्मचेष्टा होती है) येन (जिसके द्वारा) इदं सर्वं (यह समस्त विश्व) ततं (व्याप्त रहता है), तं (उसको अर्थात् ईश्वरको) स्वकर्मणा अभ्यर्च्य (अपने कर्म द्वारा अर्चना करके) मानवः सिद्धिं विन्दति (मानव सिद्धि लाभ करता है) ॥४६॥

श्रीधर—तमेवाह—यत इति। यतः अन्तर्यामिणः परमेश्वरात् भूतानां प्राणिनां प्रवृत्तिः—चेष्टा भवति। येन आत्मना सर्वमिदं विश्वं ततं व्याप्तं तं ईश्वरं स्वकर्मणा अभ्यर्च्य पूजयित्वा सिद्धिं लभते मनुष्यः ॥४६॥

अनुवाद—जिस अन्तर्यामी परमेश्वरसे प्राणी कार्य-चेष्टामें लगते हैं तथा जिस ईश्वरके द्वारा यह विश्व व्याप्त हो रहा है, उस ईश्वरको स्वकर्म द्वारा अर्चना करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है ॥४६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जहाँसे समुदाय प्रवृत्तियाँ हो रही हैं अर्थात् जो आत्मा अन्य दिशामें आसक्तिपूर्वक दृष्टि रखता है—जिसके न रहने पर जो महादेव होता है—कभी किसी वस्तुमें दृष्टि होनेकी संभावना नहीं, क्योंकि मुर्देमें जीव सुखस्वरूप नहीं, इस कारण उसके पक्षमें कुछ भी नहीं है—अतएव जीवात्मा सब द्रव्योंका मूल कारण है, अतएव स्वकर्म अर्थात् अपना कर्म फलाकाङ्क्षारहित क्रिया—इसे आदरपूर्वक भक्तिके साथ सर्वतोभावेन करनेका नाम है अर्चना—इस प्रकारकी क्रिया गुरुवाक्यके द्वारा प्राप्त कर मनुष्य समुदाय वस्तुओंकी मनुष्यलोकमें सिद्धि प्राप्त करता है—अर्थात् जिस वस्तुकी इच्छा हुई वह वस्तु प्राप्त होने पर कोई इच्छा नहीं रहती—उसी प्रकार जब आत्मामें ही आत्मा रहता है क्रियाकी परावस्थामें, तब सब वस्तुएँ प्राप्त कर लेने पर जैसे इच्छा नहीं रह जाती, उसी प्रकारकी स्थिति होती है। जैसे आम खानेसे जो तृप्ति होती है, वह तृप्तिरूप फल बिना खाये हुए ही प्राप्त हो जाय, तब आमकी ओर दृष्टि अर्थात् आम पानेकी चेष्टा क्यों करेगा? यह सबको क्रियाकी परावस्थामें अनुभव होता है, जो गुरुवक्त्रगम्य है।—वर्णविभागके अनुसार जो मनुष्यके धर्म हैं, वे बाहरकी बातें हैं। उनको भी मानकर चलना पड़ेगा, नहीं तो समाजमें विशृङ्खलता उपस्थित हो जायगी। भारतीय आर्य जाति कर्मफल और पुनर्जन्म-वादको मानकर चलती है। इन दोनोंको केन्द्रित करके ही शास्त्रीय व्यवस्थाएँ व्यवस्थित होती हैं। कर्मफलके अनुसार जो जिस वर्णमें आकर जन्म-ग्रहण करता है, उसको उस वर्णके लिए शास्त्रानुसार जो विधिव्यवस्था है, उसे ही मानकर चलना पड़ेगा। इसके लिए असन्तोष प्रकट करना

मानो ईश्वरकी विधिको अस्वीकार करना है। जो भगवान्में श्रद्धा रखते हैं, वे जिस प्रकार अपने दुःख-दारिद्र्यको निज कर्मका फल मानते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मणादि वर्णोंमें जन्मग्रहण करना भी अपने-अपने कर्मका फलमात्र है, वह भी भगवान्की ही व्यवस्था है, अतएव उससे असन्तुष्ट होने पर भगवान्की व्यवस्थाको अमान्य करना होता है। जिस शरीरमें जो जन्म ग्रहण करता है वह उसके पुराकृत कर्मोंका ही फल है, अतएव वही उसका ईश्वर-निर्दिष्ट स्थान है। अपने कुलधर्मके अनुसार जिस प्रकारके धर्म-कर्म अवलम्बनीय हैं वही उसका स्वधर्म है। मनमें आ सकता है कि यदि कोई शूद्र या वैश्यके कुलमें जन्मग्रहण करता है तो ब्राह्मणोचित्त कर्मोंमें उसका कोई अधिकार न रहा, अतएव भगवत्प्राप्तिकी आशा उसके लिए सुदूर है। ऐसा सोचकर किसी किसीके मनमें क्षोभ हो सकता है। उनसे करुणा-निधान भगवान् कृपा करके कहते हैं—"इसके लिए तुम्हें कोई भय नहीं। तुम चाहे जिस कुलमें जन्म ग्रहण करो, शास्त्र-व्यवस्थाके अनुसार निज-कुलधर्मानुरूप धर्मका प्रतिपालन करनेपर तथा वह सब कार्य भगवत्प्रीत्यर्थ अनुष्ठित होनेपर तुम्हारी चित्तशुद्धि हो जायगी। चाहे तुम व्याध हो या चाण्डाल अथवा नीच शूद्र हो, तुम अपने-अपने कुलधर्मके अनुशासनमें रहकर कर्म करते जाओ। केवल इतना ही मनमें रखो कि तुम अपने कुल या वर्णविहित समस्त कर्मोंके द्वारा केवल उनकी ही पूजा कर रहे हो।" भगवान् अर्चित हो रहे हैं, यह भावना करने पर ही कर्मशुद्धि होती है। तुम छोटे काम करते हो, इसमें क्षोभ करनेकी कोई बात नहीं है। उनके लिए पाखाना साफ करो या देवपूजा करो—भगवानके उद्देश्यसे कृत होनेके कारण उन सब कर्मोंमें शुद्धि-अशुद्धिका विचार नहीं रह जाता। वर्णाश्रमके अधिकारानुसार कर्म करके यदि तुम सोच सको कि 'मेरा कर्म मेरे सुख-शान्तिके लिए नहीं है बल्कि वह भगवान्के उद्देश्यसे है, उनकी प्रीतिके लिए ही इसे कर रहा हूँ,' तो इससे उच्च-नीच कोई कर्म तुम्हारी ऊर्ध्वगति-को रोक नहीं सकता। जो जहाँ है, वह यदि मान ले कि मेरे कृत कर्म मेरी प्रीतिके लिए नहीं बल्कि भगवत्प्रीत्यर्थ सम्पादित हो रहे हैं, तब वे कर्म कर्ममात्र नहीं रह जाते, वे भगवदर्चनाके अङ्ग-रूपमें परिणत होते हैं। जो इस भावसे कम करता है वह उच्च जातिके उच्च कर्मका जो फल है उसे ही प्राप्त करता है। वह सिद्धि अर्थात् प्रकृत ज्ञान-प्राप्तिकी योग्यता प्राप्त करता है और कुछ दिनोंके बाद ही मुक्ति-पदवी पर आरूढ़ होता है। अन्तर्लक्ष्यमें इस श्लोकका अर्थ यह है कि आत्माके बिना हमारी प्रवृत्ति-निवृत्ति कुछ भी नहीं हो सकती। आत्मा ही सबका मूल है। उसके होनेके कारण ही मन सङ्कल्प करके इस विराट् बाह्य जगत्को व्यक्त कर रहा है और नाना प्रकारकी वासनाओंके वश सुख-दुःखमें पुनः-पुनः मथित हो रहा है। समस्त सङ्कल्प त्याग करके मन जब अपने आपमें प्रतिष्ठित होकर वर्णाश्रमके अधिकारानुसार कर्म करता है, तब वह किसी वस्तुमें आसक्त नहीं होता। तब वह महादेव है, अपने आनन्दमें आप मग्न है। यह जो इन्द्रजालके समान माया-प्रपञ्च प्रकटित हो रहा है, यह भी उस आत्माको अवलम्बन करके ही व्यक्त होता है। यह चञ्चल प्राण ही भगवान्की मायाका रूप है। जल स्थिर होने पर तरङ्ग

नहीं उठती। वायुके संयोगसे जैसे स्थिर जलमें तरङ्ग उठती है, उसी प्रकार स्वकीय मायाशक्तिके प्रभावसे आत्मा तरङ्गायमान-सा जान पड़ता है। आत्माका चञ्चल भाव ही चञ्चल प्राण है। वायुके रुकते ही जैसे समुद्रकी तरङ्गें बन्द हो जाती हैं, उसी प्रकार प्राणकी हिलोरें जब अवरुद्ध होती हैं तो प्राण स्थिर हो जाता है। स्थिर प्राण ही आत्मा है। स्थिर प्राणमें जो ज्ञान प्रकाशित होता है, वही आत्मज्ञान है। साधक किस प्रकार इस आत्मज्ञानको प्राप्त कर सिद्ध होगा, इसका उपाय यह बतलाते हैं कि 'स्वकर्म द्वारा उनकी अर्चना करनी पड़ेगी। वास्तवमें आत्माका कोई कर्म नहीं है, उसके कर्मकी कल्पना हम चञ्चल प्राणके द्वारा ही करते हैं। चञ्चल प्राण ही आत्माके कर्म और जगत्-प्रकाशका मूल कारण है। इस प्राणके द्वारा ही उसकी पूजा करनी पड़ेगी। आदरपूर्वक भक्तिके साथ जो इस फलाकाङ्क्षारहित आत्मकर्म अर्थात् श्वास-प्रश्वासके कर्मको करते हैं वे सिद्धि लाभ करते हैं एवं उनको फलासक्ति नहीं रह जाती। वे क्रियाकी परावस्थामें परमा तृप्ति लाभ कर इच्छारहित हो जाते हैं।।४६।।

(स्वधर्म ही श्रेय है, स्वभावज कर्ममें पाप नहीं होता)

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।४७।।

अन्वय—स्वनुष्ठितात् परधर्मात् (उत्तमरूपसे अनुष्ठित परधर्मसे) विगुणः (असम्यक् अनुष्ठित) स्वधर्मः श्रेयान् (निजधर्म श्रेष्ठ है) स्वभाव-नियतं कर्म (स्वभावविहित कर्म) कुर्वन् (करते हुए) किल्विषं न आप्नोति (पापको प्राप्त नहीं होता) ।।४७।।

श्रीधर—स्वकर्मणेति विशेषणस्य फलमाह—श्रेयानिति। विगुणोऽपि स्वधर्मः सम्यक् अनुष्ठितादपि परधर्मात् श्रेयान्—श्रेष्ठः। न च बन्धुवधादियुक्ताद् युद्धादेः स्वधर्मात् भिक्षाटनादि-परधर्मः श्रेष्ठ इति मन्तव्यम्। यतः स्वभावेन पूर्वोक्तेन नियतं नियमेन उक्तं कर्म कुर्वन् किल्बिषं नाप्नोति ।।४७।।

अनुवाद—[स्वकर्मकी सार्थकता बतलाते हैं]—स्वधर्म विगुण (अङ्गहीन) होने पर भी सम्यक् रूपसे अनुष्ठित परधर्मसे श्रेष्ठ है। युद्धादि स्वधर्म बन्धु-वधादिसे युक्त होनेके कारण उससे भिक्षाटनादि रूप परधर्म श्रेष्ठ है, यह समझना ठीक नहीं। पूर्वोक्त स्वभावनियत अर्थात् अपने वर्णाश्रमानुसार कर्म करने पर कोई पापको प्राप्त नहीं होता ।।४७।।

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रिया करते हुए यदि कदाचित् बीच-बीचमें अन्य दिशामें मन जाय तो वह भी अच्छा है, परन्तु बिल्कुल अन्य (आत्माके सिवा अन्य) वस्तुमें दृष्टि रखना आग्रहपूर्वक फलाकाङ्क्षाके साथ—उसमें मृत्युका भय है, क्योंकि मृत्यु हुए बिना उस फलका भोग कौन करेगा। क्रिया करते करते जो अमरपद अर्थात् अष्टप्रहर क्रियाके परे स्थिति है वह न होकर यदि मृत्यु भी हो जाय तो वह भी अच्छा है—परन्तु आत्माके सिवा अन्य दिशामें फलाकाङ्क्षाके साथ दृष्टि करने पर मृत्यु तो होती ही है, परन्तु फलभोग करनेके लिए जन्म-मृत्युका

भय होता है अर्थात् कुछ दिन क्रिया करने पर इच्छारहित हो सकते हैं—क्रमशः यह सबको अर्थात् क्रियानिष्ठ व्यक्तिको अनुभव होता है—किम् अधिकम्—क्रियाकी परावस्थामें रहकर ध्यान-धारणा-समाधिपूर्वक—अन्य दिशामें आसक्तिपूर्वक दृष्टि नहीं जाती, अतएव कोई पाप भी नहीं होता।—[पहले स्वाभावनियत कर्म समझना चाहिए। बाह्य रूपसे इसे समझते समय आधुनिक समाजमें दो प्रकारकी धारणा करते हैं। जो शास्त्र-मतावलम्बी हैं वे कहते हैं कि जिसने जिस वर्णमें जन्म ग्रहण किया है, उस वर्णके लिए शास्त्रमें जो कर्म निर्दिष्ट हैं, वे ही उसके स्वभावनियत कर्म हैं। दूसरे जो स्वाधीन चिन्तन-शील हैं, वे कहते हैं कि जातिगत अधिकारको परिवर्त्तन करके जो आदमी जिस वर्णके उपयुक्त है उसको उसी वर्णधर्मके अनुसार चलने देना ही उसका प्रकृत स्वभावनियत कर्म है। कुछ परिमाणमें सत्य होनेपर भी यह एक समस्या है कि सबका जातिनिर्देश कौन करेगा और उसकी बात कहाँ तक मान्य होगी। अपने आप व्यवस्था करने पर पद पद पर भूल होगी। उस भूलका संशोधन कौन करेगा ? अतएव इस प्रकारकी चेष्टाका फल विपरीत होगा। वर्त्तमान युगमें वर्णाश्रमधर्मका विपर्यय हो गया है सही, परन्तु इस कारण हम अपने अपने मनके अनुसार धर्म पालन करें तो वह स्वभावनियत कर्म होगा, यह मानना ठीक नहीं है। मनुष्यके भीतर समय समय पर कितना परिवर्त्तन होता रहता है। उसके शरीर, मन और स्वभावमें परिवर्त्तन हो जाता है, इसलिए प्रति परिवर्त्तनके साथ उसका वर्ण और धर्म परिवर्त्तन करना होगा, इस प्रकारका विचार करना ठीक नहीं है। ऐसा करनेसे समाज और धर्म विशृङ्खल हो जायगा। विशेषतः जो समाज युगयुगान्तरसे वर्णाश्रमधर्मानुकूल मार्गका अनुसरण करते हुए आ रहा है, उसके लिए इस प्रकार उच्छृङ्खलतापूर्वक परिवर्त्तन-प्रथाका अनुसरण करना आत्मघातके तुल्य ही अनिष्टकर जान पड़ता है। इस प्रकारका मनमाना अनुसरण ही भयावह परधर्म है। इससे समस्त समाज-शरीर टूटकर चूरचूर हो जायगा। युगधर्मके प्रभावसे जीवके विचारमें जो परिवर्तन आते हैं, वहाँ भी मनमाना धर्मानुसरण करनेकी अपेक्षा यथासाध्य शास्त्रसम्मत स्व-स्ववर्णाश्रमविहित धर्मानुष्ठानका पालन करनेकी चेष्टा ही स्वधर्मपालन है। विशेषतः कलियुगमें कोई भी वर्ण पूर्णरूपसे वर्णाश्रमोचित धर्मपालनमें समर्थ न होगा, इसको जानकर ही ऋषियोंने युगधर्मानुसार धर्मानुष्ठानकी सद्-व्यवस्था की है। बहुतसे लोग इसके लिए ब्राह्मणको ही दोषी निर्धारित करते हैं। बहुत अंशोंमें ब्राह्मणके दोषी होनेपर भी समस्त वर्णों और आश्रमोंमें जो दोष आ गये हैं तथा उनके कारण प्रत्येक वर्ण और आश्रममें धर्मकी जो अङ्गहानि परिलक्षित हो रही है, वह कालकृत है। कालके प्रभावको अस्वीकार करनेसे काम नहीं चल सकता। इस युगमें उन्हीं जीवोंका अधिक परिमाणमें आविर्भाव हुआ है, जिनके पूर्वकर्म इस दुष्ट युगके अनुरूप हैं। तथापि विचारशक्तिके सहयोगसे पुरुषार्थके द्वारा मनुष्य अपने दैन्यसे अपनेको ऊपर उठा सकता है। इसीके लिए शास्त्रसम्मत आचार, अनुष्ठान और साधनादिका प्रयोजन होता है। इसके लिए नये ढंगसे वर्णाश्रम-विधिके परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। सभी वर्ण अपने अपने

स्थानसे नीचे उतर गये हैं, परन्तु चेष्टा करनेसे सभी अपने वर्णोचित धर्ममें उन्नत हो सकते हैं। इसके लिए सदाचारसम्पन्न शूद्र या नीच जातिको उपनयन द्वारा ब्राह्मण न बनानेसे भी कोई क्षति न होगी। पतित ब्राह्मण भी सदाचार-सम्पन्न होने पर फिर ब्राह्मण ही होगा। पतित क्षत्रिय उसी प्रकार सदाचार-सम्पन्न होकर क्षत्रिय ही रहेगा। शूद्र भी शुद्ध अन्तःकरणसे भगवद्भजन करते करते विशुद्ध हो जायगा, इसके लिये उसको झटपट गलेमें उपवीत पहना कर ब्राह्मण बना देनेसे काम न चलेगा। इससे समाज-शृङ्खलाकी विशेष हानि होगी। कालके प्रभावसे आम्रवृक्षकी शाखा और पत्र भी परिवर्त्तित हो जा सकते हैं, उसमें फल भी नहीं लग सकते, यहाँ तक कि उसे आम्रवृक्षके रूपमें पहचानना भी कठिन हो जा सकता है, परन्तु परिश्रम और यत्न करने पर तथा विविध उपायोंसे उत्तम खाद देने पर फिर उसमें नये पत्र और फलका उद्गम हो सकता है। उसमें जो फल लगेगा, वह उसकी स्वजातिके अनुरूप ही होगा, वह कदापि अन्य जातीय फल पैदा नहीं कर सकता। इसी प्रकार अपने अपने वर्णाश्रमके अनुसार धर्मका पालन करने पर इस कलियुगमें भी वर्णके अनुसार उत्कर्ष लाभ हो सकता है। इस प्रकारके परिवर्तनमें सचेष्ट न होकर नये ढँगसे समाज-संगठन करनेकी चेष्टा करने पर अथवा मनमाने तौर पर समाजमें परिवर्तन लानेकी चेष्टा करने पर हमारी आशाएँ पूरी न होंगी। उससे न धर्मरक्षा होगी और न समाजरक्षा। बल्कि यही ठीक है कि जो जिस वर्णमें उत्पन्न हुआ है वह अपने शास्त्र-सम्मत वर्णानुकूल धर्मका पालन करे। इस प्रकार कर्त्तव्य-पालनमें जो जितना ही सचेष्ट होगा, उसको तदनुरूप ही गुणोंके उत्कर्ष तथा उन्नतिकी प्राप्ति होगी। क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र यदि पूर्णतः स्वधर्म-पालनमें यत्नशील होते हैं तो वे अपने जीवनमें ही उच्च भावके अनुकूल अपने अपने स्वभावका परिवर्तन देख सकेंगे। यह परिवर्तन देखकर स्पष्ट समझमें आ जायगा कि परजन्ममें वे उच्चतर वर्णमें जन्म ले सकेंगे। ब्राह्मणादिमें यदि वर्णविगर्हित नीच भावका प्रभाव लक्षित होता है या उनका चरित्र दूषित होकर अपने उच्च वर्णके अनुपयुक्त हो उठता है तो उनको भी परजन्ममें नीच कुल और नीच वर्णमें जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। ज्योतिषशास्त्र (भृगुसंहिता) के मतसे यह बात सुसिद्ध है। प्रत्येकके व्यक्तिगत स्वभावके अनुसार जाति-निर्णय करने पर समस्त समाज और शास्त्र-व्यवहारकी गति निरुद्ध हो जायगी। महाभारतके अनुशासन पर्वमें लिखा है कि "शूद्र भी यदि पवित्र कार्यके अनुष्ठानके द्वारा विशुद्धात्मा और जितेन्द्रिय बनता है, तो उसका ब्राह्मणके समान समादर करना चाहिए।" यह आज भी लोग करते हैं। नीच कुलमें कोई सज्जन उत्पन्न हो तो लोग उसका ब्राह्मणके समान ही समादर करते हैं। जन्म-संस्कार और वंश देखकर ही सदा मर्यादा निरूपित नहीं होती। सदाचार द्वारा ही ब्राह्मण ब्राह्मण समझा जाता है। यही सदाचार ब्राह्मणमें न रहने पर उसका कोई समादर नहीं करता, परन्तु ब्राह्मणोचित सदाचार शूद्रके भीतर रहने पर उस शूद्रको भी लोग ब्राह्मणके समान सम्मान देते हैं। शम-दमादिके साधनमें सबका ही अधिकार है, सभी इसको कर सकते हैं। शम-दमादि-सम्पन्न शूद्रका सभी सम्मान

करते हैं, परन्तु सदाचार-सम्पन्न शूद्रको ब्राह्मणके आसन पर बैठाकर ब्राह्मणोचित्त कार्य करानेसे एक विराट् उच्छृङ्खलतासे समाज भर जायगा और उससे इतना अनर्थ उत्पन्न होगा कि अन्तमें उसको फिर सँभालना असम्भव हो जायगा]।

अब अन्तर्लक्ष्यकी बात कही जाती है—

स्वधर्म = आत्मधर्म। परमानन्दरूपमें स्थिति प्राप्त करना ही जीवका स्वधर्म है। इस स्थितिको प्राप्त करनेकी जो चेष्टा है उसीका नाम स्वधर्म-पालन है। अधिकांश जीव स्वधर्म-भ्रष्ट हैं, उनकी आत्मस्थिति नहीं है, इसीसे बहिर्मुख जीव आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें सचेष्ट न होकर निरन्तर संसारचक्रमें परिभ्रमण करता है। इस स्थितिको प्राप्त करनेका उपाय है, जिसे अवलम्बन करके आत्महितमें रत होनेका नाम ही स्वधर्म-पालन है। इस आत्महितकी चेष्टासे ही जीव आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें समर्थ होता है तथा उसका पशुपाश छूट जाता है। जबतक जीव आत्माकी ओर लक्ष्य नहीं करता, तबतक वह इन्द्रियासक्त होकर पशुके समान जीवन-यापन करता है। यह इन्द्रियासक्ति ही पर-धर्म (दूसरेका धर्म) है, यह वस्तुतः भया-वह है। इन्द्रियासक्तिके रहते जीवका आत्मज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है, इससे उसकी "महती विनष्टि" या महाविनाश होता है। यहाँ एक सन्देह होता है कि जिसको स्वधर्म या आत्मधर्म कहते हैं, वह फिर विगुण कैसे होता है। जैसे जलका शैत्यगुण या अनलकी उष्णता इनका स्वधर्म है, वैसे ही आत्माका भी एक स्वाभाविक धर्म है जो आत्मामें ही निहित है। मनमें आ सकता है कि आत्मा या ब्रह्म तो निर्गुण है, निर्गुणका धर्म कैसे हो सकता है। अवश्य ही, शुद्ध ब्रह्ममें गुणकी कल्पना नहीं होती, परन्तु माया-शबलित ब्रह्ममें भाव रहता है, अतएव उसमें गुण या धर्मका अभाव नहीं हो सकता। सगुण ब्रह्म भी सर्वदा परिपूर्ण, विशुद्ध-स्वभाव और निःस्पृह है परन्तु कर्त्तव्याकर्त्तव्य कुछ न रहने पर भी "नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि"— प्राप्तव्य या अप्राप्तव्य कुछ न रहने पर भी वह कर्ममें व्यापृत रहते हैं। उनमें कोई सङ्कल्प या कामना नहीं होती, तथापि उनको जो कर्ममें व्यापृत रहना पड़ता है वह जिस प्रकार संभव होता है उसको योगी लोग अनिच्छाकी इच्छा कहते हैं। उपनिषद्में लिखा है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥—मुण्डक।

जैसे प्रज्वलित अग्निसे सहस्र सहस्र चिनगारियाँ निर्गत होती हैं, उसी प्रकार अक्षर पुरुषसे नाना प्रकारके भावयुक्त जीवगण उत्पन्न होते हैं और प्रलयकालमें उनमें ही विलीन हो जाते हैं।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥—मुण्डक॥

इस पुरुषसे प्राणशक्ति, मनः अर्थात् चिन्तनशक्ति, समस्त इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और सब वस्तुओंका आधार पृथिवी उत्पन्न होती हैं।

ब्रह्मके सङ्कल्पसे यह सब काण्ड हुआ है, परन्तु उसका निजी प्रयोजन इसमें कुछ भी नहीं है। जो कुछ होता है सब उसकी अनिच्छाकी इच्छासे होता है। यह अनिच्छाकी इच्छा ही आत्माका स्वधर्म है। यही ब्रह्मकी माया या निज शक्ति है। इसको आश्रय करके ही यह विश्व पुनः पुनः उत्पन्न और लीन हो रहा है। ब्रह्म जब अपने आपको विश्वरूपमें प्रकट करता है, तब प्रथम जो स्पन्दन होता है वही प्राण है। "प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति"—ईश्वर प्राणरूपसे सब भूतोंमें प्रकाशित हो रहे हैं।

इस प्राणके दो विभाव हैं—एक स्थिर और दूसरा चञ्चल। स्थिर प्राण ही परमात्मा है और चञ्चल प्राण जीव है। प्राणका यह चाञ्चल्य और स्थिरता —दोनों ही प्राणके स्वधर्म हैं। प्राणकी स्थिरतामें मुक्ति और चाञ्चल्यमें बद्धभाव है। प्राणमें जीवका लक्ष्य नहीं है, इसी कारण वह भवबन्धनमें आबद्ध है। जीव प्राणके लिए सर्वदा व्याकुल रहता है, फिर भी प्राण है क्या, यह जाननेकी चेष्टा नहीं करता। यह प्राण निरन्तर जीवके श्वास-प्रश्वासरूपमें प्रवाहित हो रहा है। प्राणका यह बहिर्गमनागमन जबतक चलता रहता है, तबतक मनका चाञ्चल्य नहीं मिटता, प्राणमें शान्ति नहीं होती, मृत्युकी कराल छाया तबतक जीवको व्याकुल किये रखती है। चञ्चल प्राणसे ही मनकी उत्पत्ति है। मन जब समझ लेता है कि प्राणरूपा उसकी जननी जब तक स्थिर नहीं होती है, तबतक उसके सुख-शान्तिकी आशा नहीं है, तब वह मांकी कृपा-प्राप्तिके लिए प्राणरूपा जननीके शरणापन्न होता है। इतने दिन जीव परधर्म (इन्द्रियोंकी विषयमुखी चेष्टा)को लेकर ही व्यस्त था, अब उत्पीड़ित होकर पुनः निज धर्मकी ओर उसका लक्ष्य पड़ा। स्वधर्म-साधन करते रहने पर अर्थात श्वासकी गतिमें लक्ष्य रखने पर पहले यह क्रिया सर्वाङ्ग-सुन्दर नहीं होती, परन्तु अभ्यासवश सब ठीक हो जाता है। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि प्राणायामादि योग-क्रिया तुम्हारा स्वभाव-नियत कर्म है, जन्मसे ही यह तुम्हारे सङ्ग है, अनभ्यासवश यदि यह कुछ विगुण भी होता है तो वह भी अच्छा है, तथापि इन्द्रियधर्मको लेकर खेल करते रहना अच्छा नहीं है। इस प्राणकी साधना करते समय मन उसमें ठीक न बैठे तो उसको मत छोड़ो, क्योंकि अभ्यास करते करते उसका वैगुण्य-भाव मिट जायगा तथा कुछ समयके बाद अन्य दिशामें आसक्तिपूर्वक दृष्टि न जायगी। अन्य दिशामें दृष्टि न जानेसे पाप भी नहीं होगा। इस प्रकार क्रियाके द्वारा शुद्धपाप होकर क्रमशः अमरपदको प्राप्त करोगे अर्थात् तब आठों पहर क्रियाकी परावस्थामें रह सकोगे। जिस वासना-मलके कारण इस समय सन्तप्त होकर जल रहे हो, उस इच्छा या वासनाकी गन्ध भी फिर नहीं रहेगी ॥४७॥

("सहज" कर्मका त्याग वैध नहीं)

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय !) सदोषम् अपि (दोषयुक्त होने पर भी) सहजं कर्म (जन्मके साथ उत्पन्न कर्म अर्थात् स्वभावविहित कर्म) न त्येजत् (त्याग न करे), हि (क्योंकि) सर्वारम्भा: (सारे कर्म) धूमेन अग्निः इव (धूम द्वारा जैसे अग्नि व्याप्त होती है उसी प्रकार) दोषेण आवृता: (दोषद्वारा आवृत होते हैं) ।।४८।।

श्रीधर—यदि पुन: सांख्यदृष्ट्या स्वधर्मे हिंसालक्षणं दोषं मत्वा परधर्मं श्रेष्ठं मन्यसे तर्हि सदोषत्वं परधर्मेऽपि तुल्यम्, इति आशयेनाह—सहजमिति । सहजं – स्वभावविहितं कर्म, सदोषमपि न त्येजत् । हि यस्मात् सर्वेऽपि आरम्भा:—दृष्टादृष्टानि सर्वाण्यपि कर्माणि, दोषेण केनचित् आवृता—व्याप्ता एव । यथा सहजेन धूमेन अग्निः आवृत: तद्वत् । अतो यथा अग्नेः धूमरूपं दोषं अपाकृत्य प्रताप एव तम:शीतादिनिवृत्तये सेव्यते, तथा कर्मणोऽपि दोषांशं विहाय गुणांशं एव सत्त्वशुद्धये सेव्यते इत्यर्थः ।।४८।।

अनुवाद—[हे अर्जुन ! यदि सांख्य-मतके अनुसार स्वधर्म (क्षात्र-धम) में हिंसालक्षण दोष मानकर परधर्म ब्राह्मणादि-धर्मको श्रेष्ठ मानते हो तो परधर्ममें भी इस प्रकारके दोष हैं, इस आशयसे कहते हैं]—सहज अर्थात् स्वभावविहित कर्म दोष-युक्त होने पर भी त्याग करना उचित नहीं है । दृष्टादृष्ट सारे ही कर्म किसी न किसी दोष द्वारा उसी प्रकार व्याप्त हैं जिस प्रकार धूमद्वारा वह्नि आवृत रहती है । अतएव अग्निका धूमरूप दोष परित्याग कर लोग जैसे अन्धकार और शीतादिकी निवृत्तिके लिए अग्निका सेवन करते हैं, उसी प्रकार कर्मके दोषांशका परित्याग कर सत्त्वशुद्धिके लिए गुणांश ग्रहणीय है ।।४८।।

आध्यात्मिक व्याख्या—जन्मके साथ जो कर्म हुआ है अर्थात् क्रिया (जो केवल गुरुवाक्यके द्वारा लभ्य होती है) वही सर्वतोभावेन कर्त्तव्य है । (दोहाई दोहाई)—यह पहले करते समय ठीक ठीक पूर्णत: नहीं होता अर्थात् भलीभाँति क्रिया नहीं कर सकते, परन्तु इस कारणसे उसका त्याग करना ठीक नहीं है—जैसे आग जलाते समय पहले आँखमें धूआँ लगता है किञ्चित् क्लेश होता है, पश्चात् रसोई करके भोजन करके तृप्त होते हैं—उसी प्रकार आत्मामें मन रखनेका स्वरूप किञ्चित् क्लेशप्रद होता है पहले, परन्तु भोजन करके तृप्त होने पर उस धूएँके क्लेशका अनुभव नहीं होता, बल्कि उसको भूलकर प्रचुर तृप्ति लाभ करता है ।—जन्मके साथ जो कर्म होता है वही सहज कर्म है । प्राणक्रिया जन्मके साथ उत्पन्न होती है, इसलिए प्राणक्रिया ही मनुष्यका सहज कर्म है । जीव जबतक मातृगर्भसे भूमिष्ठ नहीं होता, तबतक उसकी श्वास-प्रवासकी क्रिया नहीं होती । तो क्या उस समय उसके प्राण नहीं होते ? प्राणके न रहने पर गर्भस्थ जीवके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी उत्पत्ति और पुष्टि कैसे सम्भव हो सकती है ? प्राण निश्चय ही रहता है, परन्तु प्राणकी स्वतन्त्र क्रिया नहीं होती । मातृशरीरके साथ उसकी नाड़ी संयुक्त रहती है, अतएव उसको मातृशरीरसे शरीर-पुष्टिके उपयुक्त खाद्य मिला करता है । प्राण-प्रवाह उस समय भी रहता है, परन्तु सुषुम्नामें बहता रहता है। इसी कारण गर्भस्थ शिशुका ज्ञान अवरुद्ध नहीं होता । भूमिष्ठ होनेके साथ ही उसका प्राण-प्रवाह नासारन्ध्रमें प्रवाहित होकर क्रमश: बहिर्मुख हो जाता है । पहले पहल प्राण-प्रवाह क्षीण रूपमें

बहिर्मुख होता है, उस समय भी अन्तःप्रवाह रुद्ध नहीं होता, इसी कारण बहुधा शिशुका दिव्य ज्ञान या पूर्व जन्मकी स्मृति जाग्रत रहती है। प्राण-प्रवाह बाह्य श्वास-वायुके साथ जितना ही अधिक मिलित होता है उतनी ही उसकी पूर्वस्मृति लुप्त होती है। बाह्य ही तब उसके सामने बड़ा हो जाता है, आन्तर भाव स्मृतिपथसे हट जाता है। प्राणका अन्तःप्रवाह ही सहज कर्म है। वह बहिर्मुख होने पर दोषयुक्त हो जाता है। परन्तु दोषयुक्त होने पर भी उसका परित्याग करना उचित नहीं है। परित्याग करने पर सहज ज्ञान प्राप्त न होगा। बहिःप्रवाहको अन्तर्मुख करनेकी प्रचेष्टा ही प्राणायामादि कौशल है। परन्तु यह अनायास-साध्य नहीं है तथा इसकी साधना सुखकर नहीं है। जो प्राण-प्रवाहकी गतिको लौटानेके लिए इस प्रकारकी साधनाका अभ्यास करते हैं उनकी पहले पहल यह साधना सर्वतोभावेन शुद्ध नहीं होती। इस कारण बहुतोंका मन उचट जाता है, परन्तु फिर भी क्रियाका त्याग करना ठीक नहीं है। इस क्रियाके सिवा प्राणको अन्तर्मुख करनेका और कोई श्रेष्ठ उपाय नहीं है, अतएव पहले पहल वह कितनी ही नीरस क्यों न जान पड़े, कल्याणकामी साधकके लिए उसे करते ही जाना उचित है। सब कर्मोंकी प्रथम चेष्टा दोषयुक्त होती है। परन्तु जो क्लेश उठाकर इस कार्यमें लगे रहते हैं, वे शीघ्र ही इसका आनन्द अपने आप समझने लगते हैं। कहाँ पहलेका घोर संसारी मन और कहाँ अब स्थिर प्रशान्त आत्मस्थित मन! मातृगर्भसे भूमिष्ठ होते ही प्राणकी बहिर्मुखी गति आरम्भ होती है। तब देहमें आत्मबोध होता है और देहजनित तथा देहकी अक्षमता-जनित नाना क्लेश होते हैं। शिशु केवल रोता है, भीतरके सूत्रको भूल जाता है, बाह्य जगत्‌के साथ भी उतना नहीं मिलता-जुलता। जीवकी यह शोकावह अवस्था शूद्रभाव है। पश्चात् बालकका उपनयन होता है अर्थात् वह गुरुके समीप जाता है। तब गुरु उसको ऐसी शिक्षा-दीक्षा प्रदान करते हैं जिससे उसकी प्राणक्रिया अन्तर्मुखी हो। गुरु बलपूर्वक शिष्यके चित्तको अन्तर्मुख करके क्षणभरके लिए 'तत्पदं' का दर्शन करा देते हैं। प्राणकी बहिर्मुख गतिसे मनमें विषयाकार वृत्ति उदित होती है, अन्तर्मुखमें चलानेका अभ्यास करने पर उससे भिन्न वृत्तिका उदय होता है। पहले पहल साधना करते समय साधक बहुत कुछ प्राप्त करनेकी आशा करता है, उसे अपनी शक्ति प्रदर्शित करनेकी इच्छा होती है। तब वैश्यभाव यानी फलाकाङ्क्षाके साथ कर्म होता है। पश्चात् पूर्णतया आत्मज्ञान प्राप्तिके लिए क्षत्रियभावके अनुसार युद्धका आयोजन करना पड़ता है। यह युद्ध-व्यापार ही हृदयग्रन्थिभेदकी साधना है। इस अवस्थामें साधकको जिस क्रियाकी आवश्यकता होती है वही उस समय उसका स्वभावज कर्म होता है। वैश्यावस्थामें साधनाका भाव मृदु होता है। धीरे धीरे प्राणको चढ़ाना-उतारना पड़ता है। उसमें कोई तीव्रता या बल-प्रयोग नहीं रहता। इस प्रकार साधनामें कुछ समय अभ्यस्त होनेके बाद जब श्वासके आकर्षण-विकर्षणमें कोई कष्ट नहीं रहता, खींचना-फेंकना दीर्घ हो जाता है, तब साधक इस अवस्थासे उन्नततर दीक्षामें दीक्षित होता है। क्रमशः साधनाकी कठोरता बढ़ती जाती है, यही क्षत्रिय-भाव है। यहाँ

श्वासके ऊपर बलप्रयोग करना पड़ता है, कुम्भकके द्वारा बलपूर्वक वायुको सुषुम्नामें परिचालित करना पड़ता है—'बलात्कारेण गृह्णीयात्'। यही क्षत्रियका दिग्विजय या अश्वमेध यज्ञ है। इस प्रकार क्रिया करते-करते एक ओर जैसे शौर्य, तेजः, योगधारणा तथा बुद्धिकी तीक्ष्णता आयगी, वैसे ही दूसरी ओर भीतरी शत्रुओंके साथ प्रबल युद्ध करना पड़ेगा। मनमें आयेगा कि मैं युद्धमें सक्षम नहीं हो रहा हूँ, तथापि युद्ध छोड़ देनेसे काम नहीं चलेगा। युद्धमें अपलायन-भाव ही क्षत्रियका प्रधान धर्म है। इसके बाद योगीको अनेक प्रकारकी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, मेरुदण्डमें एक चक्रके बाद दूसरे चक्रमें उत्थान होता है, तत्त्वजय होता है, इसका ही नाम पर-राज्यजय है। योगी तब अनासक्त होकर समस्त शक्तियोंका सद्व्यवहार करता है। यही ईश्वर-भाव है। दूसरोंको सत्पथ दिखला देना ही श्रेष्ठ दान है। हृदयग्रन्थिका भेद होने पर क्षत्रियभाव समाप्त हो जाता है और योगी सर्व विषयोंमें स्थिर हो जाता है। तब वह शान्त, दान्त, जितात्मा और जितेन्द्रिय होकर सहस्रारमें स्थिर होकर ब्रह्मानन्दमें मग्न रहता है। मनमें कोई सङ्कल्प नहीं रहता—"यदृच्छालाभ-सन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः। समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।" इच्छापूर्वक या बल प्रयोग करके कोई यह त्याग नहीं कर सकता। उपयुक्त समय पर साधकका अपने आप ही समस्त त्याग हो जाता है। यही ब्राह्मणभाव, सर्व-शेष और सर्वोच्च अधिकार है॥४८॥

(सात्त्विक त्याग और संयमके द्वारा योगीकी नैष्कर्म्यसिद्धि)

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

अन्वय—सर्वत्र (सब विषयोंमें) असक्तबुद्धिः (आसक्तिशून्य) जितात्मा (जितेन्द्रिय या वशीकृत-अन्तःकरण) विगतस्पृहः (स्पृहाशून्य व्यक्ति) संन्यासेन (कर्म और उसके फलमें आसक्तित्याग-रूप संन्यासके द्वारा) परमां नैष्कर्म्यसिद्धिं (आत्मज्ञानरूप परमा सिद्धिको) अधिगच्छति (प्राप्त होता है) ॥४९॥

श्रीधर—ननु कर्मणि क्रियमाणे कथं दोषांशप्रहाणेन गुणांश एव सम्पद्यते, इत्यपेक्षायामाह—असक्तबुद्धिरिति। असक्ता सङ्गशून्या बुद्धिर्यस्य। जितात्मा निरहङ्कारः। विगतस्पृहः विगता स्पृहा फलविषयेच्छा यस्मात् सः। एवम्भूतेन सङ्गत्यागः सात्त्विको मतः इत्येवं पूर्वोक्तेन कर्मासक्ति-तत्फलयोस्त्यागलक्षणेन संन्यासेन, नैष्कर्म्यसिद्धिं—सर्वकर्मनिवृत्तिलक्षणां सत्त्वशुद्धिं अधिगच्छति। यद्यपि सङ्गफलयोः त्यागेन कर्मानुष्ठानमपि नैष्कर्म्यमेव कर्त्तृत्वाभिनिवेशाभावात् तदुक्तं—"नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्" इत्यादि-श्लोकचतुष्टयेन, तथापि अनेन उक्तलक्षणेन संन्यासेन परमां नैष्कर्म्यसिद्धिं "सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी" इत्येवंलक्षणां पारमहंस्यापरपर्यायां प्राप्नोति ॥४९॥

अनुवाद—[क्रियमाण कर्मोंके दोषांशका परित्याग करके कैसे गुणांश प्राप्त हो जाता है, इसका उत्तर देते हैं]—असक्त अर्थात् जिसकी बुद्धि सङ्ग-शून्य है। जितात्मा अर्थात् निरहङ्कारी। विगतस्पृह अर्थात् जिस आदमीकी फलविषयक स्पृहा दूर हो गयी है। आसक्ति और फलका त्याग ही सात्त्विक

त्याग है। इस प्रकार पूर्वोक्त श्लोकमें कथित जो कर्मासक्ति और फलत्याग-रूप संन्यास है, उसके द्वारा नैष्कर्म्यसिद्धि अर्थात् सर्वकर्म-निवृत्तिरूप सत्त्वशुद्धि प्राप्त होती है। सङ्ग और फल-त्याग पूर्वक जो कर्मानुष्ठान है वही नैष्कर्म्य है, क्योंकि इस प्रकारके कर्मानुष्ठानमें कर्त्तृत्वाभिनिवेशका अभाव रहता है। यही "नैव किञ्चित् करोमीति" चार श्लोकों द्वारा पञ्चमाध्यायमें उक्त हुआ है। इस श्लोकोक्त संन्यासके द्वारा परमनैष्कर्म्यसिद्धि अर्थात पञ्चमाध्यायमें कथित "सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी" लक्षण वाली परमहंसचर्या प्राप्त होती है, यही विशेषता है ॥४६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—किसी विषयमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि न करे, वर्तमान अवस्थामें, और क्रियाकी परावस्थामें सर्वदा रहकर आत्माको आत्माके द्वारा क्रियाके रूपमें युद्ध करके जीतकर अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें रहकर जब सब विषयोंमें इच्छारहित हो जाता है तब और कोई कर्म फलाकाङ्क्षाके साथ नहीं रहता, जब किसी विषयकी इच्छा न रही, जो इच्छा करके पाते, अतएव सब विषयोंकी प्राप्ति हो गयी जिसका नाम सिद्धि है तो वह परम अर्थात् सबके परे ब्रह्मस्वरूप होने पर वह जैसे अकर्त्ता होते हुए भी कर्त्ता है उसी प्रकार इच्छारहित होकर सारी इच्छाएँ (इच्छा न करके) सम्पन्न होती हैं—इसका ही नाम सिद्धि और संन्यासी अर्थात् जो कुछ इच्छा होती है वर्त्तमान अवस्थामें अनावश्यक कर्मकी, उसे नहीं करता—इस प्रकारकी स्थिर बुद्धि क्रियाकी परावस्थामें होती है।—आत्मामें मन रखते रखते अन्य किसी बाह्य विषयमें आसक्ति नहीं आती। इसके लिए पहले प्रबल युद्ध करना पड़ता है। क्रियाके द्वारा क्रमशः जब परावस्था प्राप्त होती है, तब इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जानेसे विषयोंमें स्पृहा नहीं रहती। स्वकर्म द्वारा ईश्वरकी अर्चना करने पर उक्त सिद्धि प्राप्त होती है। तब अनिच्छाकी इच्छासे सब कर्म होता है, परन्तु कर्ममें आसक्ति नहीं होती और फलकी आकाङ्क्षा भी नहीं रहती। तब कर्त्ता होकर भी अकर्त्ता है, तथापि सब कार्य ठीक तौर पर होता रहता है। इच्छारहित होने पर भी उसका कोई काम नहीं अटकता, मानो कोई सब कर देता है। इसी अवस्थाका नाम ही 'नैष्कर्म्यसिद्धि' है। सर्वकर्म-निवृत्तिका कारण है इच्छारहित होना, तथापि सर्वकर्म फलाकाङ्क्षाके साथ करने पर जो फल होता है वही फल उनको फलाकाङ्क्षा न करने पर भी होता है। साधारणतः सकामी पुरुषोंको कामनाकी पूर्त्तिमें कृतकृत्यता बोध होती है। उन (योगियों)को स्पृहा न होनेके कारण वस्तुकी प्राप्ति-अप्राप्तिसे आनन्दमें कोई विघ्न उत्पन्न नहीं होता। पहले क्रियाभ्यास करना होगा। क्रिया करते करते मन और इन्द्रियका एक प्रकारसे उपराम हो जाता है अर्थात् तब इन्द्रिय और मन बाह्य वस्तुमें आसक्ति नहीं दिखलाते। यही कर्मजा सिद्धि है। इसके द्वारा ज्ञाननिष्ठाकी योग्यता प्राप्त होती है। ज्ञाननिष्ठा है क्रियाकी परावस्थामें रहना। इस प्रकारका रहना जब दीर्घकाल तक और इच्छाधीन हो जाता है तो नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है। जिसको नैष्कर्म्यसिद्धि होती है उसमें निम्नलिखित लक्षण फूट पड़ते हैं। धन, जन, गृह, पुत्र, दारा आदिमें उसकी आसक्ति नहीं रहती। तब उसका अन्तःकरण वशीभूत हो जाता है। देह, भोग और जीवन-

धारणामें भी उसकी कोई स्पृहा नहीं होती। उसका मन कल्पनाके अभावमें आत्माकारमें स्थित होता है। यही नैष्कर्म्यसिद्धि है। इस नैष्कर्म्यसिद्धिकी चरम या परमावस्था होती है सर्वदा बुद्धिकी स्थिरता। क्रियाकी परावस्था आठों पहर इस प्रकार रहने पर 'सर्वं ब्रह्ममयं' भाव हो जाता है ॥४६॥

(नैष्कर्म्यसिद्धिका साधनक्रम बतलानेकी प्रतिज्ञा)

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय !) सिद्धिं प्राप्तः (सिद्धिको प्राप्त पुरुष) यथा (जिस प्रकार) ब्रह्म आप्नोति (ब्रह्मको प्राप्त होता है) तथा (वह) समासेन एव (संक्षेपमें ही) मे निबोध (मुझसे सुनो) या (जो ब्रह्मप्राप्ति) ज्ञानस्य परा निष्ठा (ज्ञानकी चरम निष्ठा या परिसमाप्ति है) ॥५०॥

श्रीधर—एवम्भूतस्य परमहंसस्य ज्ञान-निष्ठया ब्रह्मभावप्रकारमाह—सिद्धिं प्राप्त इति-षड्भिः। नैष्कर्म्यसिद्धिं प्राप्तः सन्, यथा येन प्रकारेण, ब्रह्म प्राप्नोति तथा—तं प्रकारं संक्षेपेणैव मे वचनात् निबोध—शृणु ॥५०॥

अनुवाद—इस प्रकारके परमहंसका ज्ञाननिष्ठा द्वारा जो ब्रह्मभाव होता है, उसे छः श्लोकों द्वारा कहते हैं]—नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त पुरुष जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त होता है उसे संक्षेपमें कहता हूँ, सुनो ॥५०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त होकर सम्पूर्ण सिद्धिको प्राप्त होता है जिस प्रकार उसको जान लो—निःशेषरूपमें स्थिति, और ब्रह्मदर्शन ब्रह्ममें रहकर क्रियाकी परावस्था, वह परा अर्थात् जिसके परे और कुछ भी नहीं है ब्रह्मके सिवा।—बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ मिलकर कर्म उत्पन्न करती हैं। जब ये कर्म उत्पन्न नहीं करतीं तभी नैष्कर्म्यसिद्धि होती है। किस प्रकारकी साधनासे यह नैष्कर्म्यसिद्धि होती है, उसे भगवान् यहाँ बतलावेंगे। ज्ञान और ज्ञानकी परिसमाप्ति—ज्ञान है ब्रह्मदर्शन, आत्माकारमें स्थिति, जो क्रियाकी परावस्थामें होती है। क्रियाकी परावस्थामें निःशेषरूपसे स्थिति ही परमा सिद्धि है। ज्ञान ही ज्ञेयाकारमें प्रकाशित होता है, इसलिए ज्ञान और ज्ञेय अभिन्न हैं। सूर्यकी किरणें जैसे द्वार, छिद्र और गवाक्षके मार्गसे गृहमें प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरमें आत्मचैतन्य प्रविष्ट होकर सबको चैतन्ययुक्त करता है। चैतन्य इनका धर्म नहीं है। देहसे बुद्धि पर्यन्त सब जड़ पदार्थोंमें चैतन्यका आभास वर्त्तमान रहनेके कारण इन सब वस्तुओंमें आत्मभ्रम होता है। इस कारण आत्मज्ञान स्वतःसिद्ध होने पर भी उसमें जो नामरूपमय गुणका आरोप किया जाता है उसकी निवृत्ति कर सकने पर देहादिमें आत्मभ्रम नहीं हो सकता। आत्मज्ञान स्वतःसिद्ध वस्तु है अतएव उसके लिए प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं होती। प्रयत्नकी आवश्यकता होती है अनात्मज्ञानकी निवृत्तिके लिए। क्रियाकी परावस्थामें न किसी प्रकारका चिन्तन है और न

अचिन्तन। ब्रह्मपद चिन्तनके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि निश्चिन्त अवस्था ही ब्रह्म-पद है। जब 'हाँ-ना' दोनों ही नहीं रहते तभी ब्रह्म-सम्पादन होता है। इस निश्चिन्त अवस्थाकी प्राप्तिका जो साधन है उसे बतला रहे हैं ॥५०॥

(परमहंसकी ज्ञान-निष्ठा)

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

अन्वय—विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः (विशुद्ध बुद्धिसे युक्त होकर) धृत्या (धृतिके द्वारा) आत्मानं नियम्य (मनको नियमित अर्थात् आत्मसंयम करके) शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा (शब्दादि विषयोंका त्याग करके) रागद्वेषौ च (और रागद्वेषको) व्युदस्य (परित्याग करके)–॥५१॥

श्रीधर—तदेवाह—बुद्ध्येति। उक्तेन प्रकारेण विशुद्धया—पूर्वोक्तया सात्त्विक-बुद्ध्या युक्तः, धृत्या सात्त्विक्या आत्मानं—तामेव बुद्धिं नियम्य—निश्चलां कृत्वा, शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा तद्विषयौ राग-द्वेषौ च व्युदस्य। 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' इत्यादीनां 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इति तृतीयेन अन्वयः ॥५१॥

अनुवाद—सात्त्विकी बुद्धिसे युक्त होकर सात्त्विकी धृति द्वारा सात्त्विक बुद्धिको निश्चल करके शब्दादि विषयोंका परित्याग करते हुए अर्थात् तद्विषयक राग-द्वेषमय भावोंका परित्याग करके [ब्रह्मस्वरूपमें अवस्थान करते हैं] ॥१५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—बुद्धि क्रियाकी परावस्थामें स्थिर करके, ब्रह्ममें अटका हुआ रहकर, आत्मामें अपने आप स्थिर रहनेका नाम है धारणा-ध्यान-समाधिपूर्वक फलाकाङ्क्षाके सहित शब्दादिको अग्राह्य करके—इसी कारण इच्छा और हिंसा क्रियाकी परावस्थामें नहीं रहतीं।—साधना करके पारमहंस्यनिष्ठ पुरुषको नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है। उनके लक्षण बतलाते हैं—(१) विशुद्धबुद्धि—उनकी बुद्धिमें आत्मातिरिक्त कोई वस्तु नहीं भासती तथा आत्माके सम्बन्धमें कोई संशय भी नहीं आता। (२) धृति—प्राणायामादिके द्वारा जो स्थिर अवस्था आती है उसमें वृत्ति रुद्ध हो जाती है। प्राणको नियमित न करने पर शरीर और इन्द्रियाँ चञ्चल रहेंगी, निश्चल न होंगी। प्राणके स्थिर होते ही बुद्धि आत्मामें अपने आप स्थिर हो जायगी। उस अवस्थामें रहनेका नाम ही धृति है। (३) शब्दादि विषयोंका त्याग—योगाभ्यासके द्वारा सारी इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होती हैं, अतएव उस समय बाह्य विषय ग्राह्य नहीं होते। (४) राग-द्वेष त्याग—उनका किसी वस्तुके प्रति अनुराग नहीं होता और न विराग ही होता है। मनके रहते इस भावका आना कठिन है। क्रियाकी परावस्थामें मन निश्चल होता है, कोई सङ्कल्प या वासना नहीं रहती। वह तब ब्रह्मसाक्षात्कारके उपयुक्त होते हैं ॥५१॥

(परमहंस किस प्रकार ब्रह्मत्वप्राप्तिकी योग्यता प्राप्त करते हैं)

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

अन्वय—विविक्तसेवी (निर्जनस्थानवासी) लघ्वाशी (मितभोजी) यतवाक्काय-मानसः (वाक्य, शरीर और मनको संयत करके) नित्यं ध्यानयोगपरः (नित्य ध्यान-योगपरायण होकर) वैराग्यं समुपाश्रितः (वैराग्यको पूर्णतः आश्रय करके) ॥५२॥

श्रीधर—किञ्च—विविक्तेति । विविक्तसेवी—शुचिदेशावस्थायी, लघ्वाशी—मितभोजी । एतैः उपायैः यतवाक्कायमानसः—संयत-वाग्देहचित्तो भूत्वा, नित्यं सर्वदा, ध्यानेन यो योगो ब्रह्मसंस्पर्शः तत्परः सन् ध्यानाविच्छेदार्थं पुनः पुनः दृढं वैराग्यं सम्यग् उपाश्रितो भूत्वा ॥५२॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—पवित्र देशवासी और मितभोजी होकर एवं वाक्य, देह और चित्तको संयत करके, सर्वदा ध्यान द्वारा ब्रह्मसंस्पर्शरूप योगमें तत्पर होकर ध्यानके अविच्छेदके लिए पुनः पुनः दृढ़ वैराग्यको सम्यक् रूपसे आश्रय करके [ब्रह्मसाक्षात्कारमें समर्थ होते हैं] ॥५२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सर्वदा अपने आपमें रहता है, अल्प आहार करता है, यथासाध्य बात नहीं बोलता, शरीरसे अपने आपको छोटा विवेचना करके घमण्ड करके नहीं चलता, मनको अन्य दिशामें न ले जाकर अपने आप छोटा विवेचना करके अपनेमें रहता है अर्थात् क्रिया करता है—जो गुरुवक्त्रगम्य है—१७२८ बार प्राणायाम प्रतिदिन करता है और बीच बीचमें २१७३६ बार प्राणायाम करता है अर्थात् दिनरात सर्वदा ही प्राणायाम करता है अर्थात् उसमें ही नित्य रहता है—जो क्रिया करते-करते अपने आप ही होता है—जब सर्वदा अपनेमें रहता है—इस प्रकारका अभ्यास प्राप्त कर, तब अन्य दिशामें फिर ब्रह्मके सिवा कदापि इच्छा नहीं होती—इसीका नाम वैराग्य है, यह जिसको है वही वैरागी है।—ब्रह्म-साक्षात्कारका सामर्थ्य प्राप्त करनेके लिए साधकको (५) विविक्तसेवी होना पड़ेगा। निर्जन देशमें बैठकर साधनाभ्यास किये बिना ध्यान नहीं जमता। इसलिए साधकको अपेक्षाकृत कोलाहल-शून्य स्थानमें रहना आवश्यक है। परन्तु बाहरकी गड़बड़ीसे अधिक गड़बड़ी होती है हमारे मन और इन्द्रियोंके द्वारा। उनको वशमें रखनेके लिए आवश्यक है कि प्राणको स्थिर किया जाय। प्राण स्थिर होनेपर ऐसे स्थानमें अवस्थान करता है जहाँ 'मैं-मेरा' सब मिट जाता है। इसका ही नाम है अपने आपमें रहना। इस प्रकारकी निःसङ्गावस्था न होने पर केवल जनशून्य स्थानमें रहने पर भी काम-क्रोधादि दस्युगणके हाथसे छुटकारा पाना असम्भव है। (६) लघु आहार भी साधकके लिए उपकारी है। अतिभोजनसे निद्रा और आलस्य साधकको घेरे रहते हैं। मन तमोगुणके द्वारा अभिभूत हो जाता है, इसलिए आहार और निद्रामें संयम रखना पड़ता है। साधकप्रवर कबीर कहते हैं—

नींद निसानी नीचकी उठो कबीरा जागि।
और रसायन छोड़कर राम रसायन लागि॥

निद्रा नीच आदमीकी निशानी है, क्योंकि तमोगुण सर्वापेक्षा निकृष्ट गुण है। जो प्राणको ऊपर चढ़ाकर रख सकते हैं उनको फिर निद्रा नहीं होती। कबीर कहते हैं कि जग उठो अर्थात् जाग्रत अवस्थामें ऊपर उठकर रहो। सामान्य धातुका रसायन छोड़कर आत्मारामका रसायन सेवन करो। दो या अनेक पदार्थ परस्पर युक्त होने पर एक नयी वस्तुमें परिणत होते हैं या गुणान्तरको प्राप्त होते हैं। यह रसायन कहलाता है। हम संसारमें वासना और चेष्टाके द्वारा अपनी अवस्थाका अविरत परिवर्तन कर रहे हैं। आदमी बहुत परिश्रम, चेष्टा, व्यापार, वाणिज्य आदिके द्वारा खूब धनी होकर अपनी अवस्थाको पूर्णतः बदल देता है। परन्तु कबीर कहते हैं कि ये सब चेष्टाएँ छोड़कर राम-रसायन सेवन करो। जिस रसायनके द्वारा यह मोहबद्ध जीव जीवन्मुक्त अवस्थाको प्राप्त करके आत्माराम हो जाता है, वह राम-रसायन क्रियाके द्वारा क्रियाकी परावस्थाकी प्राप्ति होने पर ही तैयार होता है, अतएव उस रसायन-क्रियामें लगे रहो। (७) काय-मन-वाक्यका संयम—रूपवान, बलवान और धनवान लोग शरीरको ही प्रधानता देते हैं। मनमें खूब घमण्ड करते हैं कि वह बड़े आदमी हैं, देखनेमें सुन्दर हैं अथवा बलिष्ठ हैं, परन्तु वस्तुतः इस देहके समान घृणित और निकृष्टतम वस्तु और कोई नहीं है। ज्ञानहीन पशुतुल्य व्यक्ति ही इसका गर्व करते हैं। क्षणमात्रमें इसका क्या परिणाम हो सकता है, यह विचार करने पर फिर इसके लिए गर्व करनेकी इच्छा नहीं होती। मनमें इस प्रकारके विचार रखकर आसनादि-साधनमें चेष्टा करनेसे शरीर संयत किया जा सकता है। मनःसंयम—मनको अन्य दिशामें न जाने देकर अपने आपमें रहने देना ही प्रकृत मनःसंयम है। वाक्यसंयम—वाक्यसंयमके लिए जिह्वाको तालुमूलमें रखकर चक्रचक्रमें स्मरण करना पड़ता है। अनावश्यक बातें नहीं करनी होतीं। वाक्यसंयमसे इच्छाका नाश हो जाता है। शक्तिक्षय न होनेके कारण मनको एक विषयमें अधिक देर तक संयत किया जाता है और इससे कार्यसिद्धि होती है। (८) प्रतिदिन ध्यानाभ्यास और योगाभ्यास करना चाहिए। हमारे मनमें सर्वदा नाना प्रकारके प्रत्ययोंका उदय होता रहता है, उन प्रत्ययोंको अवरुद्ध करके ही योगयुक्त हो सकते हैं। प्रत्ययोंका अवरोध होता है एकाग्रताके द्वारा, एकाग्रता आती है प्राणसंयमसे, अतएव प्रतिदिन अधिक समय तक मन लगाकर प्राणायाम करे। जो प्रायः बीच-बीचमें १७२८ बार प्राणायाम करते हैं तथा कभी कभी लगातार कई दिनों तक १७२८ बार करके २१७३६ बारकी पूर्त्ति करते हैं वह क्रियाकी परावस्थाका आस्वादन प्राप्त करते हैं। जो इस प्रकार क्रियामें लगे रहते हैं उनको नित्य ही यह अवस्था प्राप्त होती है। (९) वैराग्य—उपर्युक्त अभ्यासके फलसे एक ब्रह्मके सिवा और कोई इच्छा नहीं रहती, इसीका नाम वैराग्य है ॥५२॥

(ब्रह्मप्राप्तिकी योग्यता)

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

अन्वय—अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहं (अहङ्कार, पाशविक बल, दर्प, काम, क्रोध तथा शरीर-धारणार्थ या धर्मार्थ लोगोंसे अर्थादि ग्रहण) विमुच्य (त्याग करके) निर्ममः (ममताहीन) शान्तः (और विक्षेपशून्य होने पर) [साधक] ब्रह्मभूयाय कल्पते (ब्रह्मसाक्षात्कारमें समर्थ होता है) ।।५३।।

श्रीधर—किञ्च—अहङ्कारमिति । ततश्च विरक्तोऽहं इत्यादि अहङ्कारं, बलं दुराग्रहं, दर्पं योगबलात् उन्मार्गप्रवृत्तिलक्षणम् । प्रारब्धवशात् अप्राप्यमाणेष्वपि विषयेषु कामं, क्रोधं, परिग्रहं च, विमुच्य विशेषेण त्यक्त्वा । बलात् आपन्नेषु निर्ममः सन्, शान्तः परमां उपशान्तिं प्राप्तः । ब्रह्मभूयाय ब्रह्माहमिति नैश्चल्येन अवस्थानाय, कल्पते योग्यो भवति ।।५३।।

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—अहङ्कार—मैं विरक्त या वैराग्ययुक्त हूँ इस प्रकारका अहङ्कार, बल—दुराग्रह या घृणित विषयमें स्पृहा, दर्प—योगबलके कारण उन्मार्गमें प्रवृत्ति, काम—प्रारब्धवश अप्राप्त विषयादिमें अभिलाषा, क्रोध तथा परिग्रह इन सबको विषयरूपमें परित्याग करके तथा ये समस्त विषय यदि बलपूर्वक आ जायँ तो भी ममताविहीन और परम उपशान्त होकर वे 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकारके निश्चल ब्रह्मभावमें अवस्थानके योग्य हो सकते हैं ।।५३।।

आध्यात्मिक व्याख्या—अहङ्कार, बल, दर्प अर्थात् छाती उभाड़ कर चलना, इच्छा, क्रोध, ब्रह्मके सिवा अन्यके घर अर्थात् अन्य वस्तुमें मन न देना, इन सबसे क्रियाकी परावस्थामें रहकर विशेषरूपसे इन उपर्युक्त सब विषयोंसे मुक्त हो जाता है, उस क्रियाकी परावस्थामें मैं भी नहीं रहता, मेरा भी नहीं रहता—जो क्रियान्वित सभी लोगोंको अनुभव होता है, इसका ही नाम है शान्ति अर्थात् क्रियाका अन्त—यह अधिक काल करते करते ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।—(१०) अहङ्कार—देह और इन्द्रियोंमें जो आत्मज्ञान होता है, वही अहङ्कार है, उस अहङ्कारका त्याग करना होगा (शङ्कर)। (११) बल—जो सामर्थ्य काम-रागादि युक्त है वही शास्त्रविरुद्ध, असत्, आग्रहरूप बल है। वह परित्याज्य है। (१२) दर्प—धर्मको अतिक्रम करना, योगाभ्यासके कारण विभूतिको प्राप्त होकर उन्मार्गगामी होना। लब्धभूमिक होने पर भी योगीको दर्प भ्रष्ट कर सकता है। (१३–१४) काम, क्रोध—चित्त अशुद्ध होने पर पार्थिव विषयकी प्राप्तिकी अभिलाषा होती है तथा वासनाका प्रतिघात होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। (१५) परिग्रह—अन्य प्रकारका परिग्रह तो रहता ही नहीं, केवल शरीर धारणके लिए परिग्रह करते हैं। धर्मानुष्ठानके लिए भी अर्थसंग्रह करना ठीक नहीं है। (अवश्य ही यह केवल संन्यासीके लिए ही संभव है)। (१६) निर्मम—ममत्व-बुद्धिका परिहार करना पड़ेगा। ममत्व-बुद्धि जबतक रहेगी तबतक हर्षविषाद आदिसे चित्तका विक्षेप होगा ही। (१७) शान्त—उपरति अर्थात् मनकी स्थिरता न आने पर ब्रह्मदर्शनका सामर्थ्य नहीं होता। क्रिया करते करते जब साधकका लक्ष्य आत्माके सिवा अन्य किसी ओर नहीं होता तथा क्रियाकी परावस्था प्राप्त होकर किसी विषयमें चित्त नहीं दौड़ता तब साधक निर्मम हो जाता है अर्थात् उसका 'मैं' और 'मेरा' नहीं रहता। इस अवस्थाको प्राप्त होने पर साधक प्रशान्त हो जाता है, चित्तमें किसी

उद्वेगकी तरङ्ग नहीं उठती, यही परम निवृत्तिरूप उपशान्ति है। इस अवस्थाको प्राप्त योगी ब्रह्मभावसे भावित होकर ब्रह्म हो जाते हैं ॥५३॥

(ब्रह्मभूतको परा भक्तिकी प्राप्ति)

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

अन्वय—ब्रह्मभूतः (ब्रह्मप्राप्त, श्रवण-मननादि-द्वारा "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकारके दृढ़ निश्चयसे युक्त), प्रसन्नात्मा (अध्यात्मप्रसादको प्राप्त पुरुष) [किसी पदार्थके नष्ट होने या न रहने पर] न शोचति न कांक्षति (न शोक करता है, न आकांक्षा ही करता है) सर्वेषु भूतेषु समः (सब भूतोंमें समदर्शी होकर) परां मद्भक्तिं (मुझमें परमा भक्तिको) लभते (प्राप्त करता है) ॥५४॥

श्रीधर—ब्रह्माहमिति नैश्चल्येन अवस्थानस्य फलमाह—ब्रह्मेति। ब्रह्मभूतः ब्रह्मणि अवस्थितः। प्रसन्नात्मा—प्रसन्नचित्तः, नष्टं न शोचति न च अप्राप्तं काङ्क्षति, देहाद्यभिमानाभावात्। अतएव सर्वेषु अपि भूतेषु समः सन् रागद्वेषादिकृतविक्षेपाभावात् सर्वभूतेषु मद्भावनालक्षणां परां मद्भक्तिं लभते ॥५४॥

अनुवाद—['मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारकी निश्चल अवस्थितिका फल बतलाते हैं]—ब्रह्ममें अवस्थित पुरुष प्रसन्नचित्त होता है अर्थात् वह नष्ट विषयमें पश्चात्ताप नहीं करता तथा अप्राप्त विषयकी आकाङ्क्षा भी नहीं करता क्योंकि उसको देहाभिमान ही नहीं रहता। सब भूतोंमें समभाव होनेके कारण राग-द्वेषादिकृत विक्षेपके अभाववश वह सब भूतोंमें 'मद्भावना' रूप परा भक्तिको प्राप्त करता है ॥५४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ब्रह्म हुआ इसलिए प्रसन्नात्मा हो जाता है, क्योंकि वह ब्रह्मके सिवा अन्य वस्तुमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि नहीं करता, जब किसी वस्तुमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि न हुई, तब उस अन्य वस्तुके विषयमें सोचना नहीं रहता, आसक्तिपूर्वक दृष्टि करने पर ही उसकी प्राप्तिकी इच्छा होती है—जब ब्रह्मके सिवा अन्य किसी वस्तुमें दृष्टि ही नहीं रहती, तब इसी कारणसे उसको आकाङ्क्षा भी नहीं होती—सब भूतोंमें वही कूटस्थ ब्रह्म देखता है—चर और अचरमें, तब अपने आप सब अनुभव होता है—गुरुवाक्यमें विश्वास करके अपने आपमें रहकर सर्वदा क्रिया करता है और उसको ही लाभ विवेचना करता है, जो लाभ सबके ऊपर है यह मानता है।—जो ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हो जाता है उसके कौनसे लक्षण प्रस्फुटित हो उठते हैं, भगवान् यहाँ यही बतलाते हैं। क्रियाकी परावस्थामें साधक जब ब्रह्मस्वरूप हो जाता है तो उसका चित्त सर्वदा प्रसन्न रहता है। क्योंकि किसी वस्तुके प्रति तब उसकी आसक्ति नहीं रहती, इसी कारण अप्राप्त वस्तुके लिए आकाङ्क्षा नहीं होती तथा प्राप्त वस्तु भी यदि नष्ट हो जाय तो उसके लिए भी उसको कोई शोक नहीं होता। चर-अचर सब भूतोंमें कूटस्थका दर्शन करने पर उसके सामने चर-अचर सब समान ही जान पड़ते हैं। ब्रह्मके सिवा अन्य वस्तुमें जिसका लक्ष्य नहीं होता उसको वस्तु प्राप्तिकी आकाङ्क्षा नहीं हो सकती। वह अन्य किसी लाभको लाभ ही नहीं

समझता। क्रियाकी परावस्थाके नशेमें जब वह मत्त हो जाते हैं तब वह परमानन्दमें अवस्थित होते हैं। तब अन्य कोई वस्तु है या नहीं, यह भी उनके मनमें नहीं रहता। क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें जब ईषत् व्युत्थित भाव होता है तब भी उनका चित्त निर्व्याकुल रहता है। तब भी वह सबवस्तुमें ब्रह्मदर्शन करते हैं। उनको जान पड़ता है है मानो सब कुछ एक परमानन्दसे भरा हुआ है। नाना प्रकारकी अर्थ-प्राप्ति, आत्मीय जनोंके समागम या घोरतर शारीरिक-मानसिक दुःख समुपस्थित होने पर भी उनका चित्त मथित या वेगयुक्त नहीं होता। वह किसी वस्तुके प्रति लक्ष्य न रखकर केवल क्रियाके प्रति लक्ष्य रखते हैं, जिससे स्वरूप-स्थितिसे विच्युत न होना पड़े। वह सर्वदा क्रिया करनेको लाभकी वस्तु समझते हैं। जो सर्वदा क्रिया करते हैं उनको सर्वत्र कूटस्थ-दर्शन होता है। सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि हुए बिना किसीको समभाव या समदृष्टि नहीं हो सकती। क्रिया करके जिसका अन्तःकरण जितना विशुद्ध होता है उसको उतनी ही समदृष्टि प्राप्त होती है। नाना प्रकारकी वासनाओंके रहते अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। प्राण जब वेगयुक्त रहता है तो मनमें नाना वासना या स्पन्दन रहेगा ही। इसलिए क्रिया द्वारा प्राणको स्थिर करके मनको निःस्पन्दित करना सर्वप्रथम आवश्यक है। मनके निःस्पन्दित होने पर ही आत्मस्वरूपका साक्षात्कार होता है। स्वरूपका साक्षात्कार ही आत्माकी अपरोक्षानुभूति है। वहाँ 'मैं-मेरा' कुछ भी नहीं रहता। यह अभेद-भाव ही प्रकृत ज्ञान या मुक्ति है। परा भक्ति भी इसीको कहते हैं। यह सहजलभ्य वस्तु नहीं है। भक्त तुलसीदासने कहा है—

ज्ञानके पंथ कृपानके धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निरविघन पंथ निरवहई। सो कैवल्य परमपद लहई॥

ज्ञानका मार्ग तलवारकी तेज धारके समान है। इस धारको पार करना बड़ा कठिन है। यदि कोई निर्विघ्न इस पथको पार करता है तो उसको परम पद कैवल्यकी प्राप्ति होती है। परन्तु—

अति दुर्लभ कैवल्य परमपद। सन्त पुराण निगम आगम बद॥
रामभजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआई॥

परमपद अत्यन्त ही दुर्लभ वस्तु है, साधु, पुराण और वेद सभी ऐसा कहते हैं। परन्तु वह परम पद रामभजनके द्वारा अनिच्छा रहते हुए भी साधकको प्राप्त होता है।

क्रिया करके इस प्रकारका दुर्लभ परम पद क्रियाकी परावस्थामें प्राप्त होता है, इसको प्रत्येक क्रियावान् समझते हैं। परन्तु तीव्र वैराग्यके बिना कोई अपरोक्ष ज्ञान नहीं पा सकता। मनुष्यका विषयासक्त चित्त पद-पदपर विघ्न उपस्थित करता है, परन्तु जो आत्मक्रियाके द्वारा आत्मारामका भजन करते हैं, उस तत्पर क्रियावान्के पास क्रियाका परावस्थारूप कैवल्य-ज्ञान अपने आप समुदित होता है। साधक समझ नहीं पाते कि वह कैसे उपस्थित हो गया। साधारणतः वस्तु प्राप्त होने पर मनुष्यका चित्त प्रसन्न होता है, परन्तु जिन्होंने क्रियाकी परावस्थामें स्थिति प्राप्त की है,

उनके चित्तकी क्रिया-शक्ति स्तम्भित हो जाती है, अतएव किसी संस्कारका स्फुरण नहीं रहता और इस कारण ब्रह्मके सिवा किसी वस्तुके प्रति आसक्ति भी नहीं रहती। वस्तुके प्राप्त होने पर भी उसके प्रति राग या विद्वेष नहीं आता। क्रियाकी परावस्थामें चित्तके तरङ्ग-शून्य हो जाने पर नानात्वकी उपलब्धि नहीं होती। इस समताका नाम परा भक्ति है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

सर्वभूतेषु येनैकं भगवद्भावमीक्षते।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

जो सर्वभूतोंमें एक भगवद्भाव और भगवदात्मामें सर्वभूतका दर्शन करते हैं, वे ही भागवतोत्तम हैं। क्रियाकी परावस्थामें इन सब बातोंकी आलोचना संभव नहीं है, क्योंकि उस अवस्थामें भूत रहते ही नहीं। किन्तु परावस्थाकी परावस्थामें सर्वभूतोंमें एक ही आत्मा रहता है तथा अनन्त भाव एक आत्मभावके भीतर परिसमाप्त होते हैं॥५४॥

(परा भक्तिके द्वारा आत्माका स्वरूप-ज्ञान या मुक्ति)

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥५५॥*

अन्वय—[ब्रह्मभूत व्यक्ति] भक्त्या (भक्तिके द्वारा) [अहं—मैं] यावान् (जिस प्रकार) यः च अस्मि (जो हूँ) तत्त्वतः (स्वरूपतः) अभिजानाति (जान सकता है), ततः (उससे) मां (मुझको) तत्त्वतः ज्ञात्वा (तत्त्वतः जानकर) तदनन्तरं (तत्पश्चात्) विशते (मुझमें प्रवेश करता है)॥५५॥

श्रीधर—ततश्च—भक्त्येति। तया च परया भक्त्या तत्त्वतो माम् अभिजानाति। कथम्भूतम्? यावान्—सर्वव्यापी, यश्च अस्मि—सच्चिदानन्दघनः तथाभूतम्। ततश्च मामेवं तत्त्वतो ज्ञात्वा, तदनन्तरं—तस्य ज्ञानस्य उपरमे सति, मां विशते—परमानन्दरूपो भवतीत्यर्थः॥५५॥

---

* साम्प्रदायिकोंका कथन है कि यह श्लोक भक्तिकी प्रधानता स्थापन करता है। भक्तिका प्राधान्य तो है ही, अन्यथा किस बलसे आदमी भगवान्को पानेकी चेष्टा करेगा? श्रीमद्भागवतमें लिखा है—"तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्"—उस अद्वय ज्ञानवस्तुको ही तत्त्ववेत्ता लोगोंने तत्त्व अर्थात् भगवत्स्वरूप बतलाया है। अद्वय अर्थात् जिसका द्वितीय नहीं अर्थात् एकमात्र वही वस्तु है, विश्वमें अन्य कोई वस्तु नहीं है, अतएव ज्ञेय और ज्ञाता ज्ञानके ही प्रकार-भेद-मात्र हैं। यही ज्ञान या तत्त्व 'तत्' वस्तुका स्वरूप है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने चार प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानीको सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"—मेरे मतसे ज्ञानी मेरा ही स्वरूप है। ज्ञानी किस प्रकार उनका स्वरूप है, इसका कारण बतलाते हैं—"आस्थितः स हि युक्तात्मा"—क्योंकि वह युक्तात्मा है अर्थात् मेरे साथ योगयुक्त है अतएव सर्वोत्कृष्ट गति मुझको ही उसने आश्रय किया है। "समः सर्वेषु भूतेषु" होनेके कारण ब्रह्मभूत पुरुषकी सर्वभूतोंमें समदृष्टि होती है।

अनुवाद—[उसके बाद क्या होता है, यह बतलाते हैं]—परा भक्तिके द्वारा मुझको तत्त्वतः जानता है, मेरा स्वरूप पहचानता है और सर्वव्यापी तथा सच्चिदानन्दघन रूपमें मुझको जानता है। इस प्रकार यथार्थतः जानकर एवं तदनन्तर उस ज्ञानका भी उपरम होने पर मुझमें प्रवेश करता है अर्थात् परमानन्दरूप हो जाता है ॥५५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार भक्तिपूर्वक मैं क्या हूँ यह आदरपूर्वक जान सकता है, जो कुछ है सब मैं हूँ फिर जो कोई है मैं हूँ—तत्त्वतः अर्थात् क्रिया करके ब्रह्मस्वरूप होकर तत्पश्चात् मैं क्या हूँ यह जानकर मुझमें ही लय होता है पश्चात्।—आचार्य शङ्करने कहा है कि "परमात्मविषयमें जिससे ज्ञानधारा निरन्तर प्रवाहित होती रहे उसके लिए जो चेष्टा की जाती है उसीका नाम है ज्ञाननिष्ठा। ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा परस्पर विरुद्ध हैं। तब क्रियासाधनके द्वारा इस प्रकारका ज्ञान-प्रवाह किस प्रकार उत्पन्न होगा? क्रिया-साधन द्वारा ज्ञानकी उत्पत्तिकी कल्पना करना अनुचित है। ज्ञान स्वतःसिद्ध व्यापार है। आत्मा ही अद्वय ज्ञानतत्त्व है। आत्मा उत्पत्ति-विनाश-विवर्जित है, वह स्वतः विद्यमान है और स्वप्रकाशस्वरूप है। जो स्वयं प्रकाशित है उसको प्रकाशित करनेकी चेष्टा विफल प्रयासमात्र है।" प्राण परमात्माकी मायाशक्ति है। उस मायाशक्तिसे मन उत्पन्न होकर नाना प्रकारकी कल्पना करता है। यह कल्पना प्राणके कम्पनके सिवा और कुछ नहीं है। इसीके प्रभावसे असत्य सत्य-सा प्रतीत होता है। क्रियाके द्वारा इस प्राण-स्पन्दनका निरोध होने पर मनकी मनन-शक्ति या कल्पनाराशि उन्मूलित हो जाती है। तब आत्माका स्वाभाविक भाव प्रस्फुटित हो उठता है। यह प्रकाश पहले नहीं था और अब हो गया, ऐसी बात नहीं है। वह पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। स्वप्रकाश सूर्यको मेघ आवृत कर रखता है, परन्तु वस्तुतः मेघमाला सूर्यको आच्छादित नहीं कर सकती। घनाच्छन्न दृष्टि द्वारा सूर्य घनाच्छन्न प्रतीत-मात्र होता है, स्वरूपतः वह कभी घनाच्छन्न नहीं होता। उसी प्रकार मनके सङ्कल्प-विकल्पादिके कारण आत्मा अप्रकाशित है, ऐसी मनकी धारणा होती है, परन्तु थोड़ा विचार करने पर हम समझ सकते हैं कि यदि आत्मसत्ताका अस्तित्व न होता तो मनकी कल्पनाराशि तथा इन्द्रियादिके विषयग्रहणरूप कार्य भी नहीं हो पाते। इनके कार्य आत्माके अस्तित्वको प्रमाणित करते हैं। अतएव जो है, जो पूर्वसे ही प्राप्त है, उसको पानेके लिए फिर प्रयासकी क्या आवश्यकता है? अतएव आत्मलाभ या आत्मज्ञानके लिए साधन अप्रयोजनीय हो जाता है। तब फिर साधनके लिए शास्त्रादि इतना जोर क्यों देते हैं? मनका वैकारिक भाव इसका कारण है। हाथमें ही द्रव्य है, भ्रमवश मनमें हो रहा है कि वह नहीं है। इसी कारण अन्वेषणकी धूम मची हुई है। जब मनका चाञ्चल्य बन्द हो जाता है, हम स्थिर हो जाते हैं, तब देखते हैं कि जिसको हम खोज रहे थे वह हमारे हाथमें ही है। आत्माका चिर स्थिर नित्य अविचल रूप स्वतः सिद्ध है, परन्तु मनके विक्षेपके कारण वह ध्यानमें नहीं आता। मनका यह चाञ्चल्य प्राणशक्तिके

स्पन्दनका फल है। इसीसे शास्त्र, साधु और गुरु सब एकस्वरसे कहते हैं कि प्राणको स्थिर करो। प्राणके स्थिर होने पर मनकी मनन-शक्ति नहीं रहेगी। तब देखोगे कि तुम आत्मारूपमें निरन्तर विराजमान हो। तुम्हारे शान्त, शुद्ध, अविचल, अविकृत रूपको कोई अशुद्ध, चञ्चल या विकृत नहीं कर सकता। प्राणस्पन्दनके निरोधके द्वारा स्मृतिका स्फुरण होता है। इसी कारण साधन-पथोंका अवलम्बन किया जाता है। प्राण कैसे स्पन्दित होता है तथा वह किस प्रकार मन, इन्द्रिय तथा विषयादिके रूपमें परिणत होकर इस अनर्थरूप संसारभावको विकसित कर डालता है, यह जाननेका विषय है। संसार-भावके असत्य होने पर भी इसके कार्य-कारणकी धारामें एक स्वतः सिद्ध श्रृङ्खला विद्यमान है। प्राण जिस प्रकार विषयाकारमें परिणत हुआ है उससे अवगत होकर तथा उससे मनको हटाकर विपरीत भावनाद्वारा प्राणधाराको विपरीत दिशामें प्रवाहित कर सकने पर बहुत सहज ही प्राणके साथ मन भी आत्मामें संलीन हो जाता है। तब यह समझमें आ जाता है कि जो पहले था वही पीछे भी रहता है। मध्यावस्थामें स्वप्न-दर्शनके समान जो एक क्षणिक चाञ्चल्य हुआ था वही जगत्-रूपमें प्रकट हुआ था, अन्यथा आदि-अन्तमें वही एक अव्यक्त सत्ता रहती है और रहेगी। इस महासत्यका परिचय पाने पर जीवका जीवत्व छूट जाता है और शिवत्वकी प्राप्ति होती है। यही विपरीत रति है। कालसे समुत्थित यह अनन्त प्रकाश उस समय महाकालीके ब्रह्माण्डभाण्डोदरमें विलीन हो जाता है। महाकाली भी तुरीयब्रह्ममें आत्मसंगोपन करती है, पुरुष और प्रकृति दोनोंमें एकरूपता प्राप्त होती है। आत्माकी इस अविकारी स्वरूपमें स्थिति ही मुक्ति है। इसके द्वारा ही जीवात्मा और परमात्माका अभेदभाव सूचित होता है। यह द्वैत-विवर्जित चैतन्यरूप ही आत्माका यथार्थ स्वरूप है। वह स्वतः ही जन्म-जरा-मरणादि-रहित अवस्था है। आत्माका यह अभय परम भाव जान लेने पर फिर जीवका जीवत्व नहीं रहता। इस अविनश्वर गतिको लक्ष्य कर लेने पर जीव उसके भीतर प्रविष्ट होकर स्वरूपमें अवस्थित होता है। आत्मा सब प्रकारसे उपाधिवर्जित और आकाशवत् है। यही शास्त्रमें 'उत्तम पुरुष' के नामसे कथित हुआ है। यह ज्ञाननिष्ठा ही चतुर्थी भक्ति है, यह अन्य त्रिविध भक्तियोंसे विलक्षण है। इस प्रकारकी भक्तिके द्वारा यह जाना जाता है कि 'मैं' क्या है। 'मैं'से सब अभिन्न है, यह भी जाना जाता है। उनको तत्त्वतः जानना यही है। इस प्रकारका तत्त्वज्ञान होने पर न 'मैं' रहता है और न 'मेरा'। भगवत्तत्त्वज्ञानके उदय होनेपर हृदय-ग्रन्थिका भेद हो जाता है तथा जीव और ईश्वर विभिन्न हैं, यह भेद-बुद्धि विलुप्त हो जाती है। यही है 'मैं'को जानकर 'मैं'में लय हो जाना या परमात्मामें प्रवेश करना ॥५५॥*

---

*"तत्त्वतः ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्"— मेरा जन्म नहीं, जरा नहीं, मृत्यु नहीं, मैं अभय और अविनाशी हूँ—इस प्रकार जो तत्त्वतः मुझको जानता है वह पश्चात् मुझमें प्रविष्ट हो जाता है। ब्रह्मके स्वरूपको जानना और ब्रह्ममें प्रविष्ट होना एक ही बात है—"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"।

(भगवदाश्रितका मोक्ष)

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।५६।।

अन्वय—सदा (सर्वदा) सर्वकर्माणि कुर्वाणः अपि (सर्वकर्म करके भी) मद्व्यपाश्रयः (मत्परायण या मुझको आश्रय करके) मत्प्रसादात् (मेरे प्रसादसे) शाश्वतं अव्ययं पदं (नित्य अक्षय पदको) अवाप्नोति (प्राप्त होता है) ।।५६।।

श्रीधर—स्वकर्मभिः परमेश्वराराधनात् उक्तं मोक्षप्रकारं उपसंहरति—सर्वकर्माणीति । सर्वाणि नित्यानि नैमित्तिकानि च कर्माणि, पूर्वोक्तक्रमेण सर्वदा कुर्वाणः । मद्व्यपाश्रयः—अहमेव व्यपाश्रयः आश्रयणीयो न तु स्वर्गादिफलं यस्य सः, मत्प्रसादात् शाश्वतम्—अनादि, अव्ययं—नित्यं, सर्वोत्कृष्टपदं प्राप्नोति ।।५६।।

अनुवाद—[स्वकीय कर्मद्वारा परमेश्वरकी आराधनासे प्राप्त उपर्युक्त मोक्षका उपसंहार करते हैं]—नित्य नैमित्तिक सारे ही कर्म पूर्वोक्त क्रमसे करके भी जो मद्व्यपाश्रय है अर्थात् मैं ही जिसका आश्रय हूँ, स्वर्गादिफल जिसके लिए आश्रयणीय नहीं हैं, वह मेरे प्रसादसे अनादि, नित्य और सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त होता है ।।५६।।

आध्यात्मिक व्याख्या—समस्त कर्म वह करता है और मेरे आश्रयमें रहकर अर्थात् आत्मामें रहकर क्रिया करता है—यह आत्मक्रिया करते करते आनन्द प्राप्त करते हुए नित्य सर्वदा क्रियाकी परावस्थामें रहकर ब्रह्मपदमें अविनाशी हो जाता है।—पूर्णतः शुद्ध हो जाने पर अन्तःकरण मलशून्य हो जाता है और साधकका ध्यानभाव अत्यधिक

आत्मा आकाशस्वरूप है, क्योंकि वहाँ कुछ नहीं है । चित्ताकाश भी आकाश है, चित्ताकाशके चित्तका क्षय होने पर आकाश ही अवशिष्ट रहता है। तब यह आकाश और आत्माकाश एक हो जाता है, कोई भेद लक्षित नहीं होता । मैं या मेरा स्वरूप जो आकाश है यह जानना ही उनको तत्त्वतः जानना है । इस प्रकार जान लेने पर जब उपाधिशून्य आकाश-स्वरूप अवस्थामें द्रष्टा 'मैं' भी डूब जाता है तो वही "विशते तदनन्तरम्" है। साधन करते करते साधक इस स्थूल देहके अतीत एक ज्योतिर्मय लिङ्ग-देहका अनुभव करता है, पश्चात् उस ज्योतिके अन्तर्गत एक और शुद्ध ज्योतिर्मय बिन्दु देखता है—वही 'मैं' या 'जीव' है। पश्चात् वह जीव-बिन्दु भी अनन्त अरूप स्थिर चित्समुद्रमें प्रविष्ट होकर अपने नाम-रूपको भुला देता है। सब नाम-रूपके मूलमें यह बिन्दु रहता है। अनन्त जीव अनन्त बिन्दुरूपमें अवस्थित हैं। पश्चात् दीर्घ समाधिस्थिति प्राप्त करने पर साधक देख पाता है कि ये अनन्त बिन्दु एक ही बिन्दुके बिम्ब-प्रतिबिम्ब मात्र हैं। इस समष्टिभूत अव्याकृत चिदाकाशका अनुभव करने पर साधकका द्वैतज्ञान तिरोहित हो जाता है, परन्तु तब भी "द्रष्टा मैं" रह ही जाता है। यही तत्त्वतः जानना है। पश्चात् ये सारे सूक्ष्म बिन्दु और अव्याकृत चिदाकाश सब आत्मसत्तामें विलीन हो जाते हैं। तब एक अद्वितीय आत्मसत्तामात्र अवशिष्ट रहता है। उस समय उसका देखनेवाला भी कोई नहीं रहता । कबीर साहबने कहा है—'हेरत हेरत हे सखी हेरत गया हेराय' । यही है "विशते तदनन्तरम्" ।

वृद्धिको प्राप्त होता है। तब वह बाहरका कर्म कुछ नहीं कर सकता। यही कर्मसंन्यास है। उस समय एक आत्माकारा वृत्तिके सिवा अन्य कोई वृत्ति उदित नहीं होती। परन्तु जिसका अन्तःकरण इतना शुद्ध नहीं हुआ है अर्थात् क्रियाकी परावस्था गम्भीरतम भावमें अभी जिसको प्राप्त नहीं हुई है या पूर्व प्रारब्धके वश जिसका मन उतना निर्मल नहीं हो सका है और इस कारण इस जन्ममें उच्च अवस्था प्राप्त होनेकी आशा नहीं है, वह पुरुष जिस प्रकारसे कर्म करके शुद्धचित्त होकर भगवानमें आत्मसमर्पण कर सकता है, उस शरणागति-भावके विषयमें ही भगवान् यहाँ कह रहे हैं। जिस साधकको अभी संसारके सारे कर्म करने पड़ते हैं परन्तु मन भगवान्की ओर लगा रहता है, अवसर पाते ही जो समय नष्ट न करके क्रियामें बैठ जाते हैं, सब कर्म करते हुए भी जो प्राणकी गतिको लक्ष्य करना नहीं भूलते, जो चक्र-चक्रमें मनको सर्वदा लगाये रखते हैं, उनका मन क्रमशः स्थिर, विशुद्ध और प्रसन्न हो जाता है। इसका ही नाम मद्व्यपाश्रय या शरणागति है। पूर्व सुकृतिके अभाववश जिसका चित्तमल पूर्णतः अपगत नहीं हुआ है, यहाँ तक कि जो निषिद्ध कर्म भी कर बैठते हैं, वे भी यदि दृढ़तापूर्वक गुरूपदिष्ट उपायोंके द्वारा स्मरणमें तत्पर होते हैं तो परम गतिको प्राप्त कर सकते हैं। सर्वदा स्मरणके भावसे मन स्थिर और प्रसन्न होता है। यह भक्तिका दूसरा नाम है। इस प्रकारकी भगवद्भक्ति प्राप्त होने पर वैराग्य (अन्य किसी वस्तुमें मनको न जाने देना) और ज्ञान (क्रियाकी परावस्था)को प्राप्त कर साधक सर्वदा अविनाशी ब्रह्म-पदमें प्रविष्ट होकर कृतार्थ हो जाता है ॥५६॥

(मच्चित्त होओ तथा इसके लिए बुद्धियोगका अवलम्बन करो)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

अन्वय—चेतसा (मनके द्वारा अथवा विवेक-बुद्धि द्वारा) सर्वकर्माणि (सारे कर्म) मयि संन्यस्य (मुझमें समर्पण करके) मत्परः (मत्परायण होकर) बुद्धियोगम् उपाश्रित्य (समत्व-बुद्धिरूप योगका आश्रय करके अर्थात् समाहित होकर) मच्चित्तः सततं भव (सतत मच्चित्त होओ अर्थात् मुझमें निविष्टचित्त हो जाओ) ॥५७॥

श्रीधर—यस्मादेवं तस्मात्—चेतसेति। सर्वकर्माणि चेतसा मयि संन्यस्य—समर्प्य, मत्परः—अहमेव परः प्राप्यः पुरुषार्थो यस्य सः। व्यवसायात्मिकया बुद्ध्या योगम् उपाश्रित्य, सततं—कर्मानुष्ठानकालेऽपि। "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" इति न्यायेन मय्येव चित्तं यस्य तथाभूतो भव ॥५७॥

अनुवाद—[नित्य-कर्मानुष्ठानसे ब्रह्म-प्राप्ति होती है, अतएव कहते हैं]—सब कर्मोंको मुझमें समर्पण करके मत्पर होओ। मैं ही परम प्रापणीय पुरुषार्थ हूँ ऐसा समझकर व्यवसायात्मिका बुद्धिके द्वारा योगका आश्रय करके सतत मच्चित्त

होओ अर्थात् कर्मानुष्ठान-कालमें भी तुम्हारा चित्त वैसा ही हो जैसा "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" इत्यादि चतुर्थाध्यायके श्लोकमें उक्त हुआ है॥५७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—चित्तके द्वारा सब कर्म ब्रह्म ही कर रहा है ऐसा जानने पर सब कर्मका नाश होता है, क्योंकि अन्य एक आदमी कोई कर्म करता है, वह कर्म तुम्हारे न करने पर तुम्हारे उस कर्मका नाश होता है—मत्परः—सर्वदा आत्मामें रहेगा और क्रिया करेगा; बुद्धि द्वारा अर्थात् स्थिर चित्तसे क्रियाकी परावस्थामें रहकर अपने आप सब कर्म करके भी रहेगा जो साधुओंकी विचित्र दशा है, जो अपने आप क्रिया करते करते होती है। —कर्म यदि कर्मफल प्रसव नहीं करता तो वह कर्म न करनेके बराबर है। कर्ममें ममत्व-बुद्धि न रहने पर उस कर्मका फलभोग कर्त्ताको नहीं करना पड़ता। शास्त्र, गुरु और विचारके द्वारा यह जान लेने पर कर्मके शुभाशुभ फलके द्वारा आबद्ध नहीं होना पड़ता। ब्रह्म ही कर रहा है, मैं नहीं करता, यह भाव होना चाहिए। ऐसी अवस्थामें वह कर्म तुम्हारा कृत नहीं होता, अतएव तुम्हारा कर्म नाश हो गया। यह भाव कैसे आवेगा? इसके लिए "मत्पर" होना पड़ेगा अर्थात् सर्वदा मुझमें या आत्मामें रहना पड़ेगा। जो सर्वदा क्रिया करता है, उसका मन अन्य कहीं नहीं जा सकता। उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। जो योगयुक्त नहीं होता उसकी बुद्धि स्थिर नहीं होती। बहुमुखी बुद्धिके द्वारा ब्रह्म-चिन्तन नहीं होता। जिसकी ब्रह्ममुखी या स्थिर बुद्धि होती है वह अपने आपमें रहता है। क्रियाकी परावस्थामें रहते हुए अनिच्छाकी इच्छासे योगमग्न साधकके सारे कर्म हो जाते हैं। वह एक विचित्र अवस्था है। उस अवस्थाको प्राप्त हुए बिना कोई उसे समझ नहीं सकता। बुद्धिको समाहित करना ही बुद्धियोग है। क्रियाकी परावस्थामें बुद्धिकी स्थिरता ही बुद्धियोग है। उस समय भेदबुद्धि नहीं रहती, बुद्धिमें समता आती है। इस प्रकार समतामें चित्त संलग्न होने पर ही 'मच्चित्त' हो जाते हैं। मच्चित्त होने पर ही 'मत्पर' हो सकते हैं। आत्मामें सर्वदा रहनेका उपाय है सर्वदा क्रिया करना। यही असल शरणागतिकी अवस्था है जो पूर्वश्लोकमें व्याख्यात हुई है। क्रियाके द्वारा प्राणके स्थिर होने पर स्थिर बुद्धिका आविर्भाव होता है। जिसकी बुद्धि स्थिर होती है, उसको सदा ही असंमूढ़ भाव रहता है। उस समय लाभालाभ, जय-पराजय इत्यादिमें बुद्धिका विक्षेप या चाञ्चल्य लक्षित नहीं होता। बुद्धिकी समतासे ही साधकके सारे कर्म ब्रह्ममें समर्पित होते हैं। इस अवस्थामें अवस्थित साधकका देहात्मबोध या अपना-परायेका ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। इस प्रकार सतत-युक्तका सर्वकर्मार्पण अपने आप हो जाता है। जो 'मच्चित्त' हो जाता है उसके चित्तमें अन्य प्रत्यय समुदित नहीं होते, केवल आत्माकारा वृत्तिका प्रत्यय ही होता है। यह मच्चित्तता ही तत्त्वबुद्धि या ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय है। मनोमल या चित्त-विक्षेपके रहते इस प्रकारका विशुद्ध स्थिर भाव उदित नहीं होता। आत्माके साथ बुद्धिका योग होने पर साधक अनन्यशरण हो सकता है। आत्माके साथ बुद्धिका योग रखनेका प्रधान उपाय है क्रियायोग। अन्य कर्मके समान इस कर्ममें कोई बन्धन नहीं होता तथा इस कर्मके द्वारा ही बुद्धि स्थिर और विशुद्ध होती है॥५७॥

(आत्मनिमग्न चित्तमें सब प्रकारकी दुःख-दुर्गति तथा अहङ्कारका विनाश होता है)

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

अन्वय—मच्चित्तः (मद्‌गतचित्त होकर) त्वं (तुम) मत्प्रसादात् (मेरे अनुग्रहसे) सर्वदुर्गाणि (सब प्रकारकी दुःख-दुर्गतिको) तरिष्यसि (पार हो जाओगे) अथ चेत् (और यदि) अहङ्कारात् (अहङ्कारवश) न श्रोष्यसि (नहीं सुनोगे) विनङ्क्ष्यसि (तो नष्ट हो जाओगे) ॥५८॥

श्रीधर—ततो यद्भविष्यति तच्छृणु—मच्चित्त इति । मच्चित्तः सन् मत्प्रसादात् सर्वाण्यपि दुर्गाणि—दुस्तराणि सांसारिकानि दुःखानि तरिष्यसि । विपक्षे दोषमाह—अथ चेत्—यदि पुनः त्वं अहङ्कारात् ज्ञातृत्वाभिमानात् मदुक्तं एतत् न श्रोष्यसि तर्हि विनङ्क्ष्यसि—पुरुषार्थात् भ्रष्टो भविष्यसि ॥५८॥

अनुवाद—[उसके बाद जो स्थिति होगी, वह सुनो]—मद्‌गतचित्त होने पर मेरे प्रसादसे समस्त दुस्तर सांसारिक दुःखोंका अतिक्रमण करोगे । विपरीत आचरण करने पर ज्ञातृत्वाभिमानके वश अर्थात् अपनेको पण्डित मानकर मेरी कही हुई बात न सुनोगे तो पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जाओगे ॥५८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मुझमें सर्वदा चित्त रखकर अर्थात् क्रिया करके जो गुरु-वक्त्रगम्य है, सब शत्रुओंमें जो किलेमें पड़ जाता है मन उससे मुक्त हो जायगा । यदि कदाचित् मैं महान् पुरुष हूँ यह अहङ्कार करके मेरी बात नहीं सुनते हो तो मर जाओगे अर्थात् अवस्थान्तरको प्राप्त होओगे—जन्मग्रहण करना पड़ेगा—मेरी बात सुनो, पागलकी—मतवालेकी बात सुनो ।—बाह्य 'मैं'के वेष्टनके भीतर आते ही चित्त अहङ्कारयुक्त हो जाता है अर्थात् अपनेको ही कर्त्ता समझता है । प्रकृत 'मैं'में चित्त निमज्जित होने पर आत्मप्रसाद प्राप्त होता है । इस अवस्थामें सारी दुर्गति नष्ट हो जाती है । मनको बाँधनेके लिए षड् रिपुओंका दल कितने स्थानोंमें घात लगाये बैठा है । इसलिए अपनेको पूर्ण निरावलम्ब कर डालना होगा, जिससे मनका कोई आश्रय या अवलम्बन न रहे । अपने चित्तको उनके चित्तमें डुबा देना होगा । प्राणके बहिर्मुख रहने पर प्राणस्पदनके साथ चित्तमें भी स्पन्दन उठेगा, उससे केवल राशि राशि वासनाओंके फेन उठेंगे । उस अवस्थामें चित्त विषयाकाराकारित होकर केवल विषयका ही अनुसन्धान करेगा । वह चित्त कभी शान्त या शुद्ध न हो सकेगा अथवा आत्मभावमें मग्न न हो सकेगा । धर्मभ्रष्ट होने पर जीव कभी उनकी कृपाका अनुभव नहीं कर सकता । स्वधर्म ही आत्मभाव है, वही जन्मजरामृत्युविहीन स्थिर प्रशान्त भाव है । इस स्वधर्ममें जो अपनी मतिको बाँध नहीं सकता, वह धर्महीन व्यक्ति कभी उनकी कृपाका अनुभव नहीं कर सकता । कठोपनिषद् कहती है—"तमक्रतुः पश्यति वीतशोको, धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ।" जो अक्रतु अर्थात् कामनाशून्य

हैं, जो वीतशोक अर्थात् शोकदुःखादिसे रहित हैं, वे ही शरीरधारक इन्द्रिय-मनोबुद्धि आदिकी प्रसन्नता या स्थिरताके द्वारा आत्माकी महिमा अर्थात् विशुद्ध-चैतन्य या निर्विकार भावको साक्षात् कर सकते हैं।

अतएव भगवान्के शरणागत होनेके लिए भी पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पुरुषका प्रयत्न ही पौरुष है, यह पौरुष भगवत्-शक्ति है। इस आत्मशक्तिके प्रभावसे मन सर्व प्रकारसे आसक्ति-शून्य हो जा सकता है। आत्मसाक्षात्कार पौरुष-प्रयत्नका ही फल है। जो चेष्टा करेगा, जो लगा रहेगा, उसीको प्राप्ति होगी। वही ईश्वर-शक्ति या आत्मशक्ति है, अतएव इसको प्राप्त करके किसीको अहङ्कार करनेका कोई कारण नहीं है। जो लोग दिन-रात क्रियामें लगे रहते हैं, उनको क्रियाकी परावस्था प्राप्त होगी ही। क्रियाकी परावस्थामें जीवका जीवत्व नहीं रहता, तब जीव शिवके साथ मिलकर शिव हो जाता है। इसी कारण लाहिड़ी महाशयने आत्मामें चित्तको रखकर सर्वदा क्रिया करनेका उपदेश दिया है। स्थान-स्थान पर षड्‌रिपुओंका अभेद्य दुर्ग तथा निजकृत पूर्वकर्मोंका संस्कार भेद करके बाहर होना मानो असम्भव जान पड़ता है। मन तभी इनसे मुक्त हो सकता है जब वह मच्चित्त होता है अर्थात् जब कूटस्थमें सर्वदा लक्ष्य रखता है। अभिमानवश अपनेको बड़ा समझ कर यदि इस मुख्य बातको नहीं सुनते और तदनुरूप कार्य नहीं करते तो विनाश अवश्यम्भावी है अर्थात् वारंवार जन्ममरणके वशीभूत होना पड़ेगा। भगवत्कृपा वहाँ भरपूर रहती है जहाँ अपने आपमें रहना होता है। वहीं मनोबुद्धिको पहुँचाना होगा। मनसे सारी आशा, सारी कल्पना निःशेषरूपसे हटानी होगी, तभी अकिञ्चन हो सकोगे। अकिञ्चनके प्रति भगवान्की असीम कृपा होती है ॥५८॥

(जीवकी प्रकृति-परतन्त्रता)

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

अन्वय—अहङ्कारं आश्रित्य (अहङ्कारका आश्रय करके) न योत्स्ये (युद्ध नहीं करूँगा) इति यत् मन्यसे (ऐसा यदि सोचते हो तो) ते (तुम्हारा) व्यवसायः (निश्चय) मिथ्या एव (मिथ्या ही है) [क्योंकि] प्रकृतिः त्वां (प्रकृति तुमको) नियोक्ष्यति (युद्धमें नियुक्त करेगी) ॥५९॥

श्रीधर—कामं विनङ्क्ष्यामि न तु बन्धुभिर्युद्धं करिष्यामीति चेत्? तत्राह—यदहङ्कार-मिति। मदुक्तम् अनादृत्य केवलम् अहङ्कारम् अवलम्ब्य युद्धं न करिष्यामि इति यत् मन्यसे—त्वम् अध्यवस्यसि। एष ते व्यवसायो मिथ्यैव, अस्वतन्त्रत्वात् तव। तदेवाह—प्रकृतिः त्वां रजोगुणरूपेण परिणता सती नियोक्ष्यति—युद्धे प्रवर्त्तयिष्यत्येव ॥५९॥

अनुवाद—[यदि मेरी मृत्यु भी हो जाय तो भी बन्धुओंके साथ युद्ध न करूँगा, इसके उत्तरमें कहते हैं]—मेरी बातका अनादर करके केवल अहङ्कारपूर्वक "मैं युद्ध न करूँगा" ऐसा यदि समझते हो तो तुम्हारा यह अध्यवसाय

मिथ्या है, क्योंकि तुमको स्वतन्त्रता नहीं है। तुम्हारा क्षत्रियका स्वभाव है इसलिये तुम्हारी प्रकृति रजोगुणरूपमें परिणत होकर तुमको युद्धमें प्रवृत्त करेगी ही ॥५६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यदि कदाचित् यह घमण्ड करके क्रिया नहीं करते हो कि मैं बड़ा आदमी हूँ, मैं फिर क्रिया क्या करूँगा—परन्तु फलाकाङ्क्षाके साथ मैं स्वर्गमें जाऊँगा, मैं कैलाशमें जाऊँगा—मुझे यह हो, मुझे वह हो, वे सारी बातें मिथ्या हैं, परन्तु इस प्रकृतिके द्वारा मिथ्या व्यवसाय करने पर पुनर्वार जन्म ग्रहण करना पड़ेगा, और इस कारण पश्चात् यह क्रिया अपने आप करनी पड़ेगी, जब दुःखके सिवा स्थायी सुख कदापि देखनेको न मिलेगा।—"मैं युद्ध नहीं करूँगा" यह तुम्हारा निश्चय कदापि टिक नहीं सकता। जीवमात्र प्रकृतिके दास हैं। इच्छा न करने पर भी तुम्हारी क्षत्रिय-प्रकृति तुमको युद्धमें नियुक्त करेगी ही। 'मुझे आत्मदर्शनकी आवश्यकता नहीं है, मैं याग-यज्ञ-व्रत-नियमादिके द्वारा स्वर्गादि प्राप्त करूँगा, आत्मदर्शनमें जो झंझट उठानी पड़ती है उसको सहनेके लिए मैं तैयार नहीं हूँ' यह सब कहनेसे काम न चलेगा। वारम्वार जन्म-मृत्युका दुःख देखकर और त्रिविध क्लेश, ताप और विरहकी ज्वालामें दग्ध होकर आत्मानुसन्धानके लिए हम एक न एक दिन बाध्य हो ही जायँगे। जिन्होंने जन्मजन्मान्तरके संस्कार-वश रजः-सत्त्व-मिश्रित स्वभाव प्राप्त किया है, वे ऐकान्तिक रूपसे आसक्त-चित्त होकर संसार लेकर नहीं रह सकते। उनकी अपनी प्रकृति ही आत्मजिज्ञासाके लिए उनको व्याकुल कर डालेगी। इसलिए आत्मज्ञानकी प्राप्तिकी चेष्टा या युद्ध करना जो तुम्हारे लिए स्वाभाविक है, उसको न करनेकी बात क्यों कहते हो? तुम क्रिया करो, परन्तु इतना विचार रखो कि क्रियामें तुम्हारी फलाकाङ्क्षा न रहे, तभी तुम कुशलतापूर्वक प्रकृतिको वशमें कर सकोगे। इस समय जिसे असाध्य समझते हो, क्रियाके अभ्यासमें सतत सचेष्ट रहने पर (जो तुम्हारे लिए स्वाभाविक है) तुम एकदिन ऐसी अवस्था प्राप्त करोगे जब तुमको इसके लिए विशेष उद्योग नहीं करना पड़ेगा। तुम्हारा स्वभाव अपने आप परिवर्तित हो जायगा। क्षत्रिय-स्वभाव होनेके कारण तुमको सदा क्रिया ही करनी पड़ेगी और तुम कभी स्थिर और निश्चल न हो सकोगे ऐसी बात नहीं है। परन्तु इस समय अकर्मण्य होकर बैठ जाने और क्रियाकी चेष्टा छोड़ देनेसे काम न चलेगा। तुम्हारा स्वभाव ही तुमको क्रिया कराकर छोड़ेगा। तुम्हारा क्षत्रिय-स्वभाव है, तुम ब्राह्मणके समान शान्त भावमें ध्यान-मग्न होकर नहीं रह सकोगे। इस समय यदि क्रियारूपी युद्धको छोड़कर चुप होकर बैठ जाओ तो भी तुम चुप रह नहीं सकते। यदि तुम शूद्र होते तो ऊँघते रहते, वैश्य होते तो नाना प्रकारकी लाभ-हानिका हिसाब-किताब करते, परन्तु तुम क्षत्रिय हो, तुम यदि चुप होकर बैठ भी जाओ तो तुम्हारा मन क्रिया करनेके लिए व्यग्र हो उठेगा। इसलिए अपनी प्रकृतिके अनुसार काम करो। क्षत्रिय-स्वभावमें बीच बीचमें शान्त, शुद्ध और स्थिर भाव आता है, इसी कारण उस अवस्थाके प्रति तुम्हें लोभ है, परन्तु अभी तो तुम अधिक देर तक परावस्थामें रह नहीं सकते। इसके लिए तुम्हारे मनमें क्लेश होना भी स्वाभाविक है, परन्तु क्रिया (युद्ध)के बिना जब इस क्लेशके उपशमकी और कोई औषध नहीं है, तब क्रियाके अतिरिक्त दूसरा उपाय ही

क्या है। यदि हठ करके क्रिया नहीं करते हो तो जन्म-मरणके हाथसे कैसे बचोगे। जन्म-मरणके अशेष क्लेशको भोगकर एकदिन अपने आप ही क्रिया करनेके लिए श्रीगुरुके समीप जाकर खड़े हो जाओगे। गुरु ही लक्ष्यभेदका साधन बताकर शिष्यको कृतार्थ करते हैं, परन्तु प्रकृत शिष्य होना चाहिए ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) मोहात् (मोहवश होकर) यत् कर्त्तुं न इच्छसि (जो करना नहीं चाहते हो) स्वभावजेन (स्वभावजात) स्वेन कर्मणा (अपने कर्मद्वारा) निबद्धः (तुम आबद्ध हो) [अतएव] अवशः अपि (अवश होकर भी) तत् करिष्यसि (वह करोगे) ॥६०॥

श्रीधर—किञ्च—स्वभावजेनेति। स्वभावः क्षत्रियत्वे हेतुः पूर्वकर्मसंस्कारः तस्मात् जातेन स्वीयेन कर्मणा—शौर्यादिना पूर्वोक्तेन निबद्धः—यन्त्रितः, त्वं मोहात् यत् कर्म—युद्ध-लक्षणं, कर्त्तुं न इच्छसि, अवशः सन् तत् कर्म करिष्यसि एव ॥६०॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—स्वभाव अर्थात् क्षत्रियत्वके हेतु पूर्व कर्मोंके संस्कारसे उत्पन्न शौर्यादिके द्वारा तुम नियन्त्रित हो। इस समय मोहवश जिस युद्धरूप कर्मको करनेकी इच्छा नहीं करते हो, पश्चात् अवश होकर उस कर्मको तुम्हें करना ही पड़ेगा ॥६०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अपना अपना आत्मा अपने अपने कर्ममें ही निःशेष रूपसे बद्ध है, जैसे तुम ब्रह्ममें रहते हो तो ब्रह्ममें जाओगे, अन्य दिशामें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करते हो तो वहीं जाओगे— तुम भलीप्रकार क्रिया करो, भला फल पाओगे, यदि कदाचित् मोहसे करते हो अन्य वस्तुमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करके रहते हो आत्ममें नहीं रहते हो—पश्चात् जन्म-मृत्युका दुःखभोग कर शास्तियुक्त होकर यह क्रिया करनेके लिए बाधित होगे—क्योंकि इसके सिवा अन्य गति नहीं है।—जीव पूर्वजन्मके संस्कारोंसे उत्पन्न स्वभावके द्वारा पूर्णरूपसे आबद्ध है। प्रकृतिके इस वेष्टनको उल्लङ्घन करनेकी क्षमता किसीमें नहीं है। जीवत्व जहाँ है वहाँ वह स्वाधीन नहीं है, प्रकृतिके अधीन है। अपने निज स्वरूपमें वह सदा मुक्त होता है, वहाँ प्रकृति नहीं होती। आत्माके स्वरूपमें कभी दाग नहीं लगता, वह सदा ही स्वतन्त्र है, प्रकृति-परतन्त्र नहीं है। परन्तु लाल रङ्गके काँचके पात्रमें जैसे जल लाल दीखता है, उसी प्रकार प्रकृतिके भीतरसे आत्माको देखने पर अर्थात् जीवभावमें प्रकृतिके गुणसे आत्मा लिप्त जान पड़ता है। उसको अन्यथा करनेका कोई उपाय नहीं है। जब साधक क्रिया करके क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त होता है अर्थात् मन जब शरीर, प्राण, बुद्धि और इन्द्रियोंके अतीत होकर आत्मस्वरूपमें अवस्थित होता है, तब वहाँ ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ अनुभव नहीं होता, प्रकृति भी नहीं रहती और प्रकृतिका अनुभव भी नहीं रहता। उस समय प्रकृतिके रहने पर भी आत्माके साथ उसका योग न रहनेके कारण प्रकृतिका

कार्य आत्मामें अध्यासित नहीं होता। प्रकृतिमुक्त आत्माके ऊपर प्रकृतिका कोई कर्त्तृत्व नहीं रह जाता। मैं मुक्ति प्राप्त करूँगा, यह कहने-मात्रसे मुक्ति न होगी। मैं बद्ध रहूँगा, यह कहने-मात्रसे मैं बद्ध नहीं रह सकता। पूर्व पूर्व कर्म-संस्कारोंके वश जिसको जैसा ज्ञान होता है, उसकी निष्ठा या कर्म-चेष्टा भी तद्रूप ही होती है। जिसको ज्ञान-वैराग्यके संस्कार हैं, वह साधनाकी ओर मुक्तिके मार्गमें चलेगा ही। उसकी सामयिक इच्छा-अनिच्छाके ऊपर यह निर्भर नहीं करता। सबका स्वभाव अपने अपने कर्मके अनुसार गठित होता है। स्वभावको कोई अतिक्रम नहीं कर सकता। यदि कहो कि जीवकी स्वाधीनता तब कहाँ रही, तो इसका उत्तर यह है कि जीवभावमें जीवकी स्वाधीनता नहीं होती। सारे जीव अपने अपने कर्मसे उत्पन्न प्रकृतिके द्वारा आबद्ध हैं, अतएव जीवभाव रहते जीवको स्वाधीनता नहीं है। परन्तु जीवके जीवत्वको छुड़ानेका उपाय है। जीव स्व-स्वरूपमें शुद्ध चैतन्य, निष्क्रिय और निरुपाधिक है। वह प्रकृतिके कर्मको अङ्गीकार करके आबद्ध होता है। प्रकृति अपना कर्म करेगी, परन्तु उस अवस्थामें भी आत्मा उसमें लिप्त नहीं होता—यह समझ लेने पर ही जीवका स्वरूपमें अवस्थान होता है।

मुखाभासको दर्पणे दृश्यमानो, मुखत्वात्पृथक्त्वेन नैवास्ति वस्तु।
चिदाभासको धीषु जीवोऽपि तद्वत्, स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥
यथा दर्पणाभाव आभासहानौ, मुखं विद्यते कल्पनाहीनमेकम्।
तथा धीवियोगे निराभासको यः, स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥—शंकर।

दर्पणमें दृश्यमान मुखप्रतिबिम्ब जैसे प्रकृत मुखसे पृथक् वस्तु नहीं है, उसी प्रकार बुद्धि-दर्पणमें आत्मप्रतिबिम्ब-स्वरूप आभास जिसे जीव-नामसे पुकारते हैं, वह भी परमात्मासे पृथक् नहीं है। वह नित्य बोध-स्वरूप आत्मा ही मैं हूँ।

जैसे दर्पणका अभाव होने पर प्रतिबिम्बका अभाव होता है, तब एकमात्र कल्पनाहीन मुख विद्यमान रहता है, उसी प्रकार बुद्धिरूप दर्पणके अभावमें जो प्रतिबिम्ब-शून्य या आभासहीन होकर विद्यमान रहता है, वह नित्य बोध-स्वरूप आत्मा ही मैं हूँ।

ऐसा नहीं हो सकता कि प्रकृतिके गुण तथा उसके कर्म-समूहको आत्मा सदा शासन करता रहे। प्रकृतिके गुणोंके अनुसार कर्म होंगे ही परन्तु आत्मा उससे कभी लिप्त नहीं होता—यह जान लेने पर ही आत्मा प्रकृतिके बन्धनसे मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

जब पूर्वाभ्यासके वश जीव विषयोंमें आसक्त दृष्टि रखता है, तब उसको कष्टभोग करना भी अनिवार्य हो जाता है। कष्टभोग करके जीव जब कष्टभोगसे परित्राण चाहता है, तब उसका लक्ष्य साधनाकी ओर होता है। जन्म-जरा-मृत्युका कष्ट देखकर जीवकी अपनी प्रकृति ही मुक्ति प्राप्त करनेका मार्ग खोजनेमें तत्पर होती है। इसीसे सद्‌गुरु कहते हैं कि यदि अभीसे अच्छी तरह क्रियाके अभ्यासमें मन लगाओ तो तुम्हारी मुक्तिका मार्ग परिष्कृत हो उठेगा। यदि आलस्य या प्रमादवश क्रिया करना कष्टकर समझते हो तो इसका अर्थ यह है कि तुमको अब भी बहुत कष्टभोग करना पड़ेगा। परन्तु उन सब दुःखों और कष्टोंको भोगनेके बाद तुम्हारा

चित्त उससे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए स्वतः उद्योगी होगा। जो पश्चात् करना ही पड़ेगा उसका अभीसे अनुष्ठान करो, इससे ही कल्याणकी प्राप्ति होगी ॥६०॥*

(जीव ईश्वराधीन है, अन्तर्यामी परमेश्वर ही परिचालक हैं)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन !) ईश्वरः (परमेश्वर) मायया (मायाशक्तिके द्वारा) यन्त्रारूढानि [इव] (यन्त्रारूढ़ पुत्तलिकाके समान) सर्वभूतानि (सब भूतोंको) भ्रामयन् (भ्रमण कराकर) सर्वभूतानां हृद्देशे (सब जीवोंके हृदय-देशमें) तिष्ठति (अधिष्ठित रहते हैं) ॥६१॥

श्रीधर—तदेवं श्लोकद्वयेन सांख्यादिमतेन प्रकृतिपारतन्त्र्यं स्वभावपारतन्त्र्यं कर्म-पारतन्त्र्यं चोक्तम् । इदानीं स्वमतमाह—ईश्वर इति-द्वाभ्याम् । सर्वभूतानां हृदयमध्ये ईश्वरः—अन्तर्यामी तिष्ठति । किं कुर्वन् ? सर्वाणि भूतानि मायया—निजशक्त्या भ्रामयन्—तत्तत् कर्मसु प्रवर्त्तयन् । यथा दारुयन्त्रम् आरूढानि कृत्रिमाणि भूतानि सूत्रधारो लोके भ्रामयति तद्वत् इत्यर्थः । यद्वा यन्त्राणि—शरीराणि आरूढानि भूतानि—देहाभिमानिनः जीवान्, भ्रामयन् इत्यर्थः । तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रः—

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इति ।

अन्तर्यामिब्राह्मणञ्च—"य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानम् अन्तरो यमयति, यम् आत्मा न वेद, यस्य आत्मा शरीरम्, एष ते अन्तर्याम्यमृतः" इत्यादि । (बृहदारण्यक) ॥६१॥

---

* आत्माके ऊपर प्रकृतिका कर्त्तृत्व किसी कालमें भी नहीं हो सकता। आत्मा प्रकृतिके कार्यमें कभी लिप्त नहीं होता। परन्तु जैसे कोई साधु पुरुष किसी उद्देश्यके वश नहीं, केवल खेलके बहाने चोरी करते हैं और उस समय यदि उनको शान्तिरक्षक पकड़ लेते हैं तो वह पकड़े जाते हैं परन्तु उस अवस्थामें भी वह कर्म उनको लिप्त नहीं कर सकता, क्योंकि उस कर्मके प्रति उनकी आसक्ति नहीं थी, चौर्यकर्म एक खेल-मात्र था। इसी कारण यह नहीं हो सकता कि वह प्रकृति-परतन्त्र हो जाय। शुद्ध आत्माके विषयमें बन्धन और मुक्ति कुछ भी चिन्तनीय नहीं है, क्योंकि प्रकृतिसे वह सदा मुक्त होता है। परन्तु जहाँ प्रकृतिकी वश्यता है वहाँ जीवको प्रकृतिके वशमें अवश होकर ही कर्म करना पड़ता है। सांख्यमतके अनुसार प्रकृति ही कर्म कराती है। वेदान्तके मतसे ईश्वर मायाके द्वारा सब कर्मोंको करनेकी प्रेरणा प्रदान करते हैं। अतएव अवश होकर जीवको स्वभावके वशीभूत रहना पड़ता है या ईश्वरेच्छाका अनुसरण करना पड़ता है। क्रियाकी परावस्थामें प्रकृति पृथक् हो जाती है अथवा ईश्वर अपनी मायाका संहरण कर लेते हैं। स्थूल रूपमें यह एक ही बात है। प्रकृतिके पृथक् हो जाने पर उसमें कर्म करनेका सामर्थ्य नहीं रहता, तब प्रकृतिका रहना या न रहना समान हो जाता है।

अनुवाद—[इस प्रकार दो श्लोकोंमें सांख्यादि मतसे जीवका प्रकृति-पारतन्त्र्य, स्वभाव-पारतन्त्र्य तथा कर्मपारतन्त्र्य कथित हुआ। अब दो श्लोकोंमें अपना मत कहते हैं]—सब भूतोंके हृदयमें अन्तर्यामी ईश्वर रहते हैं। वे सारे भूतोंको माया द्वारा अर्थात् स्वशक्तिके प्रभावसे उनके कर्मोंमें उसी प्रकार प्रवर्तित करते रहते हैं जैसे सूत्रधार दारुयन्त्रमें आरूढ़ कृत्रिम भूतोंको भ्रमण कराता है। इसके प्रमाणमें श्वेताश्वतर-उपनिषद्का मन्त्र है—परमात्मा सब भूतोंमें गूढ़भावसे स्थित हैं, वह सर्वव्यापी तथा सब भूतोंके अन्तरात्मा हैं। वह कर्माध्यक्ष या सब कर्मोंका नियन्ता तथा भूतोंका अधिवास अर्थात् अधिष्ठान-स्वरूप हैं। वह साक्षी अर्थात् द्रष्टा और चेतयिता हैं तथा केवल अर्थात् निरुपाधिक और निर्गुण अर्थात् गुणातीत हैं। अन्तर्यामि-ब्राह्मणमें लिखा है—जो बुद्धिमें अवस्थित होकर बुद्धिको परिचालित कर रहा है तथापि बुद्धि जिसको नहीं जान सकती, बुद्धि जिसका शरीर अर्थात् उपाधि है, वही तुम्हारा आत्मा, अन्तर्यामी और अमृत है ॥६१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ईश्वर क्रियाकी परावस्थामें हृदयमें सब भूतोंमें स्थित हैं, चर और अचरमें ब्रह्मस्वरूपमें, इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना-स्वरूप यन्त्रके द्वारा सब भूतोंको अर्थात् जो हो गये हैं और जो होंगे उनमें आवृत होकर—आरूढ़ अर्थात् अन्य जो वस्तुतः मिथ्या है उसको सत्यज्ञान करके—भ्रमण—माया अर्थात् आसक्ति पूर्वक दृष्टि करता है।—प्रकृतिकी प्रेरणासे जीवको नित्यप्रति कर्मचक्रमें घूमना पड़ता है तथा उसके फलस्वरूप नाना योनियोंमें जन्म-ग्रहण करना पड़ता है। इच्छा न रहते हुए भी जीवको प्रकृतिके वशमें पड़कर जन्म-मृत्युके चक्रमें बारम्बार घूमना पड़ता है। बद्ध जीवको आत्म-स्वातन्त्र्य नहीं हो सकता। तब फिर उपाय क्या है? क्या जीवकी मुक्ति नहीं हो सकती?—नहीं, ऐसी बात नहीं है। जीव मुक्ति प्राप्त करता है तथा मुक्ति प्राप्त करने पर जीवका प्रकृति-पारतन्त्र्य छूट जाता है। अनादिकर्मके वश या जिस कारणसे हो जीवने प्रकृतिकी अधीनता स्वीकार की है। वेद और अध्यात्म शास्त्र कहते हैं कि जीव यदि सचेष्ट हो तो इस अधीनताके जालसे मुक्ति प्राप्त कर सकता है। जीव बद्ध है, इसी कारण उसमें मुक्त होनेकी इच्छा भी स्वाभाविक है। भगवान् या परमात्मा सब अवस्थाओंमें प्रकृतिके अधीश्वर हैं, वह कभी प्रकृतिके अधीन नहीं हैं। जीव भी उसी परमात्माका अंश है। जबतक जीव परमात्मासे अपनेको स्वतन्त्ररूपमें देखता है तबतक वह बद्ध है, तबतक प्रकृतिकी वश्यता उसको स्वीकार करनी ही पड़ती है। जब वह ज्ञान प्राप्त करता है या अपने स्वरूपसे अवगत होता है तब उसकी प्रकृति-परतन्त्रताकी अवस्था समाप्त हो जाती है। चेतन जीव कैसे मायाके वश हो जाता है, यह अति रहस्यमय व्यापार है! अध्यात्म शास्त्रने चित्तको ही मायाका नाभिदेश कल्पित किया है। चित्त-चक्रके अवरुद्ध होने पर मायाका खेल भी बन्द हो जाता है। अनात्मविषयमें आत्मबुद्धि और आत्मविषयमें अनात्मबुद्धि उत्पन्न करना ही मायाका कार्य है। यह माया ही विष्णु-शक्ति या भगवान्‌की कार्य-उत्पादन-शक्ति है। उसी शक्तिकी शरण लेने पर जीव मृत्युरूप संसार-सिन्धुको पार कर सकता है। शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न हैं। विष्णुमाया और विष्णुशक्ति

एक ही बात है। विष्णु और माया अङ्गाङ्गीभावमें जड़ित हैं। मायामिश्रित चैतन्य ही नारायण या नारायणी हैं। तन्त्रने इसको ही महामाया कहा है, वेद इसीको मुख्य प्राण कहता है, योगीलोग इसीको स्थिर प्राण कहते हैं। मायाका कार्य यह देह है। इस देहका अवलम्बन करके ही जीवका आवागमन चलता है। यही मायाका खेल है। मनुष्य-देह (प्रकृति) जिस प्रकार निर्मित हुई है तथा जीव देहके भीतर प्रविष्ट होकर जिस प्रकार बद्ध हुआ है, उसको ठीक ठीक जान लेने पर ही जीव उससे मुक्ति प्राप्त कर सकता है, इस प्रकारकी व्यवस्था करके ही देहकी रचना हुई है। विविध नाड़ियोंके द्वारा प्राणकी गति होने पर मन उन्मत्तके समान संसार-चक्रमें परिभ्रमण करता है, उसको रोकनेका एकमात्र उपाय है प्राणको स्थिर करना। महाभारतके शान्तिपर्वमें लिखा है कि "मनुष्यकी देहमें वातादि-वाहिनी दस नाड़ियाँ हैं। वे पञ्च इन्द्रियोंके गुणद्वारा परिचालित होती हैं। अन्यान्य सहस्र सहस्र सूक्ष्म नाड़ियाँ इन दस नाड़ियोंको आश्रय करके शरीरमें फैली हुई हैं। सारी नदियाँ जैसे यथासमय समुद्रको परिवर्द्धित करती हैं, उसी प्रकार ये सारी शिराएँ देहकी वृद्धि करती हैं। मनुष्यके हृदयमें मनोवहा नामकी एक शिरा है, यह शिरा उसके सारे शरीरसे सङ्कल्पज शुक्रको ग्रहण करके उपस्थके सामने ला देती है। सर्वगात्रव्यापिनी अन्यान्य शिराएँ इस शिरासे बाहर निकलकर तैजस गुणको वहन करते हुए चक्षुकी दर्शन-क्रिया सम्पादन करती हैं। मन्थनदण्डके द्वारा जैसे दुग्धके भीतरसे घृत मथित होता है, उसी प्रकार सङ्कल्पज स्त्रीदर्शन आदिके द्वारा शुक्र उत्तेजित हो जाता है। स्वप्नावस्थामें स्त्रीसङ्गके न रहते हुए भी मन जैसे सङ्कल्पज अनुरागको प्राप्त होता है, उसी प्रकार इस अवस्थामें मनोवहा नाड़ी भी देहसे सङ्कल्पज शुक्रको निकाल देती है।" इससे देखा जाता है कि नाड़ी-मुखमें ही बाह्य प्रवृत्ति स्फुरित होकर इस गुणमयी संसार-लीलाको चलाती है। इसके निरोधका क्या उपाय है? यह भी शान्तिपर्वके उपर्युक्त स्थानमें इस प्रकार उल्लिखित है—"बाह्य-प्रवृत्ति-शून्य महात्मागण योगके बलसे क्रमशः गुणका साम्य प्राप्तकर अन्तकालमें सत्यलोक प्रदान करने वाले सुषुम्ना-मार्गके प्रति प्राणको प्रेरित करके मोक्ष प्राप्त किया करते हैं। मनके विश्वात्मक होने पर ही ज्ञानका उदय होता है। तब सारे विषय स्वप्नवत् प्रतिभात होते हैं तथा मन भी प्रकाशशाली, वासनाविहीन, मन्त्रसिद्ध और सर्वशक्ति-सम्पन्न हो जाता है।" योगक्रियाके अभ्यासके फलसे बाह्य सङ्कल्पादिके अवरुद्ध होने पर क्रियाकी परावस्थामें हृदयमें जो एक प्रकारकी स्थितिका बोध होता है, वही ईशनशील या ईश्वरभाव है। योगी इस अवस्थाको प्राप्तकर समझ सकते हैं कि जगत्का नियन्ता कौन है तथा किसकी शक्तिसे यह जगत् चल रहा है। तभी यह समझमें आता है कि—

जगत्त्वं जगदाधारस्त्वमेव परिपालकः।
त्वमेव सर्वभूतानां भोक्ता भोज्यं जगत्पते॥"—अध्यात्मरामायण।

देहके भीतर रहनेवाले उस ईश्वरको कैसे जानेंगे? जिसके कटाक्षपातसे जगत् चल रहा है, वह जगत्का शासक या ईश्वर सबके हृदयदेशमें सर्वदा विराज रहा है।

उसको जाननेका उपाय यह है कि मूलाधारादि पञ्च चक्र भेद करके मेरुदण्डके मध्यभागमें जो सुषुम्ना-नाड़ी प्रवाहित होती है उस सुषुम्ना-नाड़ीके भीतर एक ब्रह्म-नाड़ी वर्त्तमान है, उसके भीतर जो शक्ति या ब्रह्माकाश रहता है वही सर्वशक्ति-सम्पन्न ईश्वर है। उसीके शासनमें पञ्चतत्त्व-मन-इन्द्रियादि भूतसमूह स्व-स्वकर्ममें प्रवृत्त रहते हैं। उसके बिना पञ्चतत्त्व कर्ममें समर्थ नहीं हो सकते।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥कठ उप०।

प्राणशक्तिके रूपमें प्रकाशित जगत्कारण ब्रह्मके नियमसे बाध्य होकर अग्नि प्रज्वलित हो रही है, इसीके भयसे तपन उत्ताप दे रहा है और इसके ही भयसे इन्द्र, वायु और मृत्यु स्व-स्वकार्यमें दौड़ रहे हैं। आध्यात्मिक भावसे देखने पर ज्ञात होता है कि प्राणशक्तिके शासनसे क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम या मेरुदण्डके भीतर पञ्चचक्रस्थ शक्तियाँ स्व-स्वकार्यमें नियुक्त रहती हैं। महाप्राण या ब्रह्माकाश सर्वत्र अर्थात् मूलाधारादि पञ्चभूतमय स्थानोंमें लक्षित हो सकता है, परन्तु प्रधानतः आज्ञाचक्रमें ही वह प्रकाशित है। इन चक्रोंके हृद्देशमें अर्थात् मध्यस्थलमें कूटस्थ-ज्योति निर्वात स्थानमें प्रदीप-शिखाके समान प्रज्वलित रहती है। प्रत्येक चक्रका कूटस्थ आज्ञाचक्रस्थ कूटस्थके साथ समसूत्रभावमें मिलित है, मानो सब चक्रोंमें आज्ञाचक्रकी ज्योति ही दीप्यमान रहती है। इस कारण एक आज्ञाचक्रमें लक्ष्य रखने पर समस्त चक्रस्थ कूटस्थोंके प्रति लक्ष्य हो जाता है। इस आज्ञाचक्रस्थ कूटस्थमें लक्ष्य करने पर सर्व-भूतस्थित (सर्व-चक्रके अन्तर्गत) ब्रह्मनाड़ीके भीतरसे गमनागमन होता है। तभी सर्वतोभावेन उनके शरणापन्न हो सकते हैं। यही बात अगले श्लोकमें बतलावेंगे।

क्रियाकी परावस्थामें स्थिति ही विष्णुपद है। उसमें स्थित होने पर ध्रुव विश्वास होता है, सदा चन्द्रके समान ज्योत्स्ना देखी जाती है, सूक्ष्म वायु (अनिल) सदा सुषुम्नामें रहती है तथा प्रत्यूषके समान प्रकाश अनुभूत होता है। उस प्रकाशमें जो इच्छा की जाती है सब दीख पड़ता है—ज्योतिःस्वरूप अग्नि दीख पड़ती है, सूर्यस्वरूप कूटस्थ देखनेमें आता है और कूटस्थमें नक्षत्र, नक्षत्रमें गुहा तथा गुहामध्यस्थ आकाशमें स्थित त्रिभुवन दीख पड़ता है। प्रत्येक मनुष्यके शरीरके भीतर मूलाधारमें कुलकुण्डलिनी-शक्ति सुषुप्त रहती है। यही सुषुम्नामें रहनेवाली शक्ति है। क्रियाके द्वारा इस शक्तिके जाग्रत होने पर साधक मेरुदण्ड-स्थित अति सूक्ष्मरूप पञ्चतत्त्वमें प्रवेश करनेकी क्षमता प्राप्त करता है। इस स्थितिसे ही "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" जान पड़ता है। तब और कोई आवरण नहीं रहता, अतएव भीतर-बाहर सब एक हो जाता है। सुषुम्नामें रहते रहते क्रियाकी परावस्थामें मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त प्राण सर्वदा अवरुद्ध रहता है। तब प्राणका वाम, दक्षिण और मध्य स्रोत एक हो जानेके कारण कुलकुण्डलिनी आत्मस्वरूपमें सर्वव्यापक हो जाती है, तब एक ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं रहता, इसलिए वहाँ कर्त्तव्याकर्त्तव्य नहीं रहता। इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिए क्रिया करना उचित है।

क्रिया किये विना प्राणकी अचल या स्थिर अवस्था समझमें नहीं आती। पञ्च प्राणोंका प्राणरूप मुख्य प्राण ही कूटस्थ है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ मुण्डक०॥

इस मुख्य प्राणसे ही प्राण, अपान आदि पञ्च प्राणोंकी उत्पत्ति होती है। सङ्कल्प द्वारा चञ्चल होते ही मुख्य प्राण विभिन्न प्राणोंके रूपमें मन, इन्द्रिय और देहादिके भीतर शक्ति-विस्तार करता है। ये पञ्च प्राण स्थिर होने पर मुख्य प्राणके साथ एक हो जाते हैं, तब मन भी स्थिर होकर अमन बन जाता है, वही ब्रह्मपद है। हृदयस्थ वायु ही जीवका बल या जीवन है। वही स्थान-स्थानमें रहकर विभिन्न नाम धारण करती है। क्रिया द्वारा प्राणको स्थिर कर लेने पर प्राण और उसके साथ मन स्थिर हो जाता है तथा अनेक जन्मोंके संस्कारोंके वश जो वासना-बीज सङ्कल्परूपसे हृदयमें विद्यमान रहता है वह नष्ट हो जाता है। उससे जीव मुक्ति प्राप्त करता है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥—कठ० उप०

जो मन लगाकर क्रिया करते हैं और क्रिया द्वारा क्रियाकी परावस्थामें गमन करते हैं, उनको पहले तृतीय नेत्ररूप कूटस्थकी प्राप्ति होती है। उस तृतीय नेत्रको प्राप्तकर वे शिवरूप हो जाते हैं, पश्चात् कूटस्थमें स्थिर होकर रहते रहते वे विष्णुरूप हो जाते हैं और कुण्डलिनी मूलाधारमें जाग उठती है।

जो यत्नपूर्वक और कष्ट सहन करके क्रिया करते रहते हैं उनको यह अपूर्व अवस्था प्राप्त हो सकती है। पहले जो कामनाएँ अन्तःकरणको आश्रय किये रहती थीं, वे आप ही विनष्ट हो जाती हैं। तदनन्तर वे जलवत् घृत परन्तु दुग्धके समान सुस्वादु अमृतका क्रियाकी परावस्थामें पान करते हैं। अमृतरूप सुरापान करके वे अमर पदको प्राप्त होते हैं अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाते हैं। तब प्रकृति और पुरुष परम ब्रह्मपदमें लीन हो जाते हैं। इस स्थितिके द्वारा "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" हो जाता है। तब ब्रह्मरन्ध्र भेद करके प्राणकी गति होती है, उस समय प्राणमें चाञ्चल्य नहीं रहता, मनकी परिकल्पना नहीं रहती, अतएव जगद्दर्शन-भाव तिरोहित हो जाता है।

भगवान् जो अव्यक्तरूपसे चराचर सर्वभूतोंमें व्याप्त रहते हैं, उसका अनुभव क्रियाकी परावस्थामें होता है। यह स्थिति सर्वदा विद्यमान रहती है, परन्तु इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नारूप त्रिगुण-यन्त्रमें प्राणकी गति होने पर वह अव्यक्त स्थिर भाव अनुभवमें नहीं आता। त्रिगुणमें आरूढ़ होने पर लक्ष्य बहिर्मुख होनेके कारण वह स्थिर अव्यक्तावस्था जीवरूपमें परिणत हो जाती है। इस जीवभावके वश असत्य जगत्प्रपञ्च सत्यवत् जान पड़ता है। उसमें आसक्ति होनेसे वारंवार जन्म-मृत्युरूप भवभ्रमण निवृत्त नहीं होता। क्रियाकी परावस्थामें जब स्वरूपमें अवस्थान होता है, तब समस्त व्यक्त भाव अव्यक्त सत्तामें लीन हो जाता है।

जीवका शरीर ही यन्त्र है। जब जीव स्वस्थानसे च्युत होता है तभी माया उसको आक्रान्त करती है, तभी जीवको भ्रम पैदा होता है और देहमें अभिमान होता है। इस

शरीरको मैं या मेरा कहकर स्वीकार करना ही यन्त्रारूढ़ होना है। प्रकृतिको अतिक्रम करना जीवके लिए दुःसाध्य होने पर भी असाध्य नहीं है। भगवान् जैसे प्रकृतिके साक्षीमात्र हैं, उसी प्रकार साधकको भी प्रकृतिका द्रष्टामात्र होना पड़ेगा। द्रष्टारूपमें स्थित होने पर ही मायाका अतिक्रमण कर सकते हैं। क्रियाकी परावस्थाके समय सब बन्धन छिन्न हो जाते हैं, तब मायाका कार्य स्थिर रूपमें देखा जाता है और मायासे मोहित नहीं होना पड़ता। जिसके द्वारा जगत्के जीव अविरत संसार-चक्रमें घूमते हैं वही माया है। यह माया भगवान्के स्वरूपके नीचे है, माया स्वरूपको स्पर्श नहीं कर सकती। "सदा निरस्त-कुहकम्"—वहाँ केवल आत्मा है और कुछ नहीं। ब्रह्मका "एकोऽहं बहु स्याम्" यह सङ्कल्प ही माया या भगवदिच्छा है। दोनों ओर दर्पण रखकर अपनेको देखने पर जैसे एकके ही असंख्य प्रतिबिम्ब देखे जाते हैं वैसे ही ब्रह्मका सङ्कल्प ही वह माया-दर्पण है, वही उसकी अघटन-घटन-पटीयसी शक्ति है, उसीसे ब्रह्म अपनेको बहु रूपोंमें अवलोकन करता है। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"—यही मानो उसकी सृष्टि है तथा इन सृष्ट पदार्थोंमें उसका अनुप्रवेश है। जबतक मायादर्पण रहेगा तबतक एक आत्मा अनन्त दृश्य पदार्थरूपमें परिदृष्ट होगा। इस मायाको कोई जगत्-लीलाका कारण कहता है और कोई ईश्वरकी शक्ति बतलाता है। यह माया अचिन्त्य है, यह है या नहीं, इस विषयमें कुछ कहा भी नहीं जा सकता। मायाका स्वरूप यह है—

अनात्मनि शरीरादौ आत्मबुद्धिस्तु या भवेत्।
सैव माया तयैवासौ संसारः परिकल्प्यते॥

अनात्मा या शरीरादिमें आत्मबुद्धि ही माया है। उसीके द्वारा संसार परिकल्पित होता है। ज्ञानी कहते हैं कि समुद्रमें जैसे तरङ्गें उठती हैं उसी प्रकार परमात्मामें यह विश्व कल्पित होता है। इस परिकल्पनाको ही ज्ञानी लोग भ्रान्ति कहते हैं, क्योंकि परमार्थतः उसकी कोई सत्ता नहीं है। "रज्जौ भुजङ्गवत् भ्रान्त्या विचारे नास्ति किञ्चन"—भ्रान्तिवश रज्जुमें सर्पभ्रम होता है, परन्तु विचार करके देखने पर भ्रान्तिके दूर हो जाने पर रज्जु रज्जु ही रहती है, उसमें सर्पज्ञान मिथ्या जान पड़ता है। उसी प्रकार ब्रह्म-विचार करने पर ब्रह्मातिरिक्त संसार-सत्ताका कोई बोध नहीं रहता। हस्तामलकमें लिखा है—

य एको विभाति स्वतः शुद्धचेताः प्रकाश-स्वरूपोऽपि नानेव धीषु।
शरावोदकस्थ यथा भानुरेकः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥—शंकर।

नाना पात्रस्थित जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान जो प्रकाश-स्वरूप पदार्थ नाना बुद्धियोंमें नानारूपोंसे प्रतीयमान होने पर भी शुद्ध चित्तमें एक अद्वितीय भावमें ही प्रकाशित होता है, वह नित्य-बोध-स्वरूप आत्मा ही मैं हूँ।

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥—शंकर।

मेघके द्वारा आच्छन्नदृष्टि मूढ़ व्यक्ति सूर्यको ही मेघाच्छन्न और प्रभाहीन

समझता है, उसी प्रकार मूढ़दृष्टि अविवेकी पुरुषोंके सामने जो बद्धवत् प्रतीत होता है, वह नित्य-बोध-स्वरूप आत्मा ही मैं हूँ ॥६१॥

(शरणागत भाव ही मायासे परित्राण पानेका उपाय है)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

अन्वय—भारत (हे भारत !) सर्वभावेन (सर्वतोभावेन) तम् एव (उसकी ही) शरणं गच्छ (शरणमें जाओ) । तत्प्रसादात् (उसके प्रसादसे) परां शान्तिं (परम शान्ति) शाश्वतं स्थानं (और नित्य धामको) प्राप्स्यसि (प्राप्त करोगे) ॥६२॥

श्रीधर—तमिति । यस्मादेवं सर्वे जीवाः परमेश्वरपरतन्त्राः तस्मात् अहङ्कारं परित्यज्य सर्वभावेन—सर्वात्मना, तम् ईश्वरमेव शरणं गच्छ । ततः तस्यैव प्रसादात् पराम्—उत्कृष्टां, शान्तिं स्थानञ्च—पारमेश्वरं, शाश्वतं—नित्यं, प्राप्स्यसि ॥६२॥

अनुवाद—[क्योंकि सर्वजीव परमेश्वरके परतन्त्र हैं] अतएव अहङ्कार परित्याग करके सर्वान्तःकरणसे उस ईश्वरकी ही शरणमें जाओ । पश्चात् उसके ही प्रसादसे परा शान्ति और शाश्वत नित्य स्थानको प्राप्त करोगे ॥६२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वह जो त्रिगुणान्वित होकर रहता है, वही आत्मा है उसको ही स्मरण करो गुरुवाक्यके द्वारा क्रियाको प्राप्तकर सब वस्तुमें क्रियाकी परावस्था ब्रह्मको देखकर, इस प्रकार क्रिया करते करते क्रियाकी परावस्थामें रहकर आनन्द प्राप्त करते हुए जिसके परे और कुछ नहीं है इस प्रकारके शान्तिपदको शीघ्र ही प्राप्त करोगे तथा बुद्धिके द्वारा स्थिर कर सकोगे कि इसके सिवा अन्य कोई पथ शान्तिका नहीं है—नित्य यह बोध रहेगा ।—जो सब भूतोंके हृदयदेशमें अवस्थान करते हैं, संसारके चपल सुख-दुःखसे परित्राण पानेके लिए देह, मन, प्राण, वाक्य और बुद्धि द्वारा सर्वतोभावेन उन्हींके शरणापन्न होना पड़ेगा । तभी अनुग्रहरूप परमा शान्ति प्राप्त होगी । प्राणी शुभ या अशुभ जिस कार्यमें प्रवृत्त होता है उसके मूलमें ईश्वरकी शक्ति विद्यमान रहती है । अतएव प्रवृत्ति-निवृत्तिकी ओर न देखकर जो इन सबका कारण है उस भगवान्का आश्रय ग्रहण करो । उनकी कृपासे ही अविद्या या संसारके परपार अनायास ही उत्तीर्ण हो सकोगे । भगवान् तुम्हारे अति सन्निकट हैं, क्योंकि वह तुम्हारे आत्मा हैं, उनके न रहने पर तुम नहीं रह सकते । भगवान् परमात्मा निज स्वभावमें नित्य ज्ञान-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप हैं । यदि उनके शरणापन्न हो जाओ तो तुम ज्ञानानन्द-सिन्धुमें निमज्जित हो जाओगे । यह नामरूपमय जगत् भी उनसे भिन्न नहीं है । अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके निर्गुण पुरुष जब त्रिगुणान्वित होता है तभी अव्यक्त चित्-रूपसे जगत्-प्रपञ्च व्यक्त हो उठता है, चिरस्थिर आनन्द-सिन्धुमें एक हिल्लोल या स्पन्दन आरम्भ होता है । यह स्पन्दनात्मकभाव ही प्राणशक्ति है । यही मायाका रूप है । प्राण-शक्तिके प्रथम विकासके समय स्पन्दन रहने पर भी वह उतना वेगयुक्त नहीं होता, इसी कारण उस समय आत्मामें स्वतः-सिद्ध ज्ञान पूर्णतः आवरणयुक्त नहीं होता । उस समय माया शुद्ध शक्तिरूपमें, विद्यारूपमें

प्रकाशित होती है, इसीसे उसमें अज्ञानान्धकारका कुहरा घनीभूत होकर ज्ञानदृष्टिको अवरुद्ध नहीं कर सकता। सुषुम्नाके भीतर प्राणका सञ्चरण होता रहता है। पश्चात् जब मायाका स्पन्दन अतिमात्रामें वेगयुक्त होकर नीचे अवतरण करता है, जब प्राणशक्ति नृत्य करते करते सुषुम्ना छोड़कर इड़ा-पिङ्गलामें प्रविष्ट होती है, तब माया विद्यारूपको आच्छन्न करके अविद्यारूपमें अपनेको प्रकाशित करती है। तब प्राणमें अस्वाभाविक-रूपसे कम्पन बढ़ता है, सङ्कल्पमय मन जाग उठता है, देहात्मबुद्धि प्रबल हो उठती है तथा चञ्चल मन द्वारा बुद्धि-दर्पणमें नानात्वका प्रतिबिम्ब पड़ता है। देहके साथ आत्माका योग होने पर हृत्पिण्ड कम्पित होता है और प्राण अतिमात्रामें चञ्चल होकर श्वासरूपमें बाहर गमनागमन करने लगता है। यद्यपि सभी चिन्मय हैं तथापि वस्तुरूपमें वे जड़ जान पड़ते हैं। आत्मा बहिर्मुख होकर उन सब वस्तुओंको भोग करनेके लिए मनोवेगके रूपमें धावमान होता है। जीव मनके साथ सङ्कल्पयुक्त होकर नानाप्रकारकी भोगलालसाओंमें मग्न हो जाता है तथा अपने आपको भूल जाता है। इस अवस्थासे जीवका उद्धार कैसे हो, यही दयालु प्रभु गुरुरूपमें अर्जुनको बतलाते हैं—हे अर्जुन, जो ब्रह्माकाश या ईश्वर समस्त शक्तिपुञ्जका मध्यबिन्दु है, जो अमूर्त्त होकर भी "स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" समस्त वस्तुओंके बाहर और भीतर वर्त्तमान है अर्थात् ज्ञानरूपसे बुद्धिके अभ्यन्तर तथा नामरूपसे बहिर्देशमें विद्यमान है, वह पूर्ण ज्ञानस्वरूप और जन्म-मरणादि षड्विकारोंसे वर्जित है। उससे ही प्राणशक्ति, चिन्ताशक्ति, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और पञ्च महाभूत—आकाश (विशुद्धाख्य) वायु (अनाहत) तेजः (मणिपूर) जल (स्वाधिष्ठान) और सर्वभूतोंका आधार पृथिवी (मूलाधार) उत्पन्न होते हैं।

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥
तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् संप्रसूताः॥
तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च॥
अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा॥ मुण्डक।

उस पुरुषके मस्तकसे द्युलोक या आकाश, दोनों चक्षुओंसे चन्द्र-सूर्य, कर्णसे दिशाएँ, वागिन्द्रियसे ऋगादि वेद, प्राणसे वायु, हृदयसे यह विश्व और पदद्वयसे पृथिवी उत्पन्न हुई है। उस निर्विकार पुरुषसे आकाश उत्पन्न होता है। होमकाष्ठ-रूपी सूर्य इस आकाशरूप प्रथम अग्निसे उत्पन्न होता है। जलमय अमृतसे मेघरूप द्वितीय अग्नि तथा मेघके वृष्टिरूपमें परिणत होने पर पृथिवीसे तृतीय अग्निरूपमें शस्य आदि उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर अन्नादि आहार द्वारा पुष्ट होकर चतुर्थ अग्निरूप पुरुष पञ्चम अग्निरूप स्त्रीमें वीर्यरूप आहुति प्रदान करता है। इस प्रकार परमात्मासे मनुष्यादि नाना प्रजा उत्पन्न होती है। उस अक्षर पुरुषसे वसु

आदि देवगण, साध्य नामक देवगण, मनुष्य, ग्राम्य और आरण्य पशु तथा सारे पक्षी उत्पन्न होते हैं। जीवोंकी प्राण और अपानरूप प्राणन-क्रिया, धान्य-यव, व्रतादिरूप तपः, सत्कार्यसाधनमें प्रवृत्तिरूप श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और कर्मानुष्ठानकी सारी विधियाँ उसी सत्य पुरुषसे उद्भूत होती हैं। उस अक्षर पुरुषसे ही सब समुद्र, सारे पर्वत तथा नाना प्रकारकी नदियाँ उत्पन्न होती हैं और उस पुरुषसे ही सब प्रकारके धान्य-यवादि शस्य, मधुर अम्लादि रस सम्भूत होते हैं।

सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्यात्मविवृद्धजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते ॥
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥—श्वेताश्वतर उप० ।

पहले सङ्कल्प अर्थात् मन ही मन शुभाशुभ कर्मका चिन्तन होता है, उसके बाद स्पर्शन अर्थात् त्वग् इन्द्रियका व्यापार होता है, पश्चात् दृष्टिपात और उसके बाद मोह उत्पन्न होता है। उपर्युक्त सङ्कल्पन, स्पर्शन, दृष्टि और मोहके द्वारा शुभाशुभ सारे कर्म सम्पन्न होते हैं। उसके बाद देही कर्मानुसार—कर्मफलके परिपाकके अनुसार स्त्री-पुरुषादि-भावमें देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि नाना देहोंको प्राप्त होता है। अन्न-पानसे जैसे शरीरकी वृद्धि होती है, यह भी ठीक उसी प्रकार होता है।

स्वकृत पाप-पुण्यके फलस्वरूप देही स्थूल-सूक्ष्म नाना प्रकारके रूप ग्रहण करता है। स्वकृत कर्म-और-ज्ञान-जनित शुभाशुभ वासनाके वश भोगके लिए विभिन्न देहोंको प्राप्त होकर वह अपर जीवरूप प्रतीत होता है।

आत्मा यद्यपि सर्वोपाधिसे विनिर्मुक्त है तथापि अपनी अनादि अविद्या मायाशक्तिके वश अपनेको गुणमय और अपनी गुण-क्रियाके फलस्वरूप इस जगदादि कार्यको उत्पन्नवत् समझता है। स्वप्नजात पुत्रकी जैसे अन्तःकरणके अतिरिक्त कोई पृथक् सत्ता नहीं होती, उसी प्रकार अविद्यासृष्ट विषयादिकी भी पुरुषातिरिक्त कोई पृथक् सत्ता नहीं होती।

उस अविद्या-विरहित आत्मस्वरूपमें फिर लौटकर कैसे जाया जा सकता है? पुरुषकी उस निर्विकार सत्तामें लौटनेके लिए आवश्यक है कि जैसे जैसे कूटस्थ पुरुषसे ये बाह्य व्यापार सम्प्रसारित हुए हैं, ठीक उसके उल्टे क्रमसे जीव अपने स्थानमें लौट आवे। क्षिति तत्त्वको जलतत्त्वमें, जलतत्त्वको तेजस्तत्त्वमें, तेजःको वायुमें, वायुको आकाशमें, आकाशको स्थिर प्राणमें तथा स्थिर प्राणको अव्यक्तमें लय करनेकी जो प्रणाली है, उसी पथका अवलम्बन करना होगा। इन समस्त बाह्य वस्तुओंमें प्राणशक्तिकी ही क्रीड़ा देखी जाती है। प्राण चञ्चल होकर जगत्-रूपमें व्यक्त हुआ है। अव्यक्तमें फिर प्रवेश करना हो तो उसी स्थिर प्राणको पकड़ना पड़ेगा जो त्रिगुणान्वित होकर इस जीवभावको व्यक्त करता है। समस्त व्यक्त भावके भीतर वह अव्यक्त, क्रियाकी परावस्थारूप ब्रह्म विराज रहा है, अन्यथा कुछ भी नहीं हो सकता। उसको ढूँढ़ निकालना पड़ेगा, उसके बिना मायाके हाथसे परित्राण पानेका दूसरा उपाय नहीं है। सारे भाव उसमें अर्पण करके उसका ही हो जाना पड़ेगा। सारे भावमय सङ्कल्प

प्राणसे उठते हैं, उस प्राणको उसमें ढाल देना पड़ेगा। ऐसा करने पर इस व्यक्त जगत्का फिर कोई स्फुरण लक्षित न होगा। सब कुछ अव्यक्तके भीतर आत्मगोपन करके अव्यक्त हो जायगा। यह अव्यक्त ही परम पद है, इस अव्यक्तमें प्रवेश करना ही समस्त साधनाका उद्देश्य है। भगवान् भी वही उपदेश देते हैं—सर्वभावसे उसकी शरणमें जाओ, उसके सिवा कोई दूसरा चिन्तन न रहे, प्राणापानकी समताकी साधनाके द्वारा ही सुषुम्नास्थित ब्रह्माकाश प्रकाशित होगा। तब मन, बुद्धि, इन्द्रियादि अपने अपने धर्मका परित्याग कर उसमें विलीन हो जायँगे। तब अव्यक्त परम पद प्रकाशित होकर परा शान्तिरूप शाश्वत स्थानको, जिससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है, प्राप्त करनेमें समर्थ होओगे। उस मुख्य प्राणमें जानेके लिए इस व्यक्त प्राणका ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा। इस प्राणकी साधनासे ही बाह्य प्रकृति उपशमको प्राप्त होगी। इसीसे अपने भीतर आप अवस्थित होकर परमानन्द प्राप्त करोगे। यही परमात्माका प्रसाद है। जो क्रिया नहीं करेगा वह कभी अनुभव नहीं कर सकेगा कि उनका प्रसाद क्या वस्तु है ॥६२॥

(गीता-कथित ज्ञान ही गुह्यतर ज्ञान है)

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

अन्वय—इति (यह) गुह्यात् गुह्यतरं ज्ञानं (गुह्यसे भी गुह्यतर तत्त्वज्ञान) ते (तुमसे) मया आख्यातं (मेरे द्वारा कहा गया), एतत् (यह) अशेषेण विमृश्य (अशेष प्रकारसे आलोचना करके) यथा इच्छसि (जैसी इच्छा हो) तथा कुरु (वैसा करो) ॥६३॥

श्रीधर—सर्वगीतार्थमुपसंहरन् आह—इतीति। इति अनेन प्रकारेण ते—तुभ्यं, सर्वज्ञेन परमकारुणिकेन मया, ज्ञानं आख्यातं—उपदिष्टम्। कथम्भूतम्? गुह्यात्—गोप्यात् रहस्य-मन्त्रयोगादिज्ञानादपि गुह्यतरम्। एतत् मया उपदिष्टं गीताशास्त्रं अशेषतः विमृश्य—पर्यालोच्य, पश्चात् यथेच्छसि तथा कुरु। एतस्मिन् पर्यालोचिते सति तव मोहः निवर्त्तिष्यते इति भावः ॥६३॥

अनुवाद—[समस्त गीतार्थका उपसंहार करते हैं]—इस प्रकार तुमको मैंने ज्ञानोपदेश किया। वह ज्ञान गुह्य अर्थात् गोपनीय रहस्यमन्त्रयोगादिकी अपेक्षा भी गुह्यतर है। मेरे द्वारा उपदिष्ट गीताशास्त्रकी पर्यालोचना करके पश्चात् जो इच्छा हो करो। गीताशास्त्र पर्यालोचित होने पर तुम्हारी मोहनिवृत्ति हो जायगी ॥६३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यह तुमसे समुदय ज्ञान कह दिया—अब तुम्हारी जो इच्छा हो करो—जो गुह्यसे गुह्यतम अत्यन्त गुह्य है—जो मैंने कहा है वह अत्यन्त गुह्य है।—जिससे मोहान्धकार नष्ट होता है और ज्ञानदीप प्रज्वलित हो उठता है, उस गुह्यतम ज्ञान तथा उसकी साधनाकी बात मैंने तुमसे कह दिया। आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए जो समस्त क्रियायोग है तथा उसके फलस्वरूप जो ज्ञान और अनुभव-पद प्राप्त

होते हैं वह सब मैंने तुमको सुना दिया। अब तुम अपना कर्त्तव्य निश्चित करो। जीवके भीतर तीन भाव रहते हैं– (१) अज्ञता या देहात्मभाव जिसमें देह और देहका भोग ही सर्वापेक्षा बड़ा जान पड़ता है। (२) सुख-दुःखका घात-प्रतिघात, जन्म-मरणका दारुण क्लेश तथा उसके प्रतिकारका कोई उपाय न देखकर जीवको अपने कर्तृत्वके प्रति अनास्था उत्पन्न होती है। तब सर्वशक्तिमान् ईश्वरके सम्बन्धमें आलोचना करने पर उनकी एक प्रकारकी धारणा होती है और जीव उनमें आत्मसमर्पण करनेके लिए मोक्षानुकूल साधन और विचारका अवलम्बन करता है। इसके फलस्वरूप (३) वह ऐकान्तिक चेष्टा और तपस्याके द्वारा उनमें आत्मसमर्पण करता है और तब जान लेता है कि शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव आत्मासे वह स्वतन्त्र नहीं है। इसका क्रियाकी परावस्थामें अनुभव होता है। इस बोधमें प्रतिष्ठित हो जाने पर प्रकृतिकी अधीनता त्याग करनेका सामर्थ्य पैदा होता है। तब अपने 'मैं'को वह समझ सकता है। तब आत्माके प्रति ऐकान्तिक अनुराग होता है और आत्माके सिवा और किसी वस्तुके लिए प्राणमें आकाङ्क्षाका उदय नहीं होता। यही भक्तियोग है। पश्चात् निराकाङ्क्ष योगीके मनमें और कोई वृत्ति उदित नहीं होती। उस समय मन भी नहीं रहता। उस समय जीवात्मा और परमात्माके बीच जो एक सुदृढ़ और सुदीर्घ व्यवधान था वह विलीन हो जाता है। यही चरम ज्ञान है। इस अवस्थामें जो सुप्रतिष्ठित है, मुक्ति उसके अधीन हो जाती है ॥६३॥

(गुह्यतम रहस्यकी बात)

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

अन्वय—मे (मेरी) सर्वगुह्यतमं (सर्वापेक्षा गुह्यतम) परमं वचः (उत्कृष्ट वाक्य) भूयः शृणु (पुनः श्रवण करो) [त्वं = तुम] मे दृढम् इष्टः असि (मेरे अत्यन्त प्रिय हो) ततः इति (इसी कारण) ते (तुम्हारे लिए) हितं (यह हितकर बात) वक्ष्यामि (कहूँगा) ॥६४॥

श्रीधर—अतिगम्भीरं गीताशास्त्रम् अशेषतः पर्यालोचयितुम् अशक्नुवतः कृपया स्वयमेव तस्य सारं संगृह्य कथयति—सर्वगुह्यतममिति-त्रिभिः। सर्वेभ्योऽपि गुह्येभ्यो गुह्यतमं मे वचः तत्र तत्र उक्तमपि भूयः—पुनरपि, वक्ष्यमाणं शृणु। पुनः पुनः कथने हेतुमाह। त्वं दृढम्—अत्यन्तं इष्टः—प्रियोऽसीति मत्वा। तत एव हेतोः ते हितं वक्ष्यामि। यद्वा त्वं मम इष्टोऽसि। मया वक्ष्यमाणं च दृढं—सर्वप्रमाणोपेतमिति निश्चित्य ततः ते वक्ष्यामीत्यर्थः। दृढमतिरिति क्वचित् पाठः ॥६४॥

अनुवाद—[अति गम्भीर गीताशास्त्रकी अशेषरूपसे पर्यालोचना करनेमें असमर्थ अर्जुनके प्रति कृपाकरके स्वयं भगवान् उसका सार संग्रह करके तीन श्लोकोंमें कहते हैं]—सब प्रकारसे गोपनीयसे भी अति गोपनीय मेरी बात पहले कही गयी है तथापि फिर कह रहा हूँ, सुनो। वारम्वार कहनेका कारण बतलाते हैं। तुम मेरे अत्यन्त इष्ट अर्थात् प्रिय हो, यह समझ कर ही तुम्हारे हितकी बात कह रहा हूँ।

तुम मेरे नितान्त प्रिय हो, इसी कारण यह वक्ष्यमाण विषय निश्चय करके तुमसे मैं कह रहा हूँ ॥६४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—फिर जो अत्यन्त गुह्य है, वह कहता हूँ—क्योंकि तुम इष्ट सखा हो यह भलीभाँति जानता हूँ, तुम्हारे भलेके लिए कहता हूँ।—तुमसे यह रहस्यकी बात अनेक बार कह चुका हूँ तथा इस गोपनीय आत्मतत्त्वको जाननेकी जो रहस्यमय साधना है उसे भी बतला चुका हूँ। जिस तत्त्ववस्तुकी साधना गुह्यतम बात है तथा जिसे जाननेके लिए जो कुछ करना और जैसा होना आवश्यक है उसे अब कह रहा हूँ। अर्जुनसे वह इतना आग्रहपूर्वक कह रहे हैं, इसका कारण यह है कि वह भगवान्में दृढ़श्रद्ध हैं। श्रद्धालु हुए बिना शिष्यको रहस्यकी बात गुरु नहीं बता सकते, क्योंकि श्रद्धाहीनको उपदेश देना व्यर्थ होता है। इसी कारण भागवतमें ऋषियोंने सूतसे कहा है कि "ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत"—शास्त्रका गूढ़ रहस्य सर्वत्र प्रकट करना निषिद्ध है तथापि जो शिष्य स्निग्ध अर्थात् गुरुभक्तिपरायण हैं, उनको सारा गुह्य गम्भीर तत्त्व गुरु बतला देते हैं।

हे अर्जुन! तुम मेरे इष्ट सखा हो, तुममें-मुझमें कोई भेद नहीं है, तुम संसार-वृक्षका फल खाकर मुह्यमान होकर अपने स्वरूपको भूल गये हो, तुम्हारे बद्ध भावको देखकर मुझको कष्ट हो रहा है। इसी कारण मैं तुम्हारे कल्याणके लिए पुनः गुह्यतम बात कह रहा हूँ। जो इष्टसाधनामें दृढ़ है वही भगवान्की कृपा समझ सकता है। जो भजनशील है, उसीके सामने परम रहस्य प्रकाशित होता है। मैंने पहले परोक्ष ज्ञानकी बात कहकर गन्तव्य पथका निर्देश किया है, उस पथका अनुसरण करनेके लिए संवलरूप जो गोपनीय साधना है उसे भी तुम्हें बतला रहा हूँ। हम और तुम एक हैं, यह जिस प्रकार समझ सकते हो अर्थात् यह ज्ञान जिस प्रकार अपरोक्ष हो सकता है, उस परम ज्ञानकी प्राप्तिके उपायको तुमसे कह रहा हूँ। उसकी अपेक्षा कल्याणतम और कुछ नहीं है ॥६४॥

(सर्वसार उपदेश और भगवान्की प्रतिज्ञा)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

अन्वय—[त्वं—तुम] मन्मनाः (मद्गतचित्त), मद्भक्तः (मेरे भक्त) मद्याजी (मद्यजनशील या मेरे पुजारी) भव (बनो) मां नमस्कुरु (मुझको नमस्कार करो) [ततः—उससे] माम् एव एष्यसि (मुझको ही पाओगे) ते (तुमसे) सत्यं प्रतिजाने (सत्य प्रतिज्ञा करके करता हूँ)। [यतः त्वं = क्योंकि तुम] मे प्रियः असि (मेरे प्रिय हो) ॥६५॥

श्रीधर—तदेवाह—मन्मना इति। मन्मना भव—मच्चित्तो भव। मद्भक्तः मद्भजनशीलो भव। मद्याजी—मद्यजनशीलो भव। मामेव नमस्कुरु। एवं वर्त्तमानः त्वं मत्प्रसादात्

लब्धज्ञानेन मां एव एष्यसि—प्राप्स्यसि। अत्र च संशयं मा कार्षीः। त्वं हि मे प्रियोऽसि। अथ सत्यं यथा भवति एवं तुभ्यं अहं प्रतिज्ञां करोमि ॥६५॥

अनुवाद—[उसीके विषयमें कहते हैं]—तुम मच्चित्त बनो, मेरा भजन करो, मेरा पूजन करो, मुझको ही नमस्कार करो। ऐसा होने पर तुम मत्प्रसादलब्ध ज्ञानके द्वारा मुझको ही पाओगे। इस विषयमें और सन्देह न करना। तुम मेरे प्रिय हो, अतएव तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ ॥६५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मुझमें ही मन रखो अर्थात् क्रिया करो, मेरा ही यजन करो अर्थात् क्रिया करो, नमस्कुरु अर्थात् ॐकारकी क्रिया करो—जो गुरुवक्त्रगम्य है—सत्य ही मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम मेरे ही हो जाओगे—प्रतिज्ञा करके कहता हूँ—क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो।—गीतामें भगवान्ने कितनी ही साधनाओंका उपदेश दिया है, अब वह स्वयं उसका सार-सङ्कलन कर रहे हैं—(१) तुम मन्मना अर्थात् मच्चित्त बनो। (२) तुम मद्भक्त हो अर्थात् मुझमें आत्मसमर्पण करो। भक्तिके साथ मेरा भजन करो। (३) मद्याजी बनो अर्थात् मेरी पूजार्चनामें मन लगाओ। मुझको नमस्कार करो।

'मन्मना' होना ही ज्ञानप्राप्तिका उपाय है। ब्रह्ममें चित्त-विलय न होनेसे कोई 'मन्मना' नहीं हो सकता। भगवान्में मनको समर्पण करना होगा, तब मन तुम्हारा नहीं रहेगा, भगवान्का हो जायगा। चित्त सर्वदा स्पन्दित हो रहा है, इसी कारण हम इच्छा रहने पर भी उनको चित्त अर्पण नहीं कर सकते। अतएव पहले चित्तका जो निरन्तर स्पन्दन हो रहा है उसको रोकना पड़ेगा। मनका सङ्कल्प-विकल्प ही स्पन्दन है। यह मनका धर्म है, अतएव मनको सहज ही सङ्कल्प-विकल्पशून्य नहीं कर सकते। इसके लिए चित्तको एकमुखी करना पड़ेगा अर्थात् किसी ध्येय विषयमें मनको रखकर किसी अन्य वृत्तिका उदय नहीं होने देना होगा। इससे भी चित्तका बहिर्मुख भाव एकबारगी दूर नहीं होता। इसलिए मनको किसी आध्यात्मिक स्थानमें रखकर एकाग्रताका अभ्यास करना पड़ता है। मनुष्य-देहमें सर्वोच्च आध्यात्मिक स्थान है सहस्रार और आज्ञाचक्र। परन्तु प्रथम अभ्यासीको सहस्रारमें मन रखना उतना सहज नहीं होता, निरापद भी नहीं होता। इसलिए आज्ञाचक्रमें मन रखना ही सर्वोत्तम है। आध्यात्मिक स्थानों या षट्चक्रोंमें मनको निविष्ट करने पर भी पहले पहल मनमें स्पन्दन होगा ही, परन्तु आज्ञाचक्रमें या किसी एक स्थानमें चित्तको रखते रखते मनका वेग या स्पन्दन बिल्कुल घट जाता है। इस प्रकारके नियमित अभ्याससे चित्तकी स्थिरता बढ़ती है। तब किसी ध्येय विषयमें चित्तको स्थिर रखना सुकर हो जाता है। किसी एक बाह्य विषयमें भी चित्त स्थिर किया जा सकता है और साधक उस बाह्य विषयको अधिकृत भी कर सकता है, परन्तु उससे क्लेश क्षीण नहीं होता, अतः उससे पारमार्थिक लाभ नहीं होता। इसलिए शुद्ध और सदाचार-सम्पन्न होकर तथा विषयके हेयत्वकी आलोचना करके भगवद्भक्तिके साथ प्रत्यगात्माके ध्यानमें मनको निविष्ट करने पर मन सहज ही स्थिर हो जाता है। साधना या ध्यानादिके समय सावधान रहना आवश्यक है जिससे मन अन्य विषयका चिन्तन न कर सके। विषय-ध्यानमें चित्त गाढ़-निविष्ट

हो सकता है, परन्तु उससे आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त नहीं होती। आध्यात्मिक शक्तिका तभी विकास संभव है, जब चित्तमें स्पन्दन न रहे और वह किसी आध्यात्मिक चिन्तन या आध्यात्मिक स्थानमें स्थिर होकर रहे। मनका इस प्रकारका निरोध-भाव ही उसको कैवल्यकी ओर ले जाता है। तब मनका मनन न रहनेके कारण मन भी लय हो जाता है, मन लय होनेसे विषयका अभाव हो जाता है, विषयके अभावके कारण पुरुषका बुद्धि-बोधात्मक भाव भी नहीं रहता। मनकी इस प्रकारकी निरुद्धावस्था ही प्रकृत 'मन्मना' अर्थात् अपनेमें आप रहना है। जो 'मन्मना' नहीं हो सकते वे 'मद्भक्त' अर्थात् मेरे भजनशील हों। जिससे द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थान होता है उसके लिए दृढ़ अध्यवसायके साथ जो प्रयत्न करते हैं वे ही भक्त हैं। उस समय उनकी सारी चेष्टाएँ 'मन्मना' होनेके लिए होती हैं, जिससे मन अन्य किसी वस्तुमें बद्ध न हो। इसलिए मनको सर्वदा कूटस्थ-चिन्तनमें रखना आवश्यक है। यदि मन स्वभाववश अन्यत्र भागता है तो उसे धीरे धीरे लाकर कूटस्थ-चिन्तनमें नियुक्त करना होगा। इस प्रकार साधना चलाते रहने पर दिव्य ज्योति और नाद प्रकटित होगा, तब मनको शान्त करना उतना कठिन न होगा। यही नहीं, इस प्रकारकी ज्योति देखते देखते या दिव्य सुमधुर नाद सुनते सुनते मन बिल्कुल तन्मय हो जायगा। "सा परानुरक्तिरीश्वरे" यह भक्ति-लक्षण तब स्फुटित हो उठेगा। इसके लिए 'मद्‌याजी' अर्थात् क्रिया करनी होगी। इस 'मद्‌याजी' के साथ 'मां नमस्कुरु' अर्थात् ॐकारकी क्रिया करनी होगी जो साधनाका एक प्रकारका अङ्ग है। क्रियाके साथ जो लोग 'ॐकार-क्रिया' नियमित रूपसे करते हैं उनकी प्राणशक्ति (श्वास) सिरमें चढ़कर बैठती है। तब आत्मा क्या है और उसे कैसे प्राप्त कर सकते हैं, ये सारी बातें समझमें आ जाती हैं। देवता और ऋषिगण यही पूजा करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी आत्म-पूजा आप करते हैं। इस आत्मपूजाका अधिकार प्राप्त कर तुम कृताथ हो जाओगे। इस पूजाका अधिकार प्राप्त करनेके लिए अपने मनः-प्राणको क्रियामें नियुक्त करो। क्रिया द्वारा क्रियाकी परावस्था प्राप्त होने पर तुम अपने आपको भूल जाओगे, तब तुम नहीं रहोगे, तुम्हारा 'मैं' मुझमें मिलकर एक हो जायगा, तुम स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाओगे। यही क्रियाका फल है। यह बात श्रीगुरु प्रतिज्ञा करके कहते हैं, अतएव यह निश्चित और निस्सन्देह है।

सर्वात्मना सर्वधिया सर्वसंरम्भरंहसा।
स एव शरणं देवो गतिरस्तीह नान्यथा ॥—योगवासिष्ठ।

समस्त मन लगाकर, सारी बुद्धिसे, सारी कार्यचेष्टाओंके द्वारा उनकी शरण लेनी पड़ेगी। उस परम देवके सिवा जीवकी अन्य कोई गति नहीं है ॥६५॥

(परम गुह्य भगवद्वाणी)

"आत्मनिवेदन"

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

अन्वय—सर्वधर्मान् (सब प्रकारके अनुष्ठानमूलक धर्मोंको) परित्यज्य (परित्याग करके अर्थात् नियमके छानबीन पर विशेष लक्ष्य छोड़कर) एकं मां (एकमात्र मुझको अर्थात् सबके आत्मरूपमें जो मैं हूँ उस मुझको) शरणं व्रज (आश्रय करो) अहं (मैं) त्वां (तुमको) सर्वपापेभ्यः (सारे पापोंसे) मोक्षयिष्यामि (विमुक्त कर दूँगा) मा शुचः (शोक मत करो) ॥६६॥

श्रीधर—ततोऽपि गुह्यतममाह—सर्वेति। मद्भक्त्यैव सर्वं भविष्यति इति दृढ़-विश्वासेन विधिकैङ्कर्यं त्यक्त्वा मदेकशरणो भव। एवं वर्त्तमानः कर्मत्यागनिमित्तं पापं स्यात् इति मा शुचः—शोकं मा कार्षीः। यतस्त्वां मदेकशरणं सर्वपापेभ्यः अहं मोक्षयिष्यामि ॥६६॥

अनुवाद—[और भी गुह्यतम तत्त्व कहते हैं]—मेरी भक्ति करनेसे ही सब कुछ हो जाता है, इस प्रकारके दृढ़ विश्वासके द्वारा विधि-नियमके दासत्वका परित्याग करके एकमात्र मेरे शरणापन्न हो जाओ। ऐसा करनेसे कर्मत्यागनिमित्त पाप लगेगा यह सोचकर शोक मत करना, क्योंकि मेरे शरणापन्न होनेके कारण तुम्हें मैं सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा ॥६६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—किसी ओर देखना मत आसक्तिपूर्वक, केवल आत्मामें मन रखकर गुरुवाक्यके द्वारा प्राप्त क्रियाको करते चलो—स्मरण करते चलो—ॐ—यह क्रिया करते-करते अन्य दिशामें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करनेसे मैं मुक्त कर दूँगा अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें अन्य दिशामें दृष्टि ही नहीं जाती, इसके लिए तुम कोई चिन्ता न करना।—किसी दूसरी ओर देखनेसे काम नहीं चलेगा। यहाँ तक कि वेद या विधिशास्त्र भी योगाभ्यासके अनुकूल नहीं हैं। केवल गुरुवाक्यके ऊपर निर्भर करके उनके दिये हुए उपदेशके अनुसार क्रिया करते रहना चाहिए। क्यों करता हूँ, कितने दिन क्रिया करनी पड़ेगी, क्रिया करनेसे क्या होगा—ये प्रश्न मनमें नहीं आने चाहिए। गुरु जो कहते हैं वही करता हूँ, इससे क्या होगा यह वे ही जानें—इस प्रकार दृढ़चित्त होकर गुरुमें आत्मसमर्पण करके क्रिया करते रहना चाहिए।

"सर्व धर्म त्याग करके मेरी शरण लो" यही गीतार्थका सार है। भगवान् यही कहकर गीतोक्त उपदेशका उपसंहार कर रहे हैं। अतएव यह श्लोक कुछ विशेष रूपसे आलोचित होने योग्य है। धर्म-त्याग न करके धर्मके उपदेशोंका पालन करते हुए क्या उनकी शरणमें जाना सम्भव नहीं है? ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग प्रभृति अनेक बातें गीतामें कही गयी हैं। शरणागतिके साथ उपर्युक्त ज्ञान, भक्ति, कर्म आदिका कोई योग है या नहीं, यह देखना है। श्रुति, स्मृति आदि धर्मशास्त्र अनेक प्रकारके कर्म करनेको कहते हैं तथा अनेक कर्मोंको करनेका निषेध भी करते हैं। इतने दिनों तक क्या करना होगा और क्या न करना होगा, इसीकी खोजमें मैं अनेक पोथी-पत्रा उलटता रहा, शास्त्रारण्यमें घूमते-घूमते पथश्रम हो गया, अनेक लोगोंके पास जाकर अनेक बातें सुनीं, अनेक जिज्ञासाएँ कीं, उनके उपदेशके अनुसार कुछ कुछ कार्य भी किये, परन्तु मनकी शङ्का, मनके संदेहका निवारण न हुआ। इसीसे भगवान्ने पोथी-पत्रेका धर्म छोड़कर शरण ग्रहण करनेकी बात कही—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं

व्रज"। तुम धर्माधर्म सब छोड़कर एकबार मुझे कसकर पकड़ो। इसका यह उद्देश्य नहीं है कि धर्मका पालन नहीं करना पड़ेगा। भगवत्प्रेमके बिना धर्म-कर्म सब व्यर्थ हैं। कहीं हमारे अनुष्ठित कर्म व्यर्थ न हो जायँ, इसीके लिए भगवत्-शरणागतिकी बात कही गयी। भगवान्‌को बाद देकर जो कर्म किये जाते हैं उनसे आत्मविनाश होता है, संसारपाशका मोचन नहीं होता। कर्म किस प्रकार करना पड़ेगा, इस विषयमें नारदजी व्यासजीसे श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्॥

अर्थात् लोग यदि अनुभव करें कि उनके सारे कर्म ब्रह्मकी शक्तिके द्वारा ही होते हैं, उनकी चाही हुई भोग्य वस्तु भी ब्रह्ममय है और वही कर्मफलदाता हैं, तो कर्म-समर्पण करना सम्भव है, नहीं तो कर्म-समर्पण नहीं हो सकता। इस प्रकारकी अनुभूति उस ज्ञानका प्रकाशमात्र है जो क्रियाकी परावस्था में होता है। भगवत्साधनाके द्वारा यह ज्ञान अनुभूतिका विषय न होने पर केवल मौखिक ज्ञानमें पर्यवसित हो जाता है। धर्मकर्मका अनुष्ठान हमारे सुखादि-भोगके लिए नहीं है। जिस धर्म-कर्मके द्वारा भगवान प्रसन्न हों, वही असल शरणागति है। भगवानने सर्वधर्म त्याग करनेके लिए कहा है सही, परन्तु इस धर्म-त्यागको कोई कर्म-संन्यास न समझ बैठे। भगवान्‌का यदि यह उद्देश्य होता तो वह अपने शरण-ग्रहण रूप कर्मकी व्यवस्था क्यों करते? सब शास्त्रोंका, सब साधनाओंका मुख्य उद्देश्य है उनके चरणोंमें आत्मसमर्पण करना। यही सर्वश्रेष्ठ कर्म है। प्रत्येक धर्मके अनुष्ठानका एक विशेष फल होता है। यदि उन फलोंकी ओर चित्त आकृष्ट होता है तो ज्ञान या मोक्षकी प्राप्ति नहीं होगी, अतएव परम तत्त्व अविदित ही रह जायगा। इसीसे आचार्य शङ्करने कहा है—"धर्मशब्देनात्र अधर्मोऽपि गृह्यते, सर्वधर्मान् सर्वकर्माणि इत्येतत्"—अर्थात् जबतक धर्माधर्म हैं तबतक देह-सम्बन्ध नष्ट न होगा, पुनः पुनः आवागमन दूर न होगा। इसलिए साधकको धर्माधर्मकी अतीतावस्था प्राप्त करनी होगी। कठोपनिषद्‌में यमराज कहते हैं—

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥ २।६।४॥

इस देहसे यदि मनुष्य ब्रह्मको जाननेमें समर्थ होता है तो वह देहपातसे पूर्व ही संसार-बन्धनसे विमुक्त हो जाता है। यदि अवगत होनेमें समर्थ नहीं होता तो उसको फिर इस पृथिवी पर शरीर धारण करना पड़ता है।

'धर्म' कहनेसे गार्हस्थ्यधर्म, यतिधर्म, राजधर्म, देहधर्म, इन्द्रियधर्म इत्यादि अनेक प्रकारके धर्मोंको धर्मरूपमें मान सकते हैं। श्रुति भी कहती है—"धर्मञ्चर"—धर्माचरण करो। यहाँ धर्म कहनेसे किस धर्मको ग्रहण करना चाहिए, यह समझना कठिन है। मनुष्य-जीवनका सर्वप्रधान लक्ष्य है आत्मदर्शन। पर उपर्युक्त धर्मोंमें कोई भी आत्मदर्शनका उपाय नहीं है। इसलिए इनको यथासमय ग्रहण और यथाकाल त्याग करके आत्मान्वेषणमें सचेष्ट होना पड़ेगा। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि—इन सबके अपने अपने धर्म हैं, उनको बलपूर्वक छुड़ाना संभव

नहीं है। तथापि सर्वधर्मका परित्याग किये विना आत्मदर्शन होना दुष्कर है। इसीसे भगवान् कह रहे हैं कि तुम 'अमुक कर्मसे पाप होगा, अमुक कर्मसे पुण्य होगा' यह विचार करके नाना प्रकारके कर्मोंमें मत कूद पड़ो। सर्वधर्म परित्याग करना है तो तुम्हें कामसङ्कल्प-वर्जित होना पड़ेगा। देखनेमें आता है कि हम लोगोंमें जो अधिक अच्छे या धार्मिक लोग हैं, वे भी बहुधा धर्माधर्मकी नाना प्रकारकी शाखाओं तथा विभिन्न शास्त्रीय मतोंका विचार करते समय विभ्रान्त हो जाते हैं। तब जान पड़ता है कि मानो कुछ किया ही नहीं, सब कुछ अधकचरा रह गया। उस समय साधुजन उनको यही उपदेश देते हैं कि प्रारब्धवश चाहे जो भी कर्म किया जाय, उसके फलाफलके प्रति लक्ष्य न रखकर केवल प्रभुके स्मरणमें मन लगाये रखो। शुभाशुभ कर्मोंके सारे शुभाशुभ फल जगद्गुरु परमात्माके चरणोंमें अर्पित करके तुम निश्चिन्त होकर सर्वतोभावेन उनकी शरणमें चले जाओ अर्थात् फलाकाङ्क्षाका त्याग करके केवल क्रिया करते चलो। जो होना होगा वह होगा ही, उस ओर लक्ष्य करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि कहो कि क्रिया करनेके लिए बैठने पर भी मन वारम्वार विषयोंकी ओर दौड़ता है और इससे स्मरणमें विघ्न होता है, मन आसक्तिपूर्वक न जाने क्या क्या चिन्तन करता है, नहीं जानता इसमें कितना पाप लगता है, इस पापके बोझसे कैसे रक्षा होगी तो इसके लिए गुरु यह उपदेश देते हैं कि तुम तनिक मन लगाकर स्मरण करनेकी चेष्टा करो, इस स्मरण या क्रियाके फलस्वरूप तुम्हारा मन फिर दूसरी ओर न जायगा। क्रिया करने पर क्रियाकी परावस्था आयेगी ही। परावस्था भगवत्स्वरूप है, उसके स्वल्पमात्र प्रकाशसे भी तुम पापमुक्त हो जाओगे।

पाप-पुण्यका कर्त्ता कौन है? देहेन्द्रिय-मन-बुद्धि-समन्वित प्रकृति ही सारे कर्मोंको करती है, आत्मा तो धर्माधर्मके परे है। क्रियाके द्वारा धर्माधर्मकी ग्रन्थि खोल डालो, इसीसे प्रकृतिके अतीत होकर आत्मामें प्रतिष्ठित होगे। प्राणपणसे क्रिया करने पर ही उनकी शरणागति प्राप्त होती है। जो इस प्रकार शरणापन्न होता है वही उनका भक्त है। जब भक्त विपन्न होता है या साधक निराश होता है, तब भगवान् ही उसको अभयदान करते हैं। जो इतने दिनोंसे उनका भजन करता आ रहा है, जो उनके ऊपर निर्भर करता है उसको फिर चिन्ता ही क्या है? चाहे जो कुछ त्रुटि या पाप हो जाय, वह शरणागत साधकको मुक्ति प्रदान करते हैं। उन्होंने ही तो कहा है—

सकृदपि प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतत् व्रतं मम॥

'मैं तुम्हारा हूँ' यह एक बार भी कहकर जो मेरे शरणापन्न होकर मेरी कृपाके लिए प्रार्थी होता है, मैं उसको अभयदान करता हूँ—यह मेरा व्रत है।

इसी कारण भगवान् अपने भक्तसे कहते हैं कि तुम देह, इन्द्रिय, मन आदिके वशमें न चलकर मेरी शरण ग्रहण करो। आत्माके शरणापन्न होना ही सर्व कर्मोंमें श्रेष्ठ कर्म तथा सब धर्मोंका सार धर्म है। जो उसको चाहता है वह विषयको नहीं चाहता।

हृदयसे विषयकी चाह न हो तो मन विषयोंकी ओर नहीं दौड़ेगा। बहुत लोग सोचते हैं कि 'भगवान् ही जीवको यन्त्रारूढ़ पुत्तलिकाके समान मायाके द्वारा नचा रहे हैं, जीवको स्वतन्त्रता कहाँ है, जब भगवान्‌की कृपा होगी तभी मुक्ति होगी।' मुक्ति भगवत्कृपाके ऊपर निर्भर तो करती है, परन्तु इसके लिए जीवको भी प्रयत्न करना पड़ता है। बिना प्रयत्नके, बिना तपस्याके कोई उनको प्राप्त नहीं कर सकता। जो उनको प्राप्त करना चाहता है उसको कुछ मूल्य देना पड़ेगा। यद्यपि वह मूल्य भगवत्प्राप्तिकी तुलनामें कुछ भी नहीं है तथापि वह मूल्य देना ही पड़ता है। साधनाका क्लेश ही वह सामान्य मूल्य है। साधनपथकी दुर्गमता और क्लेश देखकर बहुतेरे लोग विचलित हो जाते हैं। इसीको लक्ष्य करके एक भक्त कविने कहा है—

क्षण-आध दुःख जनम भरि सुख
काहे तू विनोदिनी मोड़यसि मुख।

तपस्याके भयसे साधनसे क्यों विमुख हो रहे हो? वह निश्चय ही मिलेंगे। उनकी प्राप्तिकी तुलनामें साधनाका क्लेश बहुत ही सामान्य है, अतएव विमूढ़के समान मुँह फिरा कर आलस्यमें कालक्षेप न करो। एक बार कमर कसकर लग जाओ। आगे होगा अनन्त सुख, आत्म-समुद्रमें निरन्तर सन्तरण। अतएव "नात्मानं अवसादयेत्"—मनको अवसन्न मत होने दो, वेगसे साधन करते चलो। साधनके वेगमें जितनी वृद्धि होगी, जितना ही अधिक वैराग्यसे प्राण भरपूर होगा, उतना ही आत्मसाक्षात्कार समीप होगा। परन्तु श्रमको बिना देखे आत्मदेव सन्तुष्ट न होंगे। आत्मदेवके सन्तोषके लिए ही गुरुप्रदत्त साधनाको प्रचण्ड वेगसे करते चलो, कदापि अवहेलना न करो। अवहेलना करने पर प्रवञ्चित हो जाओगे। वेदमें एक मन्त्र है—"न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः"—साधनाके परिश्रमसे जबतक अपनेको परिश्रान्त नहीं करते, तबतक देवता लोग अनुकूल नहीं होंगे। हे साधक! परिश्रममें क्लेश मत मानना। तुम्हारे परिश्रमको देखकर आत्मदेव अनुकूल होंगे और तुमको सर्वपापोंसे मुक्त कर देंगे।

जगदादि वस्तुओंके आश्रित जो धर्म हैं, वे ही 'सर्वधर्म' या पञ्चभूतात्मक प्रकृतिके धर्म हैं। इस प्राकृत धर्मका अनुसरण करने पर सुख-दुःख, जन्म-जरा-मृत्यु आदि विविध तापोंसे जीवको सन्तप्त होना पड़ता है। इसलिए प्रकृति तथा प्रकृतिधर्मके ऊपर उठना पड़ेगा। पञ्चभूतात्मक प्रकृति—क्षिति, अप्, तेजः, मरुत्, व्योम या मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य इन पञ्चचक्रोंमें स्थित पञ्चभूतमय भावोंका परित्याग करके आज्ञाचक्रमें प्रवेश करना होगा। इनमें किसी एक स्थानमें बँधे रहने पर साधकको विभूति या ऐश्वर्यकी प्राप्ति तो होगी, परन्तु बन्धनमुक्ति न होगी। इसलिए साधकको आज्ञाचक्रमें तथा उसके ऊपर उठना होगा। यही है सब त्याग करके उनमें आत्मसमर्पण करना, यही है "मामेकं शरणं व्रज"। अर्थात् एक अद्वितीय शक्ति जो सहस्रारमें अवस्थित है, उसका आश्रय लेना होगा। यही उसका परम धाम या परम पद है। उस स्थानमें जो साधक पहुँच

सकता है, उसको फिर संसारमें प्रतिनिवृत्त नहीं होना पड़ता। इसी कारण श्रीशुकदेव जी भागवतमें कहते हैं—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं, महत्पदं पुण्ययशोः मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं, पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्॥

पुण्ययशः मुरारिके पद-पल्लवरूपी नौकाका जिन्होंने आश्रय लिया है, भवसिन्धु उनके सामने गोष्पदके समान जान पड़ता है। उस परमपदमें जिसने स्थान प्राप्त किया है उसका फिर पदस्खलन नहीं होता अर्थात् उसको फिर संसारमें नहीं आना पड़ता।

मुर शब्दका अर्थ है वेष्टन। संसार या जन्म-जरा-मृत्यु आदिने जीवको सतत वेष्टन कर रखा है, उनका जो नाश करते हैं वही मुरारी हैं—

मुरः क्लेशे च सन्तापे कर्मभोगे च कर्मिणाम्।
दैत्यभेदेऽप्यरिस्तेषां मुरारिस्तेन कीर्तितः॥

जिस पदको प्राप्त होने पर संसारमें आवागमन-रूप क्लेश-सन्ताप सहन करना नहीं पड़ता, वही पद जीवदेहमें ब्रह्मरन्ध्रस्थित सहस्रदलकमल है। इस स्थानमें स्थित साधकको ही परम गति प्राप्त होती है—

ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्त्वा क्षणार्द्धं यदि तिष्ठति।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम्॥

ब्रह्मरन्ध्रमें मन स्थापित करके यदि कोई अर्द्ध पल भी अवस्थित हो सके तो वह सब पापोंसे मुक्त होकर परम गतिको प्राप्त करता है।

अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः॥

जिसका चित्त ब्रह्मरन्ध्रमें लीन होता है, वही पुरुषोत्तम है। वह स्वेच्छानुसार सारे अणिमादि ऐश्वर्योंका भोगकर अन्तमें मुझमें विलीन हो जाता है। अतएव जो आत्मचिन्तनमें रत होकर सब प्रकारसे मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं, वे जीवन्मुक्त हैं। उनकी अन्य दिशामें दृष्टि नहीं जाती, अतएव उनके लिए शोक करनेका कोई कारण नहीं रह जाता॥६६॥

(गीताशास्त्र सुननेके योग्य कौन नहीं हैं ?)

इदन्ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥६७॥

अन्वय—इदं (यह) ते (तुम्हारे द्वारा) अतपस्काय (तपस्याहीन पुरुषके सामने) न वाच्यं (कहना ठीक नहीं), न अभक्ताय (भक्तिहीन पुरुषके सामने नहीं) न च अशुश्रूषवे (श्रवणमें अनिच्छुक पुरुष या गुरुविद्वेषी पुरुषके सामने भी नहीं), न च मां यः अभ्यसूयति (और जो मुझसे असूया करता है उसके सामने भी कहना ठीक नहीं)॥६७॥

श्रीधर—एवं गीतार्थतत्त्वं उपदिश्य तत्सम्प्रदायप्रवर्त्तने नियममाह—इदमिति। इदं गीतार्थतत्त्वं, ते—त्वया, अतपस्काय—स्वधर्मानुष्ठानहीनाय न वाच्यम्। न च अभक्ताय—

गुरौ ईश्वरे च भक्तिशून्याय कदाचिदपि न वाच्यम्। न च अशुश्रूषवे—परिचर्याम् अकुर्वते, श्रोतुम् अनिच्छते वा वाच्यम्। मां—परमेश्वरं, यः अभ्यसूयति मनुष्यदृष्ट्या दोषारोपेण निन्दति तस्मै च न वाच्यम् ॥६७॥

अनुवाद—[इस प्रकार गीतार्थतत्त्वका उपदेश करके कैसे पुरुषको गीतार्थतत्त्व कहना चाहिए, इस विषयमें नियम बतलाते हैं]—यह गीतार्थतत्त्व स्वधर्मानुष्ठानहीन व्यक्तिको, गुरु और ईश्वरमें भक्तिशून्य पुरुषको तथा जो परिचर्या न करे या सुननेकी इच्छा न करे, उसको न कहा जाय। मैं परमेश्वर हूँ, मुझमें जो मनुष्यदृष्टिसे दोषारोपण करते हुए मेरी निन्दा करता है उसको भी न कहा जाय ॥६७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो कोई मेरी हिंसा निन्दा करता है उससे क्रियाकी बात मत कहना।—अर्जुनके मोहनाशके लिए गीतामें आध्यात्मिक-रहस्यपूर्ण जिस योगार्थतत्त्वकी भगवान्ने व्याख्या की है वे साधनाएँ किसको मिलें तथा किसको न मिलें, इसका उपदेश करते हैं। गीता योगशास्त्र है, इसमें आदिसे अन्त तक योगविषयक सारे निगूढ़ तत्त्वोंकी व्याख्या हुई है। भगवान्ने उपदेश किया है, केवल इसी कारण सब लोग इस निगूढ़ आध्यात्मिक तत्त्वके समान अधिकारी हैं, ऐसी बात नहीं है। जिनको जाननेका अधिकार है उन्हींको सुनाना चाहिए। अनधिकारी कौन हैं, यह इस श्लोकमें भगवान् बतला रहे हैं। स्वधर्ममें जिनकी आस्था नहीं है, जो असंयमी हैं अतएव तपःसाधनमें अयोग्य हैं, गीताकी साधना उनके लिए नहीं है। जो भक्तिहीन हैं, गुरु और ईश्वरमें श्रद्धाशून्य हैं, शास्त्रमें जिनका विश्वास नहीं है उनसे भी साधनाकी बात नहीं कहनी चाहिए। आत्माके अस्तित्वमें जिनका विश्वास दृढ़ नहीं है, जो सर्वदेवमय वासुदेवको न जानकर देवताओंकी निन्दा करते हैं, वे गीतोक्त साधना प्राप्त करनेके योग्य नहीं हैं। अतएव उनको भी गीताका उपदेश न करे। गुरुशुश्रूषा एक बड़ी बात है। गुरुशुश्रूषाके बिना गीताके मर्मको उपलब्ध करना दुष्कर है। जो तपः-साधनमें प्रमादयुक्त हैं और ईश्वरके प्रति भक्तिशून्य हैं वे भी गीतोक्त उपदेश ग्रहण करनेके अधिकारी नहीं हैं। अनधिकारीको ब्रह्मविद्याका उपदेश करना शास्त्रनिषिद्ध है क्योंकि उसके सामने विद्या आत्मगोपन करती है, कभी प्रकाशित नहीं होती।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ श्वेताश्वतर उ०।

जिसको अपने इष्टदेवके प्रति परम भक्ति है तथा गुरुमें भी वैसी ही भक्ति है, उस महात्माके सामने ही उपर्युक्त उपनिषद्-शास्त्रका प्रकृत अर्थ प्रकाशित होता है।

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय मा मा ब्रूयाद्वीर्यवती तथा स्याम् ॥ मुक्तिकोप०।

ब्रह्मविद्या ब्राह्मणोंके पास जाकर बोली कि "तुम मुझको बचाकर रखना, इससे तुम्हें इष्ट अर्थात् भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त होंगे। परन्तु यदि सबसे गुप्त न रख सको तो असूयायुक्त, सरलताशून्य और असंयमी या अतपस्वियोंको कदापि न कहना, कहने पर विद्याकी शक्ति न रहेगी ॥६७॥

(भगवद्भक्तके सामने गीता-व्याख्याका फल)

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

अन्वय—यः (जो) इदं परमं गुह्यं (इस परम गुह्य विषयकी) मद्भक्तेषु (मेरे भक्तोंके सामने) अभिधास्यति (व्याख्या करेगा) [सः—वह] मयि परां भक्ति कृत्वा (मुझमें परा भक्ति करके) मां एव एष्यति (मुझको ही प्राप्त होगा) असंशयः (इसमें सन्देह नहीं है) ॥६८॥

श्रीधर—एतैः दोषैः रहितेभ्यः गीताशास्त्रोपदेष्टुः फलमाह—य इदमिति । मद्भक्तेषु अभिधास्यति—मद्भक्तेभ्यो यो वक्ष्यति, स मयि परां भक्तिं करोति । ततो निःसंशयः सन् मामेव प्राप्नोतीत्यर्थः ॥६८॥

अनुवाद—[दोषरहित भक्तोंके सामने गीताशास्त्रके उपदेशका फल बतलाते हैं]—जो आदमी मेरे भक्तोंको यह गीतोपदेश प्रदान करेगा, वह मुझमें परा भक्ति प्राप्त करके अन्तमें निःसंशय होकर मुझको ही प्राप्त होगा ॥६८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो इस क्रियाको पावेगा, वह मेरा ही हो जायगा । —अध्यात्मशास्त्र गीताका उद्देश्य है लोगोंको आत्मवेत्ता बनाना । आत्मवित् वही होगा जो क्रिया करेगा । यह क्रिया जन्म-मरणसे उद्धार करके मनुष्यको मुक्ति प्रदान करती है । समस्त क्रिया-रहस्य गीतामें है, इसलिए जो आदमी यह गीता पढ़कर लोगोंको सुनाता है और इसका रहस्य समझा देता है, वह निश्चय ही एकदिन आत्मवेत्ता हो जायगा, इसमें सन्देह न करना । आत्मक्रियाशील पुरुष आत्माको ही प्राप्त करेंगे ॥६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

अन्वय—मनुष्येषु (मनुष्योंमें) तस्मात् (उसकी अपेक्षा) कश्चित् (कोई) मे (मेरा) प्रियकृत्तमः च न (अधिक प्रियकारी भी नहीं) तस्मात् अन्यः (उससे और कोई) मे प्रियतरः च (मेरा अधिक प्रिय भी) भुवि न भविता (पृथिवी पर न होगा) ॥६९॥

श्रीधर—किञ्च—नेति । तस्मात् मद्भक्तेभ्यः—गीताशास्त्रव्याख्यातुः सकाशात् अन्यो मनुष्येषु मध्ये कश्चिदपि मम प्रियकृत्तमः—अत्यन्तं परितोषकर्त्ता नास्ति । न च कालान्तरे भविष्यति । मम अपि तस्मात् अन्यः प्रियतरः अधुना भुवि तावत् नास्ति । न च कालान्तरेऽपि भविष्यतीत्यर्थः ॥६९॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—इसी कारण गीताशास्त्रकी व्याख्या करने वालेके समान मनुष्योंमें अन्य कोई मुझको तुष्टि प्रदान करने वाला न है और न कालान्तरमें होगा ॥६९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यह क्रिया करने पर उसको मैं बहुत प्यार करूँगा। उसके समान संसारमें दूसरा अच्छा आदमी नहीं है।—मनुष्य-शरीर धारण करके जो क्रिया प्राप्त करके भक्तिपूर्वक किये जाते हैं, उनकी अपेक्षा अधिक प्रिय आत्माका कोई नहीं है। क्रिया करके क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त योगी आत्माके जितना सन्निकट होता है उतना निकट और कोई नहीं हो सकता। बाह्य विषयोंमें चित्त जितना ही उत्क्षिप्त होता है उतना ही वह आत्मासे दूर हटता जाता है, परन्तु क्रिया करके क्रियाकी परावस्थाकी ओर जितना ही अग्रसर होता है उतना ही वह आत्माका सान्निध्य लाभ करता है। जो क्रियाकी परावस्थामें सुप्रतिष्ठित हो जाता है वह आत्माके साथ एक हो जाता है, अतएव तदपेक्षा आत्माका प्रियतर और किसीके होनेकी संभावना नहीं है ॥६९॥

(गीता-पाठका फल ज्ञानयज्ञके तुल्य है)

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

अन्वय—यः च (और जो) आवयोः (हम दोनोंके) इमं धर्म्यं संवादं (इस धर्म-संवादको) अध्येष्यते (अध्ययन करेगा) तेन (उससे) अहं (मैं) ज्ञानयज्ञेन (ज्ञानयज्ञद्वारा) इष्टः स्याम् (अर्चित होऊँगा) इति मे मतिः (यही मेरा मत है) ॥७०॥

श्रीधर—पठतः फलमाह—अध्येष्यत इति। आवयोः श्रीकृष्णार्जुनयोः इमं धर्म्यं धर्मात् अनपेतं संवादं यः अध्येष्यते—जपरूपेण पठिष्यति तेन पुंसा सर्वयज्ञेभ्यः श्रेष्ठेन ज्ञानयज्ञेन अहं इष्टः स्याम्—भवेयमिति मे मतिः। यद्यप्यसौ गीतार्थम् अबुध्यमान एव केवलं जपति, तथापि मम तच्छृण्वतो मामेव असौ प्रकाशयतीति बुद्धिः भवति। यथा लोके यदृच्छयापि यदा कश्चित् कस्यचित् नाम गृह्णाति, तदा असौ माम् एव आह्वयतीति मत्वा तत्पार्श्वम् आगच्छति, तथा अहमपि तस्य सन्निहितो भवेयम्। अतएव अजामिल-क्षत्रबन्धु-प्रमुखानां कथञ्चित् नामोच्चारणमात्रेण यथा प्रसन्नोऽस्मि तथैव तस्यापि प्रसन्नो भवेयमिति भावः ॥७०॥

अनुवाद—[गीतापाठ करनेका फल बतलाते हैं]—हमारा और अर्जुनका यह धर्मयुक्त संवाद जो जपरूपमें पाठ करता है, उस पुरुषके द्वारा किये गये सर्वश्रेष्ठ ज्ञानयज्ञके द्वारा मैं अर्चित होता हूँ। वह पुरुष गीतार्थ न जानकर भी यदि केवल गीतापाठ करता है तो भी मुझे जान पड़ता है कि वह मुझको ही पुकार रहा है। जिस प्रकार कोई आदमी यदृच्छावश यदि किसी समय किसीका नाम लेता है तो वह 'मुझको ही पुकार रहा है' ऐसा समझकर उसके पास उपस्थित होता है, उसी प्रकार मैं भी उसके समीप जाता हूँ। नामोच्चारण-मात्रसे अजामिल और ध्रुव आदिके ऊपर मैं जैसे प्रसन्न हुआ था, उसी प्रकार अर्थज्ञानहीन गीतापाठ करने वालेके प्रति भी मैं प्रसन्न होता हूँ ॥७०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो यह कथा सुनेगा या पढ़ेगा उसका भला होगा।—हम दोनोंके इस धर्मजनक संवादका जो अध्ययन करेगा उसका भला होगा। जिस विद्या-साधनसे ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, इस संवादका पाठ करने पर उस साधनमें उत्साह बढ़ता है। भगवान्‌की पूजा करनेका सर्वोत्तम उपाय है ज्ञानयोग। गीता-ध्ययनसे जीवके अन्तःकरणमें उस ज्ञानलालसाकी वृद्धि होती है। अतएव परमात्मा श्रीकृष्ण जो स्वयं ज्ञानरूप हैं, वह यदि गीताध्ययनके द्वारा संपूजित होते हैं तो इसमें सन्देह ही क्या है? ज्ञानयज्ञका महाफल है परम पदकी प्राप्ति। जो गीता पाठ करेगा उसकी बुद्धि शुद्ध होगी और शुद्ध बुद्धिका फल मोक्ष भी उसको प्राप्त होगा ॥७०॥

(गीता-श्रवणका फल)

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

अन्वय—श्रद्धावान् अनसूयः च (श्रद्धालु और असूयारहित) यः नरः (जो पुरुष) शृणुयात् अपि (केवल श्रवण भी करे) सः अपि मुक्तः (वह भी मुक्त होकर) पुण्यकर्मणाम् (पुण्यकर्मकारी लोगोंके) शुभान् लोकान् (शुभ लोकोंको) प्राप्नुयात् (प्राप्त होता है) ॥७१॥

श्रीधर—अन्यस्य जपतो योऽन्यः कश्चित् शृणोति तस्यापि फलमाह—श्रद्धावानिति। यो नरः श्रद्धायुक्तः केवलं शृणुयादपि, श्रद्धावानपि यः कश्चित् किमर्थं अयं उच्चैः जपति, अबद्धं जपतीति वा दोषदृष्टिं करोति, तद् व्यावृत्यर्थमाह—अनसूयश्च असूयारहितः यः शृणुयात् सोऽपि सर्वैः पापैः मुक्तः सन् अश्वमेधादिपुण्यकृतां लोकान् प्राप्नुयात् ॥७१॥

अनुवाद—[गीता-पाठ श्रवण करनेका फल बतलाते हैं]—जो आदमी श्रद्धायुक्त होकर असूयारहित भावसे अर्थात् दोषदृष्टि न करके इसे सुनता है वह भी सब पापोंसे मुक्त होकर अश्वमेधादि यज्ञ करने वाले पुण्यात्माओंके शुभ लोकोंको प्राप्त होता है ॥७१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—श्रद्धापूर्वक सुनने पर भी मुक्त हो जायगा।—रसज्ञ भक्त लोग भगवत्कथा जितनी ही अधिक सुनते हैं उतनी ही वह उनको अधिक अच्छी लगती है—"यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे"। परन्तु रसज्ञान तो सदा सबको नहीं होता। भागवती कथामें श्रद्धा और रुचि उत्पन्न होने पर रसज्ञान हो सकता है, परन्तु लोगोंकी भगवत्कथामें श्रद्धा और रुचि कहाँ है। भव-व्याधिकी ताड़नाके कारण उत्कृष्ट और सुमधुर हरिकथा भी बहुधा अच्छी नहीं लगती। इस रोगकी औषधि क्या है? श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥

हे विप्रगण! गुरुशुश्रूषापरायण श्रद्धावान् व्यक्तिको साधुसेवा और पुण्यतीर्थसेवा द्वारा वासुदेवकी कथामें रुचि उत्पन्न होती है। भगवत्कथा श्रवण तथा उसके

अनुध्यानके फलस्वरूप भगवत्-शक्तिके प्रभावसे कामक्रोधादिकी प्रबल उत्तेजनाका ह्रास होता है। काम-क्रोधके द्वारा फिर उसका चित्त विद्ध नहीं होता। तब ज्ञानका स्फुरण होता है तथा भगवत्तत्त्वकी अनुभूति होकर बाह्य विषयोंके प्रति वैराग्यका उदय होता है। अतएव हृदयग्रन्थि-भेद होता है अर्थात् ब्रह्मके सिवा अन्य सब वस्तुओंके प्रति आसक्ति नष्ट हो जाती है, सारे संशय छिन्न हो जाते हैं तथा जन्मजन्मान्तरके सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं॥७१॥

(भगवान्की अर्जुनसे जिज्ञासा)

कच्चिदेतत् श्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) त्वया (तुमने) एकाग्रेण चेतसा (एकाग्रचित्तसे) एतत् श्रुतं कच्चित् (इसे क्या सुना है?) धनञ्जय (हे धनञ्जय!) ते अज्ञानसंमोहः (तुम्हारा अज्ञानजनित संमोह) प्रनष्टः कच्चित् (क्या नष्ट हो गया?) ॥७२॥

श्रीधर—सम्यग्बोधानुत्पत्तौ पुनरुपदेक्ष्यामि इत्याशयेनाह—कच्चित् इति। कच्चिदिति प्रश्नार्थे। अज्ञानसंमोहः—तत्त्वाज्ञानकृतः विपर्ययः। स्पष्टमन्यत्॥ ७२॥

अनुवाद—[सम्यग् बोध न उत्पन्न होने पर पुनः उपदेश दूँगा, इस अभिप्रायसे कहते हैं]—हे पार्थ, तुमने एकाग्रचित्त होकर इसे सुना या नहीं? हे धनञ्जय, तुम्हारा अज्ञानजनित मोह विनष्ट हो गया या नहीं? ॥७२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यह सुनने पर सब अज्ञान नष्ट हो जाता है। (तुम्हारा हो गया है न?)।—अर्जुनका मोह नष्ट हुआ है या नहीं, इसे क्या भगवान् नहीं जानते, तब फिर यह प्रश्न क्यों किया? सर्वमोह-नाशन, साक्षात् ज्ञानस्वरूप भगवान् ही जिसके उपदेष्टा हों उसको भी क्या मोह रह सकता है? गीता-श्रवणका फल ही है अज्ञान-मोहका नाश। अर्जुनका भी मोह-नाश निश्चय ही हो गया है, यह बात अर्जुन अपने मुँहसे व्यक्त करके जगत्-जीवको सुना दें, जिससे जगत्का कल्याण हो—इस प्रश्नका यही उद्देश्य है। अज्ञानवश जीवको भ्रान्ति होती है। श्रीगुरुकी कृपासे शिष्यकी भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। शिष्य साधनमें कृतकृत्य हो जाय तो गुरुको जो आनन्द होता है, वह आनन्द शिष्यको भी नहीं होता। शिष्यने प्राणपणसे उपदेश धारण किया या नहीं, यदि ग्रहण नहीं कर सका तो दूसरे उपायोंसे उसे समझाना होगा—सद्गुरुका यह नित्य अभिप्राय होता है। शिष्यका उपदेश-ग्रहण और गुरुका उपदेश-दान भी इसीलिए होता है। यदि शिष्यका मोह नष्ट हो जाता है तो गुरु-शिष्य दोनोंका प्रयास सार्थक है। गुरुके उपदेशके अनुसार साधन करने पर साधकको स्वरूप-ज्ञान होता है या निज स्वरूपमें स्थिति-लाभ होता है। अर्जुनको वह प्राप्त हुआ या नहीं, इसका परिचय हमको अगले श्लोकमें मिलेगा॥७२॥

(अर्जुनका उत्तर—उसका मोह-नाश हो गया है)

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा)—अच्युत (हे अच्युत!) त्वत्प्रसादात् (तुम्हारी कृपासे) मोहः नष्टः (मोह नष्ट हो गया) मया (मैंने) स्मृतिः लब्धा (स्मृति लाभ किया अर्थात् कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान प्राप्त हो गया) गतसन्देहः (निःसन्देह होकर) स्थितः अस्मि (मैं स्थिर हुआ हूँ) तव वचनं करिष्ये (तुम्हारे उपदेशके अनुसार कार्य करूँगा) ॥७३॥

श्रीधर—कृतार्थः सन् अर्जुन उवाच—नष्टो मोह इति। आत्मविषयो मोहो नष्टः। यतः अयं अहमस्मि इति स्वरूपानुसन्धानरूपा स्मृतिः त्वत्प्रसादात् मया लब्धा। अतः स्थितोऽस्मि युद्धाय उत्थितोऽस्मि, गतः धर्मविषयः सन्देहो यस्य सोऽहं तव आज्ञां करिष्य इति ॥७३॥

अनुवाद—[कृतार्थ होकर अर्जुनने कहा]—मेरा आत्मविषयक मोह नष्ट हो गया। 'मैं क्या हूँ' यह स्वरूप-सन्धानरूप स्मृति तुम्हारे प्रसादसे मुझे प्राप्त हो गयी। अतएव मैं स्थित होकर युद्धार्थ खड़ा हो गया हूँ। धर्मविषयमें मेरा सन्देह गत हो गया है। मैं तुम्हारे आदेशके अनुसार कार्य करूँगा ॥७३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरके तेज द्वारा व्यक्त हो रहा है—मेरा मोह और सन्देह सब चला गया—जो कहोगे वही करूँगा।—कुलक्षयकृत दोषकी चिन्ता और आत्मीय जनोंके बधजनित कातरताने अर्जुनके स्वाभाविक धैर्य और ज्ञानको अभिभूत कर डाला था। इसीसे मैं युद्ध न करूँगा, यह कहकर वह शोकाकुल चित्तसे गाण्डीवका परित्याग करके मोह-विभ्रान्त-चित्त होकर रथके ऊपर बैठ गये थे। उस मोहको नष्ट करनेके लिए ही भगवान्का यह प्रयास है। देहात्मज्ञानरूप मोहने अर्जुनको कातर कर दिया था, इसीसे उन्होंने स्वधर्मका त्याग कर परधर्म-ग्रहणकी अभिलाषा की थी। भगवान्के उपदेशसे उनकी आत्मबुद्धि लौट आयी। उनकी स्मृति दृढ़ हो गयी कि वह देह नहीं हैं, आत्मा हैं। अजर अमर आत्माके लिए जीवन-मरणका भय कहाँ! मन्दाकिनीकी शुभ्र कलकल धाराके समान जब यह आत्मस्मृति-धारा अर्जुनके मनः-प्राण-बुद्धिके भीतर प्रवाहित होने लगी, तब वह सब प्रकारसे सन्देह-रहित होकर अभय लाभ करके उठ बैठे। उन्होंने जोर देकर कहा कि "मेरा मोह नष्ट हो गया है, मेरी आत्मस्मृति लौट आयी है।" जिस आत्मविस्मृतिके कारण जीव अनेक बार इस संसारमें आता है और जाता है, आज वह विस्मृति दूर हो गयी। यह नाम-रूप-युक्त शरीर स्वप्नदर्शनके समान है और केवल अज्ञानसे उत्पन्न होता है। आज वह मोह, वह अज्ञान मेरा नष्ट हो गया। जिस प्रकार जाग्रतावस्थामें स्वप्नज्ञान दूर हो जाता है उसी प्रकार मेरा कर्त्तृत्वाभिमान, मेरा शत-शत रूप धारण एवं सारा संमोह मेरी ज्ञान दृष्टिसे दूर हो गया। जिस स्मृतिके प्राप्त

होने पर "सर्वग्रन्थीनां विमोक्षः" अर्थात् सारी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, मेरा वह हृदयग्रन्थि-भेद हो गया। चित्-जड़के जिस अभेद-ज्ञानने मुझको इतने दिनों तक जीव-भावमें बद्ध कर रखा था, आज वह अनर्थकारी ऐक्य-ज्ञान विलुप्त हो गया। मायाका कौशल आज मेरे सामने निरस्त हो गया है। अनात्म देहादिमें अब मेरी आत्म-बुद्धि नहीं है। हे आत्मदेव! मैंने अब समझ लिया है कि तुम ही सब हो, मैं भी तुमसे अभिन्न हूँ। तुममें, मुझमें और इस जीव-जगत्में मैंने जो अज्ञान-जनित भेद-कल्पना की थी, आज तुम्हारे प्रसादसे वह तिरोहित हो गया! सब आत्मस्वरूप हैं—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"। क्रियाकी परावस्थामें यह स्थिति प्राप्त कर मैंने जान लिया कि मेरा स्वरूप क्या है। मैं अर्जुन हूँ, यह बोध दूर हो गया। देह-बोधसे जो अपने पृथक् कर्त्तव्यकी धारणा थी वह लुप्त हो गयी। देहबोधकी धारणा तभी तक रहती है जबतक आत्मबोध नहीं होता। तबतक कर्त्तव्याकर्त्तव्यके नाना बोध जीवको व्याकुल किये रखते हैं। उस समय देह मन और प्राणके चाञ्चल्य जीवको अस्थिर किये रखते हैं। आज मायाका वह ताण्डव नृत्य तुम्हारी कृपासे बन्द हो गया है! इस बार तुम्हारे उपदेशके अनुसार श्वासमें लक्ष्य रखकर प्राणकी साधना करते करते मैंने एक दिव्य अवस्था प्राप्त की है। यही क्रियाकी परावस्था है। प्राण स्थिर होकर जैसे ही सुषुम्नामें सञ्चरण करने लगा, वैसे ही जगद्दर्शन क्षीण हो गया, साथ ही साथ सुख-दुःखकी धारणा भी रुक गयी। अब जीना-मरना कैसा और सुख-दुख किसका। सारा स्वप्न मानो क्षण भरमें टूट गया! स्व-स्वरूपमें स्थिति लाभ करके आज मुझे प्रकृत सुखका परिचय प्राप्त हुआ। विषय-सुखको बड़ा मानकर एक दिन मैंने साधनाका परित्याग करना चाहा था, साधन-समरके अस्त्र मेरुदण्डरूपी गाण्डीवको अवनत करके पागलके समान केवल हाय हाय करता था, निर्लज्जके समान 'युद्ध नहीं करूँगा' यह अपना मत तुम्हारे सामने व्यक्त किया था। अब वह सब दुर्बुद्धि तुम्हारे प्रसादसे और क्रियाकी परावस्थाके प्रसादसे निर्मूल हो गयी है। हे गुरुदेव! अब तुम्हारा वाक्य मैं निश्चय पालन करूँगा। 'स्थितोऽस्मि'—मैं फिर युद्धके लिए खड़ा हो गया हूँ। मेरा मेरुदण्ड सीधा हो गया है और उसमें एक टानका अनुभव कर रहा हूँ।

नाभिचक्रका तेजस्तत्त्व यह अत्यन्त प्रिय जीव फिर मेरुदण्डको सीधा करके साधनाके लिए उठ बैठा। इस बार उसने प्रतिज्ञा की कि "चाहे जो हो गुरु-वाक्यका पालन करूँगा ही"—'करिष्ये वचनं तव'। जीवशक्ति जब इस प्रकार कमर कसकर साधन-समरमें आत्मोत्सर्ग करनेके लिए साधानार्थ तैयार होकर आसन पर दृढ़ता पूर्वक उपवेशन करती है, तब क्रियाकी परावस्था या आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता। तब जगद्गुरु आत्मदेव कूटस्थ चैतन्य भी अपनी माधुरीका आस्वादन साधकको करा देते हैं। तब जीव "रसो वै सः"को अपनेसे अभिन्न जानकर कृतार्थ हो जाता है, सन्देहका लेश भी नहीं रह जाता। इस प्रकार देहादिमें आत्मबुद्धि तिरोहित होने पर उसकी संसार-लीलाका सदाके लिए अवसान हो जाता है ॥७३॥

सञ्जय उवाच

(अद्भुत रोमहर्षण संवाद)

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

अन्वय—सञ्जय उवाच (सञ्जय बोले)—अहं (मैंने) इति (इस प्रकार) महात्मनः (महात्मा) वासुदेवस्य (वासुदेवका) पार्थस्य च (और अर्जुनका) इमं रोमहर्षणं (यह रोमाञ्चकर) अद्भुतं संवादं (अद्भुत कथोपकथन) अश्रौषम् (श्रवण किया) ॥७४॥

श्रीधर—तदेवं धृतराष्ट्रं प्रति श्रीकृष्णार्जुनसंवादं कथयित्वा प्रस्तुतां कथां अनुसन्दधानः सञ्जय उवाच—इतीति । रोमहर्षणं—रोमाञ्चकरं संवादम्, अश्रौषं श्रुतवान् अहम् । स्पष्टमन्यत् ॥७४॥

अनुवाद—[इस प्रकार धृतराष्ट्रके समीप श्रीकृष्णार्जुन-संवादको कहकर प्रसङ्गके उपसंहारार्थ सञ्जय बोले]—महात्मा वासुदेव और अर्जुनका यह रोमाञ्चकर अद्भुत कथोपकथन मैंने सुना है ॥७४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यह संवाद अद्भुत है ।—कृष्णार्जुन-संवादमें साधनाका अति गूढ़ रहस्य व्याख्यात हुआ है, इस कारण यह संवाद वस्तुतः अद्भुत है । इसमें जो अनुभवकी बातें कही गयी हैं उनमेंसे कुछ भी जिसको प्रत्यक्ष हो जाती हैं उसके विस्मयकी सीमा नहीं रहती । यह देह अस्थि-मज्जा-मेदसे परिपूर्ण है, इसके भीतर प्राणका सञ्चरण एवं मनबुद्धिकी क्रीड़ा होती है । पुनः उसके भीतर इन सब अद्भुत दृश्योंका दर्शन ! कितनी अज्ञात वस्तुएँ अनुभवमें आती हैं, इसका स्मरण होते ही शरीर रोमाञ्चित हो उठता है ।

यह अद्भुत संवाद दिव्य दृष्टिसे ही स्फुरित होता है । ये सारे अनुभव अन्तःकरणमें ही होते हैं, इसीसे धृतराष्ट्र अर्थात् मनको ही लेकर यह सारा कथोपकथन है । दिव्यदृष्टि-सम्पन्न पुरुष मन ही मन इस समस्त साधन-संवादको प्रत्यक्ष करते हैं । साधककी चैतन्य-समाधिमें ही ये दिव्य ज्ञान स्फुरित होते हैं । इस अवस्थामें पहुँचकर साधकप्रवर सारे तत्त्वोंको जान सकते हैं । यह वस्तुतः अद्भुत है । जबतक देहदृष्टि और जीवभाव है तबतक शरीर, मन, बुद्धि और प्राणमें अनन्त खेल होते रहते हैं । ब्रह्मसे यह जगत्-लीला करनेवाला प्राण उद्भूत होता है तथा उस प्राणधाराके साथ प्रवाहित होते होते ब्रह्म अपने आपको कितने सूक्ष्म और कितने स्थूल तत्त्वोंमें प्रकट करता है ! जान पड़ता है मानो ब्रह्म स्थूल हो गया है ! सद्गुरुकी कृपासे साधनके द्वारा दिव्य दृष्टि प्राप्त कर जीव किस प्रकार प्रबुद्ध होकर आत्मविस्मृत भावका परित्याग करता है, इसकी आलोचना करने पर अत्यन्त विस्मय होता है । जो व्यक्त नहीं था, इन्द्रिय-गोचर नहीं था, वह सब अप्रत्यक्ष अज्ञात वस्तु साधकके ज्ञानगोचर होकर फिर किस प्रकार उसके सामने

अतीन्द्रिय जगत्का सन्धान आ जाता है, ये सब विषय साधकको विस्मयाभिभूत कर देते हैं ! इस आनन्दमें, विस्मयमें यदि रोमाञ्च हो तो आश्चर्य क्या ! सर्वव्यापी वासुदेव तो वासुदेव हैं ही, परन्तु जीव, अर्जुनका आत्मा भी देहसम्बन्धी नहीं है, वह भी वासुदेवका अंश है, वह भी महान् है—इस परम गुह्य संवादसे वस्तुतः जीवका मन पुलकित होता है और देह रोमाञ्चित हो उठती है ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥७५॥

अन्वय—अहं व्यासप्रसादात् (मैंने व्यासके अनुग्रहसे) एतत् परं गुह्यं योगं (इस परम गुह्य योगतत्त्वको) स्वयं कथयतः (स्वयं वर्णनमें प्रवृत्त) योगेश्वरात् कृष्णात् (योगेश्वर श्रीकृष्णके मुँहसे) साक्षात् श्रुतवान् (प्रत्यक्ष सुना है) ॥७५॥

श्रीधर—आत्मनः तस्य श्रवणे सम्भावनामाह—व्यासप्रसादादिति । भगवता व्यासेन दिव्यं चक्षुःश्रोत्रादि मह्यं दत्तम् । ततो व्यासस्य प्रसादात् एतत् अहं श्रुतवान् अस्मि । किं तत् इति अपेक्षायामाह—परं योगम् । परत्वं आविष्करोति । योगेश्वरात् श्रीकृष्णात् साक्षात् कथयतः श्रुतवानिति ॥७५॥

अनुवाद—[युद्ध-क्षेत्रसे बहुत दूर रहते हुए भी संजयके सुन सकनेकी संभावनाके विषयमें कहते हैं]—भगवान् व्यास-देवने मुझे दिव्य चक्षु और श्रोत्रादि प्रदान किये थे, अतएव उन्हींके अनुग्रहसे इसे मैंने बहुत दूरसे भी सुना और देखा है । जो सुना है वह परम योग है । योगेश्वर श्रीकृष्ण साक्षात् उसके वक्ता हैं, उनके ही मुखसे सुना है ॥७५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—व्यासके प्रसादसे सुना गया यह योग ।—यह संवाद परम गोपनीय क्यों है ? बिना साधनाके केवल बाह्य इन्द्रियादिकी सहायतासे कोई इसे नहीं समझ सकता । यह सुना जाता है व्यासजीके प्रसादसे । यह व्यास कौन हैं ? जो श्रीकृष्ण हैं वही व्यास हैं । व्यास और श्रीकृष्णमें भेद क्या है ? दोनों ही भगवान्के अवतार कूटस्थ चैतन्य हैं । श्रीकृष्ण 'तत्'-स्वरूप अर्थात् अपने आपमें हैं । वहाँकी बात भाषाद्वारा व्यक्त नहीं होती और न वह बात इस कानसे सुनी जाती है । कूटस्थ चैतन्य जब कुछ बाह्येन्द्रियमिलित होकर व्यक्त होते हैं (जैसा कि परावस्थाकी परावस्थामें होता है) तब जो दिव्यज्ञान हमारे मनोगोचर होता है, वही व्यासका प्रसाद है । व्यास वेद-विभाग-कर्त्ता हैं । जहाँ विभाग है वहीं कुछ भेदज्ञान है । जहाँ ज्ञानकी पूर्णता भी है और कुछ भेदज्ञान भी है, उसी स्थानसे यह संवाद सुना जाता है । इसीसे व्यास भगवान्के अंशावतार हैं । घनीभूत परावस्थामें कुछ भी जाना नहीं जा सकता . क्योंकि वहाँ द्वितीय वस्तुका अभाव होता है, ज्ञाता-ज्ञेयरूपमें वहाँ कुछ नहीं रहता, वहाँ रहकर किसी वस्तुका वर्णन करना असंभव है । ब्रह्मभावकी निम्न अवस्था ही ईश्वर-भाव है । परमात्मा निर्गुण हैं, वहाँ केवल एक ही भाव है । जहाँ 'सब'की बात आती है, जीव-जगत्की बात आती

है, वहाँ वह पुरुषोत्तम या नारायण हैं, वहाँ वह मायाके अधीश्वर सर्वमय हैं। अवतारादि नारायणसे ही होते हैं। अवतारी माया-पुरुष मनुष्यरूपमें दृष्ट होने पर भी पुरुषोत्तम नारायणसे अभिन्न हैं। परमात्मा ही मूर्ति ग्रहण करता है और उस मूर्त्ति-ग्रहण-कालमें भी वह परमात्मा ही है। परमात्माकी ही घनीभूत मूर्त्ति है अवतार। अवतारोंमेंसे जिसमें ऐश्वर्यका पूर्ण विकास होता है वह पूर्णावतार है और जहाँ ऐश्वर्य अपेक्षाकृत कम है उसको अंशावतार कहते हैं। अंशावतारमें भी ज्ञानकी पूर्णता विद्यमान रहती है। ज्ञानभूमिकाके विभिन्न स्तरोंमें अवस्थित होनेके कारण उनमें ऐश्वर्य-विकासका तारतम्य होता है। ज्ञानभूमिकामें समाधिकी उच्चतम अवस्था ही ब्रह्मभाव है, उससे निम्नभाव ईश्वरभाव है। इस ईश्वरभावका जो आंशिक विकास है वही व्यास हैं। यहाँ मायाका मिश्रण अपेक्षाकृत अधिक होता है, इसी कारण यहाँ कुछ भेदभाव है। व्यास-शब्दका अर्थ विभागकर्त्ता है। भेदभाव हुए बिना विभाग करना संभव नहीं होता। उसमें समाधि-प्रज्ञा भी होती है और सांसारिक ज्ञान भी रहता है। कूटस्थके जिस मण्डलमें ज्ञानात्मक भावका विकाश होता है, वहाँसे कुछ नीचे उतरने पर वह साधकके लिए बोधगम्य होता है, उस समय भी दिव्य दृष्टि रहती है, इसे ही परावस्थाकी परावस्था कहते हैं। इस अवस्थामें जो दिव्य ज्ञान होता है वही व्यासके प्रसादसे सञ्जयका श्रवण है। यह परम योगतत्त्व है, क्योंकि इस संवादका उद्देश्य है परमात्माके साथ जीवात्माका मिलन कराना। यह योगेश्वर श्रीकृष्णके श्रीमुखके वाक्य हैं। श्रीकृष्ण ही निखिल आत्माके आत्मा अर्थात् परमात्मा हैं। उनका श्रीकृष्ण नाम भी सार्थक है क्योंकि परावस्थामें जीव जब परमात्माके साथ एक होकर जीवन्मुक्ति अवस्था भोग करता है तब वह समझ पाता है कि उनमें कैसी प्रचण्ड आकर्षण-शक्ति है। उस शक्तिके आकर्षणमें पड़ने पर धन-जन-गृह-पुत्र-कलत्र सब कुछ नीरस लगता है और मन इनकी ओर लौटना नहीं चाहता। इसीसे गोपियोंने कहा है—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद् यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥

जो मन पहले आनन्दके साथ गृहकार्यमें निविष्ट रहता था, तुमने हमारे उस मनको अपहरण कर लिया है। पहले हमारा जो हाथ गृहकर्ममें व्यापृत रहता था, मनके न रहने पर वह हाथ भी अपहृत हो गया है। हमारे पैर तुम्हारे चरणके समीपसे एक पग भी चलना नहीं चाहते। फिर बतलाओ कि हम व्रजमें कैसे जायँ और जाकर भी क्या करें?

जो मन संसारमें ही निरन्तर व्यस्त रहता है, क्षणभर भी संसारसे नहीं हटता, वही मन क्रियाकी परावस्थामें परम शान्त होकर समस्त तापोंसे विमुक्त हो जाता है। इसी कारण रासपञ्चाध्यायीमें लिखा है कि गोपियोंको जब श्रीकृष्णका पुनः साक्षात्कार प्राप्त हुआ, तब "तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः"— कृष्णदर्शनसे उत्पन्न आनन्दमें गोपियोंका हृद्रोग (कामानुबन्धन) नष्ट हो गया, उनके मनोरथोंका अन्त हो गया अर्थात् उनके मनमें पहलेके समान मनन-धर्म न रहा। मनोरथोंका

अन्त होना ही साधनाकी अन्तिम बात है। वेदादि शास्त्रोंका उपदेश यहीं तक है। उसके बाद साधक कौन कौनसी अवस्था प्राप्त करते हैं यह वेदके अगोचर है अर्थात् वर्णनीय विषय नहीं है।

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः।
जहुः विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनः॥

जीवगण जैसे सुषुप्ति अवस्थामें प्राज्ञ नामक चैतन्यको प्राप्त करके सन्तापशून्य हो जाते हैं, उसी प्रकार गोपियोंने कृष्णदर्शन-जनित परमानन्दमें परितृप्त होकर विरह-सन्तापका त्याग किया।

यहाँ स्पष्टतः समाधिकी बात कही गयी है। साधारण लोग सुषुप्ति-क्रोड़में अभिभूत होकर जैसे तापशून्य हो जाते हैं वैसे ही इस कृष्णदर्शनजनित परमानन्दमें (परावस्था-जनित समाधिमें) परितृप्त होकर गोपियाँ अर्थात् इन्द्रिय-वृत्तियाँ विरह-सन्तापका परित्याग करती हैं।

परमात्मा और जीवात्माका जिस अवस्थामें योग होता है, उस अवस्थामें ही यह संवाद सुना जाता है। आत्मवाणी यही है। इसी कारण इसका नाम श्रुति है। ये भगवान्के श्रीमुखके वाक्य हैं। यह लोकपरम्परासे सुनी हुई बात नहीं है, यह केवल निज अनुभव-गम्य है॥७५॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥७६॥

अन्वय—राजन् (हे महाराज धृतराष्ट्र!) केशवार्जुनयोः (केशव और अर्जुनका) इमं पुण्यं (यह पवित्र) अद्भुतं संवादं (अद्भुत कथोपकथन) संस्मृत्य संस्मृत्य (स्मरण कर करके) मुहुः मुहुः च (क्षण-क्षण) हृष्यामि (रोमाञ्चित हो रहा हूँ या हृष्ट हो रहा हूँ)॥७५॥

श्रीधर—किञ्च—राजन्निति। हृष्यामि—रोमाञ्चितो भवामि, हर्षं प्राप्नोमीति वा। स्पष्टमन्यत्॥७६॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—हे राजन्! केशव-अर्जुनका यह विस्मयकर पुण्य संवाद स्मरण करके प्रत्येक क्षण में हर्षको प्राप्त हो रहा हूँ॥७६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यह संवाद सुनकर मन बहुत ही संतुष्ट हुआ।—केशव और अर्जुनका यह संवाद बड़ा ही पवित्र है। यह चित्तको निष्पाप और शुद्ध करता है। सांसारिक बातोंमें, भोगकी बातोंमें हमारा चित्त आबद्ध होता है, इस कारण वह पाप है। परन्तु केशव और अर्जुनका यह संवाद पाप-मुक्त करता है। अर्जुन विशुद्ध तेजस्तत्त्व है, उसके द्वारा ही जगद्व्यापार चलता है, वह तेजः जब ईश्वरमुखी या आत्ममुखी होता है तब वह भगवत्प्राप्तिमें सहायक होता है।

केशव = क—मस्तक, ईश—प्रभुत्व करना, व—प्राप्ति। सहस्रारमें जो विराज रहा है अर्थात् जिसको ब्रह्मपद प्राप्त हुआ है वही केशव है। ये केशव और अर्जुन

परस्पर सख्यभावमें मिलित हैं। साधक साधन-शक्तिके बलसे जब निर्मल हो जाता है, तभी वह सहस्रदल-कमल-स्थित गुरु-शक्तिके साथ मिलित हो सकता है। यह मिलन हुए बिना देहेन्द्रियादि प्रकृति-क्षेत्रको जय करना असंभव है। अतएव जब यह पुण्यमय भाव आविर्भूत होता है तब साधक क्लेदपूर्ण शरीरको भूल जाता है। तब अन्तर्जगत्‌के कितने ही रूप, शब्द, ऐश्वर्य और ज्ञान प्रकटित होकर साधकको एक अनास्वादितपूर्व चिन्मय राज्यके विमलानन्दमें मग्न कर देते हैं। तब हमारा यह विषय-मग्न मन विषयक्लेदसे उत्तीर्ण होकर मुक्तिके आनन्दका अनुभव करता है। शुद्ध चित्तकी इस वार्तामें जितना आनन्द होता है उतना आनन्द और किसी बातसे नहीं होता ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

अन्वय—राजन् (हे राजन्!) हरेः (हरिके) तत् (उस) अत्यद्भुतं रूपं (अति अद्भुत रूपको) संस्मृत्य संस्मृत्य (स्मरण करके) मे (मुझको) महान् विस्मयः (अतिशय विस्मय हो रहा है) च (और) पुनः पुनः हृष्यामि (पुनः पुनः हर्षित हो रहा हूँ) ॥७७॥

श्रीधर—किञ्च—तच्चेति। विश्वरूपं निर्दिशति। स्पष्टमन्यत् ॥७७॥

अनुवाद—[और भी कह रहे हैं]—हे राजन्, हरिके उस अद्भुत विश्वरूपका वारंवार स्मरण करके मुझको अत्यन्त विस्मय उत्पन्न हो रहा है और मैं पुनः पुनः हृष्ट हो रहा हूँ ॥७७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—फिर खूब प्रसन्न होता हूँ।—भगवानका सगुण रूप ही विश्वरूप है जो अर्जुनके ध्यान-सौकर्यके लिए दिखलाया गया है। उस अति अद्भुत रूपका स्मरण करके दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न सञ्जयके आनन्दकी सीमा न रही। इतने आनन्दका कारण यह है कि इस जगद्-व्यापारमें जीवकी इन्द्रियाँ तात्कालिक तृप्ति तो प्राप्त करती हैं, परन्तु जीव वस्तुतः तृप्त नहीं होता। नाना भावोंके भीतर एक ऐक्य-भावको देखे बिना जीवको शान्ति नहीं मिलती। नानात्व और अनैक्य उसको अभयदान नहीं कर सकते। जबतक जीव नानात्व दर्शन करता है तबतक वह कदापि सन्ताप-मुक्त नहीं हो सकता। इसीसे श्रुति कहती है—

यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। (कठ०)

जो आत्मचैतन्य इस विश्वमें या देहस्थ अन्तःकरणमें प्रकाशित है वही आत्मचैतन्य प्रकृतिकी अतीतावस्थामें भी है। जो चैतन्य मायातीत भावमें है वही चैतन्य यहाँ अर्थात् देह या देहस्थ अन्तःकरणमें अनुस्यूत रहता है। जो व्यक्ति इस ब्रह्मचैतन्यमें नाना भाव अर्थात् अन्तःकरणकी भिन्नताके वश आत्मा या ब्रह्मकी भिन्नताका दर्शन करता है वह पुनर्जन्म और पुनर्मृत्युके हाथसे मुक्ति-लाभ नहीं करता। जब इस एक विश्वात्मामें समस्त नर-नारी, देवता, पशु-पक्षी, सरीसृप,

वृक्ष, नदी, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, ग्रह सब एकसाथ अवस्थित दीखने लगे और तदनन्तर जब इन नाना भावोंने एक महाज्योतिके भीतर अपने आपको विलीन कर दिया तब पृथक्-पृथक् दृश्य पदार्थोंका पृथक्त्व नहीं रहा—यह सोचकर सञ्जयको विस्मय उत्पन्न हुआ। जो भेदभाव नाना प्रकारके उपदेशों और विचार-वितर्कोंके द्वारा भी जानेवाला नहीं, उसको जब विश्वरूपमें प्रत्यक्षभावसे एक होते देखा गया, तब विश्वका महान् ऐक्य देखकर भेदबुद्धिविमूढ़ चित्त अवाक् हो उठा! यह बात जब-जब स्मरण होती है तबतब चित्त विस्मयसे अभिभूत हो जाता है ॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः।

अन्वय—यत्र (जहाँ या जिस पक्षमें) योगेश्वरः कृष्णः (योगेश्वर कृष्ण हैं) यत्र (जहाँ) धनुर्धरः पार्थः (धनुर्धर पार्थ हैं) तत्र (वहाँ) श्रीः (राजलक्ष्मी) विजयः (विजय) भूतिः (अभ्युदय या उत्तरोत्तर वृद्धि) ध्रुवा नीति (अखण्डित या अव्यभिचारी न्याय) [वर्तमान है] इति मे मतिः (यह मेरा निश्चय है) ॥७८॥

श्रीधर—अतः त्वं पुत्राणां राज्यादिशङ्कां परित्यज इत्याशयेन आह—यत्रेति। यत्र—येषां पक्षे, योगानां ईश्वरः श्रीकृष्णो वर्त्तते, यत्र च पार्थो गाण्डीवधनुर्धरः, तत्रैव श्रीः—राजलक्ष्मीः तत्रैव विजयः, तत्रैव च भूतिः—उत्तरोत्तराभिवृद्धिश्च, नीतिः—न्यायोऽपि तत्रैव ध्रुवा—निश्चिता—इति सर्वत्र संबध्यते। इति मम मतिः —निश्चयः। अत इदानीमपि तावत् सपुत्रः त्वं श्रीकृष्णं शरणं उपेत्य पाण्डवान् प्रसाद्य सर्वस्वं तेभ्यो निवेद्य पुत्रप्राणरक्षां कुरु इति भावः ॥

भगवद्भक्तियुक्तस्य तत्प्रसादात्मबोधतः ।
सुखं बन्धविमुक्तिः स्यादिति गीतार्थसंग्रहः ॥

तथा हि "पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया", "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन"—इत्यादौ भगवद्भक्तेः मोक्षं प्रति साधकतमत्वश्रवणात् तदेकान्तभक्तिरेव तत्प्रसादोत्थज्ञानावान्तरव्यापारमात्रयुक्ता मोक्षहेतुरिति स्फुटं प्रतीयते। ज्ञानस्य च भक्त्यवान्तरव्यापारत्वमेव युक्तम्—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।

इत्यादि-वचनात्। न च ज्ञानमेव भक्तिरिति युक्तम्—

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ॥

इत्यादौ भेददर्शनात्। न चैवं सति "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽ

यनाय" इति श्रुतिविरोधः शङ्कनीयः, भक्त्यवान्तरव्यापारत्वात् ज्ञानस्य । न हि काष्ठैः पचति इत्युक्ते: ज्वालानां असाधनत्वं उक्तं भवति । किञ्च,

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

"देहान्ते देवः परं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे" "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" इत्यादि-श्रुतिपुराणवचनानि एवं सति समञ्जसानि भवन्ति, तस्मात् भक्तिरेव मोक्षहेतुरिति सिद्धम् ।

तेनैव दत्तया मत्या तद्गीताविवृतिः कृता ।
स एव परमानन्दस्तया प्रीणातु माधवः ॥
परमानन्दश्रीपादरजःश्रीधारिणाधुना ।
श्रीधरस्वामियतिना कृता गीतासुबोधिनी ॥
स्वप्रागल्भ्यबलाद्विलोड्य भगवद्गीतां तदन्तर्गतं
तत्त्वं प्रेप्सुरुपैति किं गुरुकृपापीयूषदृष्टिं विना ।
अम्बु स्वाञ्जलिना निरस्य जलधेरादित्सुरन्तर्मणी-
नावर्त्तेषु न किं निमज्जति जनः सत्कर्णधारं विना ॥

इति श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां परमार्थनिर्णयो नामाष्टादशोऽध्यायः ।

अनुवाद—[अतएव आप (धृतराष्ट्र) पुत्रोंके पक्षमें राज्यादि प्राप्तिकी आशाका परित्याग कीजिए, इस आशयसे कह रहे हैं]—जिनके पक्षमें योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं तथा जहाँ गाण्डीवधनुर्धर पार्थ हैं, वहाँ ही राजलक्ष्मी हैं, वहाँ ही विजय है और वहाँ ही उत्तरोत्तर अभिवृद्धि है, नीति या न्यायका विचार भी वहीं है—यही मेरा निश्चय है। अतएव अब भी पुत्रोंके साथ आप श्रीकृष्णके शरणापन्न होकर पाण्डवोंको प्रसन्न करके तथा उनको सर्वस्व अर्पण करके पुत्रोंकी प्राणरक्षा कीजिए।

भगवद्भक्तिसे युक्त पुरुष ईश्वरके प्रसादसे प्राप्त आत्मज्ञानके द्वारा सुखपूर्वक बन्धनसे मुक्त हो जाता है, यही गीताका सारसंग्रह है। भक्ति मुक्तिका साधन है। "हे पार्थ, एकान्त भक्तिद्वारा वह लभ्य होता है", "हे अर्जुन, एकान्त भक्तिद्वारा मैं ज्ञात और दृष्ट होता हूँ" इत्यादि प्रमाणोंके द्वारा भगवद्भक्तिका मोक्षसाधकत्व श्रुत होता है। एकान्त भक्ति ही मत्प्रसादजनित तत्त्वज्ञानरूप अवान्तर व्यापारके साथ युक्त होकर मोक्षका हेतु होती है। "सतत-युक्त और प्रीतिपूर्वक भजन करने वालोंको मैं बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझको पाते हैं" (१०।१०) तथा "मेरा भक्त यह जानकर मद्भावप्राप्तिके योग्य होता है" (१३।१९) इत्यादि वचनोंसे प्रमाणित होता है कि ज्ञान भक्तिका अवान्तर व्यापार है। ज्ञान ही भक्ति है, यह भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि "सर्वभूतोंमें समदर्शी पुरुष मेरी परा भक्ति प्राप्त करते हैं" तथा "भक्तिके द्वारा मुझको विशेष रूपसे जानते हैं"—इन दो वाक्योंके द्वारा भक्ति और ज्ञानका भेद निर्देश किया गया है। ऐसा होने पर "उनको जान लेने पर मोक्ष प्राप्त होता है, मुक्तिका दूसरा उपाय नहीं है" इस श्रुतिवाक्यके साथ विरोध होता है, ऐसी आशङ्का नहीं की जा सकती है क्योंकि ज्ञान भक्तिका अवान्तर व्यापार है। "काष्ठैः पचति"—काष्ठद्वारा

पाक करता है, यह कहने पर पाक-क्रियाके प्रति अग्निका असाधनत्व नहीं कहा जाता। अतएव जिस प्रकार अग्नि भी काष्ठके समान पाक-क्रियाका साधन है, ज्ञान भी उसी प्रकार मृत्युको अतिक्रम करनेका साधन है। इसलिए देवतामें "जिसकी परा भक्ति है तथा गुरुमें भी जिसकी उसी प्रकार भक्ति है, उसी महात्माके सामने यह सब तत्त्वज्ञान प्रकाशित होता है"। "देहान्त होने पर देवता (इष्टदेव) तारक ब्रह्मका उपदेश करते हैं" तथा "जिसके ऊपर भगवान् कृपा करते हैं उसके द्वारा ही वह लभ्य होते हैं" इत्यादि श्रुति, स्मृति और पुराणोंके वाक्योंका सामञ्जस्य होता है, अतएव यह सिद्ध हुआ कि भक्ति ही मोक्षका हेतु है।

उन्हींकी प्रदान की हुई बुद्धिके द्वारा उन्हींकी गीताकी विवृति (सुबोधिनी टीका) की गयी। इसके द्वारा परमानन्द माधव प्रसन्न हों।

उस परमानन्दके श्रीपाद-पद्मोंके परागकी शोभाको धारण करने वाले श्रीधरस्वामी यतिके द्वारा यह सुबोधिनी टीका सम्पन्न हुई।

गुरुकृपारूपी अमृतदृष्टिके बिना अपने प्रागल्भ्यके बलसे भगवद्गीताका आलोड़न कर तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जैसे अपनी अञ्जलिके द्वारा समुद्रजलको आलोड़न कर जलमध्यस्थ मणियोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला पुरुष सत्कर्णधारके बिना भँवरमें डूब जाता है, उसी प्रकार गुरुकी कृपाके बिना गीतातत्त्व नहीं जाना जा सकता ॥७८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताकी सुबोधिनी टीकाका अनुवाद परिसमाप्त।

आध्यात्मिक व्याख्या—कृष्ण जिस ओर हैं उस ओर जय है अर्थात् कूटस्थकी ही जय है।— मनुष्य देहभावमें मत्त होकर जितना ही उनको भूला रहे, एक न एक-दिन देहातीत कूटस्थ चैतन्यकी ओर उसकी दृष्टि पड़ेगी ही। एक दिन आयेगा जब वह सब भूलकर प्रकृतिके सुदृढ़ वेष्टनको लाँघकर परमात्माके सन्निधानमें उनके चरण-प्रान्तमें आकर मिल जायगा। साधु क्रियावान् पुरुष, जिनके रजस्तम प्रक्षीण हो गये हैं और जिनका सत्त्वगुण यथेष्ट वृद्धिको प्राप्त हुआ है, वे एक न एक दिन गुणातीत अवस्थामें पहुँच सकेंगे। अतएव हे क्रियावान् पुरुष, गुण-विध्वंसी इस क्रियायोगके अनुष्ठानके द्वारा परम पदमें प्रतिष्ठित हो जाओ और अपने जीवनको सफल करो।

परमानन्दका संवाद जिन महापुरुषोंके द्वारा चतुर्दिक वितरित होता है तथा जो महापुरुष दीपवर्त्तिका हाथमें लेकर पथ-प्रदर्शन करके जगत्-जीवोंका कल्याण करते हैं वे योगीश्वर पुरुष जययुक्त हों ॥७८॥

इति श्यामाचरण-आध्यात्मिकदीपिका नामक गीताके अष्टादश अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त॥

श्रीगुरुचरणकमलावलम्बनम्

———

समस्त गीताका सारांश

भक्ति या श्रद्धाके बिना योगाभ्यासादिमें प्रवृत्ति नहीं होती। योगाभ्यासमें प्रवृत्त पुरुषके प्राण, मन और बुद्धि स्थिर होती हैं। स्थिर मनमें ही आत्मा सर्वापेक्षा प्रियतम जान पड़ता है। भक्तिके द्वारा यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि भगवान् या आत्माके बिना हमारा अस्तित्व नहीं है। हमारे प्रभु ही सर्वभूतोंमें अधिष्ठित हैं, इस प्रकारकी धारणाके फलस्वरूप विश्वके सब पदार्थोंमें उनकी धारणा करना संभव है। भगवान्का विश्वरूप दर्शन होने पर पृथक्रूपमें जगत्की वस्तुओं या देहादिमें फिर वैसी आसक्ति नहीं रह सकती। इस अवस्थामें सर्वविषयोंमें निर्लिप्तता उदित होती है। निर्लिप्त भावसे ज्ञानकी उज्ज्वलताकी वृद्धि होती है तथा वृद्धि प्राप्त होते होते ज्ञानका चरम उत्कर्ष प्राप्त होता है। पश्चात् स्वरूपमें अवस्थान होता है। योगाभ्यासके द्वारा साधक योगबलसे विभूषित होता है तथा योगबलसे साधकको असाधारण दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। दिव्य दृष्टिसे विशुद्ध प्रज्ञाका उदय होता है तथा उससे परम पुरुषका साक्षात्कार होता है। पुरुष-दर्शनके बिना देहात्मभावना निवृत्त नहीं होती। पुरुषका ज्ञान होने पर भगवान् वासुदेवकी मायाशक्तिका प्रकृत स्वरूप अवगत हो जाता है तथा जीव जो भगवान्के साथ अभेद-भावसे सम्बद्ध है, इसका ज्ञान भी साधकको हो जाता है। इस ज्ञानके द्वारा ही विष्णुका परम पद प्राप्त होता है। भागवतमें श्रीनारदजी कहते हैं—

येनैवाहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः।
मायानुभावमविदं तेन गच्छन्ति तत्पदम्॥

जिस भगवत्तत्त्वज्ञानके द्वारा विश्वव्यापी वासुदेवकी मायाके प्रभावको मैंने जाना है उसी ज्ञानके द्वारा विष्णुके परम पदका साक्षात्कार होता है। परन्तु जबतक माया उपरत नहीं होती तबतक जीव अपनेको सम्पन्न नहीं समझ सकता। मायाके निवृत्त होने पर साधक समझ पाता है कि किस प्रकार भगवान्की अचिन्त्य मायाशक्तिके प्रभाववश पुरुषसे कारण, सूक्ष्म और स्थूल देहमय प्रकृतिका आविर्भाव तथा उसका क्रमशः विकास होता है। गुणत्रयके विविध संयोगसे ही यह अनन्त रूपमय जगत् प्रस्फुटित होता है। यह वस्तुतः एकके ही विविध परिणाम-मात्र हैं। गुणत्रयकी कार्य-परम्परासे ही ये विविध दृश्य वस्तुएँ तथा पृथक् भावादि अनुभूत होते हैं। परन्तु सबका मूल वही एक वस्तु है और उस एकसे समस्त वस्तुएँ अभिन्न हैं। जबतक सबके मूलस्वरूप इस एकमें हम नहीं पहुँचते, तबतक नानात्व-दर्शन नष्ट नहीं होता। नानात्व-दर्शन अज्ञानका दूसरा नाम है। श्रुति कहती है—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ कठ० उप०।

जो आत्म-चैतन्य इस देह-पुरमें प्रकाशित है वही आत्मा प्रकृतिकी अतीतावस्थामें है। जो ब्रह्मचैतन्य मायातीत भावमें विराजित है, वही चैतन्य इस देहमें है। जो आदमी इस ब्रह्म-चैतन्यमें पृथक् पृथक् भाव देखता है अर्थात् अन्तःकरण या देहकी भिन्नताके वश देहस्थित आत्मा और ब्रह्मकी भिन्नताका दर्शन करता है वह मृत्युके बाद मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् उसको पुनः पुनः जन्म-मृत्युके अधीन होना पड़ता है।

गुणत्रयसे जीवको नानात्व-दर्शन होता है। सब इन्द्रियाँ प्रकृतिके ही गुण हैं। ये सर्वदा बाह्य पदार्थोंको देखती हैं, अन्तरात्माको नहीं जान सकतीं। बहिर्दृष्टिसे इनमें इतनी जड़ता आ जाती है कि ये स्थूल जड़भावके सिवा अन्य तत्त्वोंको नहीं समझ पातीं। प्रकृतिजात इन्द्रियोंकी सेवा करते-करते जीवकी भी यह जड़ता बद्धमूल हो जाती है और उसका आन्तर ज्ञान आच्छादित हो जाता है। इनके पञ्जेसे बचनेके लिए ज्ञानी लोग अपनी प्रकृतिमें सत्त्वगुणकी वृद्धिके निमित्त विशेष चेष्टा करते हैं। शास्त्रमें इसके लिए नाना प्रकारके नियम निर्दिष्ट हुए हैं। रजस्तमो-गुणजनित आवरण और विक्षेप इतने अधिक होते हैं कि स्वरूप-दर्शन असंभव हो जाता है। सत्त्वगुण भी आवरक तो है, परन्तु वह इतना स्वच्छ है कि उससे स्वरूप-दर्शनमें विघ्न नहीं होता। स्वरूप दर्शन होने पर अज्ञान, जड़ता, प्रमाद आदि तमोभाव तथा लोभ, कर्मचेष्टा, विषयस्पृहा आदि रजोभाव पूर्णतः तिरोहित हो जाते हैं। जो आत्मचैतन्य सर्वव्यापी है उसको भी रजस्तमो-भावके पूर्णतः दूर हुए बिना कदापि नहीं जान सकते। रजस्तमोभावको पूर्णतः दूर करनेके लिए ही ज्ञानी लोग निष्काम भावसे या भगवदर्पितचित्तसे कर्म करना आवश्यक समझते हैं। क्रियाभ्यास ही सर्वापेक्षा उत्कृष्ट निष्काम कर्म है। इस क्रियारूप निष्काम साधनासे ही परावस्थारूप ज्ञानमें स्थिति-लाभ होता है। यह स्थिति सुदीर्घकाल-व्यापी होने पर साधकको जीवन्मुक्त कर देती है। योगा-भ्यासरूप उपायके द्वारा ही यह साध्य है। रजस्तमका बाहुल्य ही विशुद्ध सत्त्वका आवरक है। जब बुद्धि सत्त्वरजस्तम द्वारा अभिभूत नहीं होती, तब वैशारदी समाधिका उदय होता है। इसके द्वारा योगीको आत्मसाक्षात्कार-जनित अध्यात्म-प्रसाद प्राप्त होता है। इसको ही ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। इस प्रज्ञामें मिथ्याका लेश-मात्र भी नहीं रहता। जैसे नदी उत्तीर्ण हो जाने पर नौकाकी आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार क्रियाकी परावस्थामें ज्ञेय-परमात्माके साथ निज आत्माकी अभिन्नता प्रत्यक्षीकृत होने पर फिर क्रिया-साधनकी आवश्यकता नहीं रह जाती। उसके पहले क्रिया त्याग करना अत्यन्त अनिष्टकर है। यही बात गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अनेक प्रकारसे समझानेकी चेष्टा की है। "न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः" (ऋग्वेद)—साधनाके श्रमसे जबतक अपनेको परिश्रान्त नहीं किया जाता, तबतक देवता कोई सहायता नहीं करते।

अठारहवाँ अध्याय गीताका संक्षिप्त सार है। इसकी आलोचनासे जान पड़ता है कि मनुष्य साधनामें जब सिद्धि प्राप्त करता है तो उसको आत्म-

साक्षात्कारकी प्राप्ति होती है। यह कैसे प्राप्त करना चाहिए, इस बातको भगवान्ने १८ वें अध्यायमें ५० से ५४ श्लोक तक अर्जुनको समझाया है। पहले स्वकर्मके द्वारा ईश्वर-आराधनामें रत होने पर भगवत्कृपासे साधकका सर्वकर्म-त्याग होता है। क्रिया करके जब क्रियाकी परावस्थामें साधककी स्थिति होती है, तब उसके प्रसादसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और विषय-वासनासे चित्त उत्क्षिप्त नहीं होता। चित्तशुद्धि ही ज्ञानोत्पत्तिकी योग्यता प्रमाणित करती है। क्रियाकी परावस्थामें जिसकी जितनी ही स्थिति होती है, उसको उसी परिमाणमें ज्ञानोदय होता है। ब्रह्मप्राप्ति या निःशेषरूपसे क्रियाकी परावस्थामें स्थिति ही साधनानुष्ठानकी या क्रियाकी सर्वोत्कृष्ट परिसमाप्ति है। इसके लिए साधकको ये अभ्यास करने पड़ते हैं—(१) काय-मन-वचनका संयम, (२) लघु आहार, (३) निर्जन स्थानमें वास या जनसङ्गका त्याग, (४) दर्प, क्रोध और परपीड़ा-वर्जन तथा निरहङ्कार होकर सर्वदा योगाभ्यासमें लगे रहना अर्थात् ध्यान-धारणाका अभ्यास करना। इनसे चित्त ममता-रहित और शान्त हो जायगा। इस प्रकार योगी ब्रह्मसाक्षात्कारका सामर्थ्य प्राप्त करेगा।

ब्रह्मभूत योगीके कौनसे लक्षण स्फुटित हो उठते हैं, यह ५५वें श्लोकमें कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

परा भक्तिके द्वारा मुझ अखण्डानन्द द्वैतरहित ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। तब प्रारब्ध-कर्मका अवसान होने पर (अज्ञानकार्य देहादिकी निवृत्तिके साथ-साथ) जैसे घटनाश होने पर घटाकाश महाकाशके साथ एक हो जाता है उसी प्रकार उपाधिसे मुक्त हुआ साधक आत्माकारमें स्थिति लाभ करता है। दर्पणके भङ्ग होने पर जैसे प्रतिबिम्ब नहीं रहता, उसी प्रकार आत्माकारमें स्थित साधककी सर्वोपाधिका क्षय हो जाता है।

श्रद्धापूर्वक क्रिया करते-करते जब मन विक्षेपशून्य होकर स्थिर होता है, तब चित्ताकाशके समस्त मल विधूत हो जाते हैं। तब फिर दूसरी किसी सत्ताका चिह्न पर्यन्त नहीं रह जाता। सारे तत्त्व तब तत्त्वातीत अवस्थामें विलीन हो जाते हैं। तभी निज स्वरूप-सत्ताका प्रकृत ज्ञान होता है। यह ज्ञान हो जाने पर फिर ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानका पृथक् बोध नहीं होता, उस समय सब ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। 'मैं क्या हूँ' यह जानने पर ज्ञाता 'मैं' ज्ञेय 'मैं' के भीतर लय हो जाता है। यही द्वैताद्वैत-शून्य चिद्घनानन्दरूप आत्मप्रत्यय है, यह क्रियाकी परावस्थामें जाना जाता है। गीतामें कहा गया है कि चित्तरूप यन्त्रमें जो भावनामय कर्मबीज रहते हैं, उनका स्फुरण ईश्वरकी इच्छासे होता है, यह जान लेने पर जीवके कर्म नष्ट हो जाते हैं। जबतक यह धारणा बनी है कि मैं कर्म करता हूँ, तबतक उस कर्मका शुभाशुभ फल मुझको भोगना पड़ता है। जब यह समझमें आ गया कि कर्म मेरे नहीं हैं, तब कर्मका नाश हो गया। तब फिर कर्म मुझे नहीं जकड़ सकते। कर्म क्यों होता है तथा ईश्वरको क्यों

सब कर्मोंका कर्त्ता या मालिक कहते हैं, यह क्रियाकी परावस्थामें हृदयमें स्थिति होने पर समझमें आ जाता है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

जो 'मत्परः' हैं अर्थात् सर्वदा आत्मामें रहते हैं, उनको जान पड़ता है कि सब कर्म ब्रह्म ही कर रहा है। बुद्धि-योगका आश्रय करने पर यह जाना जाता है अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें स्थिरचित्त (बुद्धियोग-युक्त) योगी अपने आपमें रहता है तथापि सब कर्म होते रहते हैं। 'मच्चित्त' हो जाने पर उस चित्तमें फिर संसारबीज नहीं रहता, अतएव संसारमें आवागमन या पुनः पुनः देह-धारणरूप अशेष दुर्गति मिट जाती है।

इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिए सर्वभूतस्थित ईश्वरके शरणागत होना पड़ता है। क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम ये ही सर्वभूत हैं। इनके स्थान देहस्थ मेरुदण्डमें क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्धाख्य चक्र हैं। साधन-कालमें साधकको इसी मार्गसे गमनागमन करना पड़ता है। ईश्वर या परमात्मा सर्वभूतोंके हृद्देशमें या चक्रोंके ठीक केन्द्रमें अवस्थित हैं। प्रति चक्रकी क्रिया उस केन्द्रमध्यस्थ शक्तिकी प्रेरणा है। उससे ही हमको भूमि आदि पदार्थोंका ज्ञान हो रहा है। इस ज्ञानके द्वारा ही चित्त बहिर्मुख होता है। परन्तु मूलाधार आदि पञ्च चक्रोंके भीतर ब्रह्माकाश (सुषुम्नाके भीतर वज्रा, वज्राके भीतर चित्रा तथा चित्राके भीतर ब्रह्माकाश) रहता है, वही ईश्वर है। उसके ही शासनसे चक्रमध्यस्थ तत्त्व अपने-अपने कार्यमें सतत लगे रहते हैं। जबतक क्रिया द्वारा उन चक्रोंके केन्द्रभूत ब्रह्मनाड़ीके भीतर चित्त प्रवेश नहीं करता, तबतक ईश्वरके शरणागत नहीं हो सकते। जो इस प्रकार शरण-ग्रहण करता है वही भाग्यशाली पुरुष क्रियावान् है। उसे ही ईश्वरके प्रसादसे परम शान्ति प्राप्त हो सकती है।

प्रश्न हो सकता है कि सूत्रधार जैसे यन्त्रद्वारा पुतलियोंको अपनी इच्छाके अनुसार नचाता है, ईश्वर भी उसी प्रकार सब जीवोंके हृदयमें अधिष्ठित होकर माया द्वारा सांसारिक जीवोंको स्वस्वकार्यमें प्रेरणा प्रदान करते हैं, जीवको स्वतन्त्रता नहीं है। यह बात सुनकर भय हो सकता है, क्योंकि ऐसी दशामें मुक्ति-प्राप्तिकी चेष्टा जीवके लिए एक बड़ी विडम्बना है तथा समस्त शास्त्रवाक्योंका भी कोई मूल्य नहीं रह जाता। इसका उत्तर यह है कि आत्मा स्वयं प्रकृतिके वश नहीं है, वह मुक्त और सदा स्वाधीन है। उसके मुक्त होनेके कारण ही चित्प्रतिबिम्ब-रूप जीवकी मुक्ति-प्राप्तिकी इच्छा स्वाभाविक होती है। इसी कारण प्रकृति चाहे कितनी ही प्रबल क्यों न हो, जीवको आत्मानुसन्धानसे वह विरत नहीं कर सकती। आत्मा ही जीवात्माका प्राण है। इस प्राणसे जीव कभी वियुक्त होने वाला नहीं है, परन्तु मायावश देहेन्द्रियके प्रति बद्धदृष्टि होनेके कारण जीव अपने स्वरूपको भूल गया है। इस अवस्थामें भी जीव और परमात्मा परस्पर एक और अभिन्न हैं। जीव प्रकृतिके परवश है यह सच है, परन्तु जीवको मुग्ध करनेकी प्रेरणा प्रकृतिको ईश्वरसे ही मिलती है। पुनः प्रकृतिकी

दासतासे मुक्त होनेकी प्रेरणा भी जीव ईश्वरसे ही पाता है। ईश्वर एक ओर जैसे जन्म-मृत्युकी तरङ्गोंसे रहित, सदा अच्युत और मुक्त है, दूसरी ओर उसी प्रकार जीवरूपमें वह जन्म-मृत्यु, सुख-दुःखके उत्ताल तरङ्गोच्छ्वाससे सदा स्पन्दित और विभीषिकामय है। जीव अज्ञानवश जबतक बहिर्दृष्टिसम्पन्न रहता है, तबतक वह प्रकृति-परवश रहता है। तबतक यन्त्रकी पुतलीके समान प्रकृतिके आदेशको माननेके लिए बाध्य होता है, तबतक वह कदापि प्रकृतिकी उपेक्षा नहीं कर सकता। प्रकृतिकी यह प्रेरणा भी भगवत्-शक्ति है, अतएव जो सर्वतोभावेन भगवान्के शरणापन्न होता है उस भक्त योगीका ईश्वरके प्रसादसे संसार-बन्धन छूट सकता है। इसके लिए ईश्वरको कोई उद्वेग नहीं होता और न कोई सङ्कल्प करना आवश्यक होता है। समुद्रके समीप पहुँचने पर धूपसे सन्तप्त मनुष्य जैसे समुद्रकी स्वाभाविक स्निग्ध वायुके द्वारा सुस्निग्ध होता है, उसी प्रकार जो भगवान्के समीप पहुँचता है, ईश्वरमें स्थित स्वतःसिद्ध शान्ति भी उसी प्रकार उसे संसार-तापसे विमुक्त कर देती है। भगवान्को इसके लिए कोई सङ्कल्प नहीं करना पड़ता। इसका प्रमाण यह है कि योगी जब क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें पहुँचता है, तब वह शान्तिलाभ करके परितृप्त होता है, उसको उस समय वासना और सङ्कल्प नहीं रहते। क्रियाकी परावस्थाका घनीभूत स्वरूप ही मदनमोहन श्यामसुन्दर रूप है। इस परावस्थामें जो तृप्ति, जो आनन्द होता है, वह आनन्द और किसी वस्तुमें प्राप्त होना सम्भव नहीं है। वह सचमुच साक्षात् मन्मथ-मन्मथ है। वही पुरुषोत्तम नारायणकी नित्य शाश्वत मूर्त्ति है, अतएव वह मोक्ष और नित्य अखण्ड आनन्दका एकमात्र आश्रय है।

जो अधिष्ठान-रूपमें इस समस्त जगत्में व्याप्त है, वह अविनाशी है। देही कूटस्थ और नित्य है, शरीर नष्ट होने पर भी कूटस्थ नष्ट नहीं होता। वह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। वह नित्य सर्वव्यापी, रूपान्तर-रहित और अनादि है। वह चक्षु आदि इन्द्रियोंके अगोचर है, कर्मेन्द्रियोंके भी अगोचर है तथा मनके भी अगोचर है। यह कूटस्थ देही ब्रह्मस्वरूप है। वह जैसा है वैसा ही है और रहता है। इस देहको ही यौवन-जरा आदि विविध अवस्थान्तरकी प्राप्ति होती है। जिसकी बुद्धि इस कूटस्थ-ब्रह्ममें स्थिर हो गयी है, वह इन सब विकारोंको देखकर मुग्ध नहीं होता। पञ्च तन्मात्राओंका व्यक्त भाव यह शरीर है। यह क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम इन पञ्च सूक्ष्म भूतोंकी समष्टि है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्धाख्य ये चक्र पञ्च भूतोंके लीलास्थल हैं। प्रणवाख्य देह ही अकार, उकार, मकार और नाद-बिन्दुका अधिष्ठान है। इन सबके परे कूटस्थ ब्रह्म है जिसका स्थान आज्ञाचक्र है। यहाँ जब वायु स्थिर होती है तब साधकको ज्ञात हो जाता है कि वह मात्रारहित, शब्दातीत तथा नाद-बिन्दु-कलातीत है। मात्रास्पर्शका बोध होता है वायुके चाञ्चल्यके कारण। क्रिया द्वारा जब वायु स्थिर हो जाती है तब विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध छिन्न हो जाता है। मात्रास्पर्शके वर्त्तमान रहते कोई सुख-दुःखादि

गीतामें जीवका स्वरूप

द्वन्द्वोंसे रहित नहीं हो सकता। जब मात्रा-स्पर्शसे साधक वर्जित हो जाता है तब उसको सुख-दुःखका स्पर्श भी नहीं होता। तब एक परमानन्द अवस्थाका साक्षात्कार होता है। उस समय मन मत्त मधुकरके समान नशेमें विभोर होकर बैठ जाता है। वेदादि-शास्त्रोंमें इसका ही वर्णन है। वह उत्तम पुरुष सबके अतीत है, सर्वदा वायुके स्थिर होने पर ही इसका अनुभव होता है। जैसे मृत देहमें किसी व्यथाका अनुभव नहीं होता, उसी प्रकार जिसकी वायु स्थिर हो जाती है उसको भी किसी व्यथाका अनुभव नहीं होता। कूटस्थको कोई व्यथा नहीं होती क्योंकि वह स्थिर और अमर है। जो इस ॐकार-रूप शरीरमें प्रच्छदंन-विधारण नहीं करता, वह स्वभावरूप स्थिर पद या ब्रह्मपदको नहीं जान सकता। स्थिर पदको न जान सकना ही अज्ञान है। यह अज्ञान जिसमें जितना है, उसके लिए उतना ही क्लेशभोग करना अनिवार्य है।

गीतामें कर्मतत्त्व, पुरुषोत्तम योग, दैवासुर-सम्पद्, संन्यास और त्यागके भी विषय आलोचित हुए हैं, ये ही गीताकी विशेषताएँ हैं।

जीवका कर्म ही देहादिरूपमें परिणामको प्राप्त होता है, इसीलिए भगवान्ने १८ वें अध्यायमें कर्मतत्त्वकी विशेषरूपसे आलोचना की है। अष्टम अध्यायमें अर्जुनके

गीताका विशेषत्व
(१) कर्मतत्त्व

इस प्रश्नका कि 'कर्म क्या है' उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—"भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः"—जीवके भीतर जो नाना शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं उनका विकास-साधन करना तथा देवोद्देश्यसे उनका त्याग करना ही कर्म है। देवोद्देश्यसे त्याग किये बिना भी कर्म होता है, परन्तु वह बाह्य कर्म है, उससे जीव केवल बन्धनमें पड़ता है। जिस कर्मके द्वारा कूटस्थ अक्षरमें मन स्थिर रहता है तथा जिस स्थिरतासे उत्तम पुरुषका दर्शन होता है वही असल आध्यात्मिक कर्मका उद्देश्य है। उसके बिना त्याग नहीं हो सकता। मन यदि भोगासक्तिमें रत होकर कर्म करता है तो उस कर्मके फलसे आध्यात्मिक भाव नहीं जागता। क्रियासाधन ही एकमात्र कर्म है जिसके द्वारा दैवी शक्ति प्रबुद्ध होती है। यह तो हुआ कर्मसाधनका उद्देश्य। कर्म किस प्रकार सम्पादित होता है—इसको जान लेने पर फिर अपनेको कर्मका कर्त्ता समझकर विड़म्बित होना नहीं पड़ता। इसीसे भगवान्ने बतलाया है कि कर्मसाधनके हेतु ये हैं—(१) अधिष्ठान—यह शरीर, (२) सदसद् अहङ्कार जो कर्मका कर्त्ता है, (३) चक्षु आदि इन्द्रियाँ जो कर्म करनेके करण या यन्त्र हैं, (४) कर्म करनेके लिए कर्त्ताकी विविध चेष्टायें जो देह-मध्यस्थ प्राणापानादि वायुसमूहोंके द्वारा होती हैं, (५) कर्म करनेके लिए प्रेरणा देने वाली एक अज्ञात शक्ति जिसको दैव कहते हैं। कोई कोई धर्माधर्मके संस्कारको ही उसका कारण बतलाते हैं तथा कोई कोई उसको जीवके हृदयस्थ अन्तर्यामीकी प्रेरणा बतलाते हैं। एक शब्दमें इसीको भगवदिच्छा कहते हैं। यह भगवदिच्छा ही कर्मका मूलीभूत बीजस्वरूप है। कितने ही कल्प-कल्पान्तरोंसे, कितने ही जन्मोंतक जीवमात्र इस मूल कारणका आश्रय लेकर विचित्र कर्मसंस्कारोंके द्वारा सम्बद्ध हैं। किसीको भी इसे अस्वीकार करनेकी शक्ति नहीं है। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्मा कहते हैं—

वयं भवस्ते तात महर्षिर्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम्।
न तस्य कश्चित् तपसा विद्यया वा न योगवीर्येण मनीषया वा।
नैवार्थधर्मैः परतः स्वतो वा कृतं विहन्तुं तनुभृद्भिर्भूयात्॥
भवाय नाशाय च कर्म कर्त्तुं शोकाय मोहाय सदा भयाय।
सुखाय दुःखाय च देहयोगमव्यक्तदिष्टं जनताऽङ्ग धत्ते॥
यद्वाचि तन्त्यां गुणकर्मदामभिः सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः।
सर्वे वहाम बलिमीश्वराय प्रोतानसीव द्विपदे चतुष्पदः॥

शिव, नारद प्रभृति हम सभी विवश होकर उनकी आज्ञा वहन कर रहे हैं। कोई भी जीव विद्या, योग या बुद्धिके बलसे उनकी आज्ञा अन्यथा करनेमें समर्थ नहीं है। हे प्रियव्रत! जीवसमूह जन्म-मरणादि-सुख-दुःखका भोग करनेके लिए ईश्वरप्रदत्त शरीरादिको धारण करते हैं। चतुष्पदादि जन्तु जैसे नकेलमें बँधकर मनुष्यकी इच्छाके अनुसार कर्म करते हैं, उसी प्रकार हम भी गुणकर्ममें बद्ध होकर ईश्वरकी इच्छासे उनके निमित्त कर्म करते हैं।

जबतक देह रहती है, तबतक इस महानियति, ईश्वर-सङ्कल्प या दैवका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता। इस मूलीभूत बीजका कभी नाश नहीं होता। यहाँ तक कि जीवके मुक्त होने पर भी उसकी प्रकृतिमें उस समय भी यह बीज या संस्कार कार्य करता है। तब यदि यह सोचो कि मुक्त होनेसे क्या लाभ हुआ, तो इसका उत्तर यह है कि मुक्त पुरुष प्रकृतिसे अपनेको भिन्न समझता है, इस कारण प्रकृतिके कार्यको कभी स्वकार्य समझ कर भ्रममें नहीं पड़ता। इसीसे भगवान् कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमान् लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

शरीरादिके कर्ममें जिसको 'नाहंकृतः' अर्थात् मैं कर्त्ता हूँ इस प्रकारका भाव नहीं होता तथा जिसकी बुद्धि इष्टानिष्ट कर्ममें अभिनिविष्ट नहीं होती, वह आत्मदर्शी पुरुष लोकदृष्टिमें सब प्राणियोंको हनन करते हुए भी हनन-कर्मके फलसे बद्ध नहीं होता। वसिष्ठ, नारदादिको जैसे मुक्त पुरुष कहते हैं वैसे ही भृगु-दुर्वासा भी मुक्त पुरुष हैं। वे सभी मुक्त पुरुष हैं इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु उनकी पृथक् पृथक् प्रकृतिके भीतर जो बीज निहित था उसका कार्य हुआ है और अन्त तक होगा। बद्ध और मुक्तमें पार्थक्य यही है कि बद्ध जीव प्रकृतिके कार्यको स्वकार्य समझकर सन्तुष्ट और व्यथित होता है परन्तु मुक्त पुरुष उसे स्वकार्य न मानकर प्रकृतिके कार्यसे व्यथा या आनन्दको प्राप्त नहीं होता। जो प्रकृतिको ही कर्मके कर्त्ताके रूपमें जानते हैं, वह कर्मके शुभाशुभ फलसे कभी बद्ध नहीं हो सकते।

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ये तीन कर्म-प्रवृत्तिके हेतु हैं। इन तीनोंके अभावमें कर्म सम्पन्न नहीं हो सकता। जीवन्मुक्त अवस्थामें यह त्रिपुटी जब एक हो जाती है तो मुक्त पुरुषकी कर्मप्रवृत्तिका उदय ही नहीं होता।

कर्त्ता, कर्म और करण ये तीन क्रियाके आश्रय हैं। सात्त्विकादि गुणभेदसे ये त्रिविध हैं। त्रिविध होनेके कारण कर्म-कर्त्ताके भीतर अनेक भेद लक्षित होते हैं। तत्कृत कर्मोंके भी तीन भेद हो जाते हैं। जो सात्त्विक कर्त्ता हैं, वे उत्साहके साथ क्रिया करते हैं। उनके बाहर कुछ चाञ्चल्य रहने पर भी भीतर खूब स्थिरता रहती है। वे किसी प्रकारके फलसे आसक्त नहीं होते। कूटस्थमें बहुत कुछ आश्चर्य देखने पर भी वे आह्लादमें अस्थिर होकर अपनी गौरव-वृद्धिके लिए जयडङ्का नहीं बजाते फिरते। राजसिक कर्त्ताके मनोभाव इसके विपरीत होते हैं। सात्त्विक कर्त्ता कूटस्थके भीतर कुछ देखे या न देखे, वह सब अवस्थाओंमें स्थिर रहता है, उसके मनमें कोई विकार नहीं आता। परन्तु न देखनेकी अवस्थामें तामसिक कर्त्ताका मन दुःखसे आक्रान्त हो जाता है, क्रियामें उनको फिर वैसा उत्साह नहीं रहता।

कर्त्ता, कर्म और करण

समस्त कर्म मनसे ही होते हैं। मन जब क्रिया द्वारा स्थिर होता है तो कर्मलेप नहीं लगता। जो क्रियाके द्वारा एक अविनाशी कूटस्थ ब्रह्मको सर्वभूतोंके भीतर देख पाता है, उसका ही ज्ञान प्रकृत ज्ञान है। फलाकाङ्क्षारहित कर्म या क्रियाके द्वारा जो धारणा-ध्यान-समाधि-रूप कर्म निष्पन्न होता है, वही सात्त्विक कर्म है। जिनकी सात्त्विकी बुद्धि होती है वे समझ पाते हैं कि क्रिया करनेसे ही भय दूर होता है, अतएव क्रिया करनेको कर्त्तव्यस्वरूप मानते हैं। फलस्वरूप वे मोक्ष प्राप्त करते हैं। जो क्रिया नहीं करते, वे बन्धन-दशामें रहते हैं। उनकी बुद्धि सात्त्विकी नहीं होती, इस कारण उनके प्राण सुषुम्नामें विचरण नहीं करते। जो तामसिक-बुद्धि-सम्पन्न हैं वे आलस्य और प्रमादवश क्रियाका अभ्यास ही नहीं करते. अतएव ब्रह्मके सर्वत्र रहने पर भी उनकी ब्रह्मदृष्टि नहीं होती। जो लोग श्रद्धाके साथ क्रिया करते हैं उनकी ही धारणा सात्त्विक होती है। उनके मनः-प्राणमें वेग नहीं होता। अन्तर्लक्ष्य होनेके कारण तथा उनकी इन्द्रियोंके बाह्य-ज्ञानरहित होनेके कारण आसक्तिपूर्वक किसी वस्तुमें उनका लक्ष्य नहीं पड़ता। वे अपने आपमें डूबे रहते हैं, स्थिरत्वके आनन्दमें विभोर रहते हैं। परन्तु जो लोग पञ्चतत्त्वके चकाचौंधको देखकर उसमें आसक्ति दिखलाते हैं, उनके दुःखका कभी अन्त नहीं होता। अनासक्त योगीका चित्त क्रियाकी परावस्थामें सुन्दर परव्योममें स्थिति-लाभ करता है। उसीमें उनके सर्वदुःखोंकी परिसमाप्ति होती है। वे अभय अमृतपद-प्राप्त करते हैं।

विषयासक्त दृष्टि ही प्रवृत्तिका मार्ग है, वही संसार है। इसके विपरीत भावमें जिसके मनकी स्थिति होती है, वही महादेव है।

प्राणकर्म ही 'स्वकर्म' है। इस स्वकर्मके द्वारा विश्वप्राण वासुदेव अर्चित होते हैं। जो इस भावसे उनकी अर्चना करता है, उस मनुष्यको वाक्-सिद्धि होती है, समस्त वासना-सिद्धि होती है। क्रमशः उच्च स्तरमें उठने पर साधकको कोई इच्छा नहीं रह जाती। तब वह मुक्तिलाभ करता है। इच्छा ही जीवका बन्धन-रज्जु है। क्रिया द्वारा इच्छारहित अवस्थाकी प्राप्ति होने पर आत्मातिरिक्त अन्य वस्तुमें दृष्टि नहीं रहती। तब कहा जाता है कि वह सिद्ध हो

स्वकर्म और स्वधर्म

गये हैं। तब फिर उनको मृत्युसे भय नहीं होता। यही आत्माका धर्म या स्वधर्म है। इस स्वधर्मके प्रति जिनकी आस्था नहीं है, उनका कल्याण नहीं है। जन्म-मृत्युरूप दुःख कभी उनका पीछा नहीं छोड़ता।

ब्रह्म ही ईश्वर तथा ब्रह्म ही जीव है, तब फिर जीवको इतनी दुर्गति क्यों भोगनी पड़ती है? ब्रह्म, ईश्वर और जीव स्वरूपावस्थामें एक हैं, इनका परस्पर कोई भेद नहीं है। "इदन्तु विश्वं भगवानिवेतरो"—यह दृश्यमान विश्व और जीव सब ब्रह्ममय हैं। परन्तु

ब्रह्म, ईश्वर और जीव

जब ब्रह्म मायाका आश्रय करता है तब वह जगत्कर्त्ता ईश्वरके नामसे परिचित होता है। और जब अविद्याके अधीन होता है तब ब्रह्मका जीवभाव होता है। तब वह बद्ध होता है, जन्ममृत्युके वशीभूत होता है तथा कर्मानुसार स्वर्गनरकादि भोग करता है। परन्तु इन सब भावोंमें कोई भी नित्य सत्य नहीं है। तब त्रितापकी ज्वाला किसको होती है और कौन मुक्त होता है तथा कौन मुक्त करता है, यह विशेषरूपसे आलोचनीय है। प्रकृति या मायाके तीन गुण हैं—सत्त्व, रजः और तमः। रजस्तमः जब सत्त्वके द्वारा अभिभूत होते हैं तब वह सत्त्वप्रधान गुण शुद्धसत्त्व कहलाता है। सत्त्वगुण निर्मल और प्रकाशक है, उससे ज्ञान कभी आच्छादित नहीं होता। इस शुद्धसत्त्व-भावके ऊपर जो ब्रह्मचैतन्यकी लीला देखी जाती है उससे ब्रह्मका निर्गुण भाव मानो ढँका रहता है और उसमें ही सगुण भावका खेल आरम्भ होता है। इस शुद्धसत्त्वके भीतरसे ब्रह्मको देखने पर वह सगुण जान पड़ता है। उस समय वह ईश्वर है, इस विराट् विश्वका अधिपति है, सृष्टि-स्थिति-लयका कर्त्ता है। इस शुद्धसत्त्वके भीतर जो खेल होता है एवं उससे जिस शक्तिका प्रकाश होता है वही ईश्वर-भाव है। शुद्ध ब्रह्मचैतन्य यहाँ मायामिश्रित है। मायामध्यस्थ सत्त्वगुणकी शक्ति यहाँ लीलायित होनेके कारण ब्रह्म लीलामय ईश्वरके रूपमें प्रतीत होता है। लाल काँचके भीतरसे आनेवाले प्रकाशको जैसे हम लाल प्रकाश कहते हैं, परन्तु प्रकृतितः प्रकाश लाल या हरा नहीं होता, उसी प्रकार शुद्धसत्त्वके भीतर जो चैतन्यका स्फुरण होता है वह निर्गुण होते हुए भी सगुण-रूपमें प्रतिभात-मात्र होता है। रजस्तमःके भीतर से जो चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है वह चिज्जड़का मिश्रण-भाव है। वह जीव और जगत्-रूप है। यद्यपि प्रकृतिके ही तीन गुण हैं, तथापि उनमें अनेक भेद हैं। सत्त्वगुण स्वच्छ, भास्वर और शान्त होनेके कारण वह 'मैं सुखी, मैं ज्ञानी' इत्यादि मनोधर्मोंको क्षेत्रज्ञके साथ युक्त कर देता है। रजोगुण विक्षेप-शक्तियुक्त है, अतएव रागात्मक होनेके कारण कर्मासक्तिद्वारा वह जीवको आबद्ध करता है। तमोगुण आवरण-शक्तिप्रधान होनेके कारण देहीको अकार्यमें प्रयुक्त करता है तथा अनुद्यम, निद्रा, भय आदिके द्वारा बद्ध करता है। गुण जड़ होने पर भी चैतन्यसे दीप्त होनेके कारण चेतनवत् प्रतीत होते हैं। सत्त्वगुणकी गति निरन्तर ऊर्ध्वमुख या आत्माभिमुख होती है, इसलिए वह जीवको निरन्तर निवृत्ति-मार्गकी ओर परिचालित करता है। रजस्तमोगुण इसकी विपरीत दिशामें या प्रवृत्ति-मार्गकी ओर परिचालित करते हैं। पहले कह चुका हूँ कि त्रिगुण-सम्मिलित भावसे

ही समस्त कार्य होते हैं तथापि एक समयमें एकका ही प्राधान्य रहता है जो अन्य दो गुणोंको अभिभूत करता है। जब रजस्तमोगुण प्रबल होकर विषयसुखकी ओर तीव्र वेगसे प्रधावित होते हैं, तब सत्त्वका क्षीणकण्ठ अनुच्च स्वरसे उनको प्रवृत्ति-मार्गमें जानेसे निषेध करता है और जब सत्त्व प्रबल होता है तब वह रजस्तमःको अभिभूत करके जीवको निवृत्तिपथमें परिचालित करता है। उस समय रजस्तमःके गुण काम-क्रोध, राग-द्वेष, आलस्य-जड़ताको सत्त्वगुण दबाता है। शुद्धसत्त्व-प्रतिबिम्बित चैतन्य ही ईश्वर है। वही जीवको पापपङ्कसे खींच लेता है। शुद्धसत्त्वमें रहते रहते जीवका ज्ञान इतना स्वच्छ और निर्मल हो जाता है कि उसके द्वारा वह अपने आपको मुक्त समझता है। जबतक रजस्तमोगुणमें जीव अभिभूत रहता है तबतक प्रवृत्ति और मोह-मूलक गुणद्वयमें प्रतिबिम्बित चैतन्य शोकमोहग्रस्त होकर दुःख भोग करता है। रक्त पुष्प या नील पुष्प जैसे शुद्ध स्वच्छ स्फटिकको रक्त या नील वर्णसे अनुरञ्जित करते हैं, परन्तु रक्त या नील वर्ण कभी स्फटिकको उसके स्वाभाविक भावसे विच्युत नहीं कर सकते, उसी प्रकार मायायुक्त ईश्वर-भाव या माया-मिश्रित जीवभावमें शुद्ध चैतन्य प्रकाशित होकर भी सदैव शुद्ध और सुनिर्मल रहता है। अपने आपको इस प्रकार देखने पर ही जीवन्मुक्त अवस्थामें पहुँच सकते हैं।

प्राणके भीतर ये त्रिगुण युक्त रहते हैं। प्राणका स्पन्दन ही गुणत्रयका स्पन्दन है। प्राण जब इड़ामें बहता है तब रजोगुण, जब पिङ्गलामें बहता है तब तमोगुण और जब सुषुम्नामें बहता है तब सत्त्वगुण प्रधान होता है। जब प्राण इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाके परे होकर स्थिर होता है तब ब्रह्मभाव होता है। वहाँ फिर गुणोंके खेल नहीं होते, अतएव जन्म-मरण, सुख-दुःखादि भी अनुभवके विषय नहीं रहते। इसीसे कहा जाता है कि गुणोंसे छुटकारा पानेके लिए ईश्वर या शुद्धसत्त्वभावकी शरण लो। जैसे समुद्रमें तरङ्ग होती है, वैसे ही ब्रह्मात्माके भीतर प्राणलीला होती है। प्राणके विविध स्पन्दन ही विविध कर्म हैं, उनसे ही जीव बद्ध होता है। कण्टकके द्वारा कण्टक निकालनेके समान जो प्राणकर्मके द्वारा प्राणको स्थिर कर सकता है उसका ही कर्मबन्धन छिन्न होता है तथा भवबन्धन कट जाता है। इसलिए जिससे प्राण स्थिर हो ऐसी चेष्टा सबको करनी चाहिए। क्रियाभ्यासके द्वारा ही प्राणकी स्थिरता आती है। प्राणके स्थिर होने पर मन और मनके स्थिर होने पर बुद्धि स्थिर होती है। अतएव निरहङ्कार होकर (मैं सबसे लघु हूँ) अन्य वस्तुसे मनके लक्ष्यको लौटाकर केवल क्रियामें मनको निबद्ध करो, अल्प आहार करो, अधिक बातें न करो, मनमें विविध कल्पना-जल्पना न लाओ—इस प्रकार यदि वाक्य, मन और जिह्वाको संयत कर सको तो अपने आपमें रह सकोगे। ऐसा होने पर जिसमें क्रियाका अन्त होता है, उस क्रियाकी परावस्थारूप शान्तिको प्राप्त कर स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाओगे। तब अन्य कोई व्यापार तुम्हारे मनमें अप्रसन्नता न ला सकेगा। जिसका चित्त क्रियाकी परावस्थामें लीन हो जाता है उसको फिर उद्वेग नहीं होता, शोक नहीं होता, भय नहीं होता, कोई लाभहानिका हिसाब नहीं रहता। वह चराचर सर्वभूतमें ब्रह्मको उपलब्ध करके कृतकृत्य हो जाता है। जो कुछ हो रहा है सब ब्रह्म करता है, उसका यह

अनुभव स्थिर हो जाता है। अकर्त्ता होनेके कारण उसको कर्मलेप नहीं लगता, इसलिए उसको फलभोग भी नहीं करना पड़ता। इसीसे उसके सब कर्मोंका नाश हो जाता है। यद्यपि इन्द्रियोंके द्वारा उसके सारे कर्म हो सकते हैं तथापि उसकी बुद्धि ब्रह्मलक्ष्यमें स्थिर होनेके कारण कोई कर्म उसको लिप्त नहीं कर सकता। साधु क्रियावान् लोगोंकी ऐसी ही विचित्र दशा होती है। यह तर्क या बुद्धि द्वारा समझा नहीं जा सकता। यह अवस्था जिसको होती है वही समझ पाता है।

ईश्वर जैसे साधुओंके हृदयमें रहते हैं, असाधुओंके हृदयमें भी उसी प्रकार रहते हैं। उन्हींके आदेशसे भूतमात्र इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नारूप यन्त्रमें आरूढ़ होकर स्वस्व नियतिके अनुसार परिचालित होते हैं। साधु लोग क्रियाकी दीक्षा पाकर गुरु-उपदेशके अनुसार चलते चलते अपने प्राणको सुषुम्नामें और पश्चात् सुषुम्नाके अतीत अवस्थामें पहुँचा कर स्थिर हो जाते हैं। संसारासक्त असाधु लोगोंके प्राण इड़ा-पिङ्गलाका अतिक्रमण नहीं कर पाते, अतएव अज्ञान और विषयमें आसक्त होनेके कारण वे नवीन देहसे संयुक्त होकर बारंबार जगत्में आवागमन करते रहते हैं। आत्मा त्रिगुणरहित है तथापि वही आत्मा गुणका आश्रय करके श्वासरूपमें चञ्चल होकर नाना प्रकारके कष्ट भोगता है। फिर गुरूपदेशके अनुसार चलने पर जब उसका श्वास स्थिर होता है तब वह शान्तिपद प्राप्त कर सुख-दुःखके पाशसे मुक्त हो जाता है। यही गुह्यात् गुह्यतर ज्ञान है।

जो महामाया है वही मायाधीश चैतन्य है, उसे अर्द्ध-नारीश्वर भी कहते हैं। कोई उसको पुरुष और कोई उसको ईश्वरकी स्वकीय प्रकृति भी कहते हैं। वह चाहे जो हो, वह महाशक्ति ही संसारकी स्थितिका कारण है। जो आत्मा है वही परमात्मा है। वही ब्रह्माविष्णुशिव-प्रसविनी महामाया इस निखिल विश्वकी जननी-रूपा है। वही हमारा सर्वस्व है, वही हमारा 'मैं' है। ज्ञानी लोग निजात्माके साथ परमात्माके इस अभिन्न भावको उपलब्ध करते हैं, इसी कारण वे "सोऽहं" कहा करते हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर तथा इनके अतीत परब्रह्म ॐकार-पदवाच्य है। ॐकार ही आनन्दरूपमें, पश्चात् महाशून्यरूपमें तथा अन्तमें नित्य-ज्ञान-स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है।

क्रियाभ्यासके द्वारा जब लयविक्षेपरूप अशुद्धि क्षय हो जाती है तो उस शुद्ध चित्तमें फलाभिसन्धान नहीं रहता, तब अपने 'मैं'के साथ परिचय होता है और मिथ्या अहङ्कृत 'मैं' सदाके लिए 'परम मैं'के भीतर आत्मगोपन करता है। उस समय माया नहीं रहती, अतएव मायामें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। इस प्रकार जीव-भाव सदाके लिए अन्तर्हित हो जाता है।

जन्म-जन्मान्तरके कर्मोंके अनुसार जीव आसुरी सम्पद् अथवा दैवी सम्पद्का अधिकार लेकर जन्म ग्रहण करता है। गीताके १६ वें अध्यायके ५ वें श्लोककी व्याख्यासे

दैव और आसुर सम्पद्

यह भलीभाँति समझमें आ जायगा। जो लोग आसुरी सम्पद्से युक्त हैं वे तत्त्वज्ञानके अधिकारी नहीं है। उनके लिए भगवद्भजन करना या ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। अर्जुनको भी सन्देह हुआ था कि वह इस

प्रकारके अधिकारी हैं या नहीं। इसीसे भगवान्ने उनको आश्वासन देकर कहा कि 'तुम भयको प्राप्त मत हो, तुमने दैवी सम्पद्का अधिकार लेकर जन्म लिया है, इसलिए भगवत्प्रवणता तुम्हारे लिए स्वाभाविक है।' यह दैवी सम्पद्का अधिकार जिनको नहीं है वह साधनपथमें आना ही नहीं चाहते, यदि आते भी हैं तो साधनपथमें अधिक दिन टिक नहीं पाते। अवश्य ही यह बात सुनकर बहुतेरे भयभीत होंगे, परन्तु भयभीत होकर हताश होनेकी आवश्यकता नहीं है। जिसको जन्मजन्मान्तरके अर्जित साधनाभ्यासके संस्कार हैं उनके लिए यह योगमार्ग उतना कठिन नहीं जान पड़ता, परन्तु यह अधिकार लेकर न आने पर भी इस जन्मके पुरुषार्थ द्वारा यथेष्ट दैवी सम्पद् अर्जन किया जा सकता है। कुछ लोग सोचेंगे कि जब दैवी सम्पद् लेकर जन्मग्रहण किया ही नहीं, बल्कि आसुरी सम्पद् लेकर आया हूँ, तब मेरा चित्त भगवदभिमुख कैसे हो सकता है। होना निश्चय ही कठिन है, परन्तु बिल्कुल ही नहीं होगा ऐसी बात नहीं है, अवश्य कुछ चेष्टा करनी पड़ेगी। यदि कहो कि चेष्टा आयेगी कैसे, तो इसका उत्तर यह है कि हमारी प्रकृति ही त्रिगुणमयी है, हो सकता है कि हमारे भीतर रजोभाव और तमोभाव अधिक प्रबल हों, परन्तु सत्त्वभाव सामान्य होने पर भी कुछ अंशमें निश्चय ही है। इससे बहुत काम निकल सकता है। यदि किसी शुभ मुहूर्त्तमें रजस्तमके अभिभूत होने पर सत्त्वगुणकी स्निग्ध वायु हिल्लोलित हो, तो उस माहेन्द्र क्षणमें हमारे हृदयमें भगवद्भक्तिका बीज पड़ सकता है, हम भगवदाराधनाके सुफलको हृदयङ्गम कर उपर्युक्त कार्यमें प्रवृत्त हो सकते हैं। यदि मनका वेग एक बार भी भगवदभिमुख धावित होता है तो अवश्य ही वह हमें दैवी सम्पद्का अधिकारी बना देगा, वह चाहे अत्यल्प भावमें ही क्यों न हो। एक जन्मकी सामान्य चेष्टा भी परजन्ममें दैवरूपमें बदल सकती है। यह दैवानुग्रह हमको भगवत्-जिज्ञासु बनाकर हमारे जीवनको सफलताकी ओर बढ़ा सकता है। इस जन्मका दैव पूर्वजन्मके पुरुषार्थका ही फलमात्र है। वह दैव ही पुनः पुरुषार्थको वेगयुक्त करेगा। दैव और पुरुषार्थमें किसका प्राधान्य अधिक है, यह निर्णय करना सहज नहीं। दैव बीजस्वरूप है और पुरुषार्थ क्षेत्रस्थानीय है। क्षेत्र अच्छा होने पर अपकृष्ट बीज भी उत्कृष्ट शस्य उत्पादन करता है। क्षेत्र अच्छा न होने पर उत्कृष्ट बीज भी उत्तमफल उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता। परन्तु दोनोंके संयोगके बिना कुछ नहीं होता। पुरुषार्थ प्रबल होने पर यदि दैव क्षीणबल भी हो तो हताश होनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि भगवान् स्वयं पौरुष-रूपमें प्रत्येक मनुष्यके भीतर विराज रहे हैं। अतएव हमारे अदृष्टमें जो है वही होगा, यह सोचकर हमें अपने कर्मोद्यम और आत्मचेष्टाको शिथिल नहीं करना चाहिए। वसिष्ठजी कहते हैं—

परं पौरुषमाश्रित्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्णयन्।
शुभेनाशुभमुद्युक्तं प्राक्तनं पौरुषं जयेत्॥

प्रबल पुरुषार्थका अवलम्बन करके दाँतसे दाँत पीसकर इस जन्मके शुभकर्मके द्वारा प्राक्तन अशुभ-कर्म-फलको जीतना चाहिए।

अतएव हमारा अदृष्ट अच्छा नहीं, यह कहकर चुपचाप बैठे रहनेसे काम न चलेगा। जो उद्योगी है उसके उद्योगका फल ही दैवरूपसे आकर आविर्भूत होगा तथा प्राक्तन अशुभ फल भी धीरे धीरे विनष्ट हो जायगा।

दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान—ये आसुरी सम्पद् हैं। राजसिक और तामसिक प्रकृतिके लोगोंके ये स्वभावजात गुण हैं। जो निर्भीक और शुद्धचित्त हैं, जिनकी कर्ममें तत्परता और ज्ञानमें निष्ठा है, जिनकी बाह्येन्द्रियाँ संयत हैं, जो दान करते हैं यज्ञ करते हैं, शास्त्राध्ययन करते हैं, तपस्या करते हैं तथा जो सरल, लोभहीन, श्रद्धालु, अक्रूर, अचञ्चल, तेजस्वी, क्षमाशील, शुचि, अनभिमानी और अहिंसक हैं, जिनको कुकर्म करनेमें लज्जा आती है, परनिन्दा और परद्रोह करना जिन्हें अच्छा नहीं लगता, जिनका चित्त भगवद्भजन करनेमें आनन्द पाता है तथा भजनके फलस्वरूप जिनका चित्त स्थिर और शान्त हो गया है वे ही दैवबलसे बलिष्ठ हैं। उनकी तपस्या और आत्मान्वेषण निश्चय फलीभूत होंगे। इसके लिए उद्योग चाहिए, निरुद्यम होकर बैठे रहनेसे काम न चलेगा। भगवान्‌ने गीतामें कहीं भी निश्चेष्टताको प्रश्रय नहीं दिया है।

गीताका "पुरुषोत्तम-तत्त्व" गीताकी एक विशेषता है। जीव और जगत्के भीतर दो शक्तियाँ खेल कर रही हैं—एक स्थिर और नित्य है तथा दूसरी चञ्चल और सदा परिवर्तनशील। परन्तु यह स्थिर वस्तु न रहने पर जो सदा परिवर्तनशील है उसके अस्तित्वकी कल्पना नहीं की जा सकती। नित्य और अनित्य दो वस्तुओंमें एकको क्षर और दूसरेको अक्षर कहते हैं। आत्माका कूटस्थ अपरिणाम-भाव ही अक्षर पुरुष है और आत्माका नाना रूपोंमें प्रकाश या परिणामशील भाव ही क्षर पुरुष है। इस अक्षर अपरिणामी कूटस्थ-भावको आश्रय करके क्षर पुरुषका अस्तित्व वर्त्तमान रहता है। अक्षर पुरुष ही आत्माका सत्य बिम्ब है, तथा उससे जो सहस्र सहस्र (यथा पावकात् विस्फुलिङ्गाः) प्रतिबिम्ब उत्पन्न होते हैं, वे क्षर भाव हैं। पुरुषोत्तमके साथ अक्षरका बहुत सादृश्य है, अतएव पुरुषोत्तमको भी अक्षर कहते हैं। क्षरको भी पुरुष कहते हैं क्योंकि चित्का प्रतिबिम्ब पड़कर क्षर भी चैतन्यमय जान पड़ता है। यह क्षर पुरुष सर्वदा बहिर्दृष्टि-सम्पन्न है, इसी कारण वह निज स्वरूपके विषयमें अनभिज्ञ है। एक आत्मा ही नाना रूपोंमें दृष्ट हो रहा है, इसको न समझकर जो नानात्वरूप भेद-दर्शन करते हैं, उनका विनाश अवश्यम्भावी है अर्थात् उनका पुनः पुनः आवागमन कदापि निवृत्त नहीं होता। यही प्रकृत पक्षमें विनाश कहलाता है।

पुरुषोत्तम योग

तदिदं भगवान् राजन्नेक आत्मात्मनां स्वदृक्।
अन्तरोऽन्तरो भाति पश्यतं माययोरुधा॥ भा० १ म स्क०।

यह समस्त विश्व जगत्प्रकाशक परमेश्वरका स्वरूप है, परमेश्वरके सिवा यह विश्व और कुछ भी नहीं है। वह एक है, उसमें नानात्व नहीं है, वही भोक्ता है और अन्तर तथा बाहर वही विराज रहा है। केवल मायावश वह नाना रूपोंमें परिदृश्यमान होता है।

समस्त परिणामी वस्तुओं तथा जीवके भीतर जो एक अपरिणामी नित्य वस्तु रहती है, जिसे यह चक्षु नहीं देख सकता, जिसको देखनेके लिए दिव्य चक्षुकी आवश्यकता होती है, जिसकी स्थिति त्रिकुटीमें है, जो योगियोंके योगपथानुगम्य है, उसे लोग नहीं समझ पाते। वह नित्य, सत्य और अविनाशी है, वही कूटस्थ अक्षर है। इस कूटस्थ अक्षरसे भी श्रेष्ठ एक उत्तम पुरुष है। कूटस्थको देखते देखते पश्चात् उस उत्तम पुरुषको देख सकते हैं। उसे ही शास्त्रमें परमात्मा कहा गया है। वह स्वर्ग, मर्त्य, पाताल—त्रिभुवनमें व्याप्त होकर तथा उसके अतीत होकर वर्त्तमान है। वही कर्त्ता है, वही ईश्वर है, वही पुरुषोत्तम परब्रह्म है। इस पुरुषका जो भाव अन्तहीन और अपरिणामी है उसीको अक्षर पुरुष कहते हैं। उसका दूसरा भाव परिणामी तथा बहुरूपविशिष्ट है। चेतन और अचेतन समस्त जीव और जगत् उससे नियमपूर्वक सम्भूत होकर उसमें ही विलीन हो रहे हैं।

जब क्षर और अक्षर ये दोनों विभाव उसीके हैं, तब वह क्षरके अतीत कैसे हो सकता है? उसको छोड़कर क्षर भाव भी नहीं टिक सकता। "ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्"—चेतन और अचेतन जो कुछ है सब उस परमेश्वरकी सत्तासे परिपूर्ण है, उसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। उसको क्षरके अतीत इसलिए कहते हैं कि उसका जो भाव देहरूपमें परिणामको प्राप्त हुआ है उसकी उपासना करके अर्थात् संसार-भोगमें आसक्त होकर कोई भी उसके प्रपञ्चातीत भावको धारण नहीं कर सकता। उसको धारण न करने पर संसारासक्त दृष्टिके कारण वे महाविनाशको प्राप्त होते हैं अर्थात् मृत्युके कवलसे उनका परित्राण नहीं हो सकता। केनोपनिषद्में लिखा है—"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः"। इस संसारमें रहकर या इस देहमें रहकर यदि ब्रह्मस्वरूपको जान लिया तो यह जीवन सफल हो गया। यह सफलता-प्राप्ति ही प्रकृत जीवन है। उसके अविनाशी अटल ब्रह्मभावको यदि न जान सका तो वही मृत्यु है।

यह पुरुषोत्तम एक, अद्वितीय और अविनाशी है। वही समस्त भूतजात वस्तुओंके भीतर प्रकाशित हो रहा है, तथापि उसका कोई परिणाम या परिवर्तन नहीं है। वही ईश्वर है, वही जीवरूपमें सर्वत्र सब होकर सब कुछ कर रहा है। परन्तु यह जीवभाव चिरन्तन नहीं है, इसका नाश होता है। जो सर्वरूपमें है, वही फिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म सर्वातीत अरूप ब्रह्मभावमें भी विराज रहा है, वही शाश्वत अविनश्वर भाव है। वहाँ कोई इच्छा नहीं, अतएव करना भी कुछ नहीं है। यह अक्षरभाव अमात्र है अर्थात् जाग्रत स्वप्न और सुषुप्तिके अतीत है, इसको तुरीयावस्था कहते हैं। वह मन-वचनके अगोचर है, अतएव उसमें कोई लौकिक व्यवहार नहीं है। वह प्रपञ्चोपशम है अर्थात् जगत्सम्बन्धरहित है, वह शिवस्वरूप और अद्वैत-स्वरूप है। चित्त निरुद्ध होने पर ही इस चैतन्यरूप ब्रह्ममें प्रवेश किया जाता है।

फिर जब यह अशब्द, अस्पर्श, अरूप ब्रह्म मायामिलित भावमें अपने आपको प्रकाशित करता है, तब वह अन्तर्यामी, कर्त्ता और ईश्वरके रूपमें चिन्त्य होता है।

उस समय उसका रूप रहता है और नहीं भी रहता। उस समय वह भूतजात वस्तुमात्रमें मिला रहता है, तथापि वे उसको स्पर्श नहीं कर पाते।

प्रलयनिशामें सब कुछ भगवत्प्रकृतिमें सुप्त रहता है। उस समय कोई सृष्ट पदार्थ नहीं रहता। गुण-क्षोभ होनेके पहले तक एकमात्र निर्गुण, निराकार, निष्प्रपञ्च ब्रह्म ही विराजता है, नामरूपका कोई चिह्न-मात्र भी नहीं रहता। सृष्टिकालमें फिर—

स एव भूयो निजवीर्यचोदितां स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम्।
अनामरूपात्मनि रूपनामनी विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत्॥

वही भगवान् जीवके भोगके लिए नामरूपवर्जित जीवात्माकी नामरूपादि उपाधिकी सृष्टि करनेकी वासनासे स्वीय कालशक्तिसे प्रेरित अपने अंशभूत जीवगणोंको विमुग्ध करनेवाली सृष्टिकार्याभिलाषिणी प्रकृतिका अनुसरण करते हैं तथा सबका कर्मविधान करनेके लिए वेदादि शास्त्रोंका भी निर्माण करते हैं।

य एक ईशो जगदात्मलीलया
सृज्यत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते।

एक अद्वितीय ईश्वर, आत्मलीला प्रकट करके इस विश्वकी सृष्टि, रक्षा और संहार करते हैं, तथापि अनासक्त होनेके कारण वह इन सब कार्योंसे लिप्त नहीं होते। उस समय वह जातकर्त्ता, अन्तर्यामी और ईश्वर हैं।

वह प्रकृतिसे स्वतन्त्र होकर भी प्रकृतिको परिचालित करते हैं, प्रकृति उनके वशीभूत है, इसीसे उस समय वह प्रभविष्णु या स्रष्टा, निखिल भूतोंके पालक और उनके ग्रासकारी कहलाते हैं। ये सब कर्म करते हुए भी वह सदा निर्लिप्त हैं।

वेदान्तसूत्रमें लिखा है—"जन्माद्यस्य यतः"। सृष्टि, स्थिति और लय उन्हींसे होता है। उनके न रहने पर कुछ भी न रहता। इन सब कर्मोंके मूलमें उनका कोई निगूढ़ सङ्कल्प नहीं है, क्योंकि उनके लिए अप्राप्तव्य कुछ नहीं है, तथापि उनकी अनिच्छाकी इच्छासे यह जगत् उत्पन्न होता है, अस्तित्ववान् होता है और उनके भीतर ही लीन होता है। यह उनके अघटन-घटन-पटीयसी विचित्र मायाशक्तिका प्रभाव है। "पावकाद् विस्फुलिङ्गाः"की तरह उनसे यह अनन्त विचित्र जगत् उत्पन्न हुआ है।

आश्चर्यकी बात है कि उनके भीतर रसग्राहिता-भाव भी अपूर्वरूपमें स्फुटित हुआ दीखता है। इसीसे जान पड़ता है कि जगत्क्रीड़ामें उद्देश्यविहीन होकर भी वह प्रवृत्त रहते हैं। यदि उनमें रसभाव न होता तो उनके ही प्रतिरूप हम जीवगण कभी किसीसे प्रेम नहीं कर पाते। रसके प्रति आकर्षण होनेके कारण आज हम पारस्परिक प्रणयमें आबद्ध होते हैं, एक दूसरेके साथ एक दूसरेका मिलन-आवेग आकाशमें, स्वर्गमें और अवनिमें एक महा आनन्दके प्रबल वेगके रूपमें उच्छ्वसित होकर उठ रहा है। यह जो परस्पर मिलन-आवेग है, वह आत्माके साथ परमात्माके महा-मिलनकी आशा सूचित करता है।

समस्त जागतिक सम्बन्ध उनमें ही आरोप किये जाते हैं। वही हमारे पिता, माता, पति, पुत्र सब कुछ हैं, क्योंकि चैतन्यसे वियुक्त होकर कोई हमारा पिता, माता,

पति, पुत्र या प्रियजन नहीं हो सकता। ये प्रियभाव यदि उनमें आरोपित हों तो वह और भी अन्तरतम मनोज्ञरूपमें प्रतिभात होते हैं।

इस सुन्दर पवित्र भाव-रससे विमुग्ध होकर ही द्वारकाकी प्रजा-मण्डली भगवान्के समीप अपने हृदयके भावको व्यक्त करती हुई बोली—

नताः स्म ते नाथ सदाङ्घ्रिपङ्कजं
विरिञ्चवैरिञ्च्यसुरेन्द्रवन्दितम्।
परायणं क्षेममिहेच्छतां परं
न यत्र कालः प्रभवेत् परः प्रभुः॥
भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन!
त्वमेव माताथ सुहृत् पतिः पिता।
त्वं सद्गुरुर्नः परमञ्च दैवतं
यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम॥

हे नाथ! ब्रह्मादिका भी प्रभु काल जहाँ अपने प्रभावको दिखलानेमें असमर्थ है, ब्रह्मा-सनकादि-सेवित और सुरेन्द्रवन्दित उस तुम्हारे पदारविन्दको हम प्रणाम करते हैं। हे विश्वभावन! तुम हमारा कल्याण करो। तुम्हीं हमारे पिता, माता, बन्धु, सद्गुरु और परम देवता हो, तुम्हारे आज्ञानुवर्ती होकर हम कृतार्थ हो रहे हैं। उस नरदेवताकी कृपा कैसे प्राप्त की जाती है, यह बतलाते हैं—

स वा अयं यत् पदमत्र सूरयो
जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वनः।
पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना
नन्वेष सत्त्वं परिमाष्टुमर्हति॥

इस कर्मभूमिमें जितेन्द्रिय योगी लोग प्राणायामादिके द्वारा अन्तःश्वासको रोकते हुए, भक्तिवश उत्कण्ठितचित्त होकर, बुद्धिकी निर्मलावस्थामें जिसके स्वरूपको जाननेमें समर्थ होते हैं, वही श्रीकृष्ण हमारे आगे विद्यमान रहते हैं।

यह भगवान् ही सबके हृदयोंमें अन्तर्यामीरूपसे अधिष्ठित रहते हैं। परन्तु बुद्धिकी निर्मलताके बिना उनको जान नहीं सकते। अन्तःश्वासके रुद्ध हुए बिना बुद्धिकी निर्मलता सिद्ध नहीं होती तथा बुद्धिके निर्मल हुए बिना ऐकान्तिक-रूपमें भगवत्प्रेम प्राप्त नहीं किया जा सकता।

इस षड्-ऐश्वर्यसम्पन्न भगवद्भावके ऊपर भी एक और भावातीत भाव है। जहाँ केवल वही है; और कुछ नहीं, वहाँ न सृष्टि है और न संहार, न कार्य है और न कारण। इस सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त ब्रह्मभावका ही शङ्कराचार्य प्रभृति मनीषियोंने परमतत्त्वरूपमें वर्णन किया है। प्रयत्नशील योगी क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें अटके रहकर अपने भीतर निज-स्वरूपकी उपलब्धि करते हैं तथा उपलब्धि करके परिनिर्वाण प्राप्त करते हैं। समस्त वेद-शास्त्रोंमें यही बात आलोचित हुई है। "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति, यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।"

सब वेद इस ब्रह्मपदको प्राप्तव्य कहकर निर्देश करते हैं, तथा इस परम पदकी प्राप्तिके लिए तपस्या और कर्मसमूह अनुष्ठित होते हैं और इसीकी प्राप्तिके लिए साधु लोग ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका अनुष्ठान करते हैं।

वह साकार और निराकार, सगुण और निर्गुण—नाना भावोंमें चिन्त्यमान होते हैं। इसके लिए पारस्परिक विवादकी सीमा नहीं है, परन्तु जिन्होंने उनके पुरुषोत्तम-रूपको देखनेका सौभाग्य प्राप्त किया है उनके मनमें इस प्रकारके सन्देह नहीं रहते। वह जानते हैं कि वह एक परम पुरुष ही साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण और सर्वमय होकर सर्वरूपमें अपनेको प्रकट कर रहे हैं। उनके अस्तित्वसे ही अग्निमें उष्णता, जलमें शैत्य, आदित्य-चन्द्रके अन्तर्गत समस्त तेज और रस दीप्त होकर उठ रहे हैं। अन्नरूपमें भी वही हैं और उसके भोक्तारूपमें भी वही हैं। वही अन्तर्यामी रूपसे सब प्राणियोंकी बुद्धिवृत्तिमें अधिष्ठित रहते हैं। प्रकृत साधक जानते हैं कि वही एक परम पुरुष साकार, निराकार, सगुण और निर्गुण भावमें सदा प्रकाशित रहते हैं। जो जितना अधिकारी है वह उतना ही जान पाता है। जिन्होंने उनको पुरुषोत्तमरूपमें अनुभव करनेका सामर्थ्य प्राप्त किया है, वह सब भावोंको उनका भाव समझकर उनको सर्वभावोंमें भजता है। अतएव सांख्य, योग, भक्ति—इन तीन मतोंमेंसे किसी एकको लेकर भगवान्का अन्वेषण कर सकते हैं। भक्तिमूलक धर्ममें भी ज्ञान प्राप्त होता है तथा योगके प्रभावसे भी ईश्वर-दर्शन होता है। नित्यानित्य-विवेकसे ज्ञान उत्पन्न होता है। विचार द्वारा जब प्रपञ्चादि मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं तो परमतत्त्वका साक्षात्कार होता है। परन्तु केवल मौखिक विचार द्वारा ज्ञानलाभ नहीं होता। क्रियाकी परावस्थामें सम्यक् स्थितिसे ही नित्य ज्ञानका उदय होता है उसमें जो शाश्वती शान्ति रहती है उसके प्रभावसे मनुष्यका चित्त फिर अनित्य विषयमें गमन नहीं करता, क्योंकि जगदादि समस्त पदार्थ मनःकल्पित अवस्था-मात्र हैं। मनके उत्थानके साथ वे उत्थित होते हैं और मनके विलयके साथ वे विलीन हो जाते हैं। मनके जीवित रहते किसीको भी शान्तिलाभ होना सम्भव नहीं। जो जगद्व्यापार मनकी कल्पना-मात्र हैं, वही फिर जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिमें पृथक्-पृथक् रूपसे प्रतिभात होते हैं। जाग्रतमें जो स्थूलरूपमें प्रकाशित है, स्वप्नमें वही सूक्ष्मभावमें विराजित है। सुषुप्तिमें वह बिल्कुल रूपशून्य है, तुरीयावस्थामें उसके भी अतीत है। यह तुरीय ब्रह्म ही अवस्था-भेदसे सगुण और निर्गुण होता है। यह तुरीयावस्था सृष्टि-स्थिति लयशून्य अवस्था है, वह सदा एकरूप है। तथापि सब प्रकारके प्रकाशका वही आश्रय है। सुषुप्ति भी प्रकृतिकी एक अवस्था-मात्र है। सुषुप्तिमें समस्त प्रकाश आच्छादित रहने पर भी उसमें सब प्रकाशोंका बीज वर्तमान रहता है। अतएव प्रकृतिरूपताकी प्राप्ति ही मुक्ति नहीं है, मुक्तिका स्वरूप अन्य प्रकारका है, वह प्रकृतिकी अतीतावस्था है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें चैतन्य समभावसे रहता है। किसी अवस्थामें चैतन्यमें कोई विकृति नहीं होती। अवस्थात्रयमें केवल बुद्धिका ही अवस्थान्तर होता है। देह, इन्द्रिय और मन—बुद्धिके अधीन होते हैं, अतएव बुद्धिके

अवस्थान्तरके साथ इनका भी अवस्थान्तर होता है। देहाभिमानवश जीव उन सब अवस्थाओंको अपना अवस्थान्तर समझता है। परन्तु बुद्धिमें विकार होने पर भी जीव उससे विकृत नहीं होता। जीव सब अवस्थाओंमें आत्माराम है—यह जान लेने पर ही उसका भवबन्धन छूट जाता है—"जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः"। जीवभावसे भिन्न आत्मस्वरूप भगवान् केवल शुद्ध चित्तमें लक्षित होते हैं। समाधियोगमें अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें मायातीत परमात्माका रूप लक्षित होने पर जीवकी ईश्वरसे भिन्नतारूप भ्रान्ति विदूरित होती है। तब जीव फिर अपनेको देहादिमें आबद्ध नहीं समझता—यही मुक्ति है। अविद्या-उपाधिके कारण जीवका संसारित्व-भाव होता है। इस देहके भीतर सूर्यकी किरणोंके समान जो कूटस्थ-ज्योति सदा वर्त्तमान रहती है, उससे ही देह स्वप्रकाश और चैतन्य-युक्त प्रतीत होती है। वह तेज ही ब्रह्मका रूप है। वह देहके भीतर रहकर देहको तेजोमय तथा प्रकाशमय कर डालता है। समस्त आकाश उसी तेजसे परिपूर्ण है। जैसे आकाशके भीतर सूर्यरश्मि नहीं दीख पड़ती, परन्तु आकाशसे अवतरण कर जब किसी वस्तुमें पड़ती है तब उसका तेज समझमें आता है, उसी प्रकार ब्रह्मतेज घटस्थ होने पर भी जाना नहीं जाता। उस समय उसका घटानुरूप नामरूप प्रकाशित होता है। नामरूपमय यह घट ही क्षर भाव है, घटमध्यस्थ आकाश या तेज ही अक्षर-भाव है। आकाशके अभ्यन्तर सूक्ष्मरूपमें परव्योम रहता है, उसके भीतर असंख्य ब्रह्माणु रहते हैं, एक-एक ब्रह्माणुमें फिर ब्रह्माण्ड विराजता है। जब सूर्य, चन्द्र, अग्नि और समस्त वस्तुओंमें ब्रह्माणु-बोध हो जायगा तब ब्रह्मज्ञान प्रस्फुटित होगा। क्रियाकी परावस्थामें उसकी उपलब्धि होती है, हृदयमें ही यह परावस्थाकी स्थिति अनुभूत होती है। यदि सब विषयोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहो तो क्रियाकी परावस्थामें रहनेके लिए प्रयत्न करो। हृदयमें यह स्थिति घनीभूत होने पर फिर किसी विषयको जाननेकी इच्छा नहीं रहती। वही सकल ज्ञानका अन्त या वेदान्त है। वही पुरुषोत्तम-भाव है। पहले कहा जा चुका है कि आत्माके सिवा अन्य सारी वस्तुएँ क्षर हैं, यह क्षरभाव जन्म-मरणके अधीन है। कूटस्थ अक्षर ही अविनाशी पुरुष है। जो कूटस्थमें दृष्टि न रखकर जगद्वस्तुमें आसक्त होते हैं, उनको पुनः पुनः देहान्तर परिग्रह करना पड़ता है। जो आठों पहर कूटस्थमें लगे रहते हैं वह अविनाशी कूटस्थ ही हो जाते हैं। इस क्षर और अक्षरके ऊपर परमात्मा या परमेश्वर हैं, वही पुरुषोत्तम हैं। क्षर और अक्षर ये दोनों ही उनके विभिन्न भाव हैं, ये दोनों ही उनकी शक्ति हैं, भेद केवल इतना ही है कि एक परिणामी है और दूसरा परिणामहीन। गीतामें इन्हींको परा और अपरा प्रकृति बतलाया गया है। चञ्चल-श्वास-प्रश्वासमें यह परिणामी भाव ही विशेषरूपसे व्यक्त होता है। श्वासकी स्थिरता ही अचञ्चल कूटस्थका रूप है। इस स्थिर भावको अवलम्बन करके ही चञ्चल भाव प्रवहमान हो रहा है। इसीसे पुरुषोत्तम जैसे एक ओर निर्गुण, निष्क्रिय और सदा मुक्त है, दूसरी ओर वही भर्त्ता-भोक्ता-महेश्वर है। यह जगत् और जीव-भाव दोनों ही उनके नाम-रूप हैं, परन्तु वह स्वयं नामरूप-विवर्जित हैं।

लय-विक्षेप ही चित्तकी अशुद्धि है, योगाभ्यासके द्वारा लय-विक्षेप नष्ट होने पर चित्त शुद्ध होता है। शुद्ध चित्तमें फलाभिसन्धि नहीं रहती, वह सर्वदा ईश्वरमुखी होता है, अतएव उस शुद्ध बुद्धिसे जो कुछ किया जाता है वह सब भगवदर्पित होता है। यह भगवदर्पण संपूर्ण होने पर चित्त निरन्तर शुद्ध रहता है, वही सर्वकर्म-संन्यासका हेतु है। जीवकी विविध वासना ही संसार है। घनीभूत वासना ही गृह, दार, पुत्र, मित्र, बन्धु, द्वेष्य, शत्रु आदिकी रचना करती है। वासनाका क्षय न होने पर जीव मृत्युके बाद उन लोकोंको गमन करता है, जहाँ उसकी वासनानुकूल भोग-लालसा परितृप्त होती है। तीव्रतर साधनके प्रभावसे जिसका चित्त जितना ही स्थिर होता है, उसकी उतनी ही भगवन्निष्ठा वृद्धिको प्राप्त होती है। निष्ठा वृद्धि होते होते अपने आपमें स्थितिरूप परमा निर्वृति प्राप्त होती है। वहाँ फिर संसार नहीं रहता। परन्तु इसके लिए ब्रह्मवासनाका तीव्र होना आवश्यक है, नहीं तो संसार-वासना सम्यक् रूपसे नष्ट न होगी। जो लोग कहते हैं कि प्रयत्न करनेपर भी काम-क्रोध-लोभ-मोहादि किसी तरह निवृत्त नहीं होना चाहते, उनके प्रयत्नमें संभवतः वैराग्य नहीं है या सम्यक् साधनामें निश्चय ही कोई त्रुटि है, नहीं तो विषय-वासना क्यों नहीं मिटती? विषयवासनासे ही संसार है। यह वासना जिसकी जितनी दृढ़ है उसका संसारमें और भोगलोकादिमें पुनरागमन उतना ही सुनिश्चित है। जो लोग प्रयत्नपूर्वक क्रियाभ्यासमें रत होते हैं तथा जिनका मन सदा कूटस्थमें लक्ष्य रख सकता है उनकी विषयवासना या रजस्तमोभाव समूल उत्पाटित हो जाते हैं। प्राणके सुषुम्नावाही हुए विना वासनाबीज नष्ट नहीं होता, इसलिए आलस्य और प्रमादरहित होकर क्रिया करना कर्त्तव्य है। जो वासना-पिञ्जरसे मुक्त नहीं हुआ है वह कभी आत्मवेत्ताके रूपमें गिना नहीं जा सकता। वासनाका क्षय होनेसे ही मनोनाश होता है तथा मनोनाश होने पर स्वरूपमें स्थिति या मुक्तिकी प्राप्ति होती है। जीवन्मुक्त पुरुष भी कर्म करते हैं, परन्तु वे अभिसन्धिपूर्वक कर्ममें प्रवृत्त नहीं होते। उनके आत्मचिन्तनकी धारा किसी कर्मद्वारा विच्छिन्न नहीं होती, इस कारण उनका आत्मबोध सदा जाग्रत रहता है। जाग्रत और स्वप्नमें चैतन्य रहकर भी जैसे चैतन्य इन सब अवस्थाओंसे निर्लिप्त रहता है, जीवन्मुक्तकी सांसारिक स्थिति भी तद्रूप ही होती है। कूर्मके अङ्ग जैसे प्रयोजनके अनुसार अन्तःप्रविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवन्मुक्तकी इन्द्रियाँ रहती हुई भी विषयोंसे दूर रहकर अन्तर्मुखी होकर स्थिरत्व-भावको प्राप्त होती हैं।

भगवदर्पण

समाधिसाधनाका अभ्यास करना होगा, परन्तु समाधिस्थ होना सहज नहीं है। इसके लिए प्रयत्नपूर्वक साधना करनी पड़ेगी तथा उसके साथ मन ही मन आत्म-विचार करना होगा। जो कुछ स्थूल है वह मनोमय कल्पनाकी ही घनीभूत अवस्था है। प्राणका स्पन्दन ही मन या कल्पनाका आश्रय है। प्राणका स्पन्दन निरुद्ध होने पर मन आकाशवत् हो जाता है। वह आकाश या नाद (नाद आकाशका गुण है) निःशब्द बिन्दुमें प्रविष्ट होता है। बिन्दु ही मायातीत अवस्था है, वही ब्रह्मद्वार है। अतएव तुम्हारा निजस्वरूप सदा

समाधि-साधना

ही निःसङ्ग है। यह भाव अनुभव करनेकी चेष्टा करो, इससे समझ सकोगे कि तुम देह नहीं हो। "न किञ्चिदेव देहादि न च दुःखादि विद्यते"—देहादि वास्तविक नहीं हैं, अतएव देहजनित दुःखादिका भी अस्तित्व नहीं है।

जो लोग बन्धनमुक्त होनेके लिए सुदृढ़ चेष्टामें रत हैं, उनको वसिष्ठ-गीताका यह उपदेश सर्वदा स्मरण रखना चाहिए—

आसक्तिमाहुः कर्तृत्वमकर्तुरपि तद्भवेत्।
मौर्ख्ये स्थिते हि मनसि तस्मान्मौर्ख्यं परित्यजेत्॥

मन यदि मूढ़ है तो उसके साथ आसक्ति रहेगी ही। अतएव मूर्खता ही प्रथम त्याज्य है। आसक्ति ही असल कर्तृत्व है। यदि कर्म न भी करो तथापि जबतक आसक्ति है, तबतक तुम कर्म न करने पर भी कर्त्ता बने रहोगे। कर्तृत्वके कारण बन्धन भी अनिवार्य है, अतएव भगवान् और वसिष्ठजीका यह उपदेश है कि "योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय—" निःसङ्ग होकर सिद्धि-असिद्धिको समान समझकर कर्म करो।

शान्तब्रह्मवपुर्भूत्वा कर्म ब्रह्ममयं कुरु।
ब्रह्मार्पणसमाचारो ब्रह्मैव भवसि क्षणात्॥

ब्रह्म जैसे शान्त है, तुम भी ब्रह्मचिन्तन द्वारा उसी प्रकार शान्त होकर कर्म करो। जल और जलकी तरङ्ग-जैसे अभिन्न हैं, कर्म भी उसी प्रकार ब्रह्मसे अभिन्न है। इस प्रकार कर्म ब्रह्मार्पित होने पर तुम क्षणभरमें ब्रह्मरूप हो जाओगे।

यदि यह न कर सको तो सर्वत्र सगुण ईश्वर-भाव दर्शन करनेकी चेष्टा करो—

ईश्वरार्पण

ईश्वरार्पितसर्वार्थ ईश्वरात्मा निरामयः।
ईश्वरः सर्वभूतात्मा भव भूषितभूतलः॥

ईश्वरात्मामें सर्वकर्म समर्पण करके ईश्वरमें मनको निमग्न करो, इससे तुम निरामय हो सकोगे। सर्वभूतोंका आत्मा ईश्वर है, ईश्वरार्पित-चित्तसे कर्म कर सकने पर तुम जगत्के भूषणस्वरूप हो जाओगे।

संन्यस्तसर्वसङ्कल्पः समः शान्तमना मुनिः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा कुर्वन् मुक्तमतिर्भव॥

तुम सर्वसङ्कल्प त्याग करके शान्तमना होकर देखो, तुम्हीं सर्वत्र समभावमें व्याप्त हो। इस प्रकार सर्वसङ्कल्पत्याग होने पर तुम युक्तात्मा होकर सर्वसङ्ग त्याग करनेमें समर्थ होगे।

सर्व सङ्कल्पसंशान्तौ प्रशान्तघनवासनम्।
न किञ्चिद्भावनाकारं यत् तद् ब्रह्मपरं विदुः॥

जब सङ्कल्प सम्यक् रूपमें शान्त होता है, वासनासमूह प्रशान्त होते हैं, चित्तमें किसी प्रकारकी भावनाका उदय नहीं होता, तब उसे ही ब्रह्मभावमें अवस्थित जानो।

अनादिकालसे चित्तमें जो कर्मसंस्कार सञ्चित रहते हैं वही वासना है। जलमें मृत्तिका रहने पर भी जल स्वच्छ दिखलायी पड़ता है, परन्तु जल यदि आलोड़ित हो तो वह अस्वच्छ हो जाता है। चित्तमें वासना रहती ही है। उसकी आलोचना

करने पर ही तद्विषयक संकल्प होता है। सङ्कल्पको आलोड़न करने पर वह भावना-रूपमें परिणत होता है। जब संकल्प, वासना और भावना चित्तसे मिट जाते हैं तब चित्तका चित्तत्व नहीं रहता। चित्तका इस प्रकारका प्रशान्त भाव ही जीवन्मुक्तका लक्षण है। अज्ञानका निवासस्थान चित्त ही है, चित्तके क्षय होने पर अज्ञानका नाश होता है।

सङ्कल्प, वासना और भावना

चित्त ही कर्ममय वासना द्वारा कार्यरूपमें परिणत होता है तथा वही समस्त कर्मभाव या शक्तिका मूल है। ब्रह्म ही चित्तका आश्रय है। जब चित्तसे कर्मवासना विलुप्त होती है तब चित्तका भी क्षय हो जाता है, अतएव तब एक ब्रह्मभावके सिवा अन्य कुछ नहीं रह सकता। तब अन्तर्बहिः सब ब्रह्ममय हो जाता है।

कैसे कर्मको ब्रह्मार्पण करें?

समस्तकलनाजालस्येश्वरत्वैकभावना।
गलितद्वैतनिर्भासमेतदेवेश्वरार्पणम्॥

यद्यपि जड़ और चैतन्यको विचारार्थ पृथक् करके ही समझना पड़ता है, परन्तु वास्तविक जड़ नामकी कोई वस्तु नहीं है। चैतन्य जब तमः द्वारा अभिभूत होता है, तब वह जड़ दृश्यरूपमें प्रतीत होता है। जड़ कोई पृथक् वस्तु नहीं है। बोधरूपमें समस्त वस्तुएँ एक-चित्स्वरूप हैं। सभी वस्तुएँ ईश्वर हैं, इस भावनासे जब द्वैतभाव विगलित होता है तो वही प्रकृत ईश्वरार्पण है। द्वैतभ्रम विदूरित होने पर फिर शोक-तापसे सन्तप्त नहीं होना पड़ता। अर्जुनको यह अवस्था प्राप्त हुई है, यह भागवतमें इस प्रकार वर्णित है—

वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यान-परिवृंहितरंहसा।
भक्त्या निर्मथिताशेषकषायधिषणोऽर्जुनः॥
गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत् संग्राममूर्द्धनि।
कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमद्विभुः॥
विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या संच्छिन्नद्वैतसंशयः।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः॥

श्रीकृष्णके स्वधाम-गमनके पश्चात् अर्जुनका हृदय अत्यन्त शून्य हो गया। तब उन्होंने वासुदेवके चरण-युगलके नियत ध्यानसे वर्द्धित भक्तिवेगके द्वारा, कामादि-विषय-वासना-विरहित निर्मल अन्तःकरणके द्वारा उस तत्त्वज्ञानको फिरसे प्राप्त किया, जिसे कुरुक्षेत्र-युद्धके समय श्रीकृष्णने उन्हें उपदेश किया था और जो काल और कर्मरूप अन्धकार द्वारा आवृत्त हो गया था। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान द्वारा प्रकृतिलीन होने पर सत्त्वादि गुणत्रय और गुणत्रयके कार्यभूत लिङ्ग-शरीर-विषयक ज्ञान नहीं रहते। तन्निबन्धन स्थूल शरीरका भी अभिमान तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार द्वैतभ्रमके मूलीभूत अविद्याके विलय होने पर अर्जुन सम्यक् रूपसे शोक-विरहित हो गये।

भगवान्का रूपमय भाव भी बड़ा ही सुन्दर है। हमें रूप देखनेका ही अभ्यास है, अतएव अरूपकी बात सुनने पर भय लगता है। इसी कारण रूपविवर्जित ब्रह्मभाव हमको शून्य जान पड़ता है। परन्तु यह यथार्थ बात नहीं है। अरूपके भीतर भी जिनका चित्त मग्न हो जाता है उनको एक ऐसी वस्तुका सन्धान

मिलता है जो रूपमें भी दुर्लभ है। इस रूपमय भावके दो स्वरूप हैं। एक है सबको एक करने वाला ज्योतिर्मय रूप जो शुद्ध ज्योतिमात्र है। त्रिभुवनके समस्त रूप इस ज्योतिके भीतर प्रवेश कर ज्योतिरूपताको प्राप्त होते हैं। वह भी रूप तो है परन्तु घोर प्रचण्ड रूप है। उस रूपके भीतर अन्य विविध विचित्र रूप सब एक हो जाते हैं। इसीसे विश्व-रूप-दर्शनसे भयभीत अर्जुनको भगवान्‌ने अपनी मानव मूर्त्ति दिखलाकर आश्वस्त किया था। यह रूप मनुष्यके समान होते हुए भी ठीक मनुष्यरूप नहीं है। वह है नवनीरद-श्यामल तनु। वह रूप बड़ा ही चित्ताकर्षक है। भावुक भक्तलोग इस रूप-पर मुग्ध हो जाते हैं।

भगवान्‌का अरूप चिन्मय और रूपमय विग्रह

रूप लागि आँखि झुरे गुने मन भोर।
प्रति अङ्ग लागि काँदे प्रति अङ्ग मोर॥

'रूपके लिए आँखोंसे आँसू बह रहे हैं, प्रभुके गुणोंसे मन भर गया है और उनके प्रत्येक अङ्गके लिए मेरा प्रत्येक अङ्ग रो रहा है।' रूपके प्रति जीवका जो स्वाभाविक मोह है, यह श्यामसुन्दर रूप देखकर उसका वह मोह कट जाता है। इस रूपको देखकर फिर अन्य किसी रूपकी ओर आँख फेरनेकी इच्छा नहीं होती। कभी चिन्मयी मातृमूर्तिमें, कभी राम-कृष्ण आदि भक्तभावानुरूप चिन्मय-विग्रहमें अरूप-सुन्दर रूप फूट पड़ता है। उसमें मनुष्यके समान ही प्राण-भरकर प्रेम, वही हास्यमय प्रेमवीक्षण क्या ही अपूर्व शोभा विकीर्ण करता है! ब्रह्म सच्चिदानन्दविग्रह है, यह मूर्त्ति उस आनन्दकी घनीभूत मूर्त्ति है, यह पाञ्चभौतिक देह नहीं है, वह अप्राकृत चिदानन्द-रूप भावमय विग्रह है। सांसारिक विविध सम्बन्धके आदर्शोंसे ही यह भगवद्भाव सीखना पड़ता है। पिता-माता-भाई-बन्धु-स्त्री-पुत्रसे हम जो व्यवहार प्राप्त करते हैं, तथा उनके लिए जो अनुराग पोषण करते हैं, वही अनुराग, वही व्याकुलता भगवान्‌के निमित्त होने पर उनकी अनायास प्राप्ति होती है। जो सर्वव्यापी, सर्वमय तथा मन-इन्द्रियके अगोचर हैं, वही फिर माया-मनुष्यरूपमें भक्तके स्थूल दर्शन-स्पर्शनकी लालसाको भी चरितार्थ करते हैं। उनका जिस जिस भावसे भजन करते हैं, वह भी उनको उसी उसी भावसे भजते हैं। जो उनके सामने सामान्य विषयके लिए प्रार्थी होता है, वह उसके विषयाभिलाषाको मिटाकर उसको अपनी चरण-सेवाका अधिकारी बना देते हैं। इतनी उनकी करुणा है! हमारा चित्त जबतक गुणमय पदार्थमें अभिनिविष्ट रहेगा तबतक उनके सब कुछ भुला देनेवाले आनन्दमय स्वरूपमें हम आसक्त न हो सकेंगे। जैसे आत्मसत्तामें वैसे ही मायातनु-विग्रहमें भी उनका वह परमानन्दस्वरूप सर्वत्र आस्वादनीय है। इसी कारण गोपीजनवल्लभका दर्शन प्राप्तकर गोपियाँ आनन्दसे विह्वल होकर सब प्रकारके सन्तापोंसे रहित हो गयी थीं।

भगवान्‌का ध्यान

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो
योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः।
चकाश गोपिपरिषद्गतोऽर्चितः
त्रैलोकलक्ष्म्यैकपदं बपुर्दधत्॥

योगीश्वर लोग अपने हृदय-पद्ममें जिनके आसनकी कल्पना करते हैं, वही सर्वेश्वर भगवान् गोपीसभामें उनके द्वारा अर्चित होकर उनके उत्तरीयासन पर उपविष्ट होकर त्रैलोक्य-लक्ष्मीका शोभास्पद रूप धारण कर शोभा पाने लगे।

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥

जब कृष्णादर्शनसे व्याकुल होकर गोपियाँ कातर चित्तसे रोदन कर रही थीं, उस समय उनके सामने सस्मित-मुख भगवान् मदनमोहनरूपमें आविर्भूत हुए।

श्रीकृष्ण ही आनन्दकी वह घनीभूत मूर्त्ति हैं, परमानन्दका आवरणशून्य रूप हैं। वही लोकविमोहनीय, गुणसम्बन्धसे शून्य मायातनु हैं। इस रूपसे समस्त इन्द्रियाँ परितृप्त होती हैं, तथापि इसमें कामका लेश भी नहीं होता। यह जड़ नहीं, साक्षात् चिन्मय वस्तु है। यहाँ फूल नहीं है, तथापि फूलकी गन्ध और शोभा है, द्रव्यत्व नहीं है फिर भी मिठास है, देह नहीं है तथापि रूप है। देह और द्रव्यको लेकर ही कामक्रीड़ा होती है। यह प्राकृत भाव-मात्र है। परन्तु वह रूप, वह हँसी, वह प्रेम अप्राकृत होता है, इसीसे भगवान् मदनमोहन हैं। यही अरूपका रूप है। भगवान्का एक और रूप है। वह वर्ण या रूप नहीं, वह केवल अरूप है। वह भावमय भी नहीं है। वह विशुद्ध सत्तामात्र है। उसको कोई सहज ही नहीं समझ सकता। वही अपना आप है, उसको श्रीगुरुदेव क्रियाकी परावस्था बतलाते हैं। प्रथम तनुको सामान्य या मायातनु कहते हैं, अन्तिम तनु उनका परम रूप है जो नित्य, आद्यन्तरहित है और मायाके परपार है। प्रथम रूप भक्तके प्राणको आकर्षण करता है। भक्त जब उस रूपको देखते देखते या स्मरण करते करते तन्मय हो जाता है, तब उसका चित्त शुद्ध हो जाता है। उस शुद्ध चित्तमें ही परम रूप प्रकाशित होता है। चित्त अशुद्ध रहने पर वह कदापि समझमें नहीं आता। इसलिए भावकी पूजा और योगादि अभ्यास करते करते जब चित्त लय-विक्षेपरूप मलसे शून्य हो जाता है तो उस निर्मल सत्त्वसे ही आद्यन्त-रहित ज्ञानमय परम रूपको जान सकते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको इसी परम रूपका परिचय दिया है—

सामान्यं परमं चैव द्वे रूपे विद्धि मेऽनघ।
पाण्याद्दियुक्तं सामान्यं शङ्खचक्रगदाधरम्॥
परं रूपमनाद्यन्तं सन्ममैकमनामयम्।
ब्रह्मात्मपरमात्मादिशब्देनैतदुदीर्यते॥

हे अनघ, मेरे दो रूप जानो—सामान्य और परम। हस्तपदादिविशिष्ट शङ्खचक्रगदाधारी रूप ही मेरा सामान्य रूप है। मेरा परम रूप आदि-अन्तहीन और अनामय है। वह ब्रह्म, परमात्मा आदि शब्दोंसे अभिहित होता है।

यावदप्रतिबुद्धस्त्वं अनात्मज्ञतया स्थितः।
तावच्चतुर्भुजाकारं देवपूजापरो भव॥
तत्क्रमात् सम्प्रबुद्धस्त्वं ततो ज्ञास्यसि तत्परम्।
मम रूपमनाद्यन्तं येन भूयो न जायते॥

आत्मज्ञानके अभावके कारण जबतक तुम प्रबुद्ध नहीं होते हो, तबतक चतुर्भुजाकार मेरे सामान्य रूपकी ही पूजा करो। इस प्रकार बाह्य पूजादि करते करते जब तुम प्रबुद्ध हो जाओगे तब मेरे आदि-अन्तसे रहित परम रूपको जान सकोगे। उसको जान लेने पर फिर जन्मग्रहण नहीं करना पड़ता।

प्रतिबिम्बेष्विवादर्शसमं साक्षिवदास्थितम्।
नश्यत्सु न विनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

मैं साक्षीस्वरूपमें अवस्थित हूँ। दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान लोग मुझमें जगत्का दर्शन करते हैं। अपने मायादर्पणमें प्रतिबिम्बित जगत्-रूपका मैं साक्षी मात्र हूँ। मायादर्पण सङ्कुचित होने पर फिर प्रतिबिम्ब नहीं दीख पड़ता। प्रतिबिम्ब नष्ट होने पर भी साक्षीस्वरूप आत्मा नित्य वर्त्तमान रहता है—यह जो जानता है वही ठीक जानता है। अतएव—

न कुर्याद्भोगसन्त्यागं न कुर्याद्भोगभावनम्।
स्थातव्यं सुसमेनैव यथाप्राप्तानुवर्त्तिना॥

देहधारणके लिए जितना प्रयोजनीय है उतना भोग त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है। भोगकी अनेकताके लिए भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। मनमें सदा समता रखकर यथाप्राप्त विषयका अनुवर्त्तन करे।

नानात्वमलमुत्सृज्य परमात्मैकतां गतः।
कुर्वन् कार्यमकार्यञ्च नैव कर्त्ता त्वमर्जुन॥

हे अर्जुन! नानात्व-मलका परित्याग कर परमात्ममयताको प्राप्त करो। (चित्तको ब्रह्म-भावसे भावित करने पर परमात्मभावमें स्थिति प्राप्त होती है)। उस अवस्थामें कार्य या अकार्य करते हुए तुम कर्त्ता नहीं होते।

आत्मज्ञानप्राप्तिके उपाय

मनःशासन, योगाभ्यास और प्राणायाम

आत्मा स्वयं शुद्ध और निर्मल है। प्रकृतिका कोई क्लेद उसको स्पर्श नहीं कर सकता। "धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं"—परमात्मा या भगवान्के निजधाममें माया अपने इन्द्रजालका विस्तार करनेमें सर्वथा असमर्थ है। भगवान्का वह स्वकीय परम धाम 'शुद्धमत्यन्तनिर्मलं' है, बुद्धिके द्वारा इसको समझ पाना ही ज्ञानालोचनाका फल है। आत्मा देहमें प्रविष्ट होकर देह-प्रकृतिके सुख-दुःखादिको अपने सुख-दुःखके रूपमें अनुभव करता है। इस कल्पित सुख-दुःखकी अनुभूतिके द्वारा ही आत्मा देहमें बद्ध हो जाता है। पुनः पुनः इस प्रकार सुख-दुःख अनुभव करते करते ऐसा अनुभव होता है, आत्मा मानो देहरूपताको प्राप्त हुआ हो। इस अवस्थामें एक ही आत्माके दो विभाव प्रकाशित होते हैं। एकको जीवात्मा और दूसरेको परमात्मा संज्ञा दी जाती है। जीवात्मा वस्तुतः परमात्मासे अभिन्न है, परन्तु वह जब प्रकृतिके साथ मिल जाता है, प्रकृतिके कार्यको अपना कार्य समझकर अभिमान करता है, तब उसकी जीव-संज्ञा होती है। परमात्मा ईश्वर जन्म-मरण-सुख-दुःखादिके अतीत हैं, परन्तु जीव

अनीश, शोक और मोहमें मुह्यमान तथा जन्म-मृत्युके सदा अधीन है। तथापि जीव फिर अपना अधिकार प्राप्त कर सकता है। श्रुतिमें इसका उपदेश है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

(मुण्डक, तृतीय)

सर्वदा संयुक्त, तुल्य-स्वभाव जीव और ईश्वररूपी दो पक्षी एक ही शरीर-रूप वृक्ष पर अवस्थित रहते हैं। उन दोनोंमें एक (अर्थात् जीव) विचित्र स्वादिष्ट कर्मफल भोग करता है तथा दूसरा (नित्यमुक्त सर्वज्ञ ईश्वर) भोग न करके दर्शन-मात्र करता है। एक ही देहरूप वृक्ष पर (ईश्वरके साथ) अवस्थित होकर भी जीव स्वीय ऐश भाव की अज्ञता या विस्मृतिके वश मोहग्रस्त होकर स्त्री-पुत्रादिके वियोगमें और अर्थादिके नाशमें शोकाच्छन्न होकर दुःखभोग करता है। वही भ्रान्त जीव बहुत जन्मोंके बाद फिर जब सद्गुरुके उपदेशसे साधन प्राप्त करके ज्ञानके उच्चतम शिखर पर आरूढ़ होता है, तब जीवभावसे विलक्षण ईश्वरका दर्शन करता है तथा उनकी महिमा (ऐश्वर्य) को उपलब्ध करता है। अर्थात् भीतर बाहर जो कुछ है सब उनका प्रकाश है, उनसे पृथक् सत्ता और किसीकी भी नहीं है, यह सम्यक् उपलब्धि करके वह भी समाहित चित्त होकर दुःखातीत अवस्थाको प्राप्त करता है।

महाभारतमें भी लिखा है कि "परमात्मा मेरे परम बन्धु हैं, उनको आश्रय करके मैं उनके स्वरूपत्वको प्राप्त कर उनसे अभिन्न हो सकता हूँ। मुझमें उनसे किसी भी अंशमें न्यूनता नहीं है। मैं उनके ही समान निर्मल और अव्यक्त हूँ, इसमें सन्देह नहीं। मोहवश प्रकृतिके वशीभूत होनेके कारण मेरी इस प्रकार दुर्गति उपस्थित हुई है। मैंने निर्गुण होकर भी सगुण प्रकृतिके सहवासमें इतना समय बिता दिया, मेरे समान निर्बोध और कौन है?"

इस दुर्दशासे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए शास्त्र उपदेश देते हैं—"प्रकृतेर्भिन्नमात्मानं विचारय सदाऽनघ।" हे अनघ, 'प्रकृतिसे आत्मा भिन्न है' इसका सदा विचार करो। गीतामें भगवान्ने इसी बातका समर्थन किया है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥१३ अ०
नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १४ अ०

श्रीधरस्वामी इसकी व्याख्यामें कहते हैं कि प्रकृतिजनित अविवेकवश पुरुषका यह संसार है। वस्तुतः पुरुषका संसार नहीं है। प्रकृतिके कार्य देहमें अवस्थित होकर भी पुरुष प्रकृतिसे भिन्न है अर्थात् प्रकृतिके गुणसे युक्त नहीं है। क्योंकि वह प्रकृतिके कार्यका साक्षीमात्र है। वह अनुमन्ता अर्थात् सन्निधिमात्रसे अनुग्राहक है अर्थात् निर्लिप्त-भावसे अनुमोदन करता है। वह भर्त्ता है अर्थात् देहेन्द्रियकी सत्ताका

स्फुरण उसीसे होता है, उसके न रहने पर देहेन्द्रिय-मन-बुद्धि किसीकी भी पुष्टि नहीं होती। वह भोक्ता है अर्थात् सुख-दुःखादिरूप बुद्धिवृत्तिका वह उपलब्धि-कर्त्ता है, उसके न रहने पर किसीका कुछ अनुभव नहीं होता। वह महेश्वर है अर्थात् जीवात्माका मूल होनेके कारण वही परमात्मा है। इस देहमें अवस्थित जो पुरुष है वही परपुरुष अर्थात् श्रेष्ठ है। नाना पात्र-स्थित जलमें जैसे एक चन्द्रका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार नाना देहोंमें जीवात्मा एक सत्य ब्रह्मके ही प्रतिबिम्ब मात्र हैं। श्रुति भी कहती है—"एष सर्वेश्वर एष भूताधिपति एष लोकपालः"। प्रकृतिके गुणसङ्गके हेतु संसारके बाहुल्यका वर्णन करके अब उससे व्यतिरिक्त मोक्ष प्राप्तिके विषयमें कहते हैं—"प्रकृतिज गुणसमूह ही बुद्ध्यादिके आकारमें परिणत होकर कर्म करते हैं, गुणसे भिन्न आत्मा सदा साक्षी-स्वरूप है, इसको जो जान लेता है वह मेरे भाव अर्थात् ब्रह्मत्वको प्राप्त होता है।

यह ज्ञात नहीं है कि जीव अपने उस स्वरूपको कैसे भूल गया है। जो हो, अब फिर उसको अपने निज स्वरूपके साथ परिचय होना आवश्यक है। निज स्वरूपको पहचान लेनेकी जो प्रणाली है उसकी श्रीभगवान्ने गीतामें अनेक स्थानोंमें व्याख्या की है। भगवान् कहते हैं—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥

यह ज्ञान प्राप्त कर जो मेरा साधर्म्य प्राप्त करते हैं अर्थात् त्रिगुणातीत अवस्थाको प्राप्त होते हैं, वे सृष्टि-कालमें भी जन्म ग्रहण नहीं करते, प्रलयकालमें भी लयको प्राप्त नहीं होते।

अब यह स्पष्ट हो गया कि जन्म-मरणका दुःख भोग ही जीवत्व है। यह जीवत्व कैसे छूटेगा ?

योगमायाके द्वारा समाच्छन्न जीवने निजस्वरूपको भूलकर देहमें आत्मबुद्धि स्थापित किया है, इसीसे वह दीन, आतुर होकर आश्रय खोजनेके लिए भटक रहा है। इस मार्गच्युत भ्रान्त पथिकके लिए ही ऋषियोंने साधन-पथका निर्देश किया है। जीव जबतक मोहाच्छन्न अवस्थामें रहता है, तबतक उसका लक्ष्य उच्च नहीं रहता तब तक वह पशुवत् जीवन-यापन करता है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन—ये ही जीव-साधारणके धर्म हैं। मनुष्य और मनुष्येतर सारे जीव साधारणतः इसी धर्मके द्वारा परिचालित होते हैं। समस्त जीवदेहोंसे मनुष्य देह सर्वोत्तम है। इस देहको पाकर ही जीव मुक्तिका सोपान अन्वेषण करनेमें यत्नशील होता है। मनुष्यमें यह धर्म अनन्य-साधारण है। यही ज्ञान है। मनुष्यके भीतर जो पशुभाव रहता है उसको संयत करके इस ज्ञानके द्वारा मनुष्य दिव्य भावको प्रस्फुटित कर सकता है। यही जीवका परित्राण है। जो मोक्षके सोपानभूत सुदुर्लभ मनुष्यदेह पाकर इस देहमध्यस्थ जीवके परित्राणकी चेष्टा नहीं करता, उससे बढ़कर महापापी और कौन होगा—

सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्।
यस्तारयति नात्मानं तस्मात् पापतरोऽत्र कः॥ (कुलार्णव-तन्त्र)

अधिकारी-भेदसे पशुत्व-संयमनके तीन उपाय ऋषियोंने निर्देश किया है। ये कर्म (योग), भक्ति और ज्ञानके नामसे अभिहित हैं। प्राण, मन और बुद्धि क्रमशः कर्म, भक्ति और ज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं। इस मार्गत्रयके द्वारा जीव पुनः अपने धाममें प्रवेश कर सकता है। प्राण, मन और बुद्धिके जो स्वाभाविक गति या धर्म हैं उनका छन्दानुवर्त्तन ही जीवधर्म है। परन्तु बुद्धिकी सहायतासे मनुष्य उच्च विचार द्वारा इस छन्दानुगमनका प्रतिरोध करता है। योगाभ्यास, भक्ति और ज्ञानानुशीलनके द्वारा मनुष्य जब अपनी समस्त शक्तिको परिचालित करनेके लिए उद्यत होता है और पश्चात् कृतकार्य होता है तब वह देवत्वको प्राप्त कर सकता है। इस प्रकारके अनुशीलन या भगवद्भजनके लिए पापक्षय होना आवश्यक है, नहीं तो भगवत्प्राप्तिके लिए जीवमें आग्रह उत्पन्न नहीं हो सकता। वे ही दृढ़भावसे भगवानका भजन कर सकते हैं, जिनका पाप क्षीण हो गया है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः॥

द्वन्द्व-मोहसे निर्मुक्त न होनेके कारण ही भगवान्‌को दृढ़ भावसे भजनेकी प्रवृत्ति साधारण मनुष्योंमें प्रबलतापूर्वक नहीं आती। मनुष्यके पाशविक धर्म ही उसके प्रधान विघ्न हैं। इस पशुभावसे ऊपर न उठ सकनेसे जीवमें जो एक असाधारण शक्ति या धर्म रहता है, वह परिस्फुट नहीं हो सकता। इसी कारण भगवान्‌ने अर्जुनको सावधान करनेके लिए कहा है कि—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ गीता अ० ३

रजोगुणसे उत्पन्न दुष्पूरणीय और अत्युग्र काम तथा क्रोधको मोक्ष-मार्गका परम शत्रुरूप जानो।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥
तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥

हे कौन्तेय, ज्ञानीके चिरशत्रु कामरूपी अपूरणीय अग्निसे ज्ञान आच्छन्न होता है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इस कामके आश्रय हैं। काम इनके द्वारा ज्ञानको आवृत करके देहीको विमोहित करता है। अतएव हे भरतश्रेष्ठ, तुम पहले इन्द्रियोंको संयत करके ज्ञान और विज्ञानके नाशक इस पापरूप कामको नष्ट करो।

जबतक इन पशुवृत्तियोंका दमन नहीं किया जाता, तबतक प्राण, मन और बुद्धिमें जो अलौकिक शक्ति रहती है उसका कोई सन्धान मनुष्यको नहीं मिलता। इस

अलौकिक शक्तिको प्रस्फुटित करनेका उपाय ऋषियोंने शास्त्रोंमें अनेक स्थानों पर बतलाया है। प्राण, मन और बुद्धिको दैवी धर्मके अनुकूल छन्दमें परिचालित करने पर ही हमें धर्मकी प्राप्ति होती है एवं भक्ति और ज्ञान प्राप्त होता है। योग, भक्ति और ज्ञानानुशीलनके द्वारा प्राण, मन और बुद्धिका जितना उत्कर्ष प्राप्त होगा उतना ही वे ईश्वरमुखी होंगे। इनके चरम उत्कर्षके द्वारा ही जीवका जीवत्व छूटता है। पहले प्राणशक्तिके विषयमें आलोचना कीजिए। प्राणशक्तिको दैवी सम्पद्के अनुकूल भावमें परिचालित किये बिना यह प्राण ही भगवान्के साथ योगयुक्त होनेमें सर्वप्रथम और सर्वप्रधान विघ्न होकर खड़ा हो जायगा। प्राणशक्तिका कार्य है स्पन्दन। प्राणशक्तिके द्वारा स्पन्दित होकर ही इन्द्रियाँ, देह और मन निरन्तर विषयाभिमुख दौड़ते हैं। प्राणकी गति जैसे जैसे अविराम धाराके समान चलती रहती है, वैसे ही इन्द्रियोंकी विषय-ग्रहणकी स्पृहा भी बलवती होती जाती है। इसलिए प्राणशक्तिको यथेच्छ स्पन्दित न होने देना चाहिए। जिससे उसकी गति दैवी सम्पद्की ओर प्रसारित हो, वैसी ही चेष्टा करना साधकका प्रथम प्रयोजन है। जिस विद्या या कौशलके द्वारा प्राणको दैवी भावमें अनुप्राणित किया जाता है, ऋषि लोग उस विद्याको योगविद्या कहते हैं। उसका प्रधान अङ्ग प्राणायाम है।

प्राण यदि स्वच्छ या निर्मल हो तो उसकी गतिमें अतिरिक्त वेग नहीं रहता। प्राणशक्ति मनरूपमें कार्य करती है, इस कारण प्राणका स्पन्दन जितना कम होगा मन भी तदनुरूप ही निःस्पन्दित हो जायगा। अतएव उसी परिमाणमें मनकी विषयग्रहणकी स्पृहा भी कम हो जायगी। इस प्रकार मनकी दौड़धूप कम होने पर मन स्थिर हो जायगा। यही है मनकी विशुद्धि। सङ्कल्प-विकल्पके द्वारा मन अशुचि हो जाता है। मनके शुद्ध होने पर बुद्धि भी निर्मल और एकमुखी हो जाती है। बुद्धिकी एकाग्रता-वृद्धि भी इसके द्वारा ही सम्पादित होती है। यह एकाग्रता जिसकी जितनी अधिक होती है उसे ध्येय वस्तुके प्रति उतना ही अधिक भक्ति या प्रेम उत्पन्न होता है। वस्तुके प्रति एकाग्रता जिस परिमाणमें स्थापित होगी उतनी ही अधिक उस वस्तुके प्रति उसकी प्रीति उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार ध्येय वस्तुके प्रिय लगने पर मनका क्षीण स्पन्दन भी जब नहीं रह जाता, तब 'निरोध'-भाव आता है। यह 'निरोध या अवरुद्ध' रूप ही भगवत्स्वरूप है अर्थात् वहाँ मायाका खेल समाप्त है। देह, इन्द्रिय, मनः, प्राण आदि समस्त प्रकृतियन्त्रकी क्रिया वहाँ रुद्ध हो जाती है। "धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं"—भगवान्के स्वधाममें माया सदाके लिए निरस्त होती है। आत्मा या भगवान्के स्वधाममें पहुँचनेके लिए इस प्राण-क्रीड़ाकी गति रोकनी पड़ेगी। प्राणायामके द्वारा ही प्राण-शक्तिकी गति रोकी जा सकती है। प्राणस्पन्दनके निवृत्त हुए बिना किसी भी ध्यान-पूजामें हमारा अधिकार नहीं होता। इसीसे सन्ध्या और पूजार्चनामें पहले प्राणायाम और भूतशुद्धिकी व्यवस्था रहती है। प्राणायामके बिना भूतशुद्धि नहीं होती और भूतशुद्धि न होने पर पूजार्चनाका कोई विशेष फल प्राप्त नहीं होता। उपनिषद्में इसी कारण लिखा है कि—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश। मुण्डक।

जिस शरीरमें पञ्चधा प्राण सम्यक् रूपसे प्रविष्ट रहता है उसी शरीरमें स्थित आत्मा अतिसूक्ष्म और चिद्रूप है। ज्ञानके द्वारा ही इस आत्माको जानना होगा।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति

जो सर्वभूतस्थित ईश्वर है वही प्राणरूपमें प्रकाशित होता है।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥ कठ० उप०।

जो प्राणवायुकी ऊर्ध्वमें और अपानवायुकी अधोदिशामें रक्षा करते हैं अर्थात् जब योगीकी भीतरकी वायु भीतर और बाहरकी वायु बाहर ही रहती है प्राणापानकी गति जब स्वाभाविक भावसे स्थिर होती है तब उसी स्थिरतामें वामनदेव रहते हैं जो समस्त विपत्तियोंके छेदक हैं। श्वासकी गति जबतक बाह्य दिशामें गमनागमन करती है तबतक संसार-लीलाका अवसान नहीं होता। जीवके लिए आवागमनके समान दूसरी कोई विपत्ति नहीं है। उस विपत्तिका छेदन तब होता है जब यह प्राण अन्तर्मुख होकर स्थिर होता है। यही शिवं सुन्दरं भाव है। जिसको इस अवस्थाकी उपलब्धि होती है वह जान सकता है कि चक्षु-श्रोत्रादि इन्द्रियोंके देवता किस प्रकार अपनी अपनी वृत्तियोंको छोड़कर उसके समीप अवस्थान करते हैं। यही परम शान्तिकी अवस्था है।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

कोई कोई विवेकी पुरुष चक्षुरादि इन्द्रियोंको विषयसे प्रत्याहृत करके जीवदेहमें प्रकटित आत्माका दर्शन करते हैं।

इन्द्रियाँ जब विषयोंमें रमती हैं तो फलस्वरूप वे मलाच्छादित होती हैं। यह मल दूर हुए बिना भगवद्दर्शन या मोक्षलाभ नहीं होता। इन्द्रियोंका विषयस्पृहा-रूप मल तभी नष्ट होता है जब प्राणका निग्रह किया जाय। मनु कहते हैं—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

धातुके मलादि जिस प्रकार अग्निके द्वारा भस्मीभूत होते हैं, उसी प्रकार प्राण-निग्रहके द्वारा इन्द्रियोंके दोष विनष्ट हो जाते हैं।

योगी याज्ञवल्क्य भी प्राणायामकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

प्राणायामादृते नान्यत् तारकं नरकादिव।
संसारार्णवमग्नानां तारकं प्राणसंयमः॥

प्राणायामके सिवा नरकसे उद्धार करने वाला और कोई उपाय नहीं हैं। जो लोग संसार-सिन्धुमें मग्न हैं उनके लिए प्राणसंयम (प्राणायाम) एकमात्र तारक अर्थात् उद्धारकर्त्ता है।

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥

(योगाङ्ग=यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) योगाङ्गके अनुष्ठानसे अशुद्धिके क्षय होने पर विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञानदीप्ति होती है।

वासना क्षय हुए बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता। वासना, सङ्कल्प आदि मनकी अशुद्धि है। प्राणके स्पन्दनसे ही मनका विक्षेप होता है। अतएव प्राणवायुकी समता साधन कर लेने पर चित्त वृत्तिशून्य अवस्थामें आ सकता है। स्थिर दृष्टिसे भ्रू द्वयके सन्धि स्थानमें लक्ष्य स्थिर करनेका अभ्यास करने पर चित्तकी एकाग्रता बढ़ती है। चित्तकी एकाग्रताके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। प्राणायामकी साधनाके द्वारा जितश्वास हुए बिना मनको स्थिर करना कठिन है। मनस्थिर न हो तो कोई सङ्कल्प-विकल्प-रहित नहीं हो सकता। सङ्कल्प-विकल्पही वासनाके जाल हैं, इन्हींके द्वारा जीव बद्ध होता है। अध्यात्मरामायणमें लिखा है—

निःसङ्कल्पो यथाप्राप्तव्यवहारपरो भव।
क्षये सङ्कल्पजालस्य जीवो ब्रह्मत्वमाप्नुयात्॥

सङ्कल्पजालका क्षय होने पर जीव ब्रह्मत्वको प्राप्त होता है।

अभ्यासात् हृदि रूढ़ेन सत्यसम्बोधवह्निना।
निर्दग्धं वासनाबीजं न भूयः पाररोहति॥

अभ्यासकी दृढ़ताके द्वारा हृदयमें ज्ञानवह्नि प्रज्वलित करो तथा वासना बीज को निःशेष दग्ध करो बीज दग्ध होने पर फिर अङ्कुर नहीं जनमेगा।

"समस्त प्राणियोंके शरीरमें काम, क्रोध, भय, निद्रा और श्वास—ये पञ्च दोष रहते हैं। कामादि प्राकृतिक गुणोंका जय करनेसे ही जीवात्मा देहाभिमानका त्याग कर परमात्माका दर्शन प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। योगबलसे काम, क्रोध, मोह, अनुराग और स्नेह—इन पाँच दोषोंका त्याग करने पर मोक्ष होता है।"

(शान्ति पर्व, महाभारत)

बहुतेरे सोचते हैं कि योगाभ्यासादिमें जो प्राणायाम रहता है वह अस्वाभाविक है। प्राणायाम यदि वस्तुतः अस्वाभाविक होता तो भगवान् गीतामें उसका उपदेश नहीं देते। यज्ञानुष्ठानकी बात कहते समय भगवान् प्राण-यज्ञके विषयमें कहते हैं—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति॥

कोई अपानवायुको प्राणवायुमें तथा कोई प्राणवायुको अपान वायुमें होम करते हैं। इस प्रकार कोई कोई संयताहारी योगी प्रणायामपरायण होकर प्राणापानकी ऊर्ध्व और अधोगतिका रोध करते हुए कुम्भकद्वारा समस्त प्राणोंको प्राणमें ही होम करते हैं।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षयितकल्मषाः।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्॥

ये सारे यज्ञकर्त्ता यज्ञसम्पादनके द्वारा निष्पाप होकर यज्ञशेष अमृतका पान करके सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। श्रीधरस्वामी कहते हैं—कुम्भके हि सर्वे प्राणा एकी भवन्ति। तत्रैव लीयमानेषु इन्द्रियेषु होमं भावयन्ति।" कुम्भकमें सब प्राण एकीभूत होते हैं, यह स्तम्भनरूप कुम्भक जब अत्यन्त स्थिर होता है तो योगी इन्द्रियोंको उस निगृहीत प्राणवायुमें लय कर देते हैं।—(शङ्कर-भाष्य)

गीतामें भगवान् फिर पञ्चम अध्यायमें कहते हैं—

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्याँश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥

श्रीधरस्वामी इसकी व्याख्यामें कहते हैं—"अथेदानीं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शनस्य अन्तरङ्गं विस्तरेण वक्ष्यामि इति तस्य सूत्रस्थानीयान् श्लोकान् उपदिशति स्म।" योगानुष्ठान करनेवाला मोक्षको प्राप्त होता है, यह कह चुके हैं। वही योग पुनः इन दो श्लोकोंके द्वारा संक्षेपमें बतला रहे हैं। रूप-रसादि विषय चिन्तित होने पर अन्तःकरणमें प्रविष्ट होते हैं। अतएव इस प्रकारका चिन्तन छोड़कर, चक्षुद्वयको भ्रूद्वयके बीचमें रखकर तथा नासारन्ध्रमें विचरणशील प्राण और अपान वायुकी ऊर्ध्व और अधोगतिको अवरुद्ध करते हुए कुम्भक करे। जिनकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस उपायसे संयत हो गयी हैं, वही मोक्षपरायण हैं। जो मुनि इच्छा, भय और क्रोधसे शून्य हैं वह जीवित रहते हुए भी सदा मुक्त हैं।

योगवासिष्ठके निर्वाण-प्रकरणमें महात्मा भुसुण्डीने यह उपदेश दिया है कि "यद्यपि प्राण और अपान चञ्चल-स्वभाव हैं तथापि अभ्यासके बलसे वे निश्चल हो जायँगे। जो पुरुष अपने भीतर इनको जानकर अभ्यासवान् होता है उसको कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वका अभिमान नहीं रहता। जो प्राण-चिन्तनमें रत हैं उन पुरुषोंका चित्त विषयोंमें प्रवृत्त नहीं होता। बहुतसे महापुरुषोंने इस प्राणचिन्तनके द्वारा प्राप्तव्य वस्तुको प्राप्त किया है। स्थिति, गति, जाग्रत्, स्वप्न सब समय यह लक्ष्य स्थिर रखने पर बन्धनदशा विनष्ट होती है। जो लोग बोधको प्राप्त हैं वे ही प्राणापानका अनुसरण करते हैं।"

प्राणकी वर्त्तमान गति जो श्वास-प्रश्वासके रूपमें बह रही है, वह उसका स्वाभाविक गतिपथ नहीं है, यह उल्टा मार्ग है। विधिवत् प्राणसंयमके द्वारा नाड़ीचक्र विशोधित होने पर प्राणवायु इड़ा–पिङ्गलाका पथ त्याग कर सुषुम्ना-मुख भेद करके उसके भीतर प्रवेश करती है। उसके फलस्वरूप—

सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित्॥

प्राण सुषुम्नावाही होने पर मन शून्यमें प्रवेश करता है। तब योगीके समस्त कर्म उन्मूलित हो जाते हैं।

बोधसार ग्रन्थमें लिखा है—"प्राणायामे मनःस्थैर्यं स तु कस्य न सम्मतम्।" प्राणायाम द्वारा जब मन स्थिर होता है तो जानना चाहिए कि प्राणायाम करनेमें सबकी सम्मति है।

सुषुम्ना ही ज्ञान-प्रवाहिका नाड़ी है। हृदयदेशमें एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उनमें सुषुम्ना-नाड़ी ब्रह्मरन्ध्रकी ओर प्रसारित हुई है। मनुष्य मृत्युकालमें उसी ब्रह्मनाड़ी सुषुम्नाकी सहायतासे ऊर्ध्वलोक (ब्रह्मलोक या सहस्रार) में गमन कर अमृतत्व लाभ करता है अर्थात् जन्म-मृत्युकी अतीत अवस्थाको प्राप्त होता है। नानाविध गति प्रदान करनेवाली जो अन्य एक सौ नाड़ियाँ हैं, उन नाड़ी-मुखोंसे मृत्युकालमें जीव यदि बहिर्गत होता है तो उससे जीवकी विभिन्न लोकोंमें गति होती है। वहाँ सुख-दुःखादिका भोग करके फिर उसको जन्म-मृत्युके अधीन होना पड़ता है।

शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ कठोपनिषद् ॥

इस नाड़ीके द्वारा ऊर्ध्वगतिकी प्राप्तिके लिए प्राणायामादि योगाभ्यासकी विशेष आवश्यकता है। श्वेताश्वतर-उपनिषद्में साधनाके लिए यह उपदेश है—

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः, क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं, विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ॥

योगानुष्ठानमें प्रवृत्त विद्वान् पुरुष संयुक्तचेष्ट होकर सावधानीसे प्राणायामका अभ्यास करे। रथके दुष्ट अश्वको जैसे सारथी संयत करता है, उसी प्रकार प्राणको संयत करके मनको ध्येय वस्तुमें स्थापन करे। प्राणायामके द्वारा जिसके मनका मल क्षयको प्राप्त होता है उसका ही मन ब्रह्ममें स्थिरता लाभ करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे सारे शास्त्र—विशेष करके तन्त्रशास्त्र—समस्त सन्ध्यापूजार्चनाके पहले प्राणायाम करनेके लिए कहते हैं। जिस भूतशुद्धिके हुए बिना आत्मदर्शन सुदूरपराहत हो जाता है, उस भूतशुद्धिका प्रधान उपकरण है योगाङ्ग-प्राणायाम।

इसी कारण योगी गोरक्षनाथने उच्च कण्ठसे घोषणा की है—

यावन्नैव प्रविशति चरन् मारुतो मध्यमार्गे
यावद्बिन्दुर्न भवति दृढः प्राणवातप्रबन्धात्।
यावत् ध्यानं सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज् ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ॥

जबतक प्राणवायु सुषुम्नामार्गमें प्रवेश नहीं करती, और प्राणके निरोधसे जब तक विन्दु स्थिर नहीं होता, तथा जबतक ध्यान द्वारा तत्त्वोंका साक्षात्कार नहीं होता, तबतक ज्ञानकी बातें करना दाम्भिकता और मिथ्या प्रलापमात्र है।

श्रीमत् शुकदेवजीने भी ज्ञान और भगवद्भक्तिकी प्राप्तिके लिए योगाभ्यासकी आवश्यकता बतलायी है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

इत्थं मुनिस्तूपरमेद् व्यवस्थितो विज्ञानदृग्वीर्यसुरन्धिताशयः।
स्वपार्ष्णिनापीड्य गुदं ततोऽनिलं स्थानेषु षट्सून्नमयेज्जितक्लमः ॥ भा० २ स्कं०

शास्त्रज्ञान द्वारा जिनकी वासनाएँ विदूरित हो गयी हैं इस प्रकारके मुनि उपरत होवें। उसके बाद अपने पादद्वारा मूलाधारका पीड़न करके प्राणवायुको वह ऊर्ध्व षट् स्थानमें (षट्चक्रमें) उन्नीत करें।

श्रीमद्भागवतके २ य स्कन्धके १९-२०-२१-२२ श्लोकोंको पढ़ने पर जान पड़ता है कि योगाभ्यास कितना अधिक प्रयोजनीय है। पश्चात् त्रयोविंश श्लोकमें कहते हैं—

योगेश्वराणां गतिमाहुरन्तर्बहिस्त्रिलोक्याः पवनात्मनात्मनाम् ।
न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति विद्यातपोयोगसमाधिभाजाम् ॥

जिनका लिङ्ग-शरीर वायुके भीतर अवस्थान करता है, उन श्रेष्ठ योगियोंकी गति कर्मी लोगोंकी गतिके समान परिच्छिन्न नहीं होती अर्थात् वे त्रिभुवनके बाहर भीतर विचरण कर सकते हैं। विद्या, उपासना, तपस्या तथा अष्टाङ्ग योगाभ्यासजनित समाधिज ज्ञानके द्वारा जो गति प्राप्ति होती है, कर्मी लोग कर्मद्वारा उस गतिको नहीं प्राप्त कर सकते।

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्थाविशतः संसृताविह ।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् ॥

जिस योगाभ्यासके द्वारा भगवान् वासुदेवमें भक्तियोग प्राप्त होता है, उसकी अपेक्षा अन्य कोई मङ्गलमय मार्ग संसार-प्रविष्ट लोगोंके लिए नहीं है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः



परिशिष्ट

गीतासार

पूज्यपाद श्रीगुरुदेवने गीताकी जो योगाङ्ग आध्यात्मिक व्याख्याका प्रचार किया है, वह कपोलकल्पित नहीं है। वह योगाङ्ग-व्याख्या शास्त्रसम्मत है। हम यहाँ गरुड़ पुराणान्तर्गत "गीतासार"से कुछ श्लोक उद्‌धृत करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

गीतासारं प्रवक्ष्यामि अर्जुनायोदितं पुरा।
अष्टाङ्गयोगं मुक्त्यर्थं सर्ववेदान्तसारगम्॥

श्रीभगवान् बोले—मैं गीताका सार वर्णन करूँगा, जिसे पहले मैंने अर्जुनसे कहा था। समस्त वेदान्त-शास्त्रका सारगर्भ अष्टाङ्ग योग ही गीतार्थसार है।

आत्मलाभः परो नान्य आत्मा देहादिवर्जितः।
रूपादिमान् हि देहोऽतः करणत्वादि-लोचनम्॥

आत्मलाभ ही परम लाभ है, उससे बढ़कर उत्कृष्ट लाभ और कुछ नहीं। आत्मा देहवर्जित है। देह रूपादि गुणयुक्त हैं और नेत्रादि इन्द्रियाँ करणमात्र हैं।

देह, मन, अहङ्कार और प्राण कोई आत्मा नहीं है। "विधूम इव दीप्तार्चिरादित्य इव दीप्तिमान्"—आत्मा धूमरहित अग्निके समान और दीप्तिमान् सूर्यके समान है।

सर्वज्ञः सर्वदर्शी च क्षेत्रज्ञस्तानि पश्यति।
खानान्तु मनसा रश्मीन् यदा सम्यङ् नियच्छति॥
तदा प्रकाशते ह्यात्मा घटे दीपो ज्वलन्निव।
ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः॥

सर्वज्ञ और सर्वदर्शी क्षेत्रज्ञ ही इन्द्रियोंको देखता है। जैसे सूर्य रश्मि द्वारा हमको स्पर्श करता है, इन्द्रिय-शक्ति भी उसी प्रकार विषयोंको स्पर्श करती है। मनके द्वारा इन्द्रिय-रश्मियाँ सम्यक् नियमित होने पर दीपमें जैसे ज्वाला प्रकाशित होती है, आत्मा भी उसी प्रकार देहघटमें प्रकाशित होता है। पापकर्मका क्षय होने पर जीवको ज्ञान उत्पन्न होता है।

यथादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च महाभूतादि पञ्च च॥
मनोबुद्धिमहङ्कारमव्यक्तं पुरुषं तथा।
प्रसंख्यान परावाप्तौ विमुक्तो बन्धनैर्भवेत्॥

जैसे दर्पणमें अपने रूपका दर्शन किया जाता है उसी प्रकार जीव निर्मल बुद्धिमें इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके विषय, पञ्च महाभूत, मन, बुद्धि, अहङ्कार, प्रकृति तथा पुरुषको भी देखता है। तब प्रसंख्यान या विवेक-ज्ञान द्वारा देहेन्द्रियादिसे आत्माका पार्थक्य निश्चय कर देहादि बन्धनसे विमुक्त होकर परमार्थको प्राप्त होता है।

अहं ब्रह्म परं ज्योतिः प्रसंख्याय विमुच्यते।
द्विद्वादशेभ्यः ख्यातो यः पुरुषः पञ्चविंशकः॥
विवेकात् केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति॥

तब जीव "मैं परम ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म हूँ" इस प्रकारकी उपलब्धि करके मुक्त हो जाता है। चतुर्विंश तत्त्वसे पृथक् पञ्चविंश रूपमें जो प्रसिद्ध पुरुष है वह विवेक-विचार द्वारा प्रकृतिसे पृथक् होकर कैवल्य लाभ करता है और षड्विंश तत्त्व-स्वरूप जो ब्रह्म है उसका साक्षात्कार करता है।

नवद्वारमिदं गेहं त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स वरः कविः॥

जो विद्वान् पञ्च महाभूतयुक्त, सत्त्व-रजः-तमोगुणयुक्त तथा क्षेत्रज्ञ द्वारा अधिष्ठित चक्षुकर्णादि नवद्वारविशिष्ट इस देहको जानता है वही श्रेष्ठ कवि या ज्ञानी है।

श्रीभगवानुवाच

यमाश्च नियमाः पार्थ आसनं प्राणसंयमः।
प्रत्याहारस्तथा ध्यानं धारणार्जुन सप्तमी।
समाधिरयमष्टाङ्गो योग उक्त विमुक्तये॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि ये अष्टाङ्ग योग विमुक्तिके उपाय कहे गये हैं।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥
मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ऐकाग्र्यं परमं तपः।
शरीरशोषणं वापि कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः॥
वेदान्तशतरुद्रीय-प्रणवादिजपं बुधाः।
सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते॥
स्तुतिस्मरणपूजादिवाङ्मनःकायकर्मभिः।
सुनिश्चला हरौ भक्तिरेतदीश्वरचिन्तनम्॥

मन, वचन और कर्म के द्वारा सर्वदा सब अवस्थाओंमें सब प्रकारके मैथुनका त्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है। मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तपस्या है। कृच्छ्रचान्द्रायण-व्रतादिके द्वारा जो देहका शोषण है उसको भी तपस्या कहते हैं। वेदान्त-पाठ, शतरुद्रीका पाठ या प्रणवादिके जपको पण्डित लोग स्वाध्याय कहते हैं। यह स्वाध्याय पुरुषके लिए सत्त्वशुद्धि-

कारक है। मन, वाक्य और शरीरके द्वारा भगवान्के स्तवन, स्मरण और पूजादिसे हरिमें जो अचला भक्ति होती है, वही ईश्वरचिन्तन है।

मूर्त्तामूर्त्तब्रह्मरूपचिन्तनं ध्यानमुच्यते।
योगारम्भे मूर्त्तहरिममूर्त्तमथ चिन्तयेत्॥

मूर्त्त और अमूर्त्त ब्रह्मरूपके चिन्तनको ध्यान कहते हैं। योगारम्भकालमें मूर्त्तिमान् हरिका तथा तदनन्तर अमूर्त्त ब्रह्मका चिन्तन करना चाहिए।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनां साक्षी जीवः स च स्मृतः।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यैर्व्यतिरिक्तश्च निर्गुणः॥
निर्गतावयवोत्सर्गो नित्यशुद्धस्वभावकः।
परमात्मैव सज्जाग्रत् स्वप्नादौ सन्निधानतः॥
अन्तःकरणरागैश्च अन्तःकरणसंस्थितः।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीश्च पश्यत्यविकृतः सदा॥

जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति अवस्थाका साक्षी जीव है। वही जीव जब उक्त अवस्थात्रयसे अतिरिक्त हो जाता है तब निर्गुण कहलाता है। जिसके अवयवका विनाश नहीं होता, जो नित्य शुद्ध स्वभावविशिष्ट है, उस परमात्माको जाग्रत-स्वप्नादि अवस्थाओंमें सन्निहित रहने पर भी सत् कहते हैं। अन्तःकरणमें स्थित तथापि अन्तःकरणके विषय रागादिके द्वारा अविकृत वह परमात्मा ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त्यादि अवस्थात्रयको प्रत्यक्ष देखता है।

श्रीश्रीगीतामाहात्म्यम्

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

ऋषिरुवाच

गीतायाश्चैव माहात्म्यं यथावत् सूत मे वद ।
पुरा नारायणक्षेत्रे व्यासेन मुनिनोदितम् ॥१॥

सूत उवाच

भद्रं भगवता पृष्टं यद्धि गुप्ततमं परम् ।
शक्यते केन तद्वक्तुं गीतामाहात्म्यमुत्तमम् ॥२॥
कृष्णो जानाति वै सम्यक् किञ्चित्कुन्तीसुतः फलम् ।
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः ॥३॥
अन्ये श्रवणतः श्रुत्वा लेशं संकीर्तयन्ति च ।
तस्मात् किञ्चिद्वदाम्यत्र व्यासस्यास्यान्मया श्रुतम् ॥४॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥५॥
सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ ।
लोकत्रयोपकाराय तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥६॥
संसारसागरं घोरं तर्त्तुमिच्छति यो नरः ।
गीतानावं समासाद्य पारं याति सुखेन सः ॥७॥

शौनक बोले—हे सूत ! पूर्वकालमें नैमिषारण्यमें (नारायण-क्षेत्रमें) व्यास मुनिने जो गीताका माहात्म्य-वर्णन किया था, वह यथावत् मुझसे कहो ॥१॥

सूत बोले—हे भगवन् ! आपने अच्छा प्रश्न किया, यह परम गुह्यतम है। इस गीतामाहात्म्यको सुन्दररूपसे कहनेमें कौन समर्थ है ॥२॥ श्रीकृष्ण इसको सम्यक् रूपसे जानते हैं। कुन्तीपुत्र अर्जुन, वेदव्यास और उनके पुत्र शुकदेव, याज्ञवल्क्य तथा मिथिलाधिपति जनक भी इसके फलको किञ्चित् जानते हैं ॥३॥ इनके अतिरिक्त दूसरे लोग इसका फल सुनकर इसके माहात्म्यका लेशमात्र कीर्तन करते हैं। मैंने भी वेदव्यासके मुखसे कुछ श्रवण किया है, अतएव इसे आपके सामने कहता हूँ ॥४॥ समस्त उपनिषद् मानो गौ स्वरूप हैं और उस गौको दुहनेवाले गोपालनन्दन श्रीकृष्ण हैं। पार्थ उस गौके वत्स-स्वरूप हैं। (वत्स जैसे अपनी माताके दुग्धको पान कर परितृप्त होता है, उसी प्रकार अर्जुन इस उपदेशामृतको पान करके परितृप्त हुए थे और सदाके लिए उनकी भवक्षुधा मिट गयी थी)। गीतारूप अमृत ही इस उपनिषद् गौका सुस्वादु दुग्ध है। इस गीतामृत-दुग्धको सुधीगण पान करते हैं ॥५॥ अर्जुनके सारथी बननेका व्रती होकर जिसने लोकत्रयके उपकारार्थ इस गीतामृतका दान किया उस परमात्मा-स्वरूप श्रीकृष्णको नमस्कार ॥६॥ जो मनुष्य इस घोर संसार-सागरको पार करनेकी

गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः ।
मोक्षमिच्छति मूढ़ात्मा याति बालकहास्यताम् ॥८॥
ये शृण्वन्ति पठन्त्येव गीताशास्त्रमहर्निशम् ।
न ते वै मानुषा ज्ञेया देवरूपा न संशयः ॥६॥
गीताज्ञानेन सम्बोधं कृष्णः प्राहार्जुनाय वै ।
भक्तितत्त्वं परं तत्र सगुणं चाथ निर्गुणम् ॥१०॥
सोपानाष्टादशैरेवं भुक्तिमुक्तिसमुच्छ्रितैः ।
क्रमशश्चित्तशुद्धिः स्यात् प्रेमभक्त्यादिकर्मणि ॥११॥
साधोर्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ।
श्रद्धाहीनस्य तत्कार्यं हस्तिस्नानं वृथैव तत् ॥१२॥
गीतायाश्च न जानाति पठनं नैव पाठनम् ।
स एव मानुषे लोके मोघकर्मकरो भवेत् ॥१३॥
यस्माद्गीतां न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक् तस्य मानुषं देहं विज्ञानं कुलशीलताम् ॥१४॥
गीतार्थं न विजानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक् शरीरं शुभं शीलं विभवं तद्गृहाश्रमम् ॥१५॥
गीताशास्त्रं न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक् प्रालब्धं प्रतिष्ठाञ्च पूजां मानं महत्तमम् ॥१६॥

इच्छा करता है, वह इस गीतारूपी तरणीका आश्रय लेकर अनायास ही संसार-सागरके पार पहुँच सकता है ॥७॥ जो आदमी गीताज्ञानका सदा श्रवणाभ्यास किये बिना मोक्षाभिलाषी होता है वह मूढ़ात्मा बालकोंके द्वारा उपहासका पात्र बनता है ॥८॥ जो लोग रातदिन गीताशास्त्रका श्रवण तथा अध्ययन करते हैं उनको मनुष्य नहीं देवता जानना चाहिए, इस विषयमें कुछ भी संशय नहीं है ॥६॥ श्रीकृष्णने गीताज्ञानके उपदेशके द्वारा अर्जुनको तत्त्वज्ञानकी शिक्षा दी। उसमें सगुण और निर्गुण भक्ति-तत्त्वकी व्याख्या की गयी है ॥१०॥ भुक्ति-मुक्ति-मिश्रित गीताके अष्टादश अध्यायरूप अष्टादश सोपानके द्वारा क्रमशः चित्तशुद्धि प्राप्त करके प्रेमभक्ति आदि कर्मोंमें अधिकतर उन्नति प्राप्त होती है ॥११॥ गीतारूपी सलिलमें स्नान करके साधुओंका संसारमालिन्य दूर हो जाता है, परन्तु जो श्रद्धाहीन हैं उनका गीतासलिलमें अवगाहन हस्तिस्नानके समान व्यर्थ हो जाता है ॥१२॥ जो आदमी गीताशास्त्रका पठन-पाठन करना नहीं जानता, मनुष्य-लोकमें उसके समस्त कार्य व्यर्थ हो जाते हैं ॥१३॥ गीताशास्त्रसे जो अनभिज्ञ है उसकी अपेक्षा नराधम दूसरा कोई इस जगत्में नहीं है। उसके मनुष्यदेह धारण, ज्ञान और कुलशीलको धिक्कार है ॥१४॥ जो आदमी गीताका अर्थ नहीं जानता, उसकी अपेक्षा नराधम और कोई नहीं है। उसकी देह, कल्याण, शीलता गृहस्थाश्रम और वैभव आदिको धिक्कार है ॥१५॥ गीताशास्त्रसे जो अवगत नहीं, उसकी अपेक्षा अधम दूसरा कोई नहीं है। उसके प्रारब्ध कर्म और प्रतिष्ठाको धिक्कार है। उसकी

गीताशास्त्रे मतिर्नास्ति सर्वं तन्निष्फलं जगुः ।
धिक् तस्य ज्ञानदातारं व्रतं निष्ठां तपो यशः ॥१७॥
गीतार्थपठनं नास्ति नाधमस्तत्परो जनः ।
गीतागीतं न यज् ज्ञानं तद् विद्ध्यासुरसम्मतम् ॥१८॥
तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदान्तगर्हितम् ।
तस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका ॥
सर्वशास्त्रसारभूता विशुद्धा सा विशिष्यते ॥१९॥
योऽधीते विष्णुपर्वाहे गीतां श्रीहरिवासरे ।
स्वपन् जाग्रन् चलंस्तिष्ठन् शत्रुभिर्न स हीयते ॥२०॥
शालग्रामे शिलायां वा देवागारे शिवालये ।
तीर्थे नद्यां पठन् गीतां सौभाग्यं लभते ध्रुवम् ॥२१॥
देवकीनन्दनः कृष्णो गीतापाठेन तुष्यति ।
यथा न वेदैर्दानेन यज्ञतीर्थव्रतादिभिः ॥२२॥
गीताधीता च येनापि भक्तिभावेन चेतसा ।
वेदशास्त्रपुराणानि तेनाधीतानि सर्वशः ॥२३॥
योगस्थाने सिद्धपीठे शिलाग्रे सत्सभासु च ।
यज्ञे च विष्णुभक्ताग्रे पठन् सिद्धिं परां लभेत् ॥२४॥
गीतापाठञ्च श्रवणं यः करोति दिने दिने ।
क्रतवो वाजिमेधाद्याः कृतास्तेन सदक्षिणाः ॥२५॥

पूजा, मान और महत्त्वको धिक्कार! ॥१६॥ गीताशास्त्रमें जिसकी मति नहीं है अर्थात् उसमें जिसकी बुद्धिका प्रवेश नहीं उसका सब कुछ निष्फल है। उसके ज्ञानदाताको धिक्कार, उसकी व्रत-निष्ठा, तपस्या और यशको धिक्कार! ॥१७॥ जो आदमी गीताका पठन नहीं करता, उसकी अपेक्षा नराधम और कोई नहीं है। जो ज्ञान गीताशास्त्रमें लिखा नहीं है उसको आसुर ज्ञान जानो ॥१८॥ वह ज्ञान बिल्कुल ही निष्फल है और धर्मविरहित तथा वेदवेदान्त-विनिन्दित है। अतएव धर्ममयी गीताका आश्रय लो। वह सर्वज्ञान-प्रदायिनी और सर्वशास्त्रकी सारभूता है। गीताके समान विशुद्ध और कुछ नहीं है, इसलिए सर्वशास्त्रोंकी अपेक्षा यह विशिष्ट है ॥१९॥ विष्णुपर्व एकादशीमें जो गीताका पाठ करता है, वह निद्रा, जागरण, गमन, उपवेशन किसी भी अवस्थामें शत्रु द्वारा त्रासित नहीं होता ॥२०॥ अथवा जो आदमी शालग्राम-शिलाके पास अथवा देवालयमें, शिवालयमें, किसी तीर्थ स्थानमें या नदीके तटपर गीतापाठ करता है वह निश्चय ही सौभाग्यको प्राप्त करता है ॥२१॥ देवकी-नन्दन श्रीकृष्ण गीतापाठसे जैसा परितुष्ट होते हैं, वैसा वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, तीर्थ-सेवा तथा व्रतादिके अनुष्ठानके द्वारा नहीं होते ॥२२॥ जो आदमी भक्तियुक्त चित्तसे गीताका अध्ययन करता है, उसको वेदशास्त्र तथा पुराणादिके अध्ययनसे प्राप्त होनेवाले सब फल प्राप्त होते हैं ॥२३॥ योग-स्थानमें, सिद्ध-पीठमें, शालग्राम-शिलाके सामने, सज्जनोंकी सभामें, यज्ञक्षेत्रमें अथवा भगवद्भक्तके समीप जो गीतापाठ करते हैं वे परम सिद्धिको प्राप्त करते हैं ॥२४॥ जो प्रतिदिन गीताका पाठ या श्रवण करते हैं, जानना चाहिए कि उन्होंने मानो दक्षिणाके

यः शृणोति च गीतार्थं कीर्त्तयत्येव यः परम् ।
श्रावयेच्च परार्थं वै स प्रयाति परं पदम् ॥२६॥
गीतायाः पुस्तकं शुद्धं योऽर्पयत्येव सादरात् ।
विधिना भक्तिभावेन तस्य भार्या प्रिया भवेत् ॥२७॥
यशः सौभाग्यमारोग्यं लभते नात्र संशयः ।
दयितानां प्रियो भूत्वा परमं सुखमश्नुते ॥२८॥
अभिचारोद्भवं दुःखं वरशापागतञ्च यत् ।
नोपसर्पति तत्रैव यत्र गीतार्चनं गृहे ॥२९॥
तापत्रयोद्भवा पीड़ा नैव व्याधिर्भवेत्क्वचित् ।
न शापो नैव पापञ्च दुर्गतिं नरकं न च ॥३०॥
विस्फोटकादयो देहे न बाधन्ते कदाचन ।
लभेत् कृष्णपदे दास्यं भक्तिञ्चाव्यभिचारिणीम् ॥३१॥
जायते सततं सख्यं सर्वजीवगणैः सह ।
प्रारब्धं भुञ्जतो वापि गीताभ्यासरतस्य च ॥३२॥
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ।
महापापातिपापानि गीताध्यायी करोति चेत् ॥
न किञ्चित् स्पृश्यते तस्य नलिनीदलमम्भसा ॥३३॥
अनाचारोद्भवं पापं अवाच्यादिकृतं च यत् ।
अभक्ष्यभक्षजं दोषमस्पृश्यस्पर्शजं तथा ॥३४॥
ज्ञानाज्ञानकृतं नित्यमिन्द्रियैर्जनितञ्च यत् ।
तत्सर्वं नाशमायाति गीतापाठेन तत्क्षणात् ॥३५॥

साथ अश्वमेधादि यज्ञ कर लिये ॥२५॥ जो गीतार्थ श्रवण या कीर्तन करते हैं अथवा दूसरोंको सुनानेके लिए गीताकी व्याख्या करते हैं वे परमपदको प्राप्त होते हैं ॥२६॥ जो भक्तिके साथ विधिपूर्वक सादर विशुद्ध गीता-पुस्तक दान करते हैं, उनकी भार्या प्रिया होती है ॥२७॥ वे यश, सौभाग्य और आरोग्य प्राप्त करते हैं और स्नेही लोगोंके प्रिय होकर परम सुखको प्राप्त होते हैं, इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं है ॥२८॥ जिस घरमें गीताकी अर्चना होती है, वहाँ अभिचार या अभिशापादि-जनित किसी प्रकारका दुःख नहीं आ सकता ॥२९॥ तापत्रयसे उत्पन्न पीड़ा, व्याधि, अभिशाप, पाप, दुर्गति या नरक-यन्त्रणा उनको नहीं भोगनी पड़ती। उनके शरीरमें विस्फोटादि व्याधि नहीं उत्पन्न होती। वह कृष्ण-पदमें दास्य और अव्यभिचारिणी भक्ति प्राप्त करते हैं ॥३०-३१॥ गीताभ्यासमें रत मनुष्यकी सभी जीवोंके साथ सख्यता प्राप्त होती है। वह प्रारब्धका भोग करता हुआ भी मुक्त और सुखी कहा जा सकता है, क्योंकि किसी कर्म द्वारा वह आबद्ध नहीं होता। गीताध्यायी यदि महापाप और अति पाप भी करे तो पद्मपत्रस्थ जलके समान वह उसको स्पर्श नहीं कर सकता ॥३२-३३॥ अनाचारजनित और अवाच्य भाषणजनित सारे पाप, अभक्ष्य-भक्षणजनित तथा अस्पृश्य-स्पर्शजनित दोष, ज्ञानाज्ञानकृत अथवा इन्द्रियजनित सारे दोष गीतापाठके द्वारा तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं ॥३४-३५॥

सर्वत्र प्रतिभोक्ता च प्रतिगृह्य स सर्वशः ।
गीतापाठं प्रकुर्वाणो न लिप्यते कदाचन ॥३६॥
रत्नपूर्णां महीं सर्वां प्रतिगृह्याविधानतः ।
गीतापाठेन चैकेन शुद्धस्फटिकवत् सदा ॥३७॥
यस्यान्तःकरणं नित्यं गीतायां रमते सदा ।
स साग्निकः सदा जापी क्रियावान् स च पण्डितः ॥३८॥
दर्शनीयः स धनवान् स योगी ज्ञानवानपि ।
स एव याज्ञिको याजी सर्ववेदार्थदर्शकः ॥३९॥
गीतायाः पुस्तकं यत्र नित्यपाठश्च वर्त्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि भूतले ॥४०॥
निवसन्ति सदा देहे देहशेषेऽपि सर्वदा ।
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनो देहरक्षकाः ॥४१॥
गोपालो बालकृष्णोऽपि नारदध्रुवपार्षदैः ।
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्त्तते ॥४२॥
यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं तथा ।
मोदते तत्र श्रीकृष्णो भगवान् राधिकासह ॥४३॥

श्रीभगवानुवाच

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम् ।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानमव्ययम् ॥४४॥
गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम् ।
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरुः ॥४५॥

सर्वत्र भोजन और सर्वत्र प्रतिग्रह करने पर भी गीतापाठ करनेवालोंको वे पाप लिप्त नहीं कर सकते ॥३६॥ अविहित भावसे (शास्त्रविधिका उल्लङ्घन करके) रत्नपूर्णा पृथ्वीका परिग्रह करके भी एकमात्र गीतापाठके द्वारा विधौत-पाप होकर मनुष्य स्वच्छ स्फटिकके समान शुद्ध हो जाता है ॥३७॥ जिसका अन्तःकरण सदा गीतामें रममाण होता है, वही साग्निक है, वही जापक है, वही उपासक है, वही क्रियावान् है, वही पण्डित है, वही दर्शनीय है, वही धनवान है, वही योगी है, वही ज्ञानवान है, वही याज्ञिक है, वही याचक है, वही सर्ववेदार्थदर्शी है ॥३८-३९॥ जहाँ नित्य गीताका पाठ होता है, प्रयागादि पृथ्वीके समस्त तीर्थ वहाँ विद्यमान रहते हैं ॥४०॥ उसके जीवनकालमें तथा देहावसानके बाद भी सारे देवता, ऋषि, योगी उसका देहरक्षक होकर वास करते हैं ॥४१॥ जिसके घर नित्य गीता पाठ होता है, नारद, ध्रुव आदि पार्षदोंके साथ बालकृष्ण उसके सहायक होते हैं ॥४२॥ गीताशास्त्रका विचार, अध्ययन, अध्यापन जहाँ होता है, वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण राधिकाके साथ परमानन्द करते हैं ॥४३॥ श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ, गीता मेरा हृदय है, मेरा सार-सर्वस्व है । मेरा अत्युग्र ज्ञान है तथा मेरा अव्यय ज्ञानरूप है ॥४४॥ गीता मेरा परम उत्तम स्थान है, मेरा परम पद है, मेरी अतीव गुह्य वस्तु

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे परमं गृहम् ।
गीताज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकं पालयाम्यहम् ॥४६॥
गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ।
अर्द्धमात्रा परा नित्यमनिर्वाच्यपदात्मिका ॥४७॥
गीतानामानि वक्ष्यामि गुह्यानि शृणु पाण्डव ।
कीर्तनात् सर्वपापानि विलयं यान्ति तत्क्षणात् ॥४८॥
गङ्गा गीता च सावित्री सीता सत्या पतिव्रता ।
ब्रह्मावलिर्ब्रह्मविद्या त्रिसन्ध्या मुक्तिगेहिनी ॥४९॥
अर्द्धमात्रा चिदानन्दा भवघ्नी भ्रान्तिनाशिनी ।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी ॥५०॥
इत्येतानि जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं लभेन्नित्यं तथान्ते परमं पदम् ॥५१॥
पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णे तदर्द्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥५२॥
त्रिभागं पठमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ।
षडंशं जपमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत् ॥५३॥
तथाध्यायद्वयं नित्यं पठमानो निरन्तरम् ।
इन्द्रलोकमवाप्नोति कल्पमेकं वसेत् ध्रुवम् ॥५४॥
एकमध्यायकं नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥५५॥
अध्यायार्धञ्च पादं वा नित्यं यः पठते जनाः ।
प्राप्नोति रविलोकं स मन्वन्तरसमाः शतम् ॥५६॥

तथा मेरा परम गुरु है ॥४५॥ गीताके आश्रयसे मैं अवस्थित हूँ, यह मेरा परम गृह है। गीताज्ञानका आश्रय करके मैं त्रिलोकका पालन करता हूँ ॥४६॥ गीता ब्रह्मरूपा है, अर्द्धमात्रा स्वरूपा है, अनिर्वाच्य-पदात्मिका है, परमा विद्यारूपिणी है ॥४७॥ हे पाण्डव, गीताके समस्त गुह्य नामोंको कहता हूँ श्रवण करो। इन नामोंका कीर्तन करनेसे सारे पाप तत्काल विनष्ट हो जाते हैं ॥४८॥ गङ्गा, गीता, सावित्री, सीता, सत्या, पतिव्रता, ब्रह्मावलि, ब्रह्मविद्या, त्रिसन्ध्या, मुक्तिगेहिनी, अर्द्धमात्रा, चिदानन्दा, भवघ्नी, भ्रान्तिनाशिनी, वेदत्रयी, परानन्दा, तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी—ये गीताके नाम हैं। जो आदमी निश्चल चित्तसे इन नामोंका नित्य जप करता है, वह ज्ञान और सिद्धि लाभ करके अन्तमें परम पदको प्राप्त होता है ॥४९-५१॥ जो सम्पूर्ण गीतापाठमें असमर्थ है वह उसका अर्द्ध पाठ करे, उससे ही उसे निःसन्देह गोदान-जनित पुण्यलाभ होगा ॥५२॥ जो गीताका एक तृतीयांश पाठ करेगा, वह सोमयागका फल प्राप्त करेगा। जो गीताका षडांश पाठ करेगा उसे गङ्गा-स्नानका फल प्राप्त होगा ॥५३॥

जो प्रतिदिन दो अध्याय निरन्तर पाठ करता है वह एक कल्पकाल तक निश्चय इन्द्रलोकमें वास करता है ॥५४॥ जो व्यक्ति भक्ति-संयुक्त होकर एक अध्याय भी पाठ करता है वह रुद्रलोकमें गणत्वको प्राप्त होकर चिर काल तक वास करता है ॥५५॥ जो अध्यायका अर्द्ध या एक

गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पञ्च चतुष्टयम्।
त्रिद्व्येकमेकमर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः।
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं तथा ॥५७॥
गीतार्थमेकपादञ्च श्लोकमध्यायमेव च।
स्मरंस्त्यक्त्वा जनो देहं प्रयाति परमं पदम् ॥५८॥
गीतार्थमपि पाठं वा शृणुयादन्तकालतः।
महापातकयुक्तोऽपि मुक्तिभागी भवेज्जनः ॥५९॥
गीतापुस्तकसंयुक्तः प्राणांस्त्यक्त्वा प्रयाति यः।
स वैकुण्ठमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥६०॥
गीताध्यायसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत्।
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ॥
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ॥६१॥
यद्यत् कर्म च सर्वत्र गीतापाठप्रकीर्त्तिमत्।
तत्तत् कर्म च निर्दोषं भूत्वा पूर्णत्वमाप्नुयात् ॥६२॥
पितॄनुद्दिश्य यः श्राद्धे गीतापाठं करोति हि।
सन्तुष्टाः पितरस्तस्य निरयाद् यान्ति स्वर्गतिम् ॥६३॥
गीतापाठेन सन्तुष्टाः पितरः श्राद्धतर्पिताः।
पितृलोकं प्रयान्त्येव पुत्राशीर्वादतत्पराः ॥६४॥
गीतापुस्तकदानञ्च धेनुपुच्छसमन्वितम्।
कृत्वा च तद्दिने सम्यक् कृतार्थो जायते जनः ॥६५॥

पाद नित्य पाठ करता है, वह शत मन्वन्तर तक रविलोकमें वास करता है ॥५६॥ जो गीताके दश, सात, पाँच, चार, तीन, दो, एक या अर्द्ध श्लोक भी पाठ करता है, वह दस हजार वर्ष तक चन्द्रलोकमें वास करता है ॥५७॥ जो गीताके एक अध्याय, एक पाद या एक श्लोक मात्रका अर्थ स्मरण करते-करते देहत्याग करता है, वह परम पदको प्राप्त करता है ॥५८॥ जो अन्तकालमें गीतार्थ या गीतापाठ श्रवण करता है, वह महापातकयुक्त होने पर भी मुक्तिका भागी होता है ॥५९॥ जो गीता-पुस्तक-संयुक्त होकर प्राण त्याग करता है वह वैकुण्ठ धामको प्राप्त होकर विष्णुके साथ परमानन्दमें वास करता है ॥६०॥ गीताके एक अध्यायका अर्थ समझकर जिसकी मृत्यु होती है, उसको फिर नीच योनिको प्राप्त नहीं होना पड़ता, वह पुनः मनुष्य-योनिको प्राप्त कर उस देहसे गीताभ्यास करके मुक्तिलाभ करता है। मृत्युकालमें 'गीता' शब्दमात्रका उच्चारण करने पर भी उसको सद्गति प्राप्त होती है ॥६१॥ गीतापाठपूर्वक जो कर्म प्रारम्भ किये जाते हैं वे कर्म निर्दोष होकर पूर्ण फलप्रदान करनेमें समर्थ होते हैं ॥६२॥ श्राद्धकालमें पितरोंके उद्देश्यसे गीतापाठ होने पर वे निरयमें हों तो वहाँसे स्वर्गमें गमन करते हैं ॥६३॥ श्राद्धतर्पित पितर लोग गीतापाठसे सन्तुष्ट होकर पुत्रोंको आशीर्वाद देते हुए पितृलोकको गमन करते हैं ॥६४॥ जो धेनुपुच्छसमन्वित गीतापुस्तक दान करता है, वह उसी दिन सम्यक् रूपसे कृतकृत्य हो जाता है ॥६५॥

पुस्तकं हेमसंयुक्तं गीतायाः प्रकरोति यः ।
दत्त्वा विप्राय विदुषे जायते न पुनर्भवम् ॥६६॥
शतपुस्तकदानञ्च गीतायाः प्रकरोति यः ।
स याति ब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥६७॥
गीतादानप्रभावेन सप्तकल्पमिताः समाः ।
विष्णुलोकमवाप्यान्ते विष्णुना सह मोदते ॥६८॥
सम्यक् श्रुत्वा च गीतार्थं पुस्तकं यः प्रदापयेत् ।
तस्मै प्रीतः श्रीभगवान् ददाति मानसेप्सितम् ॥६९॥
देहं मानुषमाश्रित्य चातुर्वर्ण्येषु भारत ।
न शृणोति न पठति गीताममृतरूपिणीम् ॥
हस्तात्त्यक्त्वामृतं प्राप्तं स नरो विषमश्नुते ॥७०॥
जनः संसारदुःखार्त्तो गीताज्ञानं समालभेत् ।
पीत्वा गीतामृतं लोके लब्ध्वा भक्तिं सुखी भवेत् ॥७१॥
गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गतास्ते परमं पदम् ॥७२॥
गीतासु न विशेषोऽस्ति जनेषूच्चारकेषु च ।
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी ॥७३॥
योऽभिमानेन गर्वेण गीतानिन्दां करोति च ।
स याति नरकं घोरं यावदाभूतसंप्लवम् ॥७४॥
अहङ्कारेण मूढ़ात्मा गीतार्थं नैव मन्यते ।
कुम्भीपाकेषु पच्येत यावत् कल्पक्षयो भवेत् ॥७५॥

जो सुवर्णसंयुक्त गीतापुस्तक विद्वान् विप्रको दान करता है, उसका फिर पुनर्जन्म नहीं होता ॥६६॥ जो एक सौ गीतापुस्तक दान करता है वह ब्रह्मलोकको गमन करता है, उसकी पुनरावृत्तिकी संभावना नहीं रहती ॥६७॥ गीतादानके प्रभावसे विष्णुलोकको प्राप्त होकर वह सप्तकल्प-काल पर्यन्त विष्णुके साथ आनन्दभोग करता है ॥६८॥ गीतका सम्यक् अर्थ श्रवण कर जो गीता पुस्तक दान करता है उसके प्रति श्रीभगवान् प्रसन्न होकर उसके मनकी अभिलषित वस्तु उसे प्रदान करते हैं ॥६९॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके कुलमें मनुष्य-देहको प्राप्तकर जो मनुष्य इस अमृतरूपिणी गीताका श्रवण या पाठ नहीं करता, वह हाथमें स्थित अमृतका त्याग कर विषभक्षण करता है ॥७०॥ संसारदुःखसे पीड़ित मनुष्य गीताज्ञान प्राप्तकर तथा गीता-मृत पान करके भक्ति लाभ करके सुखी होता है ॥७१॥ जनकादि अनेक राजा गीताका आश्रय करके, संसारमें समस्त पापोंसे विमुक्त होकर परम पदको प्राप्त हुए हैं ॥७२॥ कोई गीतोक्त श्लोक उच्चारण करे या कोई गीतोक्त ज्ञान प्राप्त करे, इनके फलमें कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूपिणी गीता सबके लिए समभावापन्न है ॥७३॥ अहङ्कार से या गर्वसे जो मुढ़ात्मा गीताकी निन्दा करता है, वह महाप्रलय पर्यन्त घोर नरकमें वास करता है ॥७४॥ जो मूढ़ात्मा अहङ्कारवश गीतार्थ नहीं जानना चाहता, वह कल्पक्षय-काल पर्यन्त कुम्भीपाक-नरकमें पचता

गीतार्थं वाच्यमानं यो न शृणोति समीपतः ।
स शूकरभवां योनिमनेकामधिगच्छति ॥७६॥
चौर्यं कृत्वा च गीतायाः पुस्तकं यः समानयेत् ।
न तस्य सफलं किञ्चित् पठनञ्च वृथा भवेत् ॥७७॥
यः श्रुत्वा नैव गीतार्थं मोदते परमार्थतः ।
नैव तस्य फलं लोके प्रमत्तस्य यथा श्रमः ॥७८॥
गीतां श्रुत्वा हिरण्यञ्च भोज्यं पट्टाम्बरं तथा ।
निवेदयेत् प्रदानार्थं प्रीतये परमात्मनः ॥७९॥
वाचकं पूजयेद् भक्त्या द्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः ।
अनेकैर्बहुधा प्रीत्या तुष्यतां भगवान् हरिः ॥८०॥

सूत उवाच—

महात्म्यमेतद्गीतायाः कृष्णप्रोक्तं पुरातनम् ।
गीतान्ते पठते यस्तु तथोक्तफलभाग् भवेत् ॥८१॥
गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठफलं तस्य श्रम एव उदाहृतः ॥८२॥
एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः ।
श्रद्धया यः शृणोत्येव परमां गतिमाप्नुयात् ॥८३॥
श्रुत्वा गीतामर्थयुक्तां माहात्म्यं यः शृणोति च ।
तस्य पुण्यफलं लोके भवेत्सर्वसुखावहम् ॥८४॥

इति श्रीवैष्णवीयतन्त्रसारे श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यं समाप्तम् । श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

रहता है ॥७५॥ समीपमें गीतापाठ होता है, यह देखकर भी जो आदमी अनादर करके नहीं सुनता, वह अनेक जन्म शूकर-योनिको प्राप्त होता है ॥७६॥ जो आदमी गीता-पुस्तक चुरा लाता है उसको कोई फल नहीं मिलता, उसका गीतापाठ व्यर्थ हो जाता है ॥७७॥ जो आदमी गीतार्थ श्रवण करके परमार्थलाभमें यत्नशील नहीं होता, उसका श्रम उन्मत्तके श्रमके समान निष्फल हो जाता है ॥७८॥ गीता श्रवण करके स्वर्ण, भोज्य, पट्टवस्त्र आदि परमात्माके प्रीत्यर्थ निवेदन करे ॥७९॥ गीताके व्याख्याकर्त्ताको भक्तिपूर्वक नाना प्रकारके द्रव्य और वस्त्रादि प्रदान करके भगवान् हरि ही सन्तुष्ट किये जाते हैं ॥८०॥

सूत बोले—श्रीकृष्णोक्त गीताके इस माहात्म्यको जो आदमी गीतापाठके अन्तमें पाठ करता है, वह यथोक्त फलका भागी होता है ॥८१॥ गीतापाठ करके जो गीताके महात्म्यका पाठ नहीं करता, उसको गीतापाठका फल प्राप्त नहीं होता, उसको केवल परिश्रम ही हाथ लगता है ॥८२॥ माहात्म्यके साथ जो गीताका पाठ करता है अथवा श्रद्धापूर्वक श्रवण करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥८३॥ जो अर्थके साथ गीता श्रवण करके माहात्म्य भी श्रवण करता है, उसको सर्वसुखावह पुण्यफल प्राप्त होता है ॥८४॥

इति श्रीवैष्णवीयतन्त्रसारका श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्य समाप्त हुआ ।

—ॐ हरिः ॐ—

षट् चक्रोंके षट् पद्मोंका संक्षिप्त विवरण

(१) मूलाधार - पद्म	४	दल	४	वायु	४	देवता	४	अक्षर
(२) स्वाधिष्ठान पद्म	६	"	६	"	६	"	६	"
(३) मणिपूर पद्म	१०	"	१०	"	१०	"	१०	"
(४) अनाहत पद्म	१२	"	१२	"	१२	"	१२	"
(५) विशुद्धाख्य पद्म	१६	"	१६	"	१६	"	१६	"
(६) आज्ञा पद्म	२	"	२	"	२	"	२	"

ये सब मिलकर एक वायु और एक देवता हैं। उपर्युक्त ५० और सब मिलकर जो १ हैं—वे सब ५१ हुए। यही ५१ पीठचक्र हैं। उक्त ५० मातृकावर्ण हैं। अ उ म से नादके साथ, तथा सबके भीतर बिन्दु है। वह बिन्दु ही ब्रह्म या सदाशिव हैं। वही परम व्योम-स्वरूप शिव हैं। उनके जिन जिन स्थानोंमें जो जो अक्षर हैं, उसका वर्णन इस प्रकार है—*

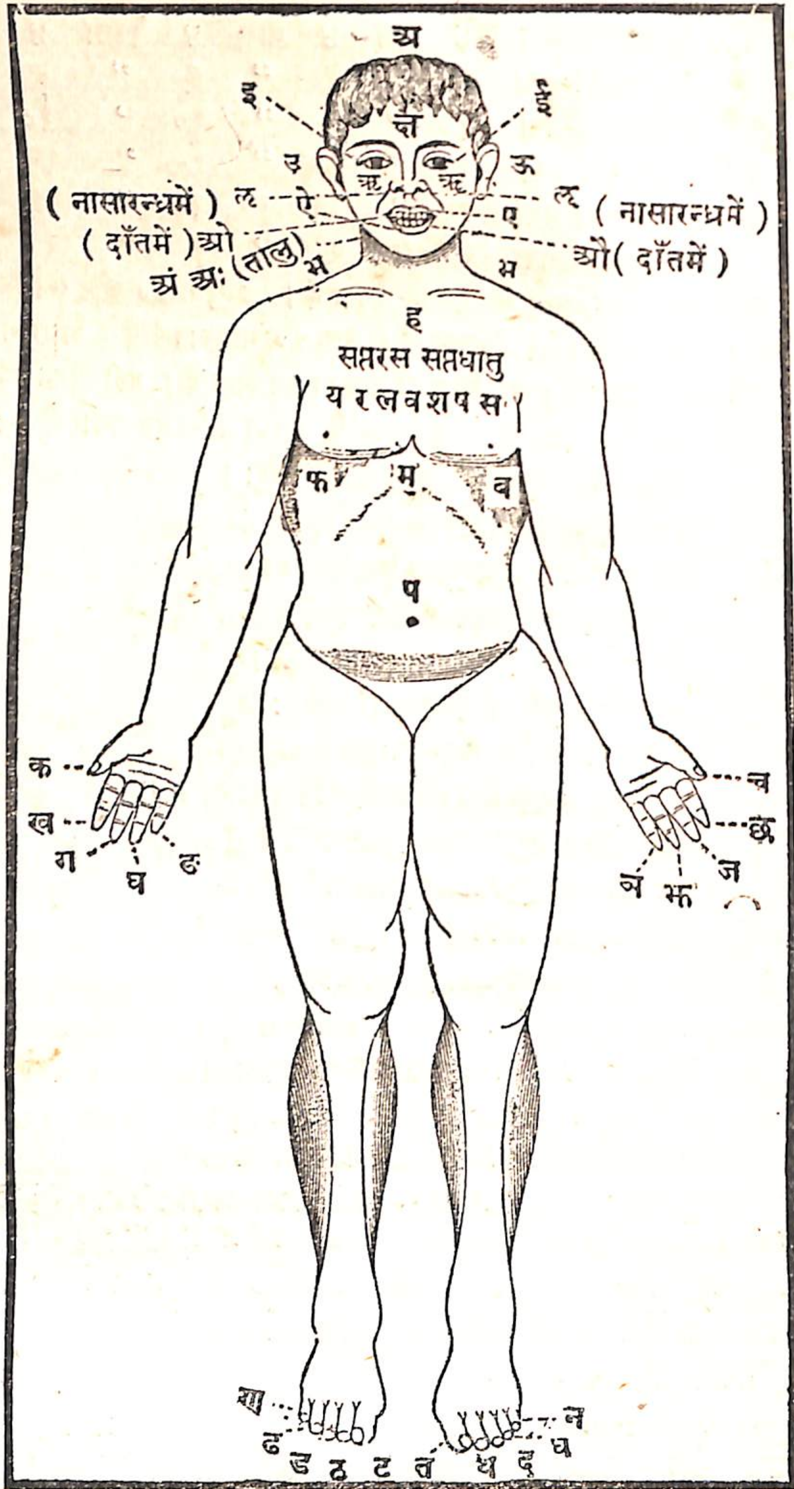
अकारमस्य मूर्द्धानं ललाटं दीर्घमं विदुः।
इकारं दक्षिणं नेत्रमीकारं वामलोचनम्॥
उकारं दक्षिणं श्रोत्रमूकारं वाममेव च।
ऋकारं दक्षिणं तस्य कपोलं परमेष्ठिनः॥
वामकपोलमृकारं ऌ ॡ नासापुटे शुभे।
एकारमोष्ठमूर्ध्वं च ऐकारमधरं विभोः॥
ओकारञ्च तथौकारं दन्तपंक्तिद्वयं क्रमात्।
अं अस्तु तालुनी तस्य कादि-पञ्चाक्षराणि तु॥
पञ्च दक्षकराङ्गुल्यश्चादिपञ्चाक्षराणि तु।
पञ्च वामकराङ्गुल्यष्टादि पञ्चाक्षरं पदः॥
तादिपञ्चाक्षरं वामपादस्याङ्गुलयः क्रमात्।
पकारमुदरं तस्य फकारं पार्श्वमेव च॥
बकारं वामपार्श्वं वै भकारं स्कन्धमस्य तु।
मकारं हृदयं तस्य शकारान्तास्तु यादयः॥
सप्तरसादयः सप्तधातवस्तस्य च स्मृताः।
हकारमात्मनस्तस्य क्षकारं क्रोधमेव च॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, चन्द्र, सूर्य, अग्नि—ये छ देवता स्वशक्तिके साथ ४६ देवता हैं। सारे देवता इसी कारण वायु हैं—"नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।"

चक्रोंकी वायु अपानके आकर्षणमें होनेके कारण उनके पद्म अधोमुखी हैं। इनको प्राणायामके द्वारा ऊर्ध्वमुख करना होगा। मूलाधार पर्यन्त वायुके गमन करने पर विद्युत्के समान प्रभा होती है तथा बन्धूक पुष्पके समान रक्तवर्ण दीख पड़ती है। आधारचक्रके चार दलोंमें चार देवता हैं—ब्रह्मा, गणेश, जगद्धात्री और सरस्वती। ब्रह्मा इच्छाओंके बीज है, वाग्देवी इच्छा द्वारा बात कराती हैं, सरस्वती सब स्वरोंके आदिमें हैं तथा विनायक कर्त्ता हैं। इनके वशमें सब हैं, इसीसे इनको सिद्धिदाता कहते हैं।

---

* शरीरमें इन अक्षरों का जो जो स्थान है उनको अगले पृष्ठके चित्रमें देखिये।



अ
इ
ई
उ
ऊ
ऋ
ॠ
(नासारन्ध्रमें) ऌ
ऐ
ॡ (नासारन्ध्रमें)
ए
(दाँतमें) ओ
औ (दाँतमें)
अं अः (तालु)
ह
सप्तरस सप्तधातु
य र ल व श ष स
फ
म
ब
प
क
ख
ग
घ
ङ
च
छ
ज
झ
ञ
ण
ढ
ड
ठ
ट
त
थ
द
ध
न

चतुर्दल-समन्वित मूलाधार-पद्म

अथाधारपद्मं सुषुम्नास्यलग्नं, ध्वजाधो गुदोर्ध्वं चतुःशोणपत्रम् ।
अधोवक्त्रमुद्यत्सुवर्णाभवर्णैर्वकारादिसान्तैर्युतं वेदवर्णैः ॥

आधार-पद्म सुषुम्नाके मुखमें लगा है। वह लिङ्गके अधोभागमें और गुह्यद्वारके ऊपरमें अवस्थित है। वह अधोमुख है और तप्त सुवर्णकी आभाके सदृश है। वह व, श, ष, स—इस वर्ण-चतुष्टयसे युक्त है।

अमुष्मिन् धरायाश्चतुष्कोणचक्रं, समुद्भासिशूलाष्टकैरावृतं तत् ।
लसत्पीतवर्णं तड़ित्कोमलाङ्गं तदन्तःसमास्ते धरायाः स्वबीजम् ॥

इस मूलाधार-पद्ममें चतुष्कोण पृथ्वीचक्र शोभा पा रहा है। वह दीप्तिमान है और शूलाष्टक-द्वारा समावृत है। उस चतुष्कोण चक्रके बीचमें पृथ्वीका स्वीय बीज 'लं' विराजित है। वह बीज दीप्त पीतवर्ण और तड़ित्के समान कोमलाङ्ग है।

चतुर्बाहुभूषो गवेन्द्राधिरूढस्तदङ्के नवीनार्कतुल्यप्रकाशः ।
शिशुः सृष्टिकारी लसद्वेदबाहुर्मुखाम्भोजलक्ष्मीश्चतुर्भागवेदः ॥

पृथ्वीचक्रके अन्तर्गत धराबीजके क्रोड़में नवीन सूर्यके प्रकाशके तुल्य रक्तवर्ण एक शिशु विराजमान है। वह चतुर्मुख है, उसके चार मुखारविन्दोंमें चतुर्भाग वेद शोभा पा रहे हैं।

वसेदत्र देवी च डाकिन्यभिख्या लसद्वेदबाहूज्ज्वला रक्तनेत्रा ।

उस चतुष्कोण चक्रमें रक्तनेत्रा चतुर्बाहुयुक्ता अनेक सूर्योंके प्रकाशके समान डाकिनी नामकी देवी अवस्थित हैं।

वज्राख्यवक्त्रदेशे विलसति सततं कर्णिकामध्यसंस्थं
कोणं तत्त्रैपुराख्यं तड़िदिव विलसत् कोमलं कामरूपम् ।
कन्दर्पो नाम वायुर्विलसति सततं तस्य मध्ये समन्तात्
जीवेशो बन्धुजीवप्रकरमभिहसन् कोटिसूर्यप्रकाशः ॥

वज्रा नामक नाड़ीके मुखप्रदेशमें, आधारपद्मकी कर्णिकामें, विद्युत्के समान शोभमान मनोज्ञ सर्वकामाभिलाषसम्पादक त्रैपुर नामक त्रिकोण यन्त्र है। उस त्रिकोण यन्त्रके बीचमें व्याप्त कन्दर्पनामक वायु निरन्तर विराजमान है। वह जीवात्माका स्वामी-स्वरूप, बन्धूक पुष्पकी अपेक्षा भी अधिक रक्तवर्ण, तथा कोटिसूर्यके समान तेजःसम्पन्न है।

(१) इस पद्मको मूलाधार कहते हैं, क्योंकि जिसके ऊपर स्थिति है वही आधार (ब्रह्म) है और वही मूल है। उस मूलमें जो वायु है उसका नाम 'संवह' है अर्थात् स्वयंभूलिङ्ग प्राण। इसको जो वहन करता है उसका नाम 'समिर' है, वह अधोमुख रहता है। प्रातःकालमें सभी बहिर्गमनके पूर्व इसका अनुभव करते हैं। समिर वायु मूलाधारमें शक्तिस्वरूपमें पद्मके अग्निकोणमें विराजमान है। उसको योगी लोग सरस्वती-रूपमें देखते हैं। सरस्वती—शुक्लवर्णां शुक्लवस्त्रपरिधानां द्विभुजां रक्तलोचनां—इत्यादि। यहाँ और भी अनेक देव-दानवादिका घर है। यहाँ स्थावर, जङ्गम, कीट, पशु, मनुष्यादिका ज्योतिर्मय 'वं' बीज लक्षित होता है।

(२) इस चक्रके नैर्ऋत कोणमें जो शक्तिस्वरूपा वायु है उसको योगी लोग सरस्वती—विनायकरूपमें देखा करते हैं—"श्वेतमाल्यलयां द्विभुजां श्वेतमाल्योपशोभितां"। इस

वायुका नाम "अजगत् प्राण" है। इस स्थिर वायुके द्वारा चक्षुके लिए अदृश्य जन्म-मृत्युको योगी लोग देखते हैं।

यहाँ योगी लोग चौदह भुवन, चतुष्कोण पृथ्वी और ज्योतिर्मय पीतवर्ण 'लं' बीजको देख पाते हैं। इस स्थानसे हिमालय पहाड़ भी देखा जाता है।

(३) इस चक्रके वायव्यकोणमें प्रकम्पन नामक जो वायु है उसका नाम सावित्री है, वह भी सरस्वती है। इन तीन सरस्वतीके द्वारा तीन स्वर चलते हैं—इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना। योगी लोग इस वायुशक्तिरूपाको इस प्रकार देखते हैं—"कुन्दपुष्पप्रभां द्विभुजां पङ्कजेक्षणां"। यहाँ ही त्रिवलयाकार कुण्डलनी है। यह आधा फण निकाले हुए सर्पके आकारमें परपद्ममें है, जो जगत्को धारण किये हुए है। योगियोंकी इस ध्यानगम्य अवस्थाका वर्णन सुनकर ही लोकप्रवाद चला आ रहा है कि पृथ्वी सर्पके मस्तक पर स्थापित है। यहाँ योगी लोग चन्द्रशेखर, मलयपर्वत और ज्योतिर्मय 'यं' बीजको देखते हैं। प्राणायामके समय इस वायुके द्वारा समस्त शब्द अपने आप उच्चारित होते हैं और 'यं' बीजका दर्शन होता है। यहाँ चतुष्कोण पृथिवीकी सावित्री-शक्तिके साथ देवता और पर्वत देखे जाते हैं। इनके वाहन गजेन्द्र हैं। तथा सुवेणु नामक और भी अनेक पर्वत दीख पड़ते हैं। इस पृथ्वीमें नाद तथा और भी दो पर्वत हैं। इसका बीज 'ह्रीं' है। कूर्मदेवके ऊपर पृथिवी और उसके ऊपर मायाका खिंचाव है। इसी कारण पृथ्वी अर्थात् मूलाधार-चक्रकी जय हुए बिना मायाके प्रभावको रोकनेका कोई उपाय नहीं है।

(४) मूलाधारके ईशान कोणमें जो वायु है उसका नाम आवक है। इस वायु-शक्तिको योगी लोग जगद्धात्री-रूपमें देखते हैं। उसका रूप है—"शुक्लवर्णीं त्रिनयनां चतुर्भुजां चकोराक्षीं चारुचन्दनचर्चितां। रत्नालङ्कारभूषाढ्यां श्वेतमाल्योपशोभिताम्।" योगी लोग यहाँ सप्त समुद्रको वलयाकारमें देखते हैं। यह वायु शक्तिरूपा रूपमें चतुर्दलमें विराजमान है। इस शक्तिमें स्वयम्भू लिङ्ग प्राणके प्रवेश करने पर मैथुन होता है। इस मैथुनके द्वारा ही समाधि प्राप्त होती है। इसीके कारण महादेव महायोगी हैं। निरन्तर प्राणायाम करनेके बाद ध्यानमें विचित्र सामर्थ्य आता है और निरन्तर शून्य-ध्यानसे एक वर्षमें सिद्धि होती है। राजयोग निरावलम्बमें इच्छारहित होने पर राजाधिराज-योग होता है। मूलाधारमें रहने पर सूक्ष्म रक्तवर्ण त्रिकोण ज्योतिरूप 'लं' बीज और उसके भीतर ज्योतिर्मय लिङ्ग दीख पड़ता है।

लिङ्गमूलमें षड्दल-समन्वित स्वाधिष्ठान पद्म

सिन्दूरपूररुचिरारुणपद्ममन्यत् सौषुम्न्यमध्यघटितं ध्वजमूलदेशे।
अङ्गच्छदैः परिवृतं तड़िदाभवर्णैर्बाद्यैः सविन्दुलसितैश्च पुरन्दरान्तैः॥

ध्वजमूलमें सुषुम्नामध्यस्थ चित्रिणी नाड़ीमें स्थित सिन्दूरपूरशोभित अरुणवर्ण, षट्पत्रपरिवृत विद्युद्वर्ण एक पद्म है, वही स्वाधिष्ठान है। इसके छ दल ब, भ, म, य, र, ल इन छ अक्षरोंसे युक्त हैं।

अस्यान्तरे प्रविलसद्विषदप्रकाशमम्भोजमण्डलमथो वरुणस्य तस्य।
अर्द्धेन्दुरूपलसितं शरदिन्दुशुभ्रं वंकारबीजममलं मकराधिरूढम्॥

इस स्वाधिष्ठान पद्मके भीतर वरुणदेवका निर्मल प्रकाश, अर्द्धचन्द्राकार अम्भोजमण्डल विराजमान है। उसमें शरदिन्दुसदृश शुभ्रवर्ण, मकरवाहन अमल वं-बीज विराजित है।

तस्याङ्कदेशकलितो हरिरेव पायात् नीलप्रकाशरुचिरश्रियमादधानः।
पीताम्बरः प्रथमयौवनगर्वधारी श्रीवत्सकौस्तुभधरो धृतवेदबाहुः॥

इस पद्ममें वरुणके अङ्कदेशमें मनोहर नीलवर्ण, श्रीधारी, पीताम्बर, नवयौवनयुक्त, श्रीवत्स-कौस्तुभधारी, चतुर्भुज हरि विराजमान हैं, वह तुम्हारी रक्षा करें॥

अत्रैव भाति सततं खलु राकिनी सा नीलाम्बुजोदरसहोदरकान्तिशोभा।
नानायुधोद्यतकरैर्लसिताङ्गलक्ष्मी दिव्याम्बराभरणभूषितमत्तचित्ता॥

इस स्वाधिष्ठान पद्ममें नीलकमलके समान कान्तिमती, नाना प्रकारके अस्त्रोंको धारण करनेवाली, दिव्याम्बरा, दिव्याभरणभूषिता 'राकिनी' नामकी शक्ति अवस्थान करती है।

लिङ्गमूलमें षड्दलपद्म-युक्त स्वाधिष्ठानचक्र अवस्थित है। यहाँ रक्तवर्णा राकिनी शक्ति और महाविष्णु नामसे शिवजी विराजमान हैं। यहाँ विष्णु द्विभुज मुरलीधर हैं।

पद्ममध्ये गोलकाख्यं श्रीविष्णुर्भोगमन्दिरम्।
तत्रैव सततं भाति द्विभुजं मुरलीधरम्॥
निराकारो महाविष्णु साकारोऽपि क्षणे क्षणे।
यदा साकाररूपोऽसौ तदैव मुरलीधरम्॥
तदा सत्त्वमयं विष्णुर्भुवनं पाति निश्चितम्।
बीजकोषस्य बाह्ये तु वेष्टितं तोयमण्डलम्।
प्रमाणं सुन्दरं तोयं यथा क्षीरोदसागरम्॥
तत्रैव राधिकादेवी नानासुखविलासिनी।
वामभागे सदा भाति राधिका कृष्णवत्सला॥

लिङ्गके मूलदेशमें सुषुम्नाके बीच चित्रिणी नामकी नाड़ी है, उसमें ब, भ, म, य, र, ल—इन छ वर्णोंसे युक्त लोहितवर्ण स्वाधिष्ठान पद्म विराजित है।

(१) अग्निकोणमें चञ्चल नामक वायु है, उसका बीज 'यं' है। वह क्षीरोद-सागरके जलको ऊपर फेंकता है। इसके नीचे मूलाधारमें संवह नामक वायु है। वही ऊपर फेंकनेका काम करती है। उस शक्तिरूपा वायुका रूप है—धूम्रवर्णां महारौद्रीं षड्भुजां रक्तलोचनां—इत्यादि।

(२) उसके बाद दक्षिण दिशाके पद्मका बीज 'रं' है। यहाँकी वायुका नाम पृषतां-पति है, यह स्पर्शमात्रमें ही कर्त्ता हो जाती है। यह बलरूप, महाबल पराक्रान्त है। इस शक्तिरूपा वायुका रूप है—लोलजिह्वां महारौद्रीं रक्तास्यां रक्तलोचनाम्। रक्तवर्णां अष्टभुजां रक्तपुष्पोपशोभिताम्—इत्यादि।

(३) तत्पश्चात् नैर्ऋतकोणके पद्मका बीज 'लं' है। यहाँ वायु गुह्यद्वार पर्यन्त होनेके कारण इसका नाम अपान है। मूलाधारके नैर्ऋतकोणमें यही 'अजगत् प्राण' वायुको (जिसके द्वारा जन्म-मृत्यु होती है) धारण करती है। इस वायुमें ध्यान करने पर भूख लगती है। लिङ्गमूलमें जो वायु अपान नामसे अधोमुख गुह्यद्वार तक रहती है वह भी विचार करके क्रिया करने पर भूखको बढ़ाती है। यही एक वायु इन्द्रके समान सब इन्द्रियोंको प्रजा-

स्वरूपमें वशमें रखती है। इस शक्तिरूपा वायुका रूप योगी लोग इस प्रकार देखते हैं—'पीतवर्णा चतुर्भुजां रक्तपङ्कजलोचनां भीमां'—इत्यादि।

(४) तत्पश्चात् पश्चिम दिशाके पद्मका बीज 'वं' है। यहाँ जो वायु है उसका नाम विवह है अर्थात् जो विशेष रूपसे वहन करती है। जिसके द्वारा अनेक व्रण उत्थित रहते हैं। इस वायुका नाम स्पर्शन है। यह वायु स्थिरत्वमें रहकर सर्व शरीरमें पश्चिम दिशामें स्पर्श अनुभव कराती है। इसके नीचे मूलाधारमें अवाक नामक वायु है। यही उठाकर फेंक देती है। स्पर्शन-वायु शक्तिरूपाका रूप योगीलोग इस प्रकार देखते हैं—'नीलवर्णां त्रिनेत्रां नीलाम्बरधरां नागहारोज्ज्वलां द्विभुजां पद्मलोचनाम्'—इत्यादि।

(५) तत्पश्चात् उत्तर दिशामें जो पद्म है उसका बीज 'भं' है। यहाँ जो वायु है उसका नाम बात है। इसकी गति तिर्यक् है। इस शक्तिरूपा वायुको योगी लोग 'अग्निवर्णां त्रिनेत्रां नागकङ्कणशोभितां वराभयकरां' रूपमें देखते हैं।

(६) तत्पश्चात् पूर्वदिशामें जो पद्म है उसका बीज 'मं' है। इस स्थानकी वायुका नाम है प्रभञ्जन। इस शक्तिरूपा वायुको योगी लोग इस रूपमें देखते हैं—"कृष्णां दशभुजां भ्रमेत् पीतलोहितलोचनां कृष्णाम्बरधरां" इत्यादि।

नाभिमें दशदल-समन्वित मणिपूर पद्म

तस्योर्ध्वे नाभिमूले दशदललसिते पूर्णमेघप्रकाशे
नीलाम्भोजप्रकाशैरुपक्तजठरे डादिफान्तैः सचन्द्रैः।
ध्यायेद्वैश्वानरस्यारुणमिहिरसमं मण्डलं तत्त्रिकोणं
तद्बाह्ये स्वस्तिकाख्यैस्त्रिभिरभिलसितं तत्र वह्नेः स्वबीजम्॥

उपर्युक्त षड्दलसमन्वित स्वाधिष्ठान नामक पद्मके ऊर्ध्वभागमें नाभिके मूलदेशमें और एक पद्म विराजित है। वह दश दलोंसे सुशोभित है, नील कमलके समान नीलवर्ण है। इस पद्मके दलोंमें बिन्दु (अनुस्वार) समन्वित ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ—ये दश वर्ण हैं। इस पद्मका नाम मणिपूर है। इस पद्ममें अग्निका त्रिकोण मण्डल विराजित है। यह मण्डल अरुणवर्ण या प्रभातकालीन सूर्यसदृश दीप्तिसे युक्त है। इस मण्डलके बाहर तीन द्वार हैं और इस मण्डलमें 'रं' यह अग्नि-बीज विद्यमान है।

ध्यायेन्मेषाधिरूढं नवतपननिभं वेदबाहूज्ज्वलाङ्गं
तत्क्रोडे रुद्रमूर्तिर्निवसति सततं शुद्धसिन्दूररागः।
भस्मालिप्ताङ्गभूषाभरलसितवपुर्वृद्धरूपी त्रिनेत्रः
लोकानामिष्टदाताभयलसितकरः सृष्टिसंहारकारी॥

उपर्युक्त वह्निका मेष वाहन है, नवोदित सूर्यके समान वह दीप्तिमान् और चतुर्भुज है। अङ्कमें रुद्रमूर्ति सदा विराजित है। वह शुद्ध सिन्दूरके समान रक्तवर्ण, भस्मलिप्ताङ्ग वृद्ध, त्रिनेत्र, लोगोंके इष्टदाता, वराभयहस्त और सृष्टिसंहारकारी हैं।

अत्रास्ते लाकिनी सा सकलशुभकरी वेदबाहूज्ज्वलाङ्गी
श्यामा पीताम्बराद्यैर्विविधविरचनालंकृता मत्तचित्ता।
ध्यात्वैवं नाभिपद्मं प्रभवति सुतरां संहृतौ पालने वा
तस्याननाब्जे विलसति सततं ज्ञानसन्दोहलक्ष्मीः॥

इस त्रिकोण मण्डलमें सर्वशुभकारिणी चतुर्बाहुद्वारा उज्ज्वलाङ्गी श्यामा अर्थात् नीलवर्णा [किसी किसीने तप्तकाञ्चनवर्णा लिखा है, अन्यत्र वर्णन इस प्रकार है—नाभिमूले स्वर्लोकं मरकतवर्णं' इत्यादि] पीताम्बरादि विविध वेषभूषाओंसे अलङ्कृता और मत्तचित्ता लाकिनी शक्ति विराजित है। जो साधक इस नाभिपद्मकी भावना करता है, वह जगत्पालन या संहारमें पूर्ण समर्थ हो जाता है तथा उसके मुखकमलमें सतत ज्ञानशोभा वाग्देवी विराजमान होती है।

दशदल-समन्वित मणिपूर चक्रमें पूर्वदिशामें चार, पश्चिममें चार, दक्षिणमें एक और उत्तरमें एक दल है।

पूर्वमें—(१) यहाँ जो वायु है उसका नाम वाति है, इसके द्वारा अपने आप सारे वाक्य हो रहे हैं। इसका बीज 'तं' है। योगी लोग शक्तिरूपा इस वायुकी मूर्ति इस प्रकार देखते हैं—"चतुर्भुजां महाशान्तां पीतवर्णां सदा षोड़शवर्षीयां रक्ताम्बरां त्रिनेत्राम्।"

(२) इस दलमें जो वायु है उसका नाम अक्षति है, इसके द्वारा अपने आप धारणा होती है। इसका बीज 'थं' है। योगी लोग इस शक्तिरूपा वायुकी मूर्ति इस प्रकार देखते हैं—'नीलवर्णां त्रिनेत्रां षड्भुजां' इत्यादि।

(३) इस दलमें जो वायु है उसका नाम प्रकम्पन है। इस वायुमें रहने पर इच्छाके अनुसार शरीरको कँपा सकते हैं। इस वायुसे लोग भय प्राप्त करते हैं। इसका बीज 'दं' है। इस शक्तिरूपा वायुकी मूर्त्ति योगीलोग इस प्रकार देखते हैं—'तरुणारुणसंकाशां चतुर्भुजां पीतवस्त्रां द्विनेत्रां' इत्यादि।

(४) इस दलमें जो वायु है उसका नाम समान है। यह शरीरको पोषण करती है। इसमें रहने पर निवात स्थानमें दीपके समान एक ज्योति दीख पड़ती है। यही सूक्ष्म शरीरकी ज्योति है। इसका बीज 'धं' है। इस वायुशक्तिका यह रूप है—'मेघवर्णां षड्भुजां रक्ताम्बरधरां द्विनेत्रां' इत्यादि।

पश्चिममें—(५) नाभिके सम्मुख जो चतुर्दल पद्म है वह पूर्वदिशासे लिङ्गमूलसे निकलता है। नाभिकी दक्षिण दिशामें जो वायु है उसका नाम उद्वह है। इस वायुमें रहने पर सारी इन्द्रियाँ जय होती हैं। यह वायु उत्तर दिशाकी वायुके समान सबको जागरित करती है। इसका बीज 'नं' है। इस शक्तिरूपा वायुको योगी लोग इस प्रकार देखते हैं—'दलिताञ्जनवर्णाभां लोलजिह्वां सुलोचनां' इत्यादि।

(६) नाभिके पश्चिममें जो दल है वह नाभिसे ही निकलता है। उसका बीज 'पं' है। उसका नाम नभस्वान है, उसमें रहने पर अपाक उत्पन्न होता है। यह स्थिर रूपमें रुकती है। योगीलोग इस शक्तिरूपा वायुको ऐसे देखते हैं—'रक्तवर्णां विचित्रवसनां द्विभुजां पद्मलोचनां' इत्यादि।

(७) इस पद्मके पश्चिममें और एक वायु है, उसका नाम है धूलिध्वज। इस वायुमें कुछ क्षणोंके लिए नेत्रोंसे अन्धकार दीखता है। इसका बीज 'फं' है। इस वायुशक्तिका रूप इस प्रकार है "प्रलयाम्बुदवर्णाभां चतुर्भुजां लोलजिह्वां द्विनेत्रां" इत्यादि।

(८) इस पद्मके पश्चिमके पद्ममें जो वायु है उसका नाम कम्पलक्ष्मा है। इस वायुमें रहकर अपने आप शोचना और धारणा होती है। इसका बीज 'डं' है। इस वायु-

शक्तिका रूप यह है—'जपासिन्दूरसंकाशां वराभयकरां त्रिनेत्रां वरदां नित्यां मुक्तिप्रदां' इत्यादि ।

(६) कम्पलक्ष्मा जिस पद्म या दलमें है उसके आगेके पद्ममें जो वायु है उसका नाम वास है। वह देहव्यापी है, उसमें रहने पर विशेषरूपसे धारणा होती है। उसका बीज 'ढं' है। इस शक्तिरूपा वायुका यह रूप है—"रक्तोत्पलनिभां रक्तपङ्कजलोचनां अष्टादशभुजां भीमां" इत्यादि।

(१०) उपर्युक्त पद्मके आगेके पद्ममें जो वायु है उसका नाम मृगवाहन है। उसकी आकृति विद्युतके समान है। उसने शरीरको धारण कर रक्खा है। उसकी गति अति क्षिप्र है। उसका बीज 'णं' है। उस वायुका रूप ऐसा है—'शुक्लाम्बरधरां शुक्लवर्णां द्विभुजां पद्मलोचनां' इत्यादि।

हृदयमें अनाहत चक्रमें द्वादशदल प

तस्योर्ध्वे हृदि पङ्कजं सुललितं बन्धूककान्त्युज्ज्वलं
काद्यैर्द्वादशवर्णकैरुपहृतं सिन्दूररागाङ्कितैः ।
नाम्नानाहतसंज्ञकं सुरतरुं वाञ्छातिरिक्तप्रदं
वायोर्मण्डलमत्र धूमसदृशं षट्कोणशोभान्वितम् ॥

नाभिपद्मके ऊपर हृदयमें अनाहत नामका पद्म है। वह पद्म बन्धूक-पुष्पके समान सिन्दूरागरञ्जित है। ककारादि द्वादश वर्णोंसे युक्त तथा कल्पतरु-सदृश वाञ्छासे अधिक फल प्रदान करनेवाला है। उस पद्ममें धूमसदृश-षट्कोण शोभित वायुमण्डल विराजमान है।

तन्मध्ये पवनाक्षरञ्च मधुरं धूमावलीधूसरं
ध्यायेत् पाणिचतुष्टयेन लसितं कृष्णाधिरूढं परम् ।
तन्मध्ये करुणानिधानममलं हंसाभमीशाभिधं
पाणिभ्यामभयं वरञ्च विदधल्लोकत्रयाणामपि ॥

उस षट्कोणमें मधुर, धूमावली-धूसर, पाणिचतुष्टययुक्त, कृष्णसार-मृगके ऊपर आरूढ, श्रेष्ठ पवनाक्षर अर्थात् 'यं' बीजका चिन्तन करे। उक्त षट्कोणमें करुणानिधान, अमल, हंससा श्वेत, हस्तद्वय द्वारा त्रिलोकीको अभय और वरदान देनेमें रत ईश नामक शिवका ध्यान करे।

आत्रास्ते खलु काकिनी नवतड़ित्पीता त्रिनेत्रा शुभा
सर्वालङ्करणान्विता हितकरी योगान्वितानां मुदा ।
हस्तैः पाशकपालखट्वाङ्गवरान् संबिभ्रती चाभयं
मत्ता पूर्णसुधारसार्द्रहृदया कङ्कालमालाधरा ॥

अनाहत-पद्ममें नव तड़ित्के समान पीतवर्णा, त्रिनयना, मङ्गलकारिणी, सर्वालङ्कार-भूषिता, आनन्दके साथ योगिजनोंका हित करनेवाली काकिनी-शक्ति विराजमान है। वह चारों हाथोंमें पाश, कपाल, खट्वाङ्ग और अभय मुद्रा धारण किये हुए है तथा पूर्ण सुधारसधारामें स्निग्धहृदया और कङ्कालमालाधारिणी है।

एतन्नीरजकर्णिकान्तरलसत्-शक्तित्रिकोणाभिधा
विद्युत्कोटिसमानकोमलवपुः सास्ते तदन्तर्गता ।

वाणाख्यः शिवलिङ्गकोऽपि कनकाकाराङ्गरागोज्ज्वलः
मौलौ सूक्ष्मविभेदयुङ्मणिरिव प्रोल्लासलक्ष्म्यालयः ॥

इस अनाहत पद्मकी कर्णिकामें विद्युत्कोटिके समान कोमलवपु, त्रिकोणा नामकी शक्ति है तथा स्वर्णवर्णके समान उज्ज्वल दीप्तिसे युक्त सूक्ष्म छिद्रसे युक्त मणिके समान समुल्लसित लक्ष्मीके आलय-स्वरूप वाणाख्य शिवलिङ्ग भी विराजमान है।

ध्यायेद् यो हृदि पङ्कजं सुरतरुं शर्वस्य पीठालयं
भानोर्मण्डलमाण्डितान्तरलसत्-किञ्जल्कशोभाधरम्।
देवस्यानिलहीनदीपकलिकाहंसेन संशोभितं
वाचामीश्वर ईश्वरोऽपि जगतीरक्षाविनाशक्षमः ॥

जो पुरुष सुरतरुके समान महादेवके आलय, सूर्यमण्डलमध्यस्थ विलसित किञ्जल्ककी शोभाको धारण करनेवाले, वायुविहीन स्थानमें दीपशिखाके समान जीवात्मासे संशोभित इस अनाहत पद्मका हृदय-देशमें चिन्तन करते हैं वे बृहस्पतिके समान हो जाते हैं और उनको जगत्के पालन और संहारका सामर्थ्य हो जाता है।

अनाहत चक्रमें रक्तवर्णा काकिनी शक्ति है, सदाशिव देवता हैं। साधक यहाँ रहने पर भूचर और खेचर हो जाता है। क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ—इन द्वादश वर्णोंसे युक्त द्वादशदल पद्म है। यही परदेवताका स्थान है। नैऋ‍्र्तकोणमें 'यं' बीज, धूम्रवर्ण वायुमण्डल, पश्चिममें सहस्र योजन सुधासागर, वायुकोणमें सुधासागर, ईशानकोणमें कल्पवृक्ष और अग्निकोणमें स्नानमन्दिर है। हृदयकी पश्चिम दिशासे इसका आरम्भ होता है।

(१) प्रथम पद्ममें जो वायु है उसका नाम 'व्यान' है। इसके द्वारा जृम्भण, आकुञ्चन, प्रसारण तथा अपना अभिप्राय औरोंको प्रदान करनेकी क्षमता प्राप्त होती है। इस पद्मके पश्चिम दिशाके मध्यभागमें 'कं' बीज और इस वायुको शक्तिरूपी रूप—"सिन्दूर-वर्णा, त्रिनेत्रा, चतुर्भुजा, युवती, नानालङ्कारभूषिता—रूपमें योगी लोग देखते हैं।

(२) द्वितीय पद्ममें जो वायु है उसका नाम 'उदान' है, अलम्बुषा नाड़ी है। इसका स्थान कण्ठ, मस्तक और नासिका-प्रान्त है। इसका और एक नाम है आवह। योनिमें बहुत देर तक और नासिकामें रहकर यह वायु निकलती है। इसका एक और नाम गन्धवह है। गन्धके अणुको लानेके कारण यह स्वर्ग, मर्त्य और पाताल इन तीनों लोकोंमें है और शीघ्र आती है। पश्चिम दिशाके पद्ममें 'खं' बीज और इस शक्तिरूपी रूपको योगी लोग इस प्रकार देखते हैं—'बन्धुकपुष्पसंकाशां नानालङ्कारभूषितां वराभयकरां' इत्यादि।

(३) तृतीय पद्ममें जो वायु है उसका नाम 'आशुग' है, शीघ्र गमनके कारण 'गं' बीज है। पद्मके पश्चिम दिशामें इस वायुके शक्तिरूपी रूपको योगी लोग इस प्रकार देखते हैं—'दाड़िमीपुष्पसंकाशां चतुर्भुजां रक्ताम्बरधरां' इत्यादि।

(४) चतुर्थ पद्ममें जो वायु है उसका नाम है 'मारुत' (भीतरकी वायु), उत्तर दिशामें, 'घं' बीज, रूप है—'मालतीपुष्पवर्णाभां षड्भुजां रक्तलोचनां शुक्लाम्बरधरां त्रिनेत्रां रम्यां श्वेतमुखीं'—इत्यादि।

(५) पञ्चम पद्ममें जो वायु है उसका नाम 'पवन' है। यह पराजित नहीं किया जाता। उत्तर दिशामें 'ङं' बीज है। रूप है—'धूम्रवर्णां महाघोरां लोलजिह्वां' इत्यादि।

(६) षष्ठ पद्ममें जो वायु है उसका नाम 'फणिप्रिय' है। इसकी गति ऊर्ध्वदिशामें विशेषतः पूर्वकी ओर है। 'चं' बीज है। रूप है—'तुषारपुष्पकुन्दाभां वराभयकरां अष्टबाहुं'—इत्यादि।

(७) सप्तम पद्ममें जो वायु है उसका नाम 'निश्वासक' है, यह त्वगेन्द्रियव्यापी है, विशेषतः पूर्वदिशामें। 'छं' बीज है। रूप है—'पीतविद्युल्लतावर्णां वरदां भक्तवत्सलां'—इत्यादि।

(८) अष्टम पद्ममें जो वायु है उसका नाम 'उदान' है, उद्गीरणके कारण पूर्वदिशामें। 'जं' बीज है। रूप है—'रक्तचन्दनदीर्घाङ्गीं रक्तमाला-विभूषितां द्वादशभुजां'—इत्यादि।

(९) नवम पद्ममें जो वायु है उसका नाम 'गान्धारी' नाड़ी है। इसका एक नाम 'परिवाह' है, और एक नाम अनिल है। यह अनुष्ण, अशीत और अजेय है। पूर्वदिशामें 'झं' बीज है। रूप है—सन्ततहेमवर्णाभां—इत्यादि।

(१०) दशम पद्ममें जो वायु है उसका नाम समीरण है। पश्चिम वायु, पूर्वदिशामें 'ञ' बीज है, तथा रूप है—'धूम्रवर्णां चतुर्भुजां जटामुकुटराजितां पूर्णचन्द्रनिभां'—इत्यादि।

(११) एकादश पद्ममें जो वायु है उसका नाम 'खश्वास' है। अनुष्णशीत, शीत-स्पर्श, दक्षिण दिशामें 'टं' बीज। रूप है—'मालतीकुन्दपुष्पाभां पूर्णचन्द्रनिभां'—इत्यादि।

(१२) द्वादश दल पद्ममें जो वायु है उसका नाम 'सुखाश' है। सुखदा। पश्चिम दिशामें 'ठं' बीज है। रूप है—'पूर्णचन्द्रनिभां राजीवलोचनां सुन्दरीं षोड़शभुजां त्रिनेत्रां'—इत्यादि। यही महर्लोक है।

लोकत्रयस्य ईशानं ईश्वरं सर्वपूजितम्।
या विद्या भुवनेशानी विष्णुलोकेन पूजिता।
ईश्वरस्य वामभागे सा देवी परितिष्ठिता
महर्ल्लोकमिदं भद्रे पूजास्थानं सुरेश्वरी॥

कण्ठमें विशुद्धचक्र षोड़शदल पद्म

विशुद्धाख्यं कण्ठे सरसिजममलं धूमधूम्रावभासं
स्वरैः सर्वैः शोणैर्दलपरिलसितैर्दीपितं दीप्तबुद्धेः।
समास्ते पूर्णेन्दुप्रथिततमनभोमण्डलं वृत्तरूपं
हिमच्छायानागोपरिलसिततनोः शुद्धवर्णाम्बरस्य॥
भुजैः पाशाभीत्यङ्कुशवरलसितैः शोभिताङ्गस्य तस्य
मनोरङ्के नित्यं निवसति गिरिजाभिन्नदेहो हिमाभः।
त्रिनेत्रः पञ्चाख्योल्लसितदशभुजो व्याघ्रचर्माम्बराढ्यः
सदा पूर्वो देवः शिव इति समाख्यानसिद्धप्रसिद्धः॥

कण्ठदेशमें अतिशय धूम्रवर्ण षोड़शदल-समन्वित विशुद्धाख्य पद्मका चिन्तन करे। इसके षोड़शदलमें लोहितवर्ण अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः—ये सोलह स्वर सन्निविष्ट हैं। इस पद्ममें पूर्णचन्द्रके समान वृत्ताकार आकाशमण्डल विराजित है।

उपर्युक्त हकारात्मक आकाशचक्र हिमच्छायाके समान श्वेतवारणके ऊपर समारूढ है और करचतुष्टय पाश, अङ्कुश, अभय और वरके द्वारा समलङ्कृत है। इसके अङ्कमें गौरीके साथ अभिन्न-देह अवलम्बन करके देव-देव सदाशिव विराजमान रहते हैं। वह दस हाथ वाले, व्याघ्रचर्म परिधान किये, पञ्चमुख और त्रिनेत्र हैं।

सुधासिन्धोः शुद्धा निवसति कमले शाकिनी पीतवस्त्रा
शरश्चापं पाशं शृणिमपि दधती हस्तपद्मैश्चतुर्भिः।
सुधांशोः संपूर्णं शशपरिरहितं मण्डलं कर्णिकायां
महामोक्षद्वारं श्रियमभिमतशीलशुद्धेन्द्रियस्य॥

इस कमलमें पीताम्बरधारिणी, शशाङ्क-सुधापानमें निरन्तर प्रफुल्लचित्ता, चतुर्भुजा शाकिनी नामकी शक्ति अधिष्ठान करती है। उसके चारों हाथोंमें क्रमशः वाण, धनुष, पाश और अङ्कुश है। इस विशुद्ध पद्मकी कार्णिकाके अभ्यन्तर निष्कलङ्क शशाङ्कमण्डल वर्तमान है। यह चन्द्रमण्डल श्रीमानों और जितेन्द्रियोंके लिए महामोक्षद्वार-स्वरूप है।

इह स्थाने चित्तं निरवधि निधायात्तपवनो
यदि क्रुद्धो योगी चलयति समस्तं त्रिभुवनम्।
न च ब्रह्मा विष्णुर्न च हरिहरौ नैव खमणि-
स्तदीयमसामर्थ्यं शमयितुमलं नापि गणपः॥

इस विशुद्धाख्य पद्ममें निरन्तर चित्त समाधानपूर्वक जो कुम्भक करता है वह योगी यदि क्रुद्ध होता है तो त्रिभुवनको कंपित करनेमें समर्थ हो जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, हरि-हरात्मक ईश्वर, गजानन या सूर्य, कोई उस योगीके रोषको शान्त करनेमें समर्थ नहीं होता।

इह स्थाने चित्तं विमलमधिनिधायात्तसम्पूर्णयोगः
कविर्वाग्मी ज्ञानी स भवति नितरां साधकः शान्तचेताः।
त्रिलोकानां दर्शी सकलहितकरो रोगशोकप्रमुक्त-
श्चिरञ्जीवी निरवधि विपदां ध्वंसहंसप्रकाशः॥

इस विशुद्धाख्य कमलमें निर्मल चित्त निवेशित करके योगयुक्त होने या चिन्ता करने पर वह योगी कवि, वाग्मी, ज्ञानी, शान्तचेता, त्रिलोकदर्शी, सर्वलोकहितकारी, रोग-शोकविहीन और दीर्घजीवी होकर रहता है। सूर्य जिस प्रकार तिमिरका नाश करता है उसी प्रकार वह भी सदा विपद-जालको ध्वंस करता रहता है।

इह स्थाने मनो यस्य दैवाद् याति लयं यदा।
तदा बाह्यं परित्यज्य सान्तरे रम्यते ध्रुवम्॥

जिस योगीका मन इस पद्ममें लय होता है वह बाह्य विषयोंका परित्याग करके अपने चित्तमें क्रीडा करता है।

इस स्थानमें अर्द्धशाकम्भरी देवी और चार वेद विद्यमान हैं। धूम्रवर्णा शाकिनी शक्ति, अष्टगलान्त नामक लिङ्ग और क, ह, त्त, ॐ शुक्लदेवी और ॐ शक्तिबीज शाकिनी शक्ति सहित सदाशिव अर्थात् हरगौरीरूपा (मणिद्वीपम्) है।

(१) प्रथम पद्ममें जो वायु है उसका नाम है विहग, उड्डीयान। अं बीज है। रूप है—
'केतकीपुष्पवर्णाभां द्विभुजां वरदाभयकरां' इत्यादि।

(२) द्वितीय पद्ममें जो वायु है उसका नाम नभस्वर शब्द है। आं बीज है। रूप है—'शङ्भुजां रक्तलोचनां' इत्यादि।

(३) तृतीय पद्ममें जो वायु है उसका नाम प्राण है, निमीलन या बहिर्गमन गुण है। इं बीज है। रूप है—धूम्रवर्णां पीताम्बरयुतां इत्यादि।

(४) चतुर्थ पद्ममें जो वायु है, उसका नाम परावह है। मातरिश्वा नामक वायु अणुस्वरूपमें ब्रह्ममें रहती है। ईं बीज है। रूप है—'रक्तवर्णां चतुर्भुजां' इत्यादि। ये चार पद्म पश्चिम दिशामें हैं।

(५) पञ्चम पद्ममें जो वायु है, उसका नाम अजगत्-प्राण है। (ब्रह्म = ऋत) उं बीज है। रूप है --'पीतवर्णां त्रिनेत्रां' इत्यादि।

(६) षष्ठ पद्ममें जो वायु है, उसका नाम पवमान है, क्रियाकी परावस्था ऋतजित्। ऊं बीज है। रूप है—'शुक्लवर्णां द्विभुजां जटामुकुटशोभितां' इत्यादि।

(७) सप्तम पद्ममें जो वायु है वह उपर्युक्त पद्मकी पूर्व दिशामें है, उसका नाम नभः-प्राण है, प्राणरूपोचित्वाहित्वं धाता। ऋं बीज है। रूप है—'नीलवर्णां षड्भुजां रक्त-विद्युल्लताकारां' इत्यादि।

(८) अष्टम पद्ममें जो वायु है उसका नाम हरि (मोक्ष) है। इसका और एक नाम अन्तिमित्र है। ॠं बीज है। रूप है—'सुतप्तस्वर्णवर्णाभां' इत्यादि।

(९) नवम पद्ममें जो वायु है उसका नाम सारं (नित्यं) है। लृं बीज है। रूप है—'स्वर्णचम्पकवर्णां चतुर्भुजां त्रिनेत्रां' इत्यादि।

(१०) दशम पद्ममें जो वायु है उसका नाम स्तनुन सर्वव्यापी है। ॡं बीज है। रूप है—'पीतवर्णां चतुर्भुजां' इत्यादि।

(११) एकादश पद्मकी नाड़ी इड़ा है, यह हृदयस्थानमें विद्युत्-रूपमें सबका कर्त्ता बनकर रहती है। इस वायुका नाम प्रवाह (प्राण) है। स्थान हैं योनि, कूटस्थ, मूर्द्धा। इस पद्मकी वायुका नाम श्वसन, श्वास प्रश्वास आदि है। यह इन्द्रके समान राजत्व करती है। एं बीज है। रूप है—'रक्तवर्णां षड्भुजां रक्तलोचनां' इत्यादि।

(१२) द्वादश पद्ममें जो वायु है उसका नाम सदागति है। ऐं बीज है। रूप है—'विचित्राम्बरधरां चतुर्भुजां द्विनेत्रां' इत्यादि।

(१३) त्रयोदश पद्ममें जो वायु है उसका नाम पृषदश्व, स्पर्शशक्ति, अदृश्यगति है। वह दक्षिण दिशामें है। ओं बीज है। रूप है—'पद्मरागप्रभां चतुर्भुजां त्रिनेत्रां शरत्पूर्णेन्दुवदनां विचित्रवसनां नीलकुन्तलां' इत्यादि।

(१४) चतुर्दश पद्ममें जो वायु है उसका नाम गन्धवाह है। गुण अनुष्ण, अशीत है, दक्षिण दिशामें है। औं बीज है। रूप है—'पद्मरागप्रभां चतुर्भुजां त्रिनेत्रां' इत्यादि।

(१५) पञ्चदश पद्मकी वायुका नाम वाह (चलन) है, पश्चिम दिशामें है। अं बीज है। रूप है—'जवादाड़िमपुष्पाभां द्विभुजां रक्तलोचनां' इत्यादि।

(१६) षोड़शदल पद्मकी वायुका नाम है भोगिकान्त (भोग = काम)। पश्चिम दिशामें है। अः बीज है। रूप है—'केतकीपुष्पवर्णाभां द्विभुजां वरदाभयकरां हंसलोचनां शुक्लपट्टाम्बर-धरां पद्ममालाविभूषिताम्' इत्यादि।

भ्रूमध्यमें आज्ञाचक्र द्विदल पद्म।

आज्ञानामम्बुजं तद्धिमकरसदृशं ध्यानधामप्रकाशं
हक्षाभ्यां केवलाभ्यां परिलसितवपुर्नेत्रं सुशुभ्रम्।
तन्मध्ये हाकिनी सा शशिसमधवला वक्त्रषट्कं दधाना
विद्यामुद्रां कपालं डमरुजपवटीं बिभ्रती शुद्धचित्ता ॥

दोनों भ्रुओंके बीचमें आज्ञा नामक पद्म विराजित है, वह द्विदल है; चन्द्रतुल्य सुशुभ्र है; योगियोंके ध्यानधामस्वरूप है। इन दोनों दलोंमें ह-क्ष वर्णद्वय विन्यस्त हैं। इस पद्ममें चतुर्भुजा, शुद्धचित्ता, षडानना हाकिनी नामकी शक्ति विराजमान है। उसके चारों हाथोंमें क्रमशः विद्यामुद्रा, कपाल, डमरु और जपमाला शोभा दे रही है।

एतत् पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धं
योनौ तत्कर्णिकायामितरशिवपदं लिङ्गचिह्नप्रकाशम्।
विद्युन्मालाविलासं परमकुलपदं ब्रह्मसूत्रप्रबोधं
वेदानामादिबीजं स्थिरतरहृदयश्चिन्तयेत्तत् क्रमेण ॥

इस आज्ञापद्ममें सूक्ष्म मन अवस्थित है, उसकी कर्णिकामें इतर नामक शिवलिङ्ग विराजित है। इस प्रकारके परमशक्तिस्थानका चिन्तन करें। यह विद्युन्मालाके समान सुदीप्त है। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिका प्रबोध करनेवाली ब्रह्मनाड़ीका विकास यहींसे हुआ है। यही वेदोंका आदि बीज प्रणव है। इसलिए योगी लोग अनन्यमन होकर यथाक्रम इस कमलमें स्थित पदार्थोंका चिन्तन करें। अर्थात् पहले हाकिनी शक्ति, उसके बाद मन, तत्पश्चात् कर्णिका-स्थित इतर नामक शिवलिङ्ग, तत्पश्चात् प्रणवका चिन्तन करें।

ध्यानात्मा साधकेन्द्रो भवति परपुरे शीघ्रगामी मुनीन्द्रः
सर्वज्ञः सर्वदर्शी सकलहितकरः सर्वशास्त्रार्थवेत्ता।
अद्वैताचारवादी विलसति परमापूर्वसिद्धप्रसिद्धो
दीर्घायुः सोऽपि कर्त्ता त्रिभुवनभवने संहृतौ पालने वा ॥

[इस पद्मचिन्तनका क्या फल है, यह बतलाते हैं]—जो योगी इस आज्ञा-पद्ममें ध्यान करता है, वह साधकश्रेष्ठ परशरीरमें प्रविष्ट होनेकी शक्ति शीघ्र प्राप्त करता है। वह मुनिश्रेष्ठ सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सकलजन-हितकारी और सर्वशास्त्रार्थ-वेत्ता हो जाता है। वह परम सिद्धिको प्राप्त कर अद्वैताचारवादी और दीर्घायु होकर विलास करता है। उसमें जगत्त्रयकी सृष्टि, स्थिति और संहार करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है।

तदन्तश्चक्रेऽस्मिन्निवसति सततं शुद्धबुद्ध्यन्तरात्मा
प्रदीपाभज्योतिः प्रणवविरचनारूपवर्णप्रकाशः।
तदूर्ध्वे चन्द्रार्धस्तदुपरि विलसत् बिन्दुरूपी मकारः
तदाद्ये नादोऽसौ बलधवलसुधाधारसन्तानहासी ॥

इस आज्ञाचक्रके अन्तश्चक्रमें शुद्धबुद्ध्यन्तरात्मा विराजमान है। इसकी दीपशिखा-सी ज्योति है (यही ॐकारका अकार और उकार है)। इसके ऊपर अर्द्धचन्द्र तथा उसके ऊपर

विन्दुरूपी मकार सुशोभित है। इसके आदिमें नाद है। यह बलदेवके सदृश शुभ्रवर्ण है। इसके मुखमण्डलमें शशाङ्कके समान हास्यशोभायुक्त शिवलिङ्ग विराजमान है।

इह स्थाने लीने सुसुखसदने चेतसि पूरं
निरालम्बां बद्धा परमगुरुसेवासुनिरताम्।
सदाभ्यासाद् योगी पवनसुखदां पश्यति कला-
स्ततस्तन्मध्यान्तः प्रविलसितरूपानपि सदा॥

इस परमानन्द-निकेतनरूप आज्ञाचक्रमें चित्तको लीन करने पर परम गुरुकी उपासनाके द्वारा अन्तरिक्षस्थ पुरी निर्माण की जा सकती है अर्थात् निरालम्ब-भावमें चित्त स्थिर होता है। सदा योगाभ्यास द्वारा योगी आत्मज्योतिकी कलाका दर्शन करता है, उसमें आत्माके प्रकर्षणका विलासरूप यह विश्वरूप सदा दीख पड़ता है।

ज्वलद्दीपाकारं तदपि च नवीनार्कबहुल-
प्रकाशं ज्योतिर्वा गगनधरणीमध्यलसितम्।
इह स्थाने साक्षाद्भवति भगवान् पूर्णविभवो-
ऽव्ययः साक्षी वह्ने शशिमिहिरयोर्मण्डल इव॥

यह प्रदीप्त दीपके समान देदीप्यमान है। प्रातःकालीन अनेक सूर्योंके समान प्रकाश है। इस प्रकारकी ज्योति योगी लोग देखा करते हैं। यह स्वर्ग और पृथ्वीके मध्यमें स्थित सब स्थानोंमें विस्तृत है। स्वर्ग अर्थात् सहस्रार और पृथ्वी अर्थात् मूलाधार पर्यन्त यह ज्योति सुविस्तृत है। इस स्थानमें ही अग्नि, चन्द्र और सूर्यमण्डलके समान प्रभाविशिष्ट जगत्साक्षी, पूर्णविभव, अव्यय-स्वरूप भगवान्का साक्षात्कार होता है।

इह स्थाने विष्णोरतुलपरमामोदमधुरे
समारोप्य प्राणान् प्रमुदितमनाः प्राणनिधने।
परं नित्यं देवं पुरुषमजमाद्यं त्रिजगतां
पुराणं योगीन्द्रः प्रविशति च वेदान्तविदितम्॥

योगीन्द्र प्राणत्यागके समय इस आज्ञाचक्रमें प्रहृष्टमना होकर प्राणको समारोपित कर अविनाशी, जन्मरहित, त्रिजगत्के आदि, चिरन्तन, वेदान्त-वेद्य, परमश्रेष्ठ पुरुष भगवान्में लयको प्राप्त होते हैं। यही विष्णुकी अतुलनीय, परम आमोदपूर्ण और माधुर्य-विशिष्ट पुरी है।

लयस्थानं वायोस्तदुपरि च महानादरूपं शिवार्द्धं
शिवाकारं शान्तं वरदमभयं शुद्धबोधप्रकाशम्।
यदा योगी पश्येत् गुरुचरणसेवासुनिरतः
तदा वाचां सिद्धिः करकमलतले तस्य भूयात् सदैव॥

यह आज्ञाचक्र ही वायुका आलयस्थान है। [यहाँ प्राणवायु रहे तो उसमें चाञ्चल्य नहीं रहता]। इसके ऊपर महानादरूपी सदाशिव विराजमान है। इसके अर्द्धमें वायुका लय-स्थान है। यह शिवाकार या शिवशक्तिरूप है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव—देवीके आसनके अधोदिशामें यह पञ्च शिवासन हैं। गुरुपादपद्मके चिन्तनमें निरत होकर वायुके लयस्थान—महानादसंज्ञक विशुद्ध और शान्त मूर्त्ति वराभयदायी शिवको देखने पर साधकको वाक्सिद्धि करकमलगत हो जाती है अर्थात् आयत्त हो जाती है।

आज्ञाचक्र दो-दल पद्म है, यह कोटिचन्द्रप्रभा परशिवका स्थान है। ह, क्ष, हंस, पश्चिम और दक्षिणमें है। चिन्ता मणिपूर, हाकिनीके साथ परम शिव हैं।

एक चक्षुके द्विभाग हैं। दक्षिण दिशाके भागका 'हं' बीज है और वामभागका 'क्षं' बीज है। इन दोनों पद्मोंके मध्यमें रहनेवाली वायु जो कूटस्थके भीतर रहती है उसका नाम श्वासिनी = खींचना, महाबल है। यह ब्रह्म है।

दोनों भौओंके बीच तपोलोक है। द्विदल चन्द्रवर्ण है। यही मनका स्थान है। यहीं पद्ममें 'अहङ्कार', हाकिनी-शक्तियुक्त परम शिव हैं। सिद्ध कालिकाके साथ परम शिव ही हंसरूप हैं। "तपोलोकमिदं भद्रे सर्वलोकस्य दुर्लभम्। तपोलोकसमो नास्ति लोकमध्ये सुलोचने ॥"

मस्तकमें सहस्रार पद्म

तदूर्ध्वे शङ्खिन्या निवसति शिखरे शून्यदेशे प्रकाशं
विसर्गाधः पद्मं दशशतदलं पूर्णपूर्णेन्दुशुभ्रम्।
अधोवक्त्रं कान्तं तरुणरविकलाकान्तकिञ्जल्कपुञ्जं
ललाटाद्यैर्वर्णैः प्रबलसिततनुं केवलानन्दरूपम् ॥

आज्ञाचक्रके ऊर्ध्वदेशमें शङ्खिनी नाड़ीके शिखर पर जो शून्य देश है, उस स्थानकी शक्तिके निम्नदेशमें प्रकाशमान सहस्रदल पद्म विराजमान है। यह पद्म पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान शुक्लवर्ण है। अधोमुख, मनोज्ञ और प्रातःसूर्यके समान उसके केशर-समूह समुज्ज्वल हैं। यह भी लज्ञाटादि पचास वर्णोंसे युक्त है।

समास्ते तत्रान्तः शशपरिरहितः शुद्धसम्पूर्णचन्द्रः
स्फुरज्ज्योत्स्नाजालः परमरसचयः स्निग्धसन्तानहासः।
त्रिकोणं तस्यान्तः स्फुरति सततं विद्युदाकाररूपं
तदन्तः शून्यस्तत् सकलसुरगुरुं चिन्तयेच्चातिगुह्यम् ॥

इस सहस्रदल पद्ममें निष्कलङ्क निर्मल पूर्णचन्द्र विराजमान है। इसकी शोभा ज्योत्स्ना-मण्डलकी शोभाके समान है। इसकी अमृतराशि स्निग्ध हास्यके समान सुशोभित है। इस चन्द्रमण्डलके बीच समुज्ज्वल विद्युदाकारमें एक त्रिकोण यन्त्र है। उसके बीचमें विराजमान समस्त देवताओंके गुरु आत्माके गुह्य शून्य स्थानका ध्यान करना होगा।

सुगोप्यं तद्यत्नादतिशयपरममामोदसन्तानराशेः
परं कन्दं सूक्ष्मं शशिसकलकलाशुद्धरूपप्रकाशम्।
इह स्थाने देवः परमशिवसमाख्यानसिद्धप्रसिद्धः
खरूपी सर्वात्मरसविरसमितोऽज्ञानमोहान्धहंसः ॥

यह शून्य अतिशय यत्नपूर्वक गोप्य है, यह परम आनन्दसन्दोहका श्रेष्ठ हेतु है। यह अत्यन्त सूक्ष्म और पूर्णचन्द्रके समान प्रभाविशिष्ट है। यहाँ 'ख' अर्थात् शून्यरूपी परमानन्द-स्वरूप परमशिव विराजमान है, वह अज्ञानजनित मोहान्धकारके नाशक हैं।

शिवस्थानं शैवाः परमपुरुषं वैष्णवगणा
लपन्तीति प्रायो हरिहरपदं केचिदपरे।

पदं देव्या देवीचरणयुगलानन्दरसिका
मुनीन्द्रा अप्यन्ये प्रकृतिपुरुषं स्थानममलम् ॥

शैव लोग इस शून्यको शिवस्थान कहते हैं, वैष्णव इसे परम पुरुष विष्णुका स्थान कहते हैं, कोई कोई इसे हरिहरका स्थान कहा करते हैं। देवीभक्त इसे शक्तिस्थान और दूसरे मुनि-लोग इसको प्रकृतिपुरुषका निर्मल स्थान कहकर वर्णन करते हैं।

इह स्थानं ज्ञात्वा नियतनिजचित्तो नरवरो
न भूयात् संसारे क्वचिदपि च बद्धस्त्रिभुवने।
समग्रा शक्तिः स्यान्नियममनसस्तस्य कृतिनः
सदा कर्त्तुं हर्त्तुं खगतिरपि वाणी सुविमला ॥

इस सहस्रार पद्मको जानकर जो अपने चित्तको वहाँ संयत करनेमें समर्थ होता है वह नरश्रेष्ठ है। उसे पुनः संसारमें या त्रिभुवनमें कहीं भी आबद्ध होना नहीं पड़ता। वह संयतचित्त साधक सारी शक्तियों को अधीन कर सकता है। सृजन, पालन और संहार करने का उसमें सामर्थ्य आ जाता है तथा शून्यमार्गमें वह विचरण कर सकता है। उसके मुखमें सदा वाग्देवी अधिष्ठान करती है।

अत्रास्ते शिशुसूर्यसोदरकला चन्द्रस्य सा षोड़शी
शुद्धा नीरजसूक्ष्मतन्तुशतधाभागैकरूपा परा।
विद्युद्दामसमानकोमलतनुर्नित्योदिताधोमुखी
पूर्णानन्दपरम्परातिविगलत्पीयूषधाराधरा ॥

यहाँ अमा नामक चन्द्रकी षोड़शी कला अवस्थित रहती है। वह बालसूर्यके समान कान्ति-युक्ता और शुद्धा है। पद्मके सूक्ष्म तन्तुके सौ भागोंके एक भागके समान परम सूक्ष्म और श्रेष्ठ है। विद्युद्दामके समान कोमल, नित्य प्रकाशमान और अधोमुखी है। इससे निरन्तर पीयूषधारा विगलित हो रही है।

निर्वाणाख्यकला परात्परतरा सास्ते तदन्तर्गता
केशाग्रस्य सहस्रधा विभजितस्यैकांशरूपा सती।
भूतानामधिदैवतं भगवती नित्यप्रबोधोदया
चन्द्रार्द्धाङ्गसमानभङ्गुरवती सर्वार्कतुल्यप्रभा ॥

उपर्युक्त सूक्ष्म अमाकलाके अन्तर्गत और एक निर्वाण नामकी अर्थात् अनिर्वाण-शक्तिदायिनी कला है। यह कला केशाग्रके सहस्र भागोंके एक भागके समान सूक्ष्म, अतिशय श्रेष्ठ, प्राणियोंका अधिदैवत अर्थात् इष्ट देवतारूप माहात्म्यवती, द्वादश सूर्यके समान दीप्तिसे सम्पन्न, नित्यज्ञान-प्रदायिनी और अर्द्ध-चन्द्राकारा है।

एतस्या मध्यदेशे विलसति परमापूर्वनिर्वाणशक्तिः
कोट्यादित्यप्रकाशा त्रिभुवनजननी कोटिभागैकरूपा।
केशाग्रस्यातिगुह्या निरवधि विलसत्प्रेमधाराधरा सा
सर्वेषां जीवभूता मुनिमनसि मुदा तत्त्वबोधं वहन्ती ॥

इस निर्वाण नामक कलाके मध्यमें परम अपूर्व निर्वाणशक्ति विलास करती है। वह कोटिसूर्यके समान प्रकाशमयी है, स्वर्ग-मर्त्य-पातालस्थ सारे जीवोंकी जननी है। यह कला

केशाग्र-भागके कोटि भागके एक भागोंके समान अतिशय सूक्ष्मा, अत्यन्त गुह्य या गोपनीय है। यह सारे जीवोंकी प्राणरूपा, प्रेमधाराधरा अर्थात् अत्यन्त प्रेममयी है। इस शक्तिकी कृपासे सदा मुनियोंके मनमें तत्त्वज्ञान और तज्जनित परमानन्दका सञ्चार होता है।

तस्या मध्यान्तराले शिवपदममलं शाश्वतं योगिगम्यं
नित्यान्दाभिधानं परमकुलपदं शुद्धबोधप्रकाशम्।
केचिद् ब्रह्माभिधानं परमतिसुधियो वैष्णवास्तल्लपन्ति
केचित् हंसाख्यमेतत् किमपि सुकृतिनो मोक्षवर्त्मप्रकाशम्॥

इस निर्वाण-शक्तिके ठीक मध्यमें एक शाश्वत निर्मल शिवस्थान विद्यमान है। वह नित्यानन्दमयी परमा शक्तिका स्थान है; निर्मल-ज्ञान-प्रकाश-स्वरूप तथा योगीके लिए ध्यानगम्य है। इसको कोई ब्रह्मपद, कोई कोई विष्णुपद, कोई हंसाख्य-पद तथा कोई कोई सुकृतिशाली पुरुष इसको मोक्षमार्ग-प्रकाश अर्थात् ज्ञान-स्वरूप कहकर वर्णन करते हैं।

ब्रह्मरन्ध्रे हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम्।
तत्र कन्दे हि या योनिस्तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः॥
त्रिकोणाकारतस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम्।
इड़ायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमा॥
अमृतं वहते धारा धारारूपं निरन्तरम्।
वामनासापुटं याति गङ्गेत्युक्त्वा मनीषिभिः॥

सहस्रार-कमलके विषयमें भगवान् शङ्करजी पार्वतीजीसे कहते हैं—ब्रह्मरन्ध्रमें जो सहस्रदल कमल व्यवस्थित है, उसके मूलमें जो योनि है उसमें चन्द्र है। उस त्रिकोणाकार योनिसे निरन्तर सुधा क्षरित हो रही है। इड़ा-नाड़ीद्वारा समानरूपसे सुधा स्रावित होती है। यह सुधाधारा निरन्तर वाम नासापुटमें गमन करती है, इसीलिए मनीषीगण इसे गङ्गा कहा करते हैं।

द्विदलोर्ध्वे तालुमूले सहस्रारं सुशोभनम्।
अस्ति तत्र सुषुम्नाया मूलं सविवरं स्थितम्॥

द्विदल पद्मके ऊर्ध्वभागमें तालुमूलमें सुशोभन सहस्रार-कमल विराजित है। वहाँ विवरमें सुषुम्नाका मूलदेश विद्यमान है।

तालुस्थाने च यत् पद्मं सहस्रारं पुराहितम्।
तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखी मता॥

तालुस्थानमें जो पद्म है उसको पहले सहस्रार कहा गया है। उसके मूलमें योनि विद्यमान है। वह अधोमुखी है।

तस्या मध्ये सुषुम्नाया मूलं सविवरं स्थितम्।
ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्तमामूलाधारपङ्कजम्॥

इसके भीतर सुषुम्नाका विवरयुक्त मूल अवस्थित है। वह ब्रह्मरन्ध्रसे मूलाधारपर्यन्त फैला है।

ततस्तद्रन्ध्रे तच्छक्तिः सुषुम्ना कुण्डली सदा।
सुषुम्नायां च या शक्तिश्चित्रा स्यान्मम वल्लभे॥

हे प्रियतमे, सुषम्नाके रन्ध्रमें उसकी शक्ति कुण्डली विद्यमान है। सुषुम्नामें जो शक्ति विद्यमान है उसका नाम चित्रा है।

तस्यां मम मते कार्या ब्रह्मरन्ध्रादिकल्पना।
यस्य स्मरणमात्रेण ब्रह्मज्ञत्वं प्रजायते॥

मेरे मतसे चित्रामें ही ब्रह्मरन्ध्रादिकी कल्पना करनी चाहिए। इसके स्मरणमात्रसे ही ब्रह्मज्ञत्वकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्त्वा क्षणार्द्धं यदि तिष्ठति।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम्॥

ब्रह्मरन्ध्रमें मन स्थापित करके यदि कोई अर्द्धक्षण भी अवस्थित हो जाय तो वह सर्वपापसे मुक्त होकर परम गतिको प्राप्त करता है।

अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः॥

जिसका चित्त ब्रह्मरन्ध्रमें लीन होता है, वही पुरुषोत्तम है। वह स्वेच्छानुसार अणिमादि ऐश्वर्यका भोगकर अन्तमें मुझमें विलीन हो जाता है।

निरन्तरकृतध्यानाज्जगद्विस्मरणं भवेत्।
तदा विचित्रसामर्थ्यं योगिनो भवति ध्रुवम्॥

सहस्रार-पद्मका निरन्तर ध्यान करते करते साधक जगत्को भूल जाता है, तब उसको निश्चय ही विचित्र सामर्थ्य प्राप्त होता है।

मध्यमें हंसद्वय गुरुद्वार है। उत्तरमें लं शानकला और लं सूर्यकला है। वस्तुतः द्वादशकला सूर्यमण्डल, केलिकदम्ब पश्चिममें है। पूर्वकी ओर वर्त्तुलाकार पीतवर्ण कर्णिका है, षोड़शकलायुक्त हेममण्डल, विन्दुचक्र, नादमण्डल—अनन्त ब्रह्माण्डका उत्पत्ति-स्थान है। दक्षिणमें 'क्षं' नीलवर्ण, कला-कोकिला है। यही कला मोक्षकला है। क से क्ष, और अ से अः पर्यन्त ५० वर्ण हैं, इस प्रकार दो बार अर्थात् मूर्धा और उसके निम्नभागमें कुल शत पद्म हैं। ब्रह्मरन्ध्रमें एक त्रिकोणाकार वस्तु है उसमें ५० वर्ण ब्रह्मके साथ एकत्व-भावमें हैं और बाहर जो मस्तक है उसमें ५० वर्ण हैं। इन शतवर्णात्मक पद्मोंकी वायुके दश दिशाओंमें धावित होनेसे सहस्रदल पद्म बनता है। जो इस अणुस्वरूप ब्रह्ममें स्थिति-लाभ करता है उसकी अणुमें स्थिति होने पर सब लोकोंकी सारी वस्तुएँ दृष्टिगोचर हो जाती हैं। उसकी इस शक्तिको देखकर लोग आश्चर्यचकित हो जाते हैं और वह भी सब जगत्को आश्चर्यवत् देखता है।

—

योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महाशयकी संक्षिप्त जीवनी

सुप्रसिद्ध लेखक वङ्किमचन्द्रने लिखा है कि "वङ्गभूमि अवनतावस्थामें भी रत्न-प्रसविनी" है। प्रतिभाशाली कवियों और सुलेखकोंकी बात छोड़ कर केवल धर्मवीरोंकी ओर दृष्टिपात करने पर भी यह बात पूर्ण सत्य जान पड़ती है। नितान्त दुरवस्थाके समयमें भी निष्कलङ्क धर्मवीरोंकी ज्योतिःप्रभासे भारतवर्ष निरन्तर आलोकित होता रहा है। भारत जब आपदादिसे पूर्ण धर्महीन दीख पड़ता है, जब ऐहिकता, विलासिता तथा आडम्बर-प्रियताके घने कुहरेसे उसका धर्माकाश निविड़ तमसाच्छन्न हो जाता है, उस समय भी उसमें शान्तिप्रिय, तत्त्वज्ञानी, भगवत्प्राण भक्त और योगीका अभाव नहीं होता। कहना ही पड़ेगा कि यह भारतकी ही मिट्टीका गुण है।

जिनके चरण-स्पर्शसे धरणी पवित्र होती है, इस प्रकारके अनेक महानुभाव महापुरुषोंने गत शताब्दीमें जन्म-ग्रहण करके भारताकाशमें समुज्ज्वल नक्षत्रके समान उदीयमान होकर भारतकी आध्यात्मिक सम्पद्का परिचय दिया है तथा उसकी गौरव-वृद्धि की है। उनमें योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ीका नाम कम प्रसिद्ध नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दीमें तो कितने ही धर्मवीर महापुरुषोंने समाजमें प्रसिद्धि प्राप्त की और कितने अपनी अनासक्ति, वैराग्य और शान्तिप्रियताके कारण लोकचक्षुके अन्तरालमें ही नीरव जीवन यापन कर गये हैं। काशीके परम श्रद्धास्पद योगिवर श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महाशय भी इस दूसरी श्रेणीके एक श्रेष्ठ व्यक्ति थे। पार्थिवता-सर्वस्व, नास्तिक-बहुल मानव समाजमें किस प्रकार इस अल्पभाषी, चाञ्चल्य-विहीन, सत्यव्रत, नित्ययोगमग्न महापुरुषका आविर्भाव संभव हुआ, यह वस्तुतः एक विस्मयजनक बात जान पड़ती है।

इन योगेश्वरकी कृपासे ही मैं गीताकी आध्यात्मिक व्याख्याका वर्त्तमान संस्करण प्रकाशित करनेमें समर्थ हुआ हूँ। अर्द्ध शताब्दीके कुछ पूर्व यह गीता वङ्ग-भाषामें पहले प्रचारित हुई। उस समय सीमित साधक-मण्डलीमें ही इसकी जानकारी थी। अब वह संस्करण विलुप्तप्राय हो गया है। उसको फिर तत्त्वान्वेषी लोगोंकी दृष्टिमें लाना इस वर्त्तमान संकरणका प्रधान लक्ष्य और उद्देश्य है। जिन महापुरुषकी कृपासे यह आध्यात्मिक सम्पदा मैंने प्राप्त की है, उनके साथ पाठकवर्गका परिचय-करा देना मेरा कर्त्तव्य है, इसी विचारसे उनकी संक्षिप्त जीवनगाथा श्रद्धालु पाठकोंकी कौतूहलनिवृत्तिके लिए यहाँ लिपिबद्ध की गयी है।

योगिवर्यके जन्म-समयका ठीक ठीक पता नहीं है। उनकी कई संक्षिप्त जीवनियाँ जो प्रकाशित हुई हैं, उनमें उनके जन्मका सन, मास और तारीख होने पर भी मैं उन

पर पूर्णरूपसे निर्भर नहीं कर सकता, क्योंकि उनके बहुतेरे बिखरे हुए लेखोंमें एक स्थान पर उनकी अपने हाथसे लिखित पुस्तिकामें—"Birth-date exactly not known" लिखा हुआ मैंने देखा है। अतः इस सम्बन्धमें मैं अपना मन्तव्य कुछ नहीं दे सकता। योगिवर्यके दो पौत्र श्रीमान् अभयचरण लाहिड़ी और श्रीमान् आनन्दमोहन लाहिड़ीने उनका जन्म-समय सम्वत् १८८५ (वि०) आश्विन शुक्ल ७ मङ्गलवार (३० सितम्बर, १८२८ ई०) निर्णय किया है। इस विषयमें मैं यदि उनके साथ सहमत न भी होऊँ तो उससे कोई विशेष क्षति नहीं होगी, क्योंकि मैं महापुरुषकी विस्तृत जीवनी लिखने नहीं बैठा हूँ। अतएव यहाँ युक्ति-तर्क दिखलाकर जन्मसमय निर्णयकी सङ्गति-असङ्गति मैं दिखलाना नहीं चाहता, उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है। गीताके पाठकोंके साथ उनका सामान्य परिचय करा देना मात्र मेरा उद्देश्य है। इसलिए जन्म-समयमें २-४ वर्षोंका अन्तर पड़ने पर भी कोई विशेष क्षति नहीं दीखती।

प्राचीन कालसे ही विद्या और धर्मकी दृष्टिसे बङ्गालमें नवद्वीपकी विशेष ख्याति और प्रतिष्ठा रही है। वङ्गदेशका नदिया जिला अति प्राचीन और आधुनिक कालके अनेक श्रेष्ठ पुरुषोंकी जन्मभूमि रही है। कई मनीषी पुरुषोंने यहाँ जन्मग्रहण करके इस भूमिको अलङ्कृत किया है। योगिवर्य श्रीश्यामाचरणजीने भी इसी नदिया जिलेके अन्तर्गत सुप्रसिद्ध कस्बा कृष्णनगरसे लगी हुई और समीप बहने वाली खड़िया नदीके तीरवर्ती घुरनी नामक गाँवमें वरेन्द्र-ब्राह्मण-कुलमें जन्मग्रहण किया। उनके पितामह स्व० शिवचरण सरकार तथा पिता स्व० गौरमोहन सरकार धन और प्रतिष्ठामें तत्कालीन घुरनीके प्रसिद्ध व्यक्ति गिने जाते थे। स्व० गौरमोहनकी दूसरी स्त्री मुक्तकेशी देवी ही श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी (सरकार) महाशयकी गर्भधारिणी थीं। धर्मकर्म, पूजार्चना तथा दानादिमें इस वंशके लोगोंकी देशमें विशेष प्रतिष्ठा थी। खड़िया नदीकी प्रबल बाढ़के प्रवाहमें प्राचीन सरकार-वंशकी निवासस्थली, शिवमन्दिर आदि भूमिसात् होकर नदीगर्भमें अदृश्य हो गये हैं, आज भी ध्वंसावशेषके चिह्नस्वरूप ईंटे आदि इधर उधर नदी-तट पर बिखरे हुए दीख पड़ते हैं।

शैशव—श्रीश्यामाचरणका पञ्च वर्ष काल इस घुरनी ग्राममें बीता। सुना जाता है कि उस समय भी वह शिशु-सुलभ चापल्यको त्यागकर एकान्तमें अकेले पद्मासन लगाकर बैठे रहते थे। जन्मान्तरके संस्कार उनके जीवनको जिस ओर प्रवाहित करके ले जाने वाले थे, उसकी सूचना उनके शिशु-जीवनमें ही परिलक्षित होती थी। श्रीश्यामाचरणके पिता और पितामह बीच बीचमें नौका द्वारा काशीधाम आकर कुछ दिन यहाँ वास करते थे। स्व० गौरमोहनने भाग्यवश सांसारिक प्रयोजनसे घुरनीको एकदम त्याग करके काशीमें स्थायी भावसे निवास करनेके लिए सपरिवार शिशु श्यामाचरणको लेकर उस नगरके लिए प्रस्थान किया। काशीके मदनपुरा महालमें सिमन चौहट्टाके समीप एक मकान खरीद कर सब लोग वहाँ रहने लगे। काशी बहुत दिनोंसे प्रवासी बङ्गालियोंके लिए एक आश्रय-स्थानके रूपमें प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी थी। अंग्रेजी राज्यके प्रारम्भसे ही बहुतेरे बङ्गाली इस पुण्य-क्षेत्रमें आकर वास करते थे।

आज यह कितने बङ्गालियोंके प्रवासगृहके रूपमें परिणत हो गयी है! डेढ़ सौ वष पहले यहाँ अधिक बंगालियोंका स्थायी रूपसे निवास नहीं था, परन्तु तत्कालीन कितने ही बङ्गाली-सज्जनोंने जो बङ्गाल छोड़कर काशीमें बसनेका प्रबन्ध किया था, उनमें श्रीश्यामाचरणके पिता भी एक थे। शैशवमें ही इनको मातृपितृवियोग हो गया, परन्तु यह ज्ञात नहीं कि वह काशीमें हुआ या अन्यत्र कहीं।

विद्यारम्भ—श्रीश्यामाचरणके शैशवमें उनकी समस्त पैतृक भूसम्पत्ति नष्ट हो गयी थी। उनके पिता स्व० गौरमोहनने कालकी गतिका विचार कर उनको अँग्रेजी शिक्षा देनेकी व्यवस्था की थी। यद्यपि स्व० गौरमोहन उस कालके निष्ठावान् ब्राह्मणोंके समान संस्कृत, अरबी, फारसी और मातृभाषामें सुपरिचित थे, तथापि उन्होंने पुत्रको अंग्रेजीकी शिक्षा देनेके लिए प्रसिद्ध राजा जयनारायण घोषालके द्वारा स्थापित अंग्रेजी स्कूलमें भर्ती करा दिया। पश्चात् सम्भवतः उन्होंने गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेजके अन्तर्गत अंग्रेजी स्कूलमें प्रवेश किया। उन्होंने कितने दिन और कहाँ तक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी, इसका ठीक ठीक पता नहीं मिलता। परन्तु इसका यथेष्ट प्रमाण मिलता है कि उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। अपने जीवनमें उन्होंने अनेक छात्रोंकी शिक्षाका भार ग्रहण किया था, यह उनकी सुशिक्षा-प्राप्तिका परिचायक है। अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू के सिवा, उन्होंने नागभट्ट नामक तत्कालीन एक प्रसिद्ध शास्त्रज्ञ पण्डितसे संस्कृत भाषामें शास्त्रोंका कुछ कुछ अध्ययन किया था।

विवाह और पत्नीभाग्य—उस समय जो प्रवासी बङ्गाली सज्जन काशीमें निवास करनेके लिए देशत्याग करके आये थे उनमें पण्डित देवनारायण वाचस्पतिका नाम प्रसिद्ध है। वह बड़े ही निष्ठावान् और कर्मिष्ठ ब्राह्मण थे। काशीके पण्डित-समाजमें उनका यथेष्ट समादर था। इन वाचस्पति महाशयकी अष्टम या नवम वर्षीया कन्या श्रीमती काशीमणिदेवीके साथ श्रीश्यामाचरणजीका विवाह हुआ। उनके पौत्र श्रीमान् अभयने लिखा है—"काशीमणि देवी चिरजीवन शान्ति-प्रिय और सुशीला थीं तथा स्वामीकी पारिवारिक कठिनाइयोंके दिनोंमें वह परम धैर्यके साथ गृहकार्य सँभालती थीं। वह सुगृहिणी थीं, उनके सुन्दर विचार और व्यवस्थाके द्वारा पतिके सामान्य उपार्जनसे घरद्वार और सम्पत्ति संचय करना सम्भव हो गया था। मैंने उनको वृद्धावस्थामें भी कभी आलस्यसे समय काटते नहीं देखा। प्रातःकाल सर्वप्रथम आये हुए भिक्षुकोंको वह अपने हाथसे भिक्षा देती थीं। उनका विश्वास था कि जिस घरको लक्ष्मी छोड़ने वाली होती हैं उस घरमें भिखारी नहीं आता; इसलिए किसी दिन भिखारीके आनेमें विलम्ब होता तो उनकी दुश्चिन्ताकी सीमा नहीं रहती। इस पुण्यवती महिलाने सुदीर्घ जीवन धर्मपथमें और स्वामीके प्रदर्शित योगपथकी साधनामें व्यतीत कर प्रायः ६४-६५ वर्षके वयसमें सं० १९८७ में पूर्ण चैतन्य अवस्थामें काशीलाभ किया। आयकी कमीके कारण सारा गृहकार्य वह अपने हाथों करती थीं। प्रतिदिन उनके घर अनेक अतिथि भोजन करते थे। अपने हाथसे रसोई बनाकर उन सबको वह तृप्तिपूर्वक भोजन कराती थीं। इस कारण उनको दिनमें अधिक अवकाश नहीं

मिलता था। रातमें सबको भोजन कराकर १० बजेके बाद वह ३–४ घंटे प्रतिदिन नियम पूर्वक साधनाभ्यासमें लगाती थीं।"

कर्मक्षेत्रमें प्रवेश—श्रीमान् आनन्दमोहनने योगिराजकी जीवनीमें लिखा है कि "अनुमानतः २३ वें वर्षकी अवस्थासे वह गाजीपुरमें सरकारी नौकरी करने लगे। मिर्जापुर, बक्सर, कटुआ, गोरखपुर, दानापुर, रानीखेत, काशी आदि स्थानोंमें बदलते रहकर उन्होंने काम किया। सरकारी पूर्त्त-विभाग (Public Works Department, Military Engineering Works) में वह कार्य करते थे। सैनिक विभागको रसद पहुँचाना तथा रास्ताघाट तैयार कराना, इस सामरिक विभागका प्रधान कार्य था। इसके लिए उस समय राजकीय पूर्त्तकर्मविशारद (Royal Engineer) नियुक्त रहते थे। इस विभागके दानापुर-कार्यालयमें द्वितीय क्लर्कके पद पर लाहिड़ी महाशय गये। उस कार्यालयका नाम आजकल D. D. M. W. Office (Deputy Director of Military Works Office) हो गया है। वह अन्तिम जीवनमें वहाँ के बैरेक-मास्टर, आजकल जिसे S. D. O. कहते हैं, हो गये थे।

पितृवियोग—गाजीपुरमें काम करते समय उनका वेतन बहुत साधारण था। उस समय वह सेना-विभागके अंग्रेज अफसरोंको हिन्दी और उर्दू भाषा सिखाते थे। इससे उनको कुछ आमदनी होती थी, उसीसे वह अपना और काशीका खर्च चलाते थे। १८५२ ई० में जब वह आफिस काशीमें स्थानान्तरित हो गया तो वह भी बदलकर काशीमें आ गये। उसी साल ३१ मईको उनके पितृदेवने काशीलाभ किया। १८६३ ई० में उनका गृहविवाद आरम्भ हुआ, अत्यन्त अशान्तिके कारण वह वहाँ न रह सके और सिमन चौहट्टामें घर किराये पर लेकर सपरिवार रहने लगे। उसी सनमें उनके ज्येष्ठ पुत्र तिनकौड़ी लाहिड़ी महाशयका जन्म हुआ। १८६४में वह गरुड़ेश्वरमें गृह खरीद कर उसमें रहने लगे। कार्यसे अवकाश ग्रहण करने पर भी उसी घरमें वह वास करते थे और वहीं उनकी इहलीला समाप्त हुई। १८६५ ई० में उनके कनिष्ट पुत्र दुकौड़ी लाहिड़ी महाशय उसी घरमें पैदा हुए। कालान्तरमें लाहिड़ी महाशयकी भाग्यवती पत्नी और उनके ज्येष्ठ पुत्रका उसी घरमें देहावसान हुआ था।

समाज-सेवाके कार्योंमें भी उनको यथेष्ट उत्साह था। बङ्गालीटोला हाई स्कूलकी स्थापनामें उन्होंने यथेष्ट उद्योग किया था। अवश्य ही अनेक गण्यमान्य व्यक्ति, जैसे सबजज रामकाली चौधुरी महाशय, माननीय गिरीशचन्द्र दे, काशीनाथ विश्वास आदि भी इस कार्यमें उनके सहायक थे। लाहिड़ी महाशय दिनभर नौकरी करके और गृहशिक्षकका कार्य सम्पन्न कर तथा गृहके विविध कार्योंसे क्लान्त होकर भी इस जन-हितकारी कार्यके लिए विपुल परिश्रम करते थे। इसीसे जान पड़ता है कि वह कैसे उद्योगी पुरुष थे। इतने परिश्रमके बाद भी वह सार्वजनिक कार्यमें लगे रहते थे। इससे उनके चरित्रकी दृढ़ता प्रमाणित होती है। इस प्रकारकी दृढ़चित्तताके कारण ही भविष्य-

जीवनमें योगाभ्यासका विपुल परिश्रम उनको क्लान्त नहीं कर सका। उन्होंने साधना-भ्यासमें जो सिद्धि लाभ की थी वह उनके मनकी दृढ़ता तथा आलस्य-हीनताका द्योतक है। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"—वीर्यवान् पुरुष ही आत्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनका जीवन है।

गुरुदर्शन और दीक्षाप्राप्ति—गुरुदर्शन और दीक्षाप्राप्ति लाहिड़ी महाशयके जीवनकी सर्वप्रधान आश्चर्यजनक घटना है। उनकी दीक्षाके सम्बन्धमें मैंने अपने एक विशिष्ट गुरु-भाईसे जो सुना है उसे ही यहाँ व्यक्त करता हूँ। यह सर्वदा उनके पास रहते थे, उनके घर भोजनादि करते थे तथा समय समय पर जो पत्रादि आते थे उनके आदेशानुसार उन पत्रोंका उत्तर वही देते थे। हमारे इस गुरुभाईका नाम अमर बाबू था, वह अत्यन्त गुरुभक्त और सरल प्रकृतिके मनुष्य थे, अपने जीवनकी अनेक घटनाओंको निष्कपट भावसे सबके सामने कह देनेका उनमें यथेष्ट सत् साहस था। पश्चात् उनका नाम अमरनाथ ब्रह्मचारी हो गया था। उन्होंने "अमिय" नामक एक सुन्दर उपन्यास लिखा था। उसमें योग-साधन-सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य विषयोंकी बातों और हिमालय आदि स्थानोंका वर्णन था।

एकबार अचानक लाहिड़ी महायशको नैनीतालके निकट रानीखेत नामक स्थानमें जानेका आदेश प्राप्त हुआ और वह वहाँ गये। उस समय सम्भवतः वह दानापुरके Royal Engineering Officeके क्लर्कका काम करते थे। अक्टूबर या नवम्बरका महीना था। अपने घरसे पाँच सौ मील दूर हिमालय-पर्वत-मालाके भीतर उनको अपने गन्तव्य स्थानमें जाना था। अभी रेलमार्ग नहीं बना था, अतएव उतना लम्बा रास्ता उनको अन्य प्रकारकी सवारियोंकी सहायतासे तय करना पड़ा। उनके जीवनमें कोई महान् घटना घटित होगी तथा जीवनयात्रामें आमूल परिवर्तन होगा, इसके आभास-मात्रसे भी वह अवगत न थे। उस समय वह मानो नौकरीकी उत्तरदायित्वसे स्त्री-पुत्र तथा अपने बन्धु-बान्धवोंकी माया छोड़ उस शीत-बहुल उत्तराखण्डमें हिमालयके प्रान्तमें गये। श्रीमान् आनन्दमोहनने योगिराजकी जो जीवनी प्रकाशित की है उसमें १८६१ ई० में उनके रानीखेत पहुँचनेका उल्लेख है। इससे उस समय उनकी अवस्था ३३ वर्षकी होती है। श्रीमान् अभयचरणने जो संक्षिप्त जीवनी प्रकाशित की है, उसमें १८६८ ई० के नवम्बर मासके अन्तिम सप्ताहमें रानीखेत जानेका आदेश मिला था, ऐसा उल्लेख किया है। इस हिसाबसे उस समय उनकी अवस्था ४० वर्ष की थी। इन दो विवरणोंमें कौन ठीक है, यह मैं नहीं बतला सकता, क्योंकि मुझे याद नहीं पड़ता कि ब्रह्मचारी महाशयसे मैंने जो कुछ सुना था उसमें समयकी कोई बात थी या नहीं।

उस समय नैनीताल या रानीखेत कोई भी आजकलके समान उन्नत नगरके रूपमें परिणत नहीं हुआ था। रानीखेत वृक्ष-गुल्माच्छादित अरण्य-मात्र था। रानीखेत और उसके चारों ओर १५-२० मील तकके स्थानोंमें वर्त्तमान युगकी कोई समृद्धि परिलक्षित न थी। आजकी जैसी चहल-पहल तो दूर रही, शैल उपत्यकामें इधर उधर कुछ जीर्ण-शीर्ण छोटे मोटे घरोंके द्वारा ही मनुष्यके बसनेके चिह्न दिखाई पड़ते थे, तथा

और भी दूरवर्ती स्थानमें छोटी छोटी कुटियों और पर्वतकी गुफाओंमें तपस्वी लोग निर्जनवास करते थे। आज वे दिन नहीं रहे, इस समय शहरकी समस्त समृद्धि, साज-सामान रानीखेतमें चारों ओर दीख पड़ते हैं। सरकारी फौजकी छावनी, देशी और विदेशी सम्पन्न लोगोंके सुन्दर मकान तथा शहरकी छटा बाजारोंमें परिदृष्ट हो रही है। अब उस स्थानमें एक भी साधुका स्थान नहीं है, तपस्यामें विघ्न होनेकी आशङ्कासे बहुत दिन पहले ही वे वह स्थान छोड़कर चले गये। साधुओंके चरणोंसे लगी धूलिराशि अब उस स्थानको पवित्र क्षेत्रमें परिणत नहीं करती।

वहाँ एक फौजी छावनी बनानेके उद्देश्यसे सरकारी इञ्जिनियरिङ्ग विभागके कर्मचारी जमीनको समतल करनेका उद्योग कर रहे थे। लाहिड़ी महाशय इसी कामके निरीक्षणके लिए वहाँ भेजे गये थे। काम अधिक न था, केवल उन कार्योंके सम्बन्धमें २-४ पत्र लिखना ही उनका खास काम था। अतएव स्वजन तथा बन्धुबान्धवहीन उस निर्जन प्रदेशमें उनका समय कटना कठिन हो रहा था। ऐसे समय उनके मनमें एक विचार उठा। उन्होंने पासके एक पहाड़ी चपरासीसे पूछा कि 'क्या यहाँ कोई साधु महात्मा हैं ?" चपरासीने आग्रहपूर्वक कहा—"हाँ, हैं तो।" लाहिड़ी महाशयने फिर पूछा—"क्या उन्हें मुझको दिखला सकते हो ?" चपरासी बोला—"दिखला सकता हूँ, हमारा गाँव जिस पहाड़ पर है, उसके उच्च शिखर पर साधु लोग रहते हैं, वे हमारा बड़ा उपकार करते हैं, आवश्यकता पड़ने पर रोगके लिए दवा और भूख मिटानेके लिए अन्नकी सहायता हमको देते हैं"। अब तो श्यामाचरणजी उसके पीछे पड़ गये, "मुझे उन साधुको दिखलाना होगा।" एक दिन निश्चित किया गया, आफिसका कामकाज समाप्त कर काफी समय रहते वे पहाड़के रास्तेको तय करने लगे। पश्चात् वे एक कुछ ऊँचे पहाड़के पास पहुँचे। चपरासी उनसे यह कह कर कि 'इस पहाड़की चोटी पर साधु लोग रहते हैं" उनका सङ्ग छोड़कर ऊबड़-खाबड़ रास्ता पकड़ कर पहाड़की बगलमें अदृश्य हो गया। अब पहाड़की चोटीपर जानेवाले रास्तेको पकड़कर श्यामाचरणजी अकेले चलने लगे। रास्तेमें चलते चलते थकावट जान पड़ने लगी और उनके मनमें क्षण क्षण यह विचार उठने लगा कि वह क्यों साधुदर्शनके लिए जा रहे हैं, दर्शनसे क्या फल मिलेगा, इत्यादि। तथापि नशेके झोंकमें पड़कर जैसे लोग एक अगम्य स्थानमें पहुँचनेकी चेष्टा करते हैं, उसी प्रकारका एक नशा श्यामाचरणजीको लग रहा था और उनकी प्रबल अनिच्छा होते हुए भी उनको उस पहाड़की चोटी पर जाना पड़ा। अब वह पहाड़ी स्थान खूब साफ-सुथरा और सुसज्जित हो गया है, वैसे पेड़-पौधे भी आजकल नहीं हैं, परन्तु उस समय ऐसा नहीं था। यद्यपि पहाड़ उतना ऊँचा नहीं था, तथापि उसका मार्ग सुगम नहीं था। वह वहाँ पहुँच तो गये, परन्तु शरीर और मन दोनों बड़े ही क्लान्त हो गये थे। मनमें यह भी चिन्ता हो रही थी कि अब रातके घने अन्धकारसे पहाड़ और उसके रास्ते सब आच्छन्न हो जायँगे, तब फिर रास्ता पकड़ कर कैसे नीचे लौट सकूँगा। इतनेमें वहाँ उनको एक साधु पुरुष दिखलायी पड़े, मानो वह उनकी ही प्रतीक्षा कर रहे हों। उस समय उनको यह चिन्ता सता रही

थी कि वहाँ जाकर उन्होंने अच्छा काम नहीं किया। अतएव साधुको देखकर उन्होंने कोई विशेष बात नहीं की। वह साधु बड़े प्रसन्नचित्त थे और उनको देखकर मन्द मन्द मुस्करा रहे थे। थोड़ी देरके बाद उस साधुने उनको जलपान कराया, तब उन्होंने कुछ स्वस्थ होकर उस साधुकी ओर देखकर सामान्यरूपसे अभिवादन किया और उनसे पूछा कि 'अब डेरे पर कैसे लौट सकता हूँ।' उस युवक साधुने उनकी ओर विस्मयपूर्वक देखकर कहा—"आप तो यहाँके साधु महाराजका दर्शन करने आये हैं न ?" श्यामाचरणजीने उत्तर दिया—"बस, आपका दर्शन तो हो गया, अब अपने निवासस्थानको लौट जाना चाहता हूँ।" साधुने कहा—"यह कैसे हो सकता है, आप साधुको देखने आये हैं, उनको बिना देखे कैसे लौट जायँगे ? उनके बाहर आनेका समय प्रायः हो चला है।" देखते देखते पर्वतके चारों ओर घना अन्धकार फैलने लगा। तारे क्रमशः निकलने लगे। श्यामाचरणजी क्या करते, वह मानो गहरे नशेमें संज्ञा-शून्यकी तरह होकर वहाँ ही साधुके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे। कुछ ही देरके बाद सचमुच ही एक समुज्ज्वलचक्षु, हास्यवदन, सुदृढ़ बलिष्ठ शरीर वाले प्रौढ़ साधुको उन्होंने सामने देखा। आदरपूर्वक उठकर उन्होंने उन साधुको प्रणाम किया। साधुने हँसते हुए कहा—"श्यामाचरण, तुम आ गये ? अच्छे तो हो ?" वह साधुकी बातका उत्तर क्या देते, उनकी बातसे उनके मनमें उस समय एक विषम चिन्ता और उद्वेग उत्पन्न हो गया। सोचने लगे, साधुको उनका नाम कैसे मालूम हुआ ? इस देशमें कोई तो उनका नाम नहीं जानता। डाकमें दो एक पत्र उनके नामसे आया तो करते थे परन्तु साधुको उसके विषयमें जानकारीकी संभावना नहीं थी। तो क्या ये लोग ठग-डाकू हैं ? मैं कैसे ठग लोगोंके फेरमें पड़ गया ? इन विचारोंमें जहाँ उनका मन व्यग्र हो रहा था, उसी समय साधुके मुखसे अपने पिताका नाम सुनकर वह और भी विस्मययुक्त हो गये। परन्तु तब भी उनका मन उस अपरिचित आदमीको साधु कहनेके लिए तैयार न था, बल्कि क्रमशः विरुद्ध विचार उठकर उनको और भी विह्वल करने लगे।

तब साधुने कहा—"श्यामाचरण, तुम मुझको पहचान नहीं रहे हो, क्या मुझको बिल्कुल ही भूल गये हो ?" श्यामाचरणजी बोले—"जी हाँ, कुछ भी स्मरण नहीं हो रहा है, ऐसा नहीं लगता है कि मैंने कभी आपको देखा।" तब साधुने धीरे धीरे उनको स्पर्श किया। उनका स्पर्श पाते ही सारे शरीरमें बिजली-सी दौड़ गयी और अतीत जन्मकी सारी बातें याद आने लगीं। वह आनन्दसे अधीर होकर साधुके पैरों पर गिर गये। आनन्दके उच्छ्वाससे मानो उनका शरीर और मन नाचने लगे। बहुत दिनोंके बाद फिर उनको अपने प्रेममय गुरुका दर्शन मिला। उसी दिन या दूसरे दिन उनकी दीक्षा हो गयी। दीक्षा तो बहुतोंको होती है, परन्तु उनकी दीक्षामें एक विशेषता थी। उस दिन वही केवल दीक्षित नहीं हुए, उनके साथ उनके भावी शिष्योंका भी सौभाग्य सुप्रसन्न हो उठा। संसारके बहुतसे लोग साधन-पथ प्राप्त करेंगे, अनागत कालके कितने ही साधक क्रिया प्राप्त करनेके लिए फिर उनको ही घेर कर खड़े होंगे, और भारतके घर घरमें गीता पढ़ी जायगी, गीता-

ज्ञान प्रचारित होगा, योगाभ्यासकी सुदुर्लभ ऋषिसेवित प्राचीन पन्था फिर जन-समाजके सहजलभ्य होकर प्रचारित होगी—इन समस्त भावी कार्योंकी सूचना उनकी दीक्षाके साथ संश्लिष्ट है। इसलिए उनकी दीक्षाका दिन एक मान्य दिन है, अनेकोंके भाग्य उनकी दीक्षाके साथ जड़ित हैं, आज उनकी दीक्षाके साथ जगत्में साधन-सौभाग्यका द्वार उन्मुक्त हो गया।

साधना—उसके बाद श्रीश्यामाचरणजीने गुरूपदिष्ट रीतिसे तीव्र साधना करनेमें मन लगाया। थोड़े ही दिनोंमें वह बहुत दूर अग्रसर हो गये, अनेक दुर्बोध्य अज्ञात विषय सहज ही उनको बोधगम्य होने लगे। वह अब साधनामें और गुरु-प्रेममें विभोर रहते। उनका मन उस स्थानको छोड़कर जानेका नहीं होता। उनको मानो एक अज्ञात अनास्वादित वस्तुका स्वाद मिल गया। उनके मनः-प्राण उस वस्तुतत्त्वमें डूब गये, और अब वह मन मानो वहाँसे उठना नहीं चाहता था। आफिस जाना था इसलिए अत्यन्त अनिच्छापूर्वक वह जाते, परन्तु प्रतिदिन शीघ्रतापूर्वक हाथका काम समाप्त करके पुनः गुरुके सन्निकट उपस्थित हो जाते। कुछ ही दिनोंमें वह साधनके नशेमें आत्मविस्मृत होने लगे, तथा एक अभिनव अज्ञातपूर्व अवस्थामें वह विभोर हो गये। एक दिन उनके गुरुने, जिनको हम बाबाजीके नामसे जानते हैं, उनसे कहा कि उनको शीघ्र ही वह स्थान छोड़कर जाना पड़ेगा, जिस चतुराईसे उनको वहाँ लाया गया था, वह सब उन्होंने खोलकर कह दिया। वहाँ किसी दूसरे क्लर्कके जानेकी बात थी, बाबाजीकी इच्छा-शक्तिके प्रभावसे उस दूसरे व्यक्तिके स्थानमें उनको ही अधिकारियोंने भेजनेकी व्यवस्था की। अब जिस साधना-कार्यके लिए उनका वहाँ आना हुआ था, वह पूरा हो गया। अब उनके लौट जानेका समय आ पहुँचा है, परन्तु श्रीगुरुके चरणोंको छोड़कर उनको जानेका मन नहीं हो रहा था। गुरुने समझाकर कहा, "तुमको अनेक कार्य करने पड़ेंगे, यहाँसे लौटे बिना काम न चलेगा, बहुतसे लोग तुम्हारी प्रतीक्षामें बैठे हैं।"

कोई चारा न देखकर, व्यथित अन्तःकरणसे वह जानेके लिए राजी हुए। गुरुने कहा—"तुम्हें भय नहीं, चिन्ता न करना, बीच बीचमें मुझसे भेंट तो होगी ही और तुम जब देखना चाहोगे, तभी मुझको देख सकोगे।"

इस बीचमें बहुत सी अलौकिक घटनाएँ घटीं, बहुतसे अद्भुत दृश्योंका दर्शन, अनेक असाधारण सिद्ध साधकोंके साथ साक्षात्कार इत्यादि बहुत घटनाएँ घटीं, उनको यहाँ लिखकर ग्रन्थका कलेवर बढ़ाना आवश्यक नहीं है। श्रीमान् अभयने लिखा है—"उन्होंने १८६९ ई० की १५ वीं जनवरीको वहाँसे प्रस्थान करके मिर्जापुर आफिसमें आकर कार्य सँभाला, तथा १ जूनको फिर काशीके आफिसमें नियुक्त हुए।"

दीक्षादान—सुना जाता है कि दीक्षाके बाद कुछ लोगोंको दिखलाकर बाबाजीने कहा—"इनको तुम्हें दीक्षा देनी पड़ेगी, तुम्हारे लिए मैंने इनको बहुत दिनोंसे रोक रखा है।" श्यामाचरणजी हँसकर बोले—"मेरे लिए क्यों रोक रखा, जब आप हैं तो ये मुझसे दीक्षा क्यों लेंगे?" बाबाजीने कहा—"इनके साथ हमारा लेने देनेका सम्बन्ध नहीं है, तुम्हारे साथ है, तुमको दीक्षा देनी पड़ेगी।" सम्भवतः उनकी

दीक्षा हो गयी। तत्पश्चात् जानेके पहले उन्होंने अपने गुरुसे यह प्रार्थना की कि यह साधना जातिधर्म-निर्विशेष सबके लिए प्रचार करनेकी आज्ञा मिले। सुनते हैं, बाबाजी पहले इस विषयमें कदापि सम्मत नहीं हुए। पश्चात् उनके अतिशय आग्रहके कारण विवश होकर अपनी अनुमति दे दी; परन्तु कुछ नियम बाँध दिये। उन्हीं नियमोंके अनुसार श्यामाचरणजी सबको योगदीक्षासे दीक्षित करते थे, समस्त जीवनमें कभी उससे अन्यथा नहीं किया। तभीसे वह सब लोगोंको दीक्षा देने लगे। प्रथम दीक्षादान कहाँ आरम्भ हुआ, यह हमें ज्ञात नहीं; परन्तु काशीमें आने पर एक मालीको सर्वप्रथम दीक्षा दी गयी। वह माली केदारेश्वर मन्दिरके द्वार पर फूलमाला बेचते थे। पश्चात् बहुत लोग उनके पास दीक्षाप्राप्तिके लिए आते रहे, और प्रायः सभी उनकी कृपा प्राप्तकर कृतार्थ हो जाते थे। मधुगन्धसे आकुल होकर भ्रमर जिस प्रकार पद्मपुष्पके चारों ओर गुञ्जन करते हैं, उसी प्रकार उनके पास शिक्षा प्राप्त करनेके लिए नाना प्रकारके लोग झुण्डके झुण्ड उनके पास आते थे। ब्राह्मण-क्षत्रियसे लेकर अस्पृश्य हिन्दू, मुसलमान, अंग्रेज तथा राजा-महाराजा, पथके भिखारी तक कोई उनकी कृपासे वञ्चित नहीं होते थे। १८८० ई० में नौकरीसे पेन्शन लेकर वह काशीमें ही अपने घर पर रहने लगे। इसी समय उन्होंने काशीनरेश सर ईश्वरीनारायण सिंह तथा उनके पुत्र सर प्रभुनारायण सिंहको दीक्षा दी थी। पेन्शन लेनेके बाद कुछ दिनों तक उन्होंने प्रभुनारायणसिंहजीके अध्यापनका कार्य भी किया था। उसी समय उनका महत्त्व जानकर उन पिता-पुत्रोंने उनसे दीक्षा ली थी।

शास्त्रग्रन्थोंकी आध्यात्मिक व्याख्या—उन्होंने षड्दर्शन, कुछ उपनिषद तथा गीता, चरक, मनु आदि २२ ग्रन्थोंकी आध्यात्मिक व्याख्या की है। वे ग्रन्थ साधारण लोगोंके लिए बोधगम्य न होने पर भी साधकोंके लिए विशेष प्रयोजनीय हैं। उनसे पहले इन ग्रन्थोंकी और विशेषरूपसे श्रीमद्भगवद्गीताकी इस प्रकारकी साधन-रहस्यपूर्ण व्याख्या और किसीने की है या नहीं, इसमें सन्देह है।

महाप्रयाण—इस प्रकार प्रायः १५ वर्षों (१८८० से १८९५) तक सर्व साधारणमें इस योगधर्मका प्रचार तथा जिज्ञासुओंके सन्देहोंको दूर करते हुए २६ सितम्बर, १८९५ ई० में सं० १९५१ की श्रीशारदीया दुर्गा-पूजाकी महाष्टमीके सन्धिकालमें उनके देवदेहका अवसान हो गया। उनके पुत्रद्वय और भक्तवृन्द उनको पद्मासन पर बैठाकर, उनकी पवित्र देहको पुष्पमाला-चन्दनादिसे विभूषित करके मणिकर्णिका-घाट पर ले गये। चिता-शय्या पर शयन करानेके पहले जब उनको स्नान कराया जा रहा था, तब सभी लोग उनको जीवित समझकर आश्चर्यचकित हो गये थे।

जीवनग्रन्थकी आलोचना—उन्होंने कार्यकाल समाप्त करने पर जो १५ वर्ष शरीर धारण किया था, उसमें अधिकांश जीवन ध्यान-मग्न अवस्थामें ही बीताया था। जीवनके अन्तिम भागमें वह विशेष बातें नहीं कर सकते थे। बातें करते समय सदा उनको स्मरण कराना पड़ता था कि वह क्या बोल रहे हैं। थोड़ा अन्यमनस्क

हो जाने पर वह पूर्वकी बात छोड़कर फिर ध्यानमग्न हो जाते थे। उस अद्भुत अवस्थाका वर्णन करना कठिन है।

नाम-प्रतिष्ठाकी ओर वह बिलकुल ही ध्यान नहीं देते थे। इससे बहुत कम लोगोंको उनसे मिलनेका अवसर मिलता था। बहुतसे लोगोंको उनका नाम भी सुननेको नहीं मिलता था। परन्तु उनके समान उच्च कोटिके योगी वर्त्तमान कालमें तो क्या, सुदूर अतीतकालमें भी दुर्लभ था। श्रीमद्भगवद्गीतामें योगी और भक्तके जिन लक्षणोंका वर्णन है, वे सब लक्षण उनमें परिस्फुट-सा दीख पड़ते थे। ऐसा और किसीमें देखा नहीं गया था। उनकी बातचीत, वेषभूषा या आचार-व्यवहारसें आडम्बरका लेशमात्र भी न था। वह संन्यासी भी न थे, स्त्री-पुत्र परिवारके साथ गृहस्थ थे, जीविकाके लिए वह कार्य करते थे तथापि वह पद्मपत्रस्थ जलके समान पूर्ण निर्लिप्त थे। कोई दुःख-कष्ट या कोई विपत्ति उनके मनकी उस सुगम्भीर स्थिरताको स्पर्श नहीं कर सकती थी। हृदय-देवताके साथ निगूढ़ मिलन-जनित अतुल आनन्द उनके मुखमण्डलको सर्वदा मधुर प्रभासे प्रदीप्त कर रखता था। कवि गोल्डस्मिथका "Eternal sunshine over the mind" उनमें ही चरितार्थ होता था। चारों ओर सैकड़ों कामोंकी झंझट रहती थी, परन्तु उनका अन्तर अभ्रभेदी गिरि-शिखरके समान ज्ञानकी प्रभा और शान्तिकी स्निग्ध किरणोंसे निरन्तर समुज्ज्वल बना रहता था।

अहङ्कार या आत्मगौरवका लेश भी उनमें न था। वह ऐसे सुमधुर विनय-वचनके द्वारा अपनेको निरन्तर आवृत किये रखते थे कि लोगोंको उनके महत्त्व या अपूर्व योगैश्वर्यका कोई सन्धान ही नहीं मिलता था। वह अपने प्रत्येक शिष्यको यही उपदेश देते थे कि "अपनेको सर्वापेक्षा छोटा समझो"। वह बड़े स्वल्पभाषी थे, साधनाकी बात छोड़कर प्रायः और कोई बात नहीं करते थे, तथा इस सम्बन्धमें जिन दो-चार बातोंकी आलोचना करते थे, उन सब उपदेश-वाक्योंसे उनके अन्तर्निहित गम्भीर ज्ञानका परिचय मिलता था। उनके अकाट्य युक्ति-कौशल तथा साधनाकी अपूर्व प्रतिभा देखकर विद्वान् और सज्जन पुरुष सहज ही मुग्ध हो जाते थे। थोड़े शब्दोंमें जटिल प्रश्नोंका सदुत्तर प्राप्तकर कूट तार्किक भी विस्मयाभिभूत हो जाते थे। अपूर्व योग-प्रतिभासे मुग्ध होकर उन्हें गृहस्थाश्रमी जानकर भी बहुतसे दण्डी, परमहंस, संन्यासी, ब्रह्मचारी उनसे योग-दीक्षा प्राप्त कर कृतार्थ होते थे। उनकी नौकरीकी अवस्थामें भी बहुतसे लोग उनकी साधनलब्ध प्रज्ञासे मुग्ध होकर उनसे दीक्षा प्राप्त करके योगाभ्यासमें लग गये थे। उन्होंने दिखला दिया कि कलियुगके प्रचण्ड प्रभावमें भी साधन किया जा सकता है और उससे सिद्धि प्राप्त करना असम्भव नहीं है।

मनुष्य-मात्रके प्रति उनकी प्रीति भी असाधारण थी। सारे जीव अविरत त्रितापकी ज्वालामें जल रहे हैं, यह देखकर उनके उस दुःखके निवारणके लिए उन्होंने साधनाका द्वार जाति-पाँतका विचार न कर मनुष्य-मात्रके लिए खुला रखा था। नीच या पतित कोई भी उनकी कृपासे वञ्चित न हुआ।

उन्होंने जान लिया था कि ऋषि-प्रोक्त धर्मके सारे अनुष्ठान योगसाधनाके ऊपर प्रतिष्ठित हैं, योगाभ्यासके बिना आर्यधर्म और आर्यशास्त्रके गूढ़ रहस्य अवगत नहीं हो सकते। तन्त्र-पुराणादिमें इस बातका सुस्पष्ट रूपसे इंगित है। इसलिए उनकी इच्छा थी कि भारतवासी आर्यसन्तान थोड़ा बहुत योगाभ्यासमें रत रहें। वह वैराग्यकी आवश्यकताको हृदयङ्गम करते थे, परन्तु उत्कट वैराग्यके पक्षपाती कभी न रहे। वह कहते थे कि प्रकृत वैराग्य वर्त्तमान युगमें सबको होना सम्भव नहीं है। वैराग्यकी अनधिकार चेष्टा करने पर कपटाचारका आश्रय लेना पड़ेगा। वह कपटाचारको बिल्कुल ही पसन्द नहीं करते थे, कहते थे कि यथासम्भव संयम करके नित्य-नियमित रूपमें जहाँ तक हो सके, अभ्यास करते चलो, एक दिन तुम ठीक जगह पर पहुँच जाओगे।

नौकरीसे अवकाश प्राप्त करनेके बाद प्रचार-कार्य अति द्रुत गतिसे प्रारम्भ हो गया। परन्तु वह इसके लिए कभी हाट-बाटमें व्याख्यान नहीं देते थे और न समाचार-पत्रोंमें अपने प्रचार-कार्यकी घोषणा करते थे। जीवनके अन्तिम दिनोंमें जिन्होंने उनको देखा था वे जानते हैं कि वैसा शान्त मन लेकर प्रचार-कार्य नहीं हो सकता। वैसी स्तब्ध, मौन, प्रशान्तताकी मूर्ति देखनेका जिसे सौभाग्य प्राप्त हुआ है उसको वह दृश्य कदापि विस्मृत नहीं होगा। इसीसे गन्धलुब्ध भ्रमरके समान सहस्रों सहस्रों गृहस्थ और त्यागी आकर उनकी कृपा प्राप्तकर अपने जीवनको धन्य मानते थे। इस प्रकार उनकी साधन-पद्धति बङ्गदेशमें तथा बङ्गके बाहर भी बहुलरूपमें प्रचारित हुई; आज सुदूर अमेरिकामें और इङ्गलैंडमें भी प्रचारित हो रही है। आधुनिक कालमें गीताके आध्यात्मिक रहस्यका प्रचार करनेमें वे ही प्रधान पथप्रदर्शक हुए हैं।

योगमार्ग दुरूह है, इसमें कोई सन्देह नहीं। सबको इस मार्गमें प्रवेशका अधिकार नहीं है, यह भी सत्य है, तथापि योगपथके बिना शास्त्रोंके दुर्गम रहस्यका भेद पाना असम्भव है। जिससे सब श्रेणियोंके लोग थोड़ा-बहुत इस पथमें प्रविष्ट होकर जगत्के गूढ़ रहस्यको जान सकें और निरापद स्थानमें पहुँचकर शान्ति लाभ कर सकें इसीके लिए नाना श्रेणियोंमें विभक्त समस्त योगविद्याको सर्वसाधारणके लिए उपयोगी बनाकर सम्मिलित रूपमें क्रमशः अभ्यास करानेकी व्यवस्था उन्होंने ही की है। साधनेच्छुक लोगों की योग्यता और श्रमके अनुसार जिससे सभी धीरे-धीरे क्रमशः उन्नति कर सकें, इसकी उन्होंने सुव्यस्था की तथा योगाङ्गकी विविध साधनाओंमें जो वर्त्तमानकालके लिए उपयोगी हो सकती हैं तदनुसार शिक्षादानकी व्यवस्था अपने शिक्षणालयमें की। इनका प्राथमिक या सर्वापेक्षा निम्नकोटिका साधनाभ्यास भी नितान्त दुर्बल चित्तके लिए उपयोगी है। इन सब साधनाओंका क्रम सहज होनेपर भी फल असाधारण है। सबसे निम्न श्रेणीके साधक भी परिश्रम और यत्न करने पर उच्च फल प्राप्त कर सकते हैं। उनकी साधन-प्रणालीमें इस प्रकारकी सुव्यवस्था होनेसे किसीको भी निराश नहीं होना पड़ता। सामान्य इच्छा और चेष्टा रहने पर भी साधनाभ्यास प्रारम्भ कर दिया जा सकता है। उनसे पूर्व अन्य किसी आचार्यने योगाभ्यासके निगूढ़ मार्गको सबके लिए सुगम बनानेकी चेष्टा की थी या नहीं, इसमें सन्देह है। अवश्य ही कुछ संयम और नियमनिष्ठा रखकर चले बिना योगाभ्यास विडम्बना-मात्र हो जाता है।

इस प्रकारके उच्च श्रेणीके लोकशिक्षकका महान् चरित्र, विशुद्ध आत्मज्ञान, अद्भुत् योगैश्वर्य तथा अपूर्व अनासक्ति जो भारतवासियोंकी दृष्टिको विशेषरूपसे आकर्षित नहीं करती, इसको मैं उनका दुर्भाग्य समझता हूँ।

उनकी शिष्य-संख्या अवश्य ही तत्कालानुसार कम न थी। उनके शिष्योंमें कितनोंने ख्याति प्राप्त की है। उनकी शिष्यसंख्या बहुत है। बङ्ग, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश तथा सुदूर पञ्जाबमें भी उनके शिष्यगण फैले हुए हैं। परन्तु जिस भास्वर सूर्यकी कनककिरणोंसे ये उद्भासित हो रहे हैं उनकी जीवनीसे बहुतोंका परिचय नहीं है।

आजकल पृथिवीमें तथा हमारे देशमें धर्मके गूढ़ रहस्यसे अवगत होनेकी चेष्टा दीख पड़ती है। ऐसे समयमें इस लोकशिक्षकका चरित्र और उपदेश विशेष रूपसे आलोचित होने योग्य है। क्योंकि उन्होंने जो मार्ग दिखला दिया है वही ऋषिसेवित पन्था है। धर्मके रहस्यसे अगवत होनेका तदपेक्षा सुगम मार्ग अभी आविष्कृत नहीं हुआ है।

आज उनकी देवदेहके अवसान हुए अर्द्ध शताब्दीसे अधिक काल बीत गया, परन्तु आज भी उनकी स्मृति-पूजा अनेक स्थानोंमें नित्य होती है। पुरी, काशी, हरद्वार, राँची, विष्णुपुर, देवघर आदि अनेक स्थानोंमें उनकी समाधि और स्मृति-मन्दिर प्रतिष्ठित हैं। उनके भक्तगण उन उन स्थानोंमें नित्य पूजा करके आज भी उनकी पवित्र-स्मृतिकी रक्षा कर रहे हैं।

———

श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल लिखित आध्यात्मिक पुस्तकोंका

संक्षिप्त परिचय तथा विद्वद्वर्गकी सम्मतियाँ

(१) श्रीमद्भगवद्गीता—प्रथम खण्ड (६ अध्याय) पृष्ठ संख्या ५०५, मूल्य १०), द्वितीय खण्ड (अध्याय ७ से १२) पृष्ठ संख्या ३६०, मूल्य ८) रु० तृतीय खण्ड (अध्याय १३ से १८) पृष्ठ सं० ५२०, मूल्य १०) रु० सुन्दर सुदृढ़ जिल्द, मोटा कागज, बड़ी साइज।

हिन्दी-जगतमें श्रीमद्भगवद्गीता पर सर्वप्रथम इस प्रकारका योग-भाष्य प्रकाशित हुआ है। इसकी विशेषता यह है कि इससे पाठकोंको ज्ञात हो जायगा कि इसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें, महर्षि व्यासने जो इसे ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रकी उपाधि दी है उसकी सार्थकता क्या है, इसे सर्वशास्त्रोंका सार क्यों कहा गया है, संसार मात्र इसे क्यों आदरकी दृष्टिसे देखता है। इसमें दर्शाया गया है कि श्रीमद्भगवद्गीता किस सुन्दरतासे सर्वधर्म समन्वय करती है।

प्रस्तुत संस्करणके प्रारम्भमें काशीके राजकीय संस्कृत विद्यालयके अवकाशप्राप्त आचार्य, धुरन्धरविद्वान, महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथजी कविराज एम० ए० की सारगर्भित भूमिका तथा पूरे ग्रन्थ पर लेखक द्वारा उपक्रमणिका दी गई है, जिनके पढ़ने पर सम्पूर्ण ग्रन्थका निगूढ़भाव तथा उसका आध्यात्मिक अर्थ पाठकोंके दृष्टिके सामने आ जायगा।

(२) विल्वदल—प्रथम खण्ड, पृष्ठ संख्या ४८४ मूल्य ३) रु०, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ संख्या ३०३ मूल्य २) रु०। इन पुस्तकोंमें परमार्थ सम्बन्धी ७० से अधिक स्फुट निबन्धोंका संग्रह है। उदाहरणार्थ—मनुष्य-जीवनका चरम-लक्ष्य, साधन पथका सम्बल, शिवका यथार्थ स्वरूप, तन्त्र, श्री भगवान और उनकी प्राप्तिका उपाय, कृष्ण कथा इत्यादि—ये सभी लेख मनुष्य जीवनको उत्कृष्ट बनाने में सहायक होंगे।

(३) अभ्यास योग—इस पुस्तकमें महर्षि वशिष्ठके उपदेश, गीताका निगूढ़ भाव, सनातनधर्मकी अन्तर्निहित शक्ति, कर्म, ज्ञान और भक्ति, मनुष्य किस प्रकार से कुसंस्कारोंके पञ्जेसे छुटकारा पा सकता है, अदृष्टवाद, सदभ्यास, ब्रह्मविद्या इत्यादि विषयोंकी पूर्ण व्याख्याकी गयी है। पृष्ठ संख्या ३२४, मूल्य १॥) अजिल्द, २।) सजिल्द।

(४) दिनचर्य्या—यह पुस्तक उस समय लिखी गयी जब कि लेखक महोदय विश्व-विख्यात शान्तिनिकेतन नामक अन्तर्राष्ट्रीय विद्यालयमें कवि सम्राट् श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरके साथ अध्यापन कार्य करते थे। इसमें चित्तकी स्थिरता, भक्तियोग, आहार, बालकों तथा सर्वसाधारण को किस प्रकार प्रतिदिन अपना समय व्यतीत करना चाहिए, इच्छाशक्ति, स्वास्थ्य रक्षा इत्यादि बातें विशद् रूपसे बतायी गयी हैं। पृष्ठ संख्या २२०, मूल्य १।।−) मात्र।

(५)आत्मानुसन्धान और आत्मानुभूति—पुस्तकका विषय उसके नामसे ही ज्ञात हो जाता है। इसमें पूज्यपाद लाहिड़ी महाशय तथा पहाड़ी बाबाका परिचय बड़े सुन्दर ढंगसे छन्दोंमें 'भुवनेश' कविने दिया है। आत्मानुभूतिका उपाय, प्राण, बोधपंचक, नादानुसंधान इत्यादि पद्य और गद्य मिश्रित स्फुट लेखोंका संग्रह है। पृष्ठ संख्या १४४ मूल्य ।।।)

(६) दीक्षा और गुरुतत्व—इसमें दीक्षा तथा गुरुके निगूढ़ तत्त्वोंको बड़ी सरल भाषामें प्रश्नोत्तर रूपमें दिया गया है। पृष्ठ संख्या ६० मूल्य ।।।)

(७) मोक्षसाधन या योगाभ्यास—गार्हस्थ्य जीवनमें रहते हुए मनुष्य किस प्रकार अपने मनको संयत रख सकता है तथा इन्द्रियोंको अन्तर्मुखी बना सकता है, इन बातोंको पातंजल योग भाष्यके आधार पर इस पुस्तकमें समझाया गया है। गुटका साइज, पृष्ठ संख्या ११६ मूल्य ।=) मात्र।

नोट—एक साथ सभी पुस्तकोंके मँगाने या किसी एक पुस्तककी ५ (पाँच) प्रतियाँ साथ लेनेसे पर्याप्त कमीशन दिया जायगा।

उपरोक्त पुस्तकों पर विशिष्ट विद्वानों की सम्मतियाँ

१—महामहिम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजीके पर्सनल सेक्रेटरी श्रीवाल्मीकिजी चौधरी लिखते हैं

विल्वदल, अभ्यासयोग, दिनचर्या और दीक्षा और गुरुतत्व नामक आपकी चार रचनाएँ राष्ट्रपतिजीके नाम मिलीं। इनको उन्होंने देख लिया है। जहाँ तक उसमें से कुछ पढ़ा उसको उन्होंने पसन्द किया है। वह समझते हैं कि उसमें दिये गये विषय गहन और गूढ़ हैं और मनन करने योग्य हैं। इन पुस्तकोंमें जो बातें बतायी गयी हैं अगर उनका ठीक ठीक पालन किया जाय तो मनुष्यके कृत्रिम जीवनमें बहुत कुछ सुधार हो सकता है। मनुष्य अपने जीवनका वास्तविक आनन्द उठा सकता है।

२—महामहिम श्री श्रीप्रकाशजी, राज्यपाल, मद्रास

श्री ज्वालाप्रसाद त्रिपाठी तथा श्रीबाँकेबिहारी लाल द्वारा सम्पादित श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्यालकी कई पुस्तकोंका हिन्दी संस्करण मैंने देखा। जहाँ तक मैं समझ पाया आध्यात्मिकता की तरफ आकर्षित करते हुए, और सृष्टिके आन्तरिक आधारोंको बतलाते हुए इन पुस्तकोंमें व्यावहारिकताका भी पाठ पढ़ाया गया है। इस कारण इनकी उपयोगिता विशेष प्रकारसे प्रतीत होती है।

मुझे जिस बातने इनकी तरफ आकर्षित किया है, वह यह है कि पुराने दार्शनिकोंकी ही तरह विज्ञ लेखकने साधारण प्रतिदिनकी परिचित वस्तुओंकी उपमा देकर, सँपेरेकी बीन और समुद्रके लहरोंकी चर्चा कर बड़ी गूढ़ बातोंको बतलाया और यह सिखलाया है कि मनुष्य सांसारिक कृत्यों और कर्त्तव्योंको करते हुए परमपदको प्राप्तकर सकता है।

कितने ही लोगोंका ऐसा विचार होता है कि जब तक हमें संसारमें रहना है, हमें पूर्णतया सांसारिक ही बने रहना चाहिये, जिसका अर्थ वे यह लगाते हैं कि हमें अपने व्यवहारमें साधारण नैतिक और धार्मिक विचारोंको नहीं धारण करना चाहिये नहीं तो संसारका काम नहीं

हो सकेगा। यदि हमें आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना है, तो संसारको छोड़कर ही हम ऐसा कर सकते हैं।

जहाँ तक मैं समझ पाया, इन पुस्तकोंने इसका प्रतिवाद किया और बतलाया है कि हम उत्तम गृहस्थ और उत्तम योगी एक साथ ही हो सकते हैं। श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें जो उपदेश दिया था, उसे यहाँ चरितार्थ किया गया है। यदि इन पुस्तकोंको कर्मयोगके उस आदि ग्रन्थ का विस्तृत भाष्य कहा जाय, तो अनुचित न होगा।

३—महामहिम श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी, राज्यपाल, उत्तरप्रदेश

पुस्तकें जब मैं दौरे पर था मुझे मिल गई थीं। मैंने उनका अवलोकन किया, सुन्दर हैं। वास्तवमें ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता है।

४—माननीय श्रीबद्रीनाथ वर्मा, शिक्षामन्त्री, विहार

श्रीमद्भगवद्गीता, अभ्यासयोग, आत्मानुसन्धान, दीक्षा और गुरुतत्व, विल्वदल, दिनचर्या तथा मोक्षसाधन या योगाभ्यास, ये सात पुस्तकें मुझे देखनेको मिली हैं। ये सभी पुस्तकें योगिराज श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्यालकी कृतियाँ हैं। लेखकने योग जैसे गहन और शुष्क विषयको अपनी लेखनीके प्रभावसे सहज बोध्य बना दिया है। आजके इस भौतिकवादके युगमें, जब मनुष्यका जीवन, शारीरिक सुख और भोग विलासमें लिप्त होकर अध्यात्मके महत्त्वको केवल भूलता ही नहीं जा रहा है बल्कि उसके नामसे भी नाक-भौं सिकोड़ता है, ये पुस्तकें यथार्थमें बड़े कामकी सिद्ध होंगी।

गीता जैसे उपयोगी ग्रन्थ पर तो लेखकने एक नया भाष्य ही उपस्थित किया है जो हमारे लिये एक नये पथका निर्देश करता है। अभ्यासयोग एवं विल्वदलमें संगृहीत निबन्ध जीवनोपयोगी हैं। दीक्षा और गुरुतत्वमें एक गूढ़ विषय पर प्रकाश डाला गया है। आत्मानुसन्धान और आत्मानुभूतिमें निहित विचार जीवनके अन्धकारमें प्रकाश-किरणका काम करते हैं। दिनचर्याका पठनचिन्तनसे मनुष्यके जीवनमें युगान्तरकारी परिवर्त्तन हो सकता है, योगाभ्यास वस्तुतः मोक्षका मार्गदर्शक है।

सरल सुबोध भाषामें ऐसी रचनाओंकी आज बड़ी आवश्यकता है और लेखकने ऐसे ग्रन्थ लिखकर एक बड़े अभावकी पूर्ति की है। मुझे विश्वास है कि आध्यात्मिक जगत्में तो इन ग्रन्थोंका समादर होगा ही जन-साधारण भी इनसे यथेष्ट उपकृत होगा। ईश्वर साधक लेखकको दीर्घजीवी बनावें जिससे वे ऐसे और भी अनेकानेक सद्ग्रन्थोंकी रचना कर संसारका कल्याण साधन कर सकें।

५—माननीय श्रीअनुग्रहनारायण सिंह, अर्थ और श्रममन्त्री, विहार

मैंने आपकी पुस्तकें पढ़ी हैं। पुस्तकें समयानुकूल हैं। जबकि संसार निम्नस्तर पर जा रहा है इन पुस्तकोंके अध्ययन और मननसे मनुष्य विकार रहित हो सकता है। मैं आपका बहुत आभारी हूँ कि आपने इन पुस्तकोंके द्वारा मेरी एक नवीन जीवनकी ओर रुचि फेरी है।

६—माननीय विचारपति स्वर्गीय श्रीशारदाचरण मिश्र

दिनचर्या पढ़कर कृतार्थ हुआ। आदिसे अन्त तक पढ़कर बहुत जानकारी हुई। ऐसे ग्रन्थ सनातन धर्मावलम्बी प्रत्येक व्यक्तिके पुस्तकालयमें रहना चाहिये।

७—जगत् विख्यात कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुरने विलायतसे लिखा था

इस बारकी डाकसे मुझे एकही साथ दो पुस्तकें मिलीं। एक है आपका अभ्यास योग और दूसरी है दिनचर्या। दोनोंने ही मेरे प्रवासमें मित्र रूपमें दर्शन दिये हैं। एकसे हमारे देशके सौन्दर्यने और दूसरीसे हमारे देशकी साधना ने मेरा साथ दिया है। दोनोंका ही मुझे प्रयोजन है और दोनों पर ही मेरा अनुराग है।

८—तपोधन डा० भगवानदास एम० ए०, संस्थापक हिन्दू कालेज, काशी

श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल महाशय लिखित पुस्तकें, अभ्यासयोग, बिल्वदल, श्रीमद्भगवद्गीता, दिनचर्या, दीक्षा और गुरुतत्व, आत्मानुसन्धान, आत्मानुभूति और मोक्षसाधन को मैंने देखा, अच्छी ही हैं। अध्यात्मविद्याके प्रचारके लिये जो भी प्रयत्न किया जाय अच्छा है। और 'सर्व शास्त्रमयी गीता' तो अध्यात्मशास्त्रका सार है। 'अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहं' 'गुह्याद् गुह्यतरं' 'गुह्यतमं शास्त्रं' है—मुँहसे बहुतेरे ब्राह्मण और संन्यासके ढोंगी जपा-कुसुम, रज्जु सर्प, मरु-मरीचिका आदि कहते रहते हैं, पर भीतर काम, क्रोध, लोभादिसे भरे हैं। इसी हेतु हिन्दू नामक धर्म और समाज नरकमें गिरा है। इसके पुनरुद्धारका जो भी थोड़ा बहुत यत्न करे श्लाघा और सहायताका पात्र है।

९—आचार्य श्रीहजारी प्रसाद द्विवेदी अध्यक्ष हिन्दी विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

श्रीभूपेन्द्रनाथजी शान्तिनिकेतनमें रह चुके हैं। वहाँ के पुराने अध्यापकोंसे उनके विषयमें मैं बहुत सुन रक्खा था। एक बार उनके दर्शनका सौभाग्य भी प्राप्तकर चुका हूँ। वे सच्चे साधक हैं। उनके मुखसे निकली हुई वाणीका विशेष महत्त्व है। आपने उनकी पुस्तकों-को हिन्दी भाषी जनताके सम्मुख रखकर बहुत उत्तम कार्य किया है। आजकल लोगोंकी दृष्टि बहुत कुछ परलोक चिन्तासे हट गई है। परन्तु आध्यात्मिक ज्ञानकी आवश्यकता आज और भी बढ़ गयी है। श्रीसान्यालजी जैसे साधकोंकी वाणीकी इस समय विशेष आवश्यकता है। पुस्तकों में गूढ़ बातोंको भी सहज करके समझाया गया है। मुझे ये रचनाएँ बहुत अच्छी लगी हैं।

१०—श्रीरामनारायन मिश्र, संस्थापक, नागरीप्रचारणी सभा, काशी

श्रीमान भूपेन्द्रनाथजी सान्याल लिखित 'दिनचर्या' नैतिकताकी निधि है। इसमें मनुष्य जीवनके सभी अंगों पर प्रकाश डाला गया है। यह तो घर घरमें रहनी चाहिये। पुस्तकके अन्तमें भगवद्भक्तोंके भजन देकर लेखक ने इस पुस्तककी उपयोगिता बहुत बढ़ा दी है।

'अभ्यासयोग' पुस्तक पढ़कर मुझे बौद्धिक और आध्यात्मिक लाभ हुआ। जीवनकी साधारण बातों पर भी योगिराजजी ने प्रकाश डाला है। इसलिये यह पुस्तक सर्वसाधारणके लिये भी उपयोगी है।

दीक्षा और गुरुतत्व—योगिराज श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्यालने इस पुस्तकमें प्रश्नोत्तर द्वारा गुरुके गुण और शिष्यके उत्तरदायित्व की सुन्दर व्याख्याकी है। बीचमें देवनागरी अक्षरोंमें बँगला गान देकर स्पष्ट कर दिया है कि बँगला भाषा न जाननेवाले भी वह भाषा समझ सकते हैं यदि वह देवनागरी में लिखी जाए।

११—महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज, भू० पू० प्रिन्सिपल गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, काशी

परम श्रद्धास्पद साधक-श्रेष्ठ श्रीयुक्त भूपेन्द्रनाथ सान्याल रचित अभ्यासयोग, दिनचर्या, विल्वदल तीन ग्रन्थोंको पढ़कर मुझे प्रसन्नता प्राप्त हुई है। साधक जीवनकी विचार धाराएँ और कर्त्तव्यका निर्देश सान्याल महाशयके ग्रन्थोंमें स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। एक दृष्टिसे देखा जाय तो 'दिनचर्या' और 'अभ्यासयोग' एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। आत्मज्ञान और धर्मजीवन प्राप्त करनेके लिये जिस तरहकी साधनाओंकी धारा अवलम्बन करके साधकको अग्रसर होना पड़ता है, उनके प्रायः सभी अङ्ग इन दोनों ग्रन्थोंमें वर्णित हुए हैं। धर्म जीवनकी आकांक्षा रखनेवाले व्यक्ति मात्र ही इन्हें पढ़कर और ग्रन्थ निर्दिष्ट प्रणालियोंका अवलम्बन करके उपकार प्राप्त करेंगे। 'विल्वदल' ग्रन्थ भी अन्तर्मुखी साधकके उपयोगी आध्यात्मिक उपदेशोंसे परिपूर्ण है। तीनों ग्रन्थोंकी भाषा सरल, स्वच्छ और हृदयस्पर्शी है और तत्त्व समझानेकी पद्धतियाँ भी अति सुन्दर हैं। प्रयोजनके अनुसार स्थान-स्थान पर शास्त्रोंके प्रमाण भी उद्धृत हैं। वर्त्तमान समयमें धर्मजीवन पानेके निमित्त इस श्रेणीके ग्रन्थोंकी उपयोगिता अत्यन्त अधिक है। ग्रन्थकार स्वयं एक महायोगीके शिष्य हैं और उन्होंने स्वयं जिन उपदेशोंको निबद्ध किया है वे उनके उपलब्धिजात और परिक्षित सत्य हैं। मुझे आशा है, हिन्दी पाठक समाजमें इन ग्रन्थोंका यथोचित प्रचार और समादर होगा।

श्रीमद्भगवद्गीता सब उपनिषदोंका सार और मानवीय ज्ञानकी श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति है। प्राचीनकालसे ही विभिन्न धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदाय अपने अपने दृष्टिकोणसे इस ग्रन्थकी व्याख्या करते आये हैं। अधिकांश व्याख्याओं पर अनुव्याख्यान भी रचित हुए हैं। विभिन्न प्रस्थानोंके अनुसार इन व्याख्याओंकी रचना होने पर भी सत्यानुसन्धित्सु साधककी दृष्टिसे कोईसी भी हेय नहीं है। किन्तु इन सब व्याख्याओंसे गीताका रहस्यार्थ अथवा निगूढ़ तात्पर्य हृदयङ्गम नहीं होता। योगीके अतिरिक्त दूसरोंके लिये उसकी धारणा करना कठिन है। वर्त्तमान युगके अन्यतमश्रेष्ठ योगी स्वनामप्रसिद्ध काशीवासी श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महाशयने बहुत दिन पहले गीता पर एक टीकाकी रचना की थी। वास्तवमें यह जिज्ञासु, उच्चाधिकार सम्पन्न शिष्य वर्गके लिये ही लिखी गयी थी। जो लोग योग मार्ग में प्रविष्ट नहीं हैं, उनको यह सर्वत्र बोधगम्य नहीं होती। इस असुविधाको दूर करनेके लिये पूजनीय लाहिड़ी महाशयके शिष्य परम श्रद्धास्पद योगिवर श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल महाशयने उक्त टीका पर एक विस्तृत और विशद व्याख्या प्रकाशित की है। यह व्याख्या उनके गुरुदेवकी आध्यात्मिक व्याख्या पर ही प्रतिष्ठित है एवं श्रीमद्भगवद्गीताके निगूढ़ तात्पर्यकी प्रकाशक है। क्रियाशील योगीके हृदयमें कर्म, ज्ञान और भक्तिका समन्वय जिस प्रकार प्रतिभात होता है अन्यत्र वैसा होनेकी

सम्भावना नहीं है। साधन-पथके पथिक एवं तत्त्व जिज्ञासु दार्शनिक दोनों ही इस अभिनव गीता व्याख्याको पाठ करके लाभान्वित होंगे। आशा है हिन्दी भाषा-भाषी भक्त और साहित्यिकोंके समाजमें यह ग्रन्थ यथोचित समादर लाभ करेगा।

१२—श्रीहनुमानदासजी पोद्दार, सम्पादक "कल्याण", गीता प्रेस, गोरखपुर

सम्मान्य श्रीसान्याल महोदय वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध ऊँचे साधक हैं। उनके जीवनमें पवित्रता है, शब्दोंमें अनुभव है और रचनामें कलाका मधुर विकास है। इस 'विल्वदल' पुस्तकको पढ़नेसे उनके हृदयका और उनके गहरे सद्‌विचारोंका पाठकोंको पता लग सकता है और पाठक उनके शब्दोंके अनुसार यथायोग्य साधन करके लाभ उठा सकते हैं।

१३—लखनऊ से प्रकाशित होने वाले दैनिक पत्र "स्वतन्त्र भारत" के

१३–७–५३ के अङ्कमें लिखा है कि ये सभी पुस्तकें वैराग्यभावापन्न, उपासना प्रिय, भक्तिप्रवण, अध्यात्मोन्मुख, साधनेच्छुक व्यक्तियोंके लिये लिखी गई है। और निःसन्देह उनको बहुत उपकारक सिद्ध होगी। कहीं तर्क युक्त शैली, कहीं वर्णनात्मक शैली और कहीं पत्र-शैलीसे काम लिया गया है। विषय अच्छी तरह स्पष्टता से समझाया गया है।

पुस्तक मिलने का पता—

बाँकेबिहारी लाल

६०।१ सिद्धमाताकी गली, बनारस।

—